सम्पादक : अजित कुमार

6

बच्चन रचनावली
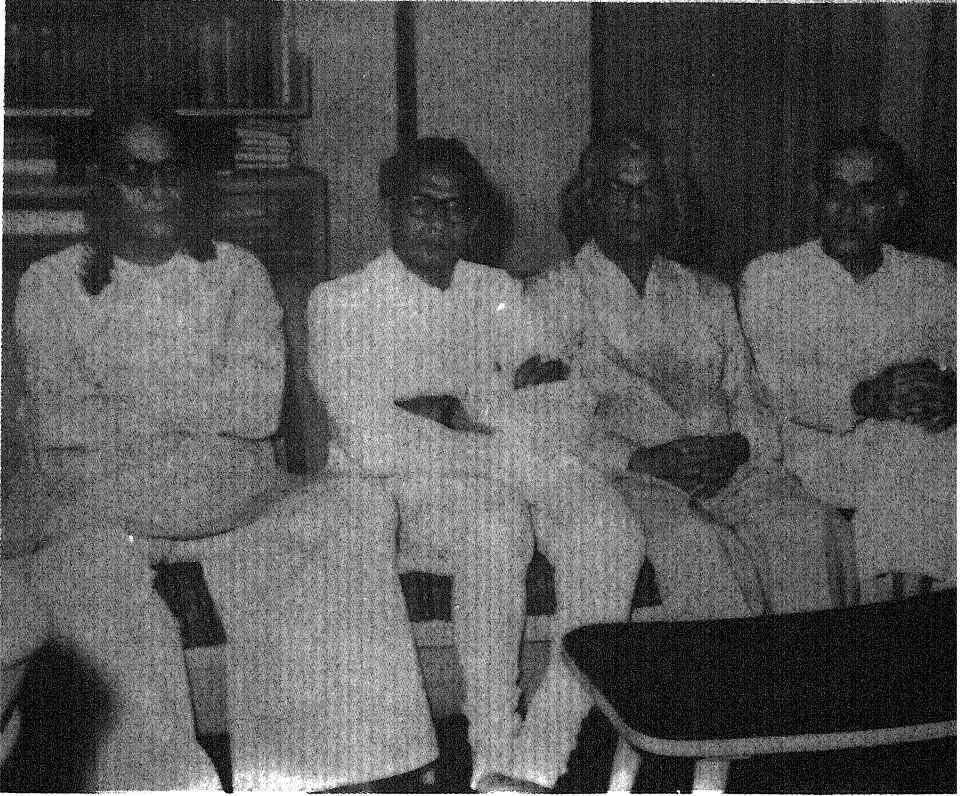
श्री इलाचन्द्र जोशी, डा. बच्चन, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के साथ

1966: श्री सुमित्रानन्दन पन्त और श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के साथ

1964 : श्री मुनीश पाण्डे के साथ

मार्च 1967 : श्री कृष्णं किशोर (बायें) तथा श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (दायें) के साथ

उज्जैन : 1967
डा. शिवमंगल सिंह 'सुमन' के साथ

विलियम बटलर ईट्स पर लिखे गये आलोचनात्मक निबन्ध का अन्तिम अंश

सूचना

बच्चन रचनावली नौ खण्डों में प्रकाशित की जा रही है। पहले, दूसरे, तीसरे खण्ड में बच्चनजी की कविता संकलित है; चौथे में अन्य कवियों की रचनाओं के अनुवाद और पाँचवें में शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद हैं; छठे में बच्चनजी का आलोचनात्मक लेखन और सातवें-आठवें में आत्मकथा के तीन भागों सहित विदेश-प्रवास की डायरी है; नवें खण्ड में कहानियाँ, साक्षात्कार, वार्ताएँ, समीक्षाएँ, पत्र आदि विभिन्न विधाओं की रचनाएँ सम्मिलित हैं। वहीं अकारादि क्रम में कविताओं तथा लेखों की सूची भी मिलेगी।

प्रत्येक खण्ड की सामग्री सामान्यत: प्रकाशन-क्रम में रखी गयी है। आरम्भ 'मधुशाला' से हुआ है, जो भले ही कवि की पहली रचना न हो, पर लगभग आधी सदी से हिन्दी-प्रेमियों के लिए बच्चनजी का पर्याय रही है। **रचनावली** में सभी पुस्तकें अविकल रूप में दी गयी हैं और विधा-विशेष की असंकलित सामग्री सम्बद्ध खण्ड के अन्तिम पृष्ठों में रखी गयी है।

अपनी पुस्तकों की भूमिकाएँ लिखना बच्चनजी ने बहुत बाद में आरम्भ किया। ये भूमिकाएँ तो हमने यहाँ पुस्तकों के साथ दी हैं, पर जो थोड़ी-सी भूमिकाएँ या टिप्पणियाँ अन्य महानुभावों ने लिखी हैं, उन्हें **बच्चन रचनावली** में लेना हमने आवश्यक नहीं समझा। पाठक उन्हें अलग से छपी स्वतन्त्र पुस्तकों में पा सकेंगे।

आरम्भ से ही बच्चनजी ने एक ऐसी आत्मीयतापूर्ण, निराली शैली विकसित की, जिससे कि उनका श्रोता या पाठक, तन्मयता के क्षणों में, सुनने या पढ़ने के बजाय, खुद ही कुछ कहता हुआ-सा अनुभव करने लगता है। रस-निष्पत्ति की इस स्थिति को कोई भारी-भरकम नाम न दे, हम कवि और पाठक-श्रोता के बीच एक सहज, आत्मीय संवाद कहना अधिक पसन्द करेंगे। यह **रचनावली** भी वैसा ही लम्बा और अन्तरंग संवाद बने, इस उद्देश्य से हमने इसको टीका-टिप्पणी, कोष्ठक आदि के सम्पादकीय हस्तक्षेपों से सर्वथा मुक्त रखा है। कवि के जीवन तथा सृजन का पूर्णतर चित्र भी इस तरह पाठकों के सम्मुख आ सकेगा, ऐसी हमें आशा है।

रचनावली के प्रथम पाँच खण्डों के पाठक कवितासंग्रहों तथा अनुवादों की भूमिकाओं से बच्चनजी के आलोचनात्मक-विश्लेषणात्मक लेखन के प्रति उत्सुक हुए होंगे। वह उत्सुकता यहाँ और आगामी खण्डों में पूरी होगी।

छठे खण्ड से बच्चनजी का गद्य-लेखन आरम्भ होता है पर इसे आप कोई विभाजन-रेखा न समझें। बच्चनजी ने आरम्भिक कहानियों के बाद बीस-पच्चीस वर्षों तक गद्य नहीं लिखा, केवल कविता रची, पर सारे समय उनकी काव्य-भाषा दैनिक जीवन की भाषा के इतने निकट रही, उनका वाक्य-विन्यास साधारण बोलचाल के इतने अनुरूप बना कि अपने लेखनकाल के उत्तरार्ध में जब उन्होंने प्रचुर गद्य लिखा तो वह उनकी सृजन-प्रेरणा का ही एक और आयाम बनकर सामने आया।

बच्चनजी की कविता को ध्यान से पढ़नेवालों ने अनुभव किया होगा कि उच्छ्वास से लेकर विश्वास तक, विह्वलता से लेकर स्थिरता तक---एक पूरी यात्रा उनकी कविता में हुई है। कुछ-कुछ ऐसी ही बात बच्चनजी के गद्य के बारे में भी कही जा सकती है। गद्य के भी विभिन्न रूपों-माध्यमों द्वारा उन्होंने अपने आपको अभिव्यक्त किया है।

यहाँ इस छठे खण्ड में बच्चनजी का आलोचनात्मक लेखन संकलित है। तीन तो पुस्तकें हैं : 'कवियों में सौम्य सन्त' ('60), 'नये-पुराने झरोखे' ('62) और 'टूटी-छूटी कड़ियाँ' ('73), इनके अतिरिक्त 'आधुनिक कवि', 'सोपान', 'अभिनव सोपान' आदि कुछ संचयनों की भूमिकाएँ हैं। साथ ही, बच्चनजी के अब तक असंकलित कुछ लेख भी यहाँ दिये जा रहे हैं। 'कवियों में सौम्य सन्त' के साथ श्री सुमित्रानन्दन पन्त के लगभग सवा सौ पत्र छपे थे, और उसके दूसरे संस्करण के 'परिशिष्ट' में श्रीमती तेजी बच्चन का लेख 'पन्तजी मेरे घर में' प्रकाशित हुआ था। 'रचनावली' में हम यह सामग्री नहीं ले रहे हैं।

बच्चनजी ने समय-समय पर अनेक लेखकों की पुस्तकों की समीक्षाएँ या भूमिकाएँ भी लिखी हैं। उन्हें हम साक्षात्कारों, पत्रों, कहानियों आदि के साथ नवें खण्ड में ले रहे हैं, जबकि स्वयं बच्चनजी की पुस्तकों की भूमिकाएँ सम्बद्ध पुस्तकों के साथ विभिन्न खण्डों में हैं। कहने का मतलब यह कि यद्यपि उनका अधिकांश आलोचनात्मक लेखन प्रस्तुत खण्ड में एकत्र है, पर कविता और साहित्य सम्बन्धी उनके विचार 'रचनावली' के सभी खण्डों में विस्तृत-वितरित हैं।

हिन्दी विभाग
किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली-7

अजित कुमार

क्रम

कवियों में सौम्य सन्त

सन् 1947-'60 के बीच लिखित

'कवियों में सौम्य सन्त' : प्रथम प्रकाशन 1960; पहला संस्करण राजपाल एण्ड सन्ज़,
दिल्ली, से प्रकाशित।

अपने पाठकों से

पहले संस्करण से

आज आपके हाथों में अपनी एक नयी पुस्तक रखते हुए मैं बड़े आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। यह कवियों में सौम्य सन्त श्री सुमित्रानन्दन पन्त के व्यक्तित्व और कवित्व पर कुछ प्रकाश डालने के ध्येय से तैयार की गयी है। इसमें उन पर लिखे हुए कुछ निबन्ध हैं और उनके कुछ पत्र जो उन्होंने समय-समय पर मुझे लिखे हैं। किसी के पत्रों से उसके व्यक्तित्व का जितना रहस्य खुलता है उतना किसी और प्रकार के लेख से नहीं, यह मानी हुई बात है। इसी कारण मैं उनके कुछ पत्रों को भी यहाँ दे रहा हूँ।*

'कुछ' इस कारण कि जितने पत्र मैं ढूँढ़-खोजकर इकट्ठे कर सका हूँ उन्हें सब नहीं कह सकता। मैं अपने जीवन में कुछ वैसा ही रहा हूँ जिसे अंग्रेजी में 'बोहीमियन' कहते हैं। अपने जीवन-काल में मैं कम से कम एक दर्ज़न नगरों में रह चुका हूँ, और काफ़ी-काफ़ी अर्से तक। इलाहाबाद में, जहाँ मेरा सबसे अधिक समय बीता, मैंने पन्द्रह बार घर बदला। दिल्ली में रहते मुझे अभी चार वर्ष पूरे नहीं हुए और छः बार घर बदल चुका हूँ। घर बदलने में किताबें, कागज़-पत्र कितने अहँड़-बहँड़ हो जाते हैं, इसका अनुमान वही कर सकता है जो भुक्तभोगी हो। फिर जिसके सामान का नब्बे प्रतिशत कागज़ों के रूप में हो उसकी परेशानी का क्या कहना ! एक बार घर बदलने पर महीनों इस बात का पता नहीं लगता कि फलाँ किताब या कागज कहाँ है। कभी अनायास ही चीज़ें मिल जाती हैं, कभी बहुत उलट-पलट करने पर भी नहीं मिलतीं। पन्तजी के पत्रों को मैंने जान-बूझकर कभी नष्ट नहीं किया। कभी कहीं कुछ और पत्र मेरे हाथ लगे तो उन्हें किसी अगले संस्करण में सम्मिलित कर दूँगा। मुझे बड़ा दुःख होगा यदि मेरी अथवा मेरे परिवारवालों या मेरे नौकरों की भूल से उनका छोटे-से-छोटा पत्र भी नष्ट हो गया हो।

पन्तजी के व्यक्तित्व अथवा कृतित्व पर पूरी पुस्तक लिखने का इरादा मैंने कभी नहीं किया, हालाँकि इन पक्षों पर जो कुछ लिखा जा चुका है उससे मुझे सन्तोष नहीं है। और मेरा यह असन्तोष उस बड़े असन्तोष का एक अंग है जो मुझे हिन्दी के सारे समालोचना-साहित्य से है। समालोचना की इस अवस्था के लिए बहुत कुछ परिस्थितियाँ

पन्तजी के पत्र 'रचनावली' में नहीं दिये जा रहे हैं।—सं.

उत्तरदायी हैं। स्वस्थ समालोचना उसी समाज में विकसित होती है जिसमें साहित्य के तीन प्रकार के पाठक हों; साधारण पाठक, जो अपनी संस्कार-जनित रुचि के अनुसार रचनाओं को पसन्द अथवा नापसन्द करते हों; सुधी पाठक, जो अपनी विद्वत्ता एवं स्वाध्याय से परिष्कृत रुचि से रचनाओं को पढ़ते हों, और रचनाओं पर लिखी गयी समालोचनाओं पर भी निर्णयात्मक बुद्धि से विचार करते हों; समालोचक, जो किसी रचना को पढ़कर उसके गुण-दोष का विवेचन करते हों। इन तीनों में, बीचवाले, सुधी पाठक वर्ग को मैं सबसे महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। वह एक ओर तो साधारण पाठक की रुचि को प्रभावित कर उसे अच्छे साहित्य की तरफ़ झुकाता है, दूसरी ओर समालोचक को अपने कर्त्तव्य की ओर सचेत रखते हुए उसे असन्तुलित अथवा निरंकुश बनने से बचाता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी में इस बीचवाले सुधी वर्ग का सर्वथा अभाव है। हमारे पास या तो साधारण पाठक हैं या समालोचक। साधारण पाठक अपने संस्कारों में पिछड़ा, परिसीमित और पाठ्य-पुस्तक-मण्डूक है; समालोचक, अपने निर्णय में पक्षपातपूर्ण, विकृति-विमूढ़, अथवा उच्छृंखल। वह जानता है कि वह जो कुछ कहेगा साधारण पाठक उससे उदासीन रहेगा, अथवा उसे स्वीकार कर लेगा; उससे विरोध नहीं प्रकट करेगा। यह तो सुधी पाठक वर्ग ही कर सकता था। और उसके अभाव में समालोचक की फ़तवे-शाही खुल खेल रही है। साहित्यानुरागी साधारण पाठक और विवेकशील समालोचक भी समालोचना का स्तर ऊँचा उठाने में एक-दूसरे की सहायता कर सकते हैं। पर हमारी एक और बड़ी बदकिस्मती है कि हमारे साधारण पाठकों में अधिकांश आज परीक्षोन्मुख विद्यार्थी हैं और समालोचकों में अधिकांश परीक्षोपयोगी कुंजी-निर्माता। पन्तजी की बहुत-सी कविताएँ, दुर्भाग्यवश, विभिन्न कक्षाओं, परीक्षाओं के पाठ्य-क्रमों में लगी हुई हैं। मुझे आश्चर्य नहीं है कि उन पर जो आलोचनाएँ लिखी गयी हैं उनमें से अधिकांश का स्तर परीक्षोपयोगी कुंजियों का है।

पन्तजी की प्रथम कृति 'उच्छ्वास' (1922) से ही मैं उनकी कविता की ओर आकृष्ट हो गया था; इसे मैंने पहले-पहल 1924 में ख़रीदा था। तब से उनकी जो भी पुस्तक निकलती उसे मैं ख़रीदता और पढ़ता। उनकी कविताओं के विषय मे भी जो कुछ लिखा जाता उससे अवगत रहने को उत्सुक रहता। बाद को उनसे व्यक्तिगत परिचय हुआ, घनिष्ठता बढ़ी, कई बार हम दोनों लम्बे-लम्बे अर्से तक साथ रहे भी। उनके और उनकी कविताओं के प्रति मेरी धारणा में भी बहुत-से परिवर्तन हुए, पर 1947 के पूर्व मैंने उनके व्यक्तित्व अथवा कवित्व के विषय में कुछ भी नहीं लिखा था। 1947 में पन्तजी अपने मद्रास और बम्बई के प्रवास से लौटकर प्रयाग में मेरे पास ठहरे। उनकी 'पल्लविनी' का तीसरा संस्करण होने जा रहा था। पन्तजी ने यह इच्छा प्रकट की कि मैं उसकी भूमिका लिख दूँ। मैंने सहर्ष यह कार्य स्वीकार किया और इस प्रकार पहली बार पन्तजी और उनकी कविता के विषय में अपना मत स्थिर और व्यक्त करने का मुझे अवसर मिला। मेरा यह लेख 'एक दृष्टिकोण' शीर्षक से 'पल्लविनी' के साथ छपा।

उन्हीं दिनों श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' प्रयाग से 'प्रतीक' नाम का एक द्वैमासिक निकाल रहे थे। 'प्रतीक' में यदा-कदा मेरी कविताएँ प्रकाशित हुआ करती थीं, पर 'अज्ञेय'जी मेरा कोई गद्य-लेख चाहते थे। विषय भी उन्होंने सुझाया। उन्होंने मुझसे पन्तजी का एक रेखाचित्र लिखने को कहा। मैंने बड़े विनोदी ढंग से, हल्की-फुल्की घरेलू शैली में एक रेखाचित्र तैयार किया जिसे 'अज्ञेय'जी ने बहुत पसन्द किया और 'प्रतीक' में छापा। यह लेख बहुचर्चित रहा और पन्तजी की एक बड़ी परेशानी का कारण बना, और शायद आज तक उन्हें उससे मुक्ति नहीं मिल पायी। उस रेखाचित्र में मैंने लिख दिया था कि पन्तजी हाथ बहुत अच्छा देखते हैं और मेरे विषय में उन्होंने जो-जो बताया था वह सब अक्षरशः सत्य उतरा। बस, लोग लेख पढ़कर उनके पास हाथ दिखाने को पहुँचने लगे। दूर रहनेवाले बहुतों ने उनके पास अपने हाथ के छापे भेजे, 'भगवन्, कुछ हमें भी बताइये।' आज भी उनकी डाक में अक्सर ऐसे पत्र होते हैं जिनमें लोग उनके पास हाथ दिखाने को आने के लिए समय माँगते हैं, या अपने हाथ का छापा भेजते हैं और अपना भाग्य जानने के लिए उनसे तरह-तरह की विनती करते हैं। पिछली बार भी जब वे दिल्ली आये थे तब मुझसे कह रहे थे, 'तुमने मुझे ख़ूब बदनाम किया है। तुमसे आशा थी कि तुम मुझे कवि रूप में प्रसिद्ध करोगे पर तुमने मुझे सामुद्रिक के रूप में मशहूर कर दिया है। पहले लोग मुझे पत्र लिखते थे तो मेरी कविता के विषय में जिज्ञासा प्रकट करते थे, अब लोग अपने भाग्य-भविष्य के विषय में पूछताछ करते हैं।' मैंने उनसे कहा कि आप ऐसों को लिख दीजिए कि यह गुह्य विद्या अब मैंने बच्चन को दे दी है और स्वयं इसका अभ्यास छोड़ दिया है। मैं अपनी इस ख्याति का कुछ सदुपयोग कर लूँगा और आपका पिण्ड छूट जायेगा।

एक देवीजी ने मेरा यह रेखाचित्र बिना मुझसे पूछे-ताछे अपने एक संकलन में छाप लिया। हिन्दी-संसार में इस तरह की धाँधली ख़ूब चलती है। मैंने अपने वकील से नोटिस दिलवा दी तो एक सांकेतिक पारिश्रमिक देने को राज़ी हुईं। सो भी मैं इंग्लैण्ड चला गया तो उन्होंने मष्ट मारकर दाब लिया। स्त्रियों के अन्याय का मैं पहली बार शिकार नहीं हुआ था। बात ख्याल से हटा दी। पर देवीजी के साहस की तारीफ मैंने तब की जब मेरे इंग्लैण्ड से लौटने पर उन्होंने मुझसे पूछा, क्या मैं अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में भी आपका लेख रख सकती हूँ ? —जी नहीं ! बात फ़ोन पर हुई थी। इस प्रकार वह रेखाचित्र अब केवल इसी पुस्तक में पाया जा सकेगा।

गत वर्ष 'आज' के साप्ताहिक अंक में पन्तजी के जन्मदिन के निकट उन पर किसी सज्जन का लिखा एक लेख छपा। पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि उस लेख में का 90 प्रतिशत हूबहू मेरे रेखाचित्र से उतार लिया गया है। इसका भेद खोलने के लिए मुझे 'आज' में एक पत्र भी लिखना पड़ा। लेखकों को जानना चाहिए कि यह व्यापार उधार की पूँजी पर नहीं चलता। साथ ही हमारे सम्पादकों को भी अधिक अधीत, अभिज्ञ और सतर्क रहने की आवश्यकता है। इसी वर्ष पटना की 'नई

धारा' में एक अन्य सज्जन के नाम से मेरी एक ऐसी कविता छपी जो आज से 27 वर्ष पूर्व मेरी पुस्तक में छप चुकी थी और जिसके चार संस्करण हो चुके हैं। समझ में नहीं आता कि लेखक की हिम्मत की दाद दूँ कि सम्पादक के भोलेपन की। ख़ैर!

मई, 1950 में पन्तजी ने अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे किये। उन दिनों वे प्रयाग में ही थे; आल इण्डिया रेडियो में काम करने लगे थे। प्रयाग की कई संस्थाओं ने बड़े उल्लास के साथ उनका जन्मदिन मनाया। एक सभा मेरे निवास-स्थान (17, क्लाइव रोड) पर भी हुई थी। इलाहाबाद का अंग्रेज़ी दैनिक 'लीडर' इस अवसर पर उन पर एक लेख प्रकाशित करना चाहता था। उसके सम्पादक महोदय ने यह काम मुझे सौंपा। उस समय मैंने Sumitranandan Pant : Poet & Man शीर्षक से एक लम्बा लेख लिखा जो 'लीडर' की रविवारी संख्या में 21 मई, 1950 को प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत पुस्तक के लिए मैंने स्वयं उस अंग्रेज़ी लेख का स्वतन्त्रानुवाद किया है। हिन्दी के कई सम्पादकों ने उस लेख का अनुवाद छापना चाहा था पर मैंने अनुमति न दी थी, क्योंकि किसी दिन उसका अनुवाद मैं स्वयं करना चाहता था। इस प्रकार यह लेख पहली बार हिन्दी-पठित जनता के सामने आ रहा है।

इसी अवसर पर प्रयाग के हिन्दी पाक्षिक 'संगम' ने भी पन्तजी की स्वर्ण जयन्ती मनाने के उद्देश्य से एक विशेषांक निकाला था, जिसके लिए एक लेख की माँग मुझसे भी की गयी थी। पन्तजी की 'उत्तरा' नामक पुस्तक थोड़े ही दिन पहले प्रकाशित हुई थी, सम्भवत: उसी से संकेत पाकर मैंने 'उत्तर पन्त' शीर्षक एक छोटा-सा लेख लिखा जो 'संगम' में प्रकाशित हुआ।

1950 तक पन्तजी पर मेरे यही चार लेख थे। इस वर्ष एक दिन बैठे-बैठे मुझे ध्यान आया कि मई 1960 में पन्तजी अपने जीवन के साठ वर्ष पूरे करेंगे। क्यों न इस अवसर पर उन पर लिखे अपने निबन्धों को एक जगह संकलित करूँ और उन्हें पन्तजी के तथा अपने पाठकों के सम्मुख रक्खूँ। इस पुस्तक के शेष लेख 1960 में लिखे गये हैं।

इन निबन्धों के विषय में मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है। मेरे पाठक मुझे प्राय: कवि-रूप में ही जानते हैं। गद्य के नाम पर मेरी प्रारम्भिक कहानियों का एक संग्रह मात्र प्रकाशित हुआ है। पत्र-पत्रिकाओं में मेरे छिट-पुट लेखों अथवा रेडियो-वार्ताओं को संकलित करने का सुयोग अभी तक नहीं लग सका। मैं कविता लिखना पसन्द करता हूँ; उससे अधिक पसन्द करता हूँ कविता पढ़ना; और दोनों से अधिक पसन्द करता हूँ जीवन को काव्यमय बनाना। जो चीज़ें मैं पढ़ता हूँ उनके प्रति मेरी अपनी प्रतिक्रिया होती है। सदा अपनी प्रतिक्रिया को लेखनीबद्ध करने का मेरा आग्रह नहीं। यह काम पेशेवर समालोचकों का है। फिर भी कभी अपने से, कभी दूसरों के कहने से, मैंने अपनी प्रतिक्रियाओं को लेखनीबद्ध किया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी का एक परिणाम है।

पन्तजी की कविताओं के प्रति मेरी प्रतिक्रिया न तो साधारण पाठक की है और न पेशेवर समालोचक की जो आज विविध और

परस्पर विरोधी दलों में विभक्त हो गये हैं, और न तटस्थ सुधी स्वाध्यायी की ही। मैं इन निबन्धों को केवल इस विश्वास से प्रकाशित करा रहा हूँ कि पन्तजी के काव्य-रत्न का सच्चा रूप तभी प्रदीप्त हो सकेगा जब उस पर अनेक दिशाओं से प्रकाश पड़े। देश, काल, परिस्थिति, प्रकृति, प्रवृत्ति, पारस्परिक सम्बन्ध आदि के कारण मैं जहाँ खड़ा हूँ, आशा है, वहाँ से प्रकाश की जो रेखा उस पर पड़ेगी वह सर्वथैव नगण्य और उपेक्षणीय न समझी जायेगी। यदि ये निबन्ध पन्तजी अथवा उनकी कविता को समझने में यत्किंचित् सहायक सिद्ध हुए तो मैं अपने श्रम को व्यर्थ न समझूँगा।

13, विलिंगडन क्रिसेण्ट,
नयी दिल्ली-11

बच्चन

दूसरा संस्करण

मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि 'कवियों में सौम्य सन्त' का दूसरा संस्करण छपने जा रहा है। मैं उन पत्र-पत्रिकाओं का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की आलोचनाएँ प्रकाशित कर इसकी ओर पन्तजी के और मेरे पाठकों का ध्यान आकर्षित किया, और उन साहित्यानुरागियों और विद्वानों का भी, जिन्होंने इस पुस्तक पर अपना अभिमत प्रकट किया। मुझे सन्तोष है कि उनको इस पुस्तक से निराशा नहीं हुई और पन्त-काव्य-सम्बन्धी आलोचना-साहित्य में उन्होंने इसका स्थान नगण्य नहीं समझा।

प्रस्तुत संस्करण पिछले संस्करण का प्रायः पुनर्मुद्रण है। पहला संस्करण बहुत जल्दी में छापा गया था, इस कारण छपाई की बहुत-सी भूलें रह गयी थीं। इस संस्करण में उन्हें सुधार दिया गया। मुझे विशेष चिन्ता इस बात की थी कि पन्तजी की कविताओं के उद्धरण में किसी प्रकार की अशुद्धि न रह जाये। अबकी बार मूल पुस्तकों से मिलाकर सब उद्धरण बिल्कुल ठीक कर दिये गये हैं—प्रेस कितना ठीक छाप सकेगा, यह बाद को देखा जायेगा। फिर भी यदि कोई भूलें रह गयी हों तो पाठकों से प्रार्थना है कि वे मेरा ध्यान आकर्षित करें—आभारी हूँगा।

कुछ आलोचनाओं में यह बात कही गयी थी कि कई बातों को दुहराया गया है। यदि पन्तजी पर सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत करने के ध्येय से पुस्तक तैयार की गयी होती तो अवश्य ही किसी बात को बार-बार कहना भद्दा लगता—अक्षम्य भी होता। पर ये निबन्ध अलग-अलग समय पर लिखे गये थे, अलग-अलग पाठकों-श्रोताओं (रेडियो वार्ता वाले) को ध्यान में रखकर और प्रत्येक निबन्ध को एक प्रकार की

पूर्णता देनी थी। मैंने यह प्रथम संस्करण में ही स्पष्ट कर दिया था कि यह संकलन मात्र है। विभिन्न लेखों को पुस्तक का रूप देते समय ऐसे कतिपय प्रसंगों को उनके सन्दर्भ से अलग करना अशोभन होता, इसे मेरे पाठक सहज ही समझ सकेंगे।

अन्त में मैं श्री ओमप्रकाश कोहली और श्री राधेश्याम शर्मा को धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उन्होंने पहली पाण्डुलिपि से सम्पूर्ण पुस्तक की तुलना की, जिसके कारण बहुत-सी भूलों का परिशोध हो सका। मैं अधिक आभारी हूँ, कविवर अजित कुमार का, जिन्होंने पन्तजी की पुस्तकों से समस्त उद्धरणों का मिलान किया और उन्हें विराम-चिह्नों सहित प्रामाणिकता दी।

13, विलिंगडन क्रिसेण्ट,
नयी दिल्ली-11 **बच्चन**
27-7-'61

'सन्तों में सुमधुर कवि, कवियों में सौम्य सन्त'

—खादी के फूल

साईंदा,

मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है जब कटरा, इलाहाबाद, की पीले शिवाले की गली में, अपने मामाजी के घर के सामने, मैंने आपको पहले-पहल आते देखा था। मैं स्तब्ध होकर आपको देखता ही रह गया था। क्या मनुष्य इतना सुन्दर भी हो सकता है! और जाती बार, अपने पथ में मुझे भौचक्का देख, आप सहज सहानुभूति एवं विनोद की एक हल्की-सी चपत मेरे गाल पर लगाकर निकल गये थे। तब आप उन्नीस के थे, मैं बारह का।

और आज आप साठवें में हैं, मैं तिरपनवें में।

और मैं आज भी स्तब्ध हूँ।

आज मेरी स्तब्धता के विषय हैं आपका कवित्व, आपका व्यक्तित्व।

क्या कवित्व इतना दिव्य हो सकता है!

क्या व्यक्तित्व इतना भव्य हो सकता है!

अन्तर केवल इतना है। अपनी स्तब्धता में आज मैं कुछ अटपट बोल भी रहा हूँ। आप साठा होकर पाठा होंगे तो अपने तिरपनवें में कुछ लड़कपन करने का अधिकार मुझे स्वाभाविक ही मिल जाता है। इसीलिए आपकी साठवीं वर्षगाँठ पर मैं अपने इन शब्दों से आपका अभिनन्दन करने का साहस कर रहा हूँ, और दुःसाहस भी; क्योंकि इनमें मैंने आपकी 'चपत' को भी सम्मिलित कर लिया है, यानी आपके पत्रों को।*

13, विलिंगडन क्रिसेण्ट,
नयी दिल्ली-11

बच्चन

---

* ये पत्र 'रचनावली' में नहीं दिये जा रहे हैं।—सं.

एक दृष्टिकोण*

'पल्लविनी' पहले-पहल सन् 1940 में प्रकाशित की गयी थी। इसमें श्री सुमित्रानन्दन पन्त की प्रथम छः रचनाओं अर्थात् 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुन्जन', 'ज्योत्स्ना' तथा 'युगान्त' की चुनी हुई कविताएँ संगृहीत की गयी थीं। सन् 1939 में पन्तजी की 'युगवाणी' प्रकाशित हुई थी जिसमें उन्हीं के शब्दों में उन्होंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया था। यहाँ गद्य का अर्थ गद्य नहीं था, गद्य प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ था—और कवि को नये प्रतीक बनाने का अधिकार है—पन्तजी का तात्पर्य था गद्य से—युग की समस्याओं से, युग की उलझनों से, यद्यपि 'युगवाणी' में युग का गद्य ही नहीं है, बहुत कुछ जीवन का पद्य भी है; आप मुझे क्षमा करें, मैं भी पद्य को प्रतीक के समान इस्तेमाल कर रहा हूँ, और इससे मेरा मतलब है जीवन की सुन्दरता से, जीवन के रस और रंग से। प्रसिद्ध है, पुरानी आदतें ज़रा मुश्किल से छूटती हैं, फिर भी 'युगवाणी' की रचनाओं के विषय, दृष्टिकोण, अभिव्यंजना और शैली में पहले की रचनाओं से इतना अधिक अन्तर था कि पारखियों को सहज ही ऐसा आभास हुआ कि इस कृति के साथ पन्तजी के काव्य-जीवन का एक नया अध्याय खुल रहा है। इसके पूर्व अपनी रचना का 'युगान्त' नाम देकर मानो स्वयं उन्होंने इस बात का संकेत कर दिया था। इतना ही नहीं, उसके 'दो शब्द' में उन्होंने स्वीकार भी किया था कि 'युगान्त' में 'पल्लव' की कोमलकान्त पदावली का अभाव है और अब वे एक नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा कर रहे हैं। सम्भवतः इन्हीं कारणों से इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उनकी 'युगान्त' तक की रचनाओं से एक ऐसा संकलन उपस्थित किया जाये जिससे उनके काव्य-जीवन के प्रथम चरण का विकास-क्रम जानने और समझने में सुविधा हो सके। इस चरण में पन्तजी की कल्पना ने जिस भाव-प्रदेश में विचरण किया है उसकी तुलना यदि पर्वत से करें तो 'पल्लव' को उसकी सबसे ऊँची चोटी, मैं सबसे रम्यस्थली नहीं कह रहा हूँ, मानना होगा। संकलन के 'पल्लविनी' नाम देने में शायद यही धारणा काम कर रही थी।

संकलन स्वयं पन्तजी ने किया था, कुछ रचनाओं में ज़रूरत समझकर उन्होंने कुछ काट-छाँट भी कर दी थी। रचनाओं का क्रम समयानुसार न रखकर विषयानुसार रक्खा गया था। संग्रह ने एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति की और काव्य-रसिकों ने उसे बहुत पसन्द किया। इसका दूसरा संस्करण सन् '45 में प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण का पुनर्मुद्रण मात्र था।

---

* श्री सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य-संकलन 'पल्लविनी' के तृतीय संस्करण की भूमिका (1947)।

इस तीसरे संस्करण में रचनाएँ तो सब वे ही रक्खी गयी हैं जो इसके पहले के संस्करणों में थीं, परन्तु उनके क्रम में भारी परिवर्तन कर दिया गया है। पन्त-जी ने अब यह अनुभव किया है कि जो संग्रह विशेषकर उनके काव्य-जीवन का क्रमिक विकास दिखलाने के उद्देश्य से तैयार किया गया है उसमें रचनाओं के कालानुक्रम की अवहेलना नहीं की जा सकती। फलस्वरूप 'पल्लविनी' के इस संस्करण में, दो-एक को छोड़कर शेष सब कविताएँ रचनाक्रम में रक्खी गयी हैं, परन्तु समय की सीमा के भीतर भी, रचनाओं के स्थान में थोड़ा-सा उलट-फेर करके पन्तजी ने उन्हें इस प्रकार रक्खा है कि उनमें एक प्रकार का अद्भुत सामंजस्य आ गया है। 'पल्लविनी' का यह रूप उसके पिछले रूप से कितना मधुर और निखरा हुआ है इसे वे ही जान सकेंगे जो उसके पहले संस्करणों से इसकी तुलना करेंगे। एक बात और हुई है, दो-तीन कविताओं की काट-छाँट में कुछ ऐसे पद छोड़ दिये गये थे जो अपनी सरलता और सरसता के कारण मुझे बहुत प्रिय थे। वे प्राय: लोगों की ज़बान पर थे और लेखों तथा आलोचनाओं में उद्धृत भी किये जाते थे। मेरी प्रार्थना पर ऐसे कतिपय पदों को इस संस्करण में स्थान देकर उन्होंने मुझे बाधित किया है। मुझे विश्वास है कि ये पद औरों को भी रुचिकर प्रतीत होंगे।

'पल्लविनी' के इस नवीन रूप के साथ प्रकाशक की इच्छा है कि एक भूमिका भी जोड़ दी जाये। पिछले संस्करणों में पन्तजी लिखित गिनती की केवल छ: पंक्तियों का एक विज्ञापन मात्र था। उन्होंने यह काम मुझे सौंपा है। और इसकी गम्भीरता और ज़िम्मेदारी के साथ-ही-साथ अपनी अल्पज्ञता और अयोग्यता जानते हुए भी जो मैंने यह कार्य-भार अपने ऊपर लिया है उसका मुख्य कारण केवल यह है कि मुझे पन्तजी के बहुत समीप आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और इस प्रकार मुझे उन्हें बहुत निकट से देखने का अवसर मिला है। मैं एक लम्बे अरसे से उनकी कविताओं से उनके व्यक्तित्व को और उनके जीवन से उनकी रचनाओं को समझने का प्रयत्न करता रहा हूँ और एक बात जो मैं सबसे पहले कह देना चाहता हूँ वह यह है कि जो उनकी कविता है वही उनका जीवन है और जो उनका जीवन है वही उनकी कविता है। उनकी कविताओं के विषय में कुछ कहने का मेरा केवल इतना ही अधिकार है कि मैंने उन्हें उनके रचयिता के जीवन के प्रकाश में देखा है। अन्य कवियों के विषय में यह बात लागू है या नहीं, किन्तु पन्तजी के विषय में तो यह बात बिल्कुल ठीक है कि बिना उनके व्यक्तित्व को समझे उनकी रचनाएँ नहीं समझी जा सकतीं। उनकी रचनाओं के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है; खेद है, उनके जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालनेवाली चीज़ें नहीं के बराबर हैं। इस छोटी-सी भूमिका में, जिसे मैं एक दृष्टिकोण कहना अधिक पसन्द करूँगा, मैं इस तरह के किसी प्रयास की बात भी नहीं सोच सकता। फिर भी प्रयत्न करूँगा कि उनके जीवन-मन्दिर का एक छोटा-सा वातायन खोल सकूँ। इतना भी कर सका तो अपने को असफल नहीं समझूँगा।

यह सोचने के पहले कि मैं इस भूमिका में क्या लिखूँ; मैंने इस पर विचार किया है कि मैं किनके लिए यह भूमिका लिख रहा हूँ। यद्यपि 'पल्लविनी' का संकलन पन्तजी की कविता के प्रथम चरण का विकास दिखाने के लिए किया गया है, तथापि उनकी कविता से परिचय कराने के लिए यह बहुत अच्छी पुस्तक सिद्ध होगी और मेरा विश्वास है प्राय: लोग इसका यही उपयोग करेंगे भी। इसलिए मेरे सामने इस समय वे ही लोग हैं जो पन्तजी की कविता से प्रथम परिचय प्राप्त

करने जा रहे हैं। पन्तजी को समझने में अगर मैं उन्हें ठीक दिशा में लगा सका, और इसमें मेरी भी सीमा है, जिसे मैं ठीक समझता हूँ, तो मेरा ध्येय पूरा हो जायेगा। और लोगों के काम की कुछ बात इसमें मिल जाये तो मैं अपने को धन्य समझूंगा।

पन्तजी के बारे में जो कुछ लिखा अथवा कहा गया है उस सबका विश्लेषण न तो मेरे लिए सुलभ है और न उपयोगी। परन्तु जो कुछ भी इनके विषय में लिखा अथवा कहा गया है उससे एक प्रकार का वातावरण अवश्य बन गया है और प्राय: पाठक रचनाओं को स्वयं पढ़कर अपनी सम्मति निर्धारित करने के पहले इस वातावरण से कुछ अनोखी धारणाएँ लेकर आता है। समालोचना हमारे साहित्य का शायद सबसे कमज़ोर अंग है। प्राय: जो एक कहता है दूसरा उसे ले उड़ता है, और लोग भी ऐसे सहज-विश्वासी हैं कि जो कुछ कहा जाता है उसे ही ठीक मान लेते हैं। सम्मतियों के इस वातावरण में पन्तजी के विषय में कुछ बातें स्वत:सिद्ध और सर्व-मान्य हो गयी हैं और मेरी राय में इनमें तथ्य बहुत कम है। मैं अपने इन थोड़े-से शब्दों में इस वातावरण को साफ़ करना चाहता हूँ।

आज से लगभग दस बरस पहले पन्तजी की कविता पढ़नेवालों से कम और उनकी रचनाओं को बग़ैर पढ़े उनके विषय में बात करनेवालों से ज़्यादा, मैं यह बात सुना करता था कि पन्तजी छायावादी हैं, और छायावाद पर किसी 'कवि-किंकर' ने यह फ़तवा दे दिया था कि वह समझ में आने की चीज़ नहीं है और उसके अनुयायियों ने इसका इतना प्रचार किया था कि किसी रचना को छायावादी कह देने का मतलब था कि वह बिलकुल बे-सिर-पैर की है और उस पर और कुछ कहना ही सम्भव नहीं —समझ से जो बाहर है। अस्पष्टता, कठिनता, निरर्थकता, सबका सम्मिलित नाम था छायावाद। इसी अर्थ में मुहावरे की तरह भी इसका प्रयोग मैंने देखा है। अब, जो हिन्दी कविता में कुछ रुचि रखता है और कविता पर अपनी राय देता है, पन्तजी की चर्चा चलने पर पहला वाक्य यही कहता है कि वे प्रगति-वादी हो गये हैं, और प्रगतिवादी प्रगतिवाद से क्या समझते हैं यह तो वे जानें, साधारण लोगों में प्रगतिवाद का जो अर्थ लिया जाता है वह यह है कि वह साम्य-वादी दल की राजनीति का अनुयायी है, मार्क्सवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों का पोषक है और साहित्य को प्रचार की मैशीनरी समझता है। और मेरी तुच्छ सम्मति यह है कि न पन्तजी को तभी ठीक समझा जा रहा था और न अभी ठीक समझा जा रहा है।

युग, युग की घटनाओं, युग की विचारधाराओं का जो प्रभाव कला-कृतियों पर पड़ता है उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु कलाकार का निजी व्यक्तित्व भी एक महत्ता रखता है। सच तो यह है कि अपने व्यक्तित्व में कुछ विशेष रखने के कारण ही वह कलाकार होता है। फिर युग भी व्यक्ति को प्रभावित करके ही कला पर प्रभाव दिखला सकता है। युग के प्रति किसी विशेष व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया क्या होगी, इसका अनुमान कर लेना सहज नहीं है। कला और साहित्य के इतिहास में ऐसी कृतियों की कमी नहीं है जिन पर युग की स्वीकृत अथवा प्रमुख प्रवृत्तियों का कुछ भी प्रभाव नहीं है। युग साधारण व्यक्तियों को प्रभावित करता है लेकिन विशेष व्यक्तियों से प्रभावित भी होता है। जहाँ तक हिन्दी साहित्य और साहित्य से जीवन के लिए प्रेरणा प्राप्त करने-वालों का सम्बन्ध है, मैं यह बात नि:संकोच कह सकता हूँ कि पन्तजी केवल ऐसे व्यक्तियों में ही नहीं हैं जो युग की शक्तिमान प्रवृत्तियों के प्रति निजी

प्रतिक्रिया रखते हैं; बल्कि वे उनमें भी हैं जो युग को प्रभावित करते हैं। जिस युग में पन्तजी ने अपनी रचनाएँ की हैं उसे समालोचकों ने छायावाद का युग कहा है। कुछ आलोचकों ने युग का ऐसा आतंक खड़ा किया है कि हमें यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि चूँकि पन्तजी ने छायावादकाल में लिखा है, इसलिए वे छायावादी हैं। और चूँकि अब कुछ समय से कुछ लोगों ने ढोल बजाकर आधुनिक युग को प्रगतिवादी युग घोषित कर दिया है, इसलिए आज वे जो लिख रहे हैं उसमें प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों अथवा प्रेरणाओं से प्रभावित हैं। छायावाद के प्रचलित अर्थ से मेरे लिए उनकी कविता बहुत दिन पहले से मुक्त हो गयी थी। लेकिन वर्षों मैंने इस बात पर अचरज किया है कि छायावाद का एक साम्प्रदायिक, रूढ़ अर्थ भी देकर पन्तजी को लोग छायावादी क्यों कहते हैं। समालोचकगण प्रायः इस सीमित अर्थ में उसे रहस्यवाद कहने लगे हैं, परन्तु साधारण जनता में दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। उनमें मुझे न तो कबीर की ही आवृत्ति मिली, न जायसी की और न रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही। और आज जब मैं यह देखता हूँ कि उन्हें प्रगतिवादी घोषित करके किस प्रकार एक विशेष विचारधारा के लोग अपने साहित्यिक मोर्चे को मज़बूत बना रहे हैं तो मैं सोचता हूँ कि दुनिया में साहित्यिक शोषण भी किस हद तक जा सकता है। मेरी समझ में तो इस प्रकार का शोषण आर्थिक शोषण से अधिक भयंकर और दुष्परिणामकारी है। ख़ैर, कहने का मतलब यह है कि छायावाद के युग में भी वे पन्त थे और प्रगतिवाद के युग में भी वे पन्त हैं। वे छायावादी युग की उपज से अधिक उसके निर्माता रहे हैं, और वे जैसे प्रगतिशील हैं उनको उसी रूप में स्वीकार करने के लिए प्रगतिवाद को किसी संकुचित दल-विशेष के हाथों की कठपुतली होने से इन्कार करना पड़ेगा। पन्तजी का अपना छायावाद भी था, अपना प्रगतिवाद भी है और इसका कारण यह है कि उनका अपना व्यक्तित्व है जो किसी वाद अथवा युग के साँचे में नहीं बिठाया जा सकता। पन्तजी की कविताओं को ठीक-ठीक समझने के लिए मेरे विचार से यह सबसे ज़रूरी बात है कि उन्हें किसी वाद के अन्तर्गत रखकर न देखा जाय। सम्भव हो सकता है कि समालोचकों को अपने अध्ययन के किसी दर्जे पर पहुँचकर उनकी रचनाओं की साम्य-संगति किसी युग-वाद के साथ बिठानी पड़े। परन्तु, ऐसे पाठकों से जो काव्य के सहज आनन्द से आकर्षित होकर उनकी ओर जाते हैं, मैं यह कह देना चाहता हूँ कि पन्तजी को वे ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे अगर वे, वादों के फेर में न पड़कर, उन्हें एक ऐसा संवेदन, मनन और चिन्तनशील कवि समझें जो अपने और प्रकृति के, मानव जीवन और मानव समाज के, अपने देश, अपने युग और अपनी संस्कृति के तथा इन सबमें परिव्याप्त और इन सबके ऊपर जो सत्ता है उसके प्रति चिर जागरूक है। अपने इस कथन की व्याख्या आगे चलकर उनकी रचनाओं को लेकर मैं करना चाहता हूँ, परन्तु इसके पहले उनकी भाषा के विषय में जो भ्रान्तियाँ फैली हैं उन्हें दूर करना आवश्यक प्रतीत होता है।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, प्रायः लोगों में यह जनश्रुति प्रचलित है कि पन्त-जी की भाषा कठिन होती है। यह जनश्रुति नहीं तो क्या है कि प्रायः लोगों ने बिना उनकी कविताओं को पढ़े यह मान लिया है कि वे कठिन लिखते हैं और इसी कारण वे उनकी रचनाओं को समझना अपने वश से बाहर की बात समझते हैं। तमाशा तो यह है कि ऐसे लोगों में कुछ इस तरह के भी लोग हैं जिन्होंने अपनी तमाम उम्र उर्दू-साहित्य को पढ़ने में लगायी है और केवल हिन्दी वर्णमाला जानने के कारण यह

उम्मीद करते हैं कि जो कुछ वे अक्षर और मात्रा जोड़कर पढ़ लेंगे वह सब उनकी समझ में आ जायेगा। साहित्य का आनन्द लेने के लिए भाषा के ज्ञान की आवश्यकता होती ही है। यह तो प्रारम्भिक बात हुई। इसके पश्चात् साहित्य की वृत्ति पहचाननी और उसके साथ संवेदना रखनी पड़ती है। तभी कोई साहित्य अपने रस की गाँठ खोलता है। यदि आप हिन्दी में वही सब पाने की आशा करके आते हैं जो आप उर्दू में पाते रहे हैं तो मैं आपसे यही कहूँगा, दूसरा दरवाज़ा देखिए। जो केवल दूसरों से सुनकर पन्तजी की भाषा को कठिन मान बैठे हैं, उनसे मैं कहूँगा वे स्वयं उनकी कविताओं को पढ़ें। उनका आधा भ्रम ऐसा करते ही दूर हो जायेगा। और आगे के लिए हमें अपने साहित्य और समय की वृत्ति पहचाननी पड़ेगी।

पन्तजी की भाषा की कठिनता के सम्बन्ध में मैंने उनसे भी सुना है जो हिन्दी के ज्ञाता हैं, साहित्यानुरागी हैं और पन्तजी की कविता के प्रेमी हैं। पन्तजी की भाषा जैसी है उसके लिए केवल पन्तजी ही उत्तरदायी नहीं हैं। यह शिकायत पन्तजी के सभी समकालीन कवियों की भाषा के सम्बन्ध में कम-ज़्यादा रही है। इसके लिए हिन्दी का एक युग ही जवाबदेह है। जानबूझकर कोई अपनी भाषा को कठिन नहीं बनाना चाहता। जैसे पन्तजी की कविता उनके जीवन का सहज उद्गार है वैसे ही उनकी भाषा उनके भावों का स्वाभाविक परिधान है। न तो उन्होंने कविता लिखने के लिए कविता लिखी है और न भाषा लिखने के लिए भाषा। मैं तो समझता हूँ कि उनको अपनी साहित्यिक परम्परा से जैसी भाषा मिली थी उसका उन्होंने सबसे अच्छा उपयोग किया है। इतना ही नहीं, उसकी उपयोगिता को उन्होंने कई गुना बढ़ा भी दिया है।

भारतेन्दु की मृत्यु सन् 1885 में हुई थी; उनके लिए गद्य की भाषा खड़ी बोली और पद्य की भाषा ब्रज थी। पर भारतेन्दु ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए यह असम्भव था कि उनका ध्यान इस विपर्यय की ओर न जाये। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उनके दिमाग़ में यह बात तो आयी थी कि हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए, पर जब उन्होंने इसे कार्यरूप में परिणत करना चाहा तो साहित्यिक परम्परा के अभाव में, ब्रज भाषा में अति सरस छन्दों की रचना करनेवाले और उर्दू में भी 'रसा' के तख़ल्लुस से अच्छे-खासे शेर कहनेवाले भारतेन्दु-जी, गिनती की तुकबन्दियाँ, पहेलियाँ, मुकरियाँ और 'चूरन का लटका' भर लिख-कर रह गये थे। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से जिन लेखकों ने गद्य और पद्य की भाषा एक बनाने का प्रयत्न किया था उन्होंने पद्य को केवल गद्यमय कर दिया, कविता तो शायद ही किसी ने लिखी हो। इसी भाषा को, पन्तजी को, काव्यमय बनाने का काम करना पड़ा। उन्होंने 1921 में 'उच्छ्वास' ऐसी कविता उपस्थित कर दी। इतना कवित्व इसके पूर्व कभी खड़ी बोली के साँचे में नहीं ढला था। और उसकी भाषा के सम्बन्ध में पण्डित शिवाधार पाण्डे ने फरवरी 1922 की 'सरस्वती' में 'पावस ऋतु थी···' आदि पंक्तियों को उद्धृत करके लिखा था, '···भूधरराट् के इस वर्णन में अक्षर-अक्षर अपने स्थान में अनिमेष खड़ा हुआ है—टस से मस नहीं हो सकता।' पन्तजी के विषय में उन्होंने लिखा था, '···भाषा को वह भाव से बजाता है। संगीत को उँगलियों पर नचाता है। शब्दों को सूँघ-सूँघकर मनमाना मधु चूसता है।' फिर भी जो पद्य में गद्य ही देखने के अभ्यासी थे उनके लिए काव्य की चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना और लाक्षणिकता ने भाषा के अतिरिक्त एक दूसरी कठिनता सामने रख दी। पढ़नेवालों ने सारा दोष भाषा के

ही माथे मढ़ दिया। उन्होंने समझा सारा दोष संस्कृतमयी पदावली का है।

पर अब देखना यह है कि खड़ी बोली के लिए सूरत क्या थी। ब्रज भाषा और अवधी की तरफ़ से वह मुँह मोड़ चुकी थी। खड़ी बोली का जन्म उर्दू को देवनागरी अक्षरों में लिखने के लिए नहीं हुआ था। उर्दू से अगर हमारे देश की संस्कृति अभिव्यक्ति पा सकती तो हिन्दी का पुनरुत्थान ही न होता। उर्दू एक ओर हाली की ज़बान पर चढ़कर उस साम्प्रदायिकता की ओर जा रही थी जिसकी चरम सीमा इक़बाल में पहुँची और दूसरी ओर वह फ़ारसी साहित्य की पुरानी परम्परा से आये हुए मक़तल, मैख़ाना, आशिक़, माशूक़ का पहाड़ा पढ़ रही थी। जिस समय भारतेन्दु यह लिख रहे थे कि 'भाषा भई उर्दू जग की' उस समय भी उसकी व्यापकता की अवहेलना करके जो हिन्दी उठी उसका एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कारण था। कहने का मतलब यह है कि खड़ी बोली उर्दू की ओर भी नहीं झुक सकती थी। ऐसी परिस्थिति में सिवा संस्कृत की ओर जाने के दूसरा चारा नहीं था। प्रयोग बंगला में हो चुका था। माइकेल मधुसूदन दत्त और रवि-बाबू बंगला को संस्कृत से अनुप्राणित करके उसे शत-शत भाव-विचारों की वाहिनी सिद्ध कर चुके थे। शरच्चन्द्र ऐसे उपन्यासकार तक इस विचार के थे कि रवि बाबू ने संस्कृत की भरमार करके बंगला को चौपट कर दिया है। बंगला के अध्ययन से भी जो खड़ी बोली के कवियों ने लिया वह संस्कृत की ही देन थी। खड़ी बोली संस्कृत पर निर्भर होने के लिए विवश थी और सचमुच पन्तजी की विवशता खड़ी बोली की विवशता थी। इस विवशता को भी जो उन्होंने सुन्दरता का रूप दिया यह उनकी कलात्मकता थी। उन्होंने कोष खोलकर संस्कृत शब्दों को उधार नहीं लिया। पाण्डेजी के शब्दों में उन्होंने संस्कृत के विस्मृत शब्दों को भावों से ठोंक-बजाकर लिया है, सुरुचि से सूँघ-सूँघकर लिया है। कम-से-कम 'युगान्त' तक संस्कृत शब्दों को लेने में उन्होंने बड़ी कलाप्रियता दिखलायी है। ज़्यादा उदाहरण देने का स्थान नहीं है। 'युगान्त' से ही दो दे रहा हूँ। पंक्ति है—'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र'। 'द्रुत' में जैसे पत्ता टूटकर गिरना ही चाहता है। इसी प्रकार पंक्ति है—'गा, कोकिल, बरसा पावक कण!' 'पावक कण' में दोनों 'क' के लड़ने से ऐसा लगता है जैसे आग अपने आप फूटकर भभकने ही वाली है। 'जल्दी' और 'चिंगारी' शब्द से यह प्रभाव उत्पन्न करना असम्भव था। 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' में आये संस्कृत शब्दों को लीजिए, उनके स्थान पर दूसरा शब्द रखकर देखिये, पंक्ति का जादू ग़ायब हो जायेगा। यों तो पन्तजी के समकालीन सब कवियों ने संस्कृत पदावली का अनुसरण किया है फिर भी पन्तजी ने उन्हें चुनने में जितनी कलामय सतर्कता बरती है उतनी किसी अन्य ने नहीं। कहीं उसने रूप उपस्थित किया है तो कहीं उसकी ध्वनि से पंक्ति संगीतमय हो गयी है और कहीं उसने परम्परा से सम्बद्ध भावों के तारों को झनझना दिया है। खड़ी बोली की व्यंजना-सामर्थ्य बढ़ाने की कम-से-कम यह एक दिशा तो थी ही और इस पर पन्तजी इसे काफ़ी दूर तक ले गये हैं।

पन्तजी की कुछ व्यक्तिगत परिस्थितियों को भी नहीं भूलना चाहिए। वे 'पहाड़ी कवि' हैं और उनकी मातृभाषा पहाड़ी है। आज भी उन्हें इस बात को कहने में संकोच नहीं है कि हिन्दी मेरी मातृभाषा नहीं है, गो कि प्रत्येक पहाड़ी की शिक्षा हिन्दी से ही प्रारम्भ होती है। हमारे नगरों में उर्दू का प्रचार कई कारणों से बहुत रहा है, परन्तु पहाड़ी भाषा अब भी उर्दू के प्रभाव से मुक्त है। उसमें प्रायः संस्कृत के शब्द ही रूप बदलकर मौजूद हैं और आवश्यकता पड़ने पर वह उर्दू के बजाय

संस्कृत की ही ओर झुकती है। दूसरे पन्तजी ने संस्कृत साहित्य का अध्ययन लड़कपन से ही किया है और उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। बंगला भी उन्होंने काफ़ी पढ़ी है और यद्यपि उसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है, उन्होंने उससे केवल इतना सीखा है कि बंगला किस प्रकार संस्कृत के शब्दों को पचाकर अपने अन्दर शक्ति, रूप-रंग भर लेती है। उर्दू से वे अनभिज्ञ हैं, पर इसमें सन्देह है कि वे उससे अभिज्ञ होकर भी उसके प्रवाह में बह सकते। कारण, हिन्दी की सामयिक वृत्ति ही दूसरी ओर थी और कितने ही लेखक उर्दू से पूर्ण परिचित होकर भी उससे हिन्दी को अछूता रख रहे थे। शायद हिन्दी के व्यक्तित्व की स्थापना के काल में यही प्रवृत्ति अधिक उपयुक्त और लाभदायक थी। भाषा का सम्बन्ध केवल ऊपरी नहीं होता। हिन्दी के कवि जो कहना चाहते थे शायद वह किसी और शब्दावली से कहा ही नहीं जा सकता था।

अन्त में एक बात मैं कहना चाहूँगा। पन्तजी की कठिनता शब्दों की कठिनता नहीं है। और अगर हो भी तो उसका हल सरल है। उनकी कठिनता है उनकी नवीन अभिव्यंजना की, नवीन विचारधारा की, नवीन चिन्तन-दर्शन की। उनकी अभिव्यंजना का सौन्दर्य पिछली पीढ़ी के लोगों ने नहीं देखा था। पर आज हम सब देख रहे हैं। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी नहीं देख सके थे, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने देखा है। हिन्दी के व्यंजना-विकास और पन्तजी के मानसिक विकास में होड़-सी लगी है; वे इतनी जल्दी आगे बढ़ रहे हैं कि भाषा उनका साथ नहीं दे पाती है। उनकी 'युगवाणी' लोगों की समझ में इसलिए नहीं, नहीं आ रही है कि उसके शब्द कठिन हैं, बल्कि इसलिए कि हिन्दी पाठक उनकी विचारधारा से बिलकुल अपरिचित हैं। मुझे भय है कि आगे की रचनाओं में भाषा उनके चिन्तन-दर्शन का साथ नहीं दे सकेगी। उनकी आगामी रचनाओं 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' का शब्दार्थ जानकर भी बहुत सम्भव है उनकी चिन्तन-धारा लोगों के लिए अगम्य ही सिद्ध हो। हिन्दी को जन्मते ही, विश्व के नव-जागरण में भारत की आत्मा को, जो युगों से रूढ़ियों के दुर्दम तम में गड़ी हुई थी, व्यक्त और मुखरित करने का उत्तरदायित्वपूर्ण भार उठाना पड़ रहा है। उसके कन्धे अभी कमज़ोर हैं, परन्तु वह पीछे नहीं हटेगी और अपने ध्येय के अनुरूप अपने को सुगठित करेगी। पन्तजी की वाणी जहाँ दुरूह और कठिन है वहाँ भी वह यही स्वस्थ आश्वासन देती-सी प्रतीत होती है। पन्तजी की कविता में मानो स्वयं हिन्दी इस प्रयास में है कि वह जग और जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म और गम्भीर से गम्भीर अनुभूतियों और विचारों को अपने पंखों पर लेकर सहज ही उड़ सके। 'वाणी' को सम्बोधित करके उन्होंने 'ग्राम्या' की एक कविता में कहा है :

> युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
> शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,
> ज्योतित कर जन मन के जीवन का अन्धकार,
> तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
> वाणी मेरी,······

मैंने ऊपर लिखा है कि पन्तजी ने न तो कविता लिखने के लिए कविता लिखी है और न भाषा लिखने के लिए भाषा। आप एक बार उनकी भावना अथवा विचारधारा से सहानुभूति स्थापित कर लें, फिर आप देखेंगे कि भाषा आपके रास्ते में कोई रुकावट नहीं उपस्थित करती। जिस प्रकार उनकी कविता का आनन्द-रस उनके शब्दों के ऊपर होकर छलका करता है, मैंने अक्सर उनके पाठकों से यह सुना

है कि जहाँ कहीं उनकी कविता समझ में नहीं भी आती वहाँ उसके पढ़ने अथवा सुनने में एक प्रकार का आनन्द ज़रूर आता है, उसी प्रकार उनकी विचारधारा, उनके आदर्शों और उनके स्वप्नों को समझ लेने पर अर्थ अपने आप ही उनकी पंक्तियों के ऊपर छलकता-सा आपको प्रतीत होगा। अब उनकी रचनाओं की चर्चा करके मैं उनके इसी भाव-जगत् की ओर थोड़ा-सा संकेत करना चाहता हूँ।

पन्तजी जन्मजात कवि हैं, उन्हें देखकर अक्सर मैंने अपने से पूछा है कि यदि वे कवि न होते तो और क्या हो सकते थे, और हमेशा मेरे मन ने यही कहा है कि वे कवि छोड़कर कुछ और नहीं हो सकते थे। अपने समय और परिवार के वातावरण से प्रेरणा पाकर उन्होंने लड़कपन से ही कविता लिखनी आरम्भ कर दी थी। 1918 से उन्होंने जो कुछ लिखा है वह समय-समय पर संग्रह-रूप में प्रकाशित होता रहा है। उनके कहानी-संग्रह को छोड़ दें, और उनके नाटक 'ज्योत्स्ना' को भावना-प्रधान मान लें तो अब तक उनकी कविताओं की आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'वीणा' में सन् 1918-'19 की रचनाएँ हैं। 'ग्रन्थि' गतिपरक खण्ड-काव्य है और यह 1920 में लिखी गयी थी। 'पल्लव' एक प्रकार का संकलन था और उसमें सन् 1918 से 1925 तक की प्रत्येक वर्ष की दो-दो, तीन-तीन कृतियाँ रख दी गयी थीं। यद्यपि संख्या में तीन-चौथाई और आकार में इससे कहीं अधिक कविताएँ 1920 के पश्चात् की थीं। इसी प्रकार 'गुंजन' में 1919 से 1932 तक की रचनाएँ थीं, गोकि ज़्यादातर चीज़ें 1925 के बाद की थीं। 'ज्योत्स्ना' यों तो कहने को नाटक है पर उसके अनेक मधुर गीतों के कारण हम उसे काव्य-संग्रह ही मान लेते हैं। इसके गीतों को मैं पन्तजी के सर्वोत्तम गीतों में मानता हूँ परन्तु साथ ही मेरी यह भी राय है कि इनको इनके वातावरण से अलग कर लेने पर—जैसा कि इस संग्रह में किया गया है—इसका आधा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इसकी रचना सन् 1933 में हुई थी। 'युगान्त' में सन् 1935-'36 की रचनाएँ हैं। 'युगवाणी' में सन् 1936 से 1939 तक की, और 'ग्राम्या' में 1939-'40 में लिखी हुई कविताएँ संगृहीत की गयी हैं। इनके अतिरिक्त पन्तजी की दो और रचनाएँ तैयार हैं। ये हैं 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि'। ये दोनों 1946-'47 की कृतियाँ हैं। 'स्वर्ण किरण' शीघ्र प्रकाशित होनेवाली है। इसे मैंने प्रूफ़ से पढ़ लिया है और 'स्वर्ण धूलि' को मैं पाण्डुलिपि में पढ़ चुका हूँ। यह भी शीघ्र ही प्रेस में दी जा रही है।

पन्तजी की रचना उनके जीवन-विकास की प्रतिच्छाया है और उनका जीवन-विकास, जैसा कि प्रायः सभी विकासवान व्यक्तियों का होता है, इतना क्रमबद्ध है कि यह कहना कठिन है कि इस स्थान से अमुक प्रवृत्ति समाप्त होती है और अमुक आरम्भ होती है। उनकी अन्तिम रचनाओं में भी कोई ऐसी बात नहीं है जो बीज-रूप से उनकी पहली रचना में मौजूद न हो, और उनकी पहली रचना में जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उनके चिह्न उनकी अन्तिम रचनाओं में भी चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप में क्यों न हों, पाये जा सकते हैं। जिस तरह यह जानते हुए भी कि न एक दिन में मनुष्य बालक से युवा होता है और न युवा से प्रौढ़, हम जीवन-अवधि को बाल्यावस्था, युवावस्था आदि में बाँटकर उसके विकास को व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार पन्तजी की रचनाओं की प्रगति दिखलाने के लिए हम उन्हें तीन चरणों में विभक्त कर सकते हैं। कविताओं के विषय को थोड़ी देर के लिए मन से हटाकर अगर केवल उनकी शैली पर ध्यान दें तो पहला चरण 'वीणा' से आरम्भ होकर 'युगान्त' पर समाप्त होता है। दूसरे चरण में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' आयेंगी और

तीसरे में 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि'। मैंने ऊपर लिखा है कि पन्तजी संवेदन, मनन और चिन्तनशील कवि हैं। अपने काव्य-जीवन के प्रथम काल में वे प्रधानतया संवेदनशील कवि हैं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वे मननशील हो गये हैं। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में मुख्यतया वे चिन्तन-दर्शन के कवि हैं। इसी को दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि 'वीणा' से 'युगान्त' तक वे प्रधानतया भावनाओं के, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में बुद्धि अथवा विचारों के तथा अन्तिम दो रचनाओं में आत्म-दर्शन के कवि हैं। संवेदनशील होना कवि का प्रथम गुण है, और यह संवेदनशीलता उनके मनन और चिन्तन-काल में भी उनका साथ नहीं छोड़ती यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से मनन-काल में चिन्तनकाल की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचे और इस काल की रचनाओं में 'युगवाणी' में इसका स्थान मुझे सबसे नीचे प्रतीत होता है।

'आधुनिक कवि' की भूमिका में पन्तजी ने स्वयं लिखा है कि 'मैं कल्पना के सत्य को (जो केवल कवि-सुलभ संवेदनशीलता से प्राप्त किया जा सकता है) सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ।' आगे चल-कर उन्होंने कहा है कि ' 'वीणा' से लेकर 'ग्राम्या' तक अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना को ही वाणी दी है।' आधुनिक समय के कुशल कलाकार के समान उन्होंने अपनी कल्पना को अपने अध्ययन, विचार एवं चिन्तन से अधिक स्वस्थ और पुष्ट बनाने का प्रयत्न भी किया है। मुझे कहना केवल इतना है कि इस प्रयास में, एक समय पर, वे अपनी कल्पना के केन्द्र से किसी अंश में च्युत या विलग हो गये हैं और तब उनकी रचनाओं पर उनके अध्ययन अथवा विचार का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है। इस प्रसंग को बढ़ाना कम से कम 'पल्लविनी' के पाठकों का ध्यान रखते हुए अप्रासंगिक है, क्योंकि 'पल्लविनी' की कविताएँ जहाँ तक हमें ले जाती हैं वहाँ तक कल्पना के सत्य की ही प्रधानता है, हृदय की संवेदनशीलता ही का स्वर सर्वोपरि है।

शैली से विषयों की ओर आने के पहले मैं उस बात को एक बार फिर दुहरा देना चाहता हूँ जिसे मैं ऊपर कह आया हूँ कि पन्तजी अपने और प्रकृति के, मानव जीवन और मानव समाज के, अपने युग, अपने देश और अपनी संस्कृति तथा इन सबमें परिव्याप्त और इन सबसे परे जो व्यक्ति है उसके प्रति चिर-जागरूक हैं।

'वीणा' में—और इससे मेरा तात्पर्य उन तमाम रचनाओं से है जो 'वीणा'-काल में लिखी गयी हैं और 'पल्लव' तथा 'गुंजन' में भी पायी जाती हैं—पन्तजी अपने और प्रकृति के प्रति सजग हैं। यहाँ कवि ने प्रकृति को विस्मय भरी आँखों से देखा है—वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध है, उसकी पावनता मे अभिभूत। वह उसके सौन्दर्य को चित्रित करना चाहता है। उसकी पावनता से अपने को निर्मल बनाना चाहता है। वह प्रकृति के साथ इतना रम गया है कि उसे बालाओं की आनन-छवि और उनके काले कुटिल कुन्तलों में कोई आकर्षण नहीं दिखायी देता। उसे बालाओं के बाल-जाल से द्रुमों की छाया अधिक अच्छी लगती है, उनके भ्रू-भंगों से इन्द्रधनुष के रंगों में अधिक कटाक्ष दिखायी देता है, उनके प्रिय स्वर से कोयल के बोल अधिक कोमल लगते हैं और उनके अधरामृत से किसलय-दल पर सुधा-रश्मि से उतरा हुआ जल अधिक मीठा मालूम होता है। यह वह अवस्था है जब कवि सोचता है कि प्रकृति ही सब कुछ है और वह जो कुछ भी पाना चाहता है वह सब उसी की गोद में उसे मिल जायगा।

'ग्रन्थि' में कवि ने अपनी रागात्मिका प्रवृत्ति को जगाया है। उसके प्रथम दो

अध्यायों का कथानक उसके अन्तिम दो अध्यायों के हृदयोद्रेकों के लिए अवसर भर प्रदान करता है। मुख्य वस्तु हैं ये उद्‌गार जिनमें कवि ने अपने हृदय की कसक निकाली है।

'पल्लव' में भी कवि प्रधानतया प्रकृति का कवि है, परन्तु अब वह प्रकृति को उन आँखों से देखता है जो प्रेम के आँसुओं से धुल चुकी हैं। अब हर जगह प्रकृति के सौन्दर्य पर कवि की भावनाओं की छाया-सी पड़ गयी है और इससे इसका रूप ही बदल गया है। कहीं कवि की भावनाएँ प्रकृति में मूर्तिमान हो जाती हैं, कहीं प्रकृति कवि के हृदय में पैठ उसकी भावनाओं को व्यक्त करती है। इसके उत्कृष्ट उदाहरण 'उच्छ्‌वास' और 'आँसू' में देखने को मिलेंगे।

> इस तरह मेरे चितेरे-हृदय की
> वाह्य-प्रकृति बनी चमत्कृत-चित्र थी;
> ... ...
> मेरा पावस-ऋतु-सा जीवन,
> मानस-सा उमड़ा अपार-मन;

साथ ही उसका रागी मन जिसने एक दिन प्रकृति के सामने नारी की अवहेलना की थी, गा उठता है—

> तुम्हारे रोम रोम से, नारि !
> मुझे है स्नेह-अपार;

परन्तु पन्तजी ने अपने को इस रागात्मिकता की धारा में बहने नहीं दिया। एक ओर तो उन्हें भोले बालापन की अबोध पावनता ने खींचा है, जिससे उन्होंने कहा है :

> मेरे यौवन के प्याले में
> फिर वह बालापन भर दो !

और दूसरी ओर प्रकृति-दर्शन (Naturalistic Philosophy) के अध्ययन ने उनके मन पर यह बिठा दिया है कि विश्व का सारा सौन्दर्य नश्वर है और इसलिए वह कोई ऐसी चीज़ नहीं जिससे अपने को भुलाया जाय। जैसे वसन्त के पीछे पतझड़ छिपा है उसी तरह हर सुन्दर शरीर के अन्दर भयंकर कंकाल।

> अखिल यौवन के रंग उभार
> हड्डियों के हिलते कंकाल;
> कचों के चिकने, काले व्याल;
> केंचुली, काँस, सिवार;

हृदय की रागात्मिका प्रवृत्ति को दबाना सरल नहीं है। अनेक ओर से संयमित और नियन्त्रित करने पर भी वह 'गुंजन' के कई गीतों में फूट निकली है जैसे 'भावी पत्नी के प्रति', 'डोलने लगी मधुर मधु वात' या 'रूप तारा तुम पूर्ण प्रकाम' में। सम्भवतः यही प्रवृत्ति थी जिसने पन्तजी से 'बाँध दिये क्यों प्राण', 'शरद चाँदनी', 'बज पायल छम-छम-छम', आदि गीत लिखाये जिनकी चर्चा मैंने अपने 'हलाहल' के कृति-परिचय में की थी। मेरा विश्वास है कि पन्तजी में यह प्रवृत्ति आज भी सजीव है और सम्भव है उनके किन्हीं सुकुमार क्षणों में (अपने लिए मैं 'दुर्बल' लिखता) ऐसे ही और गीतों की बौछार करा दे।

'गुंजन' में पन्तजी प्रकृति और प्रेम के कवि के साथ-ही-साथ आत्म-साधना और मानव-जीवन के कवि के रूप में भी उपस्थित होते हैं। आत्म-साधना पन्तजी के लिए नया विषय नहीं है। इसके बीज 'वीणा' की उन कविताओं में मिलेंगे जहाँ

उन्होंने प्रकृति की सुन्दरता और पावनता से स्वयं सुन्दर और पुनीत बनने की कामना प्रकट की है। 'गुंजन' की आत्म-साधना में अधिक दृढ़ता है, अधिक संघर्ष है, अधिक तप है। अब वे अपने मन को तपाकर अकलुष, उज्ज्वल और कोमल बनाना चाहते हैं—केवल मधुर और मोहन होना ही पर्याप्त नहीं समझते। अधरों पर मधुर अधर धरकर जीवन मृदु स्वर में कहता है—बस एक मधुर इच्छा पर त्रिभुवन का धन-यौवन सब अर्पित है, परन्तु उसी क्षण कवि का मन सचेत होकर कह पड़ता है—ना, मुझे इष्ट है साधन !

अपने से बाहर जाकर मानव-जीवन को देखने और समझने की इच्छा 'गुंजन' में नयी चीज़ है—

देखूँ सब के उर की डाली—
किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छवि-उपवन से अकूल ?
इसमें कलि, किसलय, कुसुम शूल !

कई कविताओं में उन्होंने मानव के सुख, दुःख, इच्छा, साधना, मुक्ति, बन्धन आदि को भी समझने का प्रयत्न किया है। इन कविताओं में जैसे 'परिवर्तन' द्वारा लाये और छाये गये घनान्धकार को दूर करने के लिए छोटे-छोटे दीपक-से जलाये गये हैं जो दार्शनिक ज्ञान की ज्योति से जगमगा रहे हैं।

'पल्लव' में प्रकृति जहाँ कवि की भावनाओं से अनुरंजित हो गयी थी वहाँ 'गुंजन' में वह दार्शनिक विचारों की प्रतीक बन गयी है। आत्माभिव्यक्ति आत्म-साधना में बदल गयी है, 'पल्लव' की नारी 'अप्सरा' में निखरकर (Sublimate होकर) जैसे अधर में अन्तर्धान हो गयी है और उसका स्थान निर्देह मानवता ने ले लिया है। प्रकृति, जग और जीवन में जो कुछ है उसका रहस्य समझकर ही कवि अपने कार्य की इतिश्री कर बैठा है।

'ज्योत्स्ना' कवि पन्त के काव्य-पथ पर एक नया और महत्त्वपूर्ण क़दम है। इसमें हम पहली बार पन्तजी को भावी के स्वप्नद्रष्टा के रूप में देखते हैं। 'ज्योत्स्ना' में कवि ने मानव-समाज का नया स्वप्न देखा है। मुझे फिर लिखना पड़ता है कि 'ज्योत्स्ना' के गीतों को अलग से देखने पर उनका महत्त्व बिल्कुल ग़ायब हो जाता है। यह पश्चिम के जड़वाद के शरीर में पूर्व के अध्यात्मवाद की आत्मा को स्थापित करके एक ऐसी विश्व-संस्कृति को जन्म देने का स्वप्न है जिसमें—

सर्वदेश, सर्वकाल,
धर्म जाति वर्ण जाल,
हिलमिल सब हों विशाल,
एक हृदय, अगणित स्वर !

'युगान्त' में जैसे कवि को यह आभास हुआ है कि नये के निर्माण के लिए पुराने को नष्ट-भ्रष्ट करना ज़रूरी होगा। यहाँ पर पन्त का कोमल कवि पुरुष और पौरुषपूर्ण हो गया है। ये पंक्तियाँ स्वयं बोलती हैं—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
... ...
गा, कोकिल, बरसा पावक कण !
... ...
बढ़ो अभय, विश्वास चरण धर !
... ...

गर्जन कर मानव केशरि !

यहीं से पन्त की संवेदनशीलता का आवेग घट जाता है। इसके बाद ही शैली में परिवर्तन हो जाता है। भावनाओं का स्थान विचार ले लेते हैं। 'युगवाणी' को काव्य की दृष्टि से मैं मौलिक रचना नहीं मानता। 'ज्योत्स्ना' में जो काव्यात्मक ढंग से कहा गया था उसी का विश्लेषण करके 'युगवाणी' में रक्खा गया है।

'ग्राम्या' में जैसे कवि ने उन्हीं विचारों के प्रकाश में गाँवों की परीक्षा ली है। प्राय: उसे असन्तोष ही हुआ है, पर जहाँ कहीं यह असन्तोष असह्य हुआ है वहाँ भविष्य के सुन्दर स्वप्नों का निर्माण हो गया है और इस दृष्टि से 'युगवाणी' की अपेक्षा 'ग्राम्या' में संवेदनशीलता और कवित्व अधिक मात्रा में मिलेंगे। इन दोनों रचनाओं में यद्यपि पिछली प्रवृत्तियों के चिह्न भी मिलते हैं, कवि विशेषकर अपने युग और देश के प्रति जागरूक है।

'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में कवि को अपनी संस्कृति के प्रति विशेष आस्था हो गयी है। वह समझता है कि विश्व का कल्याण भारतीय संस्कृति द्वारा ही होना है। ईश्वर पर चिर विश्वास उसे पहले भी था। ईश्वर अब उसके विश्वास की वस्तु नहीं, अनुभव की सत्ता है। इन दोनों रचनाओं में यद्यपि चिन्तन-दर्शन ही प्रधान है, फिर भी संवेदनशीलता का बड़ा स्निग्ध प्रभाव हमें सब जगह दिखायी पड़ता है। अब वह प्रथम काल की सुस्पष्ट चित्रमय कल्पना और मधुमय ध्वनियों को तो नहीं जन्म देती, परन्तु उसकी सरसता का आभास हमें हर स्थान पर मिलता है।

संक्षेप में यह है पन्तजी की विचारधारा, उनका आदर्श और उनका स्वप्न, अथवा एक शब्द में, उनका भाव-जगत् या अन्तर्जग। इस अन्तर्जग का निर्माण किन वस्तुओं के द्वारा और कैसे हुआ है इसे समझने का प्रयत्न करना उनके जीवन और व्यक्तित्व को झाँकना है। और यहाँ मेरे अध्ययन की अपेक्षा मेरा सौभाग्य ही अधिक सहायक है—और वह है पन्तजी की निकटता। उनसे मैंने जो सुना या जाना है और उनमें जो मैंने देखा और पाया है उसने मुझे उनकी रचनाओं को देखने का एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान किया है। यही दृष्टिकोण अब मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। मुझे आशा तो करनी ही चाहिए कि यहाँ से आप उन्हें और उनकी रचनाओं को अगर ज़्यादा अच्छी तरह से नहीं तो कम-से-कम एक नयी तरह से तो ज़रूर देख सकेंगे।

पन्तजी के भाव-जगत् के निर्माण में सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान उनकी जन्मभूमि का है। वर्ड्सवर्थ ने लिखा है कि मेरे जन्मस्थान को निश्चित करने में भी मेरा सौभाग्य काम कर रहा था।

Fair seed-time had my soul, and I grew up
Fostered alike by beauty and by fear :
Much favoured in my birth-place,...

—Prelude, Book I

(मेरी आत्मा को अंकुरित होने का बहुत अनुकूल समय मिला, मैं प्रकृति के सुन्दर और भयंकर रूप से प्रतिपालित होता हुआ बढ़ा, मैं अपने जन्मस्थान में ही सौभाग्यमान था।)

पन्तजी भी शायद यही कहते, हाँ, Fostered alike by beauty and by fear की जगह वे ज़रूर यह परिवर्तन कर देते Fostered alike by beauty and by piety। बजाय यह कहने के कि मैं प्रकृति की सुन्दरता और भयंकरता से

प्रतिपालित होता हुआ बढ़ा, वे कहते : मैं प्रकृति की सुन्दरता और पवित्रता से प्रतिपालित होता हुआ बढ़ा। मगर क्यों ?

पन्तजी का जन्म कौसानी में हुआ था। कौसानी के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए पन्तजी नहीं थकते, परन्तु हर बार जब-जब कौसानी की चर्चा छिड़ी है, पन्तजी ने कौसानी की पावनता और निर्मलता का भी वर्णन अवश्य किया है। मुझे कविवर नरेन्द्र की 'कौसानी' शीर्षक कविता स्मरण हो आयी। कौसानी के सौन्दर्य के इन दोनों पक्षों को उन्होंने देखा है—एक ओर तो कौसानी में ऐसा जादू भरा है कि वह कूर्मांचल की पटरानी लगती है और दूसरी ओर—

> यह तपोभूमि कौसानी है,
> तप की जीवित जाग्रत महिमा,
> है कौसानी में मूर्तिमान
> तप-निरत साधनामयी उमा !

एक ओर जहाँ कौसानी अपने सौन्दर्य से अप्सरा-सी लगती है वहाँ दूसरी ओर अपनी पावनता से तपस्विनी-सी। तभी तो एक ओर जहाँ उसने कवीन्द्र रवीन्द्र को इतना मोहित किया कि उन्होंने उसी की छाया में अपने शान्ति-निकेतन की शाखा आरोपित करने की इच्छा प्रकट की, वहाँ दूसरी ओर उसने महात्मा गांधी को अनासक्ति-योग नाम से गीता का भाष्य करने की भी प्रेरणा दी। ऐसी है वह राग-विरागमयी कौसानी जिसने पन्तजी को बचपन में धाय की तरह पाला है, और उसने अपने इन्हीं दो परस्पर-विरोधी गुणों से पन्तजी को समलंकृत कर उन्हें काव्य और जीवन के मार्ग पर छोड़ दिया है।

> Child is the father of man.

पन्तजी के जीवन में कौसानी सजीव हुई है, पन्तजी की कविता में कौसानी मुखरित। पन्तजी का हृदय राग और विराग का भरा हुआ प्याला है। पन्तजी का जीवन राग और विराग का संघर्ष है। पन्तजी की कविता में यही राग और विराग चिर-स्नेहालिंगन देकर बँधे हुए हैं। इन्हीं राग और विराग की लहरों पर पन्तजी का तन, मन, प्राण सदा लहराता रहा है। पन्तजी की पंक्ति-पंक्ति में, कविता-कविता में, रचना-रचना में इसी राग और विराग की लय (Rhythm) मौजूद है; और यही लय मौजूद है उनके जीवन की हर घड़ी में, हर अवस्था में, हर दशा में। मुझे इसी राग-विराग की लय, इसी के संयोग, इसी के संघर्ष और इसी के सन्तुलन में पन्त के जीवन और काव्य की कुंजी मिली है।

राग ने जहाँ उन्हें रूप-रंग-रस के संसार की ओर खींचकर कवि बनाया है वहीं विराग ने इससे दूर खींचकर उन्हें सन्त भी बनाया है। शायद यह बात कम ही लोगों को मालूम है कि पन्तजी का घर का नाम 'सैं' है जिसका अर्थ पहाड़ी भाषा में है साईं अथवा सन्त। कौसानी होकर बदरिकाश्रम जाते हुए साधुओं के प्रभाव में आकर एक बार लड़कपन में उन्हें घर-बार छोड़ साधु बनने का विचार आया भी था। वह तो पूरा नहीं होने दिया गया, परन्तु घरवालों ने इनकी जिस प्रवृत्ति को देखकर इनका नाम 'सैं' रक्खा था उसके बीज इनमें बहुत दृढ़ता से जड़ जमा चुके थे। पन्तजी ने रँगे गेरुए वसन तो नहीं धारण किये पर आज भी वे अन्दर से सन्त ही हैं। यहाँ जोगी ने कपड़े न रँगाकर मन को ही रँगा लिया है। वैरागी के वस्त्रों से तो उन्होंने अपने को बचा लिया पर उसकी जटा आज भी उनके रागी मन से समझौता-सा करके उनके घने, लहरे रेशम के बालों में उनके सिर पर मौजूद है। कवि पन्त के पीछे एक दिव्य सन्त, और सन्त पन्त के पीछे एक सरस

कवि बैठा हुआ है। इसी संयोग ने उनकी सरलता को उच्छृंखल और उनकी साधना को शुष्क होने से बचा लिया है।

उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में कितनी ही ऐसी पंक्तियाँ हैं जो सन्तवृत्ति पन्त के मुख से निकली मालूम पड़ती हैं। एक समय उन्हें पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ था कि यह 18 वर्ष का युवक ऐसी बातें किस तरह कहता है—

माया-सागर में डूबों का
सोख-सोख रति-रस हर दूँ—
जग की मोह-तृषा को छल,
सूखे-मरु में मा ! शिक्षा का
स्रोत छिपा सम्मुख धर दूँ।
... ...
यह जग का सुख जग को दे दे,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

इन पंक्तियों में माया को डुबानेवाला सागर समझनेवाला, मोह को मरु में भटकानेवाला तृषा माननेवाला और दुःख और सुख से इस भाँति निर्लिप्त पन्त का सन्त ही बोल रहा है। पन्तजी को प्रायः सौन्दर्योपासक कवि कहा गया है, पर उनके सन्त ने सौन्दर्य को तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक वह पावन भी न हो। कवि की रुचि पर सदा सन्त के संयम का अनुशासन लगा रहा है। वे जहाँ 'उज्ज्वल तन' देखते हैं वहाँ 'उज्ज्वल मन' भी देखते हैं। कृष्ण को फेनोज्ज्वल वस्त्र इसीलिए दिये गये हैं कि वे 'शुद्ध' और 'स्वच्छ' रहें। शिशु के अधरों पर जो गीत है, वह 'मधुर' ही नहीं 'पुनीत' भी है। जब वे 'आओ सुन्दर' कहते हैं तो 'आओ शिव' भी कहते हैं। प्रेयसी के लिए उनका प्रेम 'पावन' है। उसका संग उनके लिए 'पावन गंगा स्नान' है। त्रिभुवन की श्री भी प्रेयसी के 'पावन स्थान' को नहीं भर सकती। नारी का सौन्दर्य सकल ऐश्वर्यों की खान हो, पर उन्हें अभिमान उसकी 'पावनता' का ही है। करुणावान अनंग से वे विश्वकामिनी की 'पावन छवि' दिखलाने की ही प्रार्थना करते हैं। वे शुभ्र निर्झर के साथ उसका नाद भी 'निर्मल' पाते हैं। गुलाब के हृदय में उन्हें 'दिव्य विकास' दिखायी देता है। वे अपने जीवन के प्रतिपल को 'सुन्दर', 'सुखकर' ही नहीं चाहते 'शुचितर' भी चाहते हैं। हिमाद्रि ने जो उन्हें शैशव में आशीर्वाद दिया था वह भी 'पावन' था। उसके शिखरों की शीतल ज्वाला में गलकर उनकी चेतना 'निर्मल' बनी थी औरउन्होंने अपनी काव्य-कल्पना को 'उज्ज्वल' किरीट पहनाना चाहा था।

रागी मन पर विरागी चेतना के नियन्त्रण का परिणाम यह भी हुआ है कि सुन्दरता पर कभी वे पूरी तरह से निछावर नहीं हो सके, बलिहार नहीं गये, लहा-लोट नहीं हुए। जब इच्छाओं ने उन्हें माधुर्य की ओर खींचा है तब साधना ने उन्हें आदर्शों से बाँध दिया है। राग और विराग के इसी संघर्ष ने जीवन के अनुभवों से भी उन्हें दूर-दूर रक्खा है। वे अनुभवों की गहराई में नहीं पैठ सके, उससे भीग नहीं सके, उसकी तीव्रता अथवा दग्धता को मुखरित नहीं कर सके। जब उनके रागी मन ने सरस अनुभवों की ओर उन्हें निमन्त्रित किया है तो उनकी विरागी चेतना ने जैसे उसे बहलाने के लिए उसके आगे कल्पना के कुछ खिलौने फेंक दिये हैं। पन्तजी के कवि-मन ने बस उसी से रीझ-खेलकर अपने को सन्तुष्ट कर लिया है। और इस प्रकार उनकी विरागी चेतना को उन्हें वास्तविकता की मलिनता से अछूता रखने की सफलता मिली है। साथ ही रागी मन भी बिल्कुल उपेक्षित नहीं रह गया,

उसे अपने को तृप्त करने का भी कुछ साधन मिल ही गया है। मेरे एक साहित्यानुरागी मित्र का विश्वास था कि पन्तजी की कतिपय रचनाओं के पीछे कोई सच्ची घटना अवश्य है। अवसर पाकर जब मैंने उनसे पूछा तो उत्तर मिला—कल्पना है। कवि होने के नाते मैंने बहुत दिनों से अपनी अनुभूति में कल्पना को सम्मिलित कर रक्खा है, पर उसका स्थानापन्न नहीं माना। कल्पना के सत्य का, अनुभव के सत्य से जो निकट सम्बन्ध है उससे भी मैं अनजान नहीं हूँ, फिर भी दोनों के गायकों में मुझे विभेद करना होगा तो मैं यही कहूँगा कि पन्तजी कल्पना के गायक हैं, अनुभूति के नहीं—इच्छा के गायक हैं, वासना, तीव्रतम इच्छा के नहीं।

हम पन्तजी के अन्तर्जग को बनानेवाले तत्त्वों का निरूपण कर रहे थे। प्रथम तत्त्व तो उनकी जन्मभूमि है जिसने उनके हृदय को राग-विराग की क्रीड़ा अथवा कलह—यह भी एक प्रकार की क्रीड़ा ही है—क्षेत्र बना दिया। दूसरा स्थान उनके अध्ययन का है। ऐसी परिस्थिति में जब उन्होंने अनुभव की पुस्तक नहीं खोली अथवा उसके कुछ पन्ने ही उलट-फेरकर छोड़ दी है, उनके अध्ययन की महत्ता बढ़ जाती है। यहाँ भी उनकी रागी और विरागी मनोवृत्ति उनका निर्देशन करती हुई दिखलायी देती है। एक ओर तो वे पढ़ते हैं 'मेघदूत' और 'शकुन्तला' और दूसरी ओर 'उपनिषद्' और 'गीता', एक ओर रीतिकालीन कवियों की रचनाएँ—'पल्लव' की भूमिका में इस अध्ययन की कितनी प्रतिध्वनियाँ हैं—और दूसरी ओर स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द का वेदान्त दर्शन। एक ओर कीट्स और टेनिसन की मंजुल रचनाएँ और दूसरी ओर ह्यूम और काण्ट की गूढ़ विवेचनाएँ। एक ओर कवीन्द्र रवीन्द्र की सरस कृतियाँ और दूसरी ओर योगीश्वर अरविन्द की ज्ञान-गवेषणाएँ। यह कोई घटनात्मक बात नहीं है कि अब तक पन्तजी की शान्ति-निकेतन और श्री अरविन्द-आश्रम के बीच कितनी ही यात्राएँ हो चुकी हैं। अभी कल की ही बात है कि पन्तजी का मन घड़ी के पेण्डुलम की भाँति मद्रास स्थित उदयशंकर के कला केन्द्र और पाण्डीचेरी के साधना मन्दिर के बीच डोल रहा था। इस कवि और विवेचक, रसिक और विचारक का सबसे स्पष्ट प्रतीक पन्तजी का 'गुंजन' है। इसमें ऐसी भी कविताएँ हैं जो कवि के हृदय से उतरी हैं और ऐसी भी हैं जो विचारक के मस्तिष्क से उपजी हैं। ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनको कवि ने आरम्भ किया है और दार्शनिक ने समाप्त किया है, ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनको दार्शनिक ने आरम्भ किया है और कवि ने समाप्त किया है—क्रम से 'बनबन-उपवन', 'क्या मेरी आत्मा का ि र-धन', 'नौका विहार', 'मैं नहीं चाहता चिर-सुख' देखें। ऐसी भी कविताएँ हैं जिनमें पन्तजी के रागी ने विराग के विरुद्ध बिल्कुल विद्रोही होकर गीत गाया है—

अधर-उर से उर-अधर समान,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

और ऐसी भी रचनाएँ हैं जिनमें उनके विरागी ने रागी को एकदम कुचल दिया है और उसे जब जीवन की चंचल सरिता से मोतीवाली मछली निमन्त्रित करती है तो वह सीधा-सूखा यह भीरु उत्तर भर दे सकता है—

पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली

कवि अभी राग-विराग के झूले में झूल ही रहा था कि नियति ने उसे काला-

काँकर में लाकर रख दिया। कालाकाँकर के निवास का भी पन्तजी के जीवन-विकास में बड़ा स्थान है। यहाँ उन्होंने राजभवन का वैभव देखा और उसी के विपरीत झोंपड़ियों का दैन्य भी। गाँव उन्हें नरक के समान लगे, ग्राम का निवासी उन्हें युग-युग से अभिशापित दिखायी दिया। उनका मन क्षोभ और ग्लानि से भर गया। ग्राम उन्हें देश का प्रतीक लगा, देश मानवता का। अपने दुःख-सुख, हर्ष-शोक से वे ऊपर उठ ही चुके थे; उन्होंने मानवता के भविष्य का स्वप्न देखना आरम्भ किया। परिणाम 'ज्योत्स्ना' थी। यहाँ कवि और दार्शनिक का जो सरस सन्तुलन देखने को मिलता है वह एक अभूतपूर्व वस्तु है। विचारक ने जैसे रेखाएँ खींची हैं और कलाकार ने उनमें रंग भरा है। रानी ने भौतिकता को स्वीकार करके बाहर का संसार सजा दिया है। विरागी ने इसी विश्वप्रासाद में अध्यात्म का प्रकाश कर दिया है। पन्तजी के राग और विराग के सन्धि, सन्तुलन और समन्वय की इससे बढ़कर पंक्तियाँ और कहाँ मिलेंगी—

> मत हो विरक्त जीवन से,
> अनुरक्त न हो जीवन पर,

उनका कवि उनसे जीवन से विरक्त होने को मना करता है, उनका सन्त उनको जीवन पर अनुरक्त होने की आज्ञा नहीं देता। फिर भी इन पंक्तियों में ऐसा लगता है कि हम यह दोनों काम साथ ही कर सकते हैं। पन्तजी की यह पहली रचना है जिसमें उनके चित्त की परस्पर-विरोधी वृत्तियों ने सहयोग करके एक सुन्दर-शिव-मार्ग की खोज की है। निरालाजी ने कुछ समझकर इसकी विज्ञापिका में लिखा था, 'ज्योत्स्ना में उनका (पन्तजी का) पहला, प्रिय, भावमय, श्वेत वाणी का कोमल कवि-रूप दृष्टिगोचर होता है।' राग और विराग, काव्य और दर्शन, भावना और बुद्धि, भौतिकता और आध्यात्मिकता एक-दूसरे के गले में बाहें डाले हुए मानव-स्वप्नों के जिस ऊँचे शिखर तक पहुँच सकती थीं, 'ज्योत्स्ना' ने उसे छू लिया है। इस सन्तुलन को प्राप्त करने के लिए पन्तजी को जो संघर्ष करना पड़ा था 'गुंजन' उसी का साक्षी है।

पन्तजी का राग पक्ष तो सदा से सकारात्मक और सहजसाध्य रहा है, परन्तु विराग पक्ष को अनुशासित, दीक्षित और सुसंस्कृत करने के लिए उन्होंने अनवरत साधना की है। जो एक सिरे पर नकारात्मक और पलायन-प्रेरक था—जैसा कि हमारे आधुनिक साधुओं के जीवन में आज भी दृष्टिगोचर हो सकता है—जिसने, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ एक बार उन्हें निम्न पथ की ओर खींचा भी था—वही उनके तप के आधार से ऊँचे उठकर चिन्तक, विचारक, दार्शनिक, द्रष्टा और जग-मंगलाभिलाषी के रूप में परिणत हो गया है। हमारी स्वस्थ परम्परा का सन्त भी जग से भागा नहीं, उसने जग-मंगल की कामना ही की है।

मेरी धारणा है कि 'ज्योत्स्ना' के पश्चात् रागी का पक्ष दबता और विरागी का उभरता आया है। 'युगान्त' में, जिसमें पन्तजी ने स्वयं कोमल-कान्त पदावली का अभाव देखा था और वहाँ से नवीन क्षेत्र अपनाने की चेष्टा आरम्भ की थी, मेरे दृष्टिकोण के अनुसार चिन्तक और कहीं-कहीं आवेशपूर्ण सुधारक के रूप मेंउन का विराग ही ज़ोर पकड़ रहा है। 'युगवाणी' में वही विचारक हो गया है। 'ग्राम्या' में रागी फिर ऊपर उभरा है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में रागी पीछे चला गया है और विरागी फिर दार्शनिक और द्रष्टा के रूप में आगे बढ़ा है। 'स्वर्ण किरण' में अभी कल ही 'द्वासुपर्णा' शीर्षक कविता पढ़ता हुआ मैं सहसा रुक गया। उपनिषद् के प्रसिद्ध मन्त्र के आधार पर यह कविता लिखी गयी है। विश्व-वृक्ष

पर दो पक्षी हैं—एक तो उसके फल का स्वाद लेता है और दूसरा उस पर केवल अन्तर्लोचन होकर स्थित है। एक इनमें से जीव है दूसरा ब्रह्म, एक भोक्ता, एक द्रष्टा। पन्तजी इसी चिरन्तन सत्य को मानव जीवन में उतारना चाहते हैं—वे पूछते हैं कि क्या मनुष्य अपने में ही संग-संग दोनों पक्षियों के गुण को लेकर नहीं चल सकता कि वह जीवन-वृक्ष पर नीड़ बनाकर उसके फल भी खाये और निश्चल देखता भी रहे। और वे इन पंक्तियों में अपना विश्वास प्रकट करते हैं—

ऐसा पक्षी, जिसमें हो सम्पूर्ण सन्तुलन
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन !

पन्तजी का जीवन और काव्य स्वयं इसका प्रयोग है, इसकी साधना है। उनके हृदय-नीड़ में राग और विराग के दो पक्षी सदा से बैठे रहे हैं। इन्हीं दोनों के गुणों में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न उनके जीवन और उनके काव्य का इतिहास है। इतिहास लम्बा है—एक से दूसरे की मुठभेड़ भी हुई है, एक ने दूसरे पर अधिकार भी किया है, एक दूसरे के साथ काँधे से काँधा मिलाकर चले भी हैं; और भी अनेक अवस्थाएँ रही हैं, वह सब मैं आपकी कल्पना पर छोड़ देता हूँ। यह निर्णय देना मेरा काम नहीं है कि उनके काव्य और जीवन में यह सन्तुलन आ चुका या नहीं। पर इतना मैं जानता हूँ कि यह दोनों आज भी उनमें सजीव और प्रबल है। मुँहलगा तो मैं उनका हूँ ही; अक्सर मैंने उनसे कहा है कि, 'साईंदा, एक दिन आप साधू हो जायेंगे।' उनका रागी, उनका भोक्ता, उनका कवि इस बात को सुन-कर काँप उठा है। 'मैं इस रूप-रंग के संसार को, इस नव-नव भावों से उच्छ्वसित जीवन को छोड़ कहाँ जा सकता हूँ !' उनके मुँह से फूट पड़ा है। कभी मैंने उनसे कहा है, 'पन्तजी, आपने विवाह क्यों नहीं किया, घर क्यों नहीं बसाया ?' और मैं उनके आगे अपनी कवि-मुखरता में सुखी गृहस्थ जीवन का एक नक्शा खींच गया हूँ। मेरे शब्दजाल के बागुर विषम को तुड़ाकर उनका मन-मृग, उनका विरागी, उनका दार्शनिक, उनका सन्त दूर खड़ा हो गया है, वे बोल उठे हैं, 'आज के समाज-संसार में यह बन्धन है, बन्धन।' और मैंने कहा है, उनकी ही पंक्ति को उद्धृत करते हुए—'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन।' उनका कवि मुस्कराकर चुप हो गया है।

सारांश में इसी राग-विराग की क्रिया-प्रतिक्रिया उनका जीवन है और जो उनका जीवन है वही उनकी कविता है। जो उनका जीवन है वही उनका दर्शन है। जहाँ उनके जीवन की समस्या का हल है, वहीं संसार की समस्या का हल है, कम-से-कम उनके अनुसार। अब आपको अधिकार है कि आप छायावाद, रहस्यवाद, मार्क्सवाद, साम्यवाद, प्रगतिवाद आदि-आदि को लेकर देख लें कि आप उन्हें अथवा उनकी रचनाओं को किस-किसके अन्तर्गत रख सकते हैं। मेरे लिए तो उन्होंने केवल अपने अन्तर के द्वन्द्व, दहन, और प्रकाश को बाहर बिखेर दिया है—इसी को बाबा तुलसीदास 'स्वान्तःसुखाय' कहते। आप विचार करके देखेंगे तो पायेंगे कि जिसकी खोज उन्होंने अपने हृदय के अन्दर की है, उसी की खोज भारतीय संस्कृति सदा से करती रही है। वे अपनी इस खोज में आत्मस्थ (individual) भी हैं और विश्वस्थ (Universal) भी; चिरपुरातन भी हैं, चिरनवीन भी। वे अपनी इस साधना में परम्परा की शक्ति भी लिये हैं, प्रयोग का उल्लास भी; प्रयोग की उत्सुकता भी और परम्परा का विश्वास भी।

पन्तजी की कला पर केवल उनकी भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए मैंने संकेत भर किया है। विस्तार से यहाँ भी नहीं कहना चाहता। जैसे उनकी रागी और विरागी वृत्तियों ने उनका विकास कलाकार और तत्त्ववेत्ता में किया है, उसी प्रकार

उनके कलाकार की भी दो प्रकार की अभिव्यंजनाएँ हैं—एक के पीछे उन घाटियों का संस्कार है जिनमें पत्रों का मर्मर संगीत है, पुष्पों का रस-राग-पराग है, कोकिल का मादक गान है, नववय के अलियों का गुंजन है, चित्र-विचित्र तितलियाँ उड़ती हैं, मुकुलों के उर में मदिर वास है, मलय समीर सौरभ से अस्थिर है और झरनों का टलमल-टलमल निनाद है। दूसरी के पीछे उन पर्वतों का संस्कार है जो भीम-काय ठोस चट्टानों से बने हुए हैं, जो अपनी शान्ति और नीरवता में समाधिस्थ-से लगते हैं, जिनके ऊपर वात, वर्षा विद्युत् का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, जो स्वर्गाभिमुख होकर युगों से खड़े हुए हैं और जिनके शीश पर प्रकृति ने हिम का उज्ज्वल मुकुट पहना रक्खा है। जब उनमें रागतत्त्व प्रधान होता है तब वे अपनी भावना को चाँदनी में नहलाकर सुजात शिल्पी के समान नव-नव वस्त्राभूषणों से सजा देते हैं; जब उनमें विराग तत्त्व प्रधान होता है तब वे अपने विचारों के स्वस्थ शरीर को मल-दल धूप में खड़ा कर देते हैं और कहते हैं—तुम तो अपने आप ही सुन्दर हो, यथा—

> तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
> वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार !

पन्तजी के विचार में, जिस प्रकार आदर्श संस्कृति में भौतिकता और आध्यात्मिकता का सम्मिलन होगा, आदर्श मानव में आसक्ति और विरक्ति का सन्तुलन होगा, उसी प्रकार उनके आदर्श कलाकार में कवि और दार्शनिक परस्पर सहयोगी होंगे और उनकी आदर्श कविता में भावना और विचार का—शृंगार और शक्ति का समन्वय होगा। किस जगह, कितनी, कैसी और कैसे इस प्रयास में उन्हें सफलता अथवा असफलता प्राप्त हुई है यह काम मैं सहृदय और सजग पाठकों पर छोड़ता हूँ—मैंने सहृदय और सजग—दो शब्द जान-बूझकर लिखे हैं, क्योंकि पन्तजी का आदर्श पाठक भी वही हो सकता है जिसका हृदय और मस्तिष्क दोनों विकसित हों—जो स्वप्न की तरलता में बह सके और सत्य के ठोसपन से टक्कर भी ले सके। अंग्रेज़ी कवि शेली ने कहा था, मेरी पत्नी वह स्त्री हो सकती है जो कविता में डूब सके और दर्शन में पारंगत हो सके (Who can feel poetry and understand philosophy)। अपने आदर्श पाठक से पन्तजी भी यही प्रत्याशा रखते हैं।

कवि से पाठक बड़ी-बड़ी प्रत्याशाएँ करता है—सत्य दो, स्वप्न दो, अनुभूति दो, कल्पना दो, संगीत दो, शृंगार दो और न जाने क्या-क्या दो। सबकी सीमाएँ हैं और कवि की भी। देखना पड़ेगा कि कौन कितना दे सकता है और कितना देता है। कवित्व का वैभव वरदान भी है और सन्धान भी। पन्तजी को जो मिला हैऔर जिसकी उन्होंने खोज की है वह सब उन्होंने काव्य को दान कर दिया है। उनकी कविता उनका आत्मदान है।

महाकवि मिल्टन ने लिखा है कि जो व्यक्ति उच्च विषयों पर सफलतापूर्वक लिखने की आकांक्षा रखता है उसे चाहिए कि वह स्वयं एक परिपूर्ण कविता बने। इसी प्रकार पन्तजी ने अपनी 'ज्योत्स्ना' में कुमार से कहलाया है, 'सच्चा कवि वह है, जो अपने सृजन प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है। अपने को जीवन के सत्य और सौन्दर्य की प्रतिमा बना लेता है। कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वयं कवि है।' और उन्होंने जो लिखा है उसके उदाहरण वे खुद हैं। पन्तजी का जीवन स्वयं एक कविता है। और उनकी कविता है उनके जीवन की परछाईं। कवि से जो सबसे बड़ी चीज माँगी जा सकती है, वह है उसकी सच्चाई और ईमानदारी। इसके

अतिरिक्त वह कुछ और दे सकने के लिए बिल्कुल असमर्थ है। पन्तजी की लेखनी से जो कुछ स्रवित हुआ है वह बहुत पहले उनके अन्तर को भिगो चुका है, उनके कण्ठ से जो मुखरित हुआ है वह बहुत पहले उनके श्वास-प्रश्वास में स्पन्दित हो चुका है और जो भाव-विचार-कल्पनाएँ उनके शब्द-छन्दों में मूर्तिमान हुई हैं, वे वही हैं—केवल वही हैं, जो चिरकाल तक उनके मन-प्राण का मन्थन करती रही हैं। उनकी कविता केवल आत्माभिव्यक्ति नहीं, मैं फिर कहूँगा, उनका आत्मदान है।

जिस कवि ने अपने आपको ही अपनी कविता में रख दिया है, उसे अपने पाठकों से भी कुछ प्रत्याशा करने का अधिकार है। उनके व्यक्तित्व की झाँकी देने का प्रयत्न करके सम्भवत: मैंने इसका संकेत कर दिया है कि वह प्रत्याशा क्या हो सकती है। मैंने शुरू में ही कहा था कि उनके व्यक्तित्व को समझे बिना उनकी कविता नहीं समझी जा सकती। यों तो अंग्रेज़ी में कहा जाता है, A Milton is required to understand a Milton अर्थात् मिल्टन ही मिल्टन को समझ सकता है। यह कहकर मैं आपको निरुत्साहित नहीं करना चाहता यद्यपि उसके सत्य को मैं पूर्ण रूप से मानता हूँ। आप इतना भी बहुत करेंगे यदि आप अपने हृदय और मस्तिष्क की भावप्रवणता और विवेकशक्ति को उन्हें अध्ययन करते समय सजग और सचेत रक्खें। जिसके लिए कवि अथवा लेखक ने साधना की है उसका आनन्द लेने के लिए पाठक को भी साधना करनी पड़ती है। कविता से सहज ही आनन्द प्राप्त करने की माँग बढ़ती जा रही है—बस, कविता तो ऐसी हो कि तीर की तरह दिल पर चोट करे। यह अस्वस्थ प्रवृत्ति है। पन्तजी की कविता साधना माँगती है। मुझे अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध आधुनिक समालोचक और अध्यापक एच. डब्ल्यू. गैराड का एक कथन याद आता है। वे कहते हैं, We ask of poetry and quite properly pleasure, but poetry quite properly also asks of us pains. हम कविता से, यह उचित ही है, आनन्द माँगते हैं, लेकिन कविता, और यह भी ठीक ही है, हमसे साधना चाहती है।

सौभाग्य की बात है कि पन्तजी की कविता जिस विकसित हृदय और मस्तिष्क की माँग पाठक से करती है, उनके निर्माण में स्वयं सहायता भी पहुँचाती है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त*

बात कह रहा हूँ आज से लगभग पचीस बरस पहले की। प्रयाग में एक मुहल्ला कटरा है, अब उसे पुराना कटरा कहना चाहिए क्योंकि अब एक नया कटरा भी बस गया है। इसी कटरे में एक पीले शिवाले की गली है। इसमें मेरी ननिहाल है। जिस समय की बात कर रहा हूँ उस समय मैं आठवीं या नवीं कक्षा में पढ़ता था, अपनी माँ के साथ मामाजी के यहाँ गया था। एक दिन छत पर खेलते हुए क्या

* प्रतीक : संख्या 9, शरद : 1948

देखता हूँ कि एक अत्यन्त सुन्दर, सुकुमार, गौरवर्ण, लम्बे-सुनहले केशोंवाला व्यक्ति दो युवकों के साथ, जो उसके दोनों ओर जैसे उसकी रक्षा करने के लिए चल रहे हैं, गली से—अपने चारों ओर की दुनिया से बिल्कुल विरक्त, कुछ खोया-खोया-सा जा रहा है। उसे मैंने देखा तो देखता ही रह गया, क्योंकि इतना सुन्दर और अनोखा आदमी मैंने कभी देखा ही नहीं था। तभी मामी ने धीमे से कानों में कहा, 'यही सुमित्रानन्दन हैं, कवि हैं, पड़ोस की पहाड़िन बहन ने बताया था कि उनके भाई लगते हैं, पैदा होते ही माँ मर गयी थी, बहुत सुकुमार हैं, पढ़ने को प्रयाग आये हैं।'

कायस्थ पाठशाला में ठाकुर विक्रमादित्यसिंह और श्री आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव से कवि बनने की जो प्रेरणा मिली थी उसको सहसा आघात लगा। इतना सुन्दर रूप मिले तब तो कवि बना जाय। सोचा, बाल तो बढ़ा ही सकता हूँ। अनुकरण बालों तक ही सीमित रहा; और बहुत दिनों के बाद मैंने यह सोचा, यह अच्छा ही हुआ।

तभी किसी समय घर से स्कूल जाते हुए हिन्दी मन्दिर से बारह दिनों के नाश्ते के पैसे बचाकर मैंने उनका 'उच्छ्वास' ख़रीदा। उन दिनों मेरा घर मुहल्ला चक में था और हिन्दी मन्दिर, हिवेट रोड पर, और मेरे स्कूल के रास्ते में पड़ता था। पुस्तक कौतूहलवश ख़रीद ली थी, पर पढ़ने पर कुछ पल्ले नहीं पड़ा। फिर भी यह विश्वास मन में बना रहा कि इसके अन्दर कुछ रहस्यमय है। उस अनोखे आदमी की रचना अनोखी होनी ही थी।

उन दिनों प्रयाग में एक श्री बरजोरसिंह थे। किसी स्कूल में अध्यापक थे, कविता भी करते थे। पड़ोस के किसी लड़के के यहाँ ट्यूशन करते थे, जान-पहचान मेरी भी हो गयी। अपने को पन्तजी का लँगोटिया यार बताते थे। मैंने कहा, मेरा भी परिचय उनसे करा दो। बोले, वह बड़े रिज़र्व्ड आदमी हैं और साधारण लोगों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते। असहयोग आन्दोलन के बाद बहुत बड़े-बड़े 'रिज़र्व्ड' आदमियों को खद्दर की भारी-भरकम धोतियों को बार-बार सँभालते हुए सर्वसाधारण में मिलते-जुलते देख चुकने पर इस 'रिज़र्वपने' के प्रति कोई सम्मान की भावना नहीं हुई। फिर भी सोचा, वे अनोखे ही व्यक्ति हैं, उनमें कुछ अनोखापन हो तो अचरज ही क्या है।

पहली वार उनकी कविता सुनने का अवसर भी मुझे अच्छी तरह याद है। कहीं प्रयाग में ही कवि-सम्मेलन था। एकाएक सभापतिजी ने सूचना दी कि अब श्री सुमित्रानन्दन पन्त कविता पढ़ेंगे। मंच पर आते ही अपनी विचित्र वेश-भूषा से उन्होंने सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया! सिर पर लम्बे बाल, लेकिन उनके सजाने-काढ़ने का ढंग ऐसा कि पहले देखा ही नहीं गया। बाल भी इतने सुनहरे कि लाल मालूम होते हैं। पहनावा अंग्रेज़ी ढंग का, मगर ज़रा ग़ौर करके देखिए तो उसमें भी कुछ निरालापन है। अंग्रेज़ी कोट को कुछ अपनी रुचि के अनुसार काट-छाँट दिया गया है। टाई भी है पर खुली कमीज़ के ऊपर। आँखों से कुछ ऐसा आभास हो रहा है कि अरे मैं कहाँ आ पड़ा! जैसे किसी को पहचानते ही नहीं इतनी बड़ी भीड़ में। निस्तब्धता छा गयी, पूर्ण शान्ति के बिना उनकी आवाज़ पहुँचती भी कहाँ तक? उन्होंने कविता पढ़ना शुरू किया। आवाज़ भी तीखी और पतली। लग रहा था कि दोनों फेफड़ों का सारा ज़ोर लगाकर कविता पढ़ रहे हैं, दाहिना हाथ भावपूर्ण ढंग से हिल रहा है। इसकी कुछ भी परवाह नहीं है कि कोई पसन्द-नापसन्द कर रहा है कि नहीं। फिर सहसा उन्होंने कह दिया—समाप्त। और सब लोगों ने मान लिया कि समाप्त। उनसे और सुनने की ज़िद्द करना

निर्दयता होगी। एक ही कविता सुनाने में पसीने-पसीने हो गये हैं। कवि-सम्मेलन की समाप्ति पर आँखें उन्हें खोजती हैं, पर वे तो बस अपनी कविता सुनाने के समय ही पहुँचे थे और सुनाकर चल दिये।

बहुत दिनों तक उनका जो रूप मेरे मन में रहा है वह यही था—सुन्दर, सुकुमार, विचित्र और रिज़र्व्ड!

और अब उनसे मेरी घनिष्ठता है, और महीनों उनके साथ मुझे रहने का सुयोग मिला है—साथ ही साथ उठना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना। सुन्दर, सुकुमार और विचित्र तो उन्हें मैं आज भी कहूँगा, पर 'रिज़र्व्ड' बिल्कुल नहीं। वे कहते हैं वे 'रिज़र्व्ड' कभी भी नहीं थे, और जब मैंने एक दिन श्री बरजोरसिंह की बात बतायी तो बोले, मुझे तो याद भी नहीं कि इस नाम के व्यक्ति से मेरा परिचय भी था। यदि देवता भूले नहीं, और भुलक्कड़ वे खूब हैं, तो बरजोरसिंह ने मुझ पर अच्छा रंग जमाया था।

अब पन्तजी पचास के निकट पहुँच चुके हैं और जब मैं उनकी पचीस बरस पहले की तस्वीर याद करता हूँ तो अक्सर मेरे दिमाग में उर्दू का एक शेर चक्कर काट जाता है—

मैंने पूछा अब कहाँ है आपका हुस्नो जमाल,
हँस के बोला वह सनम शाने खुदा थी, मैं न था।

लेकिन पचास बरस की उम्र के लोगों में—इसमें आप चाहें तो औरतों को भी शामिल कर सकते हैं—अगर आप पन्तजी को खड़ा कर दें तो आज भी मैं उन्हें उनकी सुन्दरता के लिए सबसे ज्यादा नम्बर दूँगा। थोड़े दिन हुए एक विदेशी चित्रकार ने उनसे कहा था कि यदि आप योरुप में होते तो आपको केवल 'माडेल' बनाने के लिए लोग हज़ारों रुपये देने को तैयार होते। पन्तजी के बालों में अब वह सुनहलापन नहीं है, वे भूरे और सफ़ेद भी हो चले हैं, पर आज भी वे घुँघराले हैं, और कंघी के क्षणिक स्पर्श से इच्छित आकार-प्रकार से उनके सिर पर शोभायमान हो जाते हैं। पन्तजी को इन बालों से बड़ा मोह है। लोगों से बातचीत करते, चलते-फिरते उनकी उँगलियाँ उन्हें ठीक करने में व्यस्त रहती हैं। और इन बालों की सुन्दरता के लिए वे नाई के ऋणी नहीं हैं। अपने जीवन में नाई को उन्होंने बहुत कम ही पैसे दिये होंगे। अपने बाल वे खुद काटते-छाँटते हैं जैसे अपनी कविता की पंक्तियों को। 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक पण्डित देवीदत्त शुक्ल कहा करते थे कि पन्तजी के बालों में भी कवित्व है।

चेहरे का रंग उनका बहुत दब गया है पर नाक-नक्शे में अन्तर नहीं आया। बल्कि मैं तो यों कहूँगा कि बढ़ती उम्र के साथ, जीवन के अनेक संघर्षणों के समाप्त होने, अनेक गाँठों के सुलझने और जग-जीवन के अनेक प्रश्नों और समस्याओं पर सन्तोषजनक निर्णयों पर पहुँचने के स्निग्ध भावों ने उनके चेहरे को एक ऐसी प्रांजलता दे दी है जिसे फ़ोटोग्राफ़ में भी देखा जा सकता है।

शरीर को मैं उनके सुन्दर नहीं कहूँगा। व्यायाम उन्होंने कभी नहीं किया, हाँ, धीरे-धीरे एकाध मील घूमने का उन्हें शौक है। चार मील फ़ी घण्टे की चाल से जो न चल सके, उसके साथ चलना मेरे लिए सबसे बड़ी सज़ा है। पन्तजी के साथ मुझे यह सज़ा बहुत बार भुगतनी पड़ी है। साथी उन्हें घर से निकलने पर ज़रूर चाहिए। साथी न मिलने पर घर के सामने की दस-बारह गज़ ज़मीन पर भी लौट-फिर करके वे अपने घूमने का 'कोटा' पूरा कर लेते हैं।

कपड़े अब भी वे अपनी विचित्र काट-छाँट के पहनते हैं। जिस दर्ज़ी की शामत

आयी होती है वही उनके कपड़ों को सीने के लिए फँसता है। पैण्ट को छोड़कर शायद ही कोई ऐसा कपड़ा हो जिसमें उन्होंने कुछ परिवर्तन नहीं किया। उन्हें कपड़े सिलने को देते हुए मैंने देखा है—देखो, इसको यहाँ से ऐसा काटो कि यहाँ से ढीला हो, यहाँ से फिर ऐसा गोल आये, फिर यहाँ से ऐसा आड़ा आये आदि-आदि। कई बार कपड़ों का ट्रायल होता है, तब जाकर उन्हें अपनी पसन्द की चीज़ मिलती है। यह मानना पड़ेगा कि उनकी पसन्द और उनके डिजाइनों में सुरुचि और सुविधा दोनों का ख्याल रहता है। अगर पन्तजी राजनीतिक नेता होते तो गांधी टोपी और जवाहर जैकेट के समान पन्त-कुर्ता और पन्त-कोट तो ज़रूर चल पड़ते। संस्कृतमयी हिन्दी का आन्दोलन अगर कभी प्रबल वेग से चला तो सम्भव है लोग पन्त-कुर्ते और पन्त-कोट को अपना लें। मैं कविवर को सलाह दूँगा कि वे अपने डिज़ाइनों को पेटेण्ट करा लें।

उनकी कविता पर उनके व्यक्तित्व की छाप है ही, पर उसकी बात आज मैं नहीं कर रहा हूँ। और भी जो कुछ उनका है या जो उनके सम्पर्क में आता है उस पर वे अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ना चाहते हैं। उन्होंने कभी घर नहीं बनवाया, फ़र्नीचर नहीं जुटाया, कमरे नहीं सजाये, बाग़ नहीं लगाया, मगर मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि ऐसे अवसर उन्हें मिलते तो हरएक चीज़ पर उनके व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती। मानी हुई और प्रचलित वस्तुओं को उनका मन स्वभावतया नहीं ग्रहण करता, करता भी है तो उसमें कुछ परिवर्तन करके, कुछ संशोधन करके। 'लोकायन' के विधान को बनाते समय इसका मुझे विशेष आभास हुआ। पदाधिकारियों को उन्होंने ऐसे-ऐसे नाम दिये जिन्हें पहले सुना नहीं गया था। सभापति और उपसभापति को उन्होंने 'लोकपति' और 'लोकव्रती' नाम दिया। प्रचलित 'मन्त्री' को उन्होंने 'लोकसखा' कहा। कोषाध्यक्ष बहुत दिनों से चल रहा है, उन्होंने अपने विधान में उसे 'निधिपति' माना। इस प्रवृत्ति का एक उत्कट उदाहरण दूँ। नाम तो कोई अपना नहीं रखता, जो नाम माता-पिता दे देते हैं उसी को लेकर चलता है। पन्तजी ने स्वयं नामकरण किया। गत वर्ष उनके बड़े भाई श्री हरदत्त पन्त मेरे मेहमान थे। उन्होंने बताया कि पन्तजी का दिया हुआ नाम था गोसाईंदत्त पन्त, और दो भाइयों के नाम थे रघुबरदत्त पन्त और देवीदत्त पन्त। श्री हरदत्त पन्त के कोई बिहारी मित्र थे सुमित्रानन्दन सहाय; उनके पत्र अक्सर आया करते थे, बस गोसाईंदत्तजी को यह नाम पसन्द आ गया और उन्होंने अपने को सुमित्रानन्दन कहना शुरू किया।

इसको मैं अपना सौभाग्य और भगवान् की कृपा समझता हूँ कि पन्तजी लम्बे-लम्बे अरसे तक आकर मेरे पास ठहरे। इस समय मैं उनके सत्संग, वार्तालाप अथवा मधुर कविता-पाठ की बात नहीं सोच रहा हूँ। यह सब तो चलता ही रहता था। पन्तजी को अपने घर में रखना एक अच्छे डाक्टर को घर में रखना है। और मेरे ऐसे बाल-बच्चेवाले गृहस्थ के यहाँ, जहाँ आये दिन दुःख-बीमारी लगी ही रहती है, ऐसे साथी की महत्ता आप भली भाँति समझ सकते हैं। किसी बच्चे को कोई तकलीफ़ हुई, उन्होंने देखा और बता दिया, यह रोग है, घबराने की बात नहीं, फलाँ दवा दे दो। कई बार 'नीम हकीम ख़तरे जान' को याद कर मैंने डाक्टर को भी बुलाया, पर हर बार डाक्टर की वही राय और दवा की तजवीज़ हुई जो उनकी थी। और कई बार उनकी दवा से मुझे जो आराम मिला वह डाक्टर की दवा से भी न मिला था। एक दाँत के डाक्टर ने अपनी मूर्खता से मेरा अच्छा-मज़बूत दाँत निकाल दिया। दर्द बहुत दिनों से था, पन्तजी भी कह रहे थे कि क्या दन्त-मोह में

पड़े हों, निकलवा डालो। जब इंजेक्शन का प्रभाव समाप्त हुआ तो मारे दर्द के प्राण जाने लगा। पन्तजी ने एक दवा मँगाकर दी, और फौरन मेरा दर्द जाता रहा। मैं सोचने लगा कि आख़िर डाक्टर ने यह दवा क्यों नहीं बतायी। इसी प्रकार मेरी पत्नी को भी कई बार उनकी बतायी दवाओं से फ़ायदा हुआ। पन्तजी लम्बे अरसे तक दिल्ली के डाक्टर जोशी के यहाँ ठहरते थे, शायद यह ज्ञान उन्होंने वहीं से प्राप्त किया। अपने स्वास्थ्य का पन्तजी ध्यान रखते हैं, और कब, किस समय उन्हें कौन दवा खानी चाहिए, इसे वे जानते हैं। दो-चार दवाएँ उनकी अल्मारी में पड़ी रहती हैं, कोई सुबह उठते ही खाने की है तो कोई खाना खाने के आधा घण्टा पहले, तो कोई सोने के पूर्व, गो कि दवा खाने की याद ज़रा आपको कम ही रहती है। अक्सर खाने की मेज़ पर दो-तीन कौर खाने के बाद उन्होंने कहा है—हाय, दवा खाना तो भूल ही गया। दवाओं को ख़त्म करने में जो मैंने उनकी सहायता की है, आशा है, वे उसे याद रक्खेंगे। सब स्वादिष्ट दवाओं में चाहे वे किसी भी मर्ज़ की हों, मैं अपना हिस्सा लगा लेता था।

पिछली बार जब वे बम्बई से मेरे यहाँ आये तो उनके पास काले मुनक्कों की एक बोतल थी। इसे वे शाम को सोने से पहले खाते थे, सुबह उठते ही शहद में मिलाकर एक हल्दी-सी पीली दवा खाते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि बम्बई में श्री नरेन्द्र शर्मा के एक गुरु हैं, उन्होंने यह मुनक्के मन्त्राभिषिक्त करके दिये हैं, थोड़े मुनक्के रहते ही इनमें और मुनक्के मिला देने से मन्त्र का असर ज्यों का त्यों नये वालों में भी आ जायगा। मुनक्के और मैं खाने से चूक जाऊँ, यह असम्भव है। कई बार हिम्मत की कि मैं इन मुनक्कों का मज़ा लूँ पर हर बार पन्तजी ने कहा, बाबा, यह मन्त्रित मुनक्के हैं, तुम्हें नुक़सान कर सकते हैं। बस, मैंने डर के मारे उन्हें छोड़ दिया। पता नहीं, मुनक्के सचमुच मन्त्राभिषिक्त थे या पन्तजी ने उन्हें मुझसे बचाने के लिए ऐसा कह दिया था।

पर मन्त्र-तन्त्र में पन्तजी को विश्वास है। जन्म-पत्र देखना भी जानते हैं, और उससे जीवन की गतिविधि बतला सकते हैं। ग्रहों के अनुसार मूँगा, मोती, नीलम आदि पहनने से जो लाभादि होते हैं उसके भी क़ायल हैं। किसी-किसी को बताते भी सुना कि तुम मूँगा पहनो तो तुम्हारे लिए फलदायक होगा, तुम्हारे लिए मणि उपयुक्त है, तुम्हारा पत्थर नीलम है आदि। और हाथ तो बहुत अच्छा देखते हैं, हालाँकि देखने के पहले यह ज़रूर कह देते हैं कि मुझे कुछ आता नहीं। दूसरों को जो उन्होंने बताया उसमें कितना ठीक उतरा यह तो मुझे नहीं मालूम, पर मेरा हाथ देखकर उन्होंने जो बताया सब ठीक उतरा। 1940 में उन्होंने मेरा हाथ देखकर कहा था कि 1941 मे तुम्हारी शादी होगी। और वैसा ही हुआ। अब हाथ देखकर वे कहते हैं कि तुम्हारे जीवन में दो स्त्रियाँ और आयेंगी और उनके कारण तुम्हें नाम और धन मिलेगा। यह सुनकर मेरी पत्नी को चिन्ता हो गयी है। शायद उसे समझाने के लिए यह कह देते हैं कि वे दोनों वृद्धाएँ हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ उनके पास ढेरों आती हैं। प्रायः उनको उलट-पुलटकर नीचे डाल देते हैं, कहते हैं, कूड़ा। लोग क्यों इतना लिखते हैं, इतना छापते हैं और सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना ख़रीदते हैं। उनकी अल्मारी पर मैंने केवल 'हिमालय' और 'प्रतीक' की प्रतियाँ सुरक्षित देखी हैं। इससे अधिक यत्न से वे रखते हैं दो और पत्रिकाएँ—ये हैं श्री अरविन्द आश्रम से निकलनेवाली 'अदिति' और 'एडवेण्ट'। मगर एक ऐसी पत्रिका है जिसके लिए वे बहुत उत्सुक रहते हैं और जिसकी एक-एक पंक्ति वे पढ़ते हैं—कहीं-कहीं रेखांकित भी करते हैं। लोग अवश्य

ही यह जानने के लिए उत्सुक होंगे कि यह कौन-सी पत्रिका है जिसे पन्तजी इतनी रुचि के साथ पढ़ते हैं—यह है बँगलौर से निकलनेवाली एक ज्योतिष पत्रिका जिसमें महीने भर के ग्रहों की स्थिति के फलाफल पर विचार रहता है। फिर बतलाते हैं कि इस महीने मुझे कितनी यात्रा करनी पड़ेगी, कैसा स्वास्थ्य रहेगा, किन-किन से क्या कष्ट मिलेंगे, किनसे होशियार रहना चाहिए, और इसी तरह की बहुत-सी बातें।

पुस्तकें तो वे शायद वही पढ़ते हैं जो लोग उन्हें भेंट स्वरूप भेज देते हैं। वी. पी. उनकी केवल अरविन्द आश्रम के प्रकाशन की आती है। कभी यहाँ, कभी वहाँ रहने के कारण उनके पास कोई निजी पुस्तकालय नहीं है। जो किताबें हमेशा उनके साथ रहती हैं उनमें शब्दसागर, आप्टे का संस्कृत-अंग्रेजी कोष और कालिदास के कुछ ग्रन्थ हैं, जैसे शकुन्तला और रघुवंश। रघुवंश को वे सस्वर पढ़ते हैं और उसका अर्थ भी बतलाते हैं और इसमें काफी रस लेते हैं। मुझे कई बार उनसे रघुवंश सुनने का अवसर मिला है। इधर अरविन्द की रचनाओं की ओर उनका विशेष अनुराग हो गया है और उनका सम्पूर्ण साहित्य उनके पास है।

प्रातःकाल नहाने-धोने के बाद वे पूजा भी करते हैं। चारों तरफ से किवाड़ बन्द कर लेते हैं; कुछ देर बाद निकल आते हैं। एक दिन ऐसे ही द्वार बन्द थे, कुछ लोग मिलने आये। मैंने कहा, पूजा करते हैं, बैठिये। निकले तो बोले, पूजा करते हैं, कह दिया था? वे समझेंगे ठाकुरजी की मूर्ति सामने होगी और मैं फूल-अक्षत चढ़ा रहा हूँगा; कहा करो, ध्यान कर रहे हैं।

पन्तजी कब और कैसे लिखते हैं इसको जानने के लिए भी लोग उत्सुक होंगे। लिखते मैंने केवल उन्हें दिन को ही देखा है। रात को प्रायः वे काम नहीं करते। तख़्त पर कभी लेटे हुए और कभी बैठकर लिखते हैं। स्वाभाविक है कि एकान्त चाहते हैं। लिखते समय किसी का आना-जाना, पास बैठना पसन्द नहीं करते। लिखने के दिनों में हर समय विचार-मग्न-से रहते हैं, खाना-पीना कम हो जाता है। एक भाव-विचार को बहुत तरीकों से अभिव्यक्त करते हैं, और जल्दी-जल्दी सबको लिखते जाते हैं। फिर उनमें से जो पसन्द करते हैं उसे अलग लिख लेते हैं। प्रायः जिन काग़ज़ों पर लिखते हैं उन्हें समस्त संशोधनों, परिवर्तनों के साथ सुरक्षित रखते हैं। भविष्य के खोजियों के लिए यह काफी सिरदर्द का सामान होगा।

'रिज़र्व्ड' कभी वे रहे भी हों तो अब बिल्कुल नहीं हैं। जो भी उनसे मिलने आता है उससे अपनी सुविधा-असुविधा का ध्यान किये बिना मिलते हैं। सहज-संकोची हैं, और किसी को भी अप्रिय बात नहीं कहते। वश की बात होने पर किसी को निराश नहीं करते।

स्वभाव ज्यादा दौड़-धूप, सैर-सपाटा करने का नहीं है। यात्रा अकेले नहीं कर सकते। रिक्शे-ताँगे में भी कहीं जाना हो तो किसी को साथ लेना पसन्द करते हैं। सड़क पर उन्हें अकेले चलते देखना कठिन है। सदा किसी न किसी के साथ ही रहे हैं। कभी-कभी उनको देखकर मैं सोचता हूँ कि जिस व्यक्ति को साथ की इतनी आवश्यकता थी उसने अपने अकेलेपन की कितनी भारी क़ीमत दी है!

उनका स्वभाव अधिक बोलने का नहीं है पर अपने व्यक्तिगत जीवन में वे इतने गम्भीर नहीं हैं जितना लोग उन्हें समझते हैं। हास्य और व्यंग्य की मात्रा उनमें प्रचुर है। जिनके बीच वे निःसंकोच उठते-बैठते हैं वे उनकी सूझ और उक्तियों से परिचित हैं। हँसी-हँसी में कभी वे बड़ी गम्भीर बातें कह जाते हैं। वे हँसना और हँसाना दोनों जानते हैं—वे अपने पर भी हँस सकते हैं और दूसरों पर भी। उनके हास में कटुता नहीं होती। वे उसी का मज़ाक भी बनाते हैं जो उनका

प्रिय होता है —जो उनके निकट होता है। यों उनके मन में सबके लिए आदर का भाव है।

एक दिन मैं किसी बात पर झुँझलाया हुआ था। किसी बात के सिलसिले में कह गया, 'कवियों की पूछ कहीं नहीं है।' पन्तजी बोले, 'बाबा, जब आदमी के पूँछ नहीं रह जाती तभी वह कवि बनता है।'

मेरे घर में एक नौकर था। उसने चोरी की। मेरी पत्नी ने उसके वादा करने पर कि फिर वह ऐसा काम न करेगा, उसे घर में रहने दिया। वे बाहर चली गयीं और नौकर ने फिर चोरी की। मैं बहुत झल्लाया, 'देखिए, तेजी को कि चोरों पर विश्वास करती हैं।'

पन्तजी बोले, 'इस पर तो तुम्हें अपने भाग्य को सराहना चाहिए।'

मैंने कहा, 'क्यों ?'

बोले, 'अरे, चोरों पर विश्वास करने की आदत न होती तो वे तुम्हारे साथ पंजाब छोड़कर कैसे आतीं !'

एक दिन की और बात है, मैं अपनी एक कविता सुना रहा था। पंक्तियाँ आयीं—

'मैं तो केवल इतना ही सिखला सकता हूँ,
अपने मन को किस भाँति लुटाया जाता है।'

पन्तजी बोले, 'इसमें तुमने थोड़ा-सा झूठ बोला है।'

मैंने कहा, 'कैसे ?'

कहने लगे, 'सच कहते तो तुम्हें इन पंक्तियों को ऐसे लिखना था :

मैं तो केवल इतना ही सिखला सकता हूँ,
औरों के मन को कैसे लूटा जाता है।'

कार्तिकी पूर्णिमा की बात है। गुलाबी-सा जाड़ा पड़ रहा था लेकिन पन्तजी महाराज चमड़े की जैकेट पहने हुए थे। मैं अपने ठण्डे कपड़ों में था। मैंने कहा, 'पन्तजी, अचरज है कि पहाड़ी होने पर भी आपको इतनी सर्दी लगती है, मुझे देखिये पहाड़ी तो मैं हूँ।'

पन्तजी बोले, 'तुम पहाड़ी नहीं हो, तुम पहाड़ हो; पहाड़ी मैं ही हूँ।'

शायद ही कोई अवसर उनसे मिलने का होता है जब मुझे उनकी हाज़िर-जवाबी का नमूना नहीं मिलता।

अपने स्वभाव और व्यवहार में वे पूर्ण परिष्कृत हैं। उत्तेजना की बात करते शायद ही मैंने कभी उन्हें सुना हो। एक दिन न जाने किसी बात पर मुझसे नाराज़ हो गये। बाद को बहुत दुखी हुए, खाना नहीं खाया, दिन भर उदास रहे और शाम को जब मुझे मना लिया तब उनका मन शान्त हुआ। मेरी पत्नी उनके इस गुण पर मुग्ध हैं कि उन्होंने कभी खाने पर इन्तज़ार नहीं कराया। कहीं गये हैं तो ठीक समय पर आ गये हैं, किसी कारणवश रुक जाना पड़ा है तो किसी से कहला दिया है, खाना नहीं खाना है तो पहले से बतला दिया है। मित्रों और परिचितों की भावनाओं का ध्यान तो उन्हें रहता ही है, अपरिचितों की भावनाओं को भी ठेस पहुँचाना उनको गवारा नहीं है। एक दिन हम दोनों ने किसी दुकान से कोई चीज़ खरीदी; मैं लौटाये पैसों को गिनने लगा। बोले, 'क्या पैसे गिनते हो, दूकानदार समझेगा मेरा विश्वास नहीं करते।'

अपने जीवन में वे आदर्शवादी हैं। शायद एक समय सभी आदर्श लेकर चलते हैं पर उससे अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त होते न देखकर उसे छोड़ बैठते हैं। पन्त-

जी का अनुभव भी शायद यही है कि आदर्शों को लेकर चलने में आजकल की दुनिया में सफलता नहीं मिल सकती। पर असफल होकर भी उन्होंने अभी आदर्शों में आस्था नहीं खोयी ।

सुमित्रानन्दन पन्त : व्यक्तित्व और कवित्व*

वीणापाणि के हिन्दी उपासकों में यदि किसी ऐसे व्यक्ति की खोज की जाय जो नख से शिख तक कवि प्रतीत होता हो तो इससे शायद ही किसी का मतभेद हो कि दृष्टि श्री सुमित्रानन्दन पन्त पर ही जाकर ठहरेगी। कवि-सम्मेलनों के कारण साधारण जनता हिन्दी के बहुत-से कवियों के रूप-रंग और चाल-ढाल से परिचित है। हमारे देश में इस समय बिहार शीर्ष स्थान पर है; तो आइये बिहार से ही प्रारम्भ करें।

स्वाभाविक ही हमारा ध्यान सबसे पहले दिनकर की ओर जाता है। दिनकर केवल उसी समय कवि मालूम होते हैं जब वे अपनी कविताओं का पाठ करते हुए आवेश में आ जाते हैं। अन्यथा वे अपने प्रान्त के अधिकांश लोगों के समान दिखावट-बनावट से दूर ही रहते हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री जब अपनी सुरीली आवाज़ से गाना आरम्भ करते हैं तो बीते ज़माने की पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के तरुण अभिनेताओं की याद आ जाती है, जो प्रायः लड़कियों का पार्ट करते थे, हालाँकि शास्त्रीजी का लम्बा क़द इस कल्पना के कुछ आड़े आता है। हंसकुमार तिवारी को देखने से ऐसा लगता है जैसे दो-चार पेग ढाल, खुमार उतार चले आ रहे हैं और खादी तो उन्होंने केवल इसलिए पहन रक्खी है कि उनके गुनाहों पर पर्दा पड़ा रहे। मोहनलाल महतो वियोगी की गणना पुराने छायावादियों में की जाती है। गया से बाहर वे कम ही देखे जाते हैं। उनके भारी-भरकम शरीर को देखकर उनके कवि और फिर छायावादी कवि होने की कल्पना कम ही लोग करेंगे। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' खरी प्रतिभा के आदमी हैं, गो समालोचकों ने उनकी बुरी तरह उपेक्षा की है। वे बिहार पुलिस सेवा में हैं और कोई उनके गले में कितनी ही फूल-मालाएँ क्यों न डाल दे, वे पुलिस के अफ़सर ही मालूम होंगे। गोपालसिंह नेपाली कभी कवि थे। सुना है जब से वे बम्बई जाकर फ़िल्म प्रोड्यूसर बन गये हैं तब से काफ़ी फूल-फैल रहे हैं। नरेन्द्र शर्मा पर भी उनकी फ़िल्मी दुनिया का असर पड़ा है। कहाँ वह उत्तर भारत का क्षीणकाय साहित्यकार और कहाँ वह बम्बईवाला गोल-मटोल अर्ध-सेठ।

आइये अब संयुक्त प्रान्त और मध्यप्रदेश की ओर। हिन्दी के बयोवृद्ध कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने जब से अपनी ख़ानदानी पगड़ी उतारकर खद्दर की टोपी धारण कर ली है और अपनी खिचड़ी-दाढ़ी मुँडा दी है तब से वे ऐसे वैष्णव प्रतीत होते हैं जिस पर गांधीवाद छा गया है। इस पर मैं कभी-कभी यह सोचने की कोशिश करता हूँ कि अगर रवीन्द्रनाथ टैगोर के दाढ़ी न होती तो वे कैसे लगते। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवतीचरण वर्मा, और सोहनलाल द्विवेदी अपने खादी के बानों में सधे-सिझे कांग्रेसी मालूम होते हैं, सिर से पाँव तक।

---

* 21 मई, 1950 को 'द लीडर' में प्रकाशित अंग्रेजी निबन्ध : सुमित्रानन्दन पन्त—पोएट एण्ड मैन—बाई बच्चन का लेखक द्वारा अनुवाद।

रामकुमार वर्मा अपने अंग्रेज़ी सूट और रेशमी टाई में—और किसी पोशाक में तो शायद ही किसी ने उन्हें देखा हो—हिन्दी के लेखक से अधिक अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर जान पड़ते हैं—गालों में दबा हुआ पान का बीड़ा अलबत्ता कुछ विरोधाभास उत्पन्न करता है। अंचल की नाक चपटी है, कद ठिंगना, बदन कसरती—गठा हुआ। उनको देखकर ऐसा लगता है जैसे किसी गुरखा फ़ौजी अफ़सर ने वर्दी उतारकर साधारण नागरिक के कपड़े पहन लिये हैं। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन के क़लमी नाम अज्ञेय से लोग अधिक परिचित हैं। दूर से देखिये, पंजाबी काठी—थोड़ा मान-दुलार में पली ज़रूर। ज़रा बात कीजिए, आँखों में आँख डालिए, सुकुमारी कन्या भी मात, जिसके कौमार्य को किसी ने स्वप्न में भी नहीं छुआ-छेड़ा। सुनते हैं कई वर्ष फ़ौज में रह चुके हैं। और निराला के मुख पर कई तरह के चेहरे लगाये जा सकते हैं, वे अखाड़ा लोटनेवाले पहलवान भी लग सकते हैं और स्वर्ग से उतरे हुए पैग़म्बर—नबी भी।

मैंने सरस्वती की पुजारिनियों के विषय में कुछ भी नहीं कहा। वे कवियों-सी नहीं दिखतीं, वे कविताओं-सी दिखती हैं।

कवियों के इस दल में, आइये, पन्तजी को लाकर खड़ा करें। लम्बे बाल, उभरा हुआ नाक-नक्श, नर्म-नर्म आँखें, सहज ही गम्भीर मुद्रा, पर मनहूस नहीं—नज़दीकी दोस्तों में हास-परिहास भी खुलकर करते हैं। फिर कपड़े अपनी ही काट-छाँट के, असाधारण, विचित्र पर सुरुचिपूर्ण, पहनने में सुविधाजनक, आरामदेह। पन्तजी नीचे से ऊपर तक कवि ही दिखते हैं। अंग्रेज़ी के समालोचक गैराड ने लिखा है कि लम्बे बालोंवाले कवियों का ज़माना लद चुका। पन्तजी इसको झूठ साबित करते हैं। 1933 के इलाहाबाद के द्विवेदी मेले के कवि-सम्मेलन में वे बाल कटा-कर आये थे। उन्हें देखकर मैंने एक कविता लिख डाली थी, उस सम्मेलन में सुनायी भी थी; आख़िरी पंक्तियाँ उसकी शायद यों थीं :

> एई का सुमित्रानन्दन पन्त कवि, 'पल्लव' के,
> एई का 'गुंजन' के काकुली रचैया हैं?
> बार कटवाएन, मैं पहिले तो चीन्ह्यों नाहिं,
> चीन्ह्यों तो लाग जैसे परकटी चिरैया हैं।

पन्तजी ने थोड़े दिनों बाद फिर बाल बढ़ा लिये और तब से उनके साथ छेड़-छाड़ नहीं की। कविता के क्षेत्र में छायावादी कवि बाल बढ़ाकर आये थे। अब तो शायद वे हमारे एकमात्र कवि हैं जिसके सिर पर लम्बे बाल हैं। उनकी नक़ल करनेवालों ने यह सबक़ सीख लिया है कि बाल बढ़ा लेने से ही कोई कवि नहीं हो जाता।

सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म अल्मोड़ा के एक पहाड़ी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अल्मोड़ा में ऐसा माना जाता है कि पन्त लोग मराठा ब्राह्मणों की चितपावन शाखा की एक प्रशाखा हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि 1761 में, पानीपत की तीसरी लड़ाई में अहमदशाह दुर्रानी की सेनाओं से पराजित होकर मराठों के कई दलों ने यह अनुभव किया कि अब वे सुदूर दक्षिण महाराष्ट्र तक लौटकर न जा सकेंगे, और वे आकर उत्तर के पर्वत-प्रदेश में बस गये। पन्त लोग अपने पूर्वजों में आज भी पुरुषोत्तम पन्त का नाम बड़े गौरव के साथ स्मरण करते हैं। वे बड़े साहसी और पराक्रमी योद्धा थे और एक बार उन्होंने एक बड़े भारी शत्रुदल का सामना अकेले खड़े होकर किया था। मराठी के पुराने और प्रसिद्ध कवि मोरो पन्त और सुमित्रानन्दन पन्त में, सम्भव है, उससे कहीं अधिक घनिष्ठ और निकट

सम्बन्ध हो, जितना उनके नामों से प्रतीत होता है।

सुमित्रानन्दन पन्त के पिता पण्डित गंगादत्त पन्त अल्मोड़ा की एक चाय की जागीर के प्रबन्धक थे, जिसकी मिल्कियत उन दिनों किन्हीं योरोपियनों के हाथ में थी। जागीर का मुख्यालय कौसानी में था, और यहीं पर, चाय के एक बाग में, 20 मई, सन् 1900 को सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म हुआ था। उन्होंने अपने बाल-पालने में किलकारी मारते हुए 19वीं सदी का अवसान और 20वीं सदी का उत्थान देखा, और उसी के साथ बढ़ते हुए, उसके मध्य में पहुँचकर आज वे अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे कर रहे हैं।

पन्तजी अपने चार भाइयों में सबसे छोटे थे। उनकी माता का देहान्त उनके जन्म के कुछ घण्टे बाद ही हो गया था। प्रसंगवश यह बता दूँ कि सुमित्रानन्दन को जो नाम शुरू-शुरू में उनके पिता ने दिया था, वह गोसाईंदत्त[1] था। उनसे बड़े उनके तीन भाइयों के नाम थे—हरदत्त, रघुबरदत्त और देवीदत्त। अपना वर्तमान नाम उन्होंने अपनी इच्छा से ग्रहण किया।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, शायद संसार में एक ही और प्रतिभाशाली व्यक्ति है जिसने अपना नाम स्वयं पसन्द किया था। वह था—फ्रांस का महान् लेखक वाल्तेयर। उसका शुरू-शुरू का नाम था फ्रांस्वा मैरी अरूए (Francois Marie Arouet) जिसका आज कम ही लोगों को पता है।

सुमित्रानन्दन पन्त की प्रारम्भिक शिक्षा अल्मोड़ा में हुई, उसके बाद वे बनारस के जयनारायण हाई स्कूल में भर्ती हुए और वहीं से उन्होंने सन् 1919 में स्कूल लीविंग की परीक्षा पास की।

पन्तजी की बुद्धि कुशाग्र थी; और अपने स्कूली जीवन में पाठ्य पुस्तकों तक ही सीमित न रहकर उन्होंने हिन्दी और संस्कृत कविता का अध्ययन विशेष अभिरुचि से किया। इसके लिए प्रेरणा सम्भवत: उनको अपने बड़े भाई हरदत्त पन्त से मिली, जो साहित्य और कला के बड़े अनुरागी थे। पन्तजी ने अपनी छोटी अवस्था से ही गद्य-पद्य-रचना आरम्भ कर दी थी। यह सुनकर आश्चर्य होगा कि जिस युवक को आगे चलकर आधुनिक हिन्दी कविता के विकास में बहुत बड़ा योगदान देना था, उसने अपना लेखक-जीवन उपन्यासकार के रूप में आरम्भ किया था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'हार' नामक एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया। इस अपूर्ण पुस्तक की पाण्डुलिपि—यह आज तक प्रकाशित नहीं की गयी—मैंने सुना है, श्री रामचन्द्र टण्डन (अब आकाशवाणी, नयी दिल्ली में) के पास सुरक्षित है।[2]

पन्तजी की प्रारम्भिक पद्य-रचनाएँ स्थानीय हिन्दी साप्ताहिक 'अल्मोड़ा अखबार' में प्रकाशित हुईं। उनके सहपाठी उनके शब्द-ज्ञान से इतने प्रभावित थे कि वे उन्हें शब्दों की मशीन कहा करते थे।

स्कूल लीविंग की परीक्षा पास करने के बाद पन्तजी इलाहाबाद आये और उन्होंने म्योर सेन्ट्रल कालेज में नाम लिखा लिया। वे हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। उनके 'वीणा' नामक संग्रह में उस कमरे पर भी एक छोटी-सी कविता है,

---

1. श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'पथ के साथी' (भारती भण्डार, प्रयाग, संवत् 2013, पृ.—85) में यह नाम 'गोपाल दत्त' बताया है, जो ग़लत है।
2. 1960 में, पन्तजी की षष्टि पूर्ति के अवसर पर यह उपन्यास साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित किया गया है।

जिसमें वे रहा करते थे। डा. धीरेन्द्र वर्मा, डा. बाबूराम सक्सेना और श्री रघुपति-सहाय 'फ़िराक़' उनके छात्रावास के संगी-साथियों में थे और जिस दिन पन्तजी ने आकर कालेज में नाम लिखाया था उस दिन को वे लोग एक विशेष अवसर के रूप में स्मरण करते हैं—जैसे उनके बीच सहसा एक देवदूत उतर आया हो।

उनका रूप-रंग नैसर्गिक था। इलाहाबाद में उनसे अधिक सुन्दर और सुकुमार नवयुवक शायद ही पहले किसी ने देखा हो। उनके घने, घुँघराले, सुनहले बालों तथा उनकी विचित्र वेश-भूषा की ओर लोगों की आँखें बरबस ही खिंच जातीं। यदि वे उन दिनों अपने आप में ही खोये-खोये-से न रहते तो इतने लोगों का घूरना शायद उनके लिए असह्य होता। वे शायद ही कभी इस ओर ध्यान देते कि उन्हें कौन देख रहा है। जो लोग उन्हें नहीं जानते थे वे समझते कोई ऐंग्लो-इण्डियन लड़की है जो कोट-पतलून पहनकर चली जा रही है। जो उन्हें जानते थे वे उनमें आदर्श रूमानी कवि को साक्षात् मूर्तिमान देखते, जिसे शेली और कीट्स के काँधे से काँधा मिलाकर खड़े होने में तनिक भी संकोच न हो।

कक्षा में उनके अन्दर के कवि को सबसे पहले पण्डित शिवाधार पाण्डे ने पहचाना। वे अध्यापक तो अंग्रेज़ी के थे, पर हिन्दी गद्य-पद्य-लेखन की ओर भी उनकी रुचि थी और उन दिनों भी उनकी रचनाओं में एक अपनी तरह की सादगी और शक्ति थी। पन्तजी ने अंग्रेज़ी कविता का अध्ययन पाण्डेजी की देख-रेख में आरम्भ किया, और 1922 में जब पन्तजी की सर्वप्रथम पुस्तिका 'उच्छ्वास' का प्रकाशन हुआ तब पाण्डेजी ने ही सबसे पहले उसकी आलोचना 'सरस्वती' में लिखी। पाण्डेजी बड़ा सुन्दर हिन्दी गद्य लिखते हैं और आज 28 वर्ष के बाद भी उनकी वह आलोचना पढ़ने योग्य है। पन्तजी की कविता पर पहले-पहल हिन्दी साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियों की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसे यदि जानना हो तो वह लेख अवश्य पढ़ना चाहिए।

पन्तजी की प्रतिभा और व्यक्तित्व से आकर्षित होनेवाले दूसरे व्यक्ति थे पण्डित श्रीधर पाठक जो उन दिनों 'पद्मकोट', लूकरगंज, इलाहाबाद में रहते थे। पाठकजी ने अपने प्रयत्नों से खड़ी बोली हिन्दी कविता को निश्चित दिशा ही नहीं दी थी, भविष्य में उसकी विराट् सम्भावनाओं की कल्पना भी की थी। इन दोनों वृद्ध और नवयुवक-कवियों ने साहित्य और काव्य की चर्चा में न जाने कितनी शामें साथ बैठकर बितायी होंगी। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि श्री पाठकजी ने पन्तजी में हिन्दी काव्य-गगन के एक नये नक्षत्र का उदय देखा होगा।

सन् 1920 के पश्चात् कई वर्षों तक देश में बड़ी हलचल रही। महात्मा गांधी का असहयोग-आन्दोलन जब स्कूल, कालेजों, कचहरियों के बाइकाट का कार्यक्रम बनाकर चला तो देश में एक तूफ़ान आ गया। जो अधिक भावुक और जोशीले लोग थे उनके पाँव जल्द ही उखड़ गये। पन्तजी एक ऐसी सभा में मौजूद थे जिसमें महात्मा गांधी ने व्याख्यान दिया था। सभा के अन्त में, शायद क्षणिक आवेश में ही, उन्होंने स्कूल-कालेज छोड़ने की प्रतिज्ञा करनेवालों के साथ अपना हाथ उठा दिया। हाथ उठानेवालों में बहुतों ने अपने वादे तोड़ दिये, पन्तजी अपने प्रण पर अडिग रहे।

लेकिन शीघ्र ही उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि उनसे गल्ती हो गयी, और उन्होंने अपने आप से कहा— जो हुआ सो हुआ, आगे के लिए कान पकड़ा। उनसे यह न हो सकेगा कि शराब की दूकानों पर पिकेटिंग करें, सड़कों-गलियों में नारे लगाते फिरें, या जेल में तसले बजायें। पढ़ाई छोड़ने के लिए जो क़दम उन्होंने

उठा लिया था उससे वे आन्दोलन की ओर न फटके। उन्होंने उसे अपनी मानसिक संवेदना दी और दूर खड़े रहे।

उन्होंने वह भी नहीं किया जो करना उन दिनों बड़ी आम बात थी। उन्होंने न खद्दर पहना और न गांधी टोपी लगायी—उनकी लच्छेदार लटों पर वह जम भी नहीं सकती थी। वे बराबर रेशमी मोज़े इस्तेमाल करते रहे, रेशमी सूट पहनते रहे और अपने रेशमी बालों में विलायती पाउडर लगाते रहे। मैंने उनके बालों में कभी चिकनाहट नहीं देखी, गो वे हमेशा तरतीबी से कढ़े-सजे रहते थे। जब उनके चारों तरफ़ बड़े-बड़े घरानों के लोग अपने छैल-चिकनिया को खुरदुरा और खद्दरधारी बना रहे थे, तब पन्तजी अपने को छैल-चिकनिया ही बनाये रहे। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि पन्तजी ने अपने जीवन के एक बहुत बड़े अवसर का लाभ नहीं उठाया। अगर वे देश-काल की अग्नि परीक्षा में बैठ जाते तो खालिस कुन्दन के डले बनकर बाहर निकलते और जीवन की कसौटी पर और खरे उतरते।

युनिवर्सिटी की शिक्षा किसी को कवि बनाने में शायद ही कभी सहायक सिद्ध हुई हो। कवीन्द्र रवीन्द्र इसको अपना बड़ा सौभाग्य समझते थे कि वे स्कूल और कालेज की नियमबद्ध शिक्षा से मुक्त रह सके। पन्तजी को अब स्वतन्त्रता मिली, समय मिला, शान्ति मिली और अपने जीवन के सबसे अधिक प्रभाव-प्रवण काल में जो भावनाएँ और कल्पनाएँ उन्होंने अल्मोड़ा की सुन्दर पहाड़ियों और घाटियों में सँजोई थीं, और जो वर्षों से उनकी स्मृति में सुप्त पड़ी थीं, वे अब फिर से सजग होने लगीं। इसकी परिणति 'पल्लव' में हुई जो सन् 1926 में, कई तिरंगे चित्रों के साथ, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, द्वारा प्रकाशित किया गया। इसके पूर्व हिन्दी कविता की कोई पुस्तक इतने ठाट-बाट के साथ नहीं प्रकाशित हुई थी। एक से अधिक अर्थों में 'पल्लव' युगप्रवर्तक रचना थी।

'पल्लव' की बहुत-सी कविताएँ पहले 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुकी थीं। यह पन्तजी की खुशक़िस्मती थी कि जब वे इन कविताओं को लिख रहे थे तब छायावादी कविता के कट्टर विरोधी पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक-पद से अलग हो चुके थे और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी उनकी जगह पर काम करने के लिए आ गये थे। बख़्शीजी पन्तजी की कविता के प्रेमी और प्रशंसक थे और महीने-दर-महीने पन्तजी की कविता 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर छपकर लोगों के सामने आने लगी। 'सरस्वती' के पृष्ठों द्वारा पन्तजी की कविताओं का जो प्रचार हुआ वह केवल बख़्शीजी की वजह से। आज इस बात की कल्पना करना कठिन है कि उन दिनों 'सरस्वती' में, और फिर उसके मुखपृष्ठ पर, किसी कविता के छपने से उसे कितनी बड़ी मान्यता मिल जाती थी। आश्चर्य की बात है कि पन्तजी ने अपनी अनेक भूमिकाओं अथवा अपनी कविता की विविध चर्चाओं में कहीं भी बख़्शीजी के प्रति अपना ऋण नहीं स्वीकार किया। जहाँ तक मुझे मालूम है, शायद उन्होंने किसी जगह उनके नाम का उल्लेख भी नहीं किया।

आधुनिक कविता के विकास में 'पल्लव' का स्थान और उसकी महत्ता समझने के लिए हमें मुड़कर द्विवेदी स्कूल के कवियों की ओर देखना पड़ेगा। कविता के लिए खड़ी बोली माध्यम के पक्ष में अपना निर्णय देकर उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता और साहस का काम किया। हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि ऐसा करने की हिम्मत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भी नहीं हुई थी और उन्होंने अपनी सारी कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी थीं। खड़ी बोली में उनके यत्किंचित् प्रयोग केवल यह सिद्ध करने के लिए किये गये थे कि इस माध्यम से कविता नहीं की जा सकती। यहाँ मैं

उनकी उर्दू रचनाओं की चर्चा नहीं कर रहा हूँ।

गद्य के लिए खड़ी बोली और पद्य के लिए ब्रजभाषा रखने के साहित्यिक विपर्यय को द्विवेदी स्कूल के कवियों ने भली भाँति समझ लिया था। यह सच है कि उन लोगों में आन्तरिक स्फूर्ति का अभाव था, पर अपने विचार का प्रचार करने के लिए उन्होंने बड़े जोश-खरोश के साथ काम किया। उनमें कविता लिखने की कोई आन्तरिक प्रेरणा न थी, फिर भी इसे अपना कर्तव्य मानकर वे पद्य-रचना करते रहे। उन्होंने भाषा के साथ विविध प्रयोग किये, सभी तरह के विषयों पर सभी तरह के छन्दों में लिखने का प्रयत्न किया। फिर भी जो चीज़ तैयार हुई वह कविता नहीं थी, वह था एक घटिया क़िस्म का गद्य जिसे काट-छाँटकर पद्य के साँचे में बिठला दिया गया था। ब्रजभाषा की बहुत निम्न कोटि की रचनाओं की तुलना में भी ये रचनाएँ नीरस और कर्णकटु मालूम होती थीं। पर खड़ी बोली कविता के नये हिमायतियों ने इस नये प्रयास में अपना विश्वास दृढ़ाये रक्खा। हिन्दी कविता के माध्यम को लेकर कई वर्षों तक हिन्दी पत्रिकाओं में वाद-विवाद चलता रहा, लेकिन ब्रजभाषा के पैरोकार जानते थे कि ज़मीन उनके पाँवों के नीचे से खिसकती जा रही है और अन्त में खड़ी बोली की ही विजय हुई।

इसका अन्तिम निर्णयात्मक उद्‌घोष पन्तजी के 'पल्लव' ने ही किया। उन्होंने अपनी कविताओं के साथ एक लम्बी और विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी दी और इस बात को पूरी और पक्की तरह, और शायद सदा के लिए, सिद्ध कर दिया कि आधुनिक युग की कविता के लिए ब्रजभाषा का माध्यम किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है। उन्होंने खड़ी बोली की प्रकृति एवं प्रवृत्ति का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया, और उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले उनमें से अधिकांश को चुनौती देने का साहस आज तक किसी को नहीं हुआ।

'पल्लव' की भूमिका का अवलोकन करने से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि पन्तजी अपने कवि-कर्म के प्रति कितने सचेष्ट और जागरूक हैं। उन्होंने प्राचीन संस्कृत और नयी-पुरानी हिन्दी कविता से अपने को रससिक्त ही नहीं किया, अपनी पारदर्शी दृष्टि और सूक्ष्म भाव-प्रवणता से खड़ी बोली के साँचे-ढाँचे, उसके आधार-आकार-प्रकार, और उसके छन्द-शास्त्र आदि का अध्ययन भी किया है। साथ ही उन्होंने इस बात का भी विवेचन किया है कि किन विषयों के लिए किन छन्दों का आधार लेकर यह भाषा अपनी अभिव्यंजना सम्यक्‌रूपेण कर सकेगी। जहाँ कहीं उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ है कि व्याकरण के जटिल नियम कविता की आत्मा को कुण्ठित करते हैं, वहाँ उन्हें तोड़ने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया। उनके इस प्रकार के स्वभाव-वैषम्य (Idiosyncracy) से जैसा कि वे स्वयं इसे कहते हैं, सब जगह सहमत होना आवश्यक नहीं है, फिर भी इनमें से हरएक के पीछे कुछ न कुछ तर्क है। अन्त में, काव्य-कला के सम्बन्ध में उनकी कुछ उक्तियाँ स्वत:सिद्ध हैं और उनमें शाश्वत सत्य है।

अभी तक हम सिद्धान्तों की बात करते रहे हैं। जब हम उनकी कविता की ओर जाते हैं तो हमारे कान सहसा एक नयी आवाज़ से चौकन्ने हो उठते हैं। यह एक ऐसे व्यक्ति की आवाज़ है जिसकी प्रेरणाएँ सच्ची और जिसकी भावनाएँ सबल हैं और जो ऐसी काव्य-धारा में फूट पड़ने के लिए व्यग्र है जिसमें चित्र और संगीत एक दूसरे को दबाकर ऊपर उभर आने के लिए आपस में गुँथ गये हैं। अभिव्यंजना की नयी तकनीक के कारण जो लोग कवि के पूरे-पूरे अर्थों को समझने में असमर्थ थे, उन्होंने भी उनके नीरव शब्दों के पीछे कविता की मन्द मर्मर ध्वनि

सुनी। समालोचकों ने उन्हें छायावादी स्कूल का कवि कहा, जिसके दो अन्य सदस्य जयशंकरप्रसाद और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' माने जाते थे। बहुत दिनों तक ये तीनों कवि 'बृहत्त्रयी' के नाम से विख्यात थे। बाद को रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा और भगवतीचरण वर्मा 'लघुत्रयी' के नाम से विख्यात हुए। कभी-कभी उन्हें 'वर्मात्रयी' भी कहा जाता था।

मैं छायावाद का अर्थ सूफ़ीवाद अथवा रहस्यवाद करना पसन्द न करूँगा। उस समय के समालोचकों में छायावाद शब्द एक से अधिक अर्थों में प्रयुक्त होता रहा —कभी तो वे इसका प्रयोग अभिव्यंजना की नयी तकनीक के लिए करते थे और कभी सूफ़ीवाद या रहस्यवादी दर्शन के लिए। कम गम्भीर लोग इस शब्द से उस अस्पष्टता और अमूर्तता पर व्यंग्य करते थे जो इस प्रकार की कविता की विशेषता बन गयी थी, पर जो साधारण जनता को कभी ग्राह्य और पाच्य नहीं हो सकी। मेरी सम्मति में शुद्ध रहस्यवादी न पन्त रहे हैं और न निराला। निःसन्देह प्रसाद इस स्कूल के प्रवर्तक थे, परन्तु जिस समय उन्होंने अपना महाकाव्य लिखा—मेरा मतलब उनकी 'कामायनी' से है—उस समय तक पहुँचते-पहुँचते उनकी अभिरुचि का केन्द्र मानव आत्मा से हटकर मानव-मनोविज्ञान पर पहुँच गया था। हमारे कवियों में केवल महादेवी वर्मा ही ऐसी हैं जो निरन्तर रहस्यवाद का पन्थ पकड़कर चलती रही हैं, और यदा-कदा ही उनके पाँव इस सँकरी पगडण्डी के इधर-उधर पड़े हैं।

मैं प्रसंग से कुछ बाहर चला गया, ख़ैर! पन्तजी के 'पल्लव' में जो चीज़ मुझे पसन्द है और जिसकी मैं क़द्र करता हूँ, वह कोई वाद अथवा सिद्धान्त नहीं है। वह है हिमाच्छादित पर्वतों की साफ़ और शुद्ध हवा, हरी-भरी घाटियों की रागिनी और रंगीनी और बादल, बिजली, इन्द्रधनुष, सूरज, चाँद-सितारों का पल-पल परिवर्तित होनेवाला आकाश-मण्डल जो प्रकृति के विशाल और विविधतापूर्ण आँगन के ऊपर किसी जादू के चँदोए की तरह तना हुआ है। पर्वत-प्रदेश का यह पुष्कल सौन्दर्य पन्तजी ने प्रेमी के समान विमुग्ध होकर, और पुजारी के समान आत्मविभोर होकर निहारा था, और उसे अपनी पंक्तियों में अमिट और अविस्मरणीय कर दिया था। पर्वतों की सुन्दरता और भव्यता का गान करनेवाले, पन्तजी हमारे एकमात्र कवि हैं। और चूंकि प्रकृति का सबसे मनोरम रूप पर्वतमालाओं के बीच दिखायी पड़ता है—कम-से-कम पन्तजी का दावा तो यही है—इसलिए प्रकृति के वे हमारे सबसे बड़े कवि हैं।

कुछ दिन हुए उनकी इधर की प्रकाशित 'स्वर्ण किरण' नामक पुस्तक में 'हिमाद्रि' शीर्षक कविता पढ़कर मैं चकित रह गया। इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है कि आज भी उनकी कविता का सर्वोत्तम रूप तब निखरता है जब वे प्रकृति का गान करते हैं।

पन्तजी का जन्म कौसानी में हुआ था जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए विख्यात है। वड्र्सवर्थ की तरह पन्तजी का बहुत बड़ा सौभाग्य उनके जन्मस्थान में ही निहित था। उनकी आत्मा में सर्वप्रथम इसी प्रकृति के संस्कार पड़े और उसी के साहचर्य में वे बढ़े भी। पर वड्र्सवर्थ का विकास प्रकृति की सुन्दरता और भयंकरता के बीच हुआ तो पन्तजी का, प्रकृति की सुन्दरता और पवित्रता के बीच। ऐसा लगता है कि पुराकाल में किसी ऋषि ने अपनी तपश्चर्या से कौसानी के वन-खण्ड और वातावरण को अभिषिक्त किया था और अपनी साधना का थोड़ा-सा प्रसाद वह सदा के लिए वहीं छोड़ गया।

मातृहीन बालक पन्त अपने जीवन के अत्यन्त प्रभावग्राही काल में इसी कौसानी की सुन्दर और पवित्र गोद में लालित-पालित होते रहे, और इस अनुभव ने उनके व्यक्तित्व के ऊपर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। पन्तजी शायद ही कभी सुन्दरता के ऐसे रूप की कल्पना करते हों जिसके चारों ओर सात्त्विकता और पावनता की आभा-रेखा न खिंची हो। 'पल्लव' को पढ़ना इसी सुन्दरता और पवित्रता के स्वस्थ वातावरण में साँस लेना है। हिन्दी कविता के लिए इसी को मैं पन्तजी की प्रमुख देन मानता हूँ, न कि किसी वाद अथवा दर्शन को।

'पल्लव' के पश्चात् 'वीणा' प्रकाश में आयी, पर यह उससे पूर्व-रचित कविताओं का संग्रह था। इसके बाद 'ग्रन्थि' सामने आयी। यह एक लम्बा प्रेम-गीत है जो दुःखान्त है।

बहुत-से समालोचकों का ऐसा ख़्याल है कि इस कविता के पीछे सम्भवतः कवि के जीवन की कोई सच्ची घटना है। ऐसे लोगों से मैं कहना चाहूँगा कि वे अपने ख़्याल को महज़ ख़ामख़याली समझें। यह कविता कोरी कल्पना है; और यह बात मैं एक ऐसे आधार पर कह रहा हूँ जिसके बारे में शक-शुबहे की गुंजाइश नहीं है। पन्तजी न कभी प्रेम के पाश में पड़े, न कभी उससे बाहर निकले; वे तो प्रेम-पाश के निकट जाते हुए भी घबराते रहे हैं।

जब उन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य को जी भर छक लिया और यौवन ने उनकी कल्पना को गुदगुदाना आरम्भ किया—प्रायः यह लोगों के जीवन में तूफ़ान बनकर आता है और नस-नस झकझोर डालता है—तब एक आदर्श नारी का अमूर्त रूप उनके दिमाग में चक्कर काटने लगा पर इसके रक्त और मांसवाली प्रतिमूर्ति को ढूँढ़ने, पाने, अपनाने का उन्होंने कभी प्रयास नहीं किया। कल्पना-कल्पना में ही उसका भोग कर वे उससे विरक्त भी हो गये। और इस प्रकार नारी को जानने के दूसरे अवसर से भी वे वंचित रहे। वे माता को नहीं जान सके थे, वे प्रेयसी अथवा पत्नी को भी नहीं जान सके। उनकी 'भावी पत्नी' भावी पत्नी ही बनी रही; वे चिर-कुमार ही बने रहे।

'पल्लव' में ऐसी कई कविताएँ हैं जिनमें हमें इस नारि-मरीचिका की झाँकियाँ मिलती हैं जो कवि के साथ आँख-मिचौनी खेलती-सी जान पड़ती है। लेकिन पन्त-जी ने अपने को प्रलोभन से दूर रखा और उसके आमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। जब जवानी ने उनको चुनौती दी तब वे इस प्रकार प्रार्थना करते रहे—

मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालापन भर दो !

जब उन्होंने देखा कि उनकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है, तब उन्होंने अपनी कुलबुलाती हुई भावनाओं को सुला देने के लिए प्रकृतिवादी दर्शन (Naturalistic Philosophy) की एक बड़ी ख़ुराक अपने गले उतार ली—जीवन क्षणभंगुर है, यौवन पानी का बुलबुला है, सौन्दर्य चार दिन की चाँदनी है, प्रेम आँधी का एक झोंका है। इस दर्शन में मैं कोई ख़राबी नहीं देखता। जीवन के एक पक्ष का यह कटु सत्य है ही। बहुत-से लोगों ने इस दर्शन में विश्वास करते हुए भी, तन-प्याले से जीवन-मदिरा सूखने से पूर्व अपने हाथ की प्याली भरने का प्रयत्न किया है। और स्वयं पन्तजी विचार के इस पहलू से अनजान न थे; क्योंकि इसी समय उन्होंने प्रसिद्ध उर्दू कवि असग़र गोंडवी की सहायता से 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद मूल फ़ारसी से किया। यह पुस्तक अब 'मधुज्वाल' के नाम से प्रकाशित हुई है। सुनकर आश्चर्य होगा कि इस दर्शन ने एक ऐसी कविता को जन्म

दिया जिसकी गणना हमारी भाषा की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में की जायेगी—मेरा मतलब 'परिवर्तन' से है जो 'पल्लव' में एक को छोड़कर सबसे आख़िरी कविता है।

वासनाओं को मारना बड़ा कठिन काम है। अपने ही व्यक्तित्व के एक सशक्त भाग से लड़ने के लिए उन्हें अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ी। वे बीमार पड़ गये। डाक्टरों को सन्देह हुआ कि वे क्षयग्रस्त हैं, पहले लोग उन्हें कालाकाँकर ले गये, फिर और कई जगह। उनका 'गुंजन' 1932 में प्रकाशित हुआ। उसके साथ जो चित्र छपा था उसे देखकर उनके प्रेमियों और प्रशंसकों को इस बात का आश्वासन मिला कि वे पूर्णतया स्वस्थ हो गये हैं। 'गुंजन' की कविताओं में उनके आन्तरिक द्वन्द्व के चित्र स्पष्ट हैं—इसकी कुछ कविताओं में जो गीतात्मकता है वह न उनकी रचनाओं में पहले थी और न बाद को ही पायी जाती है। वे अपने मन को जीतने में सफल हुए। उनका दृष्टिकोण आन्तरिक से बाह्य हो गया। उन्होंने कहा—

देखूँ सबके उर की डाली—

इसके पश्चात् 'ज्योत्स्ना' प्रकाशित हुई। यह नाटक है, बीच-बीच में कई सुन्दर गीत हैं। एक बार फिर मैं इस ओर ध्यान दिलाना चाहूँगा कि इनमें सर्वोत्तम गीत वे हैं जिनका सम्बन्ध प्रकृति से है।

नाटक की दृष्टि से इसे मैं बहुत सफल रचना नहीं समझता। कम-से-कम इसे रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसके विस्तृत, चित्रमय और कवित्वपूर्ण मंच-निर्देशन के बावजूद मेरा ऐसा ख़्याल नहीं है कि यह कहीं खेला गया है। यदि एक व्यक्ति केवल एक पात्र की भूमिका में उतरे तो अभिनय के लिए लगभग सौ स्त्री, पुरुष और बच्चों की आवश्यकता होगी। कथा शिथिल और स्वप्निल है, पात्र निर्जीव और विचारों के संवाहक मात्र; कथोपकथन बोझिल और किताबी है। परस्पर-विरोधी तत्त्वों का घात-प्रतिघात और सन्तुलन इतना क्षीण है—सच तो यह है कि उनका प्राय: अभाव ही है—कि कौतूहल, जिज्ञासा अथवा असमंजस की भावना का उदय ही नहीं हो पाता और इनके बिना न पाठक नाटक पढ़ने में रुचि लेता है और न दर्शक अभिनय देखने में।

परस्पर-विरोधी तत्त्वों का घात-प्रतिघात ही नाटक की आत्मा है। राग-रंग-रूप का मीना बाज़ार आँखों के लिए कितना ही आकर्षक क्यों न हो, वह नाटक की आत्मा का स्थान नहीं ले सकता। जो कवि कल तक अन्तर्मुखी गीतों का श्रेष्ठ गायक था, उसने आज नाटक लिखने का प्रयास किया था। परिणाम यह हुआ कि नाटक के स्थान पर उसने एक भव्य नाट्य-गीत की रचना कर दी। 'ज्योत्स्ना' के हर पात्र के मुख से पन्तजी स्वयं बोल रहे हैं, चाहे वे पात्र वास्तविक हों, चाहे काल्पनिक।

लेकिन 'ज्योत्स्ना' को नाटक मानकर उसकी आलोचना करना ग़लती होगी। यदि हम संक्षेप में कहना चाहें तो यह पन्तजी की दृष्टि में मानव समाज के भविष्य का स्वप्न है। यह पश्चिम के भौतिकवाद के शरीर में पूर्व के अध्यात्मवाद की आत्मा की प्राणप्रतिष्ठा है और इस प्रकार एक ऐसी सार्वभौम संस्कृत को जन्म देना है जो समस्त राष्ट्रों, समग्र जातियों और संसार के सारे नर-नारियों को वसुधा के एक विशाल और सामंजस्यपूर्ण कुटुम्ब में लाकर बिठाल देगी। यह एक प्रकार से पार्थिव सौन्दर्य और शक्ति का नैसर्गिक ज्ञान और पवित्रता से गठबन्धन है। इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि पन्तजी के बाल-काल में ही उनके मस्तिष्क में सौन्दर्य और पवित्रता किसी अटूट बन्धन में बँध चुके थे और एक के

बिना दूसरे की कल्पना करना उनके लिए कठिन था।

पन्तजी ने किसी दुर्निवार आवेग के वशीभूत होकर पूर्व और पश्चिम की मान्यताओं तथा संसार की वर्तमान परिस्थिति और उसकी समस्याओं का गम्भीर अध्ययन किया था। परिणाम था 'ज्योत्स्ना' का यह भव्य और मनोमुग्धकारी स्वप्न। और इस स्वप्न ने ही, मेरी ऐसी धारणा है, पन्तजी की कल्पना-शक्ति का विस्फोटन कर दिया। कम-से-कम उसने उसके आन्तरिक, सुकुमार और सूक्ष्म तन्तुओं को तोड़ ही डाला।

यदि ऐसा न होता तो आश्चर्य की बात होती। किसी भी उच्चकोटि की कल्पना-जन्य कृति का यह अवश्यम्भावी परिणाम होता है। 'टेम्पेस्ट' की रचना के पश्चात् शेक्सपियर के मस्तिष्क में भी इसी प्रकार का विस्फोटन हुआ था और उन्होंने 'प्रास्पेरो' के अन्तिम भाषण के व्याज से इसे स्वीकार भी किया था, 'अब मेरी सारी चमत्कारी शक्ति का अवसान होता है,' और इसके बाद उन्होंने कभी लेखनी नहीं छुई। 'प्रिल्यूड' समाप्त करने के बाद यही दशा वर्ड्सवर्थ की हुई और उन्होंने पश्चात्ताप भरे स्वर में कहा, 'जो चीज़ मैंने देखी है, उन्हें देखने की शक्ति अब मुझमें नहीं रही।'

'ज्योत्स्ना' के पश्चात् पन्तजी को भी अनुभव हुआ कि जैसे उनके अन्दर से कोई चीज़ निकल गयी। इसके बाद उनका संग्रह 'युगान्त' नाम से निकला। इसका नाम ही एक युग के अन्त की सूचना देता है, हालाँकि अब यह संग्रह इधर की कुछ और अवसरपरक कविताओं के साथ 'युगपथ' नाम से प्रकाशित हुआ है। 'युगान्त' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मेरी नयी रचनाओं में पल्लव-काल की कोमलकान्त पदावली का अभाव है और आगे चलकर मैं किसी अन्य प्रकार के माध्यम में विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा।

हमें यह याद रखना चाहिए कि शब्द और पद इतने ऊपरी और सतही नहीं होते जितना उन्हें प्रायः समझा जाता है। किसी लेखक की शैली और काव्य-योजना में जब कोई परिवर्तन आता है तो उसके पूर्व उसके जीवन, उसके अनुभव और उसके दृष्टिकोण में अवश्य ही उससे कोई बड़ा परिवर्तन आ चुका होता है। 'युगान्त' के साथ पन्तजी की दृष्टि और उनके दृष्टिकोण दोनों का परिवर्तन स्पष्ट हो चुका था। उनके दूसरे संग्रह 'युगवाणी' में यह परिवर्तन और मुखर हुआ। शुरू-शुरू में कविता के सम्बन्ध में जो धारणा उन्होंने बनायी थी, उससे वे बहुत दूर चले गये थे। पन्तजी कुशल कलाकार हैं और कविता के सम्बन्ध में जो नया दृष्टिकोण उन्होंने अपनाया था उससे वे पूर्णतया भिज्ञ थे। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा कि इन कविताओं के द्वारा मैं युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न कर रहा हूँ। काव्य-कला की दृष्टि से 'ग्राम्या' 'युगवाणी' के समकक्ष थी।

'युगान्त' का कवि विद्रोही और क्रान्तिकारी है और उसकी कविताओं का स्वर कर्णकटु और कठोर है। इन कविताओं का जन्म इस धारणा के बल पर हुआ है कि संसार में जो कुछ निर्जीव और जीर्ण-शीर्ण है, वह सबका सब जब तक नष्ट नहीं हो जाता तब तक नूतन की सृष्टि नहीं हो सकती।

> द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,

विचारों की दृष्टि से मैं 'युगवाणी' को मौलिक रचना नहीं मानता। तत्त्व की बात यह है कि इसमें कवि ने मार्क्स को अध्यात्मवाद से शोधित करने का प्रयास किया है। शायद इसी कारण कुछ लोगों को उनमें सम्भाव्य साम्यवादी के दर्शन हुए और उन्होंने उनको प्रगतिवादी लेखक-संघ में घसीटना चाहा। जैसा कि वे

'ज्योत्स्ना' में कर आये थे, यहाँ भी वे भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में सामंजस्य बिठाने का प्रयत्न कर रहे थे। जो कुछ उन्होंने 'ज्योत्स्ना' में संश्लेषणात्मक और काव्यात्मक ढंग से कहा था उसी को वे 'युगवाणी' में विश्लेषणात्मक एवं गद्यात्मक ढंग से कह रहे थे। यह बात सुनने में कुछ उल्टी-सी भले ही लगे पर पद्य बड़ी आसानी से गद्यात्मक हो सकता है। अन्ततोगत्वा, उनके अपने शब्दों में, यह युग का गद्य ही था जिसको वे अभिव्यक्ति दे रहे थे। पन्तजी के साहित्यिक जीवन में 'ज्योत्स्ना' उनकी सर्वोत्तम रचना थी। एक प्रकार से इस रचना में उनके भाव और विचार की सम्मिलित प्रक्रिया की चरम परिणति पहुँच गयी है। इसके बाद उनकी जो तीन रचनाएँ प्रकाशित हुईं उनमें वे केवल अपने स्वप्न को सत्य बनाने के विस्तृत ब्यौरे बना रहे थे। 'ग्राम्या' का प्रकाशन 1940 में हुआ। इसके बाद ही मुझे पन्तजी के साथ रहने का सुअवसर मिला और मैंने उन्हें अधिक निकट से जाना-समझा।

दूसरे वर्ष वे अपने दो संकलन बनाने में व्यस्त रहे। पहला 'आधुनिक कवि' पुस्तकमाला में था जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, ने प्रकाशित किया। दूसरा 'पल्लविनी' नामक था, जिसके तीसरे संस्करण के लिए मुझसे भूमिका लिखाकर उन्होंने मुझे ही गौरवान्वित किया।

नये मानव समाज का जो स्वप्न उन्होंने देखा था उससे वे इतने अभिभूत थे कि उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए, चाहे वह कितने ही छोटे पैमाने पर क्यों न हो, वे तड़प रहे थे। वे अक्सर मेरी पत्नी से और मुझसे कहते, 'आओ हम लोग मिलकर एक संस्था अथवा केन्द्र की स्थापना करें। कोई बात नहीं यदि शुरू-शुरू में कम लोग ही हमारे साथ हों। एक विशेष प्रकार के नाटक, संगीत, कविता और चित्रों के द्वारा पहले हम अपने में और फिर दूसरों में वे मनोभावनाएँ जगायें जो मनुष्य-मनुष्य को समीप लायेंगी और मानव अस्तित्व को एक नया अर्थ देंगी।'

उन दिनों मैं 7 ए बैंक रोड (इलाहाबाद) के बँगले में रहता था। 1942-'43 के जाड़ों में, इसी बँगले में बैठकर, पहले-पहल 'लोकायतन' की रूपरेखा बनायी गयी। कुछ पत्रक छपवाये गये और उन्हें कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के पास भेजा गया कि वे हमारी योजना पर अपनी राय दें और यदि वे हमारे उद्देश्य से सहमत हों तो हमें अपना सहयोग भी दें। एक मित्र ने गंगापार झूँसी में एक छोटा-सा मकान बनाने के लिए ज़मीन और धन देने का वादा किया। पन्तजी ने कुछ एकांकी नाटक लिखे। श्रीगणेश करने के ध्येय से एक नाटक हमने अपने कम्पाउण्ड में ही खेलने का निश्चय किया और कई दिनों तक एक सिरे से दूसरे सिरे तक ज़मीन की नाप-जोख होती रही।

ऐसी योजनाएँ तभी सफल होती हैं जब उन्हें जनता का सहारा मिले। इने-गिने लोगों ने ही हमारे पत्रों के उत्तर दिये। जिस ज़मीन और धन का वादा किया गया था उसके मिलने में कई तरह की कानूनी दिक्कतें पेश आयीं। समय भी उपयुक्त नहीं था। 1942 का आन्दोलन कुचल दिया गया था। भय और अनिश्चय की भावना हर जगह फैली हुई थी। लोगों ने बड़ा अपमान सहा था। पराजय के दैन्य से सबकी आँखें झुकी हुई थीं; और किसी भी नयी चीज़ को लेकर आगे बढ़ने का उत्साह कहीं भी नहीं दिखायी देता था। लड़ाई चल रही थी।

इसी समय प्रसिद्ध नर्तक श्री उदयशंकर ने पन्तजी को अपने कल्चर सेण्टर में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित किया। एक वर्ष पूर्व पन्तजी से उनका व्यक्तिगत परिचय हुआ था, शायद गर्मियों के दिनों में अल्मोड़ा में। उदयशंकर ने यह

परख लिया होगा कि मंच पर भी पन्तजी का व्यक्तित्व आकर्षक होगा। वे अपने ट्रुप के साथ अपने नृत्य का प्रदर्शन करने के लिए भारत के विभिन्न नगरों में जाने-वाले थे। उन्होंने पन्तजी को भी ट्रुप के साथ चलने को कहा।

पन्तजी की योजना के प्रति लोगों ने कोई उत्साह न दिखाया था। जीवकोपार्जन के लिए कुछ काम करने की आवश्यकता थी, कालाकाँकर राज्य से वे विदा ले चुके थे। शायद उनके मन में यह बात भी आयी होगी कि ट्रुप के साथ जाने से प्रदर्शन और मंच-कला का उन्हें व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त हो सकेगा। पन्तजी ने उदयशंकर के निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया।

कल्चर सेण्टर में उनके कार्य अथवा ट्रुप के साथ उनके जीवन का मुझे बहुत कम ज्ञान है। उनके पत्र यदा-कदा ही आते और बहुत संक्षिप्त होते। इतना आभास मुझे अवश्य हो गया था कि वे अपने इस नये काम से बहुत सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा कभी नहीं रहा। ठीक समय से खाने-पीने, सोने-जागने की उनकी आदत है। ट्रुप के साथ आधी-आधी रात तक जगना होता, खाने-पीने के समय की पाबन्दी न निभती, कभी रात को, कभी दिन को सफ़र करना पड़ता, नयी जगह और नयी आबोहवा का सामना लगभग हर सप्ताह करना पड़ता। इन सब बातों का उनके स्वास्थ्य के ऊपर बहुत ख़राब असर पड़ा। मंच पर की बहुत तेज़ रोशनी से पहले तो उनकी आँखें ख़राब हुईं, बाद को उन्हें टाइफ़ायड हो गया। दुर्भाग्यवश दो बार ज्वरमुक्त होकर वे फिर से ज्वराक्रान्त हुए। उनकी रुग्णावस्था में कुछ उत्तरदायित्वहीन पत्रों ने उनकी मृत्यु का समाचार तक छाप दिया!

कुछ समय पूर्व उदयशंकर का कल्चर सेण्टर अल्मोड़ा से मद्रास चला गया था और इस समय 'कल्पना' नामक नृत्य-फ़िल्म बनाने की तैयारी कर रहा था। इस फ़िल्म में काम करने के लिए पन्तजी ने किसी तरह का क़रार कर रक्खा था। उस चित्र के सब गीत पन्तजी के लिखे हुए हैं। इस कारण जैसे ही उनका स्वास्थ्य सुधरा, वे मद्रास चले गये। 1942 में जब वे मेरे साथ रहने को आये थे, तब भी उनकी पुस्तकों में The Life Divine के तीनों भाग थे और वे अक्सर श्री अरविन्द और उनके आश्रम के विषय में बातें किया करते थे। अब परिस्थिति और भाग्यवश वे ऐसी जगह आ गये थे जहाँ से पाण्डिचेरी के सन्त का आश्रम बहुत दूर नहीं था। उन्होंने कई बार आश्रम की यात्रा की और माताजी और श्री अरविन्द के दर्शन किये। उन्होंने श्री अरविन्द के मानव, अतिमानव और अधिमानस-सम्बन्धी विचार और दर्शन को अधिक से अधिक समझने का प्रयत्न किया। वे कई बार आश्रम में जाकर ठहरे भी और इस प्रकार आश्रम के प्रायः सभी प्रमुख साधकों से उनका परिचय हो गया।

वे जुलाई, 1947 में लौटकर प्रयाग आये। इस समय उनके पास उनकी दो पुस्तकें 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की पाण्डुलिपियाँ थीं। उन्होंने मुझसे बतलाया कि ये दोनों पुस्तकें पिछले कुछ महीनों में लिखी गयी हैं, कुछ भाग मद्रास में और कुछ बम्बई में। पन्तजी बहुत तेज़ी के साथ लिखते हैं। भले ही वे महीनों या सालों तक कुछ भी न लिखें, पर जब उन्हें प्रेरणा होती है तब वे थोड़े दिनों में ही पोथे का पोथा तैयार कर देते हैं।

अब की बार जब वे आये तो पूरे अरविन्दवादी हो चुके थे। वैसे तो उनके पास सामान थोड़ा ही रहता है पर इस बार उनके दो सन्दूक अरविन्द साहित्य से खचाखच भरे थे—कुछ अंग्रेजी में, कुछ हिन्दी में। आश्रम के पत्र और अन्य

प्रकाशन उनके पास नियमित रूप से आते। मैं उनको अक्सर आश्रम की त्रैमासिक पत्रिका 'अदिति' के लिए कुछ लिखते या श्री अरविन्द की कविता का अनुवाद करते देखता। उन्होंने योगिराज के दार्शनिक महाकाव्य 'सावित्री' के भी कुछ अध्यायों का अनुवाद किया है, जो थोड़ा-थोड़ा करके 'अदिति' में प्रकाशित हो रहा है।

मैंने अपने जीवन में यह पहली बार देखा कि पन्तजी प्रतिदिन प्रातःकाल स्नानादि करने के बाद ध्यानस्थ होकर बैठते हैं। वे दस महीने तक लगातार मेरे साथ रहे। इसके पहले शायद ही वे कभी इतने दिनों तक एक साथ मेरे पास रहे हों, और ये मास देश के लिए, और हम दोनों के लिए भी, बड़े घटनापूर्ण थे।

भारत के विभिन्न नगरों और कस्बों में साम्प्रदायिक दंगों, मार-काट और लूट-पाट के खतरनाक दिनों के बाद हमने साथ-साथ प्रथम स्वतन्त्रता-दिवस मनाया। पन्तजी के लिए इस दिन की महत्ता कुछ और बढ़ गयी, क्योंकि यह श्री अरविन्द के जन्म-दिन पर पड़ा। फिर शरणार्थियों की एक ओर से दूसरी ओर आने-जाने की दर्दनाक कहानियाँ सुन पड़ीं। हमारा घर एक छोटा-मोटा शरणार्थी शिविर बन गया। मेरी पत्नी पंजाबी हैं, उनके दस-पन्द्रह सम्बन्धियों ने पंजाब से भागकर हमारे घर में शरण ली। हमने साथ-साथ महात्मा गांधी की हत्या का हृदय-विदारक समाचार सुना, जिसने देश को एक कोने से दूसरे कोने तक हिला दिया। गांधीजी की मृत्यु पर जो हमने लिखा वह हम दोनों के नाम से 'खादी के फूल' में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार पुस्तक प्रकाशित करने का विचार उनका था। उन्होंने पुस्तक का नामकरण भी किया।

यह सब निःसन्देह बहुत महत्त्वपूर्ण बातें थीं, पर एक बात और हुई, और जहाँ तक पन्तजी का सम्बन्ध है, शायद यह अधिक महत्त्वपूर्ण थी। इसे घटनावश ही कहना चाहिए कि एक बार फिर मेरे पास रहते हुए और मेरे घर के अन्दर ही उन्होंने 'लोकायतन' को स्थापित करने का स्वप्न देखना आरम्भ किया। इस बार संस्था का नाम छोटा करके 'लोकायन' कर दिया गया; किसी संस्कृत के विद्वान ने हमें बताया कि प्राचीन भारत में नास्तिकों के एक वर्ग को 'लोकायत' कहते थे।

इससे यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है कि उनकी पूर्व-कल्पना क्षणिक स्वप्न न थी, बल्कि उसकी जड़ें, उनके हृदय में गहरे पैठ चुकी थीं। उनका विचार यह था कि अब जब भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल गयी है, तभी तो ठीक समय आया है कि एक ऐसे सांस्कृतिक आन्दोलन का सूत्रपात किया जाये जिसकी रूपरेखा उन्होंने कुछ वर्ष पूर्व बनायी थी। स्थापना-समिति के सदस्य चुन लिये गये, नियमावली छप गयी, संस्था की रजिस्टरी हो गयी, यहाँ तक कि वर्ष भर का कार्यक्रम भी निश्चित हो गया।

योजना की रूपरेखा बनाते समय पन्तजी के हाथ वामन के डगों से होड़ लेते हैं। जब तक दो-चार लाख रुपये बैंक में न हों तब तक योजना को कार्यान्वित कैसे किया जाय! किसी संस्था को छोटे रूप में आरम्भ करके धीरे-धीरे समुन्नत करने में उनका विश्वास नहीं है। उनकी धारणा थी, अगर जनता को ऐसे आन्दोलन की आवश्यकता है— और उनको यकीन था कि है ही—तो धन की कमी न रहेगी। लेकिन महाकवि को बड़ी निराशा हुई जब बहुत दौड़-धूप करने के बाद केवल उत्तर प्रदेश सरकार से सिर्फ़ दस हज़ार रुपये का अनावर्तक (नान-रेकरिंग) अनुदान मिल सका। इतनी छोटी धनराशि से इतनी बड़ी योजना का समारम्भ करने का परिणाम यही न होगा कि जब पैसा ख़त्म हो जायेगा तब संस्था को बन्द कर देना

पड़ेगा ? और यह कितनी उपहासास्पद बात होगी।

'लोकायन' की समस्या को लेकर पिछले दो वर्षों से पन्तजी 'हैमलेट' की तरह विसूरते रहे हैं, आरम्भ करूँ कि न करूँ, यही तो प्रश्न है ! और इसी चिन्तन और मनन के काल में उन्होंने अपनी कविताओं का एक नया संग्रह तैयार कर लिया है, 'उत्तरा'; कालिदास के शकुन्तला नाटक को एक नया रूप दिया है; कुछ एकांकी लिखे हैं; और मैंने सुना है कि वे 'क्रमशः' नाम से एक बड़ा उपन्यास लिख रहे हैं जिसका नायक 'शून्य' होगा। हमें यह न भूलना चाहिए कि पन्तजी ने अपना लेखक-जीवन उपन्यास से ही आरम्भ किया था।

और अब उन्हें सहसा आल-इण्डिया रेडियो ने बुला लिया है। उन्हें उत्तर भारत के केन्द्रों से प्रसारित होनेवाले हिन्दी कार्यक्रमों के निरीक्षण का काम सौंपा गया है। वे अविवाहित हैं, उनका जीवन सादा है; उनकी आवश्यकताएँ कम हैं; इन कारणों से धन के प्रति उनके मन में किसी प्रकार का आकर्षण कभी नहीं रहा। वे इस बात को भली भाँति जानते हैं कि किसी भी देश के सांस्कृतिक जीवन को नवोन्मेष देने में रेडियो कितना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है, बशर्ते उसकी शक्ति का उपयोग ठीक से किया जाय। मैं नहीं कह सकता कि अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने की उन्हें कितनी स्वतन्त्रता होगी। लेकिन मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि रेडियो का कार्य उन्होंने इसी आशा से स्वीकार किया है कि सम्भव है जो काम वे 'लोकायन' के द्वारा नहीं कर सके उसे वे रेडियो के द्वारा कर सकें। वे बड़ी लगन से अपना काम कर रहे हैं। इतने नियमित रूप से और इतना कठिन परिश्रम करते मैंने उनको पहले कभी नहीं देखा था। मेरी शुभकामना है कि वे अपना स्वप्न सत्य कर सकें।

'ज्योत्स्ना' पूर्ण करने के बाद, मेरे विचार से, जो विस्फोटन उनके अन्दर हुआ उसकी ओर मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ। उसके पश्चात् उनकी शैली में जो परिवर्तन हुआ वह उनके सामान्य पाठकों से भी छिपा नहीं है। मोटे तरीके से यह कहना होगा कि उनकी रचनाओं में हृदय का स्थान मस्तिष्क ने ले लिया है। अथवा हर्बर्ट रीड की पुस्तक The Meaning of Art से एक वाक्यांश उधार लें तो हम कह सकते हैं कि अब वे कविताएँ 'संवेदना' (Sympathy) के सहारे लिखते हैं (अर्थात् वे वस्तुओं की अनुभूति उनके बाहर से करते हैं।) प्रेरणा से स्फुरित और भावना से भीगा हुआ कलाकार अपनी रचना अन्तर्वेदना (Empathy) के सहारे करता है। अर्थात् वह वस्तुओं की अनुभूति उनके भीतर से करता है। इन दो प्रकार के सृजनों में अन्तर होना स्वाभाविक है।

पन्तजी की हाल की तीन पुस्तकें 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' उनके श्री अरविन्द के सिद्धान्त में दीक्षित होने के बाद लिखी गयी हैं, और इनके अधिकांश भाग पर उनके दर्शन और विचारों की छाया पड़ी है। 'स्वर्ण धूलि' में विषय की एकता का अभाव है। इसकी कुछ कविताएँ अवसरपरक हैं, कुछ प्रेमगीत हैं जो 1940 के आसपास लिखे गये थे; कुछ भाग में वेदमन्त्रों के अनुवाद हैं; शेष में, जैसा कि पन्तजी ने स्वयं लिखा है, पृष्ठभूमि सामाजिक है। इस पुस्तक की सबसे अच्छी रचना सम्भवतः नाट्य गीत रूपक 'मानसी' है।

श्री अरविन्द के दर्शन, विचार, भावों और स्वप्नों की व्याख्या 'स्वर्ण किरण' और 'उत्तरा' में अधिक तत्परता के साथ की गयी है। मेरी सम्मति में जब तक कोई यह न जान ले कि श्री अरविन्द की आस्था क्या है, उनकी दृष्टि किस ओर है, मानव जाति और संसार के भविष्य के विषय में उनकी कल्पनाएँ क्या हैं, तब

तक उसके लिए इन पुस्तकों को समझना सम्भव न हो सकेगा; और यहाँ मैं अपनी सीमाएँ स्वीकार करता हूँ। श्री अरविन्द की रचनाओं से मेरा परिचय बहुत कम है। इस अवसर पर मैं साधारण पाठक की तरफ़ से इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि वह दर्शन की सीढ़ियों से होकर काव्य की छत पर नहीं आना चाहता। काव्य के आँगन से उसे कोई दर्शन की सीढ़ियों की ओर ले जाये तो उसे कोई आपत्ति नहीं होगी।

फिर भी मैं यह नहीं कहना चाहूँगा कि पन्तजी की इधर की कविता में दर्शन को पद्यबद्ध करके धर दिया गया है। पहली बात तो यह है कि पन्तजी ने इस दर्शन के साथ अपने को पूर्णतया एकात्म कर दिया है और हम इस बात को लेकर किसी कवि से झगड़ा नहीं कर सकते कि उसने किसी दर्शन विशेष को क्यों अपना लिया है; वर्ना हमें कुछ बहुत बड़े कवियों से यह झगड़ा मोल लेना पड़ेगा, क्योंकि सबका कोई न कोई दर्शन होता है। दूसरी बात अधिक महत्त्व की है, और इसे मैं बलपूर्वक कहना चाहूँगा, चाहे इसके लिए मुझे दु:साहसी और धृष्ट ही क्यों न समझा जाये, और वह यह है कि पन्त का कवि श्री अरविन्द का अनुगामी उतना नहीं है जितना कि संसार और जीवन के किन्हीं आधारभूत मूल्यों के विषय में श्री अरविन्द के समान ही दृष्टिकोण रखनेवाला।

मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि ऐसा कहने में मेरे मन में पाण्डिचेरी के सन्त के प्रति किसी प्रकार के अनादर का भाव नहीं है। जहाँ तक पन्तजी का सम्बन्ध है वे इतने विनयशील और अहंविहीन हैं कि अपने लिए इस प्रकार का कोई दावा करना उनके लिए असम्भव है। प्रयाग पाठचक्र में जिन्होंने उन्हें श्री अरविन्द के दर्शन पर व्याख्यान देते हुए सुना है वे जानते हैं कि वे अपने को योगिराज का एक विनम्र उपासक समझने में ही बड़े गौरव का अनुभव करते हैं।

लेकिन आइये, ज़रा उनकी उस समय की रचनाओं पर दृष्टिपात करें जब उनका श्री अरविन्द, उनके आश्रम अथवा उनके दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं था। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रारम्भ में उन्होंने सौन्दर्य की जो सहज धारणा बनायी थी वह भी पवित्रता से अनिवार्य रूप में सम्बद्ध थी। यही बीज था जो 'ज्योत्स्ना' में भौतिक सौन्दर्य एवं शक्ति और नैसर्गिक ज्ञान एवं पावनता के गठबन्धन में प्रतिफलित हुआ। सामाजिक धरातल पर इसका अर्थ हुआ मार्क्स को अध्यात्म से अभिषिक्त करना, जैसा कि उन्होंने 'युगवाणी' में किया है। जब ऐसा होगा तब संसार का क्या स्वरूप होगा इसका साक्षात्कार करने और उसका वर्णन करने का प्रयास उन्होंने सैकड़ों तरीकों से किया है। इस प्रक्रिया में मानसिक, मनोवैज्ञानिक, प्रज्ञापरक, अथवा अवचेतना, चेतना तथा अतिचेतना सम्बन्धी क्या-क्या परिवर्तन होंगे इसे जानने की चिन्ता उन्होंने नहीं की। यह उनका क्षेत्र नहीं था। इनका ही साक्षात्कार श्री अरविन्द ने अपनी योगशक्ति से किया है।

श्री अरविन्द के दर्शन से पन्तजी को कोई ऐसी चीज़ नहीं मिली जो सर्वथैव नवीन हो। उनका प्रारम्भिक स्वप्न वायवी, अनस्थायी और आकाशधर्मी था: श्री अरविन्द के दर्शन में उन्हें अपने पैरों के नीचे एक ठोस और सुदृढ़ धरातल का विश्वास मिल गया है। उनके असम्बद्ध विचारों को एक तर्कसम्मत व्यवस्था मिल गयी है। इस कारण, मेरी दृष्टि में, पन्तजी के काव्य का न्यायसंगत अध्ययन करने के लिए उनके श्री अरविन्द के शिष्यत्व को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। ये दो ऐसी बातें हैं जिन्होंने उनकी इधर की रचनाओं को दार्शनिक होने पर भी कवित्व से दूर नहीं रक्खा है। मेरी समझ में उनकी और उनके काव्य की

आज यही ठीक स्थिति है।

मैंने उनकी गद्य रचनाओं के विषय में कुछ नहीं कहा। उनके नाटक अभी प्रकाशित नहीं हुए, उनका उपन्यास अभी समाप्त नहीं हुआ और उनकी पाँच कहानियों की ओर लोगों का ध्यान कम ही गया है। उपन्यास-लेखक के रूप में कभी पन्तजी सफलता प्राप्त कर सकेंगे, इसमें मुझे भारी सन्देह है। उनकी क्लिष्ट, संस्कृतनिष्ठ एवं रूपक-बोझिल शैली गम्भीर विवेचनाओं के लिए ही उपयुक्त है। अपने कई संग्रहों की जो भूमिकाएँ उन्होंने लिखी हैं उनमें उन्होंने पक्षपातरहित होकर विश्लेषण करने की अपनी क्षमता का परिचय दिया है। मैंने अक्सर सोचा है कि यदि वे कभी गद्य की ओर झुके तो अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा उन्हें समालोचना के क्षेत्र में अधिक सफलता मिलने की सम्भावना है। उपन्यास लिखने के लिए जीवन के सीधे सम्पर्क एवं व्यक्तिगत अनुभव की आवश्यकता है। पन्तजी की भाषा और शैली—और कहते हैं कि शैली सारा भेद खोल देती है—यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि पन्तजी ने जीवन के अंगारे को केवल चिमटों से पकड़ा है।

केवल दो ही क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें पन्तजी बड़े आनन्द से विचरण करते हैं—प्रकृति की वनस्थली में या अमूर्त सिद्धान्तों की वाटिका में। उन्हें प्रकृति के बीच या किसी विचार के साथ या अकेले भी छोड़ दीजिए वे मस्त रहेंगे, उन्हें कुछ लोगों के बीच छोड़ दीजिए वे खोया-खोया-सा अनुभव करेंगे। वे उसी जगह पूर्णतया आश्वस्त रहते हैं जहाँ उनकी कल्पना उन्मुक्त रह सकती है, यथेच्छ पर फैला सकती है। एक छाया भी अगर बाधा बनकर खड़ी हो जाय तो वे अनमने हो उठते हैं। लेखक के नाते मैं यह भलीभाँति जानता हूँ कि हमारे अनुभवों में कल्पना का क्या स्थान होता है। लेकिन अगर दोनों में मुझे विभेद करना पड़े तो मैं यह कहना चाहूँगा कि पन्तजी अनुभवों के कवि न होकर कल्पना के कवि हैं। जीवन में जैसी परिस्थितियाँ उन्हें प्राप्त हुईं, सम्भवतः, उनमें कुछ और हो सकना उनके लिए असम्भव था।

हमारे साहित्य को जो देन उनसे मिली है वह बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण है। अपने अनुपम व्यक्तित्व से हमारे युग को उन्होंने जो गौरव प्रदान किया है, मैं तो उसे भी कम महत्ता नहीं देता। बड़ी-से-बड़ी भीड़ के बीच उन्हें खड़ा कर दीजिए और लोग फ़ौरन यह कह देंगे कि यह कवि है। और जब मैं यह बात कह रहा हूँ तब मेरे ध्यान में उनके घुँघराले बाल और उनका विचित्र परिधान मात्र नहीं है। उनके चेहरे में, उनकी आँखों में, उनकी चाल-ढाल में, उनके बात-व्यवहार में कुछ ऐसी विशेषता है जो उन्हें उनके समस्त समीपवर्तियों से अलग रखती है। उनके साथ आप चाहे जितने दिन तक रहें, उनसे आप घनिष्ठता नहीं स्थापित कर सकते। और इसका कारण केवल यह है कि वे कवि हैं और आप मनुष्य हैं। उनका व्यक्तित्व आपके कानों में बराबर यह कहता रहता है कि कवि अधिक परिष्कृत, अधिक संस्कृत, अधिक विकसित और अधिक परिपूर्ण मनुष्य होता है।

आज पन्तजी ने अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे कर लिये हैं। उनके जीवन और साहित्य की इस संक्षिप्त समीक्षा को समाप्त करने के पूर्व मैं इस अवसर पर उन्हें अपनी हार्दिक बधाई समर्पित करता हूँ और कामना करता हूँ कि यह दिन फिर-फिर आये।

उत्तर पन्त*

उत्तर पन्त का उपयोग मैं उसी अर्थ में कर रहा हूँ जिसका बोध हमें उत्तर-मेघ अथवा उत्तर-रामचरित से होता है। प्रेरणा मुझे पन्तजी की नवीनतम रचना से मिली है। 'उत्तरा' से हिन्दी संसार परिचित हो चुका है।

उत्तर पन्त के साथ ही पूर्व और मध्य पन्त की ओर ध्यान जाना भी स्वाभाविक है। उनकी रचनाओं के विकास का ध्यान करते हुए ऐसा विभाजन सम्भव है। 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' से पूर्व पन्त का, 'युगान्त', 'युगवाणी, 'ग्राम्या' से मध्य पन्त का और 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' से उत्तर पन्त का अध्ययन किया जा सकता है।

पन्तजी अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे कर चुके हैं और अपनी 'स्वर्ण किरण' एवं 'स्वर्ण धूलि' से जैसे स्वयं ही अपनी स्वर्ण जयन्ती का संकेत कर रहे हैं—'उत्तरा' से जैसे वे आनेवाले समय का स्वागत करते हैं।

यह तीनों रचनाएँ उनके श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन से दीक्षित होने के बाद प्रकाशित हुई हैं और इन पर उनका प्रभाव स्पष्ट है—विशेषकर 'स्वर्णकिरण' और 'उत्तरा' पर। 'स्वर्ण धूलि' को सम्यक् रचना समझना मेरे लिए कठिन है। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' प्रायः साथ-ही-साथ प्रकाशित हुई थीं, परन्तु 'स्वर्ण धूलि' ही पुरस्कार के योग्य समझी गयी। शायद 'उत्तरा' पर भी कोई पुरस्कार मिल चुका है, परन्तु इनमें जो सर्वश्रेष्ठ रचना 'स्वर्ण किरण' है उसे किसी ने नहीं पूछा। बलिहारी हमारे पारखियों की ! 'स्वर्ण धूलि' की कुछ रचनाएँ अवसरपरक हैं, कुछ गीत हैं, प्रायः प्रेम-सम्बन्धी, जो सन् 1940 में लिखे गये थे, जब मैं पन्तजी के साथ 'वसुधा' में रहता था और जिसकी चर्चा मैं अपने 'हलाहल' की भूमिका में कई वर्ष पूर्व कर चुका हूँ; कुछ वेदमन्त्रों के अनुवाद हैं और कुछ का धरातल, जैसा पन्तजी ने स्वयं लिखा है, सामाजिक है। पुस्तक की सर्वोत्तम रचना सम्भवतः 'मानसी' नाम का रूपक है, जो पुस्तक के अन्त में दिया गया है। इस कारण उत्तर पन्त की चर्चा में मैं 'स्वर्ण धूलि' का कोई विशेष स्थान नहीं मानता।

'स्वर्ण किरण' में भी कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जो अपने स्थान पर नहीं हैं। 'नारी-पथ', एक प्रकार से, प्रेम-गीत नहीं तो सौन्दर्य-गीत है। 'नोआखाली के महात्माजी', और 'जवाहरलाल के प्रति' अवसरपरक कविताएँ हैं। उनको भी 'स्वर्ण धूलि' में डाला जा सकता था। कुछ कविताएँ जो जीवन-दर्शन-सम्बन्धी 'स्वर्ण धूलि' में थीं, 'स्वर्ण किरण' में लायी जा सकती थीं। संग्रहों के संकलन में कुछ लापरवाही की गयी है, जिसका सुधार अगले संस्करणों में भी कर दिया जाय तो अच्छा रहेगा। दो-एक प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ हैं, जिन्हें पन्तजी शायद बिना श्री अरविन्द के प्रभाव में आये हुए भी उसी प्रकार लिख सकते थे। 'हिमाद्रि' इनमें सर्वोत्तम है। यह इसका सबूत है कि पन्तजी भले ही अधिक सचेष्ट रूप से अपने को दर्शन की ओर ले जा रहे हों, कभी-कभी उनका प्रकृति-प्रेमी मन, समस्त नये बन्धनों को छोड़कर, गाने लगता है; और तब पहले के सभी मधुर स्वर जाग उठते हैं। 'हिमाद्रि' में 'पल्लव' की कोमल-कान्त पदावली का आनन्द फिर से लिया जा सकता है। मेरी सम्मति तो यह है कि पन्तजी सबसे पहले प्रकृति के कवि हैं और आज भी उनका प्रौढ़तम स्वर प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं में सुना जा सकता है।

---

* संगम (प्रयाग), मई, 1950

शेष कविताओं में श्री अरविन्द का जीवन-दर्शन काव्य का बाना पहनकर सामने आता है। 'स्वर्णोदय' और 'अशोक वन' ज़्यादा लम्बी कविताएँ हैं और पुस्तक का आधा कलेवर उनसे भरा हुआ है। 'अशोक वन' की कथा पुरानी है। हमारे प्राचीन दार्शनिक सूक्ष्म विचारों को स्थूल रूपक में बाँधकर सामने रख देते थे कि साधारण-से-साधारण जन उनको समझ सकें; जो मनीषी हों वे उसके पीछे सूक्ष्म विचारों को भी देख लें। पन्तजी ने 'अशोक वन' में कुछ विपरीत बात की है। उन्होंने सीता के रावण द्वारा हरण और उनके राम द्वारा पुनर्वरण के पीछे दर्शन के सूक्ष्म सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। सीता पृथ्वी की चेतना है। रावण पृथ्वी का अज्ञान है। पृथ्वी का अज्ञान पृथ्वी की चेतना को वशीभूत नहीं कर सकता, क्योंकि पृथ्वी की चेतना का जन्म स्वर्ग की चेतना तक उठने के लिए हुआ है। राम स्वर्गीय चेतना के रूप हैं और अन्त में सीता राम के द्वारा ही स्वीकृत होती हैं। 'अशोक वन' में श्री अरविन्द के दर्शन का एक मूल सिद्धान्त कह दिया गया है। ईश्वरीय चेतना ही जड़ प्रकृति में सोयी रहती है और विकास-क्रम से यही अन्न, प्राण, मन एवं विज्ञानमय कोष का रूप ले सत्-चित्-आनन्द की ओर बढ़ती है।

व्यक्ति के जीवन को लेकर यही विकास 'स्वर्णोदय' में दिखाया गया है। हर-एक मर्त्य-बालक के रूप में वही आदिपुरुष जैसे जन्म लेता है :

गुहा वद्ध चिर स्रोत हो स्खलित
जीवन पथ में हुआ प्रवाहित !
मुक्त अरूप रूप धर सीमित,...
धन्य आज का पुण्य दिवस क्षण,
फिर अमर्त्य ने धरा मर्त्य तन !

और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं को पार कर, यथेष्ट विकास पा, पुनः ईश्वर के रूप में मिल जाता है। पृथ्वी, सृष्टि और प्रकृति में विकास का क्रम चल रहा है; वही आदर्श मानव के जीवन में भी चलना चाहिए। यदि जीवन का यथेष्ट उपयोग किया जाये तो अन्त में मनुष्य का ईश्वर में मिलना स्वाभाविक एवं निश्चित है। उसमें कठिनता भी क्या है। ईश्वर ही मर्त्य रूप में आया था और अन्त में फिर अपने अमर्त्य रूप में मिल गया।

रहे निर्निमिष भौतिक लोचन
प्रभु प्रभु-भक्त गये अभिन्न बन,
मात्र सच्चिदानन्द चिरन्तन !
जय अमर्त्य का मर्त्य पर्यटन !

अन्य रचनाओं में श्री अरविन्द का यही मूल विश्वास अनेक आलम्बनों एवं प्रतीकों द्वारा पुष्ट किया गया है। जैसे सूर्य अथवा पूषण स्वर्गीय चेतना का प्रतीक है, उषा, मन की चेतना का, यमुना, नीली होने के कारण, विश्व की चेतना का, हरीतिमा, प्राण-शक्ति का। रूपकों की बाह्य सुन्दरता से कवित्व की प्रेरणा ली गयी है और उनकी सांकेतिकता से दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट किया गया है।

'उत्तरा' भी मानव के वर्तमान संघर्ष, उसकी अन्तिम विजय और उसके उज्ज्वल भविष्य का गीत है। दोनों रचनाओं में आस्तिकता का घना वातावरण है। यह समस्त सृष्टि भगवान की सृष्टि है और वे उससे बेख़बर नहीं हैं। वे उसके विकास में सचेष्ट हैं। मानव विनाश की ओर नहीं जा रहा है। उसका भविष्य उज्ज्वल है, क्योंकि वह भगवान के हाथ में है। सुन्दर भविष्य का विश्वास जगह-जगह पर कवि की कल्पना को जाग्रत करता है और वह नये-नये स्वप्न बुनकर उसको मूर्ति-

बारह बरस के अन्तराल पर आता है। पूर्ण 'फ़ाउस्ट' के अभिनय में लगभग बारह घण्टे लगते हैं। शाम से खेल शुरू होता है और सारी रात चलता है; तीन-तीन घण्टे बाद आधे-आधे घण्टे के इण्टरवल होते हैं। इसे मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि मैं पूर्ण 'फ़ाउस्ट' का मंचीकरण देख सका! मैं 'फ़ाउस्ट' के अनुवाद को अंग्रेजी में कई बार पढ़ चुका था, इस कारण नाटक को समझने में मुझे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। क्या अभिनय, क्या साज-सज्जा, क्या दृश्य-परिवर्तन, क्या भव्य प्रदर्शन, क्या प्रकाश-व्यवस्था—सब कुछ अद्भुत था। जनता का तीन-तीन घण्टे तक समाधि लगाकर बैठना, न हिलना-डुलना, न चूँ करना (किसी की छींक-खाँस भी मैंने नहीं सुनी) कम अद्भुत नहीं था। एक-एक सीट भरी थी। योरोप का यूनान-युग से लेकर मध्ययुग तक का सारा इतिहास ही रंगमच पर होकर गुज़र गया। कल्पना करना कठिन है कि कितने सौ अभिनेताओं ने इस विराट प्रदर्शन में भाग लिया होगा। और हर इण्टरवल पर और नाटक की समाप्ति पर जनता ने अभिनेताओं के अभिनन्दन में जो तालियाँ बजाईं, जो हर्ष-ध्वनि की, 'हेल-हेल,' जो उत्साह दिखाया वह मेरे अनुभव में न पहले आया था, न बाद को कभी आया। ऐसी जनता के बीच होना उल्लास के समुद्र में स्नान करने जैसा था। धन्य हैं वे लोग जो अपने कलाकारों का सम्मान करते हैं, उनके प्रति कृतज्ञ होते हैं। उनके बीच उच्चकोटि के कलाकार न जन्म लेंगे तो कहाँ लेंगे।

लाइपज़िग से कार से हम लोग वाइमार आए। मैं वाइमार में विशेष प्रभावित हुआ गेटे और शिलर के संग्रहालय और स्मारक देखकर। गेटे अभिजात वर्ग के थे, राज्य-सम्मानित, भव्य भवन में रहनेवाले, भव्य जीवन बितानेवाले। वे जिस घर में रहते थे—महल ही है—उसी में अब उनका संग्रहालय है। उनके जीवन-सृजन से सम्बद्ध छोटी से बड़ी चीज़ें तक संकलित, सुसज्जित, सुव्यवस्थित। एक स्थान पर उन विचित्र पत्थरों का भी संग्रह है जिनसे उनको शौक़ था। कहते हैं गेटे लेटकर नहीं, बैठे-बैठे मरे। वह कुर्सी भी दिखाई गई जिस पर अपनी अन्तिम साँसों से Light, More Light कहते हुए उन्होंने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया था। गेटे और शिलर में घनिष्ठ मित्रता थी और दोनों की वसीयत के अनुसार दोनों के शव लोहे के मुहरबन्द ताबूतों में एक चबूतरे पर अगल-बगल रक्खे हैं।

वाइमार से कुछ ही दूर पर हिटलर ने बुख़ेनवाल्ड कन्सन्ट्रेशन कैम्प बनाया था। प्राकृतिक दृश्य यहाँ का बड़ा ही मनोरम है; धीरे-धीरे उठती ज़मीन आगे चलकर चौरस हो गई है, कुछ दूर पर बनाली आरम्भ होती है, लम्बे, शायद देवदार के, वृक्ष हरी प्राचीर-सी उठाए हुए हैं। प्रकृति और संस्कृति की इस रंगस्थली को हिटलर ने क्यों अमानुषी अत्याचार ढाने के लिए चुना था! बताते हैं, यहाँ दो लाख यहूदी बन्दी थे जिनमें से साठ हज़ार को जान से मार दिया गया था। फाटक पर जर्मन में एक मोटो था जिसका अर्थ अंग्रेज़ी में होता है—to everyman his due—हर व्यक्ति को उसका प्राप्तव्य—और यहाँ के हर व्यक्ति का प्राप्तव्य था, कठिन श्रम, भूख, प्यास, गाली, मार, मृत्यु। बन्दियों को भारी पत्थरों से लदी गाड़ियाँ खींचनी पड़ती थीं, जिनको Singing Cart कहा जाता था। बन्दी खींचते-खींचते गिरते, कोड़े खाते, दम तोड़ देते थे। सामूहिक मृत्यु के गैस चेम्बर थे, सामूहिक फाँसी के हाल थे जिनमें बन्दियों को अपने हाथों से गले में फन्दा डाल झूल जाना पड़ता था, जो झूलने पर भी न मरते थे उन्हें मुँगरियों से पीटा जाता था, फिर मरों-अधमरों को उतारकर बिजली की भट्ठियों में झोंक दिया जाता था, ये भट्ठियाँ आज भी मौजूद हैं और इनके निकट जाने पर

जलते मनुष्य मांस की काल्पनिक चिरायँध से भी उबकाई आने लगती है। जिस दिन बुखेनवाल्ड कैम्प देखने गया था उस दिन मुझसे खाना नहीं खाया गया। गैस पी, गोली खा अथवा फाँसी लगा मर जाना तो निश्चय ही कैम्प का सुखद अनुभव रहा होगा। मनुष्य को दमित, पीड़ित, पराजित, अपमानित करने के जिन क्रूर से क्रूर, पाशविक से पाशविक कृत्यों की कल्पना की जा सके, वे सब वहाँ किए गए थे, कुछ कल्पनातीत भी। उनकी बात सुनकर आदमी हहर उठता है। अगर सभ्यता और संस्कृति में कुछ भी नैतिक बल बाक़ी हो तो उसे देखना चाहिए कि संसार का कोई देश अब कभी फ़ासिस्टी शिकंजे में न आने पाए।

वाइमार से लौटकर मैं फिर ईस्ट बर्लिन आया। वहाँ मिनिस्ट्री आफ़ कल्चर की ओर से मुझे बिदा भोज दिया गया, कुछ साहित्य भी भेंट किया गया, उसमें 1924 में जर्मन में लिखी गांधीजी पर डॉ. ज़ाकिर हुसेन की पुस्तक की फ़ोटो प्रतिलिपि भी थी। उस समय वे डाक्टरेट लेने के लिए बर्लिन में शोध कार्य कर रहे थे। जर्मन में गांधीजी पर लिखी वह प्रथम पुस्तक थी।

लौटते समय एक समस्या खड़ी हो गई। मेरा टिकट फ्रैंकफ़र्ट होकर था और वहाँ के लिए मुझे वेस्ट बर्लिन से जहाज़ पकड़ना था। मुझे ईस्ट बर्लिन से वेस्ट बर्लिन भेजने को कोई तैयार न था, मेरा टिकट बदलवाकर वे मुझे मास्को से भेज सकते थे। एक भारतीय मित्र ने वेस्ट बर्लिन से एक टैक्सी मँगवाई और उसमें बैठकर मैंने हिन्डेनबर्ग गेट पर ईस्ट-वेस्ट बर्लिन के बीच विभाजन रेखा पार की। एक-एक चीज़ की तलाशी दोनों ओर हुई, पर मेरे पास कुछ आपत्ति-जनक न था, सिवा एक दूरबीन के, जो ईस्ट जर्मनी में मुझे भेंट स्वरूप मिली थी। उसे रास्ते में न निकालने की शर्त पर मैं वेस्ट बर्लिन हवाई अड्डे पर भेज दिया गया। 27 मई को वेस्ट बर्लिन से फ्रैंकफ़र्ट और फ्रैंकफ़र्ट से जहाज बदल मैं बेरूत आया और वहाँ 3 दिन वीरेन्द्र पाल सिंह और सत्येन्द्र कुमार 'बीना' का मेहमान रहकर 31 मई को दिल्ली पहुँचा।

दिल्ली में आग बरस रही थी। पर अपना घर अपना ही घर था। तेजी सकुशल थीं, अकेली छोड़कर गया था, पर वे बहादुर हैं। बच्चे दोनों कलकत्ते में थे, पहले ही दिन उनसे ट्रंक पर बात कर ली। जी खुश हो गया। 'जो सुख छज्जू के चौबारे, वह न बलख़ न बुख़ारे।' यह कहावत जब बनी होगी तब बलख़ या बुख़ारा का वैसा ही आकर्षण होगा जैसे आज लन्दन या पेरिस का।

भाषण*

अध्यक्ष महोदय, प्रधान सचिव महोदय, देवियो और सज्जनो!

भारत से आए हुए मेरे लेखक-बन्धुओं को, और मुझे भी, इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि हम आज अपने को तीसरे अफ़्रो-एशियायी लेखक सम्मेलन में पधारे लेखकों और लेखिकाओं के बीच पा रहे हैं। सम्मेलन का आयोजन करनेवाली

---

*तीसरे अफ़्रो-एशियायी लेखक सम्मेलन, बेरूत, में भारतीय लेखक मण्डल के प्रमुख की हैसियत से दिया गया (मार्च, 1967)।

लेबनान समिति के प्रति हम बहुत आभारी हैं कि उसने इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए हमें आमन्त्रित किया, और उसने जिस सद्भावना और सहृदयता के साथ हमारा स्वागत किया तथा हमारी सुख-सुविधा का ध्यान रखा उसके लिए हम विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। हम भारत की विभिन्न भाषाओं के लेखकों की ओर से, तथा अपनी ओर से भी, ऐसे सम्मेलन का आयोजन करने के लिए आपको बधाई देते हैं और इसकी सफलता के लिए शुभकामनाएँ समर्पित करते हैं। ताशकन्द और क़ाहिरा के बाद यह तीसरा सम्मेलन बेरूत में हो रहा है और इतने वर्षों में इसका जो विकास हुआ है, इसका जो रूप निखरा है, इसके जो आदर्श स्पष्ट हुए हैं और भविष्य के लिए यह जो कार्यक्रम बनाने जा रहा है, उस पर विशेष सन्तुष्ट होने का हमारे लिए एक कारण यह भी है कि इस प्रकार के सम्मेलन की कल्पना सबसे पहले भारत के लेखकों के मन में उदय हुई थी और उन्होंने सर्वप्रथम 1956 में नई दिल्ली में एशियायी लेखकों का एक सम्मेलन बुलाया था। जो बीज आज से बारह वर्ष पूर्व बोया गया था अब वह सघन वृक्ष का रूप ले चुका है और भविष्य में उससे प्रचुर फल-फूल, छाया की हमें आशा है।

व्यक्तिगत रूप से मेरी यह मान्यता है कि साहित्य की सीमाएँ नहीं होतीं। किसी भी देश का उच्च कोटि का साहित्य—और उच्च कोटि का साहित्य वह तभी होता है जब वह न्याय, शान्ति, स्वतन्त्रता, सौन्दर्य, मानव-गरिमा और मानव-मानव के बीच समझ-बूझ का पोषक हो—दूसरे देश में उसी प्रकार समादरित होता है या होना चाहिए जैसे अपने देश में। आज की दुनिया के राजनीतिक दबाव की स्थिति में भी मैं लेखकों के ऐसे विश्व सम्मेलन की कल्पना करना चाहता हूँ जिसमें न्याय, नैतिकता और मानव के प्रति आस्था व्यक्त की जा सके। अफ़लातून ने जिस दिन कवि को अपने कल्पित राज्य से निकाल बाहर किया था उसने उस दिन कवि को अपने ही देश की सीमाओं से मुक्त करके मानवता की गोद में डाल दिया था।

फिर भी अफ्रीका-एशिया तक ही सीमित इस सम्मेलन को भी मैं अपना समर्थन देता हूँ, इसकी आवश्यकता समझता हूँ, और इसे न्याय-संगत मानता हूँ।

एशिया और अफ्रीका का पिछली कुछ शताब्दियों में जो इतिहास रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है। उसके अनेक देश लम्बी-लम्बी अवधि तक साम्राज्यवादी शिकंजों में जकड़े रहे हैं, और उसके कारण उनकी भौतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति में जो अवरोध आया है, जो विकृति आई है और वे जिस दीन-हीन भावना के शिकार हुए हैं, वह भी सबको विदित है। यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है कि पिछले बीस-पचीस वर्षों में इनमें से कई देश स्वाधीन हुए हैं, कई स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे हैं और कई स्वाधीन होकर नव-उपनिवेशवाद के जाल में फँसे हुए भी उससे बाहर आने के लिए बेचैन हैं। मैंने अपनी एक कविता में लिखा है,

> जातियाँ जब हैं पतन की ओर जातीं
> कण्ठ-स्वर अपना गँवातीं,
> और जब उत्थान को प्रस्थान करतीं
> तब प्रथम आवाज़ आती।

एशिया और अफ्रीका में जो नवजागरण आया है वह अपनी आवाज़ भी लाया है। यह नई आवाज़ उस नई चेतना का सबूत है जिससे जातियाँ नये जीवन, नई सभ्यता, नई कला, नये साहित्य को जन्म देती हैं। हमें इस नई आवाज़ को

पहचानना है, उसे प्राणवान बनाना है, उसे प्रभावकारी सिद्ध करना है। डर है, ये आवाज़ें कहीं अकेली न पड़ जाएँ, कमज़ोर न पड़ जाएँ, इन्हें दबाने की कोशिश न की जाएँ। इसीलिए इस बात की ज़रूरत है कि हम एक दूसरे को आवाज़ दें, एक दूसरे के साथ अपनी आवाज बुलन्द करें, एक साथ एक नारा उठाएँ जो साम्राज्यवाद के, उपनिवेशवाद के, अन्याय के, शोषण के विरुद्ध हो, और न्याय, नैतिकता, मानव-कल्याण और मानव-गरिमा के पक्ष में हो।

मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि जीवन की सीधी अनुभूतियों और मानव-वेदना और पीड़ा से समुद्भूत, उसके कठिन और सुदृढ़ संघर्ष से पोषित और मानव के उज्ज्वल भविष्य की कामना और आशा से प्रेरित यह अफ्रो-एशियायी साहित्य विश्व का बड़ा स्वस्थ साहित्य होने जा रहा है।

वर्ण-भेद के नाम पर जो अन्याय दक्षिण अफ्रीका में हो रहा है, पुराना साम्राज्यवाद मानव-स्वाधीनता के मार्ग में जो बाधाएँ पुर्तगाली उपनिवेशों में डाल रहा है, नव-उपनिवेशवाद जिस छद्म रूप में फ़िलिस्तीन में प्रवेश कर रहा है, तथा वियतनाम में खुल्लमखुल्ला अत्याचार और पाशविकता का जो नंगा नाच दिखा रहा है—उस सबके विरुद्ध इस साहित्य में आवाज़ें उठ रही हैं। हमें यह देखकर सन्तोष होता है कि अफ्रो-एशियायी लेखकों ने ही नहीं, योरोपीय और अमरीकी प्रगतिशील लेखकों ने भी इनके विरुद्ध आवाज़ें उठाई हैं।

यह प्रसंग के बाहर नहीं होगा यदि हम यहाँ इस बात की चर्चा करें कि वियतनाम के सम्बन्ध में भारतीय लेखकों ने क्या किया है। पिछली नवम्बर में हमने भारतीय लेखकों का एक सम्मेलन बुलाया था जिसमें हमने उनकी ओर से एक घोषणा प्रकाशित की और एक प्रस्ताव पास किया जिसका सार यह था कि वियतनाम में अमरीका का हस्तक्षेप किसी भी प्रकार न्याय-संगत नहीं; और वियतनामी जनता को अपना भविष्य निर्णय करने का पूरा अधिकार होना चाहिए। हमारी घोषणा और प्रस्ताव की प्रतियाँ आप लोगों में वितरित की जा रही हैं। हमारा यह भी विचार है कि दिसम्बर 1967 में विश्व के बुद्धिजीवियों की एक बैठक नई दिल्ली में की जाए और वियतनाम के सम्बन्ध में उनका मत संसार के सामने रखा जाए। यदि हम उसमें सफल हुए तो हमें आप सबके सहयोग की आवश्यकता होगी।

एक बात हमें विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे खतरे केवल बाहर ही नहीं हैं। भीतरी खतरे प्रायः अधिक हानिकर होते हैं और उनकी ओर से हमें पूरी तरह सचेत रहना चाहिए। जो अफ्रो-एशियायी देश स्वाधीन हुए हैं उनके अन्दर भी ऐसे सामन्तवादी और पूँजीवादी वर्ग हैं जो अपने स्वार्थ के लिए अपनी ही जनता को शोषित करने का मौक़ा हाथ से न जाने देंगे। हमें इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि हमारी स्वाधीनता तब तक पूर्ण नहीं होगी जब तक हम अपने निम्नतम वर्ग को वे सारी सुविधाएँ सुलभ नहीं कर देते जिनसे वे सम्मानित नागरिक के रूप में अपने जीवन का विकास कर सकें।

हम विकासोन्मुख देशों के लिए परस्पर सहयोग और शान्ति की बड़ी आवश्यकता है। मैं एक सबसे बड़े ख़तरे की ओर भी आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। सभी अफ्रो-एशियायी देश अपनी शक्ति और सामर्थ्य में समान नहीं हैं, उनके विकास की गति भी समान नहीं है। तुलसीदास ने कहा है, 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।' इसकी भी सम्भावना है कि अफ्रो-एशियायी देशों में कुछ बड़े देश अपने बल पर अथवा साम्राज्यवादी या नव उपनिवेशवादी देशों की शह

पाकर अपने पड़ोसियों को हड़पने का प्रयत्न करने लगें। अफ्रो-एशियायी देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश हैं और उन्हें अपने विकास की बहुत बड़ी मंज़िल पार करनी है। युद्ध उनके सारे विकास को अवरुद्ध कर देगा; इतना ही नहीं, आज युद्ध इतना खर्चीला हो गया है कि किसी लम्बी लड़ाई में फँस जाने पर वे सदियों पीछे चले जायेंगे। एक और बात; हमारे यहाँ कहावत है, मरता क्या न करता। यदि सबल देशों ने निर्बल देशों पर युद्ध थोपा तो वे उन्हीं साम्राज्यवादी शक्तियों के आगे सहायता के लिए हाथ फैलायेंगे जिन्हें उन्होंने दुर्दम संघर्ष करके अपनी भूमि से हटाया है। साम्राज्यवादी शक्तियाँ ऐसे अवसरों का कितना दुरुपयोग करेंगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

भारत ने एक बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के साथ संघर्ष करके अपनी आज़ादी हासिल की। इस संघर्ष में भारत के साहित्यकारों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। टैगोर, इक़बाल, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, वल्लत्तोल, भारती ने जो परम्परा चलाई है वह आज भी जीवित है और लेखकों की इस बड़ी सभा में मैं यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि विश्व में जहाँ कहीं भी अन्याय होगा भारत उसके विरुद्ध अपनी आवाज़ निर्भयता के साथ उठाएगा।

अन्त में, हमें यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि इतने अफ्रो-एशियायी देशों के लेखकों में परस्पर कितना सामंजस्य और विचारों की कितनी समानता और एकता है। हम आशा करते हैं कि यह एकता बनी रहेगी, बढ़ेगी और हम अधिक सक्रिय रूप में एक दूसरे के निकट आएँगे। धन्यवाद।

दीक्षान्त-भाषण*

श्रीमान् सभापतिजी, हिन्दी प्रचार सभा के अधिकारी एवं कार्यकर्त्तागण, उपाधियाँ प्राप्त करनेवाले विद्यार्थी-वर्ग, देवियो और सज्जनो !

आज अपने को आप लोगों के बीच पाकर मैं बड़े गौरव और हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। मैं हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद, के प्रति बहुत आभारी हूँ कि उसने इस दीक्षान्त-समारोह के लिए आमन्त्रित कर मुझे यहाँ उपस्थित होने का अवसर दिया। हैदराबाद की यह संस्था मेरे लिए अपरिचित नहीं है। पिछले प्रायः तीस वर्षों से यह संस्था हिन्दी के प्रचार-प्रसार, भाषा-सम्बन्धी शोध और दक्षिण भारत की साहित्यिक उपलब्धियों से, विशेषकर तेलुगु साहित्य से, हिन्दी भाषियों को परिचित कराने का जो कार्य कर रही है वह किसी से छिपा नहीं है। कुछ समय पूर्व सभा से 'अजन्ता' नाम की एक पत्रिका निकला करती थी जिसे मैं नियमित रूप से पढ़ता था। मेरी कुछ कविताएँ भी एक समय 'अजन्ता' में प्रकाशित हुई थीं। जहाँ तक मेरी स्मृति है, 'अजन्ता' पहली पत्रिका थी जिसमें नियमित रूप से दक्षिण की भाषाओं का साहित्य हिन्दी में अनूदित करके प्रस्तुत किया जाता था। यह प्रवृत्ति इतनी उपादेय, आवश्यक और स्वस्थ थी कि आज हिन्दी की अनेक पत्रिकाएँ दक्षिण भारत की साहित्यिक कृतियों का अनुवाद अपने

*हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद, 11 अक्टूबर, 1964।

पृष्ठों में प्रस्तुत कर रही हैं। 'अजन्ता' तो किसी कारण बन्द हो गई, पर जो दिशा-निर्देश उसने किया था उसका अनुगमन आज उत्तर भारत की बहुत-सी पत्रिकाएँ और प्रकाशन संस्थाएँ कर रही हैं। मेरी बड़ी इच्छा है कि दक्षिण और उत्तर के बीच अपने सेतुबन्धी व्यक्तित्व को लिए हुए 'अजन्ता' फिर से प्रकाश में आये।

सभा का कार्यालय देखने, और उसके क्रिया-कलाप के कुछ निकटता से परिचित होने का एक अवसर मुझे गत वर्ष मिला, जब मैं दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की जयन्ती में भाग लेने के लिए पहले-पहल हैदराबाद आया था। जयन्ती के व्यस्त कार्यक्रम के बीच सभा को अधिक समय तो नहीं दे सका, पर जो कुछ भी मैंने यहाँ देखा उससे मैं सभा के अधिकारियों एवं कार्यकर्त्ताओं की श्रमशीलता, लगन और उत्साह से बहुत प्रभावित हुआ। उसी समय मैं एक इच्छा अपने मन में लेकर गया था कि भविष्य में कभी फिर आकर आपकी संस्था से अधिक घनिष्ठता प्राप्त करूँगा। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि यह अवसर आपकी सहृदयता से इतनी जल्दी आ गया है।

सबसे पहले मैं उन विद्यार्थियों को बधाई देना चाहता हूँ जिन्हें आज के दीक्षान्त समारोह में अपनी परीक्षा में सफलता के प्रमाण-पत्र मिले हैं। किसी भी परीक्षा में सफलता अपने आपमें प्रसन्नता का विषय है। मनुष्य के ज्ञान की परिधि इतनी सीमित और ज्ञान का क्षेत्र इतना विशाल है कि उसे किसी भी दिशा में कुछ बढ़ा लेना सदा ही वांछनीय माना जायगा। आपका हिन्दी-ज्ञान आपके लिए हिन्दी-संसार का प्रवेश द्वार खोल रहा है। स्वयं हिन्दीभाषी और हिन्दी के सृजन-क्षेत्र में यत्किंचित योगदान देने का अभिलाषी होने के कारण मेरे लिए यह शोभन न होगा कि मैं अपने साहित्य का गुण-गान आपके सामने करूँ। फिर भी, मैं समझता हूँ कि मेरा इतना कहना धृष्टता न मानी जाएगी कि हिन्दी का अपना व्यक्तित्व है, अपनी उपलब्धियाँ हैं, अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ हैं, जिनकी पूर्ति करने के लिए आज भी अनेकानेक प्रतिभाएँ प्राणपण से लगी हुई हैं। हिन्दी आपको निराश नहीं करेगी। कम-से-कम हिन्दी आपके अपने साहित्य के वैभव को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक सिद्ध हो सकेगी।

परन्तु हिन्दी-ज्ञान का महत्त्व केवल एक दूसरी भाषा के ज्ञान का महत्त्व मात्र नहीं है। भारत की मनीषा और जन-मानस ने उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया है। उसके द्वारा आप भारत के एक बहुत बड़े समुदाय के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। भाषा की स्वर्ण-शृंखला में दिनानुदिन अधिकाधिक आबद्ध होनेवाले राष्ट्र में आप एक और कड़ी बनकर जुड़ जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि ये कड़ियाँ मजबूत हों, बढ़ती जाएँ और एक दिन ऐसा आए कि इस देश का कोई निवासी अपने को इस स्वर्ण-शृंखला से अलग न पाए। एकता आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है और भविष्य में हमारे अस्तित्व के लिए यह अनिवार्य होगी।

मैं आशा करता हूँ कि व्यवहार, अभ्यास और स्वाध्याय के द्वारा आप अपने हिन्दी-ज्ञान को बढ़ाते रहेंगे। मैं प्रयाग विश्वविद्यालय का स्नातक हूँ जिसका मोटो अथवा आदर्श वाक्य है, 'जितनी जटाएँ उतने पेड़'। यह संकेत उस बट वृक्ष की ओर है जो विश्वविद्यालय का प्रतीक है। मैं चाहता हूँ कि हर हिन्दी ज्ञाता अपने को ऐसे बट वृक्ष की जटा समझे जिसे स्वयं वृक्ष होना है। हर हिन्दी का विद्यार्थी हिन्दी का अध्यापक और प्रचारक बन जाए और यह शृंखला टूटने न

पाए। मैंने कहीं पढ़ा था कि किसी विद्या को सीखने का सबसे अच्छा उपाय है, उसे सिखाते रहना—'विद्यया विद्या'। आप अपने चारों ओर देखेंगे तो पाएँगे कि ऐसे बहुत-से लोग हैं जिन्हें आप अपने ज्ञान से लाभान्वित कर सकते हैं। कम-से-कम आप अपने ज्ञान से ऐसा उदाहरण तो उपस्थित कर ही सकते हैं जो औरों के लिए प्रेरक सिद्ध हो।

अन्त में आपके लिए एक विशेष अवसर की ओर भी मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। हिन्दी का एक क्षेत्रीय रूप है जो किसी अंश में रूढ़ कहा जा सकता है, पर हिन्दी का एक राष्ट्रीय रूप है जो आज अपनी निर्माणावस्था में है। उसे बनाने में केवल हिन्दी भाषियों का हाथ नहीं होगा। उसके लिए हिन्दी-ज्ञाता अहिन्दी भाषी प्रतिभाओं का योगदान भी अपेक्षित है। सृजनशील प्रतिभाओं को हिन्दी की ओर से निमन्त्रण है कि वे अपनी विशिष्ट अनुभूति, विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट चिन्तन-मनन के परिणाम से हिन्दी के भण्डार को भरें। ऐसे अहिन्दी भाषियों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने अपनी लेखनी के वरदान से हिन्दी को समृद्ध किया है। हिन्दी को आज हर क़लम की ज़रूरत है, बशर्ते कि वह कुछ मौलिक, कुछ मूल्यवान, कुछ विशिष्ट, कुछ उपयोगी, कुछ सुरुचिपूर्ण, कुछ आनन्द-वर्धक उसकी झोली में डाल सके। मैं यह विश्वास करना चाहता हूँ कि आपमें ऐसी बहुत-सी प्रतिभाएँ छिपी हैं जो आगे चलकर विकसित होंगी, निखरेंगी।

यदि आपकी सृजनशील प्रतिभा की प्रवृत्ति अपनी भाषा की ओर है तो भी आपका हिन्दी-ज्ञान आपके सृजन को कुछ विशिष्टता ही प्रदान करेगा। हिन्दी के सृजन-क्षेत्र में जो लोग हिन्दी के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान लेकर उतरे हैं उन्होंने, निश्चय ही, अपने लेखन को एक विशिष्टता दी है। जो बात हिन्दी के लिए सत्य है वही अन्य भाषाओं के लिए भी सत्य सिद्ध होगी, इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

अपने मन की बात कहूँ तो मुझे आपसे कुछ ईर्ष्या भी हो रही है। आप जब अपनी भाषा के अतिरिक्त एक और भाषा का ज्ञान रखते हैं, तब मैं केवल अपनी मातृभाषा ही जानता हूँ। इसके कारण मेरे मन में कई हीन भावना बैठ जाए तो अस्वाभाविक नहीं है। मैं जो कुछ अपनी भाषा में बोलूँगा उसे तो आप समझ लेंगे, पर जब आप अपनी भाषा में बोलना आरम्भ करेंगे तब मैं आपका मुँह देखता ही रह जाऊँगा। आपके सामने ऐसी हीन भावना का अनुभव उत्तर भारत के ऐसे बहुत से लोग करेंगे जो केवल हिन्दी ही जानते हैं हीन भावना कोई अच्छी चीज़ नहीं है, और उससे ऊपर उठने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। मुझे विश्वास है कि आप अपने उदाहरण से भारतीयों को प्रेरित कर सकेंगे कि वे दक्षिण की भी एक भाषा सीखें। इसके परिणाम बड़े दूरगामी और उत्तर-दक्षिण दोनों के लिए लाभकारी होंगे, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

एक बार फिर मैं आपको आपकी सफलता पर बधाई देता हूँ और यह कामना करता हूँ कि आपके नये ज्ञान से आपका जीवन-पथ प्रशस्त हो।

जैसा कि आप सबको विदित है, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है और जैसा कि उसने अपने काम से भी सिद्ध कर दिया है, इस सभा का मुख्य कार्य है, हिन्दी-प्रचार। और स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात्, मेरी दृष्टि में, एकता की स्थापना और उसके साधन के रूप में हिन्दी-प्रचार इस देश के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।

भारतवर्ष बड़ा प्राचीन देश है; इसकी सभ्यता हज़ारों बरस पुरानी है, इसका

मान करना चाहता है। मानव खोया हुआ नहीं है; अपने ध्येय की ओर जा रहा है। मानव, अतिमानव और फिर ईश्वर होने की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके पूर्व बहुत-से कल्मष को हटाना होगा, बहुत-सी कल्पना को प्रोज्वलित करना होगा। पर नयी मानवता का आना ठीक उसी प्रकार निश्चित है, जैसे निशा के बाद प्रभात का आना।

पन्तजी का नवीन स्वर इसी आशा, विश्वास, आस्तिकता, चेतना, नव-मानवता और नवानुभूतियों का संगीत है।

पन्तजी सदा से कल्पना के कवि रहे हैं। प्रकृति का संसार, बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्रदान करता हुआ भी, स्थूलता का संसार ही है। मानव प्रवृत्तियों का क्षेत्र भी सीमित ही होता है, और विशेषकर, जब उसे केवल तटस्थ रहकर देखा जाये। परन्तु पन्तजी का आधुनिक क्षेत्र उनकी कल्पना को निर्बाध छोड़ देता है। पता नहीं कितने लोग उनके जीवन-दर्शन से सहमत हो सकेंगे, या यह भी कह सकता हूँ कि सहमत होने की क्षमता या योग्यता रक्खेंगे। पर कविता का द्वार सबके लिए खुला होना चाहिए। मनुष्यता सदा से स्वप्न देखने की आदी रही है। उसे अच्छे स्वप्न देखना भाता है, चाहे वे स्वप्न अन्त में झूठे ही क्यों न साबित हों। पन्तजी की स्वप्नमयी कल्पना ऐसे तमाम लोगों के लिए आमन्त्रण है। यदि वे अपने सबल पंखों पर बिठलाकर लोगों को दर्शन की ऊँची चोटियों पर ला खड़ा करें, तो इससे किसको एतराज़ हो सकता है? काव्य के निमन्त्रण पर अधिक लोगों के आने की सम्भावना है; दर्शन सीखने के लिए यदि किसी को बुलाया जाय तो वह अपना जी ही छुड़ाना चाहेगा। मेरी कामना है कि पन्तजी के स्वर अपने सौन्दर्य और कवित्व के बल पर अधिक-से-अधिक लोगों को अपने समीप खींच सकें और उनके जीवन-दर्शन का बोध पाठकों को उसी प्रकार हो जाय जैसे कोई स्वादिष्ट औषधि खाते-खाते स्वास्थ्य-लाभ कर ले।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त : एक संस्मरण*

अपनी पीढ़ी के साहित्यकारों में मैं जिसके सबसे अधिक निकट सम्पर्क में आया वह कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त हैं, और इस सम्पर्क का श्रीगणेश आज से लगभग चालीस वर्ष पहले हुआ।

पन्तजी का जन्म सन् 1900 में कौसानी में हुआ।

मेरा जन्म सन् 1907 में इलाहाबाद में हुआ।

पन्तजी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा कौसानी और अल्मोड़ा में लेकर तथा स्कूल लीविंग या मैट्रिकुलेशन की परीक्षा बनारस से देकर सन् 1919 में इलाहाबाद आये। म्योर कॉलेज में वे भरती हुए और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। उनके 'वीणा' (1927) नामक काव्य-संग्रह में 1920 की लिखी एक कविता अपने कमरे पर भी है :

इस विस्तृत-हौस्टल में
मैं सुनती हूँ

* पन्तजी की 60वीं वर्षगाँठ पर उन्हें भेंट किये जानेवाले 'स्मृति-चित्र' के लिए लिखित।

इतिहास अतीत में इतने गहरे चला गया है कि वह आदिम दन्त-कथाओं के सूत्रों से उलझ गया है। इस देश की समय-सिद्ध मनीषा, इसका जन मानस जब कोई निर्णय लेता है तब उसके पीछे सदियों के अनुभव का ज्ञात-अज्ञात बल होता है, और व्यक्ति अथवा किसी सीमित समाज या दल के रूप में, किन्हीं सामयिक, सतही और स्वार्थपूर्ण कारणों से हमें उस निर्णय के साथ खिलवाड़ नहीं करना चाहिए। यह महादेश एक भाषा के स्वर्ण-सूत्र में आबद्ध हो, यह उसी महामनीषा का निर्णय है। यह निर्णय किसी विधान-संविधान सभा में नहीं हुआ। संविधान सभा के अस्तित्व में आने के बहुत पहले, उससे कहीं अधिक सुदृढ़ और व्यापक संस्था में यह निर्णय हो चुका है और उसी के अनुसार कार्य हो रहा है। भारत की मनीषा ठीक दिशा में जा रही है, और हम और आप जो किसी न किसी रूप में इस कार्य को अपना यत्किंचित सहयोग दे रहे हैं, उसी महामनीषा के इंगित पर चल रहे हैं, यहाँ तक कि जो किसी अंश में इसका विरोध कर रहे हैं, वे भी इसकी प्रगति में सहायक ही हो रहे हैं।

हिन्दी को सचेत रूप में जब से अपने दायित्व का बोध हुआ है, जब से वह अपने लक्ष्य की ओर सजग होकर बढ़ी है, तब से अभी अधिक समय नहीं हुआ। यह अवधि सौ बरसों से भी कम है। और इतने अल्प काल में सृजन और प्रचार दोनों दिशाओं में हिन्दी में जितना कार्य हुआ है वह केवल एक शब्द से व्यक्त किया जा सकता है कि वह 'चमत्कारी' है। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि इसके पीछे कोई ऐतिहासिक कारण न होते तो यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता था।

मैं कभी-कभी कहा करता हूँ कि विविधता का दूसरा नाम भारतवर्ष है। और इस विविधता को सँभालनेवाली शक्ति की आवश्यकता सदा से रही है और सदा रहेगी। किसी समय तो हमारी भौगोलिक स्थिति ही इस विविधता को सँभालने में समर्थ थी; कभी धर्म, कभी दर्शन, कभी संस्कृति और कभी शासन ने इस विविधता को सँभालने का दायित्व लिया। और इस प्रकार अपनी सत्ता और एकता बनाए हुए हम इतिहास के एक बड़े दौर से गुजर गए हैं। बीसवीं सदी के मध्य में स्वाधीनता प्राप्त करके भारत जिस संसार में खड़ा है उसकी एक तस्वीर अपनी आँखों के सामने रखे बगैर हम अपनी आवश्यकता का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते।

यह आज किसी से भी छिपा नहीं है कि आधुनिक संसार की मूल प्रवृत्ति संघर्ष और प्रतियोगिता है। इस संघर्ष और प्रतियोगिता में विजयी और सफल होने के लिए सबसे पहली और सबसे बड़ी आवश्यकता है संगठन और एकता की। अनेक दिशाओं में हमारी विविधता, इस एकता और संगठन के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। हमारी बहुत-सी विविधता हमारी सत्ता की अंग बन गई है और उसे मिटाकर हम स्वयं अपने मिटने का ख़तरा उठाएँगे। पर साथ ही हमारी कुछ विविधता ऐसी है, जिसे यदि हम प्रश्रय देते रहें तो हम विशृंखल ही नहीं हो जाएँगे, आज के युग के संघर्ष और प्रतियोगिता के लिए अयोग्य भी साबित होंगे। हमारे विशाल देश की भाषाओं की विविधता ने हमें एक दूसरे से जितना अलग, और अपने-अपने क्षेत्र में जितना आबद्ध और संकुचित किया है उतना किसी और ने नहीं। इसलिए भारत की अभिनव मनीषा ने एक ऐसी भाषा का स्वप्न देखा है जो हम सबको जोड़ने का एक सशक्त माध्यम बन सके। वह तो अपना काम कर ही रही है, पर हम उसके ध्येय की ओर सचेत हो जाएँ तो हम उसे अपना अधिक सक्रिय सहयोग दे सकेंगे। मेरे मन की यह दृढ़ धारणा है कि यदि भारत को एक

रहना है तो उसे एक भाषा के स्वर्ण-सूत्र में बँधना होगा और उस भाषा का निर्णय हो चुका है।

राष्ट्र भाषा का व्यापक प्रचार होने पर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रान्तीय भाषाओं के साथ उसके सहयोग का क्या रूप होगा, इसकी कल्पना करना इस समय कठिन है। यह इस बात पर निर्भर होगा कि आप राष्ट्र भाषा को क्या रूप देते हैं। मैं फिर दुहरा देना चाहता हूँ कि हमारी राष्ट्रभाषा निर्माणावस्था में है और इस देश की चौदह प्रमुख भाषाओं के जीवन्त सहयोग से उसका कैसा रूप बनेगा, इसे बता सकना मेरे सामर्थ्य के बाहर है। राष्ट्र भाषा के सम्पर्क का प्रभाव प्रान्तीय भाषाओं पर भी पड़ेगा इसमें भी मुझे सन्देह नहीं है।

वास्तव में भारत की मनीषा एक बड़ा भारी प्रयोग कर रही है। कभी-कभी इस प्रयोग पर मेरी आँखों के सामने एक चित्र आता है कि चौदह नदियाँ एक बड़ी भारी झील में अपना जल उँडेल रही हैं और वह झील उमड़कर चौदह नदियों में अपना जल प्रवाहित कर रही है। रूपक किसी भी वास्तविक स्थिति को ठीक व्यक्त नहीं करते। जल की समानता, सम्भव है, किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न कर दे, पर भाषा की नदियाँ और झील अपना-अपना अस्तित्व अलग रखती हुई भी बहुत कुछ एकता और समानता प्रतिबिम्बित कर सकती हैं। राष्ट्र भाषा के सम्बन्ध में सोचते हुए मैं सबसे एक व्यापक और उदार दृष्टि की माँग करता हूँ।

राष्ट्र भाषा के प्रचार की चर्चा करते समय प्रायः सरकारी सहायता आदि की चर्चा की जाती है। शासन-तन्त्र आज निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण और सशक्त है। पर प्रजातन्त्र में प्रजा और तन्त्र अर्थात् शासन के बीच किसी दीवार की कल्पना मैं नहीं कर सकता। जो प्रजा चाहेगी वह अपने तन्त्र से करा लेगी और भारत की प्रजा वही चाहेगी जो भारत के व्यापक हित में हो। हमें प्रजा के मानस को स्वस्थ और उसकी दृष्टि को स्पष्ट रखना है।

राष्ट्र भाषा के प्रचार के मार्ग में बाधाओं की ओर ध्यान देते हुए प्रायः लोगों की दृष्टि अंग्रेज़ी पर जाती है। ऐतिहासिक कारणों से वह हमारे निकट आ गई है और ऐतिहासिक कारण ही उसे हमसे दूर कर देंगे। मैं लकीरों को मिटाने के पक्ष में नहीं; मैं उनके सामने बड़ी लकीरें खींचना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि बड़ी लकीरें खींचना आसान नहीं। यही हमारे देश की चौदह भाषाओं को चुनौती है। अंग्रेज़ी जो काम हमारे लिए करती है, क्या वह हम अपनी भाषा के माध्यम से नहीं कर सकते? मेरा दावा है कि कर सकते हैं। फिर भी अंग्रेज़ी के कुछ विशिष्ट क्षेत्र रह सकते हैं और उसमें अंग्रेज़ी के बने रहने से, उपयोगिता की दृष्टि से, हमारा कुछ लाभ ही होगा। हमारे भाषा-वृक्ष पर वह आकाशवेलि बनकर उसका प्राण-रस नहीं चूस सकेगी—हाँ, खाद बनकर वह उसकी जड़ों को कुछ पोषक तत्त्व देती रह सकती है।

स्वाधीन होकर हमने नवयुग में क़दम रक्खा है। स्वाधीनता पूर्वाग्रहों को सेने के लिए नहीं है। वह भविष्य के स्वप्न देखने, उन्हें साकार करने के लिए, श्रम करने के लिए है। राष्ट्रभाषा द्वारा भारत की एकता भी एक बड़ा स्वप्न है। आइए, आप और हम मिलकर इस स्वप्न को साकार करने के लिए जो कुछ भी कर सकते हैं, उठा न रक्खें। आपके चिन्तन-मनन, लेखन, पठन-पाठन, श्रम, सद्-भावना—सभी का उपयोग है, सभी का महत्त्व है। आइए, हम वैदिक ऋषियों की इस प्रार्थना को दुहराएँ—संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्

अर्थात् हम साथ चलें, साथ बोलें, साथ सोचें, यानी मनसा, वाचा, कर्मणा एक हों। धन्यवाद।

चीनी आक्रमण*

आवाहन

साम्यवादी चीन ने शान्ति प्रिय देश भारत पर आक्रमण करके सारी अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादा और मौलिकता को कुचल दिया है।

यह देखकर भारत ही नहीं, आज सारा संसार स्तब्ध है।

कोई भी स्वाभिमानी देश ऐसे बेशर्म और वहशियाना हमले के सामने सिर नहीं झुका सकता। लगता है चीन एक ही भाषा समझेगा, और वह होगी, सबल हाथों की क़रारी चोट की।

साफ़ ही देश आज रन चढ़ा है।

और इस रण में बन्दूक़ों को ही नहीं, क़लम को भी लड़ना है।

हमारा क़लम का मोर्चा मज़बूत होना चाहिए; आज हमें सारे मज़बूत क़लमों की ज़रूरत है।

भारत को अगर जीना है तो अब वह सपना नहीं देख सकता, सो नहीं सकता; नग्न सत्य सामने खड़ा उसे घूर रहा है। अब उसे केवल सजग प्रहरी बनकर जीना होगा। तभी हमारी भारतीय संस्कृति, सभ्यता, जीवन-पद्धति की रक्षा हो सकेगी। इन्हें खोकर भारत भारत न रहेगा। भारतीयता खोकर भारत के जीने से तो अच्छा है कि वह भारतीयता की रक्षा में अपने प्राणों की बलि चढ़ा दे!

हाथों का बल तो हमें सँजोना होगा ही, पर मनोबल भी कम ज़रूरी नहीं। हर कलाकार, कवि, लेखक का धर्म है कि इस समय देश का मनोबल वज्र-सा दृढ़ बनाने में कुछ भी उठा न रक्खे।

आग और राग जब साथ चलते हैं तब उनकी प्रगति को कोई शक्ति रोक नहीं सकती।

देश के जवानो, आग उगलो!
देश की ज़बानो, राग उठाओ!
विजय तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ी है।
जय हिन्द!

हमारी प्रतिज्ञा

पिछले वर्ष चीन ने हमारे देश पर, अकारण, पूरे दल-बल के साथ आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप हमारे बहुत-से सैनिक मारे गए और हमारे देश के एक बड़े भू-भाग पर चीनियों ने अधिकार जमा लिया। हमारी भूमि, हमारी सैन्य सम्पत्ति और हमारे सैनिकों की जो हानि हुई सो तो हुई ही; हमारी सबसे बड़ी

*आकाशवाणी, नयी दिल्ली, से प्रसारित।

हानि हुई मान की। हमें स्वप्न में भी इस बात की आशंका नहीं थी कि हमें भाई कहनेवाला, संसार में हमारा जाना-माना मित्र-देश हमारी पीठ में इस प्रकार छुरा भोंक देगा। हम इस आक्रमण के लिए तैयार न थे, और परिणाम जो होना था वही हुआ। हमने आधुनिक कूटनीति का एक बहुत बड़ा सबक़ सीखा कि शत्रु तो शत्रु, हमें मित्र की ओर से भी बिल्कुल बेख़बर नहीं रहना चाहिए। आज़ाद मुल्क को अपनी आज़ादी की रक्षा करने के लिए हर तरह से, और हर तरफ़ से, और हर वक्त तैयार रहना चाहिए।

हमारी जितनी हानि करना चीनियों का लक्ष्य था उतनी करके फ़िलहाल वे रुक गए हैं। हमारे जो सैनिक मारे गए, हमारी जो सैन्य-सम्पत्ति नष्ट हुई उसे हम फिर वापस नहीं पा सकेंगे, पर भूमि हमारी है, वह सदा हमारी रहेगी, और कोई भी आक्रमणकारी कितने ही बल के प्रदर्शन से उस पर अवैध अधिकार नहीं किए रह सकता। तर्क से, न्याय से, आपसी समझौते से, विश्व-सम्मति के दबाव से, विश्व की निष्पक्ष शक्तियों के बीच-बचाव से यदि आक्रमणकारी हमारी भूमि से नहीं हटता तो बल प्रयोग से भी उसे अपनी भूमि से हटाने का हमें पूरा अधिकार है और अवसर आने पर हम उसे हटाएँगे भी, यह हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है। हमारी सरकार की ओर से जो आपत्कालीन स्थिति अब भी मानी गई है उसका यही अर्थ है कि चीनी आक्रमण ने जो स्थिति हमारे लिए उत्पन्न कर दी थी उससे हमने समझौता नहीं किया और हम उसका निराकरण करने में लगे हुए हैं।

हमारी सरकार—जैसा कि शान्तिप्रिय राष्ट्र और जाति के अनुरूप है—शान्ति के उपाय खोजती हुई भी अपनी सैन्य-शक्ति सुदृढ़ कर रही है और इस कार्य में उसे पूरे राष्ट्र के सहयोग और पूरी जाति से सहायता की प्रत्याशा है। और, जब तक चीनी आक्रमण से उत्पन्न स्थिति का पूरी तरह से निराकरण नहीं हो जाता तब तक यह सहयोग और यह सहायता बराबर मिलनी चाहिए। अगर चीन से हमारा सैन्य-संघर्ष हुआ तो वह आपत्कालीन नहीं होगा, इस ओर हमारे नेता बराबर संकेत करते रहे हैं और हमें उसका अर्थ समझना चाहिए। इसके लिए पूरे राष्ट्र को कष्ट-सहिष्णु बनाना पड़ेगा; त्याग-बलिदान करना पड़ेगा; दृढ़ता दिखानी होगी और धीरज तथा आत्म-विश्वास से काम लेना होगा, और लम्बी अवधि तक

आक्रमण इस देश के लिए कोई नई चीज़ नहीं है। आक्रमणकारी के सामने सिर झुकाकर बैठनेवाला यह देश भी नहीं है। आधुनिक युग में भी, संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति का, केवल अहिंसा से सामना करके, इसने आज़ादी ली है। हमने आज़ादी ली है तो हम उसकी रक्षा भी करेंगे। पर हमें एक बात समझ लेनी चाहिए कि पिछले आक्रमणों में और आज के आक्रमणों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। आज आक्रमण किसी राजा अथवा सेनापति की सनक से नहीं होते; उनके पीछे पूरी जाति का बल-निर्णय होता है और इसलिए उनका सामना करने के लिए भी पूरे देश की शक्ति चाहिए। इतिहास में शायद पहली बार हम पर ऐसा आक्रमण हुआ है और शायद पहली बार हमारे पूरे राष्ट्र ने इसकी गम्भीरता समझी है। चीनी आक्रमण के समय सारे देश में विरोध, विक्षोभ और आक्रोश का जो स्वर सुनाई पड़ा वह इसका संकेत है कि भारत नये युग के उत्तरदायित्व को भी समझने में पीछे नहीं है।

पर सामयिक जोश-ओ-ख़रोश और स्थायी लगन और दृढ़ता का अन्तर हमारी जैसी अनुभवी और प्राचीन जाति को ज्ञात होना चाहिए। चीनी आक्रमण

की जो प्रतिक्रिया सारे देश में हुई थी वह तो संकेत मात्र थी। हमें विचार करना है उसके सृजनात्मक पक्ष पर। देश किसी भी ऐसी आकस्मिक स्थिति के लिए अपने को सदा तैयार पाए, इसके लिए हमें क्या करना है? सैन्य-बल तो हमें चाहिए ही, पर उसके पीछे चाहिए सभी क्षेत्रों में जनता का सहयोग।

आज के युद्ध में सेना का बल औद्योगिक प्रगति और उत्पादन पर निर्भर करता है। इसी कारण आपत्कालीन स्थिति में भी हमने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं में ढील नहीं दी। साथ ही कृषि की उन्नति की ओर भी बराबर ध्यान देना है। युद्ध हो अथवा शान्ति भूखी जनता से किसी प्रकार का काम लेना कठिन है। आज लड़ाई सिर्फ़ सिपाहियों की नहीं रह गई। जो कारख़ानों में मुस्तैदी से काम करता है, खेत में अधिक अन्न उत्पन्न करता है वह भी उतने ही महत्त्व का काम करता है जितने महत्त्व का मोर्चे पर डटा हुआ जवान।

ये तो भौतिक साधन हुए, जिनकी ज़रूरत ज़ाहिर है। पर हमारे लिए इनसे भी बड़ी ज़रूरत की चीज़ है जनता का मनोबल। हम यह तो जानें कि हम किस-लिए अपने देश की, अपनी आज़ादी की रक्षा कर रहे हैं। हमारे सामने एक बड़ा आदर्श है, हमने उसी आदर्श को जीवन में मूर्तिमान करने के लिए आज़ादी की लड़ाई लड़ी है। वह है, समाज की स्वतन्त्रता के साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता, जिसे मोटे तौर से प्रजातन्त्र कहा जाता है। प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को इकाई माना जाता है, प्रत्येक व्यक्ति को विकास के अवसर दिए जाते हैं, प्रत्येक व्यक्ति को विचार की स्वतन्त्रता दी जाती है। स्वतन्त्रता अधिकार भी है, दायित्व भी। यही कारण है कि जब समाज पर मुसीबत आती है तब प्रत्येक व्यक्ति अपना सब कुछ स्वेच्छया समर्पित कर उसकी रक्षा करता है, क्योंकि उसी व्यवस्था में उसे अपने में निहित सारी सम्भावनाओं को विकसित करने का पूरा अवसर मिलता है।

परन्तु व्यक्ति का हित स्वार्थ न बन जाए, दूसरे के हित में आड़े न आए, इसलिए हमने दूसरा आदर्श बनाया है समाजवादी समाज का। हमारा आदर्श है कि हम समाजवादी समाज की स्थापना करेंगे, परन्तु प्रजातन्त्र के तरीकों से। यह बहुत कठिन काम है। पर हमारे जैसा बड़ा देश इस काम को न उठाएगा, यह प्रयोग न आरम्भ करेगा तो कौन करेगा। समाजवाद को किसी-न-किसी रूप में सारे संसार को स्वीकार करना है। हमारी मान्यता है कि प्रजातन्त्री तरीकों से इसे लाना ही शिष्ट, मानवीय और सुसंस्कृत है। हमें कभी भी यह मंजूर न होगा कि हमारे प्रयोग में कोई भी शक्ति बाधा पहुँचाए।

हम प्रतिदिन यह प्रतिज्ञा अपने मन में दुहराएँ कि हम अपने देश को आज़ाद रक्खेंगे। उसमें सच्चे प्रजातन्त्र की स्थापना करेंगे। उसे प्रजातन्त्री तरीकों से समाजवाद की ओर ले जाएँगे। और जो भी हमारे प्रयोग में बाधा उपस्थित करना चाहेगा उसका सामना करेंगे।

झण्डे का गीत फिर क्यों?*

कई दिनों से रेडियो पर दिन में कम-से-कम दो या तीन बार एक नये प्रकार का कार्यक्रम सुन रहा हूँ। इसके द्वारा लोगों को एक गीत सिखाया जाता है, उसकी

*जनवरी, 1972

लय बताई जाती है, उसे कई लोगों से एक साथ गवाया जाता है; फिर आदेश दिया जाता है कि 26 जनवरी को जब राष्ट्रपति झण्डा फहराएँ तो यह गीत हम, आप और जो भी जहाँ हो हर व्यक्ति उसे गाए। हम लोग जो साठ-पैंसठ की उम्र पार कर गए हैं, उनके लिए यह गीत नया नहीं है। यह झण्डे का गीत है जिसकी स्थायी की पंक्तियाँ हैं,

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा,
झण्डा ऊँचा रहे हमारा !

हमारी स्मृतियों में है कि यह गीत 1930 के नमक-सत्याग्रह आन्दोलन के दिनों में प्रचलित हुआ और प्रभात-फेरियों, जलूसों, सभाओं और झण्डा फहराने के अवसरों पर सामूहिक गान के रूप में अगणित बार गाया गया। गीत के शब्द सरल थे, धुन सहज थी, सामूहिक गान के लिए बिल्कुल उपयुक्त; और अपढ़ जनता से लेकर पढ़े-लिखे लोग तक इसे आसानी से गा सकते थे। शायद झण्डे के गीत के रूप में कांग्रेस द्वारा इसके स्वीकार करने में मात्र यही एक आधार था। क्योंकि गीत में न तो साहित्यिक सौन्दर्य था, न भाषा की शुद्धता थी और न अर्थ की सुस्पष्टता। इसे मैं ज़रा आगे स्पष्ट करूँगा। गीत को स्वीकार करते समय मैं तो नहीं समझता कि इसके अर्थ अथवा सौन्दर्य अथवा इसकी भाषा-शुद्धता पर तनिक भी ध्यान दिया गया। राजनीतिक आन्दोलनों में प्रायः वही चीजें सफल समझी जाती हैं जो चल पड़ती हैं। 'चलती का नाम गाड़ी' मुहावरे से आप परिचित होंगे। राजनीतिक क्षेत्र में इसके अनेक उदाहरण आप देख सकते हैं।

जैसा कि आन्दोलनों के गानों और नारों के साथ प्रायः होता है कि उनके दबने के साथ ये गाने और नारे भी दब जाते या भुला दिये जाते हैं, नमक-सत्याग्रह आन्दोलन के ठण्डे पड़ने के साथ ही झण्डे का गीत ठण्डा पड़ गया और लोगों ने उसे भुला दिया। सन् '42 का आन्दोलन प्रदर्शनकारी आन्दोलन था ही नहीं; न उसमें प्रभात फेरियाँ चलीं, न जलूस निकले, न जलसे हुए और न ही झण्डे का गीत उभरा और न इसके लिए किसी को अफ़सोस हुआ।

स्वतन्त्रता मिलने के बाद सन् 1948 में जब संविधान बनने लगा और देश के लिए झण्डे और राष्ट्रगीत बनाने की बात चली तब एक बार 'बन्दे मातरम्' के साथ उपर्युक्त झण्डे के गीत ने भी विस्मृति के अन्धकार से अपना सिर ऊपर उठाया, लेकिन बड़ी जल्दी उसे दबा दिया गया, क्योंकि इस बीच आज़ाद हिन्द फ़ौज ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर रचित गीत 'जन गण मन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता' को राष्ट्रगीत एवं झण्डे के गीत के रूप में स्वीकार कर लिया था; और स्वाधीन भारत की सरकार ने, नेहरू जी के परामर्श से, इसी गीत को राष्ट्रगीत के रूप में प्रतिष्ठित किया, और तब से आज 25 वर्षों तक जब-जब झण्डा फहराया गया यही गीत झण्डा अभिवादन के रूप में गाया जाता रहा, और उपर्युक्त झण्डे के गीत, 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा', का किसी ने नाम भी नहीं लिया, और यह कहना तो अनावश्यक है कि नई पीढ़ी तो झण्डे के इस गीत से परिचित भी नहीं है।

पता नहीं यह किसके दिमाग़ की सूझ है कि इस वर्ष जब हम अपनी आज़ादी की रजत-जयन्ती मनाने जा रहे हैं, तब प्रचार के समस्त सरकारी साधनों से लोगों को यह आदेश दिया जा रहा है कि जब राष्ट्रपति गणतन्त्र दिवस पर झण्डा फहराएँ तब 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' सामूहिक रूप से गाया जाये—प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा, प्रत्येक स्थान से।

मुझे याद आता है कि 1948 में जब संविधान सभा में झण्डे के गीत का प्रश्न उठा था उस समय मैंने एक लेख लिखकर 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' के राष्ट्रगीत बनाये जाने के किसी-किसी दिशा से उठे सुझाव का विरोध किया था। वह लेख प्रयाग के 'संगम' नामक साप्ताहिक में 13 दिसम्बर, 1948 के अंक में छपा था और मेरे निबन्ध-संग्रह 'नये-पुराने झरोखे' में संगृहीत है। विरोध करने का मेरा मूल कारण यह था कि गीत मौलिक नहीं था। यह गीत जिस गीत के अनुकरण पर लिखा गया था वह ब्रिटिश झण्डे 'यूनियन जैक' की प्रशंसा में लिखा गया था और यह फ़रवरी 1925 की 'सरस्वती' में 'सत्कविदास' के छद्मनाम से प्रकाशित भी हुआ था। आप सरस्वती की फ़ाइलें कहाँ उलटने जाएँगे, इसलिए उसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ,—

संहति मूर्ति, तिरंगा प्यारा,
झण्डा ऊँचा रहे हमारा,
उसकी छवि दर्शानेवाला,
स्वजनों को हर्षानेवाला,
उस झंडे की छाया में अब
चलो साथ ही बोलें हम सब,
क़ैसर हिन्द प्रजा के प्यारे,
रहें सुखी सम्राट हमारे।

मुझे विश्वास था कि इस गीत के मूल में 'यूनियन जैक' (संहतिमूर्ति) और साम्राज्यशाही को देखकर लोग शायद ही इसे राष्ट्रीय झण्डे के गीत के रूप में स्वीकार करने को तैयार हों। इस कारण 25 वर्ष बाद जब उपर्युक्त गीत ने फिर सिर उठाया है तो मुझे बड़ा क्षोभ हुआ और आश्चर्य भी।

प्रसंगवश, एक गौण प्रश्न मेरे मन में उठा है, तो सोचता हूँ आपके सामने भी रख दूँ। यह 'सत्कविदास' कौन थे ? क्या यह वही व्यक्ति तो नहीं थे जिन्होंने 'कविकिंकर' नाम से छायावाद के विरुद्ध 'सरस्वती' में लेख लिखा था ? 'कवि-किंकर' कौन थे, यह हिन्दी साहित्य-संसार में जानी-मानी बात है। आशा है, दोनों छद्मनामों के अर्थ साम्य से ऐसी कल्पना करना मेरी धृष्टता न समझी जायगी। शायद कभी कोई खोजी इसका ठीक पता लगाए। प्रश्न इस सन्दर्भ में गौण था, और इसको यहीं छोड़ देना चाहिए। मैं अपनी मूल बात पर आऊँ।

हाँ, तो उपर्युक्त गीत—विजयी विश्व''' कई पदों में था, जिसमें आज़ादी के लिए संघर्ष करने की प्रतिज्ञाएँ की गई थीं, जो आज़ादी मिलने के बाद अब निरर्थक मालूम होती हैं। झण्डे के गीत को पुनर्जीवन देनेवालों ने कम-से-कम यह तो सूझ-बूझ की बात की है कि उन पदों को छोड़ दिया है। वे चाहते हैं कि उसका पहला और आखिरी पद ही गाया जाए, परन्तु इस रूप में झण्डे के इस गीत का विरोध मैं आज भी करना चाहूँगा और अपनी क़लम की पूरी ताक़त से।

जो दो पद गाने का आदेश दिया जा रहा है उनमें भी अन्तिम पद में एक परिवर्तन कर दिया गया है; पहले का पद, जो मेरी स्मृति में अब भी मौजूद है, यों था—

इसकी शान न जाने पाए,
चाहे जान भले ही जाए,

विश्व विजय करके दिखलाए,
तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।

अब इस पद को यों कर दिया गया है,—

इसकी शान न जाने पाए,
चाहे जान भले ही जाए,
सत्य कि विजये करके दिखाए,
तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।

मैं सोचने का प्रयत्न करता हूँ कि दूसरे पद की तीसरी पंक्ति में यह परिवर्तन क्यों किया गया? शायद इसलिए कि 'विश्व विजय करके दिखलाए' में वह फ़ासिस्ती और साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा स्पष्ट है, जिसे हमारा गणतन्त्र कभी नहीं स्वीकार कर सकता।

सन्' 30 के आन्दोलन के दिनों में शायद ही किसी का ध्यान इस ओर गया हो। गीत से एक सामूहिक स्वरैक्य उत्पन्न होता था और आन्दोलन के लिए उतना ही पर्याप्त समझा जाता था। पर गीत अपनी फ़ासिस्ती प्रवृत्ति के कारण उस समय भी ख़तरनाक था—भले ही उसके अर्थ पर उस समय किसी ने ध्यान न दिया हो—हम स्वयं गुलाम थे, विश्व किस बल-बूते पर विजय करने का ख़्वाब देखते! और इन दो पंक्तियों के बदल देने से ही झण्डे के इस गीत की फ़ासिस्ती प्रवृत्ति का निराकरण नहीं हो पाया है; पहली ही दो पंक्तियाँ देखिए—

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा,
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।

'विजयी विश्व' का अर्थ क्या यही नहीं है कि 'विश्व विजयी?' और 'विश्व विजयी' क्या फ़ासिस्ती प्रवृत्ति का द्योतक नहीं है? 'विश्व विजयी' का कोई और अर्थ हो तो मैं जानना चाहूँगा।

साथ ही मैं यह भी कहना चाहूँगा कि जिसने गीत में परिवर्तन किया है उसे न तो लय का ज्ञान है, न मात्रा का और न भाषा की शुद्धता का, संगीत का ज्ञान उसे भले ही हो; और उसने संगीत की लय में खींच-तानकर अपने परिवर्तनों को बिठला दिया है। उसे जानना चाहिए कि 'कि' और 'की' का एक ही अर्थ नहीं है; जहाँ 'की' लिखना हो वहाँ 'कि' नहीं लिखते। 'विजय' को संगीत की माँग पूरा करने के लिए 'विजये' उच्चारण करना गँवरपन है। 'होवे' तो पहले की पंक्ति में भी था, पर अब वह अशुद्ध प्रयोग माना जाता है; उसकी जगह अब हम 'हो' लिखते हैं। मुझे नहीं मालूम कि किसने खड़ी बोली पद्य-रचना के साथ इस प्रकार स्वतन्त्रता लेने का दुःसाहस किया है।

अन्त में ज़ोरदार शब्दों में मैं यह कहना चाहूँगा कि हमारे राष्ट्र-ध्वज के साथ झण्डे के इस गीत को जोड़ना—भले ही वह उसके परिवर्तित रूप में क्यों न हो—सर्वथा अनावश्यक, अनुचित और अन्यायपूर्ण है।

एक प्रश्न और भी उठता है कि किसी के भी गीत में क्या सरकार कोई परिवर्तन कर सकती है? अगर सरकार ने मूल लेखक से गीत में परिवर्तन करने की अनुमति ले रक्खी है, और वह उसकी पुरानी धुन को जीवित रखना चाहती है—निश्चय ही वह लोकप्रिय धुन है—तो उस गीत में कुछ और परिवर्तन करने होंगे। गीत के ढाँचे में कम-से-कम परिवर्तन करके मैं उसका एक दूसरा रूप प्रस्तुत कर रहा हूँ। इस विषय में रुचि रखनेवालों की प्रतिक्रिया जानना चाहूँगा।

अविजित नित्य तिरंगा प्यारा,
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।

सदा शक्ति दर्शानेवाला,
शान्ति सुधा बरसाने वाला,
वीरों को हर्षानेवाला,

भारत का तन, मन, धन सारा।
अविजित नित्य तिरंगा प्यारा,
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।

शान न इसकी जाने पाए,
चाहे जान भले ही जाए,
सत्य सिद्ध कर हम दिखलाएँ,

'सत्यमेव जयते' का नारा।
अविजित नित्य तिरंगा प्यारा,
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।

मैंने जो परिवर्तन किए हैं वे सकारण हैं। यदि कभी इसके लिए जिज्ञासा की गई तो विस्तार से बता सकूँगा।

पत्र-परिचर्चा : एक*

प्रश्न दिनकर सोनवलकर के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : आपको 'हालावाद' का प्रवर्तक कहा जाता है। क्या आप इससे सहमत हैं? और इस दौर के गुज़र जाने के बाद भी, क्या आपको यह विशेषण रुचिकर प्रतीत होता है?

उत्तर : हालावाद भी क्या वाद हुआ? मैंने तो उसे चलाया नहीं। फिर भी, इसे किसने चलाया, क्यों चलाया, इसके विषय में मैं अपने निबन्धों में लिख चुका हूँ। मैंने तो उसका यह अर्थ लिया था कि जिस समय मेरी कविताएँ लोगों के सामने आईं, उनमें कुछ ऐसा था जो 'छायावाद' के घेरे में नहीं आता था। बस उस नये रूप को उन्होंने 'हालावाद' की संज्ञा दे दी, क्योंकि यह शब्द मेरी कविता में बार-बार आता था, पर वह प्रतीक था अनुभूत जीवन का; उसे वे भीतर-भीतर समझते तो थे, पर उसके प्रति सचेत न थे। 'हालावाद' के प्रवर्तक होने का गौरव मैंने कभी नहीं अनुभव किया। शायद गौरव देने की दृष्टि से उसका प्रयोग किया भी नहीं जाता था। व्यंग्य करने का भाव भले ही रहा हो कि छायावाद के नक़्क़ारखाने में यह तूती का स्वर सर्वोपरि क्यों हुआ जाता है? शायद उसने

*धर्मयुग (बम्बई), 29 नवम्बर, 1964, में प्रकाशित।

लोगों को कुछ समाधान दिया हो। मुझे उस वाद विशेष में न कोई रुचि पहले थी, और न अब है।

प्रश्न : ख़ैयाम के दृष्टिकोण और आपके दृष्टिकोण में कौन-सा मौलिक अन्तर है ?

उत्तर : ख़ैयाम के और मेरे दृष्टिकोण के अन्तर पर पन्तजी ने अपने लेख में, 'अभिनव सोपान' की भूमिका में, और श्री ज्ञानप्रकाश जौहरी ने 'हाउस आफ़ वाइन' की भूमिका में प्रकाश डाला है। दोनों का कहना है कि ख़ैयाम जीवन को सहन करते हैं, जबकि मुझमें जीवन के प्रति आसक्ति है। पर यह न भूलना चाहिए कि ख़ैयाम फ़िट्ज़जेरल्ड द्वारा परिसीमित हैं, जिसने उन पर अपनी निराशा, उदासीनता, अनास्था, अनिश्चय को पूरी तरह आरोपित कर दिया है। फिर भी ख़ैयाम मनुष्य को जग, जीवन, काल के सामने ले जाकर अकेले खड़ा कर देते हैं। ऐसी स्थिति में जीवन के प्रति अदम्य आसक्ति भी सम्भव है और नितान्त वितृष्णा भी; और एक समय मैंने उन दोनों मनःस्थितियों का अनुभव एक साथ किया था। बहुत ही उग्र मानसिक स्थिति में मैंने लिखा था :

'हमें जग-जीवन से अनुराग, हमें जग-जीवन से विद्रोह,
इसे क्या समझेंगे वे लोग जिन्हें सीमा-बन्धन से मोह।
क्रान्ति की जिह्वा बनकर आज रही बुलबुल डालों पर बोल,
सुरा पी, मद पी, कर मधुपान।' —**मधुबाला**

अब इन पंक्तियों की तुलना पन्तजी की सन्तुलित मनोवृत्ति की इन पंक्तियों से की जाए तब मेरे द्वन्द्व-दहन का कुछ आभास मिल सकता है :

'अनुरक्त न हो जीवन पर,
मत हो विरक्त जीवन से।' —**ज्योत्स्ना**

प्रश्न : कुछ लोगों ने आपको निराशा का कवि कहा है। मुझे यह उचित नहीं जान पड़ता। इस सन्दर्भ में आपका मन्तव्य क्या है ?

उत्तर : कभी मैंने लिखा था :

'आज आशा, कल निराशा, फिर हृदय में शून्य-सा कुछ,
कुछ विरोधी कण समूहों से हुआ निर्माण मेरा।'

निराशा भी मेरे जीवन में बड़े भीषण रूप में आई थी; उसे भी मैंने वाणी दी और उसके बाहर आया। उसकी छाप भी लिये हूँ। आशा का महत्त्व समझता हूँ, उसकी सीमा भी। मुझे मेरे जीवन के किसी पहलू से एकाकार करके जो मेरा जीवन-दर्शन जानना चाहेंगे वे भूल करेंगे।—'लेकिन मैं तो बेरोक सफ़र में जीवन के इस एक और पहलू से होकर निकल चला।'— मैं अभी बनने की प्रक्रिया में हूँ। चाहे जो परिस्थितियाँ और परिणाम हों, मेरा जीवन-दर्शन है जीना और सृजन करना तथा दूसरों को जीने और सृजन करने में, हो सके तो, सहायता देना। क्या यह निराशावाद है ? मैं तो 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' पढ़ता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं बड़ा बेहया आशावादी हूँ :

'निश्चय था गिर मर जाएगा
चलता रहा किन्तु जीवन भर।'

अथवा,

'दे न सको तुम किन्तु बनूँ मैं पाने का अधिकारी।'

मैंने अपने अवसाद में डूबकर यह सत्य पाया है कि जिजीविषा और निर्माण मानव-स्वभाव के अपरिहार्य अंग हैं, ये गतिशील भी हैं। उनके पीछे छूटे हुए रूपों

मेरा भी है सखि ! छोटा-सा रूम,
जहाँ मेरी आकांक्षा-सूम
गूँजती है प्रतिपल को तूम !
इन असंख्य मृदु-कण्ठ-स्वरों में,
मिला हुआ है अलि ! मेरा भी
कम्पित-स्वर अति-दीन,
रुँधी-दुर्बलता की ध्वनि क्षीण
डूबती है जिनमें हो लीन !

और आज जब वे असंख्य स्वर जगजीवन के संघर्ष के महारव में विलीन अथवा नीरव हो गये हैं, पन्तजी का 'अति-दीन' 'कम्पित-स्वर' और उनकी दुर्बलता-रुँधी क्षीण ध्वनि सुदृढ़ और सबल होकर असंख्य हृदयों में गूँज रही है।

मेरा घर था मुहल्ला चक में, पर हिन्दू बोर्डिंग हाउस से मिला हुआ मुहल्ला कटरा है जहाँ मेरी ननसाल थी और जहाँ मैं अक्सर जाया करता था। पन्तजी के विषय में सबसे पहली चर्चा मैंने अपनी ननिहाल में सुनी। पीले शिवाले की जिस गली में मेरे मामा का मकान था उसी में, एक घर में, अल्मोड़े का एक पहाड़ी परिवार आकर रहने लगा था। ये लोग पन्तजी के अल्मोड़े के पड़ोसी अथवा सम्बन्धी थे। होस्टल में रहते हुए पन्तजी अक्सर उनके यहाँ आया करते थे। पहाड़ी परिवार की किसी स्त्री ने मामी से पन्तजी के बारे में बताया था—बड़े कोमल, सुकुमार, सुन्दर हैं, पैदा होते ही इनकी माँ मर गयी थी, बड़े कमज़ोर हैं, बड़े मान-दुलार से उनका लालन-पालन हुआ है, कविता लिखते हैं, कालेज की पढ़ाई करने के लिए इलाहाबाद आये हैं, आदि-आदि। मामी ने कभी पन्तजी को गली में देखा तो विभोर हो गयीं। मेरी माँ से कह रही थीं, 'जीजी, उइ मनई न आयँ, देउता आयँ; आँखिन ते देखे से पाप कटत है।' नानी बोलीं, 'उनका गढ़त भगवान के हाँथ काँपि ग, उनका तो बिटिहिनी होय का रहा, केहू के घर बसत, बड़ा-बड़ा बार राखे हैं।' मैं उत्सुकता से इस 'देउता' को देखने की प्रतीक्षा करने लगा, कब गली में आयें और कब मैं देखूँ।

और एक दिन देवता गली में आते हुए दिखायी दिये। अगल-बगल दो और युवक अंगरक्षक की भाँति, बीच में 'देवता', दुबले-पतले-लम्बे, रेशमी बिस्कुटी रंग के सूट में, ढीले गले की कमीज़ पर काली टाई, चेहरा दिव्य-गौर, आँखें बड़ी-बड़ी न जाने किन सपनों में खोयी, सिर पर लम्बे बाल, इतने सुनहरे कि लाल लग रहे हैं।

घने लहरे रेशम के बाल,—
धरा है सिर में मैंने, देवि !
तुम्हारा यह स्वर्गिक-शृंगार,
स्वर्ण का सुरभित भार। —**पल्लव**, नारीरूप, 1922

अपनी नारी की-सी सुकुमारता को ही जैसे संचित करने के लिए उन्होंने नारी का रूप और स्वर भी अंगीकार कर लिया था। पच्चीस से भी ऊपर उमर तक, कम से कम कविता में वे स्त्रीलिंग में ही बोलते गये—'लायी हूँ फूलों का हास' (1927)।

गली में जो जहाँ है वहीं से उनकी ओर टकटकी बाँधकर देखने लगा है। मैं आश्चर्य-विमुग्ध गली के बीचोबीच में खड़ा हो गया हूँ और यह भी भूल गया हूँ कि उनका रास्ता रोक रहा हूँ। वे निकट आ गये तब भी मैं उन्हें देखता खड़ा ही रहा। उन्होंने मेरे गाल पर एक हल्की-सी चपत लगायी और बगल से होकर निकल

का नाम ही मरण या संहार है। मैं कहीं भी रुकूँ, मरण या संहार पर नहीं रुकता। वहाँ मैं गाता हूँ :

'गरल पान करके तू बैठा,
फेर पुतलियाँ कर-पग ऐंठा,
यह कोई कर सकता, मुर्दे, तुझको अब उठ गाना होगा।
विष का स्वाद बताना होगा।'

शायद आप कह सकते हैं कि मैं कामू की पुस्तक 'दि मिथ आफ़ सिसिफ़स' के प्रकाशन (1955) के पन्द्रह वर्ष पूर्व ही उसका अनुयायी था।

प्रश्न : अनुवाद, गीत, मुक्तछन्द, लोकगीत, गद्य और फिर अनुवाद : माध्यम का यह द्रुतगामी परिवर्तन एक स्वाभाविक प्रक्रिया रही है अथवा इसके पीछे कोई विवशता है ?

उत्तर : निर्मिति के स्वरूप सर्जक की मनोगति के बड़े सूक्ष्म प्रतिबिम्ब हैं। इसका अध्ययन बड़ी सहानुभूति और कल्पना-प्रवणता से करना होगा कि सर्जक क्यों एक रूप को छोड़कर दूसरे की ओर झुक जाता है; परिवर्तन अकारण नहीं हैं। पर उसका विश्लेषण करने के लिए मुझे न कहें; शायद सृजन की अवस्था में वस्तुपरक दृष्टि बना लेना सम्भव भी नहीं।

प्रश्न : एक अकादमीय आलोचक का कथन है कि 'बच्चन को समुचित प्रतिष्ठा एवं उचित मूल्यांकन नहीं मिला।' अत्यधिक लोकप्रियता के बावजूद भी क्या आप ऐसा महसूस करते हैं ?

उत्तर : मैं अपनी कविता की प्रतिक्रिया से पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ। मैं चाहता था कि मेरी वाणी लोगों को जीवन के प्रति, जीने के प्रति, जीवन के अनुभवों के प्रति अधिक सचेत कर उन्हें अधिक पूर्णता के साथ जीने में सहायता दे। यह मेरी कविता ने किसी अंश में किया है। कविता की प्रतिष्ठा यही है कि वह जन-जीवन में प्रतिष्ठित हो सके, लोग उसकी आवश्यकता अनुभव करें, वे अपने उल्लास-अवसाद में उससे कुछ पा सकें, उसके द्वारा अपने को अभिव्यक्त कर सकें, उसमें जी सकें, उससे जी सकें। संख्या ही सब कुछ नहीं है। मैंने अपने सन्तोष के लिए कम-से-कम को स्वीकार किया था।

'है नहीं निष्फल कभी यह गीतमय अस्तित्व मेरा,
प्रतिध्वनित यदि एक उर में एक क्षीण कराह मेरी।'

आज तो मेरी एक कराह ही नहीं, कई कराहें एक से अधिक उर में प्रतिध्वनित हैं। जो कोर्स में लगने, समालोचकों के पोथे का विषय बनने, पुरस्कार-उपाधि मिलने को कविता या कवि की प्रतिष्ठा समझते हैं उनकी बुद्धि पर मुझे तरस आता है। मैं इन सबको निःसंकोच एक अपरिचित के इस उद्गार पर निछावर कर सकता हूँ कि 'मुझे आपकी कविता में मन की शान्ति मिली है।' क्या आप विश्वास करेंगे कि ऐसा मुझसे बहुत-से लोग बहुत बार कह चुके हैं ? मेरा जीवन और सृजन असफल नहीं है।

प्रश्न : छोटे से छोटे पत्र का उत्तर भी आप तुरन्त देते हैं। निश्चय ही प्रतिदिन काफ़ी समय पत्र-लेखन में जाता होगा। क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि उतने ही समय में बेहतर लिखना-पढ़ना हो सकता था ? जैसे कुछ बड़े लोग पत्र-लेखन को समय एवं शक्ति का अपव्यय मानते हैं, क्या आपको भी वैसा नहीं लगता ?

उत्तर : जब कोई दरवाज़ा खटखटाए, उठकर खोलना चाहिए। मानवता की उपेक्षा करके कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता। जीवित-जाग्रत

मनुष्य से विचार-भावों के आदान-प्रदान से अधिक आवश्यक क्या हो सकता है? कविता लिखना? जी नहीं। कविता तो इसीलिए लिखी जाती है कि मनुष्य मनुष्य के निकट आ सके। कविता अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारकर नहीं चल सकती।

प्रश्न : मुझे लगता है कि विदेश मन्त्रालय की तुलना में किसी विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर आपकी प्रतिभा का श्रेष्ठतम उपयोग हो सकता है (साहित्य के हित में)। क्या आपको कभी ऐसी अनुभूति नहीं होती?

उत्तर : जीवन में कार्य करने को सदा अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं मिलतीं। 57 वर्ष की अवस्था तक जैसी भी परिस्थितियाँ मिली हैं उनमें यथा शक्ति-क्षमता कार्य करता रहा हूँ। अब अधिक अनुकूल परिस्थितियों के लिए बैठकर रोऊँ, ऐसा मुझसे नहीं होगा। मेरा ऐसा विश्वास है कि मुझे जो कुछ भी करना है वह मैं किसी भी परिस्थिति में बैठकर कर लूँगा। मैं स्वयं अपनी बाधा बन सकता हूँ, मेरी परिस्थितियाँ नहीं। सृजन में मन को जहाँ केन्द्रित करना होता है वहाँ परिस्थितियों की सीमाएँ टूट जाती हैं। मेरी क्षमताओं का शायद कोई और उपयोग भी हो सकता है : 'सब जगह असमर्थ हूँ मैं, इसलिए ही तो नहीं तेरा हुआ हूँ।' कविता इसलिए तो नहीं लिखता कि कुछ और नहीं कर सकता हूँ।

प्रश्न : सम्प्रति नई कविता बनाम नवगीत का जो संघर्ष चला है उसे आप किस रूप में देखते हैं?

उत्तर : यह अन्ततोगत्वा बुद्धि और हृदय का झगड़ा है। समय-समय पर आगे-पीछे दोनों हो सकते हैं; साथ छूटने का नहीं। प्रेमी-प्रेमिका की तरह एक होकर रह सकें तो आदर्श स्थिति हो। युग के विकास की स्थिति अभी उससे बहुत दूर है। नई कविता बुद्धि को लेकर चली है, नवगीत हृदय को पकड़े हुए है। कुछ लोग दोनों में मेल कराने का प्रयत्न भी करें। प्रेम में कभी-कभी झगड़ा भी ज़रूरी होता है। बुद्धि और हृदय के कुछ दिन अलग हो जाने में भी कुछ बुरा नहीं होने का। वे अलग रहने को नहीं बने हैं; एक होकर रहेंगे।

प्रश्न : हिन्दी कविता की वर्तमान गतिविधि तथा प्रगति से क्या आप सन्तुष्ट हैं?

उत्तर : हिन्दी कविता की जो गतिविधि है उससे दूसरी हो भी नहीं सकती थी। उसके पीछे मज़बूत ऐतिहासिक कारण हैं। असन्तोष का कोई कारण नहीं। साहित्य आगे ही बढ़ता है। पीछे जाकर भी आगे बढ़ता है। यह कम उपलब्धि नहीं कि हम जानें कि जो राह हमने पकड़ी वह आगे बन्द है। इसलिए लौट आओ। यह भी प्रगति है। प्रयोग असफल होकर भी सफलता ही देता है। जीवित जातियाँ और भाषाएँ निर्भीक प्रयोग करती हैं। हिन्दी की जड़ें मज़बूत हैं। उसकी कोई शाखा सदा के लिए अस्वस्थ दिशा में बढ़ती जाये, इसकी सम्भावना मैं नहीं देखता।

प्रश्न : 'दिनकर'जी ने 'उर्वशी' लिखी। पन्तजी ने 'लोकायतन' लिखा। निकट भविष्य में, क्या आप भी कोई महाकाव्य लिखने की दिशा में सोच रहे हैं?

उत्तर : साहित्य के परिवार में यह नहीं चलता, 'दीदी नाचै, मैं भी नाचूँ।' 'दिनकर' ने 'उर्वशी' लिखी और पन्तजी ने 'लोकायतन' तो यह ज़रूरी नहीं कि मैं भी एक महाकाव्य लिखूँ। प्रतिभा का अनुकरण नहीं होता। मेरी ऐसी कोई योजना नहीं। यदा-कदा जो भाव मेरे मन में उठते हैं उनके लिए अभी तो मैं छोटी कविताओं को ही पर्याप्त समझता हूँ। आकार को मैं बहुत महत्त्व भी नहीं देता। लघुता का भी कुछ महत्त्व है। सूरज को तृण बनने के लिए कहा जाए तो कितनी

बड़ी मुसीबत उसके सामने खड़ी हो जाएगी। जिनके लिये बड़ा लिखना सुलभ है उनसे यदि छोटा लिखने को कहा जाए तो वे कठिनता का ही अनुभव करेंगे। अपने लिये जो सहजसाध्य, सुलभ समझता रहा हूँ वही मैं करता रहा हूँ। स्वधर्मे निधनं श्रेयः।

पत्र-परिचर्चा : दो*

प्रश्न प्रेमशंकर रघुवंशी के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : नई कविता, नये गीत, नई कहानियों का जो आन्दोलन चल रहा है उसे आप किस रूप में देखते हैं ?

उत्तर : नई कविता, नये गीत, नई कहानी—सबमें आग्रह नये पर है, यानी पुराने से असन्तोष। प्रगति का मार्ग तो यही है। कहानी पर कहने का मुझे विशेष अधिकार नहीं। नया गीत नई कविता के आन्दोलन का ही अंग है। नई कविता ने यथार्थता, बौद्धिकता और अधिक गहरी अनुभूति पर बल देकर कविता का क्षेत्र विस्तृत किया है। अभिव्यक्ति में नये रूपक, चित्र, प्रतीक और बिम्बों का प्रवेश हुआ है। इस सबका मैं स्वागत करता हूँ। नये को अपने को स्थापित करने में कुछ समय लगेगा।

प्रश्न : नई कविता की वर्तमान गतिविधि तथा प्रगति से क्या आप सन्तुष्ट हैं ?

उत्तर : नई चीज़ प्रायः प्रयोगात्मक होती है। सभी के प्रयोग सफल नहीं होते। निर्णय देने के लिये सर्वदा उच्चकोटि की रचनाओं को दृष्टि में रखना होगा। हर नये आन्दोलन के साथ बहुत कुछ निम्न कोटि का भी आता है। पिछले काव्य आन्दोलन में भी बहुत कुछ नगण्य था, भुला दिया गया है। नई कविता के साथ भी ऐसा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उसमें कुछ उच्चकोटि का भी है। असन्तोष भी दो प्रकार का होता है —रूढ़िगत और रचनागत। नई कविता के प्रति रूढ़िगत असन्तोष को मैं अस्वस्थ कहूँगा। इससे उसका कुछ बिगड़ता भी नहीं। रचनागत असन्तोष स्वस्थ होता है। इससे उसके परिष्कार-निखार में सहायता मिलेगी। नई कविता से मेरा रूढ़िगत असन्तोष क़तई नहीं। रचनागत असन्तोष न होना प्रगति के पथ की बाधा है। इस प्रकार मैं नई कविता से सन्तुष्ट भी हूँ और असन्तुष्ट भी।

प्रश्न : नई कविता के पठन-पाठन को उच्चतर कक्षाओं में स्थान मिलना चाहिए, इस विषय में आपका क्या मत है ?

उत्तर : साहित्य को पाठ्य-क्रम में स्थान पाने के पूर्व जीवन में स्थान पाना चाहिए। मैं ऐसे किसी कवि अथवा कविता को पाठ्य-क्रम में रखने के विरुद्ध हूँ जो समाज-स्वीकृत होकर कम-से-कम पचास वर्ष जी न सकी हो। जीवन और

***नई धारा (पटना), अप्रैल-जुलाई, 1966, में प्रकाशित।**

काल के सम्पर्क से साहित्य को एक नया आयाम मिलता है। आज का लिखा कल कोर्स में पढ़ाया जाने लगा, यह साहित्यिक धाँधली है।

प्रश्न : पाठ्य-पुस्तकों के लिए नई कविता के चयन में किन-किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है ?

उत्तर : नई कविता को अभी पाठ्य-क्रम में रखने का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रश्न : नई कविता के नाम से जो कुछ लिखा जा रहा है क्या वह वर्तमान युग का नेतृत्वकारी साहित्य सिद्ध होगा ?

उत्तर : वर्तमान युग की अभिव्यक्ति केवल समकालीन साहित्य से हो सकेगी। वर्तमान साहित्य वर्तमान युग का नेतृत्व करे या न करे, वह प्रतिनिधित्व अवश्य ही करता है। नेतृत्व तो इस पर निर्भर करेगा कि युग-समाज वर्तमान साहित्य के कितने निकट आता है। वह प्रायः पिछड़ा भी रहना चाहता है। युग-समाज 'प्रयोगात्मक' से अधिक 'समय-सिद्ध' की ओर झुकता है। साहित्य प्रखर हुआ तो वह समाज को आधुनिक बनने की प्रेरणा भी देता है। नये साहित्य की प्रखरता पर सन्देह हो सकता है, क्योंकि अभी यह समाज को कम छूता है; साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि हमारा समाज गति-शिथिल है।

प्रश्न : नई कविता पर जो विदेशीकरण का आरोप लगाया जाता है क्या आप उससे सहमत हैं ?

उत्तर : नई कविता पर कुछ विदेशी प्रभाव निश्चय है। प्रभाव ग्रहण करना बुरा नहीं। आज जब दुनिया निकट आती जा रही है, प्रभाव से बचा भी नहीं जा सकता। प्रश्न यह है कि विदेशी प्रभाव का हमारे सर्जक कितना देशीकरण कर रहे हैं। मैं इससे इन्कार नहीं करूँगा कि प्रयास सतत इसकी ओर है।

प्रश्न : एक पुंगव साहित्यकार नई कविता के विषय में ऐसा लिखते हैं— 'नपुंसक युग और वन्ध्या के जो असंख्य मानस पुत्र नयी कविता की गोद में खेल रहे हैं वे मात्र वितृष्णा उत्पन्न करते हैं।' इन्हें आप क्या उत्तर देना चाहेंगे ?

उत्तर : यह वही रूढ़िगत असन्तोष है जिसकी चर्चा मैंने ऊपर की है। साहित्य के परिवर्तन और प्रभाव-ग्रहण में भी कुछ ऐसे कारण होते हैं जो साहित्य की अपनी धरती में होते हैं। यदि नई कविता में नपुंसकता अथवा वन्ध्यापन की अनुभूति है तो उसके कारणों के लिए अपने युग की धरती को ही खोजना होगा।

प्रश्न : स्वयं को विद्वान समझनेवाले एक साहित्यिक नई कविता को 'अव-चेतना की टेप-रेकार्डिंग' कहते हैं। क्या उनकी यह धारणा ठीक है ?

उत्तर : अवचेतन भी चेतन का एक अंग है। अवचेतन की महत्ता मानव कार्य-व्यापारों में स्वीकार की जाने लगी है। साहित्य को उसका भी महत्त्व परखना होगा। केवल अवचेतन को उभारने से, मैं मानता हूँ, साहित्य नहीं बनेगा; पर उसकी उपेक्षा से जो साहित्य बनेगा वह पूर्णांगी नहीं होगा। विज्ञान ने जीवन को जिस complexity में हमारे सामने रक्खा है वह एक यथार्थ है; कोई भी इससे इन्कार करके अपने को ही धोखा देगा।

प्रश्न : आजकल नई कविता में कवियों और आलोचकों की बाढ़-सी आती जा रही है। इस कारण कभी-कभी पाठकों को मूलधारा खोजने में कठिनाई होती हैं। इस समस्या का क्या समाधान है ?

उत्तर : यह स्वाभाविक है। ज़्यादा लोग पढ़-लिख रहे हैं, ज़्यादा पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं, ज़्यादा पाठक हो रहे हैं। हर आदमी को लेखन-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। इच्छा तो सबको होती है। हर आदमी अपनी निजी अनुभूति

से जीवन का कोई न कोई पक्ष देखता है। उसमें बहुत कुछ साधारण कोटि का होगा—निःसन्देह। प्रतियोगिता बढ़ गई है। फिर भी उच्चकोटि की प्रतिभाएँ उभरेंगी। मानदण्ड भी नये के नहीं बने। उच्चकोटि की कृतियाँ ही मानदण्ड बनाने में सहायता देंगी। स्थायित्व साहित्य का अपने गुणों में है—रहस्यपूर्ण गुणों में भी। कुछ होता है जो उच्चकोटि के साहित्य को स्थायित्व देता है। उसे कोई बाहरी साधनों से नहीं दे सकता। नये को अभी तो हम समय की कसौटी पर छोड़ दें।

प्रश्न : नई कविता कब तक नयी रहेगी? इसके भविष्य के बारे में आपकी क्या कल्पना है?

उत्तर : साहित्य जीवन के समान ही गतिशील और परिवर्तनशील है। एक दिन सब पुराना भी नया था। एक दिन सब नया पुराना होगा। नये के बाद जो नया आएगा उसके लिए नाम की कमी न रहेगी। बहुत बार पुराना भी नया रूप धारण कर आता है। शायद हम सब एक चक्र में ही घूमते हैं जो ऊपर उठता और नीचे भी गिरता है। हर नया पुराने से मिलकर पुराने को कुछ नयापन देता है, कुछ उसका पुरानापन लेता है, और इस प्रकार चक्रवत साहित्य रंग बदलता रहता है। हम विश्वास किए लेते हैं कि यह सब सोद्देश्य होता है। जो चाहे न भी विश्वास करे; पर 'बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।'

प्रश्न : नयी कविता आन्दोलन है या प्रवृत्ति?

उत्तर : आन्दोलन का जन्म प्रवृत्तियों से होता है। प्रवृत्ति प्रबल हुई तो वह आन्दोलन का रूप ले लेती है। नई कविया की प्रवृत्ति ने आन्दोलन का रूप लिया। बहुत अंशों में वह आन्दोलन सफल रहा। शायद अब उसकी उपलब्धि का लेखा-जोखा लगाने का समय आ गया है।

प्रश्न : नयी कविता का विरोधी मोर्चा और उसकी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर : नयी कविता का विरोध किसी मोर्चे के रूप में नहीं हुआ; व्यक्तिगत सम्मतियाँ उसके सम्बन्ध में अवश्य व्यक्त की गई। नई कविता अब प्रायः स्वीकार कर ली गई है, विशेषकर बौद्धिक वर्ग द्वारा। जन साधारण शायद अब भी उससे दूर है।

प्रश्न : नयी कविता का उदय जिन तत्त्वों को लेकर हुआ है क्या वह उनका निर्वाह कर रही है?

उत्तर : निश्चय ही, अपनी उच्चकोटि की कृतियों में। हर प्रवृत्ति के साथ बहुत कुछ कूड़ा-करकट भी आता है। उसकी उपेक्षा की जानी चाहिए। नई कविता के समालोचक उसकी परख का मानदण्ड प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रश्न : नयी कविता आधुनिक है या समसामयिक?

उत्तर : मुझे पता नहीं; आप दोनों में क्या अन्तर करते हैं। समसामयिक तो हर कविता है जो आज लिखी जाती है। आधुनिकता के साथ कुछ विशेष गुणों की माँग की जाती है। नई कविता से आधुनिकता अपेक्षित है।

प्रश्न : नई कविता के कवि को किन-किन सन्दर्भों में काम करना चाहिए?

उत्तर : यह तो नयी कविता की सप्राण कृतियों को देखकर जानना होगा। विश्वजीवन इतना रहस्यमय है कि नये से नये के बाद भी कुछ और नया सहज ही पाया जा सकता है। मेरी दृष्टि में तो हर नई खोज को जीवन से जोड़ना होगा, जिससे जीवन अधिक गहराई और व्यापकता से समझा जा सके।

प्रश्न : नयी कविता सृजनात्मक वृत्ति को उभारती है या विध्वंसात्मक वृत्ति को?

उत्तर : नयी कविता का झुकाव बौद्धिकता की ओर है। बौद्धिकता को विध्वंसात्मक कैसे कहा जा सकता है! विश्लेषण से बहुत-सी चीज़ें टूटती हैं तो बहुत-सी चीज़ें जुड़ती भी हैं। फिर नये विकास के लिए पुराने का विध्वंस शर्त है। नई कविता ने बहुत-से जुड़े को तोड़ा है; पर क्या बहुत-से ग़लत जोड़ नहीं थे?

प्रश्न : नयी कविता के प्रति लोगों की शिकायत है कि वह समझ में नहीं आती है। क्या कारण है?

उत्तर : नयी कविता के प्रति ऐसी शिकायत स्वाभाविक है। छायावादी कविताओं के प्रति भी ऐसी शिकायतें की गई थीं। नये से लोग झगड़ते हैं। पर इसी कारण नये से डरा जाय, यह तो नहीं होना चाहिए। नई कविता इतनी नूतनता लेकर आई है कि अभी जन साधारण उसके स्वागत के लिए तैयार नहीं हो सका। नई कविता की उच्चकोटि की कृतियों से जनता को परिचित किया जाना चाहिए।

प्रश्न : कलकत्ता की भूखी पीढ़ी और हैदराबाद की दिगम्बर पीढ़ी के प्रति आपकी क्या मान्यताएँ हैं?

उत्तर : भूखी पीढ़ी की भावना नयी नहीं है (देखें 'मधुबाला' के 'प्रलाप' का अन्तिम भाग; 'एकान्त संगीत' में मेरा एक गीत है, 'मेरा तन भूखा, मन भूखा'।) उसी प्रकार दिगम्बर पीढ़ी की भावना भी मेरी एक कविता में आज से तीस वर्ष पहले व्यक्त हुई थी (देखें 'पाटल माल'—'नग्न तृण-तरु-पल्लव-खगबृंद···भला मानवता ही क्यों आज रही अपने पर पर्दा डाल।') किसी प्रकार के असन्तोष और अतृप्तियों में ही कला का जन्म होता है। आवरण को हटा नग्न सत्य को देखना तो दर्शन की भी आकांक्षा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि हमने जीवन पर बहुत-सा कत्थर-गुद्दड़ लाद रक्खा है। उसे कोई न कोई तो हटा सका। सम्भव है आगे की पीढ़ियाँ कोई नव परिधान दें। मैं भूखी पीढ़ी और दिगम्बर पीढ़ी की भावना का स्वागत करता हूँ। केवल, कला को मैं विकृति न बनने देना चाहूँगा, जिसका ख़तरा नवीनता के अत्यावेश से उत्पन्न हो गया है। पर उस पहलू से भी हमें गुज़रना होगा।

प्रश्न : नई कविता उपलब्धि की ओर बढ़ रही है या कोई अन्य परिणाम भोगने जा रही है?

उत्तर : विकास-ह्रास जीवन के क्रम हैं, कविता के क्रम भी। जैसे छायावाद की चरम उपलब्धियों में ही उसके ह्रास के चिह्न मौजूद थे, वैसे ही नई कविता के सम्बन्ध में होगा। मैं समझता हूँ कि यह नयी कविता की चरम उपलब्धियों और उसके ह्रास का भी समय है। फिर कोई नयी प्रवृत्ति आएगी। वह कोई पुरानी प्रवृत्ति भी नये रूप में हो सकती है।

प्रश्न : नयी कविता ने पाश्चात्य और पौर्वात्य संस्कृति से क्या कुछ लिया है?

उत्तर : सृजन के क्षण में ऐसा सम्भव नहीं होता कि इतना पश्चिम से लो, इतना पूरब से लो और जोड़-तोड़कर कला को खड़ी कर दो। हमारा आज का सर्जक पश्चिम के संस्कार से अछूता नहीं, किसी हद तक पश्चिम की वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों से परिचित है; काव्य में उनके प्रभाव से तो परिचित ही है। पूर्व की संस्कृति उसके रक्त में है। उससे, वह चाहे तो भी अलग नहीं हो सकता। 'अज्ञेय' की नवीनतम कविताएँ इसकी साक्षी हैं। पश्चिम का प्रभाव

लेकर भी, केवल इस कारण कि रचना हिन्दी या किसी भारतीय भाषा में हो रही है, वह बहुत-सा पूर्वी प्रभाव लिये रहती है। आधुनिक समय में पश्चिमी प्रभावों की लहरों को न रोका जा सकता है और न रोकना स्वस्थ होगा। आज का पश्चिम भी पूरब से कम प्रभावित नहीं है। कभी तो पूरब ने ही पहल की थी। क्या ऐसा समय फिर नहीं आ सकता ? कला ने नई धारणाएँ प्रवाहित करने का ठेका केवल फ्रांस, इंग्लैण्ड, अमरीका को नहीं दिया। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत का मनस् अधिक सजग-सचेत हुआ है; उससे बहुत कुछ अभिनव प्रत्याशित है।

प्रश्न : आप नयी कविता का उद्भव काल कबसे मानते हैं ? सर्वप्रथम प्रयास इस दिशा में किन-किन कवियों ने किया ?

उत्तर : नयी कविता का उद्भव हम 1950 से मान सकते हैं। उसके पूर्व प्रगतिवाद से असन्तुष्ट और उसकी प्रतिक्रिया में कुछ कवि प्रयोगवादी बन गये थे। 'तार सप्तक' में प्रयोगवाद की संगठित रूप से घोषणा हुई थी। नई कविता के अंकुर प्रयोगवाद से फूटे। मेरा ऐसा ख्याल है कि 'अज्ञेय' और मुक्तिबोध के प्रयोग ने ही सर्वप्रथम नई कविता का पूर्वाभास प्रस्तुत किया।

प्रश्न : अब तक नयी कविता ने कौन-कौन-सी सशक्त रचनाएँ और उपलब्धियाँ प्रदान की हैं ?

उत्तर : नयी कविता का पूरा संकलन वह स्थान नहीं ले सका जो छायावाद काल में 'पल्लव' अथवा 'परिमल' ने लिया था, पर नयी कविता के संकलनों में बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हैं जो उच्चकोटि की मानी जा सकती हैं।

प्रश्न : नई कविता के वर्तमान सृजन को देखकर उससे भविष्य में क्या-क्या आशाएँ की जा सकती हैं ?

उत्तर : 15-20 वर्षों का समय पर्याप्त होता है कि कोई भी प्रवृत्ति अपनी चरम उपलब्धि में ही अपने ह्रास के चिह्न दिखाने लगे। नई कविता को अकविता की ओर ले जानेवाले सामने आ रहे हैं। किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति के भविष्य को बतलाना सहज नहीं होता। पर ऐसा अनुमान है कि छायावाद और नई कविता की उपलब्धियों को समन्वित कर भविष्य की कविता कोई अधिक सम्पन्न रूप लेगी। संकेत 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' में है।

प्रश्न : हिन्दी की नयी कविता के वर्तमान कवियों में से आप किन-किन कवियों से उत्तम उपलब्धियों की आशा करते हैं ? क्या स्वर्गीय मुक्तिबोध की पुस्तक 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' को आप नई कविता की सशक्त देन मानते हैं ?

उत्तर : आशा मुझे कइयों से है; निश्चयपूर्वक मैं किसी के विषय में नहीं कह सकता। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' को 'देन' अथवा उपलब्धि से अधिक मैं एक सशक्त प्रयोग कहना चाहूँगा। complex अनुभूतियों को नये बिम्बों द्वारा व्यक्त करने का उसमें साहसिक और किन्हीं अंशों में सफल प्रयास है।

प्रश्न : नयी कविता को लोग गद्य-सी अभिव्यक्ति मानते हैं, कविता जैसी नहीं। आपका क्या मत है ?

उत्तर : नयी कविता के साथ गद्य पद्य के पास आया है। पद्यबद्ध सब कविता नहीं। गद्य-काव्य की संज्ञा हम पहले दे चुके हैं। पहले गद्य को बौद्धिकता और पद्य को भावुकता का वाहन समझा जाता था। बौद्धिकता अब कविता के क्षेत्र में आ रही है। स्वाभाविक है कि कविता का वाह्याकार गद्य के निकट आयेगा।

प्रश्न : आपको अपनी प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर 'दो चट्टानें' तक कौन-

कौन-सी कृति से विशेष मोह है और क्यों ?

उत्तर : अपनी रचनाओं के बारे में अपनी राय प्रायः ठीक नहीं होती; यह काम दूसरे करें। मोह मुझे अपनी सब रचनाओं से है, सन्तोष मुझे अपनी किसी रचना से नहीं। मोह है, तभी तो मैं उन्हें प्रकाशित कराता हूँ। असन्तोष है, इसी से मैं कुछ सन्तोषजनक लिखने का प्रयत्न करता रहता हूँ।

प्रश्न : लोग ऐसा कहते हैं कि आपका कवि आपके हालावादी युग में जितना शिल्पी था उतना वर्तमान काव्य-सृजन में नहीं, जबकि मुझे आपका वर्तमान कवि कुशल स्रष्टा दिखाई देता है। आपका क्या मत है ?

उत्तर : हो सकता है वे ठीक हों, आप ग़लत। हो सकता है आप ठीक हों, वे ग़लत। मैं तो लिख चुका हूँ :

'ले मापदण्ड जिसको परिवर्तित कर देतीं
केवल छूकर ही देश-काल की सीमाएँ,
जग दे मुझ पर फ़ैसला उसे जैसा भाए,
लेकिन मैं तो बेरोक सफ़र में जीवन के
इस एक और पहलू से होकर निकल चला'...

—मिलन यामिनी

प्रश्न : आप पत्रोत्तर देने में इतने प्राम्प्ट क्यों हैं ? अपने अत्यधिक व्यस्त जीवन में इस कार्य के लिए इतना समय कैसे निकाल लेते हैं ? प्रतिदिन प्रायः कितने साहित्यिक पत्र लिखने पड़ते हैं ?

उत्तर : क्योंकि मैं जीवन को साहित्य से बड़ा मानता हूँ। साहित्य जीवन के लिए ही है। मैं जो कुछ लिख रहा हूँ वह इसीलिए तो कि मनुष्य मनुष्य के निकट आए। पत्र निकट आने का एक माध्यम है। मैं व्यस्त भी हूँ तो इसीलिए कि मनुष्य को सहज भाव से ग्रहण कर सकूँ, मनुष्य द्वारा सहज भाव से गृहीत हो सकूँ—बिना किसी प्रकार के काम्प्लेक्स के मैं ऐसे सम्बन्ध बनाने और निभाने को अपने जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता मानता हूँ। गिनती तो नहीं की, दस-बारह हो जाते होंगे प्रतिदिन, कभी-कभी बीस-पच्चीस भी। प्रायः पूर्व परिचितों या मेरे पाठकों के पत्र होते हैं। पत्र क्या भेजते हैं, वे मेरे पास आते हैं अतिथि के समान, और मैं 'अतिथि देवो भव' कहकर उनका स्वागत करता हूँ। बहुत-से उत्तर की आशा नहीं रखते, पत्र पाकर प्रसन्न हो जाते हैं। किसी को, क्षण भर को ही सही, प्रसन्न करना छोटा काम है ? दुनिया में बड़ी निराशा, उपेक्षा, एकाकीपन है।

प्रश्न : आपको विश्व-साहित्य में कौन-कौन से लेखक एवं पुस्तकें उत्तम लगीं; सर्वश्रेष्ठ किसे मानते हैं ?

उत्तर : मेरा अध्ययन व्यापक है। कोई सूची बनाना कठिन है। पुरानों में तुलसी और शेक्सपियर, आधुनिकों में पन्त और ईट्स को अपना favourite कहना चाहूँगा।

पत्र-परिचर्चा : तीन*

प्रश्न राजेन्द्र द्विवेदी के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : क्या आज जनता कविता से विमुख है ?

उत्तर : मैं तो ऐसा नहीं समझता। काव्य-प्रेमी जनता को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है—कविता सुननेवाले, कविता पढ़नेवाले। कवि कहते हैं, प्रकाशक भी कहते हैं कि कविता पढ़नेवाले कम हो रहे हैं। यह शायद सबूत है कि जनता कविता से विमुख हो रही है, पर इसे इसका भी सबूत क्यों न माना जाय कि कवि जनता से विमुख हो रहे हैं। सुननेवाली जनता तो कम नहीं हुई। कवि-सम्मेलन जितने आज होते हैं उतने पहले कभी नहीं होते थे और उनमें जितनी बड़ी संख्या में जनता आती है वह भी अभूतपूर्व है।

प्रश्न : क्या आज की कविता जन-जीवन से दूर होती जा रही है ?

उत्तर : मेरा ऐसा विचार है कि आज की कविता जीवन की ऐसी समस्याओं से जूझ रही है जिनका आभास साधारण जनता को नहीं है या कम है। ऐसे समय नयी कविता से उसका उदासीन रहना स्वाभाविक हो सकता है। छायावादी काव्य जिस समय आया उस समय भी जनता ने खुले हृदय से उसका स्वागत नहीं किया था। उस समय वाहवाही रीतिकालीन कवित्त, सवैया सुनानेवाले ले जाते थे, पर धीरे-धीरे स्थिति बदल गई और छायावादी कविताएँ लोकप्रिय हो गईं। आज के कवि को जनता से दूर नहीं जाना चाहिए, वह समय आने पर जनता को भी आकर्षित कर सकेगा।

प्रश्न : क्या कवि-सम्मेलन आज की कविता के साधारणीकरण के प्रमुख मंच बने हुए हैं ?

उत्तर : इसमें कुछ सत्य है। सामान्य जनता नये से घबराती है। पुराने से आश्वस्त रहती है। कवि जब केवल जनता के मनोरंजन को अपना ध्येय बनाता है तो वह पुरानी मान्यताओं को ही दुहराता है। प्रतिभावान कवि जनता को अपने धरातल पर उठाने में सफल होता है। जनता को आनन्द देते हुए नवीन अथवा ऊँचे धरातल पर उठा लेना बहुत बड़े कवि का काम है। यदि आज की कविता में साधारणीकरण आया है तो उसका दायित्व कवि-सम्मेलनों पर जितना है उससे अधिक कवियों पर है। जनता कवि के लिए सदा ही एक चुनौती रही है। कवि को उसे स्वीकार करना चाहिए। आज की दयनीय परिस्थिति यह है कि एक वर्ग ने तो जनता से पराजय स्वीकार कर ली है और दूसरे ने उसकी उपेक्षा कर दी है। जनता उपेक्षणीय नहीं है; वह असाध्य भी नहीं है।

प्रश्न : कवि-सम्मेलन अच्छी कविता के वास्तविक वितरक क्यों नहीं बन पाते ?

*'संस्कृति' (नयी दिल्ली) में प्रकाशित। कब ? याद नहीं।

उत्तर : इस प्रश्न का कुछ उत्तर तो पिछले प्रश्न के उत्तर में सम्मिलित है। पर वहाँ मैंने दायित्व मुख्यतया कवियों पर डाल दिया है। सच तो यह है कि अच्छी कविता के प्रचार, प्रसार, रसानुभूति में जनता के मानसिक स्तर का भी बड़ा योग रहता है। कविता की रसानुभूति कुछ दीक्षा, कुछ संस्कार माँगती है। यह हम अभी अपनी साधारण जनता को नहीं दे पाए। शिक्षा और सुरुचि के प्रसार से ही यह सम्भव हो सकेगा। कवि-सम्मेलन स्वयं किसी अंश में ऐसी शिक्षा-दीक्षा के माध्यम बन सकते हैं।

प्रश्न : कविता के बारे में जन-रुचि कुछ घिसे-पिटे विषयों, तुकबन्दियों या वाक्-विच्छित्तियों तक ही सीमित क्यों होतीजा रही है?

उत्तर : जैसे समाज में, वैसे ही साहित्य में क्रान्तियाँ रोज-रोज नहीं होतीं। प्रथम बार जब नयी प्रवृत्ति आती है तो उसके आवेग का अनुभव होता है, पर बाद को वह परिचित, स्वीकृत, मनोज्ञ, मनोरंजक रह जाती है। थोड़े दिनों में उससे ऊब होने लगती है और नयी प्रवृत्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। इस प्रश्न में जो ऊब है उसी में संकेत है कि कुछ नया आनेवाला है। हम उसके स्वागत के लिए तैयार रहें। जीवन्त साहित्य, समाज, देश में गतिरोध की स्थितियाँ स्थायी नहीं होतीं।

प्रश्न : क्या अच्छा गला या अच्छा पठन-कौशल एक अच्छे कवि के लिए अपरिहार्यतः आवश्यक है?

उत्तर : शब्द का पंछी स्वर के परों पर ही भावना के आकाश को छू सकता है। अच्छी कविता में एक आन्तरिक स्वर-सौन्दर्य अपरिहार्यतः निहित होता है। जो उसको उभार सके वह कविता को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करता है। न कर सकने पर कविता कम प्रभावकारी होगी। पर उससे कविता की क्षमता में कोई फ़र्क न पड़ेगा; वह अच्छे स्वरदाता की प्रतीक्षा कर सकती है। जहाँ कविता का यह आन्तरिक स्वर-सौन्दर्य नहीं, वहाँ गलेबाज़ी से कविता और भोंडी लगती है, जैसे किसी कुरूपा को कोई क़ीमती सारी पहना दे। पर पहचानने-वाली आँखों के लिए क़ीमती सारी कुरूपता को और बढ़ाएगी, छिपाएगी नहीं। बिल्कुल यही कविता पर भी लागू है। अच्छी कविता अच्छे स्वर में पढ़ी जाने पर ही अपना पूर्ण वैभव व्यक्त करती है।

प्रश्न : क्या समय-समय पर विभिन्न स्तरों पर आयोजित होनेवाले कवि-सम्मेलन (गली के कवि-सम्मेलन से लाल क़िले के वार्षिक कवि-सम्मेलन तक) कविता की क्रमिक प्रगति के परिचायक होते हैं?

उत्तर : यह बात निर्भर करती है इस पर कि इन कवि-सम्मेलनों में किस प्रकार के कवि भाग लेते हैं। कुछ कवि नयी भावनाओं को वाणी देते हैं, नये प्रयोग करते हैं, प्रायः वे लोकप्रिय नहीं होते; कुछ कवि पिछली भावनाओं को सँवारते-निखारते हैं; वे नया तो कुछ नहीं देते, पर पुराने को नये तरीक़े से, नये सलीक़े से अवश्य रखते हैं; इन्हें लोकप्रियता प्राप्त करना सरल होता है; कुछ पुराने को नवीनता तो किसी प्रकार की नहीं दे पाते पर उसे छोड़ने में असमर्थ होते हैं। किसी भी कवि-सम्मेलन में यही तीन प्रकार के कवि देखे जाएँगे, अनुपात में कम या ज्यादा। पर काल की भी एक गति होती है; उसके साथ स्वर बदलता है, शब्द बदलते हैं, कहने के तरीक़े बदते हैं, विषय बदलते हैं, विषयों के प्रति कवियों की प्रतिक्रियाएँ बदलती हैं, उपनयन (एप्रोच) बदलते हैं। आज से 50 वर्ष पूर्व के किसी सम्मेलन का टेप-रिकार्ड यदि आज सुनाया जा सकता तो आज के कवि-

गये। क्या जाने उसी रहस-परस ने मुझे कवि बना दिया हो !

मेरे घर का वातावरण कवित्वपूर्ण था। पिताजी प्रतिदिन 'रामायण', 'विनय-पत्रिका' और 'गीता' सस्वर पढ़ते, माताजी 'सूरसागर' पढ़तीं। मेरी बड़ी बहन आर्य कन्या पाठशाला की छात्रा थीं; प्रायः 'संगीत-रत्न-प्रकाश' के भजन गातीं। उत्सवों-त्यौहारों पर लोकगीत गाये जाते। ढोलक-मजीरा-ताशा गिरिस्ती के सामान के अविच्छिन्न अंग थे। घर में 'सरस्वती' आती थी। किसी साक्षात् कवि के लिए आकर्षण होना मेरे लिए स्वाभाविक था। मैंने अपनी पहली पूर्ण कविता 1920 में कायस्थ पाठशाला, प्रयाग के एक अध्यापक के विदाभिनन्दन में लिखी—'दीन जनों के पास नहीं हैं, मणि-मुक्ता के सुन्दर हार'। अन्तिम पंक्ति में भाव था—इसलिए फूलों में अपना हृदय गूँथ कर देते हैं। पन्तजी के विषय में पहला प्रशंसात्मक लेख मैंने 1922 में 'सरस्वती' में पढ़ा। लेखक थे म्योर कालेज के अंग्रेज़ी के अध्यापक पण्डित शिवाधार पाण्डे। जिसे देखा है उसकी रचना पढ़ने को मिल सकती है; 'उच्छ्वास' (1922) के लिए आकर्षण बढ़ा। उसे खरीदने को पैसा जुटाने के लिए मुझे तप करना पड़ा।। 1924 में खरीदी वह प्रति आज भी मेरे पास है।

पन्तजी की कविता उनके मुख से पहली बार सुनने का सौभाग्य मुझे प्रयाग के किसी कवि-सम्मेलन में प्राप्त हुआ। लोग उनके रूप-वेश से अवाक्, दुर्बलता-रूँधी पतली-तीक्ष्ण आवाज़—लड़कियों की-सी, एक हाथ स्थिर, एक भावपूर्ण लय-मुद्रा में हिलता हुआ, एक ही छोटी-सी कविता सुनाकर परिश्रान्त, फिर उठकर अन्तर्धान।

उन्हें देख-सुनकर मेरी कवि बनने की आकांक्षा कुण्ठित हो गयी। ऐसा रूप, ऐसा परिधान, ऐसी आवाज़ हो तब तो कवि बना जाय। बाल बढ़ाया जा सकता था, बाल बढ़ा लिये।

देश में असहयोग आन्दोलन की लहर थी। लोगों के सिर पर गांधी टोपी, बदन पर खद्दर चढ़ रहा था। ख़बर सुनी पन्तजी ने कालेज छोड़ दिया, पर क्या विपर्यय है, विलायती सूट नहीं छोड़ा, गांधी टोपी नहीं लगाते, बालों पर नहीं लगा सकते, पर खद्दर क्यों नहीं पहनते? उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में हर मास आने लगीं। 'पल्लव' ('26), 'वीणा' ('27), 'ग्रन्थि' ('29) प्रकाशित हुईं, मेरी मेज़ पर पाठ्य पुस्तकों के साथ सज गयीं। धीरे-धीरे 1930 के सत्याग्रह आन्दोलन का समय आ गया। जनता में उत्साह का उबाल दिखा, सक्रियता की उछाल दिखी। ख़बर सुनी पन्तजी ने कालाकाँकर में जाकर शरण ली है। मन को अच्छा नहीं लगा। भारत की दीन जनता आज़ादी की लड़ाई में जूझ रही है और मेरा प्रिय कवि पलायनी बन, राजदरबार में रहता है—गाता है।

> कालाकाँकर का राज-भवन
> सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
> पलकों में वैभव-स्वप्न सघन। —**गुञ्जन**, 1932

1932 में श्री नरेन्द्र शर्मा प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ने को आ गये थे—पन्तजी की कविता के अनन्य भक्त। मैंने 1930 के आन्दोलन में युनिवर्सिटी छोड़ दी थी, पर उधर मेरा आना-जाना लगा रहता था। पन्तजी की कविता के समान-प्रेमी होने के नाते हम लोग अधिक निकट आ गये। अभी वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है जब हम दोनों साइकिलों पर चढ़े—एक दूसरे के कन्धे पर हाथ रक्खे युनिवर्सिटी-क्षेत्र में गाते फिरते थे—'कब से बिलोकती तुमको ऊषा आ वातायन

सम्मेलन के क्रमिक विकास का आभास अवश्य देता।

प्रश्न : क्या कवि-सम्मेलन कविता को कुछ सीमित लीकों में बाँधने के कारण उसके विकास में बाधक नहीं होते ?

उत्तर : हिन्दी कवि-सम्मेलनों ने कविता को कभी सीमित लीकों में बाँधने का प्रयत्न नहीं किया, जैसा कि उर्दू मुशायरों ने एक बड़ी लम्बी अवधि तक किया था। और इस कारण उर्दू कविता की गति भी बहुत दिनों तक रुद्ध रही। हिन्दी के लिए मैं कोई ऐसा ख़तरा नहीं देखता। प्रतिभावान कवि कवि-सम्मेलनों को कविता के विकास का बड़ा सजीव माध्यम बना सकता है।

प्रश्न : क्या कविता केवल पत्र-पत्रिकाओं और संग्रहों में मुद्रित होने के लिए ही लिखी जानी चाहिए ? जन-विनोद में आज क्या उसका कोई स्थान नहीं है ?

उत्तर : नहीं, उसे सुनाने के लिए भी लिखना चाहिए—सुनाने की सम्पूर्ण कला के साथ उसे प्रस्तुत करना चाहिए—सुरुचिपूर्ण जनता का निश्चय ही ऐसे काव्य-पाठ से विनोद होगा। पर काव्य का विनोद अपनी विशिष्टता भी रखता है। सिनेमा के गीत से जो विनोद होता है उससे काव्य के विनोद की तुलना मैं न करना चाहूँगा।

प्रश्न : कवि-सम्मेलनों में जन-विधाता कवियों की क्या नीति होनी चाहिए, जिससे वे जन-रुचि को सुरुचि का मोड़ देते हुए उसका नेतृत्व कर सकें ?

उत्तर : यह प्रश्न टेढ़ा है। कौन कवि अपने को जन-विधाता मान ले ? कौन नेतृत्व करने के लिए आगे बढ़े ? कवि को जन-विधाता और नेता बना लेने का काम जनता का है। कवि के कुरुचिपूर्ण होने की कल्पना करना कवि नाम को लज्जित करना है। वह सुरुचिपूर्ण ही होना चाहेगा, यह और बात है कि अपनी असमर्थता से वह हो न पाये। उसका काम जनता में सुरुचि फैलाना ही है। मनो-रंजन और सुरुचि बिल्कुल विरोधी प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। सुरुचि कोई कड़वी दवा नहीं जो जनता के गले में ज़बर्दस्ती डाल दी जाए। निश्चय ही मनोरंजन से सुरुचि को ग्राह्य बनाना और सुरुचि से मनोरंजन को संयमित रखना बड़ी प्रतिभाओं का काम है। केवल मनोरंजन करनेवाला कवि गिरते-गिरते विदूषक की श्रेणी में पहुँच जाता है—मैंने एक कवि-सम्मेलन में एक कवि को उल्लू की बोली बोलकर जनता का मनोविनोद करते देखा है। मैंने एक कवि को नबी की तरह जनता पर छाये भी देखा है जबकि उसके शब्द-भावों-विचारों को वह शायद बिल्कुल भी नहीं समझ रही थी। कवि को अपनी क्षमता देखते हुए निश्चय करना पड़ेगा कि उन दोनों के बीच उसका स्थान कहाँ है।

संक्षेप में कहना चाहूँगा कि कवि-सम्मेलन एक जीवन्त संस्था है। उससे जनता और कवि दोनों कुछ महत्त्वपूर्ण ले-दे सकते हैं। दोनों को प्रयत्न करना चाहिए कि यह संस्था स्वस्थ, सुरुचिपूर्ण और शिष्ट विनोद को प्रदान करने की माध्यम बनी रहे।

पत्र-परिचर्चा : चार

प्रश्न श्यामसुन्दर घोष के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : आपका कौन-सा काव्य-संकलन आपके काव्य में विभाजक-रेखा का काम करता है ? अर्थात् पूर्ववर्ती काव्य कहाँ तक माना जाय और परवर्ती काव्य का श्रीगणेश कहाँ से समझा जाय ? क्या किसी ख़ास कविता को इसका श्रेय दिया जा सकता है ?

उत्तर : 1929-'30 से अब तक लिखता रहा हूँ तो मेरे काव्य में पूर्ववर्ती और परवर्ती का होना स्वाभाविक है। ऐसा विभाजन प्राय: एक कविता पर नहीं होता। किसी एक संग्रह को भी मैं विभाजन-रेखा पर न रखना चाहूँगा। काल को विभाजन-रेखा पर रखना अधिक समीचीन होगा। '52 से '54 तक मैं इग्लैंड में रहा —केम्ब्रिज में ईट्स पर पी-एच. डी. के लिए शोध प्रबन्ध तैयार करने में—आधुनिक योरोपीय मनस् के सम्पर्क में भी। इस अवधि में सौ से ऊपर कविताएँ भी लिखीं जो तीन संग्रहों में आयीं –'प्रणय पत्रिका,' 'आरती और अंगारे,' और 'बुद्ध और नाचघर' में। इन तीनों संग्रहों में पूर्ववर्ती और परवर्ती के बीच का मध्यवर्ती काव्य शायद पाया जा सकता है।

प्रश्न : क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि आपके पूर्ववर्ती काव्य की तुलना में परवर्ती काव्य का मूल्यांकन नाकाफ़ी है और बहुत हद तक ग़लत भी है? कारण ?

उत्तर : मेरे पूर्ववर्ती काव्य का भी मूल्यांकन नहीं हुआ; उससे परवर्ती काव्य के मूल्यांकन की तुलना क्या करूँ। जिस मूल्यांकन को मैं मानता हूँ वह यह है कि मेरे पूर्ववर्ती काव्य के पाठक अगर लाखों में हैं तो मेरे परवर्ती काव्य के हज़ारों में। हिन्दी में मूल्यांकन प्राय: उन्हीं का हुआ है जो किसी कारण पाठ्यक्रमों में बिठला दिए गए हैं—जो जीवन में पैठे हैं उनके मूल्यांकन से हिन्दी समालोचक को क्या ग़रज ? हिन्दी का पाठक हिन्दी के समालोचक से अधिक जागरूक है। वह समालोचकों के बग़ैर ढोल पीटे भी जानता है, कौन-सी वस्तु उसके जीवन के निकट है, और अक्सर जिसका वे बहुत ढोल पीटते हैं उसकी ओर वह कान ही नहीं करता। हिन्दी की अधिकांश समालोचना विश्वविद्यालयी, स्कूली, कुंजी-रूपी, परीक्षोपयोगी और मोर्दारिसी है।

प्रश्न : क्या आप व्यक्तिगत रूप से (भी) पूर्ववर्ती काव्य के प्रति अधिक मोह रखते हैं?

उत्तर : जी नहीं। मुझे अपने परवर्ती काव्य से अधिक मोह है। सबसे अधिक मोह अपनी नवीनतम प्रकाशित रचना से - इस समय 'दो चट्टानें' से और इससे भी अधिक उससे जो अभी गर्भ में है—यानी जो आगे आनेवाली है—उसी पर तो मैं अपना सबसे अधिक स्नेह-श्रम-लगन निछावर करता हूँ।

प्रश्न : आपका पूर्ववर्ती काव्य भावुकता का काव्य है जबकि परवर्ती काव्य

प्रौढ़ता का काव्य है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

उत्तर : जी नहीं। मेरा पूर्ववर्ती काव्य केवल 'भावुकता' का काव्य नहीं है—उसके पीछे गहन-गम्भीर चिन्तन भी है—उसके पीछे एक जीवन-दर्शन भी है। परन्तु उसे काव्य पर हावी नहीं होने दिया गया है। 'प्रौढ़ता' से अगर आपका अर्थ बौद्धिकता से है तो आज भी वह इतनी प्रखर नहीं कि 'भावुकता' के सारे स्रोतों को सोख गई हो। तुलना में पूर्ववर्ती काव्य अधिक भावुक और परवर्ती अधिक बौद्धिक कहा जा सकता है। केवल भावुकता और केवल बौद्धिकता सजीव कविता लिखने में अक्षम हैं। दोनों के सही अनुपात से ही जीवन में धड़कन होती है।

प्रश्न : जहाँ तक कला का सवाल है आपने सतर्कता तभी बरती है जबकि भावों का जनून थम गया है अर्थात् परवर्ती काव्य की शुरुआत भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष की सतर्कता की शुरुआत है ?

उत्तर : आपका ख्याल बिल्कुल ग़लत है। कला के प्रति सतर्कता या सचेतता भी न तो मुझे पहले कभी थी और न अब है। मेरी रचना में यदि कोई कला है तो वह स्वाभाविक अभिव्यक्ति की कला है। मैं लिखते समय अपने कथ्य से इतना तन्मय रहता हूँ कि मुझे कला का ध्यान ही नहीं आता। मेरे कथ्य की जीवन्तता (vitality) से कोई कला स्वयं प्रस्फुटित होती हो तो मैं नहीं जानता। सायास किसी तरह की शब्द-कला-कारीगरी दिखाने का न तो मैंने कभी प्रयत्न किया है और न मुझमें इसकी क्षमता है। इस सम्बन्ध में मैं उतनी ही सच्चाई के साथ कह सकता हूँ जितनी सच्चाई के साथ तुलसी कहते हैं—'कवित-विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे' या 'कवि न होऊँ नहि वचन-प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।' वास्तविकता तो यही है कि कवित्त-विवेक, वचन-प्रवीणता और शब्द-कला से और कुछ लिखा जा सके, कविता नहीं लिखी जा सकती—कविता जीवन की ईमानदार आवाज़ होती है।

प्रश्न : पूर्ववर्ती काव्य जहाँ संश्लिष्ट है वहाँ परवर्ती काव्य की प्रकृति विश्लिष्टता की ओर है। इस विश्लिष्टता को संश्लिष्ट बनाये रखने के लिए आप अधिक जूझे हैं या जूझते रहे हैं। इसलिए कवि-कर्म परवर्ती काल में आपके लिए अधिक कठिन रहा है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

उत्तर : 'संश्लिष्ट,' 'विश्लिष्ट' जैसी पदावली के आधुनिक सन्दर्भ से मैं अन-भिज्ञ हूँ। जैसे मैं कविता पहले लिखता था, वैसे ही अब भी लिखता हूँ, यानी श्रम की दृष्टि से। लिखना मुझे हमेशा ही कष्टसाध्य रहा है क्योंकि इसके लिए मुझे अपने को जीवन और जीने से अलग करना पड़ा है। लिखना एक अर्थ में सुखकर होकर भी जीने का बड़ा प्राणहीन स्थानापन्न है। अपनी 40 से ऊपर कृतियों को देखता हूँ तो मेरे कलेजे में हूक उठती है कि हाय, मैंने अपने को जीने से कितना वंचित किया है।

पूरक प्रश्न*

प्रश्न : मूल्यांकन का तात्पर्य केवल आलोचकों द्वारा मूल्यांकन नहीं। इसमें हम पाठकों की प्रतिक्रिया भी शामिल कर सकते हैं। आप स्वयं मानते हैं कि आपके पूर्ववर्ती काव्य के पाठक अगर लाखों में हैं तो परवर्ती काव्य के हज़ारों में।

*प्रश्न 1967 में उठाए गये। उत्तर 1973 में दिये गये।

इसका कारण ?

उत्तर : इसका कारण जानने के लिए मेरे काव्य की ओर उतनी नहीं, जितनी मेरे पाठकों की ओर नज़र दौड़ानी होगी। साथ ही युग में आये परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना होगा। थोड़ा ध्यान मेरी कविता में परिवर्तन की ओर भी दिया जा सकता है।

जब मैं अपनी हाला-सम्बन्धी कविताएँ लेकर हिन्दी श्रोताओं के सामने आया तो मेरा सबसे अधिक स्वागत नवयुवक वर्ग ने किया, यानी मेरे सम-वयस्कों ने—उस समय मेरी अवस्था लगभग पचीस के थी। कालक्रम में मैं बढ़ता गया और अपनी अवस्था, अपनी मानसिक अवस्था, अपने अनुभवों, एक शब्द में अपने विकास के अनुरूप कविताएँ लिखता गया, पर मेरा श्रोतावर्ग, जो मेरा पाठक वर्ग बन गया था, उम्र में बढ़ने के साथ ही कविता से छूटता गया। हिन्दी कविता का प्रेमी प्रायः नवयुवक वर्ग ही है। यह जब पढ़ाई समाप्त कर विवाहित हो, घर बसा, नौकरी-चाकरी से लग जाता है, तब कविता से उसका सम्बन्ध कम ही रह जाता है। उस वर्ग ने कविता के नाते अगर कभी मेरी याद की तो मधुशाला, मधुबाला के कवि के रूप में। एक बार, प्रथम बार, इसने मुझे जिस कविता के साथ जोड़ दिया था उससे यह मुझे अलग करके न देख सका। बाद को इस वर्ग के सैकड़ों लोगों ने मुझसे यह प्रश्न किया कि आप मधुशाला जैसी चीज अब क्यों नहीं लिखते ? इस प्रश्न से मेरी मधुशाला जैसी चीज़ लिख सकने की असमर्थता से अधिक उसने अपनी रुचि-सीमा अथवा रुचि-रूढ़ि ही व्यक्त की।

फिर स्वयं जीवन में व्यवस्थित हो जाने, नियमित और सुनिश्चित रूप से एक उच्च शिक्षा-संस्था में अध्यापन कार्य करने लगने पर कवि सम्मेलनों में मेरा जाना क्रमशः कम होता गया। मैं अपनी बाद की कविताएँ अपने स्वर-सम्पर्क के माध्यम से अपने पाठकों तक न पहुँचा सका। रेडियो के माध्यम से स्वर पहुँचा पर वह व्यक्तिगत सम्पर्क का स्थानापन्न नहीं बन सकता था। आगे चलकर दूसरे महायुद्ध के समय से महँगाई, किताबों के मूल्य में बढ़ती, लोगों के ख़रीदने की अक्षमता आदि ने भी मेरे पाठकों की संख्या नियन्त्रित की—जब रोटी, कपड़े, घर-किराये, बच्चों की पढ़ाई, दवा-दरमत के ख़र्च से कुछ उबरे तब तो किताबें ख़रीदी जायँ ! आज़ादी मिलने के बाद सामूहिक मनोरंजन के अवसरों की अभिवृद्धि ने भी पुस्तक-पाठकों की संख्या कम की—ज़रा इतना ही पता लगाएँ कि पिछले पचीस वर्षों में सिनेमा-घरों की संख्या कितनी बढ़ गई ! साधारण जनता की यह प्रवृत्ति है कि जब वह सामूहिक मनोरंजन में रुचि ले सकती है तो एकाकी मनोरंजन के पास नहीं फटकती—पढ़ना तो एकाकी मनोरंजन हुआ न ?

और अन्त में, एक आम तौर से, इस युग में कविता के प्रति लोगों में उदासीनता का भाव आया। अगर मेरी परवर्ती कविताएँ कम पढ़ी गईं तो मैं जानना चाहूँगा कि किसकी कविताएँ ज्यादा पढ़ी गईं। शायद जिनकी कविताएँ पढ़ी गयीं उनमें सबसे ज़्यादा मेरी।

मेरी बाद की कविता के पाठकों की कमी का कारण यदि आप मेरी कविता के परिवर्तन मात्र को मानेंगे तो दूसरे शब्दों में आप मेरी परवर्ती कविताओं की विशिष्टता ही स्वीकार करेंगे, जिसे समझने की रुचि का विकास आम जनता में मेरे विकास के साथ-साथ नहीं हो सका। आप चाहें तो मुझे दोष दे सकते हैं कि मैं अपने बहुसंख्य पाठकों को अपने साथ लेकर नहीं चल सका।

प्रश्न : आपके पूर्ववर्ती काव्य की तुलना में परवर्ती काव्य का मूल्यांकन

नाकाफ़ी है और बहुत हद तक ग़लत भी हुआ है। इसका आशय यह है कि पूर्ववर्ती काव्य को सराहनेवाले लाखों लोग हैं जबकि परवर्ती काव्य के प्रति उन लाखों लोगों का भी वैसा आकर्षण नहीं है। क्या इसके लिए आलोचकों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता? वास्तव में आलोचना का एक काम यह भी है कि वह किसी कवि के काव्य-विकास की विभिन्न मंज़िलों का सन्तुलन निर्दशित करे। इससे कवि की विभिन्न मंज़िलों के बीच एक ऐसा सोपान निर्मित होता है जिस पर औसत पाठक रुचि के साथ आरोहण करता है। आपके आलोचकों ने यही नहीं किया। उन्होंने परवर्ती काव्य का ग़लत मूल्यांकन कर औसत पाठकों को बरग़लाया। क्या आप इससे सहमत हैं?

उत्तर : क्षमा कीजिएगा, मूल्यांकन करनेवालों में आप सम्मिलित तो पाठकों को भी करते हैं, पर इस प्रश्न को पूछते समय समालोचक ही आपकी दृष्टि में रहे हैं। ख़ैर। इसका मेरा दो टूक, और शायद आलोचकों को अप्रिय लगनेवाला भी, उत्तर यह है कि हिन्दी में आलोचक अभी इतना समर्थ और सशक्त नहीं हुआ कि वह पाठकों की रुचि को बना अथवा बदल सके। इस कारण आपकी दृष्टि में आलोचकों का जो काम है, और जो उन्होंने नहीं किया उस पर एक क्षण के लिए भी मेरा ध्यान नहीं जाता। आपके आरोप के अनुसार यदि उन्होंने मेरे परवर्ती काव्य का ग़लत मूल्यांकन किया अथवा औसत पाठकों को बरग़लाया (कहाँ?—यह तो आप ही जानते होंगे और बता सकेंगे) तो मुझे यह स्पष्ट है कि मेरे पाठकों पर उनका कोई असर नहीं हुआ। अपने पाठकों की कमी के लिए मैं, आलोचकों को नहीं, बल्कि पूर्व संकेतित कारणों के साथ अपने को और अपने काव्य को उत्तरदायी ठहराऊँगा। साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि अपने प्रगति-पथ में रुक-रुककर अपने सुस्त पाठकों की बाट जोहना मेरे लिए स्वस्थ नहीं हो सकता था।

प्रश्न : कवि की जाँच आलोचक भी करते हैं और पाठक भी। लेकिन दोनों की जाँच की कसौटी अलग-अलग होती है। सम्भव है कोई कवि अलग-अलग समय अलग-अलग कसौटियों पर ख़रा साबित होकर अलग-अलग समुदाय विशेष का प्रिय पात्र बने। क्या इस दृष्टि से यह कहना ठीक होगा कि जब आप जनाभिरुचि की कसौटी पर खरे साबित होकर आलोचकों के निकष पर भी खरे सिद्ध होने को प्रस्तुत थे तब आलोचकों ने अपने सुन्दर सर्वांगीण निकष का प्रयोग न कर जनाभिरुचि के निकष का ही सहारा लिया और ऐसा कर ग़लत फ़ैसला दिया?

उत्तर : मैंने आलोचकों से यह प्रत्याशा नहीं की कि वे मेरी कविता को अपने निकष का विषय बनाएँ, और न इससे नाराज़ ही हूँ कि उन्होंने मेरी कविता को ग़लत निकष पर रक्खा। साफ़ बात यह है कि उनके नतीजों का प्रभाव न तो मेरे सृजन पर पड़ा और न मेरे पाठकों की रुचि पर।

प्रश्न : जब लिखना आपके लिए हमेशा एक कष्टसाध्य कार्य रहा है तो ऐसा क्यों माना जाय कि आप कला के प्रति सतर्क या सचेत नहीं रहे हैं? क्या कला-निष्ठा के कारण ही आपने ये कष्ट नहीं झेले हैं?

उत्तर : कष्ट झेले हैं, कला-निष्ठा के कारण नहीं, जीवन-निष्ठा के कारण। मेरा काव्य जीवन-अनुभूतियों का काव्य है, केवल जीवन पर चिन्तन-मनन का नहीं। केवल चिन्तन-मनन आधारित काव्य, अभिव्यक्ति पर अधिकार पा लेने पर, आसानी से लिखा जा सकता है। उदाहरण के लिए पन्त का अधिकांश काव्य, विशेषकर परवर्ती काव्य इसी प्रकार लिखा काव्य है। जीवनानुभूतियों को अभि-

व्यक्ति नहीं, प्रेषण नहीं, उद्बोधन (evocative) बनाने की प्रक्रिया कष्टसाध्य होगी ही। यह भोगी अनुभूति को शब्द के माध्यम से फिर जीना या अधिक घनिष्ठता से जीना है। जीने में तो मनुष्य की प्राणवत्ता अनुभूतियों का सारा भार उठा लेती है। सृजन में प्राणवत्ता का जो स्थानापन्न यह कार्य करता है वह मन-मस्तिष्क की शिरा-शिरा को खींच, ऐंठ, निचोड़ डालता है। जीवनानुभूतियों को उनके उद्बोधक रूप में उतार देने में ही कला निहित न हो तो मैं उसके प्रति सतर्क अथवा सचेत नहीं। सृजन के क्षण में मन-मस्तिष्क में क्या घटित होता है उस क्षण के बीतने पर इसे पकड़ना असम्भव है। सृजन के पश्चात् की थकान, शिथिलता, एक प्रकार का सुकून भी, यह सबूत देता है कि किस शिकंजे में से निकल आये। सर्जक बार-बार इस शिकंजे में क्यों अपने को डालता है इसका उत्तर चाहेंगे तो वह सृष्टि के रहस्यों को ही उद्घाटित करने जैसी जिज्ञासा होगी। पर सृजन का कष्ट विधाता को भी उठाना पड़ता है। 'तप बल रचइ प्रपंच विधाता।' रचना ही सृजन, 'तप' ही कष्ट।

प्रश्न : आपकी रचना में यदि कोई कला है तो वह स्वाभाविक अभिव्यक्ति की कला है। क्या यह भी कला का एक रूप, अपेक्षाकृत अधिक कठिन, किन्तु अधिक प्रभावशाली रूप नहीं है? क्या इसके लिए परवर्ती काल में आपको अधिक श्रम नहीं करना पड़ा है—विशेषकर तब जबकि आप स्वयं मानते हैं कि आपका परवर्ती काव्य अधिक बौद्धिक है?

उत्तर : स्वाभाविक अभिव्यक्ति को आप कला का एक रूप मानते हों तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। पर मुझे यह स्पष्ट नहीं हो सका कि किस तर्क से आप भावुकता को सहज साध्य और बौद्धिकता को श्रमसाध्य समझ रहे हैं?

प्रश्न : आपकी बौद्धिकता भी इतनी प्रखर नहीं है कि भावुकता के सारे सरस स्रोतों को सोख गई हो, यह आपका कथन है। क्या आपका साहित्य स्थान-स्थान पर इस धारणा का खण्डन नहीं करता? क्या पूर्ववर्ती भावुकता को आप केवल अपनी चीज़ मानते हैं? क्या वह युग की चीज़ नहीं थी? क्या वह युग नहीं बीत गया? यदि अभी भी आप उन स्रोतों को क़ायम रखना चाहते तो क्या उन्हें युगीन प्रभाव के दबाव नहीं सहने पड़ते? क्या इससे अभिव्यक्ति अर्थात् कला की समस्याएँ अधिक जटिल नहीं होतीं?

उत्तर : मेरे कहने पर न जाइये। जहाँ-जहाँ मेरी बौद्धिकता ने मेरी भावुकता को सोख लिया है वहाँ-वहाँ पर आप उँगली रखिए, मैं आपकी उँगली पकड़ने नहीं आऊँगा। आप चाहेंगे तो मैं वहाँ-वहाँ पर उँगली रख दूँगा जहाँ मेरी भावुकता भी मेरी बौद्धिकता के साथ है। मैं मान लूँगा कि भावुकता-प्रधान और बौद्धिकता-प्रधान युग होते हैं। गलती आप लोग वहाँ करते हैं जहाँ यह समझ लेते हैं कि भावुकता के युग में बौद्धिकता गधे की सींग हो जाती है या बौद्धिकता के युग में भावुकता गूलर का फूल। कवि बेचारे को इतनी समझ तो दीजिये कि वह युग के प्रवृत्ति-प्रवाह को पहचानता है। मेरे ऐसा सहजयानी धारा के विपरीत खेने का खतरा क्यों मोल लेने लगा!

प्रश्न : क्या परवर्ती काल में जीवन का बिखराव और विविधता अधिक प्रत्यक्ष नहीं हैं? क्या जीवन का यह बिखराव और वैविध्य उस जीवन की तुलना में अधिक उद्विग्नकारी नहीं है जिसे आप पहले अपनी कविता में समेट लेते थे?

उत्तर : वर्तमान जीवन का बिखराव और वैविध्य निश्चय ही विगत की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और उद्विग्नकारी है, और उसी अनुपात में कवि के लिए

और बड़ी चुनौतियाँ।

प्रश्न : पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य के मध्य एक और खण्ड—मध्यवर्ती काव्य का निर्धारण जिसमें आप 'प्रणय पत्रिका', 'आरती और अंगारे' और 'बुद्ध और नाचघर' को रखना चाहते हैं—क्या अस्वाभाविक नहीं है? क्या 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' को हम पूर्ववर्ती काव्य के अन्तर्गत ही नहीं अन्तर्भुक्त कर सकते? क्या इस प्रकार 'बुद्ध और नाचघर' संकलन आपके काव्य की विभाजन-रेखा नहीं है?

उत्तर : मेरे और आपके दृष्टिकोण में अन्तर यह है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती के बीच आप एक रेखा देखते हैं, मैं एक अन्तराल, जिसमें परिवर्तन क्रमशः आया है—एक रेखा पर झटके से नहीं। अस्वाभाविक आपका विभाजन है कि मेरा? आप अपनी राय बनाने के लिए उतने ही स्वतन्त्र हैं जितना मैं अपनी राय रखने के लिए।

पत्र-परिचर्चा : पाँच*

प्रश्न दिनकर सोनवलकर के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : श्री बाँकेबिहारी भटनागर द्वारा सम्पादित 'बच्चन : व्यक्ति और कवि' में निरंकार देव 'सेवक' ने लिखा है, "जब वह प्रयाग में क्लाइव रोड वाले बँगले में रहते थे, प्रतिदिन तीन बजे सोकर उठ जाते थे, मौसम जाड़े का हो, गर्मी या बरसात का।" क्या अभी भी ऐसी कठोर दिनचर्या है आपकी?

उत्तर : जल्दी सो गया तो चार बजे उठ जाता हूँ। बहुत दिनों तक तीन बजे उठता था; पहले दो बजे भी। आजकल रात में ज्यादा देर तक काम करता हूँ। दिन में गर्मी बहुत होती है। इस समय बारह बजने को हैं, जाहिर है, एक-दो से पहले सोने नहीं जा सकूँगा। तब तो चार बजे उठना मुश्किल होगा; छह बजे तक उठूँगा। मैं रातों को बहुत जगा हूँ। मेरी नींद बहुत एरियर में है। यह तो तभी पूरी होगी, 'जब पड़ूँगा तान चादर सर्वथा निश्चिन्त होकर।' मैं तुलसी के शब्दों में बहुत ईमानदारी के साथ कह सकता हूँ,

> 'डासत ही सब निशा बीत गइ
> कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।

आपने 'विनय पत्रिका' पढ़ी है?

प्रश्न : आपकी जो श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ हैं उनकी प्राप्ति का श्रेय आप केवल पुरुषार्थ को देते हैं या उनमें भाग्य का भी कुछ हाथ है?

उत्तर : समझ नहीं पाता कि किन्हें अपने जीवन की उपलब्धियाँ कहूँ? पुरुषार्थी भी आदमी शायद भाग्य से बनता है, और भाग्य भी पुरुषार्थ का दूसरा नाम है। पहले भी आन थी,

---

*22 जून, 1967

'मिला नहीं जो स्वेद बहाकर
निज लोहू से भीग-नहाकर,
वर्जित उसको जिसे ध्यान है जग में कहलाए नर।'

मैं अपने चारों ओर देखता हूँ तो कुछ भी मूल्यवान ऐसा नहीं दिखायी देता जिसका मूल्य मैंने न दिया हो :

हुई थी मदिरा मुझको प्राप्त, न थी वह भेंट, न थी वह दान;
अमृत भी मुझको अस्वीकार, अगर कुण्ठित हो मेरा मान।
दृगों ने मोती की निधि खोल, चुकाया था मदिरा का मोल;
हलाहल आता है यदि पास, हृदय का लोहू दूँगा तोल।

प्रश्न : 'जनगीता' की भूमिका में आपने जिस अनुभव एवं घटना का उल्लेख किया है उसे आज के यथार्थवादी, वैज्ञानिक युग में किस दृष्टि से समझाया जा सकेगा ?

उत्तर : आज के यथार्थ और विज्ञान के जीवन में कुछ ऐसा हो सकता है, प्रायः होता भी है, जिसकी व्याख्या बुद्धि के धरातल पर नहीं की जा सकती। 'जनगीता' के अनुवाद को कुछ ऐसा ही समझ लें।

प्रश्न : हाल की विदेश-यात्रा में आपका सबसे रोमांचक अनुभव कौन-सा रहा ?

उत्तर : विदेश का सबसे रोमांचक अनुभव था वाइमार में भूतपूर्व नाज़ी कन्सट्रेशन कैम्प की यात्रा का। हिटलर के समय में वहाँ दो लाख से अधिक लोग बन्दी बनाकर रक्खे गए थे; और क़रीब साठ हज़ार को जान से मार दिया गया था। वहाँ सामूहिक फाँसी की जगह देखी और वे बिजली के चूल्हे, नहीं, नहीं, बिजली की भट्टियाँ, जिनमें दस-दस, बारह-बारह लोग एकसाथ जलाए जाते थे, जिनमें प्रायः अर्द्ध-जीवित भी हुआ करते थे। कैम्प देखकर लौटा तो एक रेस्तराँ में खाना खाने बैठा। लग रहा था जैसे किसी भुने मुर्दे का मांस खा रहा हूँ। उस दोपहर को खाना नहीं खाया गया। विडम्बना यह कि हिटलर ने यह कैम्प वाइमार के निकट बनवाया था, जहाँ मानवतावादी परम्परा के सबसे महान् लेखक गेटे और शिलर निवास कर चुके थे, और जहाँ उनके संग्रहालय आज भी हैं।

प्रश्न : अपनी विदेश-यात्रा में क्या आपको भाषा की कठिनाई महसूस हुई ?

उत्तर : भाषा की कठिनाई हर जगह थी। रूस में हिन्दी बोलनेवाली दुभाषिया साथ थीं। मंगोलिया में अंग्रेज़ी जाननेवाला दुभाषिया था। चेकोस्लोवाकिया और जर्मन में भी अंग्रेज़ी जाननेवाली दुभाषिया महिलाएँ साथ थीं। चेकोस्लोवाकिया में निर्मल वर्मा मिल गये थे। डॉ. स्मेकल भी वहाँ थे, जो बहुत अच्छी हिन्दी बोलते हैं; भारत भी आ चुके हैं।

प्रश्न : अक्सर कहा जाता है कि विदेश में साहित्यकारों को शासन की ओर से पर्याप्त सम्मान एवं सुविधाएँ प्राप्त हैं। क्या अपने यहाँ ऐसी स्थिति कभी आयेगी ?

उत्तर : मेरी यात्रा साम्यवादी देशों में हुई। वहाँ साहित्यिक संगठन राजनैतिक संगठन का ही अंग है। ज़ाहिर है, वहाँ के साहित्यकारों को बड़ी सुविधाएँ प्राप्त हैं। वहाँ सरकार एक मात्र प्रकाशक है। वही चीज़ प्रकाश में आ सकती है जिसे सरकार स्वीकार करे। जिसको सरकार स्वीकार करे उसको भरपूर पारिश्रमिक भी दे सकती है। प्रजातन्त्र में न आपको सरकार अपने अनुकूल लिखने को बाध्य करती है, और न आपको सरकारी सुविधाएँ देती है। साहित्य जनता के

लिए है। साहित्यकार को जनता से सीधे सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार है। जनता जिस रूप में चाहे अपने साहित्यकार को पुरस्कृत कर सकती है। अनुकूल न पाये तो उसकी उपेक्षा भी कर सकती है। प्रजातन्त्र में सरकार जो साहित्यकार के लिए कर सकती है वह बहुत सीमित है। मैं तो सरकार से केवल इतने की प्रत्याशा करता हूँ कि वह देखे कि मेरा प्रकाशक मेरी पुस्तकों की रायल्टी ठीक देता है; मेरे साथ वह बेईमानी नहीं करता। बाक़ी मैं अपने श्रम-साधन से सँभाल लूँगा। अपनी स्वाधीनता मैं किसी भी सुविधा के मूल्य पर बेचना न चाहूँगा, ख़रीदार चाहे सरकार हो, चाहे कोई और व्यापारी या संस्था। हम अपनी असुविधा, उपेक्षा, या असम्मान के रूप में भी जो क़ीमत अदा करते हैं, वह हमारी आज़ादी की कोई बहुत बड़ी क़ीमत नहीं। आज़ादी, फिर बौद्धिक आज़ादी, बड़ी मूल्यवान चीज़ है। सस्ती भौतिक सुविधाओं पर उसे निछावर करनेवालों के प्रति हमें ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए। आपको अपनी सुविधाएँ और नियन्त्रण मुबारक। हमें अपनी आज़ादी में अपनी सब असुविधाएँ सह्य और सुखकर हैं।

प्रश्न : रूसी साहित्य में नये-पुराने का संघर्ष कैसा और कितना है?

उत्तर : वहाँ की कविता में भी नये-पुराने का अन्तर है। 'अन्तर' झगड़े अथवा आक्रोश की स्थिति तक नहीं पहुँच सकता। इसके राजनैतिक कारण हैं; जिनका संकेत ऊपर किया जा चुका है।

यह अन्तर प्रायः 'फ़ार्म' की सतह तक ही सीमित है, क्योंकि 'कण्टेण्ट' से झगड़ना राजनीति की टक्कर में आना है। इसके लिए न राजनीति अवसर देती है और न इसे वह सहन ही कर सकती है। बड़ी विचित्र बात है कि अमरीका और रूस, दोनों भूमियों पर कुछ ऐसी राजनैतिक और सामाजिक स्थितियाँ हैं कि कविता में परिवर्तन, प्रयोग केवल अभिव्यक्ति के ढंग पर, यानी 'फ़ार्म' में हो रहा है। आश्चर्य नहीं है कि येवतेशेंको का स्वागत अमरीकी नगरों में हो रहा है; गिन्सबर्ग चेकोस्लोवाकिया जैसे साम्यवादी देशों के प्रिय कवि माने जाते हैं।

मैं इसे इस तरह कहता हूँ कि अमरीका आदि पश्चिमी देशों में 'कण्टेण्ट' अन्धा हो गया है। उसे आगे की, भविष्य की, दिशा दिखायी नहीं देती; और रूस आदि देशों में उसकी आँख पर पट्टी बाँध दी गयी है। परिणाम एक ही है। काव्य-परिणति भी एक ही अथवा एक सा रूप ले तो आश्चर्य नहीं। इस विषय पर रूस के विश्वविख्यात लेखक इलिया एहरेनबुर्ग से मेरी एक घण्टे तक बातचीत हुई। वे रूस की वर्तमान साहित्यिक स्थिति और उपलब्धि से बहुत सन्तुष्ट नहीं हैं। उन्होंने मेरे तर्क में कुछ सत्य देखा। मैंने एहरेनबुर्ग से साफ़ कहा कि राजनैतिक और सामाजिक जीवन में 'अन्तिम सत्य' पा लेने के दावे के बाद कवि के लिए सिवा इसके कोई काम नहीं रह जाता कि वह पुरानी शराब को नयी बोतलों में रखता रहे। उन्होंने कहा, 'मुझसे क्या कहते हो!' उसका अर्थ मुझे तब खुला जब 22 मई को होनेवाले मास्को के लेखक सम्मेलन में वे सम्मिलित नहीं हुए, जिसकी सम्मेलन के सभापति शोलोख़ोव ने बड़ी कड़ी आलोचना की। उनका भाषण कभी पढ़ियेगा।

पत्र-परिचर्चा : छह*

प्रश्न सत्यनारायण श्रीवास्तव के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : छायावाद की छत्रछाया में प्रकट और प्रबुद्ध होने के बावजूद आप छायावाद के प्रभाव से अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और अपने कवि-व्यक्तित्व को प्राय: अप्रभावित रखने में सफल हुए। वास्तव में आप छायावाद के अनुवर्ती होकर भी उसके अनुगामी न बने, न बन सकते थे—इसलिए नहीं कि आप रोमांटिक नहीं थे, बल्कि इस कारण कि आपकी सौन्दर्यान्वेषी दृष्टि अपने छायावादी सहधर्मियों की दृष्टि से प्रकृत्या भिन्न थी—'अभिनव सोपान' की विवेचना के क्रम में श्री बालकृष्णराव के इस मत के प्रति आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?

उत्तर : ऐसे मतों पर मैं अपनी प्रतिक्रिया बहुत पहले दे चुका हूँ। उसी को दुहरा देना पर्याप्त होगा।

ले माप दण्ड
जिसको परिवर्तित कर देतीं
केवल छूकर ही देश-काल की सीमाएँ
जग दे मुझ पर फ़ैसला
उसे जैसा भाये,
लेकिन मैं तो
बेरोक सफ़र में जीवन के
इस एक और पहलू से होकर निकल चला।

—मिलन यामिनी

प्रश्न : आप हिन्दी कविता के 'हालावाद' के प्रमुखतम कवि रहे हैं। क्या वास्तव में यह हिन्दी कविता का एक मूल वाद (ओरिजिनल स्कूल) था ?

उत्तर : जब मेरी कविता जनता के सामने आयी तो उसने उसको छायावाद नहीं माना। वह छायावाद के वृत्त में नहीं आ सकती थी। इसीलिए उसने उसको 'हालावाद' कहा। जनता जो कहती है, उसमें एक बड़ा सूक्ष्म अर्थ छिपा रहता है। 'हालावाद' का जो भी अर्थ उसके मन में रहा हो, पर यह स्पष्ट था कि वह मेरी कविता को छायावादी कविता से अलग कुछ विशिष्टता देना चाहती थी। 'हालावाद' का मेरे लिए उतना ही महत्त्व था। शायद छायावाद को प्रगति और प्रयोग की भूमि पर उतरने के लिए एक सीढ़ी की भी आवश्यकता थी, और हिन्दी की मनीषा (जीनियस) ने वह सीढ़ी मेरी कविताओं के रूप में प्रस्तुत कर दी। छायावाद से मेरी कविता का अलगाव किस धरातल पर था, इसका विवेचन दूसरे लोग करें।

प्रश्न : गीत से नयी कविता-क्षेत्र में आपका आगमन कुछ अप्रत्याशित ढंग से

*जुलाई, 1967

से'...। 1933 के प्रयाग के द्विवेदी मेले में एक कवि-दरबार हुआ था जिसमें नरेन्द्र शर्मा पन्त बने थे; मैं एक देहाती कवि की भूमिका में उतरा था।

इस अवसर पर एक कवि-सम्मेलन भी हुआ था, जिसमें पन्तजी भी सम्मिलित हुए थे। बहतों ने उन्हें नहीं पहचाना, उन्होंने अपनी पिछली बीमारी में अपने बाल छोटे-छोटे करा लिये थे। मैंने उन पर एक कविता पढ़ी थी — ब्रजभाषा में— उन दिनों ब्रजभाषा गम्भीर विषयों से तो कट गयी थी, पर हास्य की कविताओं के लिए उसका उपयोग होता था। अन्तिम पंक्ति थी—

> बार कटवाएन मैं पहिले तो चीन्ह्यो नाहिं,
> चीन्ह्यो तो लाग जैसे परकटी चिरैया हैं !

इसके बाद पन्तजी ने फिर बाल बढ़ा लिये और आज तक रक्खे हुए हैं। पन्तजी ने जुगनुओं का गीत सुनाया था—

> जगमग-जगमग, हम जग का मग,
> ज्योतित प्रति पग करते जगमग !

यह कविता बाद को 'ज्योत्स्ना' (1934) में आयी—जिसके द्वारा पन्तजी ने स्वप्न-कल्पना-निर्मित एक नूतन विश्व-जीवन का चित्र समुपस्थित किया।

1934 में पण्डित प्रफुल्लचन्द्र ओझा ने किसी कारण अपने पारिवारिक जीवन से असन्तुष्ट होकर मुट्ठीगंज में, मेरे घर के समीप, एक मकान किराये पर लेकर 'प्रतिमा मन्दिर' की स्थापना की थी। उन्होंने उसमें एक अच्छा पुस्तकालय बना लिया था और वहीं रहते, पढ़ते-लिखते थे। उसी के तत्त्वावधान में एक साहित्यिक गोष्ठी हुई थी जिसमें पन्तजी भी आये थे। इसमें मैंने अपनीसद्यः रचित 'मधुशाला' की कुछ रुबाइयाँ सुनायीं, 'मधुबाला' के कुछ गीत सुनाये—'वह पगध्वनि मेरी पहचानी' आदि। सुनकर पहली बार पन्तजी मेरी ओर आकृष्ट हुए, उन्होंने मुझे कभी कालाकाँकर आने का निमन्त्रण भी दिया।

आगामी 4-5 वर्षों में मैं अपने जीवन के बाहरी-भीतरी संघर्षों में इतना फँसा रहा कि कालाकाँकर जाना तो दूर, मैं शायद ही कभी पन्तजी से मिल भी सका। इसी बीच मेरी 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश' नामक रचनाएँ प्रकाशित हुईं। उनका 'युगान्त' निकला। 'ज्योत्स्ना' के सृजन में एक संहार का भी पक्ष था। 'युगान्त' में शायद वही अधिक ब्यौरे से मुखरित हो रहा था।

इसके बाद मैं पन्तजी को तब मिला जब वे 'युगवाणी' को प्रकाशित कराने के सिलसिले में प्रयाग आये। उनका अधिकतर समय नरेन्द्र शर्मा के साथ बीतता; नरेन्द्र जी एम. ए. (अंग्रेज़ी) करने के बाद भी प्रयाग में ही व्यवस्थित होने के प्रयत्न में थे। मैं भी पहुँच जाता, साहित्य-चर्चा होती, प्रूफ़ देखा जाता, कविता-पाठ होता। पन्तजी ने मुझसे पूछा, 'युगवाणी' की कविताएँ तुम्हें कैसी लगती हैं ? मैंने कहा, पहले आपकी कविताएँ पढ़कर हृदय में पीड़ा होती थी, अब आपकी कविताएँ सुनकर सिर में दर्द होने लगता है। पन्तजी बोले, तब तो मैं सफल रहा, क्योंकि युग के गद्य को वाणी देकर मैंने यही प्रयत्न किया है कि लोग इतना सोचने को विवश हों कि उनके सिर में दर्द होने लगे। 'ग्राम्या' साल भर बाद प्रकाशित हुई और उसने जैसे युग का पद्य दिया। उसका धरातल 'युगवाणी' से अधिक स्थूल, अधिक भावमय, अधिक रागमय था। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि कालाकाँकर में रहकर पन्तजी ने कितना देखा था, कितना अनुभव किया था, कितना चिन्तन और मनन किया था। जिसको हमने पलायन समझा था, वह उनकी गहन साधना का समय था।

हुआ। इसके क्या कारण हैं?

उत्तर : गीत से मुक्तछन्द की भूमि पर मैं आया हूँ। मैं उसे नयी कविता-क्षेत्र में आना न कहूँगा, और उसे नये कवि भी ऐसा नहीं मानेंगे। मैंने 'मतवाला' में प्रकाशित 'निराला' के मुक्तछन्द के अनुकरण पर कविता लिखना आरम्भ किया था। उस समय का मेरा मुक्तछन्द छन्द पर मेरे अधिकार की असमर्थता थी। नियमित सृजन आरम्भ करने से लेकर (लगभग सन् 1929 से) सन् 1943 तक मेरी सारी रचनाएँ छन्दोबद्ध रहीं। मेरी रागात्मिका अनुभूतियों के लिए छन्द ही उपयुक्त माध्यम था। यह छन्द की श्रृंखला टूटी 'बंगाल का काल' से। वह मेरी लगभग 1000 पंक्तियों की रचना मुक्तछन्द में है। एक और रचना मैंने मुक्तछन्द में की थी लम्बी—'अखंड भारत' के नाम से—पाकिस्तान प्रस्ताव के विरोध में, जो मैंने पाकिस्तान बनने पर आवेश में आकर नष्ट कर दी।

सन् 1952 में मैं इंग्लैण्ड गया। पर उससे पूर्व के 8-10 वर्षों में मुक्तछन्द के जो प्रयोग हिन्दी में होते रहे, उनसे मैं प्रभावित नहीं हुआ। इंग्लैण्ड में वहाँ की समसामयिक कविता का विशेष अध्ययन करने पर मेरे मन में यह बात उठी कि जीवन का बहुत कुछ ऐसा है जो मुक्तछन्द में ही व्यक्त हो सकता है। छन्द सीमित भावों-अनुभूतियों का क्षेत्र है। जीवन के साथ कविता के विकसित होते क्षेत्र के लिए मुक्तछन्द को भी अपनाना पड़ेगा। इंग्लैण्ड-प्रवास में मैंने लगभग सवा सौ कविताएँ लिखीं जो बाद को 'प्रणय पत्रिका', 'आरती और अंगारे', और 'बुद्ध और नाचघर' के रूप में प्रकाशित हुईं। मैं 'प्रणय पत्रिका' और 'बुद्ध और नाचघर' के बीच 'आरती और अंगारे' को सेतु मान लूँगा। 'आरती और अंगारे' मेरी गीत से हटती आस्था की कृति है। 'बुद्ध और नाचघर' मुक्त छन्द में है। छन्दों का चरम वैभव मेरी 'प्रणय पत्रिका' में अभिव्यक्त होकर, 'आरती और अंगारे' में उतार पर आकर, 'बुद्ध और नाचघर' में विलुप्त हो गया है। उसके बाद भी मेरी धारणा यह रही है कि रागात्मकता के लिए गीत ही उपयुक्त माध्यम है। अभी हम बौद्धिकता के ऐसे युग में नहीं पहुँच गए हैं कि रागात्मकता सम्पूर्णतया समाप्त हो जाए। कम-से-कम मैं नहीं पहुँचा हूँ। वह रागात्मकता मेरे व्यक्तित्व की अंग हो गयी है और जब-तब उभरती भी रही है।

इस प्रकार मैं समझता हूँ कि मुक्तछन्द की ओर मेरा आना कुछ उतना अप्रत्याशित नहीं जितना आप समझते हैं। मैं तो उसे स्वाभाविक आत्मविकास क्रम में ही मानता हूँ। फिर अवस्था के साथ उस रागात्मकता को संयमित होना ही था, उसके आवेग-आवेश को कम होना ही था, बौद्धिकता को उसका स्थान लेना ही था। नये कवि जिन सिद्धान्तों-विचारों से प्रेरित होकर नयी कविता की भूमि पर उतरे हैं मैं नहीं उतरा हूँ, उतर भी नहीं सकता था। मेरा नया रूप मेरे पुराने रूप से सम्पृक्त है, उसी पुराने का स्वाभाविक और प्रत्याशित विकास है। मैं लेखक ही नहीं पाठक भी हूँ। समसामयिक साहित्य भी मैंने खूब पढ़ा है। उसकी जिन उपलब्धियों से मैं अभिभूत हुआ हूँगा उन्होंने मुझ पर निश्चय ही कुछ प्रभाव भी छोड़ा होगा, हालाँकि प्रभाव ग्रहण कर सृजन में उसका उपयोग करने की अवस्था से मैं अब निकल चुका हूँ। अब मेरी अपनी उपलब्धियाँ ही मुझे बल-सम्बल प्रदान करती हैं।

प्रश्न : हिन्दी की नयी कविता के क्या प्रतिमान हैं? इस बात से आप कहाँ तक सहमत या असहमत हैं कि हिन्दी की नयी कविता वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस् व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है?

उत्तर : यह आप नये कवियों से पूछें। वे बहुघोषित हैं। कविता निश्चय ही आज पहले से अधिक वैविध्यमय क्षेत्र देख रही है। वह केवल उसका वर्णन कर रही है या उसके प्रति बौद्धिक प्रतिक्रिया दे रही है या संवेदनात्मक अभिव्यक्ति—यह कहना कविता-कविता के विश्लेषण पर ही सम्भव है। दृष्टिकोण का वैविध्य नयी कविता में कम महत्त्व नहीं रखता—उसका विस्तार व्यंग्य से आत्मीयता तक है। प्रत्येक दृष्टिकोण और हर प्रकार की अभिव्यक्ति से कवित्व की सम्भावना मानने में मुझे संकोच नहीं है। कवित्व को परिभाषित करने को मुझसे न कहें। अन्त में, कवित्व शायद वही है जिसे पाठक-समाज ऐसा मान ले, या आलोचक-समाज ऐसा मनवा ले।

प्रश्न : कविता में वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति क्या एक अनिवार्य तत्त्व है?

उत्तर : 'वैयक्तिकता'—आलोचना में इस शब्द को लेकर बड़ा खेल खेला गया है। व्यक्ति ही अनुभव करता है, अभिव्यक्ति देता है, और अभिव्यक्ति को विशिष्टता देता है, तभी अभिव्यक्ति कविता बनती है। इसे आप व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कहें, अथवा व्यक्तित्व से सम्पृक्त अभिव्यक्ति कहें एक ही बात है। इधर पश्चिम से एक 'स्लोगन' आया है कविता को व्यक्तित्व से असंपृक्त रहना चाहिए। इसका अर्थ यही है कि कविता ऐसी अभिव्यक्ति न हो, जो किसी व्यक्ति विशेष की अनुभूति भर हो, बल्कि ऐसी हो कि उसमें दूसरे भी अपनी अनुभूति पाएँ। दूसरे उसके साथ सह + अनुभूति न कर सकें तो वह कविता भी कैसे होगी! कवित्वपूर्ण अभिव्यक्ति होते ही वह व्यक्ति की सीमा से बाहर निकल जाती है और दूसरे उसमें अपने को पाने लगते हैं। वस्तुतः कविता व्यक्तिगत अनुभूति नहीं, वह वैयक्तिक अनुभूति निश्चय है। उसी प्रकार वह व्यक्तिगत अभिव्यक्ति नहीं, पर वैयक्तिक अभिव्यक्ति निश्चय है। पश्चिम का वह 'स्लोगन' व्यक्तिगत होने को मना करता है, वैयक्तिक होने को नहीं।

प्रश्न : क्या वास्तव में बीटनिक कवि या एलेन गिन्सबर्गवादी कवि 'अविकसित आत्मा के मनुष्य' हैं? हिन्दी कविता पर इस वाद का क्या प्रभाव है?

उत्तर : बीटनिकों अथवा गिन्सबर्ग को मैं कौन हूँ जो 'अविकसित आत्मा का मनुष्य' कहूँ। मैं उनकी आत्माओं को नहीं देख सकता। उनका परीक्षण-विश्लेषण भी नहीं कर सकता। वे एक विशेष देश-काल की उपज हैं। उन्होंने आकर्षित करने की कला का आविष्कार किया है। हिन्दी के कुछ नये कवियों ने उस कला का सफलतापूर्वक अनुकरण किया है। हमारे देश-काल में भी सम्भवतः कवि को ध्यानाकर्षण की आवश्यकता पड़ गयी है।

प्रश्न : क्या प्रतिबद्धता का प्रश्न कवियों-लेखकों के सर्जनात्मक अस्तित्व की मूलभूत समस्या है?

उत्तर : मेरी दृष्टि में नहीं। मैं कवि-कलाकार को कुछ अप्रतिबद्ध—मुक्त देखना चाहूँगा। पर कला के संसार के कुछ अपने नियम-संयम हैं। उनसे प्रतिबद्ध रहना ही होगा।

प्रश्न : हिन्दी की नयी पीढ़ी के प्रति आपके क्या दृष्टिकोण हैं? उन्हें आप क्या सलाह देना चाहेंगे?

उत्तर : मैं उन्हें आदर की दृष्टि से देखता हूँ। जीवन-विकास-क्रम में निस्संदेह वे हमसे आगे हैं। सलाह मैं उनको यही दूँगा कि वे अपने बाद आनेवाली पीढ़ी को आदर से देखें और जीवन-विकास-क्रम में उन्हें अपने से आगे बढ़ा हुआ मानें।

प्रश्न : हिन्दी कविता का भविष्य कैसा है?

उत्तर : उज्ज्वल के अतिरिक्त वह हो ही क्या सकता है। इसी विश्वास से हर पीढ़ी सृजन करे।

प्रश्न : साहित्य और लोक-जीवन का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर : यह इस पर निर्भर करेगा कि लोक से आपका मतलब क्या है। 'लोक' माने 'फ़ोक' (folk)—जैसे 'फ़ोक-सांग' (folk-song) या 'फ़ोक-लोर' (folk-lore) में—तो यह साहित्य वट-वृक्ष की भूमि है। साहित्य के लिए, यदि वह स्वस्थ रहकर जीवित रहना चाहता है तो 'पुनः-पुनः धरती की ओर' उसका मोटो (motto) होना चाहिए। बरगद की डाल जितनी बार धरती से अपना सम्बन्ध बना लेती है उतना ही वह बरगद के पेड़ को पुष्ट कर देती है।

प्रश्न : आपके लान में प्रतिष्ठित हनुमान तथा शिव आदि के मन्दिरों को देखकर यह पता चलता है कि हिन्दू धर्म-संस्कृति तथा मूर्तिपूजा आदि के प्रति आपकी असीम श्रद्धा एवं आस्था है। कृपया इस विषय पर कुछ कहें।

उत्तर : मन्दिर-मूर्तियाँ सब इसलिए हैं कि मैं कवि हूँ। हिन्दू धर्म बड़ा ही कवित्वपूर्ण धर्म है। बचपन में दिये गये धार्मिक संस्करणों पर तो मेरा वश न था। उसमें जहाँ-जहाँ कवित्व था उसे मैंने छाँट लिया है और उन्हीं पर मैंने अपनी आस्था विशेष रूप से टिका दी है। मेरी श्रद्धा-आस्था कवि की कविता के प्रति श्रद्धा-आस्था से अधिक नहीं। कहीं उसके लिए शायद मेरे मन में पश्चात्ताप भी है। काश, वह भक्त की श्रद्धा-आस्था हो सकती ! मैंने अपनी एक कविता में लिखा है—

> कविता बनकर, हाय, रह गयी
> ओ तू भी तो
> हे जनगीते,
> नागर गीते !

पत्र-परिचर्चा : सात*

प्रश्न 'अरुण' के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : लोक-साहित्य के प्रति आपका क्या रुख है ?

उत्तर : पहले आइये इसको स्पष्ट कर लें कि लोक-साहित्य से हमारा अभिप्राय क्या है। आप इससे सहमत होंगे कि हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत-सी कहावतें, कहानियाँ, गीत प्रचलित हैं, जिनको ग्रामीण जनता ने युग-युगान्त से कहते-सुनते, अदलते-बदलते भी, जीवित रक्खा है। ऐसा साहित्य प्रायः हर देश के ग्रामीण समाज में पाया जाता है। ग्रामीण इसे लिख डालने या छपाने की आवश्यकता नहीं समझते। वह रूढ़ होने से बच गया है और उसकी परिवर्तनशील गतिमयता, जीवंतता और ताजगी बनी रही है। हाँ, नागरिक साहित्य के इतिहास में कभी-कभी ऐसा समय आता है जब लोग सम्भवतः नागरिक साहित्य की अतिशय कृत्रिमता

---
*15-9-67

से ऊबकर स्वाभाविक लोक-साहित्य की ओर झुकते हैं, उसे लिख डालते हैं, छपा डालते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में 18वीं सदी की 'नियो-क्लासिसिज़्म' की कृत्रिमता की प्रतिक्रिया में कुछ लोगों का ध्यान लोक-साहित्य की ओर गया। उन्होंने उसकी अकृत्रिमता में स्वतःस्फूर्त, अछूता सौन्दर्य देखा और चाहा कि नागरिक साहित्य में भी वह प्रतिष्ठित किया जाये। मैकफ़र्सन और परसी ऐसे लोगों ने ग्राम-गीतों का संग्रह किया, और डॉ. जानसन ऐसे विशुद्ध नागरिकतावादी लोगों ने उसका विरोध भी किया। पर रूमानी युग के साहित्य पर इन ग्राम-गीतों ने अपना प्रभाव अवश्य छोड़ा। हमारे यहाँ पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने पहले-पहल ग्राम-गीतों का संकलन किया। प्रश्न पूछा जा सकता है कि छायावाद की अत्यन्त कृत्रिम भाषा-शैली की प्रतिक्रिया में तो ऐसा नहीं किया गया था ?

सृजन निश्चय ही व्यक्ति द्वारा होता है। सामूहिक सृजन की बात मेरे गले नहीं उतरती। पर लोक-साहित्य का व्यक्ति या सर्जक अपने नाम का आग्रही नहीं होता। वह अपनी रचना करके लोक-स्मृति में डाल देता है, और हर आदमी को स्वतन्त्रता होती है कि वह उसमें, चाहे तो, इच्छानुसार परिवर्तन भी कर सके। वह परिवर्तन करता भी है; शायद परिवर्तन करने की इच्छा से इतना नहीं, जितना अपनी स्मृति की कमजोरी का परिहार करने के लिए—पुरानी बात याद न रही तो नई बनकर जोड़ दी। या कभी-कभी वह अपनी अधिक परिष्कृत रुचि से पुराने को अधिक सुन्दर कर देता है, अथवा पुरानी बात को नया सन्दर्भ देने के लिए वह कुछ नया मिला देता है। यही कारण है कि लोक गीतों-कथाओं के एकाधिक रूप मिलते हैं, पर हर रूप में समय और समूह के प्रयोग से सुडौल, सुवाच्य और सहज-स्वीकार्य बने।

प्लोक साहित्य की शायद यह सबसे बड़ी साधना है कि उसमें सर्जक अपने को विलु त कर देता है। उच्चकोटि के साहित्यिक सृजन में भी अपनत्व को पूर्णतया अपनी कृति में समर्पित कर दिया जाता है। इससे कृतिकार को नहीं, कृति को अपनत्व, व्यक्तित्व, विशिष्टता प्राप्त होती है। अपने को स्थापित करने के लिए भी अभिव्यक्ति की जा सकती है, पर उससे उच्च कोटि का साहित्य बन सकेगा इसमें मुझे सन्देह है। अपने को सबका प्रतीक मान लेना, और वास्तव में स्वयं सबका प्रतीक हो जाना दोनों स्थितियों में बड़ा अन्तर है। अहं विसर्जन अध्यात्म की ही साधना नहीं, साहित्य की भी साधना है।

लोक-साहित्य को मैं वह कच्चा किन्तु जीवन्त माल समझता हूँ जिसका साहित्यिक सृजन में बहुत तरह से उपयोग किया जा सकता है।

मैं प्रत्येक लेखक से यह प्रत्याशा करता हूँ कि वह अपने भाषा-क्षेत्र के लोक साहित्य, लोक कला से परिचित हो। इसका प्रभाव उसकी अपनी कृति पर स्वस्थ के अतिरिक्त कुछ और हो नहीं सकता।

प्रश्न : आपकी रचनाओं पर लोक साहित्य, लोक चेतना का प्रभाव क्या है ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं औरों को देना चाहिए। मैं लोक कला और लोक जीवन से किसी-न-किसी अंश में सदा ही जुड़ा रहा हूँ। इसका मेरे सृजन पर क्या प्रभाव पड़ा है, यह दूसरे परखें-निरखें।

प्रश्न : क्या बोलियों को आप आधुनिक सृजन के लिए सक्षम मानते हैं ?

उत्तर : बोलियों को मैं सृजन के लिए तो सक्षम मानता हूँ, पर आधुनिक सृजन के लिए नहीं। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने जीवन को जिस सूक्ष्मता से देखा है

उसे व्यक्त करने के लिए बोलियों में सामर्थ्य नहीं। बोलियों से कुछ शब्द-मुहावरों को प्रसंग और आवश्यकतानुसार ले लेना और बात है। यह बहुत सतही बात भी है। मूल बात है लोक-साहित्य-कला की आत्मा की पहचान और उसके प्रति सदा सचेत रहने की; उससे हमारा साहित्यिक सृजन सदा धरती, जीवन, समाज, मानव से संपृक्त रहेगा। वास्तव में वह वांछित अर्थों में साहित्य रह सकेगा। लोक जीवन से कट जाने पर साहित्य की विकृतियों की सीमा नहीं।

पत्र-परिचर्चा : आठ

पत्र केशवचन्द्र वर्मा का उत्तर बच्चन का

पत्र—

65, टैगोर टाउन,
प्रयाग
13-5-68

आदरणीय नानाजी,*

नमस्कार !

अर्सा हो गया आपके दर्शन मिले और आपके पत्र मिले हुए। सिर्फ़ अखबारों से ही आपके बारे में जानता रहा हूँ।

मैं उसी तरह हूं जैसा था।

यह खत भेज रहा हूँ एक मसरफ़ से। कुछ अपने निकट आन्तरिक व्यक्तियों से बातचीत के आधार पर वर्तमान परिवेश के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठाना चाहता हूँ। अलग-अलग व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न कोणों से बात की है। आपके पास कुछ प्रश्न भेज रहा हूँ —ये प्रश्न नहीं वस्तुतः topics हैं! आप इनके बारे में क्या सोचते हैं, यदि मुझे लिखकर भेज देंगे तो बातचीत की सुविधा होगी। यदि आगे इसके बारे में कुछ और जानना चाहूँगा तो फिर लिखूँगा। आशा है विस्तार से आप अपनी बात कह देंगे ताकि पढ़नेवालों के मन में किसी भी तरह दुविधा न रह जाय। यह प्रश्न आनेवाली पीढ़ी के सामने है—हमारे सामने है, और या तो हम इससे कतरा रहे हैं या सिर्फ़ 'शार्टकट' ढूंढ़ रहे हैं। उनसे सीधे टकराहट करने की यह कोशिश है। सटीक और दो टूक बात कहने के लिए आपको उकसा रहा हूँ।

आशा है आप इसे फ़ौरन करके भेज देंगे। इस क्रम में हमारे कई अन्य मित्र और स्नेही भी सम्मिलित हैं।

नानीजी को मेरा प्रणाम।

आपका
केशवचन्द्र वर्मा

---

*रक्त-सम्बन्ध से मैं केशव का नाना लगता हूँ।

विषय : प्रश्नावली (बच्चनजी के साथ बातचीत)

(1) क्या यथार्थ की चुनौती ने आदर्श को केवल किताबी चीज़ बनाकर छोड़ दिया है ? आदर्श से चिपकने के क्या अर्थ हो सकते हैं ? इस युग में उसकी क़ीमत भी देनी पड़ती है क्या ?

(2) रचनाकार क्या राजनीति को सीधे-सीधे बचाकर निकल सकता है ? क्या अपने रचना-संसार की रक्षा के लिए उसे राजनीतिक मूल्यों से लड़ना अनिवार्य है ?

(3) क्या भारतीय सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है ? किस ढंग की नयी व्यवस्था की कल्पना हम कर सकते हैं?

(4) स्त्री और पुरुषों के सहज सम्बन्धों की कल्पना में क्या प्रतिबन्ध की आवश्यकता है ? अथवा वे स्वत: व्यक्ति के विवेक से ही जन्म लेते रहेंगे ? 'सेक्स लाइफ़' का स्वस्थ रूप क्या हो सकता है ?

(5) नई परिस्थितियों में अब क्या सम्पूर्ण देश केवल जातिगत आधार पर वर्गयुक्त समाज में ही निर्मित होगा ?

(6) ए—आधुनिकता का छद्मावरण क्या हमें धर्म के मूल स्रोतों तक जाने के लिए मजबूर कर रहा है ?

बी—Twist करते हुए बीयर पिये लोग भी मंगलवार को हनुमानजी के मन्दिर में लड्डू चढ़ाने पहुँचते हैं : क्या इसे धर्म का पुनरुत्थान मान सकते हैं ?

[कृपया उत्तर के साथ यह कागज़ भी भेज दीजिएगा]

केशवचन्द्र वर्मा

उत्तर :

13, विलिंगडन क्रिसेण्ट,
नई दिल्ली-11
24-5-'68

चिरंजीव नाती (और 'नाटी' भी)

तुम्हारा 13 का पत्र मिला। धन्यवाद।

तुमने मेरा पिछला संग्रह देखा या नहीं—'बहुत दिन बीते'—? यदि तुम देखना चाहते हो, मगर खरीदना नहीं चाहते तो मैं तुमको भेज दूँगा। यदि तुम देखना ही नहीं चाहते तो भेजना बेकार होगा। लोग अब घोषित करते हैं कि फ़लाँ पुस्तक न मैंने पढ़ी है और न पढ़ना चाहूँगा। सूचित भर रहना चाहते हैं कि फ़लाँ पुस्तक प्रकाशित हो गयी, और यदि वह किसी पुराने खुर्राट की है तो कल्पना भी कर लेते हैं कि उसमें होगा क्या। अगर कभी पढ़ेंगे भी तो उसमें वही पढ़ेंगे जिसकी कल्पना उन्होंने कर रक्खी है। ऐसों में शायद तुम नहीं हो, पर तुम्हारे साथियों में ऐसों की कमी नहीं है।

मेरे जीवन में इधर यह प्रकाशन ही है जिसे मैं कुछ महत्त्व दे सकता हूँ। इससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि अब मैं लँगड़ा हो चला हूँ, और अगर तुम्हारे और नाना भी हैं जिन्हें अलग-अलग विशिष्टता देने में तुम्हें कुछ कठिनाई होती है तो तुम मुझे 'लँगड़े नाना' कह सकते हो। मेरे दाहिने पाँव में हर समय पट्टी बँधी रहती है, क्योंकि बिना पट्टी के चलने-फिरने में असह्य पीड़ा होती है। कुछ कहते हैं कि हड्डी बढ़ी है, कुछ कहते हैं कि जोड़ ढीला पड़ रहा है, कुछ कहते हैं गठिया

है और कुछ बीमारी का नया-नया नाम देते हैं; बहरहाल दर्द है और दवा उसे दो बरसों में तो कोई लगी नहीं। पट्टी बँधी जो ही देखता है वही पूछता है कि क्या है, और उसे फिर दर्द की सारी दास्तान, और इलाज का सारा बयान सुनाना पड़ता है। कुछ दिन तो अपने मर्ज़ की चर्चा में मज़ा आया, पर जैसे हर मज़ा कभी न कभी फीका पड़ जाता है, यह भी फीका पड़ गया। अब मैंने एक प्लेट पर यह लिखा ड्राइंग रूम में रख छोड़ा है· 'कृपया पाँव की पट्टी के बारे में कुछ मत पूछें।'

तुम्हारी बुढ़िया नानी तो अरसे से दमे की मरीज हैं। खैरियत है कि पिछला जाड़ा कट गया। गर्मी में रोग रियायत करता है। तुम्हारे दोनों मामा नौकरी-चाकरी से लग गये—एक तो कलकत्ता में कई बरसों से थे, दूसरे आजकल मद्रास में हैं। अभी आठ दिन उनके पास रहकर आया हूँ। माँ बड़े लड़के के पास कलकत्ता रहकर अभी आई हैं। ब्याह-शादी के पचड़े से अभी दोनों दूर रहना चाहते हैं। बस संक्षेप में यही घर-परिवार का हाल।

अब तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे दूँ।

(1) जी नहीं। आदर्श ऐसे नाजुक नहीं कि उन्हें किसी ने चुनौती दी कि वे चारोंखाना चित हो गये। यथार्थों ने आदर्शों को पहले भी कई बार चुनौती दी है और आगे भी देते रहेंगे। पर वे अडिग, दृढ़, सप्राण रहे हैं, क्योंकि मानवता ने बड़े अनुभवों, बड़ी साधनाओं और बड़े प्रयोगों के बाद उनकी स्थापना की है। काल के प्रवाह में दृष्टि बदलती है और दृष्टि बदलने से दृश्य भी बदलता है, पर दृश्य की अपनी सत्ता भी है। आदर्शों की सत्ता में मुझे विश्वास है। वे समय से थोड़ा-बहुत बदल सकते हैं, पर निर्मूल नहीं हो सकते। जब वे निर्मूल होंगे तो मानवता के निर्मूल होने के संकेत होंगे और मानवता की जिजीविषा निर्मूल होने से अभी तो इन्कार ही कर रही है। एटम बम की छाया के नीचे आबादी बढ़ रही है और निर्माण और सृजन भी अनुपात में बढ़ा है। आदर्शों को रूढ़ि का पर्याय न मान लेना चाहिए। आदर्श कोई बाहरी चीज नहीं कि उनसे चिपका जा सके। चिपकने का ही मुहावरा इस्तेमाल करें तो वे ही मानवता से चिपके हैं और मानवता को आसानी से छोड़नेवाले नहीं। आदर्शों को अपनाने का मूल्य तो हर युग ने दिया है। हमारे युग को भी देना पड़ेगा। मानवता ने उन्हें अपनाने का कोई भी मूल्य महँगा नहीं माना।

(2) यह इस पर निर्भर करेगा कि राजनीति के अर्थ आप क्या लगाते हैं। रचनाकार का क्षेत्र इतना बड़ा है कि उसमें राजनीति भी आ सकती है। जीवन से सम्बद्ध कोई नीति रचनाकार की सीमा के बाहर नहीं। राजनीति के मूल्य सीमित और समय सापेक्ष हैं जब कि रचना के मूल्य जीवन-मूल्यों के पर्याय हैं। किसी समय की राजनीति यदि जीवन-मूल्यों को नकार दे तो रचनाकार को निश्चय उसका विरोध करना, उससे लड़ना अनिवार्य हो जायेगा। रचनाकार को हर हालत में जीवन-मूल्यों का पोषण करना है।

(3) परिवर्तन की आवश्यकता है पर आमूल परिवर्तन की नहीं। आमूल परिवर्तन कभी होता भी नहीं। अपने ऐतिहासिक आधार को छोड़ना किसी व्यवस्था के लिए न सम्भव हुआ है, न आगे होगा। दिनानुदिन प्रशस्त होना जीवन की स्वाभाविक गति है। हमें देखना होगा कि जिन व्यवस्थाओं में हम अब तक जिये हैं उन्होंने कितना जीवन को प्रशस्त किया है, कितना अवरुद्ध। अवरोधक

तत्त्वों को हटाना होगा। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अवरोधक तत्त्वों का बहुत दिनों से बोल-बाला रहा है। राजनीतिक पराधीनता दूर होने से जो मानसिक वातावरण बना है उसमें उनका विघटन अवश्यम्भावी है। प्रारम्भिक उग्रता, उच्छृंखलता समय से सन्तुलन प्राप्त करेगी और कालान्तर में जब वे रूढ़ियों में बदल जायेंगी तब फिर क्रान्ति होगी। जीवन इसी प्रकार बढ़ता है। भारतीय जीवन अपवाद नहीं होगा।

(4) स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था से बँधा है। 'सहज' शब्द को मैंने जान-बूझकर हटा दिया है। नर-मादा का सहज सम्बन्ध तो जंगल में ही सम्भव है; समाज में नहीं। समाज व्यवस्था कृत्रिम व्यवस्था है – कृत्रिम किसी निन्दा-परक अर्थ में नहीं। तब स्त्री-पुरुष सम्बन्ध भी कृत्रिम होंगे। इस कृत्रिमता में जैवी आवश्यकता, उपयोगिता, सुविधा, व्यावहारिकता सबका ध्यान रक्खा गया है—मेरा संकेत विवाह की संस्था की ओर है, जिससे नारी सम्भोग के लिए प्राप्य हो, घर गिरस्ती की देख-रेख भी होती रहे; सन्तान की उत्पत्ति हो, वंश-क्रम चले, और बच्चों का यथोचित पालन-पोषण भी हो—और इस सबको आदर्शवादिता का जामा पहना दिया गया है, 'उत्तम के बस अस मन माहीं, सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।' कृषक समाज-व्यवस्था में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का यह सर्व-स्वीकृत पैटर्न होगा—कृत्रिम पैटर्न। 'सहज' पर आग्रह करनेवाले—और ऐसे लोग हमेशा रहे हैं—इन पैटर्न को तोड़ेंगे, दुराचारी कहलायेंगे, नक्कू बनेंगे। हर व्यवस्था अपने को सुदृढ़ बनाने के लिए कुछ प्रतिबन्धों, नीति-नियमों का आश्रय लेती ही है। पैटर्न को तोड़नेवाले अन्तःप्रेरणा, हृदय की पुकार अथवा अपने विवेक की दुहाई देंगे; समाज उसे उनका पागलपन या अविवेक कहेगा। समाज-व्यवस्था बदलने के साथ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध का रूप बदलेगा। औद्योगिक सभ्यता में विवाह का वही रूप अथवा आदर्श नहीं रहेगा जो कृषक सभ्यता में था। अपवाद इसमें भी होंगे। 'सेक्स लाइफ़' के स्वस्थ रूप से आपका मतलब क्या है? स्वाभाविक, प्राकृतिक रूप?—तो जंगल की ओर लौट जाइए। समाज के बदलते रूप के साथ स्वस्थ सेक्स लाइफ़ का 'कान्सेप्ट' भी बदलेगा। सेक्स लाइफ़ के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण यह हो सकता है कि इस समाज-व्यवस्था के अनुरूप नर-नारी सम्बन्ध के पैटर्न को मान दें, साथ ही उसके अपवादों को भी समझें; उनके प्रति भी उदारता दिखायें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्वीकृत पैटर्न के प्रति आदर बढ़ाने में, उसको प्रतिष्ठित रखने में, समाज की क्षमा, उदारता उसके दण्ड से अधिक सहायक होगी। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास में जड़ रूढ़ियों से अधिक महत्त्व जीवित मनुष्य को दिया जाना चाहिए। यदि अपवादों का ही बाहुल्य हो जाय तो समझना होगा कि पैटर्न या रूढ़ियाँ टूटने के लिए चरमरा रही हैं। सामाजिक क्रान्तियाँ ऐसे ही समय घटित होती हैं।

जहाँ तक भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति को मैं देख-समझ पा रहा हूँ, स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में कृषक व्यवस्था द्वारा स्थापित पैटर्न को ही मान्य पाता हूँ। आधुनिक समय में कतिपय विशिष्ट कारणों से अपवादों की संख्या बढ़ी है, पर अनुपात अब भी नगण्य है और हल अब भी क्रान्ति नहीं उदारता है, समझदारी है।

(5) आपका प्रश्न स्पष्ट नहीं है। आपका मतलब है कि क्या अब देश में जातिगत समाज के स्थान पर वर्गगत समाज आयेगा? जातियाँ जन्म से और

वर्ग जन्मेतर कारणों से बनते हैं। इस देश में जाति की जड़ें बहुत गहरी हैं और जल्दी हिलनेवाली नहीं। अभी तो वर्ग-विभाजन से समाज की जो स्वस्थ प्रगति होनी थी, जाति-विभाजन उसका अवरोध ही कर रहा है। ग़रीब ब्राह्मण ग़रीब शूद्र की ओर न झुककर अमीर ब्राह्मण की ओर झुक रहा है। अभी तो जाति-वर्ग दोनों ने मिलकर समाज के विभाजन को द्विगुणित अथवा कई गुणित कर दिया है। वर्गहीन समाज तो अभी बहुत दूर है।

(6) ए—धर्म का जो अर्थ मैं समझता हूँ उसके मूल स्रोत में जाने के लिए न आधुनिकता का छद्मावरण प्रेरक हो सकता है न पुरातनता का छद्मावरण। उसकी ओर जिस (urge) से आदमी जाता है उसे यदि कोई नाम दिया जा सकता है तो शाश्वत 'अर्ज' का। उसका अनुभव सब देश, सब काल में किया गया है और आधुनिकता अथवा पुरातनता से वह व्याख्यायित नहीं होता। पर आप मुझे शब्दों की भूल-भुलैया में नहीं डाल सकते।

पुराने से असन्तोष समझा जा सकता है। आधुनिक बनने की ललक भी समझी जा सकती है। पर पुराना आपसे इतनी मजबूती से चिपका है कि आप आधुनिक बनने में सफल नहीं हो पाते। तब अपनी असफलता को छिपाने के लिए आप आधुनिकता का छद्मावरण ही धारण कर लेते हैं। और, जिसे आप 'धर्म का मूल-स्रोत' कहते हैं वह पुरातनता का ही रूप है जिसे आप छोड़ना चाहते हैं, पर वह आपसे छूट नहीं पाता और उसे मजबूरन पकड़े रहने की लज्जास्पद स्थिति को आप 'धर्म के मूल-स्रोत' को पकड़ने का परम्परा-सम्मानित नाम देते हैं। आप समझते हैं, आप बड़े चालाक हैं; पर आपकी चालाकी बड़ी दयनीय है।

(6) बी—जैसे आधुनिकता का एक छद्मावरण होता है वैसे ही धर्म का भी एक छद्मावरण होता है। अपने किसी स्वार्थ को पूरा कराने के लिए हनुमान जी को या किसी देवता को लड्डू चढ़ाना उसी घूस का दूसरा रूप है जो किसी हाकिम को देकर आप अपना काम निकालते हैं। ऐसी मनोवृत्ति से आप तो नीचे गिरते ही हैं, अपने देवता को भी नीचे गिराते हैं। इसी को मैं धर्म का छद्मावरण कहता हूँ। जो छद्मावरणों के अभ्यस्त हो जाते हैं वे धर्म का छद्मावरण उसी आसानी से धारण कर लेते हैं जिस आसानी से आधुनिकता के छद्मावरण को। इसमें जो धर्म का पुनरुत्थान देखे उसकी बुद्धि की बलिहारी!

आशा है मेरे उत्तरों से सन्तुष्ट होंगे। प्रत्युत्तरों का उत्तर देने को अभी मैं तैयार नहीं।

शुभेच्छु
बच्चन

पत्र-परिचर्चा : नौ*

प्रश्न : क्रमश:—सुभाषचन्द्र 'सत्य,' दिल्ली; मीना भारती, मुज़फ़्फ़रपुर; अवध श्रीवास्तव, विदिशा; रवि डफरिया, रतलाम; साहु मधुप, अशोक नगर; श्रद्धानन्द पाण्डेय, बोकारो; दीनेन्दु भारती, मुज़फ्फ़रनगर; मेरूलाल शर्मा किरण, रतलाम; अशोक, विदिशा; रवीन्द्र कुमार, हिलसा; वीरेन्द्रकुमार शर्मा, निवाड़ी; दुर्गाप्रसाद अग्रवाल, चित्तौरगढ़; देवेन्द्रकुमार, नरकटियागंज; कुन्दन सिंह सजल, सीकर पदमानन्द अश्रुज, डुंडो; लक्ष्मीनारायण शर्मा मुकुर, बरौनी और जगदीश श्रीवास्तव, विदिशा के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : जब अन्य कवि और लेखक प्रगतिवाद तथा राष्ट्रीय विचारधारा को अपनी रचनाओं द्वारा अभिव्यक्त कर रहे थे तब आप हाला, प्याला, मधुबालाओं में ही खोये रहे, ऐसा क्यों ? क्या आप सामयिक कर्त्तव्य से विमुख नहीं रहे ?

उत्तर : मैंने किसी वाद का झण्डा उठाकर अथवा नारा लगाकर रचनाएँ नहीं कीं। प्रगतिवाद और राष्ट्रीय विचारधारा मेरी मधु-प्रतीकी कविताओं में भी पर्याप्त है। व्यक्ति के सुख, दुख, संघर्षों को मैं अधिक गहराई से, निश्चय ही, अनुभव करता और वाणी देता हूँ। हाला, प्याला, मधुबाला केवल प्रतीक हैं; मैं इनमें खोया नहीं; इन प्रतीकों के द्वारा मैंने अपने को पाया; और मेरे बहुत-से पाठकों ने भी पाया। बाद को तो मेरी कविता में इतना प्रगतिवाद देखा गया कि प्रगतिवाद का सबसे बड़ा पुरस्कार (लोटस पुरस्कार) ऐफ्रो-एशियाई-राइटर्स-कान्फ्रेंस की ओर से मुझको दिया गया। निःसन्देह इसके बीज मेरी आरम्भिक कविताओं में भी मौजूद हैं।

प्रश्न : (क) दो दशकों की हिन्दी कविता (50 से 70 तक) की कौन-सी सही संज्ञा हो सकती है ? आपके विचारानुसार कौन-कौन प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं ?

(ख) स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की सही उपलब्धि के सम्बन्ध में एक प्रमुख हस्ताक्षर होने के नाते आपकी क्या धारणा है ?

उत्तर : (क) दो दशकों (50 से 70 तक) की हिन्दी कविता को निर्विवाद रूप से 'नयी कविता' की संज्ञा दी जा सकती है। 'अज्ञेय' और मुक्तिबोध इसके प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं।

---

*यह पत्र-परिचर्चा अथवा प्रश्न-परिचर्चा 'कादम्बिनी' (नयी दिल्ली) ने आयोजित की। पूछे गये प्रश्नों के उत्तर अप्रैल, 1973 की 'कादम्बिनी' में 'क्यों और क्यों नहीं' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित किये गये।

अपनी काटेज को सम्बोधित कर वे सत्य ही कहते हैं :

कितनी आशाएँ, मनोल्लास,
संकल्प महत्, उच्चाभिलाष,
तुझमें प्रतिक्षण करते निवास,—
है मौन श्रेय साधन प्रयास !

'ग्राम्या' के बाद पन्तजी को अनुभव हुआ कि कालाकाँकर रहकर वे जो ले सकते थे, वे ले चुके, और अब उन्हें वहाँ से निकल आना चाहिए। वे आकर नरेन्द्र शर्मा के साथ रहने लगे दिलकुशा, नया कटरा में; शायद इन्हीं दिनों या इसके कुछ पहले से 'कुमार' और 'रूपाभ' भी निकलने लगे थे। मुझे युनिवर्सिटी में एम. ए. (अंग्रेजी) करने के बाद शोध का कार्य मिल गया था; मैं भी अपने शहर का घर छोड़ युनिवर्सिटी के निकट रहने के विचार से नरेन्द्र के साथ रहने लगा था। इन्हीं दिनों कभी नवीनजी हमारे यहाँ पधारे। हम तीनों को देखकर बोले, 'क्या यारो, तीन-तीन रँडुवे और राँड एक भी नहीं।' मैंने कहा, 'प्रथा तो आपने ही बिगाड़ी है।' बोले, 'तो मैं बनाऊँगा भी किसी दिन।' उन्होंने अपनी बात पूरी की।

पिछली जनवरी में पन्तजी और नरेन्द्र दिल्ली आये तो हम तीनों नवीनजी को मिलने विलिंग्डन नर्सिंग होम गये जहाँ वे बीमार होकर इलाज करा रहे थे। शायद बीस वर्ष बाद पहली बार हम चारों फिर साथ मिले थे। मैंने नवीनजी के कानों में कहा, 'तीन-तीन राँडें पर रँडुआ केवल एक !' नवीनजी मुस्कराये। अब उनकी हँसी में वह ज़ोर कहाँ कि छत में दरारें पड़ती-सी जान पड़ें !

1940 के अन्त में स्वतन्त्र रूप से रहने के लिए पन्तजी ने नये कटरे में एक मकान लिया, पर अकेले रहना उनके लिए असम्भव था। नरेन्द्र को किसी सिलसिले में बनारस चला जाना पड़ा। पन्तजी ने मुझे अपने साथ रहने को बुला लिया। वेली रोड के इस मकान को उन्होंने 'बसुधा' नाम दिया ('ब' से बच्चन, 'सु' से सुमित्रानन्दन को 'धा' से धारण करनेवाली)। वेली रोड पर मकान के आगे इस नाम का पत्थर आज भी लगा है। कालाकाँकर में उनके काटेज का नाम 'नक्षत्र' था। घर चलाने का सारा काम मेरे ऊपर छोड़ पन्तजी गीत लिखने लगे—'बाँध दिये क्यों प्राण प्राणों से', 'बज पायल छम', 'शरद चाँदनी', 'रस बन' आदि (ये सब बाद को 'स्वर्ण धूलि' में निकले)। मैं इस गुत्थी को आज तक नहीं सुलझा सका इस समय प्रेम-गीतों की लहर पन्तजी के मन में क्यों उठी थी ? पन्तजी ने मेरे ऊपर गृहिणी का उत्तरदायित्व छोड़ा था, पर मैं सुघड़ नहीं साबित हो सका। जब वे गर्मी में पहाड़ चले गये तो उनका एक बक्स नौकर उठाकर ले गया और मुझे पता भी न चला, बरसात में मेरी लापरवाही से उनके सारे ऊनी कपड़े कीड़े खा गये। पन्तजी ने कान पकड़ा, 'बाबा, अब जब तक तुम बीवी नहीं लाते तब तक मैं तुम्हारे पास नहीं फटकने का।'

1942 में जब मैंने दूसरी शादी कर ली तो मैंने उनको लिखा, 'मैं बीवी लाया हूँ, अब आप मेरे पास आकर रहिए।' उन्होंने अपना वादा पूरा किया। मेरे साथ आकर 6 महीने रहे। मुझे कुछ सन्देह था कि तेजीजी से उनकी पटे कि न पटे, पर मुझे यह देखकर खुशी हुई कि तेजीजी मुझसे ज़्यादा उनकी इज़्ज़त करती हैं और वे मुझसे ज़्यादा उनको स्नेह देते हैं।

'ज्योत्स्ना' में कला, काव्य, नाटक, संगीत द्वारा नवजागरण की जो कल्पना उन्होंने दी थी उसको सक्रिय करने के लिए उन्होंने 'लोकायतन' की योजना बनायी, पर उसके लिए समुचित सहयोग न मिला। पन्तजी उदयशंकर के साथ

(ख) वास्तव में पिछले पचीस वर्षों का समय कविता के लिए उपलब्धियों का रहा ही नहीं, वह व्यापक प्रयोगों का समय रहा है। सच्चाई यही है कि इस काल में जितने प्रयोग किये गये उतने पहले कभी नहीं किये गये थे। भारत की स्वतन्त्र मनीषा की यह बड़ी साहसिक अभिव्यक्ति थी, और इसके दूरगामी परिणाम होंगे।

प्रश्न : 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ,' एवं 'नीड़ का निर्माण फिर' के अध्ययन के पश्चात् लगा कि साहित्यकार संघर्षों, वेदनाओं एवं असामान्य परिस्थितियों में ही विलक्षण कृतियों की रचना कर सकता है। यदि आपको परिस्थितियाँ सामान्य मिली होतीं तो 'मधुशाला' या 'निशा निमन्त्रण' की रचना हो सकती थी?

उत्तर : सृजन, व्यक्तित्व और परिस्थितियों—दोनों से प्रभावित होता है। असामान्य परिस्थितियाँ मात्र किसी को रचना करने की प्रेरणा नहीं दे सकतीं। सृजनशील व्यक्तित्व सामान्य परिस्थितियों से भी असामान्य अथवा विलक्षण अनुभूतियाँ सँजो सकता है। ज़रा ग़ौर करके देखें तो 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' और 'नीड़ का निर्माण फिर' में ऐसा क्या है जो असामान्य है! इससे अधिक असामान्य बहुतों के जीवन में आया है और वे मूक ही रहे हैं। सृजन में व्यक्तित्व और परिस्थिति, दोनों का योग स्वीकार करते हुए भी मैं व्यक्तित्व को अधिक महत्त्व देना चाहूँगा।

प्रश्न : एक उभरते हुए रचनाकार को देखकर एक घिसा हुआ लेखक अथवा कवि क्या सोचता है?

उत्तर : कि एक दिन मैं भी ऐसा ही था। मुझे तो उसे देखकर ईर्ष्या होती है। काश, मैं फिर उसी की आँखों के सपनों को लेकर चल सकता! हर प्राप्ति निराश करती है, हर कामना उल्लसित।

प्रश्न : (क) राष्ट्रीय चरित्र पैदा करने में हिन्दी साहित्य दायित्वहीन एवं असफल प्रतीत होता है। आप कहाँ तक सहमत हैं?

(ख) 'मधुशाला' ने आपको ज्यादा 'नाम' दिया या 'अमिताभ बच्चन' ने?

उत्तर : (क) यह बहुत अंशों में ठीक है कि हिन्दी का पुराना साहित्य अध्यात्म-आतंकित है, पर वही साहित्य साधारण जनता तक पहुँचा है। उसमें राष्ट्रीय चरित्र पैदा करने की शक्ति कम है, अगर राष्ट्रीय चरित्र का आप संकुचित अर्थ लें। व्यापक अर्थ में राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण उससे भी होता है। हिन्दी का आधुनिक साहित्य, निश्चय ही, राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में सहायक हो सकता है; आवश्यकता है उसके व्यापक रूप से जनता तक पहुँचने की। खेद है कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य केवल पाठ्य-पुस्तकों तक सीमित है। साधारण जनता न उसमें रस लेती है न उससे प्रेरणा।

(ख) 'मधुशाला' के द्वारा बच्चन-नाम साहित्य-क्षेत्र में जाना गया, और अमिताभ के द्वारा फ़िल्मी क्षेत्र में।

निश्चय है कि साहित्य के क्षेत्र से फ़िल्म का क्षेत्र बहुत बड़ा है। किताब की दूकानों पर इतने लोग कहाँ दिखायी देते हैं जितने सिनेमा-हाल की टिकट-खिड़कियों पर!

प्रश्न : आप अपने जीवन की कौन-सी उपलब्धि सबसे बड़ी मानते हैं और क्यों?

उत्तर : इसे कि आज इकतीस बरसों से तेजी-जैसी नारी मेरी जीवन-सहचरी है। उन्होंने मेरे अतीत को मान दिया, मेरे वर्तमान को समझा और मेरे भविष्य

को सँवारा।

प्रश्न : पचीस वर्ष की आज़ादी के बाद भी हिन्दी अभी तक राष्ट्र भाषा क्यों नहीं बन सकी ? इसके लिए व्यवस्था उत्तरदायी है या हिन्दी की रोटी खानेवाले और कुर्सी पर विराजमान देश के बुद्धिजीवी ? अगर कोई साज़िश है तो उसमें किसका हाथ है—व्यक्ति का, वर्ग का, व्यवस्था का या संविधान का ?

उत्तर : हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने में ही भूल थी। उसे सम्पर्क भाषा भर मानना था। भारत की कोई एक भाषा समूचे भारत की राष्ट्रभाषा बनने के लिए अक्षम है—संख्यागत व्यापकता की दृष्टि से ही नहीं, आन्तरिक शक्ति-समृद्धि की दृष्टि से भी।

भारतीय भाषाओं की यही दुर्बलता अंग्रेजी को अपदस्थ नहीं कर सकी।

व्यवस्थाएँ भाषाओं को सशक्त नहीं बना सकतीं। 'हिन्दी की रोटी खाने-वालों' को दोष देना ऐसा ही है जैसे किसी पुख़्ता दीवार के गिर पड़ने के लिए दीमकों को दोषी ठहराना। भाषाओं को सशक्त बनाना है तो हमें नींव से चलना होगा, कँगूरों से नहीं।

प्रश्न : क्या आपके फ़िल्मी गीत साहित्य के उतने ही निकट हैं, जितने आपके अन्य साहित्यिक गीत ? फ़िल्मांकन में उन गीतों का कितना सही मूल्यांकन हो पाया है ?

उत्तर : मैंने आज तक फ़िल्मों के लिए गीत नहीं लिखा। मेरे दो पूर्व-लिखित गीत ही फ़िल्म में लिये गये। एक गीत तो मेरे ही स्वर-लय में ले लिया गया—'मेले में खोई गुजरिया।' दूसरे को स्वर-बद्ध किया गया—'साँझ खिले, प्रात झरे फूल हरसिंगार के।' मेरा विचार है कि संगीत से उसकी आत्मा कुछ अधिक निखरी।

प्रश्न : आप साहित्यकार की स्वतन्त्रता अथवा प्रतिबद्धता को किस सीमा तक स्वीकारते हैं ?

उत्तर : मैं साहित्यकार की स्वतन्त्रता का पक्षपाती हूँ, पर स्वेच्छया स्वीकृत प्रतिबद्धता का विरोधी नहीं।

लादी गयी प्रतिबद्धता के प्रति मैं विद्रोह करना चाहूँगा।

आज़ाद को मैं इतनी आज़ादी देना चाहूँगा कि वह ग़ुलामी भी स्वीकार कर सके। आज़ाद की स्वीकार की हुई ग़ुलामी और ग़ुलाम की स्वीकार की हुई ग़ुलामी में बड़ा फ़र्क़ है।

प्रश्न : कविता एवं संस्मरण के क्षेत्र में आपने बहुत कुछ दिया। अब क्या हिन्दी-आलोचना की श्री-वृद्धि करना पसन्द नहीं करेंगे ?

उत्तर : पीठ ठोंकने के लिए धन्यवाद। अब मैं लेखन से संन्यास ले रहा हूँ। क्षमा करेंगे।

प्रश्न : एक निहायत व्यक्तिगत प्रश्न। आपने अपनी किसी रचना (शायद 'नीड़ का निर्माण फिर') में लिखा है कि तेजीजी से प्रथम आमना-सामना होते ही आप दोनों एकाएक अश्रुप्लावित हो उठे (रो पड़े) और यही आँसू आप दोनों के प्रणय-बन्धन का मार्ग प्रशस्त कर गये। क्या यह कथन स्वाभाविक है ? यदि हाँ, तो फिर चम्पा को, उसके विधवा होने पर, आपने साहसपूर्वक स्वीकार क्यों नहीं कर लिया ?

उत्तर : आपको अस्वाभाविक लग सकता है, पर मेरे जीवन की तो घटना है। पर घटना को स्वाभाविक और सत्य मान लें तो भी किस तर्क से यह परिणाम

निकलता है जो आपने निकाला ?

सीधी-सी बात यह है कि 35 वर्ष की अवस्था में मुझमें जितना साहस था उतना 17 वर्ष की अवस्था में नहीं था। नहीं था, तो नहीं था। जैसा था वैसा बताने के लिए आत्मकथा लिखी है, साहस की डींग मारने के लिए नहीं।

प्रश्न : आपकी नयी कविताओं में पाठकों को अब ज़रा भी रस नहीं मिलता। स्पष्ट पूछूँ तो चुक जाने के बाद ऐसी कौन-सी मजबूरी है जो आपको लिखते रहने के लिए विवश कर रही है ?

उत्तर : मेरी नयी कविता के प्रति अपनी, और मेरे अन्य पाठकों की प्रतिक्रिया देने के लिए आभारी हूँ। पता नहीं, मेरे अन्य पाठकों की प्रतिक्रियाएँ जानने का माध्यम आपके पास क्या है। खैर, आपको इस सूचना से सन्तोष होना चाहिए कि मैंने अब कविता लिखना बन्द कर दिया है, वैसे मेरे लिखे को न पढ़ने के लिए आप पहले भी स्वतन्त्र थे। फिर भी आप चाहें तो कह सकते हैं कि मुझको अपने चुकने का अहसास देर में हुआ। हुआ तो, बहुतों को तो होता ही नहीं, न अपने चुकने का, न चुके हुए ही होने का ! चुकना कोई लज्जास्पद प्रक्रिया नहीं। जो भरा है वही तो चुकेगा। चुकना भरे होने की परिणामी स्थिति है। जो भरा-भरा ही रहा, उसने कभी उँडेला ही नहीं। यहाँ तो अन्तिम बूँद तक उँडेलता गया। जो भरा ही नहीं था वह खाली क्या होगा ! जो भरा है वह एक दिन खाली होता है—एक दिन गाण्डीवधारी अर्जुन का तरकस भी खाली हो जाता है, और पिद्दे-पिद्दे अहीर उन पर व्यंग्य-बाण छोड़ते हैं, पर अर्जुन अर्जुन ही रहेंगे और अहीर अहीर ही।

प्रश्न : हिन्दी काव्य में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के प्रतिकूल फ़ारसी हालावाद के प्रयोग की प्रेरणा आपको कैसे मिली ? हिन्दी काव्य में यह कहाँ तक सफल हुआ ?

उत्तर : ये सारी बातें मैं 'खैयाम की मधुशाला' की लम्बी भूमिका में बता चुका हूँ। जिज्ञासा हो तो वहीं देखें। हालावादी तो मैं न कहूँगा, पर हाला, मधुबाला आदि के प्रतीकों से लिखी मेरी कविताएँ ही हिन्दी की वे कविताएँ हैं जो साधारण से साधारण जनता तक पहुँचीं—शेष या तो पाठ्य पुस्तकों तक सीमित रहीं या लेखन के पेशे से सम्बद्ध लोगों तक पहुँचीं।

प्रश्न : आज से लगभग 12-13 वर्ष पूर्व आपने लोकगीतों की धुनों पर आधारित गीत लिखने का प्रयोग शुरू किया था और आपके कुछ बहुत अच्छे गीत उस समय छपे थे। आपने यह प्रयोग बन्द क्यों कर दिया ?

उत्तर : यह बहुत खतरे का काम था। 'लय' में बड़ी आकर्षक शक्ति होती है। लोक-लय के साथ लेखक या कवि लोक-मानस में खिंच जाता है, जो बहुत सीमित-संकुचित है। मेरी अभिव्यक्ति जो व्यापक क्षेत्र चाहती थी उसमें लोक-लयों को लेकर प्रवेश करना सम्भव न था।

प्रश्न : आज के सामान्यजन का झुकाव कविता की ओर नहीं है। क्या कारण है—कविता में लयात्मकता की कमी, नित नये अरुचिकर प्रयोग या कविता की अपेक्षा कहानी की अधिक ग्राह्यता ? आनेवाले कल में कविता का स्वरूप क्या होगा ?

उत्तर : काव्य में प्रयोग हो रहे हैं, उपलब्धियाँ नहीं। सामान्य जन प्रयोग में रुचि नहीं लेते।

इस प्रयोग-काल में गद्य अधिक आकर्षक होगा। यह गद्य का युग है। कविता

का युग तब फिर आयेगा जब आज के सारे प्रयोगों को आत्मसात् कर कोई नयी उपलब्धि करेगा। भविष्य की कविता के स्वरूप की कल्पना अभी से नहीं की जा सकती, पर निश्चय ही वह दिव्य होगा।

प्रश्न : आपके कवि को किन-किन कवियों, दार्शनिकों ने प्रेरित और उद्बुद्ध किया है और किन रूपों में ?

उत्तर : तुलसी मुझे घुट्टी में मिले थे, भक्ति-काल के अन्य कवि भी।

उमर ख़ैयाम ने मेरे कवि-जीवन के प्रारम्भ में अद्भुत रूप से मुझे प्रेरित और उद्बुद्ध किया। मैं उमर ख़ैयाम पर एक कविता लिखकर उनके प्रति अपना ऋण व्यक्त कर चुका हूँ—कविता 'आरती और अंगारे' में है। अंग्रेज़ी के पुराने कवियों में शेक्सपियर और आधुनिक कवियों में डब्ल्यू. बी. ईट्स मेरे प्रिय कवि रहे। मैंने शेक्सपियर के चार नाटकों का अनुवाद किया। ईट्स पर मैंने शोधग्रन्थ लिखा, जो प्रकाशित हो चुका है। उनकी शतोपरि कविताओं का मैंने अनुवाद किया। आधुनिक हिन्दी के कवियों में पन्त को मैंने सबसे अधिक पढ़ा। उन पर मेरी एक पुस्तक है। उनकी भाषा ने मुझे नहीं छुआ, पर उनकी कविताओं का गठन मुझे बहुत पसन्द आया। उनकी कल्पना आकर्षक थी, पर उनका उधारू दर्शन मैं हज़म न कर सका।

मेरी कविताओं में कोई दर्शन है तो जीवन-दर्शन। जीवन जी-भोग कर जो मेरी प्रतिक्रिया हुई वही मेरी कविताओं में है।

प्रश्न : क्या बिना प्रेम किये, अथवा प्रेम में असफलता की पीड़ा भोगे कविता का सृजन सम्भव है ? क्या आप मानते हैं कि 'वियोगी होगा पहला कवि' ? आपने भी यह वियोग भोगा या नहीं ?

उत्तर : यदि आप हास्य-व्यंग्य और बौद्धिक कविता को कविता मानते हैं तो बिना प्रेम के अनुभव के भी कविता लिखना सम्भव है। भावना-प्रेरित कविताएँ लिखने के लिए प्रेमानुभूति अनिवार्य है क्योंकि भावों की गहराइयाँ प्रेमानुभूति में ही छुई जा सकती हैं।

वियोगी और कवि दोनों होना पड़ेगा तभी आपकी भावनाएँ अभिव्यक्ति पा सकेंगी। सृजन कोई सरल काम तो नहीं, बहुत कठिन काम है, करिश्मा है।

मेरी अनुभूति जानने के लिए मेरी कविताओं के पीछे झाँकें।

पत्र-परिचर्चा : दस*

प्रश्न सम्पादक-कविताएँ (अलवर) का उत्तर बच्चन का

प्रश्न : समाज की रसज्ञता के वर्तमान स्तर और कविता के बीच इतना अन्तर क्यों आ गया है ?

उत्तर : कवि जिस समाज में जन्म लेता और विकसित होता है उसमें रसज्ञता

*'कविताएँ,' (अलवर), सितम्बर, 1961

का एक विशेष स्तर होना स्वाभाविक है। कवि जब अपनी रचना प्रस्तुत करता है तब यही रसज्ञता उसका स्वागत करती है या उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। स्वाभाविक परिस्थितियों में कवि न अपने को समाज में अजनबी पाता है और न अपनी वाणी को अकेले कण्ठ की पुकार। जब वह कुछ नया देता है तो उससे ठीक ही यह प्रत्याशा की जाती है कि वह नूतन रसज्ञता जागृत करने में भी समर्थ हो।

आज कवि के जन्म और विकास की अस्वाभाविक परिस्थितियाँ भी सम्भव हैं। एक कवि गाँव में जन्म लेता है, नगर में उसकी शिक्षा होती है, दूर देशी या विदेशी भावानुभूतियों या अभिव्यक्तियों के बीच उसका विकास होता है। अब वह कवि यदि अपनी रचना अपने ग्रामीण भाइयों के बीच सुनाये तो अवश्य ही उसे शिकायत होगी कि उसे समझनेवाला कोई नहीं है।

आज की नई कविता और पाठक के बीच का सबसे बड़ा विपर्यय मेरी समझ में यही है कि उसका विकास तो एक दूसरी रसज्ञता के बीच होता है और उसका सृजन एक दूसरी रसज्ञता के लिए। मुझसे एक नव-युवक कवि एक दिन कहने लगे—आज हिन्दी में ऐसी कविता लिखी जा रही है कि यदि उसका अनुवाद कर दिया जाय तो वह योरोप और अमरीका में भी समझी जा सकेगी। उनके उस विश्वास का रहस्य समझना कठिन नहीं होगा।

प्रतिभावान के लिए सर्वथा नवीन रसज्ञता को जागृत कर देना असम्भव तो नहीं होना चाहिए।

साक्षात्कार : एक*

प्रश्न केशव चन्द्र वर्मा के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : हिन्दी की दुनिया में आप बहुत दिनों तक 'आउटसाइडर' या बाहरी आदमी माने जाते रहे हैं, उस वक्त बाहर से हिन्दी जगत जैसा दीखता था और आज जब आप पूरी तरह से उसके केन्द्र में हैं तब आपसे यह पूछा जा सकता है कि दोनों दुनिया में आपको क्या फ़र्क़ महसूस होता है?

उत्तर : भाई, मैं तो अब भी अपने को 'आउटसाइडर' या बाहरी आदमी ही मानता हूँ। मुझे न तब किसी ने स्वीकारा और न अब। मुझ पर किसी का एहसान नहीं है। प्रकाशक मेरी किताब छाप देता है। मेरे पाठक उसे ख़रीदकर पढ़ते हैं। बस और किसी तीसरे की मुझे ज़रूरत नहीं है। मुझे अब हिन्दी की दुनिया बड़ी घुटन की दुनिया लगती है। अक्सर बड़े तंग और छोटे दिमाग से चीज़ों को देखा जाता है। बहरहाल—जब मैंने लिखना शुरू किया था तब तो बड़े-बड़े धुरन्धर हिन्दी में लिख रहे थे···उस घुड़दौड़ में मैंने भी अपना दुलकी चालवाला घोड़ा

*15 नवम्बर, 1970 के 'दिनमान' में प्रकाशित—तृतीय अफ्रोशियाई लेखक-सम्मेलन के अवसर पर।

छोड़ दिया था। प्रतिस्पर्द्धाएँ थीं। खूब थीं। लेकिन सम्भवतः इस तरह का घटिया-पन नहीं था।

प्रश्न : घटियापन कहाँ दीखता है?

उत्तर : जिधर देखो उधर। मिसाल के तौर पर देखो पहले पत्रिकाओं में जिन किताबों की प्रशंसा होती थी लोग अक्सर उसको ठीक समझकर पुस्तक पढ़ते थे और बहुधा उसे ठीक पाते थे। अब इस तरह की समीक्षाएँ देखो। जिसके पास जो अख़बार है, उसमें वह अपना ही ढिंढोरा पीटना चाहता है। क्या कहोगे इन्हें? इसीलिए पाठक पर उसका प्रभाव घटता जाता है। अच्छी किताबें पढ़ने-वाला पाठक अब भी हिन्दी में है। वही असली प्रचारक होता है। लड़ाइयाँ आपस में पहले भी होती थीं—अब भी होती हैं। पहले अकेले-अकेले की लड़ाई डटकर होती थी अब तो साहित्यिक गुट बनाकर लड़ाई लड़ी जाती है। अपने अकेले बूते पर विश्वास नहीं रह गया। जो उस गुटबन्दी में शामिल नहीं हुआ उसे तो अब और भी गहरा खतरा उठाना पड़ सकता है। हो सकता है कि तमाम गुटबन्द उसका ज़िक्र ही न करें। लड़ाई के पूरे इतिहास से ही वह आदमी ग़ायब कर दिया जाये।

प्रश्न : क्या पहले जो लड़ाइयाँ होती थीं उनमें बहुत ही छोटे दर्जे की उठा-पटक नहीं होती थी?

उत्तर : होती थी लेकिन ऐसी नहीं। अब अलबत्ता देखता हूँ कि उस पीढ़ी के लोग भी इस दौर में ऐसा काम करते हैं जिससे मन दुःखी होता है और ग्लानि होती है। निराला और पन्त की दो जीवनियाँ प्रकाशित हुई हैं। मैं समझता हूँ कि जिस तरह की बातें उनमें कही गयी हैं उससे पन्त और निराला दोनों ही छोटे हो गये हैं। अजीब बात है कि व्यक्ति के मर जाने के बाद इस तरह की बातें कही जाएँ। जानते हो—रोमनों का एक सिद्धान्त था कि मरे हुए व्यक्ति के बारे में कभी कुछ ऐसा न कहा जाये, जिसका वह जवाब न दे सके। ख़ैर, मैं ऐसी बातें करता हूँ तो शर्म से सिर नीचा हो जाता है।

प्रश्न : आज़ादी के बाद तो साहित्यकारों का सम्मान बढ़ा ही है।

उत्तर : ख़ाक! आज़ादी के बाद का कृतित्व क्या है, ज़रा उसे ध्यान से देखो तो यहाँ लोग साहित्यकार को इज़्ज़त नहीं देते—उसे 'पिटी' का, दया का पात्र मानते हैं। अगर वह बिना बीमार पड़े, बिना घिघियाये हुए अपने रचना-कर्म में लगा रहे तो उसकी मान्यता असम्भव है, केशव। शायद मेरी बात को समझने के लिए तुम्हें मुक्तिबोध का उदाहरण देखना होगा।

प्रश्न : साहित्य का प्रभाव जब पड़ता नहीं तो फिर यह सब तो···

उत्तर : साहित्य जिस अर्थ में तुम या मैं कह रहा हूँ—अब कहाँ लिखा ही जा रहा है? साहित्य तो ज़िन्दगी की एक नयी व्याख्या देता रहा है न? लेकिन वह ज़िन्दगी की पकड़ है कहाँ? दुनिया कितनी तेज़ी से भाग रही है। आज के नौजवान को न तो साहित्य पढ़ने की फ़ुर्सत है और न उसे वह ज़रूरी ही समझता है। पत्रिकाएँ इतनी निकलती हैं और इतनी किताबें छपती हैं, लेकिन हम-तुम भी अक्सर तमाम चीज़ें सूँघ-सूँघकर छोड़ देते हैं। कुछ भी दिमाग़ में अटकता नहीं है। कोई भी कविता दुबारा पढ़ने का मन नहीं होता। कहीं कुछ गहरे स्तर से छू नहीं पाता। लेकिन जब भी कोई प्रतिभावान आयेगा, वह इस सबको चीरकर अपना रास्ता बना लेगा और तमाम निरर्थकता से सार्थकता निकाल लेगा।

प्रश्न : अच्छा बच्चनजी, लेखक को किसी प्रतिष्ठान का हिस्सा बनना

चाहिए या नहीं ? उसकी शिरकत के उसकी रचनाधर्मिता पर क्या प्रभाव पड़ते हैं ?

उत्तर : देखो, जब हम जन्म लेते हैं तो प्रायः एक व्यवस्था के या हम लोग अपने जमाने में जिसे 'संस्था' कहते थे,—उसके - अंग होते हैं। जैसे-जैसे विकास होता है, उस व्यवस्था के प्रति विद्रोह जागता है। कलाकार या लेखक के भीतर यह विद्रोह और भी पैना और तीखा होता है। अपनी रचना को जीवन्त रखने के लिए उस विद्रोह को पकड़ना होगा और उसे अभिव्यक्त करना होगा। यदि उस क्रान्ति को दबाकर रचनाकार व्यवस्था का ही पोषण करता रहेगा तो रचना एकदम बेस्वाद, फीकी और घटिया होगी। अब लेखक कहाँ तक उस प्रतिष्ठान का हिस्सा बनता है या कहाँ तक नहीं बनता—यह उसे अपने विवेक से ही तय करना होगा। व्यवस्थाएँ लेखक को जकड़ती हैं। वह सिर्फ सामान्य इकाइयाँ बना सकती हैं—व्यक्ति नहीं बना सकतीं।

प्रश्न : तो प्रतिष्ठान ही क्यों—किसी भी तानाशाही या साम्यवादी पद्धति से दिमाग को गिरफ़्त करने की कोशिश में—केवल सामान्य इकाइयाँ ही बनायी जाती हैं।

उत्तर : ठीक कह रहे हो तुम। यह बात गांधी शती के अन्तर्गत लिखे हुए तमाम गांधी साहित्य (और काव्य भी) पर भी लागू है और कम्युनिस्ट जगत के प्रचारात्मक साहित्य पर भी। यह सब केवल एक तरह की अखबारनवीसी को जन्म देता है। मन को मथ कर जो अपने आप नहीं सामने आता, वह दूसरे के मन को कभी नहीं छूता। सुनो केशव, क़लम बड़ी दग़ाबाज़ चीज होती है। पहली ही लाइन से चीख़ने लगती है कि "सुनो, मैं गांधी स्मारक निधि की तरफ़ से या फ़लाँ या फ़लाँ की तरफ से बोल रही हूँ।"

प्रश्न : बात यह है कि यह सब कुछ उसी लेखकीय मान्यता के अंग हैं। यही क्यों—आज बहुत-से लेखकों के मन में यह बात घर कर गयी है कि पुरस्कार प्राप्त करना या विदेशों के दौरे किसी भी तिकड़म से प्राप्त करना, लेखकीय सत्ता के लिए अनिवार्य है। सम्भवतः इस दौड़ से जो ख़तरे निकलते हैं, उनके प्रति वह सचेत ही नहीं रह गये हैं।

उत्तर : हाँ, इस दौड़ में पड़ने के ग़लत नतीजे निकल सकते हैं। लेकिन अगर पुरस्कार या सम्मान मुफ़्त हाथ आये तो बुरा क्या है ? उसके लिए किसी तरह की सिफ़ारिशें करना-कराना, जोड़-गाँठ भिड़ाना गलत है, लोग करते हैं। छोटा लेखक ही नहीं, बड़े-बड़े लेखक ये धन्धे करते हैं। मामूली चीजों के लिए, मामूली पुरस्कारों के लिए दौड़-धूप, मिलना-जुलना, सिफारिश, जोर पहुँचाना—सब चलता है। मैं खूब अच्छी तरह से जानता हूँ। इस सबका फल उन्हें अपने लेखन में ही मिल जाता है—कोई और दे या न दे। पैसा बुरी चीज है बाबू केशवचन्द्र वर्मा। दो राष्ट्रकवियों को भी—कोर्स में लगनेवाली किताबों को लेकर—आपसी तू-तू-मैं-मैं के लिए मजबूर कर देती है। थोड़ा कहा, बहुत समझना।

प्रश्न : लेकिन पुरस्कार या सम्मान मुफ़्त हाथ आ सकता है क्या ? क्या आपको नहीं लगता कि साहित्यिक कृतित्व के जितने भी पुरस्कार चल रहे हैं, उनकी अपनी एक अन्तरंग राजनीति है—मसलन कमेटियों के चयन में या पुरस्कृत व्यक्तियों के चयन में ? या दूसरे प्रभावशाली क्षेत्रों के दबावों का जायजा ? या आपको ये सारे पुरस्कार 'लेखकीय वैशिष्ट्य' के सूचक लगते हैं ?

उत्तर : हाँ, इन सभी पुरस्कारों की अन्तरंग राजनीति है। इन सबमें लेखक

या उसका कृतित्व ही एकमात्र कसौटी नहीं रहती। उसके भीतर बहुत धाराएँ और अन्तरधाराएँ रहती हैं। उनके दूर तक फैले हुए न्यस्त स्वार्थ होते हैं। उसकी गन्ध कभी-कभी फूट पड़ती है और कभी-कभी दूर तक पता नहीं चल पाता। पुरस्कार के लिए जो लोग चुने जाते हैं उनमें एक बात तो यह रहती है कि आदमी पुरस्कार पाने की कोटि में अगर खड़ा किया जाय तो उस पर ख़ास आपत्ति न हो—लेकिन दूसरी महत्त्वपूर्ण कसौटी यह रहती है कि उससे दूसरी चीज़ें क्या सिद्ध होंगी। मसलन पुरस्कार देने कौन आएगा? किसकी फ़ोटो किस वी. आई. पी. के साथ खिंच सकेगी। माला कौन पहनाएगा? कमेटी में कौन-कौन हैं? उससे कहाँ, कब, कौन-सा काम निकल सकता है? यह इसी देश में क्यों? जो अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार हैं उनकी राजनीति भी इसी ढंग पर चलती है। नोबेल पुरस्कार का कितना पैसा अमेरिका में रहता है और कितना बाहर जाता है किसी दर्जे पर मद्देनज़र रखा जा सकता है। उसी तरह सोवियत पुरस्कार भी अपनी राजनीति से परिचालित होता है। इनाम पानेवाला लेखक तो अक्सर इस धन्धफन्द में एक 'निरीह प्राणी' बन जाता है।

प्रश्न : आपने जिस तरह के माहौल को देखा-समझा है, उसे दृष्टि में रखते हुए आपको अफ्रोशियाई लेखक सम्मेलन की क्या उपयोगिता दिखायी पड़ती है? रचना-धर्म के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता तो संदिग्ध है ही, लेकिन उसके साथ ही साथ क्या इस तरह के सम्मेलन लेखकीय सम्मेलन न होकर एक तरह की ख़ास राजनीति का समर्थन मात्र नहीं होते? आपने माना है कि आप एकदम अलग, गुटों से दूर और स्वतन्त्र लेखक के रूप में ही खड़े रहे हैं चाहे इसकी जो भी क़ीमत आपको क्यों न देनी पड़े! आप इस तरह के सम्मेलनों में अपने उस व्यक्तित्व के साथ किस तरह शामिल होते हैं?

उत्तर : मैं इस सम्मेलन के उद्देश्यों से सहमत हूँ इसलिए मैं इसमें शामिल हूँ। मसलन 'प्रगतिशीलता', 'स्वतन्त्रता' और 'शान्ति' यह तीनों चीज़ें मैं समझता हूँ कि आज के युग के लेखक के लिए आवश्यक मूल्य होने चाहिए।

प्रश्न : सुनने में ये तीनों शब्द बड़े अच्छे लगते हैं और किसी भी लेखक को इन मूल्यों के लिए संघर्ष करने में क्या हिचक हो सकती है! लेकिन दिक़्क़त वहाँ पैदा होती है जब इन शब्दों की परिभाषा आप या हम नहीं तय करते हैं, बल्कि किसी दूसरे देश से तय होकर आती है और आपको सिर्फ़ उस पर अपनी रबर की मुहर लगानी रहती है। प्रगतिशीलता या स्वतन्त्रता या शान्ति केवल एक विशिष्ट सन्दर्भ में ही लागू होते हैं। जो उन पर नुक़्ताचीनी करें उनके लिए गालियों का भण्डार है। क्या आप खुद इन शब्दों की व्याख्या इस सम्मेलन में रचनाकार की दृष्टि से करेंगे?

उत्तर : देखो केशव, आदमी को खुला हुआ दिमाग़ लेकर चलना चाहिए। फ़िलहाल इन शब्दों की जो व्याख्या या परिभाषा है मैं उससे सहमत हूँ इसीलिए इस सम्मेलन में शामिल हूँ। मैं अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के रूप में हूँ, मैं किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करता हूँ। जो लोग इन शब्दों की मौजूदा परिभाषा से सहमत हों, उन्हें इस सम्मेलन में शामिल होना चाहिए, लेकिन जिनके पास अपनी दूसरी परिभाषाएँ हों या दूसरे विचार हों—उन्हें अलग सम्मेलन करना चाहिए—यदि वे उसकी ज़रूरत महसूस करें तो।

प्रश्न : वैसे आप कहते हैं कि आप किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करते लेकिन ज़रा ग़ौर से देखिए तो आप समझेंगे कि हिन्दी क्षेत्र के कितने बड़े हिस्से का प्रति-

निधित्व करते हैं। यदि आपके नाम का दुरुपयोग होता है तो उस हिस्से का यह अधिकार होगा कि वह आपसे कहे-सुने।

उत्तर : लेकिन दुरुपयोग किस तरह से ? मैंने अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बराबर अक्षुण्ण बनाये रखा है। उसे बराबर बनाये रखूँगा, ऐसी आशा करता हूँ। जिस चीज़ को मैं नहीं मानता उसको मैं स्वीकार नहीं करूँगा। सम्मेलन यदि कोई ग़लत प्रस्ताव पास करता है या ग़लत काम करता है—मसलन लेखकों की स्वतन्त्रता पर किसी भी तरह का प्रतिबन्ध लगाने की या दिशानिर्देश की बात करता है तो मैं उसका डटकर विरोध करूँगा। इसमें मुझे किसी भी तरह का संशय नहीं है।

प्रश्न : आप इस बात को शायद साफ़ कर देते तो उस ढंग का विरोध न होता।

उत्तर : नहीं, विरोध तो होता ही। वह तो एक तरीक़ा है। सम्मेलन के ढाँचे पर लोगों को आपत्ति है—उसके लिए पैसे दे देने से ही तो लेखकी का सर्टीफ़िकेट नहीं मिलता या बाँटा जा रहा है। इस सम्मेलन की एक प्रबन्ध समिति है, उसके लिए कुछ फ़ीस है। कुछ ज़्यादा हो सकती थी, लेकिन वह इसीलिए थी कि उसी से प्रबन्ध होगा। कुछ पैसा सरकार ने दिया है। जहाँ-जहाँ इसके शाखा सम्मेलन हुए हैं वहाँ के लिए सम्मेलन के कार्यालय ने पैसे दिये हैं। इलाहाबाद के सम्मेलन के लिए भी कुछ रुपये दिये गये हैं।

प्रश्न : ठीक कह रहे हैं आप। दरअसल अगर यह बात साफ़ हो जाती कि यह सम्मेलन एक ख़ास ढंग के या एक बँधी-बँधाई विचार पद्धति के लेखकों का हो रहा है तो दूसरे बहुत-से लेखकों को इससे विरोध प्रकट करने की या अपनी असहमति प्रकट करने की भी ज़रूरत महसूस नहीं होती।

उत्तर : अगर यह मान भी लिया जाये तो फिर लड़ने की क्या ज़रूरत है ? आपको आपत्ति है तो दूसरे ढंग का सम्मेलन कर लीजिए। जो विरोध करते हैं उन्हें एक बार यह भी सोचना चाहिए कि स्वयं उस माध्यम में उन्होंने कितना काम किया है उसी के आधार पर उनकी आवाज़ में बल पैदा होगा।

प्रश्न : यह बहस दुधारी हो सकती है। उस माध्यम में किसने कितना काम किया है, यह कसौटी उसके आयोजकों या मठाधीशों पर भी लगायी जा सकती है लेकिन ज़्यादा महत्त्वपूर्ण सवाल शायद यह है कि लेखकों की अपनी आज़ादी के बनाये रखने में कोई भी संघ कहाँ तक कारामद हो सकता है और कहाँ तक उसको अवरुद्ध करता है, इसकी परख होनी चाहिए। कौन-सी राजनैतिक व्यवस्था इस चीज़ को सीधे-सीधे लाती है और कौन मुखौटे लगाकर—इसकी पहचान किसी भी जागरूक लेखक के लिए ज़रूरी है। इसे आप मानते हैं कि नहीं ?

उत्तर : देखो केशव, अब तो यह बहस भी एक तरह के राजनैतिक प्रचार का अंश बन गयी है। किस तरह की लेखकीय आज़ादी की बात की जाती है ? वह सब भी एक तरह के प्रचार का हिस्सा है। अपने देश में मैं लेखक की पूरी आज़ादी चाहता हूँ। हमेशा चाहूँगा। और इसके लिए अकेले बड़ा से बड़ा संघर्ष करूँगा। उस पर कभी कोई ख़तरा आयेगा तो सबसे पहली आवाज़ मेरी होगी, क्योंकि मैं अपने लेखक के लिए अपनी सरकार से कोई अतिरिक्त सुविधा नहीं चाहता। दूसरे देशों में ख़ास तौर से साम्यवादी देश में, जहाँ लेखक को विशिष्ट सुविधाएँ दी जाती हैं और लेखक उन्हें दौड़-दौड़कर लेते हैं, उन्हें उसकी क़ीमत चुकाने में फिर परेशानी क्यों होती है ? मैं अगर ऐसे प्रतिबन्धित देश का लेखक होता तो

किसी भी तरह की बाहरी मदद लेकर अपनी पुस्तक न छपाता। मैं जिसके लिए लिखता हूँ, जिसके दुख-दर्द की कथा लिखता हूँ—यदि वह उन्हीं को पढ़ने के लिए नहीं मिलती तो उसे छपाकर क्या लाभ ?

प्रश्न : लेकिन अगर किसी देश की व्यवस्था एक पुस्तक को छापने की अनुमति नहीं देती तो दूसरे देश में छप जाने से वह पुस्तक सम्पूर्ण मानवता को तो प्राप्त हो ही जाती है—कभी उस देश के रहनेवालों को भी मिल सकती है कि नहीं ?

उत्तर : होता यह है कि वह पुस्तक भी अन्ततः प्रचार-युद्ध का उपकरण बन जाती है और कुछ होता नहीं। देखो, अच्छा साहित्य या महान साहित्य एक तरह की जकड़बन्दी के भीतर से ही जन्म लेता है। इसे मैं ज़ंजीर पहनकर नाचना कहता हूँ। यदि रचनाकार को यह कला आती है तो वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए कभी तरसता नहीं रहेगा। लेखक ही क़ैदी नहीं—सारा देश ही क़ैद में होता है। लेखक को उन्हीं के लिए लिखना है तो उसे क़ैदी की ही भाषा में लिखना पड़ेगा। कहता हूँ देखो—समर्थ रचनाकार को कभी इसकी शिकायत नहीं होती। कहने का तरीका बदलो—अगर वैसा कहने में दिक़्क़त होती है तो अपनी बात दूसरी तरह से कहो। संसार के सारे खुफ़िया विभाग भी अगर एक साथ मिल जायें तो समर्थ रचनाकार के शब्दों से नहीं टकरा सकते। उनके भीतर जो धारा बहती है वह केवल समझदार पाठक तक ही पहुँचती है।

प्रश्न : लेकिन अक्सर अंकुश या जकड़बन्दी तमाम उगती हुई प्रतिभाओं को कुण्ठित कर देती है तो जो समर्थ रचनाकार बनसकता था, उसकी भी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। बहुत-सा कूड़ा अक्सर उसी सम्भाव्य रचनाकार की प्रतीक्षा में तरह दे दिया जाता है।

उत्तर : लेकिन बिल्कुल 'तरह' दे देने में नुकसान भी हो सकता है। आजादी के नाम पर आजकल 'खुली छूट' (लाइसेंस) का आग्रह है। क्या हुआ है, साहित्य में तुम देखो, और समर्थ रचनाकार जब आता है तो वह अपना रास्ता खुद बना लेता है। वह प्रतिभा रुकती नहीं है। वह चीरती चली जाती है। उसे इस तरह की जकड़बन्दी बाँध भी नहीं पाती। जो कुण्ठित करनेवाले उपकरणों के सामने शीश झुका दे, उसे मैं प्रतिभा नहीं मानता। अंकुश का होना या न होना केवल छुटभैयों के लिए अहम मसला है। उन्हीं का बनना-बिगड़ना उसके होने या न होने पर निर्भर करता है। जिसकी दृष्टि इस सबको पार करके अपनी बात उस जकड़बन्दी से ऊपर उठाकर रखती है, वही इस पूरी उथल-पुथल में एक व्यवस्था पैदा कर सकता है।

काम करने के लिए पहले मद्रास और बाद को पाण्डिचेरी, अरविन्द आश्रम चले गये। इस बार मेरे साथ रहते हुए अरविन्द-दर्शन की ओर आकर्षित होने की बात उन्होंने कई बार की थी।

इसके बाद वे 1947 में प्रयाग आये और मेरे साथ नौ-दस महीने रहे। इन दिनों मैं 'एडेल्फी' में रहता था। यहीं से 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'मधुज्वाल' प्रकाशन के लिए भेजे गये। 'मधुज्वाल', जो 'रुबाइयात उमर खैयाम' का अनुवाद है, उन्होंने मुझे ही समर्पित किया। हमने साथ-साथ आज़ादी के पहले के हिन्दू-मुस्लिम दंगे देखे, आज़ादी के दिन हर्ष मनाया, गांधीजी के बलिदान पर शोक मनाया। एक बार फिर 'लोकायन' की योजना बनायी गयी, गो इस बार हम सफल-मनोरथ नहीं हुए। एक घटना का ज़िक्र करना रोचक होगा। ख़बर आयी कि मुसलमान धावा बोल रहे हैं—शोरगुल सुनायी पड़ा। अब हमारे पास आत्मरक्षा के लिए छड़ी भी नहीं। बगल में क्षेत्रेशजी का घर बन रहा था। 'एडेल्फी' के सदस्य वहाँ से लोहे के छड़ उठा लाये। स्त्रियों को छत पर चढ़ा दिया गया। कुछ लोग फाटक पर डटे और मेरे साथ हाथ में लोहे का छड़ लेकर श्रीयुत पन्तजी सीढ़ी पर खड़े हुए। उनका वीर वेश उस दिन देखने लायक़ था। उनके वीर पूर्वज श्री पुरुषोत्तम पन्त की कोई शिरा उस दिन जैसे उनमें स्फुरित हो आयी थी। हमारे दुर्भाग्य से मुसलमानों का हमला न हुआ, पुलिस का हमला हो गया और हमको महीनों सफाई देते बीते—अजीब सरकार थी—न हमारी रक्षा करे, न हमको अपनी रक्षा करने दे। गांधीजी के बलिदान पर 'खादी के फूल' काव्य-संग्रह हम दोनों के नाम से निकला। उन दिनों की रोचक घटनाओं में पन्तजी और निरालाजी की एक भेंट थी, पर उस पर किन्हीं कारणों से मैं अभी कुछ न कहूँगा। श्री अमृतलाल नागर उस समय मौजूद थे।

इसके पश्चात् पन्तजी के साथ किसी लम्बी अवधि तक रहने का मौक़ा मुझे नहीं मिला। आज भी यदि मैं किसी के साथ रहने की आकांक्षा मन में सँजोये हूँ तो वह पन्तजी ही हैं। उनसे अधिक संस्कृत और परिष्कृत रुचि के व्यक्ति को मैंने आज तक नहीं जाना। मेरी पत्नी कहती हैं, जब वे घर में रहते हैं, एक अजीब-सी स्निग्धता घर में छायी रहती है। पन्तजी को अपने चारों ओर सबको, स्त्रियों को खासकर, प्रसन्न-सन्तुष्ट रखने की कला खूब आती है। मैं मज़ाक में कहता हूँ कि जब आप मेरे साथ रहते हैं तब पत्नी से कभी-कभी लड़ने-झगड़ने का जो सुख है वह भी छिन जाता है। वे जब भी मेरे साथ रहे हैं मुझे यह लगा है कि वे बड़े हैं, घर का उत्तर-दायित्व उन पर है, मैं छोटा हूँ, और मैं उनके लिए सब काम करने पर भी बहुत हल्का-हल्का अनुभव करता रहा हूँ। पन्तजी का बचपन बड़े परिवार में बीता, आज भी बाल-बच्चों, स्त्रियों के घर में वे खुश रहते हैं, फिर भी एकाकी जीवन के आदर्श को उन्होंने किसी महोद्देश्य से वरण किया और निभाया है।

लोगों का कभी ख़्याल था, पन्तजी में व्यावहारिकता नहीं, कर्मठता नहीं। रेडियो के कार्य को उन्होंने जिस सुचारु रूप से चलाया, उसने सबको आश्चर्य में डाल दिया। हिन्दी कार्यक्रम की जो रूपरेखा उन्होंने बनायी है उससे हटना शायद ही सम्भव हो सके। रेडियो जैसे नये माध्यम को पूरी तरह समझना और उससे काम लेना उन्हीं के बस का था। साथ ही नयी रचनाएँ भी प्रकाश में लाते रहे—'रजत शिखर', 'शिल्पी', 'सौवर्ण', 'अतिमा', 'वाणी'। अपने भाइयों के परिवारों के प्रति भी वे अपना कर्तव्य यथासामर्थ्य निभाते हैं, यह मैं जानता हूँ।

पिछली जनवरी में जब वे दिल्ली आये तो मेरे ही साथ ठहरे। कुछ ही महीनों

साक्षात्कार : दो*

प्रश्न सतीश वर्मा के उत्तर बच्चन के

प्रश्न : केवल कुछ दशकों पहले हिन्दी साहित्य सिर्फ़ अपनी कविता पर अभिमान कर सकता था। क्या आप ऐसा समझते हैं कि कविता अब भी साहित्य की बड़ी लोकप्रिय विधा है, और जन-जीवन में उसका वही स्थान है जो पहले था?

उत्तर : मैं आपकी इस बात से सहमत हूँ कि केवल दो या तीन दशकों तक ही कविता हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण विधा थी और आज ज़ाहिर है कि नहीं है। पर क्या आप इसका कारण जानते हैं? इस शताब्दी में जबकि बुद्धि और विचार, तर्क और विज्ञान हमारे मस्तिष्क पर छा गये हैं, स्वाभाविक है कि प्रधानता आज भावनाओं और अनुभूतियों से अधिक चिन्तन और विवेचन को दी जा रही है। इसी का परिणाम है कि आज का सचेत व्यक्ति कविता से उदासीन हो गया है। आज की कविता की उपलब्धियों पर हम उतना अभिमान नहीं कर सकते जितना कुछ दशकों पहले हम कर सकते थे। मैं ऐसा समझता हूँ कि इस समय हमारी भाषा गद्य के माध्यम से यथार्थ को सुस्पष्टता से अभिव्यक्त करने के प्रयत्न में लगी हुई है। यह तो सभी जानते हैं कि साहित्य के प्रवाह में कभी भावुकता की लहर ऊपर उठती है और कभी बौद्धिकता की; लेकिन साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि जब किसी भाषा में बौद्धिकता का प्राधान्य होता है तब वह अमूर्त, सूक्ष्म और शुष्क हो जाती है और किसी क़दर कविता के लिए अनुपयुक्त।

प्रश्न : लेकिन क्या आप ऐसा समझते हैं कि चिन्तन अथवा विवेचन हमारे जनसाधारण के बस की बात है?

उत्तर : एक अर्थ में नहीं। लेकिन ऐसा समझना भी ग़लत होगा कि जन-साधारण भावुकता के प्रवाह में बहा करते हैं। हम लोग जो अब साठ पार कर चुके हैं जब 30, 40 बरस पहले अपने यौवन के दिनों की याद करते हैं और उनकी तुलना में आज को रखते हैं तो हमें साफ़ दिखायी देता है कि आज का साधारण आदमी भी पहले से अधिक सचेत और जागरूक है, यानी बौद्धिक; पूरी तरह बौद्धिक तो हम अपने पढ़े-लिखे लोगों को भी नहीं कह सकते।

प्रश्न : हिन्दी कविता को जन-साधारण तक पहुँचाने और उसके प्रति उनमें अनुराग जगाने में कवि-सम्मेलनों ने क्या भूमिका अदा की? क्या अब कवि-सम्मेलनों की संस्था समाप्त हो रही है?

उत्तर : हिन्दी कवि-सम्मेलनों की अगर कोई परम्परा थी तो वह उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त पहुँचते-पहुँचते समाप्त हो गयी थी। मैं ऐसा समझता हूँ कि बीसवीं सदी के हिन्दी कवि-सम्मेलन मुशायरे के अनुकरण पर आरम्भ हुए।

---

* 'दि टाइम्स आफ इण्डिया' (23 मई, 1971) में प्रकाशित, प्रश्नकर्ता द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित करके।

जिस समय खड़ी बोली हिन्दी कविता का उद्‌भव हो रहा था और उसकी भाषा प्राय: कृत्रिम थी, उस समय, मेरी दृष्टि में, इन कवि-सम्मेलनों ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। कविगण जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह जन-साधारण द्वारा बोली जानेवाली भाषा से बहुत दूर थी। उदाहरण के लिए छाया-वाद की कविताएँ अक्सर एक प्रकार की कोष-भाषा में लिखी जाती थीं। कवि-सम्मेलनों में तो कुछ ऐसा सुनाने की आवश्यकता थी जो सुनते ही साधारण जनता की समझ में आ जाये। इसके लिए कवियों को भाषा में सरलता लानी पड़ी; कविता को जनता की बोलचाल के निकट लाना पड़ा। वह जड़ से सजीव हो उठी।

लेकिन इससे एक खतरा भी खड़ा हुआ। कवि-सम्मेलनों में हज़ारों की संख्या में ऐसी जनता एकत्र होती है जो अशिक्षित-अदीक्षित होती है। वह कवि-सम्मेलनों को एक प्रकार का मनोरंजन समझती है। फलस्वरूप ऐसे कवि लोकप्रिय होने लगे जो सस्ता हास्य-व्यंग्य प्रस्तुत कर सकते थे। गम्भीर कविता एक विभिन्न और विशिष्ट शब्द-योजना और शैली की माँग करती है। उसे समझना साधारण जनता के लिए आसान नहीं होता। जो कवि ऐसी कविताएँ प्रस्तुत करते हैं उन्हें या तो सुना ही नहीं जाता या हूट कर दिया जाता है। कवि इसलिए तो कविता नहीं सुनाता कि उसे अनसुना कर दिया जाये या उसका मजाक़ उड़ाया जाये। जाने-अनजाने वह ऐसी कविताएँ लिखने पर उतर आता है जिन्हें जनता पसन्द कर सके। इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज के कवि-सम्मेलनों ने कविता के स्तर को नीचे गिराया है।

प्रश्न : लेकिन, बच्चनजी, कवियों की यह दर्जेबन्दी नयी चीज़ है। शुरू-शुरू में हिन्दी के प्राय: सभी श्रेष्ठ कवि इन कवि-सम्मेलनों में भाग लेते थे। पर आज कवि दो खेमों में बँट गये हैं - कवि-सम्मेलनों में भाग लेनेवाले और न लेनेवाले। ऐसा क्यों हुआ है ?

उत्तर : देखिए, शुरू-शुरू में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए एक आन्दोलन चलाया गया था। लोगों में उत्साह था, उत्सुकता थी कि हिन्दी को मान्यता मिले; वे उसे 'राष्ट्रभाषा' के रूप में विकसित करना चाहते थे। उस समय भी पन्त, महादेवी, यहाँ तक कि निराला को भी लोकप्रिय तो किसी हालत में नहीं कहा जा सकता था। लोग उनका आदर करते थे, उनकी कविता अभिभूत होकर, आश्चर्यचकित होकर सुनते थे, लेकिन श्रोता और वक्ता में किसी प्रकार का आदान-प्रदान, या जिसे आज के मुहावरे में 'संवाद' कहते हैं, नहीं था।

अगर आप इसे अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना न समझें तो मैं आपके सामने एक सच्चाई रखने का दु:साहस करना चाहूँगा। जब मैं अपनी 'मधुशाला लेकर कवि-सम्मेलनों में आया तब पहली बार यह अनुभव किया गया कि ऐसी कविता भी लिखी जा सकती है जिसे जनता समझ सके और जिसका आनन्द ले सके। मेरी कविता पर जनता ने खुले हृदय से अपना उल्लास और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। यह इसलिए सम्भव हो सका कि मेरी भाषा उस भाषा के निकट थी जो वह स्वयं बोलती थी। मैं यह मान लूँगा कि मेरी कविता छायावादी आकाशी उच्च-स्तरीय कविता की तुलना में धरती की, निम्नस्तरीय कविता थी। मेरे कहने का मतलब है कि मेरी भावनाएँ इतनी मानवीय थीं कि साधारण मनुष्य सहज ही उनका सहभागी बन सकता था, उन वायवी उड़ानों से दूर जो उसकी पहुँच के बाहर थीं। मुझमें जनता ने वह कवि पाया जिसके साथ वह काँधा से काँधा

मिलाकर चल सकती थी, उसी ज़मीन पर जिस पर वह चलती थी। मेरी वाणी में जनता को कुछ वही मिला जिसका अनुभव तो वह स्वयं करती थी पर जिसे वह अभिव्यक्त नहीं कर सकती थी।

प्रश्न : वच्चनजी, आप तो हमेशा 'कवि-सम्मेलनों के प्राण' रहे हैं। कवि-सम्मेलनों से इतने घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहने के बाद, जन-सम्पर्क का इतना उल्ल।स अनुभव करने के बाद, क्या आपको उनका अभाव अखरता नहीं ?

उत्तर : यह ठीक है कि लोग मुझे बड़े प्यार से सुनते थे। एक लम्बे अरसे तक मैं कवि-सम्मेलनों में बराबर भाग लेता रहा। जिन कवि-सम्मेलनों, सभा-गोष्ठियों में मैंने अपनी कविताएँ सुनायीं उनकी संख्या कई हज़ार तो होगी।

कवि-सम्मेलनों के द्वारा मैंने अपनी जनता को पहचाना; उनकी भावनाएँ समझीं, उनके विचार जाने। और मेरी कविताओं के द्वारा उस जनता ने भी मुझे जाना-समझा। पर एक समय ऐसा भी आया जब मुझे लगा कि वह मुझे नहीं समझ रही है। इसके दो ही कारण हो सकते थे - या तो मैं ऐसी बातें कहने लगा था जो अधिक गम्भीर और सूक्ष्म थीं—और कवि को कभी-कभी सूक्ष्म और गम्भीर बातें कहने की भी आवश्यकता पड़ती है—या मैं अपनी बात को ऐसे तरीके से नहीं कह पाता था जो उसकी पकड़ में आ सके। जब मैं कोई ऐसी चीज़ सुनाता था जिसको मेरी जनता समझने में असमर्थ रहती थी, तब मैं दोष अपने को देता था।

लेखन के लिए मैंने कोई निश्चित शब्द-योजना, शैली नहीं बनायी, अपनायी। जब भी मुझे कोई नई बात कहनी होती है मुझे उसके अनुरूप भाषा गढ़नी पड़ती है। पुराने के अभ्यास को नया स्वीकार कराना सरल नहीं होता।

फिर जैसे-जैसे मेरी, उम्र बढ़ती गई मुझे अनुभव होने लगा कि अब मैं ज़्यादा देर तक काव्य-पाठ नहीं कर सकता; जनता की प्रत्याशाएँ पुरानी थीं और मैं अपनी दिन-दिन कमज़ोर पड़ती साँसों पर ज़्यादा ज़ोर नहीं डाल सकता था। मैंने कवि-सम्मेलनों में जाना बन्द कर दिया। लेकिन मेरे मन में इस बात का सन्तोष था कि मैंने एक विशेष प्रकार की कविता के लिए रुचि जगाई है, पाठकों और श्रोताओं का एक बड़ा वर्ग बनाया है जो कवि-सम्मेलनों में मेरे सम्पर्क में न आने पर भी मुझे पढ़ अथवा सुन सकता है। पढ़ना मेरे संग्रहों के द्वारा पहले भी सम्भव था; अब रेडियो और टेप-रिकार्डों के द्वारा मेरी आवाज़ भी बहुतों तक पहुँचने लगी है। मैं ऐसा समझता हूँ कि मेरे श्रोताओं को मेरा अभाव नहीं अखरता होगा।

प्रश्न : यदा-कदा जब आप किसी कवि-सम्मेलन में पहुँच जाते होंगे तब जनता निश्चय आपसे 'मधुशाला' या 'मधुबाला' की कविताएँ सुनाने का आग्रह करती होगी। अपने कवि-जीवन के उस पहलू की ओर क्या आप नहीं लौट सकते ?

उत्तर : हिन्दी भाषी जनता ने 'मधुशाला' और 'मधुबाला' की कविताओं के द्वारा मेरा परिचय प्राप्त किया। इस प्रकार की कविता एक नयी चीज़ थी; साथ ही एक तरह से पुरानी भी। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' की कविताएँ जो इतनी लोकप्रिय हो गईं उसका कारण शायद यह था कि उर्दू में ऐसी कविता की एक जानीमानी परम्परा थी, और जिन प्रतीकों का प्रयोग मैंने अपनी कविता में किया था उनसे जनता पूर्व परिचित थी। मेरे स्वर ने भी उन्हें लोकप्रिय बनाने में कुछ सहायता दी होगी। जिन कविताओं के साथ मैं पहले-पहल लोगों के सामने आया,

जिनके कारण मैं उनको ग्राह्य हुआ, उनमें लोकप्रिय बना उन्हें भूलना मेरे लिए कठिन है।

जीवन के जिस पहलू से होकर मैं निकल गया उसकी ओर लौटना सम्भव नहीं। फिर भी उन पुरानी कविताओं को सुनाने में मुझे आनन्द आता है। उनके साथ बहुत-सी अतीत की स्मृतियाँ जाग उठती हैं। कभी-कभी लोगों की इच्छा अतीत में झाँकने की भी होती है। आप इसे एक प्रकार का पलायन कह सकते हैं। पर ऐसा होता है।

प्रश्न : लेकिन, बच्चनजी, अगर आप 'मधुशाला', मधुबाला' की तरह की कविताएँ लिख सकते तो क्या आप लिखना चाहते?

उत्तर : मैं समझता हूँ कि मैं लिख भी नहीं सकता और लिखना चाहता भी नहीं। लेकिन जैसा कि मैं पहले संकेत कर चुका हूँ कि प्रश्न केवल मेरी भाव-भाषा का नहीं है। हिन्दी के विकास की एक सीढ़ी ही उससे जुड़ी है। जिस प्रकार के भाव-विचार उस समय मुखरित होने के लिए तड़प रहे थे उनको मैंने वाणी दे दी। और साहित्य में जब कोई बात परिपूर्णता से कह दी जाती है तब उसके फिर से कहने की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। उसे न दुहराया जा सकता है और न उसे दुहराने की आवश्यकता ही रहती है।

प्रश्न : क्या आप ऐसा अनुभव करते हैं कि पिछले कुछ वर्षों में आपने जो कुछ लिखा है वह जीवन के अधिक निकट है और उसमें वह आधुनिकता और यथार्थ भी निहित है जिसे हम पुराने, परम्परा-बद्ध कवियों में नहीं पाते?

उत्तर : बढ़ना, विकसित होना, प्रकृति का नियम है। मैं समझता हूँ कि मैं बराबर बढ़ता रहता हूँ। मेरे यौवन की भावातिशयता क्रमशः कम होती अब प्रायः समाप्त हो गयी है। अब मैं जीवन को अधिक जाग्रत और सचेत दृष्टि से देखता हूँ। अपने यौवन में मैं यथार्थ के ऊपर स्वप्न और कल्पनाओं का एक बड़ा मोहक जाल बिछा सकता था। पर अब यथार्थ मुझको घूरता है और मैं उससे आँख नहीं चुरा सकता। यह स्वाभाविक है कि जो मैं देखूँ उसी की प्रतिक्रिया अपनी कविताओं में अभिव्यक्त करूँ। और इस कारण मेरी परवर्ती कविता यथार्थ और वास्तविकता के अधिक निकट है।

प्रश्न : लेकिन, बच्चनजी, आस्कर वाइल्ड तो रूमानियत और रहस्य के प्रभामण्डल में ही यथार्थ को देखना पसन्द करते हैं। वे स्वीकार करते हैं, 'यथार्थ को लुका-छिपा रखने को ही मैं उत्सुक रहता हूँ। यही एक मात्र प्रवृत्ति है जो आधुनिक जीवन को एक रहस्य, एक आश्चर्य की वस्तु बनाए रख सकती है। साधारण से साधारण वस्तु कौतूहलवर्द्धक और मनोरंजक हो जाती है अगर हम उसके ऊपर एक झीना-सा आवरण डाल दें। मैं मान लूँगा कि यह बचकानी-सी आदत है, पर कुछ भी हो, इसके द्वारा जीवन में बड़ी रूमानियत लायी जा सकती है।'

उत्तर : ठीक है, यह आस्कर वाइल्ड के अपने विचार हैं, और अपने से अधिक सम्भवतः अपने युग के जो साहित्य में रूमानियत के ह्रास का काल माना जाता है। आस्कर वाइल्ड और उनके कुछ साथियों ने वास्तविकता के ऊपर नकली स्वप्नों और नक़ली कल्पनाओं का प्रभामण्डल डालकर ह्रासमान रूमानी कविता को जीवित रखने का प्रयत्न किया, परन्तु वे सफल न हो सके।

प्रश्न : क्या कारण है कि हमारे उदीयमान नवयुवक कवि विदेशी मान्यताओं और आन्दोलनों से अधिक प्रेरित और प्रभावित होते हैं? उन्हें अपने जीवन-

संघर्ष और अपने समाज की हलचलें क्यों प्रेरित-प्रभावित नहीं करतीं ?

उत्तर : मैं समझता हूँ कि यह प्रश्न हमारे नवयुवक, नयी पीढ़ी के कवियों से पूछा जाना चाहिए। लेकिन मैंने भी इस पर विचार किया है। मेरा ख़्याल है कि हिन्दी कविता आज एक नयी छलाँग ले रही है। हमारे ज़माने में विदेश का हम जो कुछ जानते थे वह प्रायः पाठ्य-पुस्तकों द्वारा हम तक पहुँचता था। लेकिन आधुनिक नवयुवकों को विदेशों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत-से नये और व्यापक स्रोत उपलब्ध हैं। कोई भी पीछे छूट जाना नहीं चाहता। अब यही देखिए, वर्तमान पीढ़ी के कितने ही कवि विदेश-यात्रा कर आये हैं। अपने जमाने में, मैं समझता हूँ, मैं कवियों में पहला व्यक्ति था जिसने विदेश की धरती पर बैठकर हिन्दी में कविताएँ लिखीं। सबसे अधिक विदेश-यात्राएँ करनेवाले 'अज्ञेय' भी मेरे बहुत बाद विदेश गये। ख़ैर, दूसरी ओर आज कितने ही कवि, कलाकार, साहित्यकार विदेशों से भारत आते हैं। उनसे हमारे साहित्यकारों का सम्पर्क होता है। फिर विदेशी पत्रिकाओं, रेडियो, फ़िल्मों द्वारा भी विदेशों की झाँकी-झलक पाना आज कितना सरल हो गया है। स्वाभाविक है कि इन सब माध्यमों ने हमारे नवयुवकों को प्रभावित किया है। हो सकता है कि यह प्रभाव पचाया नहीं गया, पर इनसे बचना क्या सम्भव था ?

प्रश्न : क्या आप ऐसा नहीं समझते कि नवयुवक हिन्दी कवि आज दिग्भ्रमित और लक्ष्य-विहीन हैं, और जल्दी से जल्दी मान्यता प्राप्त करने को उतावले हैं ? जिसके लिए वे छोटे रास्ते अपनाने, चोर दरवाज़े से घुसने, चौंकाने की तरकीबें करने और नये-नये वाद-विवाद चलाने--सबका आश्रय लेते हैं।

उत्तर : मैं तो ऐसा नहीं समझता कि हमारे नवयुवक कवि मान्यता प्राप्त करने के लिए आतुर अथवा उपलब्धियों के लिए उतावले हैं। यदि कुछ ऐसे थे और उनमें कुछ भी अक़्ल थी तो उन्होंने अब तक समझ लिया होगा कि इस प्रकार के हथ-कण्डे कारगर नहीं होते। अगर कविता को नयी वास्तविकताओं के समीप आना है तो उसे पुराने ढाँचों को तोड़ना पड़ेगा। हमारे नवयुवक नये ढाँचों की खोज में हैं और मैं उनके अभियान की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएँ देना चाहूँगा। मैं यह हर्गिज नहीं कहूँगा कि यह सब सस्ती वाह-वाही के लिए किया जा रहा है। यदि कुछ ऐसा कर रहे हों तो उनकी उपेक्षा की जानी चाहिए। क्या आप नहीं देख रहे हैं कि नयी कविता का शायद ही कोई संग्रह निकलता हो जिसके दूसरे संस्करण की नौबत आये। मान्यता और उपलब्धि का ही लक्ष्य होता तो ऐसे संग्रहों का प्रकाशन कब का बन्द हो जाना चाहिए था।

प्रतिभावान नये कवियों में से कइयों ने अपने एक या दो से अधिक काव्य-संग्रह नहीं प्रकाशित कराये। मानना होगा कि वे लोग बड़े ईमानदार हैं, उन्होंने समझ लिया है कि उनके पास कुछ नया कहने को नहीं है और वे चुप हो गये हैं। शायद मेरी पीढ़ी के लोग ऐसी अनुभूति होने पर भी अपने को दुहराते चले जाते और कई अपने को दुहराते चले गये हैं। किन्तु यदि नये युग की, अणु और अन्त-रिक्ष युग की, कविता का आविर्भाव होना है तो हमें नये प्रयोगों को प्रोत्साहन देना चाहिए। 'अज्ञेय' से आरम्भ करके कई कवि नयी तकनीकी के साथ आगे आये हैं। उदाहरण के लिए आप मुक्तिबोध और राजकमल चौधरी को ले सकते हैं।

शायद आपको पता हो कि मैंने अपना एक संग्रह राजकमल चौधरी को समर्पित किया है, क्योंकि मैंने उनके नये प्रयोगों को पसन्द किया था। इन प्रयोगों में उपलब्धि का कोई दम्भ नहीं था, उपलब्धि की प्रत्याशा से मैंने उनकी ओर

देखा भी नहीं था। राजकमल जानते थे कि वे लोकप्रिय नहीं हो सकेंगे। लेकिन उनके सामने, उनके अनुभव में, कुछ नई चीजें थीं, जीवन की कुछ नयी वास्तविकताएँ थीं जिनको उन्होंने नयी तकनीक का प्रयोग करके अभिव्यक्ति दी। वे अपनी बात छायावादी या छायावादोत्तरी शैली में नहीं कह सकते थे।

प्रश्न : क्या बड़ी और छोटी हिन्दी पत्रिकाओं में कोई आधारभूत संघर्ष है? क्या इसने लेखकों को दो ख़ेमों में नहीं बाँट दिया? क्या इससे हिन्दी कविता का अहित नहीं हो रहा है?

उत्तर : हिन्दी में एक अद्भुत बात हुई है और उससे महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाले जा सकते हैं। क्या आप नहीं देखते कि सब पुरानी बड़ी पत्रिकाएँ ग़ायब हो गई हैं? जब मैंने लिखना आरम्भ किया तब, मुझे याद है, कम-से-कम एक दर्जन अच्छी बड़ी पत्रिकाएँ निकला करती थीं जैसे 'विशाल भारत', 'विश्वमित्र', 'सरस्वती', 'सुधा', 'माधुरी', 'चाँद' आदि। वे अच्छी-ख़ासी व्यवस्थित पत्रिकाएँ थीं, पर वे एक परम्परा की लीक पीट रही थीं। क्या आप ऐसा नहीं समझते कि इन पत्रिकाओं की मृत्यु अपने आपमें एक बड़ा संकेत है?

क्या ऐसा नहीं है कि व्यवस्थित और संगठित संस्थाएँ अथवा पूँजीपति वर्ग नवयुवकों को प्रोत्साहित नहीं कर रहा है? लेकिन प्रयोग रुकनेवाला नहीं है। नवयुवकों ने अपने बल पर लघु पत्रिकाएँ निकाली हैं। ऐसे प्रयोग किसी भी स्वाधीन देश के लिए असाधारण नहीं। मैं तथाकथित समाजवादी और साम्यवादी देशों की बात नहीं कर रहा हूँ जहाँ सारी साहित्यिक हलचलें शासन द्वारा नियन्त्रित होती हैं।

खेद की बात है कि ये लघु पत्रिकाएँ अल्पजीवी होती हैं। पर एक पत्रिका बन्द नहीं हुई कि उसकी जगह पर दूसरी पत्रिका आ जाती है और इस प्रकार प्रयोग की श्रृंखला जारी रहती है। व्यवस्थित और लघु पत्रिकाओं के बीच जिस संघर्ष का आपने इशारा किया है वह वस्तुतः परम्परा और प्रयोग का संघर्ष है। यह कहना बड़ा कठिन है कि कौन लघु पत्रिका युग के आघातों-प्रत्याघातों को झेलती हुई अन्ततोगत्वा सफल होगी। मुझे 'लहर' का नाम याद आता है। उसने अपने आपको कम-से-कम एक दशक तक जीवित रक्खा है। सम्भव है नवयुवक इसे अपने विचारों की उपयुक्त वाहिका पायें।

लेकिन संघर्ष कोई बुरी चीज़ नहीं। जब भी कोई नयी पत्रिका मेरे हाथ आती है मैं उसे ध्यान से पढ़ता हूँ। मैं कहना चाहूँगा कि उनमें मुझे कोई ऐसी चीज तो नहीं मिलती जिसे पढ़कर मैं फड़क उठूँ, पर एक तरह की ताज़गी ज़रूर मिलती है जिसका पुरानी पत्रिकाओं में सर्वथा अभाव रहता है।

प्रश्न : हिन्दी के वर्तमान कवियों में किसे आप ऐसा समझते हैं जो देश-काल का सबसे अधिक प्रतिनिधित्व करता हो?

उत्तर : आपने बहुत मुश्किल सवाल पूछा है। आधुनिक समय में प्रत्येक कवि कुछ नया, कुछ अपना ही प्रस्तुत कर रहा है। इसलिए किसी एक प्रतिनिधि कवि पर उँगली रखना बहुत कठिन होगा। जब कोई युग किन्हीं आदर्शों, मान-मूल्यों के आधार पर सुव्यवस्थित हो जाता है तभी उसका प्रतिनिधि कवि उभरता है। हमारे युग के लिए ऐसे व्यक्ति की अभी तो प्रतीक्षा ही की जा सकती है।

आज जो उथल-पुथल हो रही है उससे बहुत कुछ नष्ट होगा। इस विध्वंस का हमें स्वागत करना चाहिए। पर इस विध्वंस को सम्पूर्ण और विवेकहीन नहीं होना चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण विध्वंस के बाद सृजन असम्भव है। अगर नयी

पीढ़ी ऐसा समझती है कि अब तक कविता के नाम से जो कुछ लिखा जा चुका है वह कूड़ा है तो वह नयी शुरुआत करने में असमर्थ होगी। हर परम्परा में कुछ ऐसा होता है जो रक्षणीय होता है और कुछ ऐसा जो नष्ट कर देने योग्य।

कुछ इसी प्रकार का संकेत मैंने अपने पिछले दो काव्य-संग्रहों के माध्यम से दिया है जिनके नाम हैं 'कटती प्रतिमाओं की आवाज़' और 'उभरते प्रतिमानों के रूप'। किसी बात को कहने का मेरा अपना तरीका है। जब पत्थर काटा जाता है तभी उसके अन्दर की मूर्ति उभरती है। अगर आप किसी शिल्पकार से पूछें कि वह क्या कर रहा है तो उसका उत्तर होगा कमल या शंख या कुछ और 'काट' रहा हूँ। काटने में कुछ बनाना भी निहित है। विध्वंस तभी सार्थक हो सकता है जब उसके साथ ही सृजन भी हो रहा हो।

प्रश्न : क्या आप ऐसा समझते हैं कि समसामयिक हिन्दी कविता में कुछ ऐसे तत्त्व-सत्त्व हैं जो उसे समय के आघातों से बचा रक्खेंगे?

संसार की उन्नत भाषाओं की समसामयिक कविताओं की तुलना में हमारी नयी कविता कहाँ ठहरती है?

उत्तर : केवल हमारे देश में नहीं, सारे संसार में कविता इस समय प्रयोग की स्थिति में है। आज कहीं भी यह दावा नहीं किया जा रहा है कि जो आज लिखा जा रहा है वह किसी दिन 'क्लासिक्स' बन जायेगा। जिन्हें हम आज 'क्लासिक्स' समझते हैं वे भी अपने समय में 'क्लासिक्स' नहीं माने जाते थे। इसका निर्णय देना समय का काम है। 'क्लासिक्स' बहुधा व्यवस्थित युगों की देन होते हैं। यह अव्यवस्था और प्रयोग का युग है। इसमें जो कुछ लिखा जायेगा वह अव्यवस्थित और प्रयोगात्मक होगा। और इन प्रयोगों की सार्थकता उस समय सिद्ध होगी जब इनके अन्दर से कुछ व्यवस्थित-बहुमूल्य प्रकट होगा।

●●

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। पुस्तक रूप में 'रचनावली' में पहली बार प्रकाशित।

तुलसीदास की एक चौपाई

पिछले 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने तुलसी के पाठकों से निम्नलिखित चौपाई का अर्थ बताने की प्रार्थना की है :

विधुबदनी सब भाँति सँवारी
सोह न बसन बिना बर नारी।

स्पष्ट है कि इस चौपाई का जैसा अर्थ साधारण टीकाओं में दिया है उससे उन्हें सन्तोष नहीं है। तुलसीदास अपनी अभिव्यक्ति में जिन उपकरणों का उपयोग करते हैं उनमें एक सांगिक एकता (आरगेनिक यूनिटी) रहती है। इस कारण उनकी चौपाइयों का अर्थ बिना प्रसंग जाने हुए ठीक से नहीं किया जा सकता। बालकाण्ड के आरम्भ में ही, वे अपनी वाणी— अपनी 'भनिति' की अयोग्यता और असमर्थता बताते हुए कहते हैं :

दोहा

भनिति मोर सब गुन रहित बिस्व विदित गुन एक।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह कें बिमल बिबेक।

एहि मंह रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥
भनिति विचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही॥
जदपि कबित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रगट ऐहि माहीं॥
सोइ भरोस मोरें मन आवा। केहिं न सुसंग बड़प्पनु पावा॥
घूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगन्ध बसाई॥
भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी॥

छन्द

मंगल करनि कलि मल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति क्रूर कबिता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की॥
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥

दोहा

प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ बंदिअ मलय प्रसंग॥

में वे पूरे साठ के हो जायँगे। बाल अब उनके पक गये हैं। मैंने उनके बालों पर हाथ फेरते हुए कहा :

कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार; —परिवर्तन; **पल्लव**
(कहाँ) स्वर्ण का सुरभित-भार!

पन्तजी अब वृद्ध हो गये हैं। कई रोगों ने उनके शरीर में घर कर लिया है, पर कविता उनकी अब भी नवयौवना है; सृजन-शक्ति उनकी अब भी सजग है; काव्य की नयी दिशाएँ खोजने का अब भी उनमें उत्साह है।

है कहा किसी ने, जब शायर बूढ़ा होता
उसकी कविता तब नौजवान हो जाती है। **—खादी के फूल**

बहुतों के लिए यह सत्य न हो, पर पन्तजी पर यह बिल्कुल लागू है। मुक्त छन्द के नाम पर बहुत कुछ निरर्थक आते देखकर अपनी नवीनतम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' (1959) से उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में गद्यकाव्य को पुनः प्रतिष्ठित करने का साहस किया है। मुझे विश्वास है कि उनका यह संकेत लोग समझेंगे। पन्तजी के सृजन का अन्तिम और परिणामी परिस्फुटन किसी महाकाव्य में होना चाहिए। मैं यह लेख इस शुभकामना और प्रार्थना के साथ समाप्त करना चाहता हूँ कि पन्तजी पूर्ण स्वस्थ रहकर चिरजीवी हों और हमें वह महाकाव्य देने में भी समर्थ हों जिसकी युग उनसे प्रत्याशा कर रहा है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त : कवि और काव्य*

अगर आप सन् 1919 और 1929 के बीच किसी समय इलाहाबाद नगर में होते तो सड़क पर आते-जाते आपको, जिस सन् में आप देखते, उसी सिन का, अवश्य ही सैकड़ों को छोड़कर, एक युवक दिखायी देता जिसे आप कभी न भूलते···लम्बा, दुबला-पतला, गोरा, सुन्दर, रेशमी-चमकते सूट-बूट में, घने, घुँघराले, सुनहले बालोंवाला, जैसे किसी ने नर के धड़ पर नारी का सिर जोड़ दिया हो। आप उसे देखते, आपके आसपास खड़े लोग उसे देखते, पर वह किसी की ओर न देखता; अपने विचारों में डूबा, अपने सपनों में खोया, वह अपनी राह चला जाता। अगर आपने अंग्रेज़ी कवि शेली या कीट्स की तस्वीर देखी होती तो वह आपको उन्हीं का कोई भाई-बन्द जान पड़ता। अगर आपके मित्रों, परिचितों में कोई हिन्दी काव्य-साहित्य में रुचि रखनेवाला होता तो वह आपको बताता कि ये हैं श्री सुमित्रानन्दन पन्त।

हिन्दी संसार में पन्तजी की ख्याति 'पल्लव' नामक काव्य-संग्रह से हुई जो सर्वप्रथम 1926 में प्रकाशित हुआ था। इसके चार वर्ष पूर्व उनकी एक पुस्तिका 'उच्छ्वास' नाम से प्रकाशित हो चुकी थी, गिनती के सोलह पृष्ठों की, जिसे उस समय के किसी समालोचक ने व्यंग्य से 'बीसवीं सदी का महाकाव्य' कहा था। उनकी कुछ रचनाएँ प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में भी प्रकाशित हो चुकी थीं। 'पल्लव' ने पन्तजी को हिन्दी के कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर

* 17 मार्च, 1960 को आकाशवाणी, नयी दिल्ली से, प्रसारित।

तुलसीदास कहते हैं कि मेरी 'भनिति' सब गुणों से रहित है पर विश्व-विदित उसमें एक गुण-गुन (रज्जु) है जिससे वह 'रघुपति नाम' से बँधी है—'जो बाँधे ही तोष तो बाँधिय अपने गुननि।' अर्थात् मेरी 'भनिति' का एक ही गुण है कि उसका गठबन्ध 'रघुपति नाम' से हो चुका है।

तुलसीदास के मन में प्रश्न उठा—क्यों जी, तुम्हारी 'भनिति' में ऐसा क्या था जो 'रघुपति नाम' ने उसे अपनी परिणीता बनाया, उसे वरण किया, बरा, उसके साथ गठबन्ध किया ? कुछ भी नहीं था; यह सम्बन्ध तो रघुपति नाम वाले की उदारता का परिणाम है—'ऐसो को उदार जग माहीं।' वे अति पावन पुरान श्रुति के सार हैं—मंगल के भवन हैं, अमंगल को हरण करनेवाले हैं। वह भनिति रघुपति नाम से मिलकर अब अलग होनेवाली नहीं। वाक् और अर्थ के समान मिलकर एक हो गयी है। शायद तुलसीदास के मस्तिष्क में कालिदास का वह श्लोक गूँज उठा है, वागार्थामिव सम्पृक्तौ आदि—'उमा सहित जेहि जपत पुरारी।'

मेरी भनिति तो सब गुण रहित थी। लेकिन यदि कोई भनिति विचित्र होती, सब गुण सम्पन्न होती, किसी सुकवि की सुकृति होती, तो वह राम नाम के बिना शोभा न पाती, राम नाम से गठबन्ध किये बिना न सोहती। क्यों ? तुलसीदास उत्तर में विचारार्थ चौपाई प्रस्तुत करते हैं :

बिधुबदनी सब भाँति सँवारी । सोह न बसन बिना बर नारी ॥

तुलसीदास के समय में कामा, विरामादि चिह्नों का प्रयोग नहीं होता था जिसके कारण प्रायः शब्द एक दूसरे से मिलकर कुछ और रूप और अर्थ धारण कर लेते थे। मेरी समझ में इस चौपाई के साथ भी ऐसा ही हुआ है। इसको वास्तव में ऐसा होना चाहिए था।

विधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न, बस न, बिना बर नारी ॥

यहाँ 'बस' और 'बर' का अर्थ और बता देना चाहिए। 'बस' का अर्थ है 'बसना', 'सुव्यवस्थित होना', 'सुस्थिर होना'—'जहँ बस शम्भु भवानि सौ कासी सेइय कस न ?' 'वर' यहाँ क्रिया है, विशेषण नहीं। 'वर' का अर्थ, जो अवधी में 'बरऽ' उच्चारण किया जायगा, होगा बरा हुआ, वरण किया हुआ, ब्याहा हुआ। आगे 'नारी' है तो अर्थ होगा बरी हुई, बरण की हुई, ब्याही हुई। एक उदाहरण दूँ। हरिण-हरिणी का गीत अवध में प्रसिद्ध है। उसकी दो पंक्तियाँ देखिए :

'हरियर छहियाँ छिउल कइ ठाढ़ हरिनि कहइ हो,
हरिना जल भर पोखर, खर भर, बन कस अनमन हो।'

यहाँ 'भरना' क्रिया से 'भर' का अर्थ हुआ 'भरा हुआ।' तुलसी की चौपाई में बरना (वरण करना) क्रिया से 'बर' का अर्थ हुआ वरा हुआ।

अब चौपाई का अर्थ हुआ कि सब भाँति सँवारी—वस्त्रालंकार से विभूषित—विधुबदनी भले ही हो, पर वह सोहेगी नहीं; शोभित वह थोड़ी देर के लिए हो भी ले पर वह बसेगी नहीं, सुव्यवस्थित नहीं होगी, जब तक वह बरी न हो, परिणीता न हो।

अब आपके सामने दो प्रकार की स्त्रियाँ हैं—एक परम सुन्दरी, पर उसे कोई अपनाने को, वरने को तैयार नहीं, अपनी आँखें लोग उससे थोड़ी देर के लिए भले ही सेंक लें। वह वेश्या ही कहलायेगी। दूसरी रूप-रहित है, पर उसे वर लिया है रघुपति नाम वाले ने, अतिपावन पुरान-श्रुति सार ने; वह मंगल 'भवन' है जिसमें

वह जाकर 'बस' सकती है और वह 'अमंगल' हारी है जो उसकी सारी कुरूपता, भदेसपन को दूर कर सकता है। एक है क्षणिक मनोरंजन करनेवाली वेश्या, दूसरी है सर्वथा मंगल करनेवाली सद्गृहिणी।

ठीक है वह सब गुन रहित थी, कुकवि की कृति थी, पर राम नाम जस ने उसे अंक में भर लिया है— अंकित का यह शाब्दिक अर्थ ही यहाँ समीचीन होगा।

वेश्या से भी मनोरंजन करनेवाले हैं। परन्तु जो मधुकर के समान गुणग्राही सन्त हैं, जो बुद्धिमान हैं वे उसी सर्वदा मंगलकारिणी सद्गृहिणी वाणी का सादर गुणगान करते हैं, उसके विषय में परस्पर कहते-सुनते हैं।

तुलसी की वाणी में कवित्त रस एक न हो, राम प्रताप तो है। और उसी से उनमें आत्मविश्वास जगा है। 'सुसंग' से, अच्छी संगति से किसे बड़प्पन नहीं मिलता? उनकी वाणी को राम नाम का संग मिल गया, धुएँ को अगरु मिल गया, वह सुगन्ध से बस गया। वे फिर कहते हैं भनिति भदेस थी लेकिन भली वस्तु ने, राम नाम ने, राम प्रताप ने उसे वरण कर लिया। 'बरनी' का अर्थ 'वर्णन की गयी' नहीं; वरण की गयी, बरी; ऊपर के 'बिना बर नारी' में 'बरऽ' के अर्थ में।

आगे फिर कहते हैं कि उनकी कविता रूपी सरिता टेढ़ी-मेढ़ी है, पर उसमें बहनेवाला जल पावन है। नदी का टेढ़ापन जल की पावनता में विस्मृत हो गया है। पति-पत्नी के सम्बन्ध में यह चौपाई भी स्मरण कर लेना चाहिए:

जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी
तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।

'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी' यह पंक्ति जैसे सबका सारांश है।

तुलसी की भनिति राम नाम की परिणीता है, पतिव्रता है, उत्तम प्रकार की—

उत्तम के बस अस मन माहीं
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।

और उसने किसी और का यशोगान नहीं किया।

तुलसी के अनुसार उनकी 'भनिति' ही नहीं, वाणी-शारदा के पति भी राम ही हैं—

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा।।
तदपि जथाश्रुत कहउं बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।।

इसीलिए—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।

इस सन्दर्भ में देखने पर मेरा ऐसा विचार है कि राम नाम और 'भनिति' का सम्बन्ध पति-पत्नी के गठबन्धन के उपकरण से ही व्यक्त होगा, नारी और उसके बसन, उसकी साड़ी की लपेट से नहीं।

[1958]

कवि-सम्मेलन : एक विहगावलोकन

हिन्दी नाम से अभिहित की जानेवाली भाषा के बोलनेवालों के समाज में सार्वजनिक रूप से काव्यपाठ अथवा कवि-सम्मेलन की प्रथा यदि कभी थी, तो वह कब समाप्त हो गयी, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

पुराकाल में राजदरबारों से कवियों के सम्बद्ध होने के सबूत हैं—कालिदास विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में थे। साथ में अन्य प्रतिस्पर्धी कवियों के भी इसी प्रकार सम्बद्ध होने और रचना प्रतियोगिताओं के संकेत भी कतिपय किंवदन्तियों और लोककथाओं में मिलते हैं।

यह परम्परा मध्ययुगीन राजदरबारों में अक्षुण्ण रहती हुई किसी-न-किसी रूप में आधुनिक समय तक देसी रियासतों में चली आयी। विद्यापति मिथिला के भूप सिवसिंह के दरबार में थे। रीतिकाल में अनेक कवियों के विभिन्न राजदरबारों से संलग्न होने की बात सर्वविदित है।

"ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो
राजसभा में समादर पावै।"

देसी नरेशों ने अपने विनोद में नृत्य-संगीत के साथ कविता को भी जोड़ लिया था। राज्यपोषित होकर संगीत ने तो उच्चकोटि की प्रतिभाएँ ऊपर उभारीं, पर काव्य ने नहीं। उदाहरण के लिए भी कोई नाम देना सम्भव नहीं। कारण के विश्लेषण में यहाँ न जाना चाहूँगा।

भक्तिकाल में काव्यपाठ का एक क्षेत्र मन्दिरों में बना। अष्टछाप के कवियों से हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी परिचित हैं। वैष्णव मन्दिरों में पदों के गाने की प्रथा अब तक चली आती है, मन्दिरों में कविता उससे अधिक जनसम्पर्क में आयी, जितनी कि राजदरबारों में आ सकती थी।

एक और क्षेत्र और सम्भवत: अधिक व्यापक क्षेत्र काव्यपाठ का साधु-सन्तों की सत्संग-गोष्ठियों में बना। शुरुआत कबीर के समय से हुई होगी। 'कहत कबीर सुनो भाई साधो···' से उनके कितने ही पद समाप्त होते हैं।

कालान्तर में राजदरबारों का ह्रास हुआ और मन्दिर साम्प्रदायिक रूढ़ियों में जकड़े, उसी प्रकार साधु संगोष्ठियों पर कीर्तनियाँ छा गये। और इन तीनों संस्थाओं में से कोई वह बीज न सिद्ध हो सका, जो अंकुरित-विकसित होकर आधुनिक जन-कवि सम्मेलन का रूप लेता। काव्यपाठ करने-सुनने का अवसर विवाह-शादियों तक सीमित हो गया जब वर से कोहबर में जाने पर स्त्रियाँ उससे कवित्त या श्लोक सुनने का अनुरोध करतीं। यह रस्म बहुत-से घरानों में अब तक चली आती है।

उन्नीसवीं सदी का अन्तिम चरण हिन्दीभाषियों के लिए अपनी भाषा और साहित्य के प्रति अधिक सचेत होने, सृजन में अधिक उत्साह दिखाने और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत कराने के लिए आन्दोलन आरम्भ करने का समय था; साहित्य-सृजन के कार्यक्रम में काव्यरचना और काव्यपाठ के लिए गोष्ठियाँ आयोजित होने लगीं, भारतेन्दु की हवेली में ऐसी गोष्ठियों की चर्चा बहुत बार हो चुकी है। ऐसा अनुमान करना गलत न होगा कि इन गोष्ठियों में ब्रजभाषा में कवित्तों में समस्या पूर्ति पर आग्रह होता होगा। सुरुचि और साधन सम्पन्न अन्य व्यक्तियों द्वारा भी ऐसी गोष्ठियों का अनुकरण किया गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं, पर

कवि, कविता, काव्यपाठ अब भी जनसाधारण से दूर थे।

मेरी ऐसी धारणा है कि हिन्दी आन्दोलन को प्रचार की दृष्टि से अधिक सक्रिय बनाने के लिए हिन्दी, कवि-सम्मेलनों की आवश्यकता सहज अनुभव की गयी होगी। मेरी एक और निश्चित धारणा है कि हिन्दी कवि-सम्मेलनों के लिए प्रेरणा उर्दू के मुशायरों से ली गयी होगी।

उर्दू मुशायरों का जन्म भी राजदरबारों में हुआ था। पर राजदरबारों के विछृंखल होने पर वे जनता के बीच आ गये थे। उनकी परम्परा सुदृढ़ हो गयी थी और उसे सवाँर-सिंगार कर प्रायः नियमबद्ध कर दिया गया था, मुशायरे के पहले मिसरे-तरह निश्चित कर दी जाती थीं, काफ़िया, रदीफ बता दिया जाता था, सब शायरों को एक ही मिसरे-तरह पर नयी गजल लिखनी होती थी। गैर-तरही पढ़ने का विशेषाधिकार किसी बड़े शायर को ही दिया जाता था। मुशायरा विशुद्ध अदबी मरकज समझा जाता था। सदरे बज्म किसी सर्वमान्य बड़े शायर को बनाया जाता था और वही मुशायरे का संचालन करता था। नये और छोटे शायरों को पहले पढ़ने को बुलाया जाता था, फिर क्रमशः बड़ों को; सदरे-बज्म सबसे अन्त में पढ़ते थे। श्रोताओं को बैठालने में भी एक क्रम होता था, विद्वानों, पारखियों को आगे जगह दी जाती थी। किसी शेर के अच्छा होने पर वे 'खूब', 'बहुत खूब', 'मरहबा' या 'सुभान अल्लाह' कहते थे, किसी शेर को फिर से पढ़वाने का आग्रह 'मुकर्रर इरशाद' से किया जाता था। शायर हर तारीफ पर झुक-झुककर सलाम करता था। मुशायरा शुरू होने के पहले किसी प्रामाणिक बड़े शायर की गजल पढ़ी जाती थी, जैसे मजलिस के सामने एक मानदण्ड रख दिया गया हो। वातावरण गम्भीरता का होता था। मजाकिया गजल नहीं पढ़ी जाती थी। मजाकिया गजलों के लिए कभी-कभी दूसरी बैठक की जाती थी, जिसे 'हजल' की मजलिस कहते थे।

आज से 50-55 वर्ष पूर्व होनेवाले इलाहाबाद के कवि-सम्मेलन मेरी आँखों के सामने आ गये हैं। नगर में हिन्दी सर्जकों, प्रेमियों, पैरोकारों का एक अच्छा-खासा दल था। कवि-सम्मेलन छोटे या बड़े पैमाने पर नगर की विभिन्न संस्थाओं की ओर से होते थे। ब्रजभाषा का जोर अभी न घटा था, पर खड़ी बोली धीरे-धीरे बल संचय करती जाती थी, सूचना-पत्र रंगीन कागज पर छापकर बाँटे जाते थे, समस्या दी जाती थी। 1920 के असहयोग आन्दोलन के समय एक कवि-सम्मेलन में समस्या दी गयी थी—'हिलाये देत' एक कवि ने महात्मा गांधी को संकेत कर पूर्ति यों की थी—'बूक भर हाड़ से पहाड़ को हिलाये देत'। खड़ी बोली में लिखने-वालों के लिए स्वतन्त्र विषय दिये जाते थे। द्विवेदीयुगीन सुधारवादी वातावरण में 'अछूत' 'विधवा' आदि विषय, आजादी के आन्दोलन के दिनों में 'चरखा', 'खादी', 'शहीद', 'कैदी', आदि विषय। सभापति का पद बड़े कवि अथवा विद्वान को दिया जाता था। शेष बातों में भी मुशायरे की परम्परा के अनुकरण का प्रयत्न होता था। हिन्दू बोर्डिंग हाउस में आयोजित मुझे एक ऐसे कवि-सम्मेलन की याद है, जिसमें श्रीधर पाठक, लाला भगवानदीन और अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने एक ही मंच से काव्यपाठ किया था। समस्या थी 'चुमकार दे।' 'हरिऔध' जी ने उसकी पूर्ति की थी 'चूमन न दे तो तनिक चुमकार दे' और अपनी बड़ी उम्र में नव-युवकों के सामने ऐसी शृंगारी समस्यापूर्ति के लिए बड़ी क्षमा माँगी थी।

मुशायरों का अनुकरण प्रायः भद्दा रूप भी लेता था। अच्छी पंक्ति पर प्रशंसा के लिए शब्द न थे। 'खूब', 'बहुत खूब' अथवा 'वाह ! वाह !!' को उर्दू की बपौती समझा जाता था। शुरू-शुरू में हिन्दी की सत्ता को अलग सिद्ध करने के लिए हिन्दी-

वाले उर्दू शब्दों को अपनाने में बहुत हिचकते थे। प्राय: अच्छी पंक्तियों पर 'सुन्दर' या 'अतिसुन्दर' किसी-किसी कण्ठ से निकलता। कभी कोई 'साधुवाद' कहता। किसी पंक्ति को फिर पढ़वाने के लिए 'पुनर्वाद' कहा जाता। यह सब बड़ा नकली, निर्जीव, भोंडा लगता। इनसे वक्ता-श्रोता के बीच कोई संवाद न होता और हिन्दी कवि-सम्मेलनों में उर्दू मुशायरों की सजीवता न देखी-पायी जाती। कभी-कभी तो ऐसा भी अनुभव होता कि हिन्दी प्रचार प्रवृत्ति ने नीरसता के साथ अपना कर्तव्य-पालन कर दिया है।

धीरे-धीरे समय बदला।

ब्रजभाषा के साथ समस्यापूर्ति गयी।

छायावादी कवि गूढ़ भाषा में, अस्पष्ट अभिव्यंजना में स्वतन्त्र विषयों पर कविताएँ लेकर आगे आये। वे अपनी अभिव्यक्ति में ही विचित्र न थे, अपनी वेश-भूषा में भी थे। उनको देख-सुनकर तो जनता अवाक ही रह गयी। मुझे पन्त, निराला याद आते हैं। लोगों ने समझा जैसे किसी दूसरे लोक के प्राणी पृथ्वी पर उतर आये और कुछ रहस्यमय सुनाकर अन्तर्धान हो गये। छायावादी युग में पन्त-निराला के लघु-लघु संस्करण भी कई थे। महादेवीजी कवि-सम्मेलनों से सदा कतराती रहीं। मेरा ऐसा विश्वास है कि वे अपनी कविताएँ पढ़तीं, तो छायावादियों में सबसे अधिक सुनी-समझी जातीं। गुप्त बन्धु—विशेषकर मैथिलीशरण गुप्त—बहुत पढ़े गये, पर कवि-सम्मेलनों से दूर-ही-दूर रहे। निराला को कवि-सम्मेलन के कवि के रूप में अपने को स्वीकार्य कराने में बड़ा संघर्ष करना पड़ा, पर उनका दबंग व्यक्तित्व, उनके स्वर की गम्भीरता और काव्यपाठ करते समय उनकी संयमित नाटकीयता ने अन्त में उन्हें वांछित सफलता दी—'जुही की कली', 'शिवाजी का पत्र', 'राम की शक्ति पूजा', 'कुकुरमुत्ता' आदि उनके मुख से सुनने-वालों को सदा याद रहेंगी। छायावादी काल में जिन दो कवियों को रुचि से सुना जाता था, वे थे रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा—रामकुमार अपने मधुर कण्ठ के कारण, भगवतीचरण अपनी सशक्त वक्रोक्ति के कारण—

> हम दीवानों की क्या हस्ती
> हैं आज यहाँ कल वहाँ चले,
> मस्ती का आलम साथ चला
> हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

साहित्य में छायावाद के समानान्तर समाज में राष्ट्रीयता का आन्दोलन भी चल रहा था। इस आन्दोलन के साथ नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान कवि-सम्मेलन में उतरे। नवीन सिद्ध कण्ठ कवि थे। 'सनेही' और 'हितैषी' की खड़ी बोली में समस्यापूर्तिवाली परम्परा से बिलकुल अलग। एक समय 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी' उत्तर भारत के कण्ठ-कण्ठ से प्रतिध्वनित हुई थी। माखन-लाल चतुर्वेदी कवि-सम्मेलनों में अधिक नहीं गये—रहस्य और राष्ट्रीयता के वे एक अद्भुत सम्मिश्रण थे। उनसे सुनी 'कैदी और कोकिला' बहुतों को याद रहेगी।

राष्ट्रीयता की लहर के साथ ही दिनकर भी कवि-सम्मेलनों में आये। पहले वे अपनी कविता गाकर सुनाते थे, पर जल्दी ही उनको यह अनुभव हो गया कि वे गाने के लिए नहीं, गरजने के लिए बने हैं।

मैं अपनी 'मधुशाला' के साथ 1933 में कवि-सम्मेलन में आया। वह जिस ललक के साथ पढ़ी गयी उतनी ही ललक के साथ सुनी भी गयी, दशकों तक, वह एक

अव्याख्यायित करिश्मा है। अब भी उसके संस्करण-पर-संस्करण निकलते हैं और अब मैंने सुनाना तो बन्द कर दिया है, पर एल. पी. रेकार्ड से वह बराबर सुनी जा रही है।

मेरे साथ ही नरेन्द्र, सुमित्राकुमारी और अंचल कवि-सम्मेलन में आये, गिरिजाकुमार माथुर, शिवमंगलसिंह सुमन; नीरज कुछ बाद को आये। माथुर में कलाकारिता अधिक थी, सुमन में नाटकीयता,—सभा चातुरी थी; नीरज अधिक लोकप्रिय हुए। आगे चलकर भवानी प्रसाद मिश्र अपनी सहज वार्तालाप की शैली को लेकर कवि-सम्मेलनोंमें आये और खूब लोकप्रिय हुए—'गीत फरोश' से उन्होंने गीतों के ह्रासग्रस्त गढ़ को ध्वस्त ही कर दिया।

कालान्तर में कवि-सम्मेलनों का शुद्ध साहित्यिक स्वरूप विघटित होने लगा। पिछले महायुद्ध के समय कवि-सम्मेलन वार-फण्ड में चन्दा एकत्र कराने के लिए आयोजित होने लगे। स्वतन्त्रता के बाद नगर-नगर में औद्योगिक प्रगति का प्रदर्शन करने के लिए वार्षिक नुमाइशें होने लगीं। उनमें कवि-सम्मेलन मनोरंजन मात्र का साधन बना दिया गया। सम्मेलनों के सभापति की गद्दी पर कवि-विद्वानों की जगह नेता लोग आ विराजे। छायावाद-प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में जो नयी कविता चली, उसने कवि-सम्मेलनों को अवज्ञा की दृष्टि से देखा। कवि-सम्मेलनी और पुस्तक पत्रिकावाले कवि अलग-अलग हो गये। कवि-सम्मेलनों में मिलनेवाले पारिश्रमिक ने बहुत से अर्थलोलुप पर निम्न प्रतिभा के लोगों को कवि-सम्मेलनों की ओर आकर्षित किया। हिन्दी कवि-सम्मेलनों का विशेष ह्रास हास्य रस के कवियों ने किया। कवि की सफलता जनता को हँसा देने में समझी जाने लगी और हँसाने के लिए कवि कुरुचि और अश्लीलता की निम्नतम सीमा तक जाने को नहीं हिचके। आज कोई भी सुरुचिपूर्ण साहित्यप्रेमी हिन्दी कवि-सम्मेलनों में जाकर खिन्न और उदास हुए बिना नहीं लौट सकता।

जनता और कवि का सम्पर्क काव्य के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक है। कवि-सम्मेलन महत्वपूर्ण संस्था है। उसे विकृति की अवस्था से निकालने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

कवि-सम्मेलनों से पहले भी हास्य को अलग रखा जाता था। शायद हमारे अग्रजों ने इसके खतरे को पहचान लिया था। मैं पहले कह आया हूँ कि गजल की मजलिस अलग और 'हजल' की मजलिस अलग हुआ करती थी। कानपुर के कवि हास्य का सम्मेलन 'भड़ौआ' नाम से अलग करते थे। कवि-सम्मेलनों को सुधारने की दिशा में पहला कदम हास्य कवियों को अलग करना है। कवित-रसिकता से हास्य का जोड़ नहीं बैठता। मैं तो इसका प्रमाण तुलसी की उस अर्द्धाली में भी पाता हूँ :

'कवित रसिक न राम पद नेहू
तिन्हकहं मधुर हास रस एहू।

दूसरा कदम कवि-सम्मेलन की बजाय कविता-सम्मेलन कराने का होना चाहिए। समय-सिद्ध, उच्चकोटि की कविताओं को अच्छे पाठकों द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए—रेकार्ड आदि बनवाने की सुविधाएँ अभी हमें बहुत समय तक न मिलेंगी।

कवि-सम्मेलन को सामान्य जनसभा का पर्याय भी न बनाना चाहिए। कविता के रसास्वादन के लिए कुछ शिक्षा-दीक्षा, कुछ सुरुचि की आवश्यकता होती है। कवि-सम्मेलन के आयोजक देखें कि जिन्हें वे कविताएँ सुनने के लिए बुलाते हैं, वे कविता

परखने की समझ भी रखते हैं। कवि-सम्मेलन की सफलता श्रोताओं की बड़ी संख्या से नहीं, अधिकारी श्रोताओं की संख्या से मापी जानी चाहिए।

एक बात मैं कवियों से भी कहना चाहूँगा। कविता शब्द-अर्थ की कला है, तो ध्वनि की भी कला है। उच्चकोटि की कविता में ध्वनि का बड़ा महत्वपूर्ण उपयोग किया जाता है। ध्वनि का पूर्ण प्रभाव व्यक्त करने के लिए कविता केवल छपे पृष्ठ पर नहीं, कण्ठ से प्रस्तुत की जानी चाहिए। उन्हें अपनी कविता लेकर पाठकों के सामने ही नहीं, श्रोताओं के सामने भी आना चाहिए, तभी वे अपनी कला के एक रहस्यपूर्ण अंग के प्रति सचेत हो सकेंगे।

संक्षेप में, कवि-सम्मेलनों को सुधारने के लिए उसके तीनों अंगों—श्रोता, वक्ता, कविता—को नये ढंग से संयोजित करना होगा।

क्या मैं आशा करूँ कि इस दिशा में कुछ प्रयोग किये जायेंगे?

[1975]

आत्मकथा लेखन की मेरी प्रक्रिया

जीवन जो सहज स्वाभाविक रूप में करता है, उसी को साहित्य परिष्कृत रूप में करता है, इसे मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो। और जब मैं यह कहता हूँ तब साहित्य की प्राय: सभी मान्य विधाएँ मेरे ध्यान में हैं—कविता, कहानी, नाटक, समालोचना, संस्मरण आदि-आदि। भावनाओं के आवेग में सामान्यजन भी कवित्वपूर्ण भाषा बोलते हैं, बूढ़ी नानी-दादी कहानी और उसके विकसित-रूप उपन्यासों की प्रवर्तिका हैं, दूसरों की नकल उतारने में बच्चे बहुत छोटी उम्र से अपनी पटुता दिखाने लगते हैं, क्या नाटकों का आरम्भ यहीं से नहीं हो जाता? मुहल्ले की अड़ोसनें-पड़ोसनें आलोचना-प्रत्यालोचना के प्राय: उन सारे पहलुओं से परिचित होती हैं जिनका प्रयोग अधीत समीक्षक करते हैं। और बाबा अपनी तीर्थ-यात्राएँ, अतीत की घटनाएँ कितने रोचक, आकर्षक ढंग से सुनाते हैं!

किसी संस्कार से, किसी अनजाने प्रभाव से या किसी अन्त:प्रेरणा से जीवन को समझने और अपने व्यवहार, क्रियाकलाप को निर्देशित करने के लिए, यहाँ तक कि लेखन के लिए भी, जिसमें मेरे क्रियाकलाप का बहुत बड़ा अंश सन्निविष्ट हुआ है, मैं जीवन की सहज-स्वाभाविक प्रवृत्तियों की ओर ही झुका हूँ। और यह मैं मानता हूँ कि जो भाषाएँ मैं जानता हूँ उनमें उपलब्ध उच्चकोटि के साहित्य के स्वाध्याय से मैंने कम नहीं सीखा, परन्तु उनमें सदा ही, मैंने जो जीवन में समझा, जाना, सीखा है, उसका समर्थन ही पाया है। इतना ही नहीं, जिस साहित्य को मैंने जीवन से समर्थित नहीं पाया—इसमें मेरा स्वयं का दृष्टिदोष भी हो सकता है—उसे मैं अपना नहीं सका; अपने हृदय के समीप नहीं ला सका।

मैंने अपना लेखक जीवन अपने यौवन में कवि के रूप में आरम्भ किया था और उसका समापन मैंने अपनी वृद्धावस्था में यानी अपने जीवन के सात दशक पूरे करने पर आत्मकथा लेखक के रूप में किया। और आप अगर मेरा विश्वास करें तो मेरे लेखक जीवन का सबसे बड़ा सन्तोष यह है कि उस क्रम में मैं जीवन के स्वाभाविक मार्ग-प्रगति-विकास के प्राय: निकट रहा हूँ। उससे हिलगा हुआ चला हूँ।

मैंने अपनी आत्मकथा अपने जीवन के छठे दशक में आरम्भ की और सातवाँ

दशक पूरा करते-करते समाप्त कर दी। आत्मकथा तीन खण्डों में है जिनके नाम हैं, 'क्या भूलूँ, क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर' और 'बसेरे से दूर'; जहाँ तक मुझे स्मरण है पहले खण्ड में से एक प्रसंग सर्वप्रथम 1963-64 में हैदराबाद से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'कल्पना' में प्रकाशित हुआ था।

इससे मुझे हर्ष और अपने सृजन से यत्किंचित सन्तोष होना स्वाभाविक है कि मेरी कृति का साधारण पाठकों में हीं नहीं सुधी वर्ग में भी स्वागत किया गया है।

और यह भी इसकी सफलता का एक सबूत ही है कि प्रख्यात पत्रिका 'सारिका' के सम्पादक ने, शायद अपनी ओर से, पर निश्चय ही अपने बहुसंख्यक पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर मुझसे आग्रह किया है कि मैं अपनी आत्मकथा लेखन प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश डालूँ। दावत खानेवाले स्वादिष्ट व्यंजन में रुचि लेते हैं, और प्राय: उनकी दिलचस्पी इसमें नहीं रहती कि कौन व्यंजन किस प्रकार पकाया गया, उसमें कौन-कौन मिर्च-मसाले डाले गये, और उन्हें कैसे भूना-तला गया। प्रस्तुत लेख में मुझे ऐसा ही कुछ बताना पड़ेगा। पर अगर उससे कुछ पाठक 'बोर' हों तो दोष वे कन्हैयालाल नन्दन को दें।

किसी भी प्रकार के सृजन में स्वानुभव और आत्मप्रेरणा का सबसे अधिक महत्त्व है, पर कलापूर्ण सृजन के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं। स्वानुभूति और स्वप्रेरणा में, तुलसीदास में किसी प्रकार की कमी रही होगी ? फिर भी उन्होंने 'नाना पुराण निगमागम सम्मत यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि···' की शरण ली। और उससे उनकी कृति में चार चाँद लगे हैं, इससे शायद ही कोई इन्कार करे।

आत्मकथा लिखने की तैयारी के रूप में निश्चय नहीं, पर आत्मकथा लिखने के पूर्व मैं हिन्दी और अंग्रेजी में उपलब्ध प्राय: सभी प्रसिद्ध आत्मकथाकारों की कृतियाँ पढ़ चुका था, जो नाम नि:प्रयास मेरी जबान पर आ रहे हैं उनमें हैं, गिबन, किपलिंग, ईट्स, मानतेन, रूसो, आन्द्रे मारा, सार्त्र, मालरो, (जिन्होंने अपनी आत्मकथा को एंटी-आटोबायोग्राफी का नाम दिया) टैगोर, गोर्की, गांधी, नेहरू आदि; हिन्दी में बनारसीदास (अर्द्धकथावाले) से लेकर अपने अग्रज सुमित्रानन्दन पन्त तक सभी की आत्मकथाएँ मैंने पढ़ी हैं।

हिन्दी आत्मकथाओं का जो प्रभाव मेरे दिमाग पर दर्ज है वह इतना ही कि आकार में सबसे बड़ी आत्मकथा डॉ. राजेन्द्रप्रसाद की है, सबसे नीरस बाबू श्याम-सुन्दर दास बी. ए. की, सबसे भावविगलित शान्तिप्रिय द्विवेदी की (परिव्राजक की प्रजा) और सबसे अक्खड़-फक्खड़-मुँहफट पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की (अपनी खबर)। खेद है कि यह कथा उन्होंने अपने जीवन के 20-21 वर्ष पर ही समाप्त कर दी; अगर यह कथा वे अपनी प्रौढ़ावस्था तक ले जाते और अभिव्यक्ति पर थोड़ा कलात्मक संयम रखते तो निश्चय वह हिन्दी की सबसे अधिक जीवन्त आत्म-कथा बनती। उग्र के चरित्र की एक सबसे अलग इकाई थी, उनके रहन-सहन व्यवहार का एक निराला तरीका था। अपने जीवन की समस्याओं से निपटने-जूझने के उनके अपने ही दाँव-पेंच-पैंतरे थे। दुर्भाग्य की बात है कि अपने को अपनी लेखनी से वे अधिक सजीव रूप में प्रस्तुत न कर सके। उनका व्यक्तित्व किसी सशक्त जीवनीकार की प्रतीक्षा में है।

गिबन की परिष्कृत शैली ने मुझे मुग्ध कर दिया। अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'डिक्लाइन ऐण्ड फाल ऑव रोमन एम्पायर' लिखने के बाद उन्होंने अपना आत्मसंस्मरण लिखना आरम्भ किया था। जबकि उनकी शैली मँजकर सर्वथा निर्दोष हो चुकी थी।

फिर भी क्या आप विश्वास करेंगे कि उन्होंने अपने संस्मरण के आधे दर्जन ड्राफ्ट बनाये ! अथक परिश्रम भी प्रतिभा के ही वश की बात है। कहते हैं ताल्स्तोय ने अपने वृहद् उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' को अपने हाथ से सात बार लिखा, हर बार उसका अधिकाधिक परिमार्जन करते हुए ! गिबन की आत्मकथा का अगर कोई दोष है तो उसकी सपाटियत का। गिबन विशुद्ध 'स्कॉलर' थे। पढ़ने-लिखने में दिन-रात व्यस्त। उनकी कथा में भावनाओं, घटनाओं का आरोह-अवरोह नहीं, छाया-प्रकाश की आँख मिचौनी नहीं। पर लेखन साधना है, तप है, इसकी गरिमा कोई गिबन से सीखे।

यौवन में रूसो की दोष-स्वीकृतियों ने मुझे बहुत प्रभावित किया था, बाद में लगा, उन्होंने अपने समय की बाह्यारोपित नैतिकता-विजड़ित समाज को चौंकाने के लिए भी बहुत कुछ लिखा था। गांधी की पश्चात्ताप-विनम्र स्वीकृतियों ने आगे चल कर मुझे अधिक प्रभावित किया। कला की सच्चाई संयम की अधिक ही माँग करती है। टैगोर और गोर्की ने विशेष अपने लड़कपन के विषय में लिखा है जहाँ भावुकता खुल-खेल सकती थी, पर वहाँ भी दोनों ने बड़े संयम से काम लिया है।

ईट्स की आत्मकथा मैंने कैम्ब्रिज में उन पर शोध करते समय पढ़ी थी। उसे पढ़ते हुए एक बिजली की-सी चमक मेरे दिमाग पर आयी और चली गयी थी कि अगर कभी मैं अपनी आत्मकथा लिखूँ तो ईट्स मेरे मॉडल हो सकते हैं—ईट्स की आत्मकथा भी उनके यौवन पर ही समाप्त हो जाती है। पर वे अपने 'कवित्वमय जीवन' के विषय में भी लिखते हैं और 'जीवनमय कवित्व' के विषय में भी। उनकी शैली की पकड़ के विषय में मैंने कहीं पढ़ा था कि जब वे लिखते हैं तो सदा ऐसी कल्पना करते रहते हैं कि टेबिल के दूसरी तरफ कोई साधारण-सा आदमी बैठा है और वे उसे अपना लेखन-कथन सम्बोधित कर रहे हैं, वे कुछ भी ऐसा नहीं कहते जो उसके दिमाग के ऊपर होकर निकल जाये। कहीं पढ़ा था, स्विफ्ट जब अपना 'जरनल' लिखते थे तो उसे अपनी नौकरानी स्टेला को सुनाते थे, और जो उसकी समझ में नहीं आता था उसे काट देते थे। अथवा उसे ऐसा सरल कर देते थे कि उसे सहज ग्राह्य हो जाये। अपने औसत पाठक का सम्मान करना भी बड़ी प्रतिभा के लोग ही जानते हैं।

फिर भी जब मैंने अपनी आत्मकथा लिखनी आरम्भ की तो मुझे अपना 'मोटो' मानतेन में मिला जो इस प्रकार है :

"पाठको, यह किताब ईमानदारी के साथ लिखी गयी है। मैं आपको पहले से ही आगाह कर दूँ कि इसके लिखने में मेरा एकमात्र लक्ष्य घरेलू अथवा निजी रहा है। इसके द्वारा परसेवा या आत्मश्लाघा का कोई विचार मेरे मन में नहीं है। ऐसा ध्येय मेरी क्षमता से परे है। इसे मैंने अपने सम्बन्धियों और मित्रों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए तैयार किया है कि जब मैं न रहूँ (और ऐसी घड़ी दूर नहीं है) तब वे इन पृष्ठों से मेरे गुण-स्वभाव के कुछ चिह्न संचित कर सकें। और इस प्रकार जिस रूप में उन्होंने मुझे जीवन में जाना है उससे अधिक सच्चे और सजीव रूप में वे मुझे अपनी स्मृति में रख सकें। अगर मैं दुनिया से किसी पुरस्कार का तलबगार होता तो मैं अपने आपको और अच्छी तरह सजाता-बजाता, और अधिक ध्यान से रंग-चुंग कर आपके सामने पेश करता। मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे मेरे सरल, स्वाभाविक और साधारण स्वरूप में देख सकें—सहज, निष्प्रयास प्रस्तुत, क्योंकि मुझे अपना ही तो चित्रण करना है। मैं अपने गुण-दोष जग-जीवन के सामने रखने जा रहा हूँ, पर ऐसी स्वाभाविक शैली में जो लोकशील से मर्यादित हो। यदि मेरा

जन्म उन जातियों में हुआ होता जो आज भी प्राकृतिक नियमों की मूलभूत स्वच्छन्दता का सुखद उपभोग करती हैं तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं बड़े आनन्द से अपने आपको आपाद्मस्तक एकदम नग्न उपस्थित कर देता। इस प्रकार, पाठको, मैं स्वयं अपनी पुस्तक का विषय हूँ, और मैं कोई वजह नहीं देखता कि आप अपनी फुरसत की घड़ियाँ ऐसे नगण्य और निरर्थक विषय पर सर्फ करें। इसलिए मानतेन की विदा स्वीकार कीजिए---1 मार्च, 1580."

मानतेन ने ये पंक्तियाँ अपनी पुस्तक 'एसेज' की प्रस्तावना के रूप में लिखीं। मानतेन ने अपने 'एसेज' (निबन्धों) को अपनी आत्मकथा माना और उसमें अपनी जीवन-घटनाओं के साथ अपने भावों, विचारों, चिन्तन, मनन, स्वाध्याय, दर्शन सबको सम्मिलित कर लिया। आत्मकथा अपने व्यक्तित्व का चित्रण है और मानतेन ने इस सबको अपने व्यक्तित्व का अंग माना। और उस पर हम मानतेन से विवाद नहीं कर सकते। अपने व्यक्तित्व को परिसीमित, विस्तारित करने का दायित्व हमें आत्म-कथाकार पर छोड़ना पड़ेगा। पाठक की हैसियत से हम उस पर यह माँग जरूर कर सकते हैं कि वह अपने जीवन का जो भी पक्ष हमारे सामने प्रस्तुत करता हो, उसमें हमारी रुचि जगाये रहे।

आत्मकथाकार इतना विश्वास तो लेकर चलता ही है कि उसके जीवन में लोग रुचि लेंगे, वह अपने को जीवन के किसी क्षेत्र में स्थापित करके ही अपना जीवन लिखना आरम्भ करता है। और यहाँ मैं कवि अथवा कलाकार को आत्म-कथा लिखने का सबसे बड़ा अधिकारी मानता हूँ। क्योंकि कविता अथवा कला कवि अथवा कलाकार के सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति होती है और अगर लोगों ने किसी कवि अथवा कलाकार की कृतियों में रुचि ली है तो वे उसके जीवन को भी जानना चाहते हैं और यह ज्ञान केवल कौतूहल शान्त करने के लिए नहीं होता बल्कि उससे उसकी कविता अथवा कला पर न्यूनाधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। मैंने भी अपने को काव्य क्षेत्र में यत्किंचित स्थापित समझकर ही अपनी आत्म-कथा लिखने की धृष्टता की। मेरी आत्मकथा के पहले खण्ड को पढ़कर स्वर्गीय जगदीशचन्द्र माथुर ने मुझे लिखा था कि "बच्चनजी, अब आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि 'मधुशाला' जैसी रचना की पृष्ठभूमि में आपके जीवन की कैसी परिस्थितियाँ-प्रेरणाएँ थीं," मेरी आत्मकथा से निश्चय ही मेरी और रचनाओं पर प्रकाश पड़ा है।

जैसा कि मानतेन ने संकेत किया है---ईमानदारी आत्मकथा की पहली शर्त है। वस्तुगत तथ्य के विषय में और भी सबूत पेश किये जा सकते हैं और सच्चे-झूठे की परीक्षा हो सकती है। पर आत्मगत तथ्य के सबूत तो केवल आप ही हो सकते हैं। इतनी बड़ी जिम्मेदारी ही लेखक को ईमानदार रखने के लिए काफी है। मगर आत्मकथा लेखक को अपनी ईमानदारी की कसम खाने की जरूरत नहीं। अंग्रेजी में एक कहावत है 'द पेन बिट्रेज' अर्थात् कलम भेद खोल देती है। और कलम लेखक की बेईमानी का भेद जितनी बेरहमी से खोलती है उतनी शायद किसी और की नहीं। लेखक कलम से बेईमानी कर सकता है, पर तब उसका लेखन इस योग्य होता ही नहीं, हो नहीं सकता कि उसे लोग पढ़ें या उस पर सोचें, उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। कलम के साथ ईमानदारी न बरत सकनेवाला बहुत बड़े जोखिम उठाता है। वह लेखकों की श्रेणी से स्वयं अपना नाम काटने का इन्तज़ाम कर लेता है। मेरे लेखन में ईमानदारी की गन्ध कितनी है इसको मेरे पाठक बतायें या फिर समय बतायेगा।

दिया। तब से आज तक वे बराबर लिखते रहे हैं, और बराबर हिन्दी कवियों की अगली पंक्ति में उनकी गणना होती रही है।

पन्तजी का जन्म 20 मई सन् 1900 को अल्मोड़े ज़िले के कौसानी नामक स्थान में हुआ, जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। उनकी माता का देहावसान उनके जन्म के कुछ घण्टे बाद हो गया था। वे अपने चार भाइयों के परिवार में सबसे छोटे थे। उनके पिता कौसानी की चाय रियासत के प्रबन्धक थे। पन्तजी का बचपन प्रकृति की इस सुन्दर और पवित्र स्थली में बीता और उनके भाव-प्रवण मन को इसने बहुत प्रभावित किया।

पन्तजी का पिता का दिया हुआ नाम गोसाईंदत्त पन्त था, पर उन्होंने अपना नाम बदलकर सुमित्रानन्दन रख लिया और उनका पहला नाम आज इने-गिने लोग ही जानते हैं। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा अल्मोड़ा नगर के स्कूल में हुई। काव्यानुराग और साहित्य-सृजन की ओर इनका झुकाव अपने बड़े भाई की प्रेरणा से हुआ। पन्तजी ने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में एक उपन्यास लिख डाला जो 45 वर्ष तक पाण्डुलिपि के रूप में पड़ा रहने के पश्चात् अब प्रकाशित होने जा रहा है। तभी उन्होंने कुछ कविताएँ भी लिखीं जो स्थानीय पत्रों में प्रकाशित हुईं। स्कूल लीविंग की परीक्षा पन्तजी ने जयनारायण हाई स्कूल, बनारस से सन्, 1919 में पास की। वहीं किसी बंगाली मित्र ने इनकी रुचि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं की ओर जगायी।

1919 में पन्तजी म्योर कालेज, इलाहाबाद में भरती हुए और हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। वेश-भूषा, रूप रुचि, के कारण ये शीघ्र ही कवि माने जाने लगे। प्रयाग में इनका विशेष परिचय प्रो. शिवाधार पाण्डे से हुआ जिन्होंने इनकी रुचि अंग्रेज़ी कवियों मेंजगायी, श्री श्रीधर पाठक से, जिनसे उन्होंने अपने को कवि रूप में विकसित करने की प्रेरणा ली, और उस समय 'सरस्वती' के सम्पादक श्री पदुम-लाल पुन्नालाल बख्शी से जिनके कारण इनकी कविताएँ बराबर 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी को पन्तजी की कविताओं से सहा-नुभूति न थी।

1921 में असहयोग आन्दोलन में पन्तजी ने पढ़ाई छोड़ दी और स्वतन्त्र रूप से स्वाध्याय करने और काव्य रचने में लग गये। 'वीणा' 1927 में और 'ग्रन्थि' 1929 में प्रकाशित हुई।

1930 और '40 के बीच पन्तजी प्राय: कुँवर सुरेशसिंह के साथ अवध के कालाकाँकर राज्य में अतिथि के रूप में रहे। यहाँ उनका समय विशेष चिन्तन-मनन में बीता। इस बीच उनके 'गुञ्जन', 'ज्योत्स्ना', 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। 'ज्योत्स्ना' एक रूपक है जिसके द्वारा पन्तजी ने भावी मानव जीवन का एक बड़ा भव्य चित्र उपस्थित किया। काव्य के संसार में 'युगवाणी' से विशेष हलचल मची, क्योंकि इसमें पन्तजी की शैली में एक स्पष्ट परिवर्तन देखा गया। उनकी जिस कोमल-कान्त पदावली से लोग परिचित थे और जिसका बहुत मनोज्ञ रूप 'ज्योत्स्ना' के गीतों में निखरा था वह 'युगवाणी' से ग़ायब था। पन्तजी ने स्वयं लिखा कि इसमें उन्होंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है। 'युगवाणी' में युग का पद्य भी बहुत था, पर अब यह स्पष्ट था कि पन्तजी गायक के स्थान पर धीरे-धीरे विचारक होते जा रहे हैं। ध्यान देने की बात यह है कि वह परिवर्तन उनकी प्रतिभा या क्षमता में किसी ह्रास के कारण नहीं आया था। अपने दस बरस के मनन और चिन्तन से वे इसी परिणाम पर पहुँचे थे कि अब

लिखने का लक्ष्य 'घरेलू अथवा निजी' कहकर मानतेन वही कहते हैं जो तुलसी 'स्वांतः सुखाय···' से कहते हैं। लिखने का आनन्द पंक्ति-पंक्ति से छलकता है। यही कृति की रोचकता, आकर्षण, पकड़ का कारण बनता है। कसौटी फिर पाठकों के हाथ रहती है, क्या लेखन-सुख पठन-सुख बन सका ?

मानतेन की धारणा है कि लेखन में जीवन 'और सजीव' बनाया जा सकता है। यह दोनों बातों पर निर्भर करेगा—जीवन की जीवन्तता पर और लेखन की क्षमता पर। मैंने अपने जीवन को इतना जीवन्त और अपनी लेखन क्षमता को इतनी क्षीण पाया कि मैं अपने चित्रण में अपने को अधिक सजीव बनाने का दावा करने में संकोच करूँगा। वस्तुतः जीवन को पकड़ने में शब्दों की असमर्थता के नोट पर ही मैंने आत्मकथा लेखन से विदा ले ली है, 'बसेरे से दूर' के पाठक उसके अन्तिम भाग को याद करेंगे।

'सरल, स्वाभाविक और साधारण' लेखन का उतना विषय नहीं जितना, जीवन का है। 'सरल, स्वाभाविक, साधारण' जीवन में बनना साधना है। जीवन की ही सरलता, स्वाभाविकता और साधारणता जब लेखन में प्रतिच्छायित, प्रतिबिम्बित या प्रक्षेपित होती है तभी वह अपने खरेपन की साख भरती है। और लोकमानस जो अपनी प्रकृति से ही सरल, स्वाभाविक और साधारण होता है, लेखन में अपनी ही छाया पाकर उसकी ओर झुकता है। ऐसे माहौल में जिसमें 'लोकप्रियता' अवमूल्यन का मापदण्ड समझी जाने लगी हो, मैंने लोकप्रियता को स्पृहणीय माना है, पर परिष्कृत मनस की अभिरुचि को आघात पहुँचाने के मूल्य पर नहीं। मैं तुलसीदास के साथ इस बात में विश्वास करता हूँ कि किसी कृति को 'जन-रंजन' और 'सज्जन-प्रिय' एक साथ बनाया जा सकता है। 'जन-रंजन सज्जन प्रिय एहा', उन्होंने अपने मानस के लिए स्वयं लिखा था—अपकारी वक्रता, स्वार्थ-साधू नकलियत और दम्भी विशिष्टता का मेरे मन में सम्मान नहीं, जहाँ कहीं ये मुझमें हैं—और ये दानवी सम्पदाएँ मानवी दाय के रूप में किसे मिलती रहीं—वहाँ मैं उनसे लड़ता ही रहा हूँ। और जहाँ भी मैं उनसे पराजित हुआ हूँ उसकी मुझे लाज है। हाँ, मानवी दुर्बलताओं पर निःसन्देह मुझे लज्जा नहीं है, उन्हीं के कारण तो जनसाधारण ने मेरे साथ और मैंने जन-साधारण के साथ अपनी एकता अनुभव की है :

> मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा,
> इसकी मुझको लाज नहीं है।
> मन में सावन-भादों बरसे
> जीभ करे पर पानी-पानी !
> चलती-फलती है दुनिया में
> बहुधा ऐसी बेईमानी,
>
> पूर्वज मेरे, किन्तु, हृदय की
> सच्चाई पर मिटते आये,
> मधुवन भोगे, मरु उपदेशे
> मेरे वंश रिवाज नहीं है।
> मैं सुख पर, सुखमा पर रीझा,
> इसकी मुझको लाज नहीं है।

आत्मकथाकार को सबसे बड़ी विडम्बनात्मक स्थिति का सामना उस समय करना पड़ता है जिस समय उसे अनुभव होता है कि कहने तो वह अपने विषय में

चला था परन्तु बहुधा दूसरों के विषय में कहे बग़ैर वह अपने बारे में कुछ भी नहीं कह सकता। कारण तो बहुत सामान्य है, मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अपनी ज़िन्दगी शून्य में, वैकुअम में, नहीं जीता, जीना आरम्भ ही दूसरे के साथ होता है और जीवन के अन्त तक चलता है। अपने बारे में मनुष्य को शायद स्वतन्त्रता है, अगर साहस भी हो, कि जो वह चाहे वह कहे, पर दूसरों को लाते ही, या ज्यादा सही कहना यह होगा कि दूसरों के आते ही उस स्वतन्त्रता और साहस पर नियन्त्रण लगाने की आवश्यकता पड़ती है, कम से कम उस तथाकथित सभ्य समाज में, जहाँ हर व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता, अपनी निजता (प्राइवेसी) के प्रति सचेत रहने और उसे सुरक्षित रखने का अधिकार है। मानतेन ने यहाँ 'लोकशील' की दुहाई दी है और उससे 'मर्यादित' रहना स्वीकार किया है, अपने देश की संस्कृति में शायद उसी की पुष्टि होती है उस कथन से, "सत्यम् ब्रूयात, प्रियम् ब्रूयात, माब्रूयात सत्यमप्रियम्" मानतेन स्वयं उसे कहाँ तक निभा पाये हैं, यह प्रश्न तो पूछा ही जा सकता है, और शायद हर आत्मकथाकार से, जो अपने साथ दूसरों को लाने को मजबूर होता है।

जब मैंने अपनी आत्मकथा लिखनी आरम्भ की तो उस लोकशीलता की अवहेलना करने का मेरा इरादा नहीं था, पर मेरे सामने एक विचित्र समस्या खड़ी हो गयी। मैंने ऐसा अनुभव किया कि जो मेरे जीवन में आ गये हैं उनसे मैं इतनी निकटता के साथ जुड़ा हूँ कि अगर मैं उनकी असली तस्वीर पेश नहीं करता तो मेरी अपनी तस्वीर भी नकली या विकृत हो जाती है और अगर ऐसा होता है, तो आत्मकथा लिखने का सारा ध्येय ही ध्वस्त हो जाता है। मुझे खेद है कि ऐसी स्थिति में लोकशील और मर्यादा की सीमा में रहते हुए भी मुझे दूसरों की स्वतन्त्रता और निजता के साथ हस्तक्षेप करना पड़ा है। और उसमें शायद दूसरों को कुछ चोट भी पहुँची है। यहाँ मैंने एक दूसरे कथन की शरण लेकर अपने को क्षमा कर दिया है 'स्पष्टवक्ता न दोष भाक्' अप्रिय न कहने और स्पष्टवक्ता होने के परस्पर विरोधी सत्यों में समन्वय स्थापित करने का काम मैंने अपने कलाकार पर छोड़ दिया है। मेरी सफलता या असफलता पर निर्णय मेरे पाठक दें। काम कितना कठिन है उसे भुक्तभोगी ही समझेंगे।

इसी से मिली-जुली एक दूसरी समस्या खड़ी होती है। यों तो आत्मकथा लिखने का समुचित समय वृद्धावस्था है और प्रायः आत्मकथाकारों ने प्रौढ़ावस्था के बाद ही आत्मकथाएँ लिखी हैं। इससे एक तो यह अवस्था ही वह तटस्थता दे जाती है जो आत्मकथा की ईमानदारी के लिए जरूरी है, दूसरे कथाकार के लड़कपन और यौवन के बहुत-से संगी-साथी विदा हो चुके होते हैं जिनके बारे में यत्किंचित स्वतन्त्रता से जो कुछ कहना है कहा जा सकता है। जो अपनी आत्मकथा अपने समकालीनों तक लाते हैं उन्हें उस समन्वय को साधने को तैयार होना चाहिए जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। क्या इस कठिनाई से बचने के लिए ही टैगोर और गोर्की ने अपने बचपन तक की कथाएँ लिखीं और ईट्स ने अपनी आत्मकथा अपने यौवन से आगे नहीं बढ़ायी? हालाँकि लोकशीलता अपना शिकंजा अतीत तक भी फैलाती है। रोमनों ने एक सिद्धान्त बना रखा था जिसका इशारा इसी ओर है 'निलनिसी बोतुम'—मृतों के विषय में अप्रिय मत कहो। इधर जीते हुओं के बारे में अप्रिय कहना भी खतरे से खाली नहीं और सत्य तो प्रायः अप्रिय ही लगता है। तो फिर क्या उन नपुंसकों के बारे में लिखें जो न ज़िन्दों में शुमार हैं न मुर्दों में! मैंने अपनी कथा पचास के आगे बढ़ाने के सामने हथियार डाल दिये

हैं। इस विषय को समाप्त करने से पूर्व एक बात जोड़ देना शायद अप्रासंगिक न होगा। दूसरों के जितने स्पष्ट, जीवन्त और सच्चे चित्र आत्मकथाओं में मिलेंगे उतने कहीं और नहीं। आत्मकथा साहित्य से परिचित मेरे इस कथन से सहज सहमत हो सकेंगे। फिलिप ग्वाडेला, प्रख्यात अमरीकी लेखक का कहना है कि 'ऑटोबायोग्राफी इज़ एन अनराइवल्ड वेहिकल फॉर टेलिंग द ट्रुथ अबाउट अदर पीपुल'—दूसरों के बारे में सत्य कहने के लिए आत्मकथा से बढ़कर दूसरा माध्यम नहीं। यानी आत्मकथा अच्छी परकथा भी हो सकती है, इसे लोग समझ लें तो आत्म-चर्चा में पर-चर्चा घसीटनेवाले पर नाक भौं सिकोड़ें। शायद अपनी ग़लती ज्यादा जल्दी महसूस कर लें।

जीवन, किसी भी व्यक्ति का जीवन, बहुपक्षी होता है, और लेखनी का बड़ा से बड़ा धनी भी अपने जीवन के सब पक्षों को उजागर नहीं कर सकता। अपने जीवन के बहुत से पक्षों के प्रति वह सचेत भी नहीं होता, जिन्हें शायद उसका अव-चेतन जानता है। अवचेतन की बात हम न उठायेंगे, लेखन अपने जीवन के संचेत पक्षों पर ही हो सकता है। पर वहाँ ठीक चुनाव करना पड़ेगा।

गांधी ने अपने नैतिक पक्ष को उभारा है, जवाहरलाल ने अपने राजनीतिज्ञ को, (अपने विवाह की बात उन्होंने एक ही पंक्ति में खत्म कर दी।) ईट्स ने अपने कवि को, मानतेन ने अपने निबन्धकार को, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अपने वैयक्तिक, कौटुम्बिक, न्यायज्ञ, राजनीतिज्ञ, सामाजिक, और देश-सेवा के लिए उठाये गये, आर्थिक, शारीरिक संकटों आदि आदि सभी पक्षों को समोने के मोह में अपनी आत्म-कथा को वह एकता (unity) नहीं दे सके जो किसी भी कलाकृति के लिए आवश्यक है।

कलाकारों-साहित्यकारों ने जब भी अपने विषय में लिखा, वे अपने मानवी पक्ष के प्रति अधिक सचेत रहे हैं। उनकी मानवता और मानवीयता का अन्तर आप समझेंगे ही—उनकी कला से जो अनिवार्य सम्बन्ध है, उसे एक बार फिर दुहराया जा सकता है। पाठकों में सबके कलाकार, कवि या साहित्यकार होने की कल्पना नहीं की जा सकती, पर मानवता और मानवीयता का संस्पर्श उनमें होता ही है और वही पाठक-लेखक को जोड़नेवाली कड़ी बनता है।

डॉ. जानसन का कहना था कि इस पृथ्वी पर जो अपार जनसमूह बसता है उसमें एक आदमी भी ऐसा न होगा जिसे यह विश्वास न हो कि अपने विषय में कुछ असाधारण कहने को उसके पास है। और असाधारणता का यह सर्वव्यापी विश्वास भी शायद मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने का एक सूत्र हो। अपनी सम्पूर्ण आत्मकथा में मैंने उस मानवता और मानवीयता के पक्ष को कहीं आँख से ओझल नहीं होने दिया, दूसरे खण्ड में मैंने अपने कवि और तीसरे खण्ड में मैंने अपने अध्यापक और शोधकर्त्ता को अधिक प्रक्षिप्त करने का प्रयत्न किया है। व्यापक रूप से मेरा व्यक्तित्व कवि का ही है। और तीसरे खण्ड की भूमिका में जो मैंने कहा है उसे यहाँ दुहरा देना असंगत न होगा, जैसे मेरी कविता आत्मकथा संस्कारी है, वैसे ही मेरी आत्मकथा कविता संस्कारी है। आत्मकथा में पर-कथा, पर-चर्चा जैसे कुछ लोगों के गले नहीं उतरी वैसे ही कुछ लोगों के गले मेरी काव्य-चर्चा भी नहीं उतरी। पर उनसे मैं साफ कह देना चाहता हूँ कि अपने जीवन से न मैं पर को अलग कर सकता था, न अपनी कविता को। किसी विशुद्ध मानवता आधारित आदर्श आत्म-कथा से किसी आलोचक का परिचय हो तो मैं उसका नाम जानना चाहूँगा। दायित्वहीनता से बोलने और लिखने का प्रचलन अपने तथाकथित बुद्धिजीवी

समाज में कुछ अधिक ही है।

यों तो अपने प्रारम्भिक लेखन प्रयोगों में मैंने कहानियाँ भी लिखी थीं। पर मेरे लेखक जीवन का अधिकांश कविता लिखने में बीता। गद्य लिखने का विशेष प्रयोग मैंने कैम्ब्रिज में अपने शोधकाल में किया 'प्रवास की डायरी' लिखकर, वह इतनी निजी थी कि लगभग 20 वर्ष तक वह मेरे पास पड़ी रही और मैंने उसे प्रकाशित करने की बात भी न सोची। जब मेरी आत्मकथा का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ और साधारण पाठकों और सुधी वर्ग में मेरी शैली में कुछ विशिष्टता देखी गयी तब मुझे साहस हुआ कि मैं अपनी 'प्रवास की डायरी' भी प्रकाशित करा दूँ जो सहज रूप में लिखा मेरा गद्य था। पर मेरे नियमित गद्य लेखन की शुरुआत वहीं से हुई थी।

कविता के कई ड्राफ्ट बनाना कठिन नहीं है, कविता आकार में छोटी होती है, उसे लिखा, फिर सुधारा-सँवारा और उसे साफ किया और फिर उसे परिष्कृत किया और उसे अन्तिम रूप दिया। पर गद्य अगर इस प्रकार लिखा जाय तो बहुत मेहनत-तलब काम हो जाता है। फिर भी अगर अच्छा गद्य लिखना है तो प्रक्रिया यही है। इसे मैंने अपना शोध प्रबन्ध लिखते हुए जाना।

पहला ड्राफ्ट मैंने पेंसिल से तैयार किया, फिर उसे सुधारकर स्याही से लिखा, फिर उसकी टाइप करायी, फिर निर्देशक ने उस पर काट-कूट की फिर उसके सुधरे रूप की टाइप कापी बनवायी जिस पर दो और आलोचकों ने अपने सुधार के सुझाव दिये और तब मूलपाठ को अन्तिम रूप दिया गया। इस प्रकार सात ड्राफ्ट से गुजरकर जो थीसिस बनी, शुद्ध भी थी, सारगर्भित भी और यथा-वांछित गद्य का सौन्दर्य लिये हुए और कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी द्वारा वह डॉक्ट्रेट के लिए स्वीकृत हुई।

मुझे श्रेष्ठ गद्य लेखन की एक कुंजी मिली। मैंने आत्मकथा लिखते समय पहला ड्राफ्ट पैंसिल से तैयार किया। सुबह तीन-चार घण्टे पैंसिल से जल्दी-जल्दी जो मेरे मन में उठता था, लिखता जाता था।

पैंसिल घिस जाती थी, मेरा हाथ नहीं रुकता था। मेरी टेबिल पर कई पैंसिलें रखी रहती थीं और साथ में पैंसिल बनाने की एक मशीन भी लगी हुई थी जो आधे मिनट में पैंसिल बारीक बना देती थी। लिखते समय एक मिनट का व्यवधान भी मुझसे सहन न होता था और न किसी के द्वारा व्याघात पहुँचाया जाना। अपनी पत्नी को मैंने कह दिया था कि घर में आग लग जाये तो मुझे बता दिया जाय, उससे पूर्व किसी बात से मुझे रोका-टोका न जाये।

दूसरे वक्त पाँच-छह पेज पैंसिल ड्राफ्ट को काट-छाँटकर मैं दो पेज का मैटर तैयार करता था और उसे सफाई से लिखकर अन्तिम रूप देता था। बाद को उसे मेरे एक मित्र पढ़ते थे और अपने सुझाव देते थे। और फिर काफी सुधार-परिष्कार होता था। उसी ड्राफ्ट को टाइप के लिए दिया जाता था।

पहले दो खण्डों को लिखते समय, विशेषकर पहले खण्ड को, मैंने केवल श्रुति-स्मृति का आधार लिया था, यानी जो-जो मैंने अपने बड़ों से सुना था या जो मुझे याद था। मेरी स्मृति बुरी नहीं है। दूसरे खण्ड के लिए पृष्ठभूमि मेरी कविताओं की थी, मैं अपने जीवन का विकास सूक्ष्म-भावनाओं से क्रमशः अभिव्यक्त करता आया था। उनसे स्थूल घटनाओं का जाग्रत कर लेना मेरे लिये मुश्किल न था। तीसरे खण्ड के लिए मेरी डायरी थी, मेरी थीसिस थी, कैम्ब्रिज में लिखी कविताएँ थीं और घर-परिवार से हुआ बहुत-सा पत्र-व्यवहार था। विदेश यात्रा सम्बन्धी

और बहुत-से कागज पत्र थे, पर उन्हें एक बार सरसरी निगाह से देख लेने के बाद लिखते समय मैंने उन्हें नहीं जाँचा-परखा। प्रक्रिया वही थी, सुबह पाँच-छह पेज पैंसिल से लिखना और शाम को दो पेज को अन्तिम रूप देना।

इस प्रकार लगभग 1000 पृष्ठों की आत्मकथा लिखने के लिए मैंने कम से कम 3000 पृष्ठ लिखे होंगे। मैं समझता हूँ कि उस प्रक्रिया से मेरे गद्य में कसाव आया है, सांकेतिकता आयी है और अर्थगर्भिता आयी है।

'गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार' और आत्मकथा लिखने के मेरे उद्देश्य से लेकर उसे सफेद-काले रूप में प्रस्तुत करने तक अनेक गुण-दोष देखे जा सकते हैं। देखना शायद सहज भी होगा। क्योंकि कभी कुछ मैंने किया हो कि न किया हो, एक काम मैंने नहीं किया — अपनी लेखनी के साथ बेईमानी, और उसी से वह मेरे गुण जैसे मेरे दोष अधिक स्वाभाविक रूप में व्यक्त करती चली गयी है। ऊपर मैंने जो कहा है कि मेरे गुण-दोष देखना 'सहज' होगा, वह उसी बात को ध्यान में रखकर अपनी आत्मकथा लेखन की प्रक्रिया के विषय में और मुझे कुछ कहना नहीं है। बशर्ते आप ही कोई और सवाल न उठाएँ। अन्त में बैंजामिन फ्रेंकलिन का एक कथन उद्‌धृत कर इस लेख को समाप्त करना चाहूँगा, 'इफ यू वुड नॉट बी फोरगाटन ऐज़ सून ऐज़ यू आर डेड, ईदर राइट समथिंग वर्थ रीडिंग आर डू समथिंग वर्थ राइटिंग।'

(अगर आप चाहते हैं कि मरणोपरान्त आपको दुनिया जल्दी न भुला दे तो कुछ ऐसा लिखें जो पढ़ने योग्य हो, या कुछ ऐसा करें जो लिखने योग्य हो।)

[1978]

रंग बरसै, भीगै चुनरवाली, रंग बरसै…

अगर मुझसे कोई कहे कि चार शब्दों में हिन्दू की परिभाषा कर दो तो मैं कहना चाहूँगा कि हिन्दू एक त्यौहार बनानेवाली जाति है। सालभर में जितने त्यौहार हिन्दू मनाते हैं, उतने संसार में शायद ही कोई और जाति मनाती हो, हिन्दू के लिए जीवन त्यौहार है, महोत्सव है।

हिन्दुओं के त्यौहारों के स्रोत उनके धर्म, पुराण, इतिहास, लोकजीवन, ऋतु-परिवर्तन आदि में सहज देखे जा सकते हैं। उनके कुछ त्यौहार पारिवारिक हैं, कुछ कई परिवार के साथ मिलकर मनाने के हैं, कुछ विशेष वर्गों, सम्प्रदायों, उपजातियों के हैं और कुछ सामूहिक रूप से मनाये जाते हैं, जिसमें अपने को हिन्दू कहनेवाला सारा समाज सम्मिलित होता है। होली ऐसा ही त्यौहार है।

हिन्दुस्तान जैसे लम्बे-चौड़े देश में बसे होने के कारण, इस त्यौहार की मनोभूमि अथवा स्पिरिट एक होने पर भी, लोग इसे देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार से मनाते हैं। काल-क्रम में इसे मनाने के तौर-तरीकों में परिवेश, परिस्थितियों के बदलने के साथ, परिवर्तन भी होता आया है।

तो आइए मेरी सुधियों के सहारे आज से लगभग आधी शताब्दी पहले के उत्तर भारत के प्रसिद्ध नगर इलाहाबाद के एक मुहल्ले में, और देखिए वहाँ होली कैसे मनायी जाती थी।

इलाहाबाद का मुहल्ला चक, इलाहाबाद के चौक के करीब, डेढ़-दो सौ घरों

की बस्ती, लगभग एक हजार की आबादी, एक चौथाई मुसलमान-तुर्कानें में—शेष हिन्दू बह्मन टोली, कँथाना, अहिरना, कछियाना, चमरौटी, हाता कहारान में बँटे, बसे, बीच-बीच में एक-दो घर बनिया, हलवाई, बारी, तेली, कुम्हार, सोनार के, ईसाई वहाँ एक न था। खत्री का एक घर था, एक बंगाली का।

होली की पहली आहट हमें बसंत पर मिलती। 'यह बसंत सब कर त्यौहारू' —जायसी।

उच्च वर्ग बसन्त सरस्वती-पूजा के रूप में मनाते। निम्न वर्ग बसन्ती झण्डा गंगाजी को चढ़ाने ले जाता बाजे-गाजे के साथ। कुम्हार सरस्वती की प्रतीकात्मक प्रतिमाएँ घरों में पहुँचाते। पाँच मिनट में चिकनी मिट्टी से जैसी सरस्वती प्रतिमा वे बना देते वह नयी कला के लिए अनुकरणीय अथवा प्रेरणा बन सकती थी। प्रतिमा को पीला ऐपन चढ़ता, पीले कपड़े पहनाये जाते और उन्हें जो भोग लगाया जाता, उसे भी केसर डाल कर पीला कर दिया जाता, पीले रंग की खीर, हलवा या मिठाई जो हलवाई उस दिन के लिए खास बनाते, पुरोहित घरों में आकर पूजा करवाते।

या कुन्देन्दुतुषार हार धवला''' पहले पहल उसी पूजन से सीखा था। लोग एक न एक पीला वस्त्र जरूर पहनते, लड़कों के लिए बसन्त का महत्व इसलिए होता, क्योंकि उस दिन रेंड का एक पेड़ काटकर लाया जाता और उस जगह पर गाड़ दिया जाता, जहाँ होली जलायी जाने को होती। और बसन्त से हर रात को लड़कों की टोली निकलती—चोरी कर होली रचने को काठ-कवार जुटाने के लिए। प्राय: लोग अपने घर की पुरानी चीजें घर के बाहर कर देते या कभी असावधानी से पड़ी ऐसी चीजें चुपके से उठाकर होली के ढेर में डाल दी जातीं। असहयोग आन्दोलन के दिनों में ढेरों पर बाँस पर टँगी पुरानी हैट भी दिखायी देती—विदेशी सरकार के प्रति जनता का विद्रोह बताती-सी।

रातों को कछियाना, अहिराना, हाता-कहारान से ढोल या हुड़ुक पर फाग-राग की प्रतिध्वनियाँ मुहल्ले भर को गुँजाये रखतीं, उनकी मस्ती सफेदपोशों की नींद हराम करती और वे रात जागरण कर सवेरे कैसे अपने-अपने काम पर चले जाते, आश्चर्य होता। उनकी याद मैंने इंग्लैण्ड में बैठे हुए अपनी एक कविता में की थी :

> प्रात: से सन्ध्या तक पशुवत्
> मेहनत करके
> चूर-चूर हो जाने पर भी,
> एक बार भी तीन सेकड़ा पैंसठ
> दिन में,
> पूरा पेट न खाने पर भी,
> मौसम की मदमस्त हवा पी
> जो हो उठते,
> हैं मतवाले, पागल, उनके
> फाग-राग ने रातों रक्खा
> नहीं जगाये,
> कैसे समझूं मधु ऋतु आयी?
> बौरे आमों पर बौराये भौंर
> न आये,
> कैसे समझूँ मधु ऋतु आयी?

होली और नजदीक आती तो डफाली गलियों में घूमते नजर आते। नयी ढोलकें बेचते या पुरानी ढोल, खंझाड़ियों, डफों पर नये चमड़े मढ़ते। घर-घर में ढोलकें-मजीरे गिरिस्ती के सामान के अनिवार्य अंग समझे जाते थे।

हफ्ता भर होली को रह जाता तो बाजार में बनियों की दूकानों पर अबीर-गुलाल के ढेर लग जाते, टेसू के सूखे फूलों के बोरे खुल जाते, टीन-पीतल की पिच-कारियाँ बिकने के लिए टँग जातीं। तब टेसू के फूलों से बना रंग ही अधिक चलता था।

होली के दो-तीन दिन पहले घरों में होली के खास पकवान बनने शुरू हो जाते—गुँझिया, पेड़किया, समोसे, पापड़—उनके काटने, तलने की सुगन्ध से गलियाँ महक उठतीं। आलू-सेम के राई-पानी के अचार पड़ते। बारी लोग छोटी-छोटी पत्तलें और कुम्हार पुरवे घर-घर पहुँचाते। होली पर मेहमानों की खातिर, इन्हीं घर के बने पकवानों-अचारों से की जाती। काम और गान को हमारी ग्रामीण सभ्यता ने साथ जोड़ रखा है। हाथ काम में लगे हैं और कण्ठ से राग उठ रहा है। गली में गूँजते स्वर बताते कि गुँझिया भरी गोठी जा रही है। पापड़ बेले जा रहे हैं, अचार का मसाला पिस रहा है—

सिर धारे मुकुट खेलैं होरी
सिर धारे मुकुट खेलैं होरी,
चल होरी अँगनैया में खेलौं,
राधा कन्हाई की है जोड़ी
सिर धारे मुकुट खेलैं होरी,

और फिर राधा-कन्हाई की जगह पति-पत्नी या देवर-भौजाई का नाम जोड़-जोड़कर गीत बढ़ाया जा रहा है। गीत की लय ही बताने के लिए पर्याप्त है कि काम तेजी से हो रहा है···अपना काम खत्म करो और पड़ोसिन के यहाँ जाकर उसके काम में हाथ बटाओ।

मंगल पण्डित लड़कों की टोली बनाकर झोली कन्धे पर डाल घर-घर जाते हैं—होली में लकड़ी के कुन्दे डालने के लिए चन्दा माँगने। हाथ में डफ है। एक पंक्ति वे बोलते हैं, फिर सब लड़के साथ दुहराते हैं।

आई होली आई
होली की बधाई
होली टोली आई
निकलो राम की माई

(राम की जगह और-और नाम जुड़ते हैं)

सब बच्चों को देव असीस
बच्चे जीवें लाख बरीस
जीवें लाली, जीवें लाल,
होली खेलैं सालों साल
उड़ै अबीरा उड़ै गुलाल
ला झोली में नामे डाल।

(रुपये का 'नामे' नाम अब अप्रचलित होता जाता है)

अब रात हो चुकी है। पूर्णमासी का चाँद आसमान में उठ रहा है। लकड़ी के बड़े-बड़े कुन्दे होली के ढेर में डाल दिये हैं। लोग ढोल-डमीरे लेकर चारों ओर खड़े हो गये हैं।

लो ! होली जला दी जाती है।

लपालप लपटें ऊँची से ऊँची उठती हैं। लोग एक साथ आवाज लगाते हैं। होली है ! होली ! ! और फिर भद्दी अश्लील गालीभरी कबीरें गायी जाती हैं। होली पर गाली गाने की एक कथा है—हिरण्यकश्यप की बहन थी। वह निष्कलंक थी और इसी कारण वह आग में नहीं जलती थी। हिरण्यकश्यप ने उससे कहा कि तू प्रह्लाद को गोद में लेकर आग में बैठ जा, वह तो जल जायेगा और तू बच जायेगी। जब वह प्रह्लाद को लेकर आग में बैठी तो उसे कलंकित करने के लिए लोगों ने उस पर गालियों की बौछार की। उस प्रकार कलंकित होने के कारण होलिका आग में जल गयी और प्रह्लाद बच गया। उसी की याद में होली का त्यौहार मनाया जाने लगा और गाली गाना उस त्यौहार का अंग बन गया।

मुहल्ले के नवयुवकों में आर्य समाजी प्रभाव बढ़े तो उन्होंने कहना शुरू किया कि अब हम कूड़ा-करकट नहीं जलायेंगे, हवन करेंगे। गाली नहीं बकेंगे, वेद मन्त्र पढ़ेंगे।

बूढ़े-पुरानियों ने समझौता करवाया, पुरानी तरह की होली भी जले, नयी तरह का हवन भी हो। अपनी इसी सहिष्णुता के कारण तो हिन्दू जाति युग-युग से जीती चली जाती है। गली के एक किनारे होली जलती है, दूसरे किनारे हवन होता है।

गायत्री मन्त्र पढ़कर आहुति दी जाती है। 'ओं भूर्भवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गोदिवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात।'

मंगल पण्डित मुँहफट हैं और आज तो उनका कहा सब माफ है और वे थोड़ा उच्चारण बदल कर गायत्री का अन्तिम भाग दुहरा देते हैं ! हँसी से लोग लोट-पोट हो जाते हैं।

हर साल की तरह होली जलने लगी, हवन भी होने लगा, पर जो उल्लास, जो मस्ती होली के चारों तरफ है वह हवन में कहाँ ?

अलस्सुबह लोग होली पूजन के लिए जाते हैं। हाथ में 'बर्र' ले जाते हैं। 'बर्र' एक प्रकार के काँटेदार फूलों की छड़ी, जिसमें गेहूँ की हरी बालियाँ होरहे की डालियाँ भी बँधी रहती हैं और एक दिन पहले बाजारों में बिकने आती हैं। 'बर्र' को थोड़ा जला-बुझाकर लाया जाता है। बच्चे अधजले गेहूँ चने प्रसाद की तरह खाते हैं। होली में कुछ लोग छोटे सूखे उपलों की माला डालते हैं। कुछ लोग थोड़ा-थोड़ा घर का बना होली का पकवान।

अब दिन चढ़ता है, और रंग चलता है।

घर के अन्दर, घर के बाहर, आँगन में, बरामदों में, गली-कूचों में, यानी कहाँ नहीं ? जिसे भी पाओ नहलाओ, गुलाल से मुँह रँगो, सब रंग में सराबोर, दीवारें भी नहीं बचीं। गलियों, घरों में कीचड़ ही कीचड़ हो गया है। लपट-झपटकर गले-मिलौअल, भागना, पिछुआना और रह-रहकर आवाज लगाना, होली है ! होली है ! !

दोपहर अब होने को है।

रंगों से टब अधखाली हो गये हैं। अबीर-गुलाल भी खत्म हो गये हैं। लोगों का जोश-खरोश कुछ ठण्डा पड़ा है, तो होरिहारों की टोलियाँ निकली हैं ढोल-मजीरों के साथ गाती हुई,—यह बह्मन टोली है—

होली खेलैं रघुबीरा अवध में
होली खेलैं रघुबीरा।

वाणी को ऐसे विचारों का वाहन बनाना ही कवि के लिए श्रेयस्कर है जिनसे भारत-वासियों का और मानवों का कल्याण हो।

पन्तजी केवल विचार देकर सन्तुष्ट न थे। 'ज्योत्स्ना' में उन्होंने जिस मानव भविष्य का स्वप्न देखा था उसके लिए कुछ करना भी चाहते थे। 1942 में उन्होंने 'लोकायतन' नाम की एक संस्था स्थापित करने की योजना बनायी, परन्तु दमन के उस काल में उसके लिए किसी ने उत्साह न दिखाया। पन्तजी ने कुछ समय प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर के साथ बिताया, उनके 'कल्पना' नृत्य-चित्र में सहयोग दिया, जो मद्रास में बना था। वहीं से वे निकटस्थ पाण्डिचेरी की ओर आकर्षित हुए जहाँ सन्त अरविन्द का आश्रम था। कुछ वर्ष पूर्व ही वे अरविन्द दर्शन से परिचित हो चुके थे, अब उन्होंने अरविन्द के दर्शन किये और कई मास आश्रम में रहे भी। यहाँ उन्होंने अरविन्द की नयी दृष्टि से वेदों और उपनिषदों का अध्ययन किया। अरविन्द के आशावादी आध्यात्मिक विकास-दर्शन से पन्तजी बहुत प्रभावित हुए। 'ज्योत्स्ना' में कल्पना और स्वप्न ने जो उन्हें दिया था उसे अब तर्क का सुदृढ़ आधार मिल गया। उन्हीं दिनों वे रचनाएँ लिखी गयीं जो 1947 में 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' के नाम से प्रकाशित हुईं। 'स्वर्ण किरण' पर अरविन्द-दर्शन छा गया है। कवि गायक से विचारक हुआ था, अब वह दार्शनिक हो गया है। जिन सत्यों के विषय में वह लिखना चाहता है वे बहुत सूक्ष्म हैं, वे हृदय से नहीं ग्रहण किये जाते, बुद्धि से नहीं पकड़े जाते, आत्मा में अनुभव किये जाते हैं। कवि प्रतीकों का सहारा लेता है। अपरिचित को परिचय की भूमि पर उतारना बहुत कठिन काम है। परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि पन्तजी को इस कठिन कार्य में जितनी सफलता मिली उतनी शायद ही किसी और को मिल सकती थी।

इस काल में पन्तजी की दृष्टि अन्दर ही नहीं बाहर भी थी। 'स्वर्ण धूलि' की बहुत-सी रचनाओं का धरातल सामाजिक अथवा राष्ट्रीय है। लगभग आधी पुस्तक में वेदों के प्रसिद्ध मन्त्रों के अनुवाद हैं। विकास के क्रम में प्रलय, सृजन, संघर्ष सब कुछ निहित है। 1950 में प्रकाशित 'उत्तरा' में मानव मनोजगत् में चलनेवाले इस सूक्ष्म संघर्ष को वाणी देने का प्रयत्न है। आध्यात्मिक संघर्ष और विकास का क्रम बिना भगवान की कृपा-करुणा के आगे नहीं बढ़ता। मनुष्य प्रयत्न करके ऊपर उठे, पर भगवान भी थोड़ा झुककर उसका हाथ थामे, तभी सफलता मिल सकती है। इसके लिए आत्मसमर्पण की आवश्यकता है। 'उत्तरा' की अन्तिम कविताओं में इस आत्मसमर्पण का प्रयत्न है। इन गीतों में राग तत्त्व कुछ उभरा है, पर तन्मयता की भावना की कमी है। 'ज्योत्स्ना' के बाद पन्तजी ने अपनी चेतना में बुद्धि को मेहमान बनाकर बिठाला था, अब वह उसमें घर कर गयी है।

1950 से '57 तक पन्तजी रेडियो के हिन्दी नियोजक के रूप में कार्य करते रहे। इस बीच उन्होंने कुछ रूपक लिखे जो 'रजत शिखर' और 'शिल्पी' में संगृहीत हुए। 'युगपथ' में युगीन् समस्याओं एवं प्रेरणाओं पर कविताएँ हैं, 'अतिमा' में उस पराशक्ति का गान है जो अज्ञात, पर निश्चित रूप से, मानव का विकास कर रही है। उनकी नवीनतम रचनाएँ हैं 'सौवर्ण', 'वाणी' और 'कला और बूढ़ा चाँद'। 'सौवर्ण' में उस मानव की कल्पना है जो आगे आनेवाला है। 'वाणी' में विश्व के विकास को समझने और उसे निर्दिष्ट करने का प्रयास है। 'कला और बूढ़ा चाँद' पद्य की तरह छपा है, पर गद्यकाव्य है। मुक्त छन्द को विकृत होते देख उन्होंने छन्द की पायल उतार प्रतीकात्मक गद्य में बोलना प्रारम्भ कर दिया है।

पन्तजी की विचारधारा के मूल सूत्र ये हैं—संसार उन्नति और विकास की

ओर जा रहा है, उसका परिचालन एक पराशक्ति द्वारा हो रहा है जो उसे भटकने न देगी, मनुष्य का विकास बाहर-भीतर दोनों दिशाओं में होना है, जिसे वे 'बहिरन्तर-संयोजन' कहते हैं। मनुष्य को बाहर फैलाना और भीतर उठना है। उसे राष्ट्र, जाति, वर्ग के ऊपर मनुष्य बनना है; वाह्य जीवन के समस्त साधनों को विकसित करने के लिए श्रम करना और अन्तर्जीवन को समझने के लिए साधना करनी है; क्योंकि बिना अन्तर्जीवन को समझे बहिर्जीवन न संयोजित हो सकता है न उन्नतिशील बन सकता है। पन्तजी के काव्य को पढ़ और उनके विचारों को जानकर उन्हीं के शब्दों में यह कहने को जी करता है—

ओ: वह कोई क्रान्तदृष्टि कवि लगता निश्चय,
लोक प्रेम के महत् ध्येय से प्रेरित हो जो
सूर्य मनस में देख रहा मानव भविष्य को, —**सौवर्ण**

पन्तजी की कविता में आत्म-चित्रण

किसी की कविता में रुचि हो तो प्राय: उसके जीवन में भी पाठक की रुचि होती है। कारण यह है कि कविता का कवि के जीवन के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। विज्ञान का सम्बन्ध वैज्ञानिक के मस्तिष्क मात्र से होता है, कविता का कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से। फिर भी बड़े आश्चर्य की बात है कि संसार के अनेक बड़े कवियों के विषय में हम बहुत कम जानते हैं। न कवियों ने ही अपने विषय में लिखा और न उनके समकालीनों ने ही उनके सम्बन्ध में। उनकी कविता से उनके विषय में कुछ जानने के प्रयत्न प्राय: विफल हुए हैं। कुछ कवियों की कला अपने को अपनी कविता में शून्यवत् कर देने की रही है। यूनान के कवि होमर के विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है :

Full seven villages claimed for Homer dead,
Through which blind Homer begged his daily bread.

कालिदास का जीवन-काल और जन्म-स्थान आज तक अनिश्चित है। इस देश के चारों कोने उन्हें अपने यहाँ का बताते हैं—कश्मीर, मिथिला, केरल और मालवा। शेक्सपियर की सत्ता के आगे आज तक प्रश्नवाचक चिह्न लगा है। उनके नाम की वर्तनी, डाक्टर अमरनाथ झा ने एक बार बताया था, अस्सी प्रकार से मिलती है। दूर की छोड़िए, अकबर के समकालीन महाकवि तुलसीदास के विषय में ही हम कितना जानते हैं! अभी तो इसी का निर्णय होना बाकी है कि वे राजापुर में पैदा हुए थे कि सोरों में। इसी प्रकार विगत काल के बहुत-से कवियों के विषय में हमारा ज्ञान सतही, अधूरा या नहीं के बराबर है।

आधुनिक काल अधिक, इतिहास नहीं तो सूचना-सचेत है। समाज में किसी प्रकार की प्रमुखता प्राप्त करनेवाला किसी-न-किसी के Who is Who में स्थान पा जाता है। फिर, उन्नीसवीं सदी के रोमानी-पुनर्जागरण में कवि ने अपने को बड़ी महत्ता दी। प्रजातन्त्र के तूफ़ान में राजाओं के मुकुट और सामन्तों के दस्तार उड़ते देख उसने अपने को unacknowledged legislator of the world होने की घोषणा की। मिल्टन ने कहा था, जो अच्छा लिखने के प्रयास में असफल नहीं होना चाहता उसे स्वयं एक सच्ची कविता बन जाना चाहिए। अगले कदम पर कवि ने

अपने आपको कविता का विषय बना लिया। अपने यहाँ तुलसीदास ने नर की मंसबदारी अस्वीकार कर और प्राकृत-जन-गुणगान को गर्हित करार दे, राजाओं और सामन्तों को पहले ही से वाणी के दरबार से अपदस्थ कर दिया था। भारत के नव-जागरणकाल में कवि ने अपने को नेताओं से कम नहीं समझा। उसने अपनी महत्ता पहचानी, अपने को महत्त्व दिया। गांधी के साथ टैगोर भी पुजते रहे।

यह था वह वातावरण जिसमें छायावादी कवियों ने साँस ली। कवि की अपनी भावना, अपनी कल्पना, अपने विचार, अपना जीवन, अपनी परिस्थिति, अपनी मन:स्थिति, अपने सुख-दु:ख, अपना संघर्ष कविता के विषय बन गये। ऐसा करने में कभी तो वह जन-भावना, जन-जीवन का प्रतीक बना और कभी अपने व्यक्तिगत जीवन को ही चित्रित करने लगा। वह जनता की श्रद्धा का पात्र था, इसलिए वह उसके व्यक्तिगत जीवन में भी रुचि लेती रही, उसके प्रति जिज्ञासु बनी रही। वर्ड्सवर्थ की 'प्रिल्यूड' ऐसी एक कविता में यह प्रवृत्ति संश्लिष्ट तो नहीं हुई, पर कवियों के रचनाकाल में जब-तब यह बराबर अभिव्यक्ति पाती रही और उनके जीवन की कोई न कोई झलक देती रही। यहाँ तक कि कुछ कवियों की रचनाओं के बल पर ही उनके जीवन का पूरा खाका खींचा जा सकता है। जब मैं यह लिख रहा हूँ तब विशेषकर मैं श्री सुमित्रानन्दन पन्त के बारे में सोच रहा हूँ। अवश्य ही हम उस वर्ग के कवि से बहुत दूर चले आये हैं जिसकी रचना अपने निर्माता का कुछ भी अता-पता नहीं देती।

तो आइये, छायावाद के सर्वाधिक सक्रिय कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त से उनकी जीवन-कथा उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

> धरती पर जब शिशु ने पहिले आँखें खोलीं !···
> नव प्रभात बेला थी, नव जीवन अरुणोदय,
> विगत शती थी भुक्तप्राय, युग सन्धि का समय !

—**अतिमा**

पन्तजी का जन्म मई, सन् 1900 में हुआ, जब उन्नीसवीं सदी को समाप्त होने में केवल सात महीने शेष थे।

> जन्मभूमि, प्रिय मातृभूमि की शीर्षरत्न, शत स्वागत !
> हिम सौन्दर्य किरीटित जिसका शारद मस्तक उन्नत
> × × ×
> देख रहा था खड़ा निकट ही हिमवत् नव जन्मोत्सव,
> गौरव से उन्नत कर मस्तक, बरसा आशीर्वैभव !

—**अतिमा**

उनका जन्म-स्थान अल्मोड़े ज़िले का कौसानी नामक ग्राम था :

> आरोही हिमगिरि चरणों पर
> रहा ग्राम वह,—मरकत मणि कण,
> श्रद्धानत,—आरोहण के प्रति
> मुग्ध प्रकृति का आत्मसमर्पण !

—**वाणी**

और उनके जन्म के कुछ ही घण्टे बाद उनकी माता का देहावसान हो गया था।

> नियति ने ही निज कुटिल-कर से, सुखद
> गोद मेरे लाड़ की थी छीन ली;
> बाल्य में ही हो गयी थी लुप्त हा ?
> मातृ-अंचल की अभय-छाया मुझे।

—**ग्रन्थि**

ओस हरी ही थी, तृण तरु की पलकों पर जल,
मातृ चेतना शिशु को दे प्राणों का सबल
अन्तर्हित जब हुई,—भाग्य छल कहिए विधि बल !!
जन्म मरण आये थे सँग-सँग बन हमजोली,
मृत्यु अंक में जीवन ने जब आँखें खोलीं ! —**अतिमा**

पर पिता कैसे थे, जन्म कैसे परिवार में हुआ था ?—

मध्यवित्त गृह सुख में जन्मा,
धर्मप्राण पा पिता महा मन,
शिखर अपर वात्सल्य स्नेह के,
गौर, शंख मन्दिर सा प्रिय तन ! —**वाणी**

पन्तजी का बचपन हिमाद्रि की शुभ्र छाया में पली हरी-भरी घाटी में बीता :

मानदण्ड भू के अखण्ड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
... ...
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन,
... ...
बाल्य चेतना मेरी तुममें
जड़ीभूत आनन्द तरंगित, —**स्वर्ण किरण**

छुटपन से विचरा हूँ मैं इन धूपछाँह शिखरों पर,
दूर, क्षितिज पर हिल्लोलित-सी दृश्य पटी पर निःस्वर
—**अतिमा**

और उन्हें उस घाटी में विन्दाल नदी की भी याद है :

सखी ! सूखी विन्दाल
सन्मुख बहती है वह नीरव,
निःसलिला कंकाल ! —**वीणा**

और उनके लड़कपन में देश के वातावरण में कौन-सी हलचलें थीं ? उन्हें याद है--

मा अल्मोड़े में आये थे
जब रार्जषि विवेकानन्द, —**वीणा**
× × ×
रामकृष्ण औ' रामतीर्थ के
वचनाऽमृत से थी भू प्लावित,
पुनर्जागरण का युग था वह
भारतीय दर्शन का जग हित !
खोल मध्य युग के अवगुण्ठन
पौराणिक संस्कृति के बन्धन,
गरज रहे थे अन्तर उर्वर
दीप्त विवेकानन्द वचन घन ! —**वाणी**

साथ ही राष्ट्र-स्वतन्त्रता और राष्ट्रभाषा के आन्दोलन के प्रारम्भ की भी स्मृति उन्हें है :

देश भक्ति के साथ मोहिनी
मन्त्र मातृभाषा का पाकर
प्रकृति प्रेम मधुरस में डूबा
गूँज उठा प्राणों का मधुकर !

—वाणी

और जब उनके प्राणों का मधुकर गूँजा तो उसने प्रेरणा किससे ली थी ? 'अशोक वन' के समर्पण में वे कहते हैं—

योग्य नहीं कुछ भेंट : आप चिर मैथिली शरण,
गीत मैथिली के गा छूता स्नेह से चरण !
शैशव ही से रहा आपके प्रति आकर्षण
ललित भणिति का किया प्रीतिवश चपल अनुकरण !
... ...
सरस्वती से स्वयं आप का सुन वीणा क्वण
कर्ण बन गये जन के प्यासे जह्नु के श्रवण !

—स्वर्ण किरण

यह 'सरस्वती' पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' है जिसने पूरी एक पीढ़ी को हिन्दी में दीक्षित किया।

अल्मोड़ा, बनारस में अपनी शिक्षा समाप्त कर वे इलाहाबाद के म्योर कालेज में भरती हुए और हिन्दू होस्टल में रहने लगे।

इस विस्तृत हौस्टल में
मैं सुनती हूँ
मेरा भी है सखि ! छोटा-सा रूम,
जहाँ मेरी आकांक्षा-सूम
गूँजती है प्रतिपल को तूम !
इन असंख्य मृदु-कण्ठ-स्वरों में,
मिला हुआ है अलि ! मेरा भी
कम्पित-स्वर अति-दीन,
रुँधी-दुर्बलता की ध्वनि क्षीण
डूबती है जिनमें हो लीन !

—वीणा

क्रिया के स्त्रीलिंग से चौंकें मत। छायावादी कवि प्रारम्भ में प्राय: अपने को स्त्री मानकर परम पुरुष के जिज्ञासु बने थे। इतना तो आपको पता लगा होगा कि पन्त-जी तन से दुर्बल और स्वर से क्षीण थे। रूप से ? 'नारी रूप' :

घने लहरे रेशम के बाल—
धरा है सिर में मैंने, देवि !
तुम्हारा यह स्वर्गिक श्रृंगार,
स्वर्ण का सुरभित-भार।

—पल्लव

बाल उनके लड़कपन में भी बड़े प्यारे थे—

धूलभरे, घुँघराले, काले,
भय्या को प्रिय मेरे बाल,

— पल्लव

पन्तजी प्रयाग में 1919 में आये। असहयोग आन्दोलन 1920 में आरम्भ हुआ। 1921 में उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी :

तब पहिला ही असहयोग था,
बापू के शब्दों से प्रेरित

विदा छात्र जीवन को दे मैं
करने लगा स्वयं को शिक्षित ! —**वाणी**

इसके थोड़े दिनों बाद पारिवारिक परिस्थिति के बिगड़ने के कारण पिता का घर बिका, जिसने भौतिक सत्ता के प्रति अनास्था उत्पन्न कर दी।

इन्हीं दिनों मोहान्ध क्षुब्ध मन
मुक्त हो गया भव बन्धन से,
बिला गयी हो भौतिक सत्ता
गुण्ठन सा उठ गया नयन से।
दृढ़ प्रस्तर प्रासाद पिता का
मेघ खण्डवत् लीन गगन में
बता गया,—जड़ में जीवन की
नींव न गहरी, वह चेतन में।
... ...

सहसा प्रातः उठकर जाना
अब घर द्वार नहीं, निर्जन मग ! —**वाणी**

और इन पंक्तियों में पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पन्तजी के प्रथम किशोर-प्रणय का संकेत देखिए—

पेटिका दुहरी पिता के यत्न की
पंचदश में खो, स्व-मातुल के यहाँ
उन दिनों मैं था, कृपण के दान-सी,
दैव से जब प्रेमिका मुझको मिली। —**ग्रन्थि**

और प्रकृति की रंगस्थली में प्रेम का वह दुःखान्त नाटक 'आँसू' और 'उच्छ्वास' में अंकित है :

अभी पल्लवित हुआ था स्नेह,
लाज का भी न गया था राग;
पड़ा पाला-सा हा ! सन्देह,
कर दिया वह नव-राग विराग ! —**पल्लव**

वियोगी कवि हो गया। आह से गान उपजा। प्रकृति दर्शन से उसने मन को समझाया :

हाय री दुर्बल भ्रान्ति ! —
कहाँ नश्वर जगती में शान्ति ?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति !
... ...

—यही तो है असार संसार, —**पल्लव**

× × ×

वेदना ही है अखिल-ब्रह्माण्ड यह, —**ग्रन्थि**

इस दुखी कवि को एक मित्र की सहानुभूति मिली :

इसी समय कालाकाँकर के
स्नेह द्वार खुल गये अचानक,
शान्ति वास था मुझे अपेक्षित
जीवन का था पान्थ गया थक। —**वाणी**

वहाँ जिस 'काटेज' में वे रहते थे उसका नाम था 'नक्षत्र' :

मेरे निकुंज, नक्षत्र वास !
इस छाया मर्मर के वन में
तू स्वप्न नीड़-सा निर्जन में
है बना प्राण पिक का विलास । —ग्राम्या

और वहाँ रहते हुए कवि का अन्तर क्या सँजोता रहा ?

कितनी आशाएँ, मनोल्लास,
संकल्प महत्, उच्चाभिलाष,
तुझमें प्रतिक्षण करते निवास,—
है मौन श्रेय साधन प्रयास ! —ग्राम्या

इस साधन प्रयास में उसे अपना सुख-दुःख भूल गया। संसार के सुख-दुःख को समझने की चाह जगी :

अन्धकार क्या रे, प्रकाश क्या,
एक हृदय के अश्रु हास क्या,
× × ×
व्यर्थ व्यक्ति मन का निशि पीड़ित उन्मन गुंजन, —वाणी

देखूँ सबके उर की डाली—
किसने रे क्या-क्या चुने फूल
जग के छवि उपवन से अकूल ?
इसमें कलि, किसलय, कुसुम, शूल ! —गुंजन

'सब के उर की डाली' देखने पर कवि को अनुभव हुआ :

लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
... ...
चाहिए विश्व को नव-जीवन, —गुंजन

और उसने नवजीवन का स्वप्न 'ज्योत्स्ना' में दिया। वहाँ कवि कुमार के रूप में स्वयं पन्तजी हैं। नाम में भी संकेत है—कुमार—अविवाहित।

कुमार गोरा, लम्बा, इकहरे क़द का युवक है। लम्बे, सुनहले, घुँघराले, बाल, खुले गले का, ढीला, लम्बा, सफ़ेद रेशमी कुरता; चौड़े मोहरे का रेशमी पायजामा,··· —ज्योत्स्ना

और कुमार जो कविता पढ़ता है उसमें पन्तजी के जीवन-दर्शन का मूल सूत्र है :

मत हो विरक्त जीवन से,
अनुरक्त न हो जीवन पर, —ज्योत्स्ना

इस महान सन्देश की प्रतिध्वनियाँ आगे आती रही हैं :—

जीवन से होओ न विमुख।
वृक्षों-से ही बढ़ो अयास
सीख राग, फल-त्याग। —युगवाणी

निर्भीक बनो, साहसी, शक्त,
जीवन प्रेमी,—मत हो विरक्त। —युगान्त

पक्षपात से रहित मनुज हो विरत, विश्व में भी रत !—स्वर्ण किरण

जिस नव-जीवन का स्वप्न पन्तजी ने 'ज्योत्स्ना' में भाव भूमि पर सँवारा था उसी को 'युगवाणी' में तर्क भूमि पर सिद्ध कर उन्होंने कालाकाँकर से विदा ली।

राम राम,
है ग्राम देवता, रूढ़ि धाम ! ···
शिक्षक तुम, दस वर्षों से मैं सेवक, प्रणाम ! —**ग्राम्या**

अब उसी स्वप्न को कर्म भूमि पर उतारने के लिए उन्होंने 'लोकायन' की योजना बनायी :

दर्शन विज्ञान संग
ललित कला के षडंग
लोक गीत, नृत्य रंग
का प्रचार लोकायन !
सृजन कर्म जन साधन,
सृजन कर्म तप पूजन,
जीवन का सृजन पर्व
हो अपार लोकायन !
संस्कृति का नव सन्देश
युक्त करे निखिल देश,
जन मन का मिलन तीर्थ
हो उदार लोकायन ! —**अतिमा**

कवि ने बहुत मन को तपाया, बुद्धि को खपाया, हाथ-पाँव मारा, पर जनता उदासीन रही।

संस्कृति पीठ न हो क्यों जन भू
उतरी मन में स्वर्ण प्रेरणा
पंखों में ले लोकायन का
स्वप्न,—पर न साकार वह बना ! — **वाणी**

कवि नर्तक उदयशंकर के साथ 'कल्पना' चित्र में सहयोग देने को मद्रास चला गया और वहाँ समुद्र तट पर घूमते हुए अक्सर उसने सोचा :

आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित,
देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित ! —**स्वर्ण किरण**

× × ×

कौन सुनेगा पर मेरे ये तूती के स्वर
इस भीषण तर्जन गर्जन, कटु चीत्कारों के
निर्मम युग में, —**रजत शिखर**

इस आत्म-पराजय और निराशा की अवस्था में उसने पाण्डिचेरी में योगेश्वर अरविन्द के दर्शन किये। उसने अनुभव किया कि जिस सृजन का प्रयास वह बहिर्जीवन में कर रहा था तो अन्तर्जीवन में होना था और उसके लिए श्री अरविन्द अवतरित हो चुके थे। उसने उन्हें आत्म-समर्पण कर दिया।

रुद्ध द्वार कर मुक्त हृदय के, चिर तमसावृत,
अन्तर्जीवन सत्य कर दिया तुमने ज्योतित !

··· ··· ···

खोल अशेष रहस्य सृजन का तुमने गोपन
दिया विश्व को नव जीवन विकास का दर्शन ! ······

अन्न प्राण मन के त्रिदलों का कर रूपान्तर,
वसुधा पर नव स्वर्ग सँजोने आये सुन्दर !
... ...

मानव उर प्रच्छन्न तुम्हारा नव पद्मासन,
तन मन प्राण हृदय ये तुमको, देव, समर्पण —**स्वर्ण किरण**

कवि महात्मा गांधी के सांस्कृतिक संचरण से भी प्रभावित हुआ पर उसने यह अन्तर माना :

शुद्ध बने गांधीजी साधन,
साध्य सिद्ध युग के योगेश्वर, —**वाणी**

जीवन और साधना में लगे कवि को अब अनुभव हुआ,

साधक अब मैं नहीं,—नम्र आराधक भर हूँ !
साधक मेरे पूजनीय हैं, ऊर्ध्वारोही,—
समतलगामी जगत प्रणत है जिनके पद पर। —**रजत शिखर**

भावना की इस मंज़िल पर पहुँचते-पहुँचते कवि आधी शताब्दी पार कर गया :

कैसे तुमसे कहूँ, आज मैं अर्धशती के
ऊर्ध्व शिखर पर खड़ा मौन क्या सोच रहा हूँ !
उद्वेलित करतीं मुझको शत भाव तरंगें,
प्रेरित करते रश्मि स्पर्श स्वप्नों के उर को ! —**रजत शिखर**

50 वर्ष की अवस्था में कवि को आल इण्डिया रेडियो ने हिन्दी का नियोजक नियुक्त किया और उन्होंने अपने जीवन में पहली बार वेतन-भोगी होकर काम किया।

पंचदशोपरि ! सात वर्ष मैं
रहा नाभसी से सम्बन्धित,
गीति नाट्य से, स्वरित शब्द से
रहे प्राण आकण्ठ गुंजरित !
वह जन शिक्षा माध्यम सक्षम,
कवि रुचि मुक्त, समय क्रम बन्धन,
विद्युत ध्वनि लहरों पर वाहित
विश्व यन्त्र मन, तुझे शत नमन। —**वाणी**

नाभसी=रेडियो; नभस् का गुण शब्द, जिसे स्वीकार न करके रेडियो ने अपने को 'आकाशवाणी' के नाम से प्रचलित किया। चलती का नाम गाड़ी; वैसे 'आकाश भारती' नाम शायद अधिक उपयुक्त होता।

पन्तजी रेडियो को सौ बार नमस्कार कर, तीन वर्षों से अब उसके सम्मानित परामर्शदाता के रूप में प्रयाग में रह रहे हैं। उन्होंने पन्द्रह वर्ष की अवस्था से लिखना आरम्भ किया था और 45 वर्ष तक लिखने के बाद भी उनकी यही विनम्र अनुभूति है—

पूर्ण नहीं कर सका अभी तक
मैं प्रणिहित कवि कर्म धरा पर,
मानव उर में अंकित करने
गुह्य सत्य के अलिखित अक्षर ! —**वाणी**

परन्तु उस चिरन्तन 'गुह्य सत्य' को वाणी देने का प्रयास किसका सफल हुआ है, क्योंकि वह 'ज्ञान गिरा गोतीत' है। पन्तजी ने भी अनुभव किया है :

ओ रचने,
तुम्हारे लिए कहाँ से
ध्वनि, छन्द लाऊँ ?
कहाँ से शब्द, भाव लाऊँ ?
सब विचार, सब मूल्य
सब आदर्श लय हो गये।
केवल
शब्द हीन संगीत
तन्मय रस,—
प्रेम, प्रकाश और प्रतीति !
कहाँ पाऊँ रूपक,
अलंकरण, कथा ?
ओ कविते,
ये मन के पार के पवित्र भुवन हैं,—
यहाँ रूप रस गन्ध स्पर्श से परे
अवाक् ऊँचाइयों
असीम प्रसारों
अतल गहराइयों में
केवल
अगम शान्ति है ! **—कला और बूढ़ा चाँद**

शब्द कवि का साथ नहीं देंगे तो क्या वह सुन्न महल में दिवला जलाकर बैठ जायेगा, आसन से न डोलेगा, और पिया-मिलन का सुख भोगेगा ? पन्त का कवि जग का परिचय भुला पिया से परिणय नहीं करेगा।

…केवल स्वर शब्दों की ही
रिक्त साधना मात्र नहीं होती युग कवि की,
उसे साम्य संगति, सार्थकता भरनी होती
जीवन विश्रृंखलता में, सौन्दर्य खोजकर,
मानस कमल खिला कर्दम में ! **—रजत शिखर**

वह किसी ऐसी वाणी में बोलेगा जो शब्द पर आश्रित नहीं रहती !

वाणी को क्या शब्द चाहिए ? **—वाणी**

वह वाणी कैसी होगी इसकी कल्पना शब्दों में अपने को अभिव्यक्त करनेवाले की शक्ति से बाहर है।

पन्तजी की कविता का पिछला दशक
[1950-1960]

श्री सुमित्रानन्दन पन्त का काव्य-जीवन इतना सांगिक (ऑरगेनिक) है कि उसे उसके सम्यक् रूप में देखकर ही हम उसका सच्चा स्वरूप देख-समझ सकते हैं। गंगा की कथा कहनी है तो गंगोत्री से ही शुरू करनी होगी; जो प्रयाग से उसकी कथा कहना शुरू करेगा वह उसे विकृत करेगा। यह जानते हुए भी आज मैं पन्तजी की पिछले दशक की काव्योपलब्धियों पर कुछ कहने जा रहा हूँ। पन्तजी का

रचनाकाल सन् 1918 से आरम्भ होता है और आज तक उनकी लेखनी सक्रिय है। पिछले 40-42 वर्षों में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह गुण और राशि दोनों में विपुल है। सब पर, सबको लेकर, लिखने का ठीक समय तो तब आयेगा जब वे अपनी लेखनी रख दें— भगवान् करे ऐसा समय अभी बहुत वर्षों तक न आये। इस प्रकार का लेखन एक ग्रन्थ का क्या, कई ग्रन्थों का विस्तार माँगेगा। यों उनके ऊपर अभी भी कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। बहरहाल, मैं अभी इसके लिए तैयार नहीं। मुझे तो निश्चित समय और स्थान की सीमा में रहकर ही उन पर कुछ कहना है। मेरे इस लेख से पन्तजी की कविता का स्वरूप कुछ विकृत भी हो तो उसे मेरी सीमा का परिणाम समझना चाहिए। फिर पन्तजी के पूर्व काव्य पर काफी लिखा जा चुका है, पक्ष में भी और विपक्ष में भी, और जागरूक पाठक भी उस पर अपनी कुछ सम्मति बना चुके हैं। मैंने ही अपने कतिपय लेखों में उनकी पूर्व कृतियों पर कुछ प्रकाश डाला है। इस लेख के पाठक से मैं यह प्रत्याशा करूँगा कि वह पन्तजी के पूर्व साहित्य से परिचित है; यदि उन पर की गयी आलोचनाओं से परिचित न हो तो कोई हर्ज नहीं, ज्यादा अच्छा है न ही हो।

जब कवि के लिए कविता लिखने की वस्तु नहीं, जीने की, बरतने की वस्तु हो जाती है, तब कवि के जीवन के समानान्तर उसका भी एक सजीव, स्वतन्त्र, विकासवान व्यक्तित्व हो जाता है। कवि की कविता को हम उसका वाङ्मय शरीर या जीवन कह सकते हैं। तब जैसे जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही कविता की भी विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। यहाँ एक चेतावनी देने की आवश्यकता है। पार्थिव शरीर और वाङ्मय शरीर की समानता से कुछ लोग यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि जैसे वृद्धावस्था में शरीर जर्जर, निर्बल और तेजहीन हो जाता है, उसी प्रकार कवि की वृद्धावस्था की कविता भी बुढ़भस मात्र बनकर रह जाती है। कभी ऐसा भी होता है, पर उसका कारण होता है वाणी के विकास को किसी जगह पर रोक देना अथवा उसे ग़लत दिशा देना। जीवन की भूलें वाणी के जीवन में भी दुहराई जा सकती हैं, कुछ लोग दुहराते भी हैं। वाङ्मय शरीर को पार्थिव शरीर की अन्तिम परिणति से बचाने के लिए कुछ लोगों ने उसके उल्टे विकास की भी कल्पना की है; वह वृद्धता से यौवन और अमरता की ओर चलती है। डब्ल्यू. बी. ईट्स ने एक जगह लिखा है— जब मैं जवान था तब मेरी वाणी जर्जर-निर्बल थी, अशक्त थी; जब मैं वृद्ध — जरा-जीर्ण हो गया हूँ तब मेरी वाणी जवान और सबल हो गयी है।

वैसे मेरा अपना विचार है कि स्वाभाविक विकास में वृद्धावस्था को भी अपरूप अथवा तेजहत होने की आवश्यकता नहीं। अंग्रेज़ी कवि ब्राउनिंग ने लिखा है—

Grow old along with me,
The best is yet to be.

कली फूल का ही सौन्दर्य नहीं होता, फल का भी होता है, पके हुए फल का भी। पन्तजी की कल्पना की वृद्धावस्था भी जीर्ण-शीर्ण और दयनीय नहीं है। इस समय मैं उनके 'स्वर्णोदय' ('46) के नायक की ही बात नहीं सोच रहा हूँ—

पक्व जीवन का फल वह पूर्ण।

इस पंक्ति को लिखने के बहुत पूर्व उन्होंने मानव जीवन की चारों अवस्थाओं का जो चित्रण किया था, उसमें भी वृद्धावस्था शेष तीन अवस्थाओं से अधिक प्रभ और प्रज्ञ प्रतीत होती है :

यही तो है बचपन का हास,
खिले-यौवन का मधुप-विलास;
प्रौढ़ता का वह बुद्धि-विकाश,
जरा का अन्तर्नयन-प्रकाश; —उच्छ्वास—'21

जीवन की अवस्थाओं का यह वर्णन इतना स्वस्थ और सटीक है कि यदि पन्तजी की कविताओं को उनका वाङ्मय शरीर मानें तो उसके उत्तरोत्तर विकास को इन्हीं अवस्थाओं से एकरूप मानने में मुझे किसी प्रकार का संकोच न होगा। उनके 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव' को मैं उनके बचपन का हास कहूँगा*; 'गुंजन' को यौवन का मधुप-विलास; 'ज्योत्स्ना', 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को प्रौढ़ता का बुद्धि-विकास; और 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'युगान्त', 'उत्तरा' तथा बाद की रचनाओं को जरा का अन्तर्नयन-प्रकाश कहूँगा। 'पल्लव' में उनकी पच्चीस वर्ष तक की अवस्था की कविताएँ थीं; कहा जा सकता है कि उनका बचपन कुछ ज़्यादा ही खिंच गया। हमें न भूलना चाहिए कि वे अपने 'यौवन के प्याले में' अपने 'बालापन' को ही भरने की आकांक्षा रखते गये। यौवन का मधुप केवल क्षण भर गुनगुनाकर 'ज्ञान-तरुण' हो गया और 'ज्योत्स्ना' में उसकी प्रौढ़ता का बुद्धि-विकास प्रस्फुटित हुआ। 'ज्योत्स्ना' सचमुच ही पन्तजी की प्रौढ़ रचना है जो उनके बाद के सारे साहित्य को प्रभावित करती है। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में केवल 'ज्योत्स्ना' की ही कल्पना का विस्तार है, कभी भावना के स्तर पर, कभी बुद्धि के स्तर पर। यही कल्पना उस अरविन्द-दर्शन के लिए उर्वर भूमि सिद्ध हुई जो आगे चलकर 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' और 'उत्तरा' में शस्य-प्ररोहित हुआ। उनकी रचनाओं में 'ज्योत्स्ना' की महत्ता की ओर मैंने आज से दस वर्ष पूर्व अपने एक अंग्रेजी लेख में लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। 'चिदम्बरा' के 'चरण-चिह्न' में उनका यह वाक्य पढ़कर मुझे सन्तोष हुआ कि 'मेरे काव्य दर्शन की कुंजी निश्चय ही 'ज्योत्स्ना' में है।' 'ज्योत्स्ना' के भाव और कलाबोध की पूर्ण परिणति यदि पन्तजी को 'उत्तरा' में दिखायी पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी 'चरण-चिह्न' में उन्होंने कहा है, ' 'उत्तरा' को सौन्दर्य-बोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से, मैं अब तक की अपनी सर्वोत्कृष्ट कृति मानता हूँ।' 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में जो भावना, अरविन्द-दर्शन का आश्रय लेकर खड़ी हुई थी वह 'उत्तरा' में आकर अपने पैरों पर गतिशील होती है। भावना, विवेक से बल संचित करती है और श्रद्धा और विश्वास से ऊर्जस्व।

जय पुरुषोत्तम, प्रणत प्राण मन,
नयनों में भर रूप मनोहर,
चिर श्रद्धा विश्वास भक्ति का
मंगलमय निज जन को दो वर !

× × ×

भू पर श्रद्धा विश्वास सुरों के भूषण,
मैं कृतज्ञता में स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

× × ×

---

* 'काव्य गुण तथा लोक मांगल्य की दृष्टि से मेरी उत्तर कृतियों के चैतन्य तथा कला-बोध के सामने 'पल्लव' की कला अल्पप्राण बालिका के समान तुतलाती फिरती प्रतीत होती है।'—'चिदम्बरा', पृ. 16।

वह क्या श्रद्धा विश्वास
न दे जो जीवन ?
मैं नव जीवन में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

—उत्तरा

'उत्तरा' 1949 में प्रकाशित हुई। हम इस लेख में विशेषकर पन्तजी की सन् '50 के बाद की रचनाओं पर विचार करना चाहते हैं। पर उनकी इन रचनाओं को हम जिस 'अन्तर्नयन प्रकाश' के अन्तर्गत रखना चाहते हैं वह '46-'47 से ही आरम्भ हो गया था, और यदि उसका मूल देखना चाहें तो इससे भी दस-बारह वर्ष पीछे जाना होगा। 'ज्योत्स्ना' सन् '34 में प्रकाशित हुई थी। रचनाकाल स्वाभाविक ही और पहले होगा। अब हमारे सामने वही कठिनता मूर्तिमान होती है जिसकी चर्चा मैंने आरम्भ में की थी कि सांगिक जीवन और काव्य को खण्डित करके ठीक-ठीक नहीं देखा जा सकता। फिर भी 1950, कई दृष्टियों से, यदि उनकी कृतियों को खण्डित करके देखना ही है तो, बहुत असुविधाजनक तिथि नहीं है।

पन्तजी के मानने पर भी आप चाहें तो यह न मानें कि सौन्दर्यबोध और भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से 'उत्तरा' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। पर एक बात तो आपको माननी ही होगी कि पन्तजी को विचार-दर्शन के क्षेत्र में जितनी खोज करनी थी, जितना पाना था, जितना अपनाना था, जितने को स्वीकार करना था—वह सब 'उत्तरा' तक आते-आते वे कर चुके हैं। पचास वर्ष का जीवन, अनुभव, स्वाध्याय और चिन्तन के बल पर किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए पर्याप्त समय है। इस अवस्था पर भी जो सन्तोषजनक सिद्धान्तों पर नहीं पहुँचता वह प्राय: उन्हीं सिद्धान्तों पर सन्तोष करने लगता है जिन तक वह पहुँच चुका है। उसके बाद भी या आजीवन अपनी खोज जारी रखनेवालों के उत्साह की सराहना हम भले ही करें पर उनसे हमें किसी प्रकार की शान्ति, आश्वासन या विश्वास नहीं मिलता। पन्तजी हमें निराश नहीं करते। इस प्रकार 'उत्तरा' के पश्चात् की रचनाओं में हम एक ऐसे लेखक, कलाकार, कवि को देखने की प्रत्याशा कर सकते हैं जो अपने दार्शनिक विचारों में सुस्थिर, सुनिश्चित और सुदृढ़ हो चुका है। इसकी महत्ता और भी इसलिए है कि पन्तजी का जीवन-संघर्ष प्राय: अन्तर्मुखी अथवा भाव-विचार-क्षेत्रीय रहा है। इस आन्तरिक प्रतिफलन के समक्ष बाहरी स्थितियों के परिवर्तन नगण्य प्रतीत होंगे। फिर भी उन्होंने किसी-न-किसी रूप में उनकी रचनाओं को प्रभावित किया है।

1950 में आल इण्डिया रेडियो ने पन्तजी को हिन्दी के चीफ़ प्रोड्यूसर के पद पर नियुक्त किया। अपने दर्शन को कला की सहायता से जीवन और व्यवहार में उतारने का आग्रह उनके मन में 1942 से था, जब उन्होंने सर्वप्रथम 'लोकायतन' नाम की संस्था की योजना बनायी थी। अनेक विफलताओं के बावजूद 1948-'49 में उसे, अब 'लोकायन' के नाम से, चलाने के लिए वे विशेष प्रयत्नशील रहे, पर दूसरी बार भी उन्हें सफलता न मिली। ऐसे समय में उन्होंने रेडियो की नियुक्ति का स्वागत इसलिए भी किया होगा कि इस माध्यम से वे अपने विचार अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचा सकेंगे।

वह जन शिक्षा माध्यम सक्षम,
कवि रुचि मुक्त, समय क्रम वन्धन,

विद्युत् ध्वनि लहरों पर वाहित
विश्व यन्त्र मन, तुझे शत नमन ! —**वाणी**

पन्तजी सर्वप्रथम अपने जीवन में सरकारी वेतन-भोगी बने; राज्य की नीति और समय के बन्धन में रहकर उन्होंने काम करना शुरू किया। उन्होंने अपनी सृजन-प्रक्रिया को माध्यम के अनुरूप बनाया, उससे अनुशासित किया। प्रतिभा न परिस्थितियों से झगड़ती है, न उससे पराजित होती है। वह हर परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेती है। 1950 और '54 के बीच उन्होंने रेडियो से प्रसारित होने के लिए ग्यारह रूपक लिखे। बाद को उन्होंने स्फुट कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित किये और अन्त में गद्य-काव्य का एक संग्रह प्रस्तुत किया। उनके पिछले वर्षों की रचनाओं की क्रमणिका इस प्रकार है :—

'विद्युत् वसना'	15 अगस्त, 1950 को
'शुभ्र पुरुष'	2 अक्तूबर, 1950 को
'उत्तर शती'	31 दिसम्बर, 1950 को
'फूलों का देश'	5 मार्च, 1951 को
'रजत शिखर'	25 जून, 1951 को
'शरद चेतना'	1 सितम्बर, 1951 को

ये 6 रूपक 'रजत शिखर' में संगृहीत हुए।

'शिल्पी'
'ध्वंसशेष' } सितम्बर 1951 से सितम्बर 1952 तक
'अप्सरा'

ये 3 रूपक 'शिल्पी' में संगृहीत हुए।

'स्वप्न और सत्य'	नवम्बर 1952 में
'सौवर्ण'	मार्च 1954 में

ये दो रूपक 'सौवर्ण' में संगृहीत हुए।

'अतिमा' (55 स्फुट कविताएँ)—अप्रैल 1954 से फरवरी 1955 तक
'वाणी' (47 स्फुट कविताएँ)—मार्च 1955 से दिसम्बर 1957 तक
'कला और बूढ़ा चाँद' (90 स्फुट कविताएँ)—1958 में

15 अगस्त भारत की स्वाधीनता का दिवस है। राष्ट्र की स्वतन्त्रता का एक सीमित अर्थ लेकर भी उल्लास प्रकट किया जा सकता था। पन्तजी ने आज़ादी की देवी को 'विद्युत् वसना' का प्रतीकात्मक नाम देकर तथा उसकी कल्पना एक अमूर्त चेतना के रूप में करके उसे अधिक व्यापक बना दिया है—

यह विद्युत् वसना का रूपक है सांकेतिक,
नवयुग का सन्देश भरा जिसमें ज्योतिर्मय, —**रजत शिखर**

'स्वर्ण धूलि' की '15 अगस्त 1947' शीर्षक रचना में भी उन्होंने स्वतन्त्रता को चेतना के ही रूप में ग्रहण किया था—

चिर प्रणम्य यह पुण्य अहन्, जय गाओ सुरगण,
आज अवतरित हुई चेतना भू पर नूतन !

'उत्तरा' में भारत की स्वतन्त्रता पर 'स्वाधीन चेतना' शीर्षक एक कविता है, जिसमें उसके लिए 'विद्युत् लासिनि' के विशेषण का उपयोग किया गया है। 1947 में भी भारत की स्वतन्त्रता का उन्होंने कोई परिसीमित अर्थ न लिया था। संकेत श्री अरविन्द ने भी उस समय प्रकाशित अपने एक लेख में दिया था।

आज खुले भारत के सँग भू के जड़ बन्धन ! —**स्वर्ण धूलि**

भारत यदि स्वाधीन हो गया तो निश्चय ही
छूट गयी भौतिक परवशता आज धरा की; —**युगपथ**

भारत की दासता समाप्त होने पर भू के जड़ बन्धन खुल गये और धरती की भौतिक परवशता छूट गयी तो हमारी प्रगति अब किस लक्ष्य की ओर होनी चाहिए। पन्तजी उत्तर देते हैं—

साधन केवल जन स्वतन्त्रता,—मनुज एकता
लोक साम्य औ' विश्व प्रेम ही प्राप्य ध्येय है!
... ...

जन स्तवन्त्रता नहीं,—लौह संगठित जनों की
अन्तर् निर्भरता ही युग का परम लक्ष्य है! —**रजत शिखर**

इस बात का हमें विशेष ध्यान रखना चाहिए कि पन्तजी बाहरी लौह संगठन को अन्तरैक्य से सधा और लोक-साम्य को विश्व-प्रेम से बँधा रखना चाहते हैं। यह बताने की आवश्यकता शायद ही हो कि आज संसार के कतिपय देश या तो केवल बाहरी लौह संगठन के पीछे पागल हैं या केवल भौतिक लोक साम्य के पीछे। पर नवयुग का ज्योतिर्मय सन्देश कुछ और है; एकांगी न होकर अन्तर-बाह्य-व्यापी है।

2 अक्तूबर को हम महात्मा गांधी का जन्मदिन मनाते हैं। 'शुभ्र पुरुष' महात्माजी का ही प्रतीक है। विदेशों में और अपने देश में भी एक बहुत बड़े वर्ग ने महात्मा गांधी के राजनीतिक व्यक्तित्व को ही पहचाना, जो वस्तुतः उनके व्यक्तित्व का बहुत सतही भाग था। पन्तजी ने अपने रूपक में उनके राजनीतिक व्यक्तित्व के साथ ही उनके सांस्कृतिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के प्रति भी श्रद्धांजलि अर्पित की है। ऐसा करके उन्होंने कोई नयी बात नहीं की। पहले की लिखी उनकी गांधीजी सम्बन्धी कविताओं को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

'खादी के फूल' के प्राक्कथन में वे स्पष्ट कहते हैं, 'महात्माजी के अश्रान्त उद्योग से जहाँ हमें स्वाधीनता प्राप्त हुई है वहाँ उनके महान् व्यक्तित्व से हमें गम्भीर सांस्कृतिक प्रेरणा भी मिली है। महात्माजी ने राजनीति के कर्दम में अहिंसा के वृन्त पर जिस सत्य को जन्म दिया है वह संस्कृति की देवी का ही आसन है।' इस प्रतीकात्मक वाक्य में कितना तत्त्व और कवित्व भरा है, इसे मननशील व्यक्ति ही समझ सकेंगे।

और सांस्कृतिक से भी अधिक उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व की ओर पन्तजी का ध्यान तब गया था जब वे अधिकांश लोगों के लिए राजनीतिक नेता, आज़ादी की लड़ाई के सेनानायक भर थे; जब अपने देश के ही कई विशिष्ट लोग और पत्र उन्हें 'मिस्टर गांधी' मात्र समझते थे। अभी गांधीजी को देश का उद्धार करने में भी दस बरस लगने थे, तो भी पन्तजी लिख रहे थे—

नव संस्कृति के दूत! देवताओं का करने कार्य
आत्मा के उद्धार के लिए आये तुम अनिवार्य! —**युगवाणी**

'शुभ्र पुरुष' महात्मा गांधी के सम्यक् व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि है। जिस भूमि के लिए गांधीजी जिये और मरे, कवि की कामना है कि—

उसकी चिर वसुधैव कुटुम्बक मात्र क्रोड़ में
एक अहिंसक मानवता ले जन्म आत्म स्मित,
नयी चेतना की प्रतिनिधि हो जो भू के हित!

अन्त में मैं इस रूपक के प्रारम्भ की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना

चाहूँगा। कवि ने 'शुभ्र पुरुष' की वर्षगाँठ पर अनेक शुभ्र-श्वेत प्रतीकों का सहारा लेकर बड़ा ही शुभ्र काल्पनिक वातावरण उपस्थित किया है। राजहंस चारों ओर उड़ान भरते हैं, श्वेत कमल की पंखुड़ियाँ झड़ती हैं, ज्योत्स्ना रेशमी रुपहला अंचल लहराती है, शरदचन्द्र निर्मल चेतना का ज्वार उठाता है, अम्बर में रजत की घण्टियाँ बजती हैं, तारों की वीणा से अनहद नाद होता है, हिम शिखरों पर किरणों की छायाएँ शतरंग-ध्वज फहराती हैं।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की समाप्ति एक महत्त्वपूर्ण तिथि थी। कवि ने 'उत्तर शती' में इस अवसर पर एक रूपक प्रस्तुत किया। उसने शती के पूर्वार्द्ध के लौह-संघर्ष और उपलब्धियों पर विहंगम दृष्टि डाल उसके उत्तरार्द्ध में आनेवाले स्वर्ण-युग की ओर आशामय संकेत किया।

इसमें 'लोहिताक्ष नक्षत्र' रूस, 'रक्तजिह्वध्वज' चीन, 'धूमकेतुध्वज' अमरीका ने जो भी प्राप्त किया है उसका लेखा-जोखा लगा कवि इस परिणाम पर पहुँचा है कि वहाँ विज्ञान ज्ञान से, बहिर्मुखी समृद्धि अन्तर्दर्शन से, भौतिकता आध्यात्मिकता से सन्तुलित नहीं हो सकी। और उसने भारत की ओर देखकर यह प्रश्न किया है—

> क्या भारत इस भू विभीषिका से हो जागृत
> बहिरन्तर संगठित नहीं होगा इस युग में ?
> आत्म शक्ति का, विश्व-चेतना का प्रतीक बन,
> सौम्य, शान्त, भू कर्मनिष्ठ, जन-मंगल-कामी,
> मनुष्यत्व का प्रतिनिधि, दृढ़, निर्भीक, अहिंसक !

1950 के विभिन्न राष्ट्रों के शीत युद्ध के उष्ण-तीक्ष्ण वातावरण में भी कवि ने यह कल्पना की थी—

> पूँजीवादी लोक साम्यवादी देशों के
> वातायन खुल रहे भाव विनिमय के व्यापक,
> हृदय द्वार खुल रहे; विचारों से नव मुकुलित,
> भू जीवन के आवागमन हेतु दिग् विस्तृत !

आज इंग्लैण्ड, रूस, अमरीका के सम्बन्धों में जो मृदुता आयी है वह पन्तजी की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर रही है।

इस रूपक के विषय में एक छोटी-सी बात मैं और कहना चाहूँगा। पन्तजी का जन्म 1900 में हुआ था, इस कारण शती की अवस्था और उनकी अवस्था एक ही है। सन् 1951 जब बोलता है तब अनेक स्थलों पर उसकी वाणी कवि की आत्मिका-सी जान पड़ती है। वे वर्णन कर रहे हैं सन् '51 का—

> अर्धपक्व केशों के उसके प्रौढ़ भाल पर
> चिन्तन की रेखा है अंकित, नवल क्षितिज सी !

लगता है जैसे पन्तजी ने लिखते-लिखते उठकर शीशे में अपना मुख देख लिया है। बोल रहा है सन् '51, पर इन शब्दों में शायद पन्तजी अपनी ही निराशा व्यक्त कर रहे हैं—

> कौन सुनेगा पर मेरे ये तूती के स्वर
> इस भीषण तर्जन गर्जन, कटु चीत्कारों के
> निर्मम युग में,.........

सच तो है ही कि राजनीति के नक्कारखाने में आज कवि की तूती की आवाज़ कौन सुनता है।

और इन पंक्तियों में सन् '51 के अपने विगत इतिहास के साथ कवि के

व्यक्तिगत तथा साहित्यिक जीवन की कितनी मार्मिक एवं कटु अनुभूतियाँ और टीसें झलक मार रही हैं—

देख चुका हूँ अर्धशती अब, क्रमण कर चुका
वर्ष पंच दश, दुःसह युग परिवेश से व्यथित,
किसी तरह मैं ! सुहृदों के बाने में मुझसे
मिले अनेकों लोग, देश, भू राष्ट्र प्रतिष्ठित,
जन संस्थाएँ, लोक संघ बहु, व्यक्ति कनक घट,—
आत्म-वचना, द्वेष, कलह, स्वार्थों से पीड़ित,
पर उन्नति से क्षुब्ध, लुब्ध निज बौने बल पर !
क्रमियों का उत्पात विटप ज्यों वट का सहता,
झेले हैं मैंने निष्ठुर स्पर्धा के दंशन
जीवन मन से कुण्ठित सूने अस्तित्वों के !

और सन् '51 के साथ कवि का भी अदम्य आत्म-विश्वास इन पंक्तियों से नहीं उद्घोषित होता ?

किन्तु नहीं मैं भूल सका, मैं महाकाल का
अमर पुत्र अवतरित हुआ हूँ सन्धि स्थल पर,
...   .
कैसे तुमसे कहूँ, आज मैं अर्ध शती के
ऊर्ध्व शिखर पर खड़ा मौन क्या सोच रहा हूँ !

'फूलों का देश' सांस्कृतिक क्षेत्र का प्रतीक है । इस रूपक में कवि ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि संसार में फैले विभिन्न वादों में समन्वय—अध्यात्मवाद, भौतिकवाद, आदर्शवाद, वस्तुवाद में—कराने का काम केवल कलाकार या कवि का है । वही अपनी अन्तर्दृष्टि से सबके सार सत्य को ग्रहण कर उसे संस्कृति की आधार पीठिका बना सकता है :

यह फूलों का देश, ज्योति मानस का रूपक :
जहाँ विचरते अन्तर्द्रष्टा कलाकार, कवि
निभृत कल्पना पथ से नित, भावोन्मेषित हो !

अध्यात्मवाद और आदर्शवाद मानवजीवन का ऊर्ध्व संचरण और उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ हैं; वैसे ही भौतिकवाद और वस्तुवाद उसका समदिक संचरण और उसकी बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ हैं । तब संस्कृति का संचरण क्या है ? पन्तजी ने इसका सहज-सुबोध उत्तर 'उत्तरा' की भूमिका में दिया था । 'वह न धर्म तथा अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व संचरण है, न राजनीति की तरह समतल; वह इन दोनों का मध्यवर्ती पथ है जिसमें दोनों के पोषक तथा प्राणप्रद तत्त्वों के बहिरन्तर का वैभव मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा धारण कर लेता है ।' कवि का कर्तव्य है कि जब वह जीवन में पहले की अतिशयता देखे तो दूसरे से, और जब दूसरे की अतिशयता देखे तब पहले से सन्तुलन लाने का प्रयत्न करे । आज के जीवन में किसकी अतिशयता है, यह ज़ाहिर है, और आज कवि और कलाकार का कर्तव्य भी स्पष्ट है ।

...केवल स्वर शब्दों की ही
रिक्त साधना मात्र नहीं होती युग कवि की,
उसे साम्य, संगति, सार्थकता भरनी होती
जीवन विशृंखलता में,.........

। ाज की बाहरी अतिशयता में रूपक का 'कवि' चिल्ला उठता है---

भीतर भी हैं सूक्ष्म परिस्थितियाँ जीवन की,
भीतर ही रे मानव, भीतर ही सच्चा जग,

'फूलों का देश' में एक पात्र 'कवि' है। वह पन्तजी का ही प्रतिरूप है—'एकाकी', 'स्वप्नद्रष्टा', 'सुन्दर'। रूपक का एक पात्र 'कवि' पर पलायनी होने का आरोप लगाता है :

कौन, कौन तुम, अरुण, वसन्त, मदन-से सुन्दर
पत्रों के प्रच्छाय नीड़ में यहाँ छिपे हो
पक्षी से एकाकी ? नगरों से, वासों से
दूर, सभ्यता के केन्द्रों से विरत, विमुख हो
युग जीवन संघर्षण से, जन आकर्षण से ?

इस प्रकार के आरोप पन्तजी पर अक्सर उनके आलोचकों द्वारा लगाये गये हैं। और 'कवि' के उत्तर में उन्हीं का उत्तर है—

कलाकार हूँ मैं, पर जीवन संघर्षण से
विरत नहीं हूँ।···देखो, मेरी स्वप्न निमीलित
आँखों में भावी का स्वर्णिम विम्ब पड़ा है।

वाहर के संघर्षण का अश्रु-श्वेत-रक्त तो सब देखते हैं, पर विचारक, चिन्तक और भावक का मानसिक संघर्षण कम श्रान्ति-क्लान्ति-करुणा से आवेष्टित नहीं होता।

'रजत शिखर' में मानव के वर्तमान संचरण को सन्तुलित बनाने के लिए ऊर्ध्व के अवरोहण और समतल के आरोहण की आवश्यकता बतायी गयी है। हमारे दुर्भाग्य से पश्चिम का आधुनिक मनोविश्लेषण हमें उपचेतन, अवचेतन या अचेतन के निम्नतम अतल की ओर भी ले जा रहा है। रूपक में समतल संचरण का प्रतिनिधि राजनीतिज्ञ और निम्न संचरण का प्रतिनिधि सुखव्रत नाम का मनोविश्लेषक है। युवक साधक युग कवि का प्रतिनिधि है जो निम्न संचरण को अवरुद्ध कर शेष के दो संचरणों में समन्वय स्थापित करता है।

मनुष्य का मन देवता और पशु का संग्राम-क्षेत्र है। मध्यकालीन संस्कृति ने मानव के पशु का दमन सिखाया। आधुनिक मनोविश्लेषण मानव के पशु को उभार रहा है। सुखव्रत कहता है, 'हमें मुक्त करनी है पहिले काम चेतना।' पन्तजी का नवीन अध्यात्मवाद पशु का दमन नहीं करता, उसका संयमन करता है, वह देवत्व को उभारता है, पशुत्व को निम्नतम अतल से उबारता है :

·········निचले मन के
आवेगों को हमें संगठित करना होगा
ऊर्ध्वज्योति में !···संयम ही वास्तविक मुक्ति है !

पन्तजी के इस विचार के मूल 'युगवाणी' या इससे भी पहले 'ज्योत्स्ना' तक जाते हैं। 'युगवाणी' में वे कहते हैं कि मानव जीवन इच्छा को संस्कृत कर, न कि मारकर, विकसित हो। 'ज्योत्स्ना' में उषा कहती है, 'मोह को मिटाना ध्येय नहीं है···मोह को पहचानना ध्येय है।' ज्योत्स्ना कहती है, 'प्रकृति की इस अपार रूप-राशि पर मुग्ध होकर मनुष्य का प्रकृतिवादी बन जाना आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु इससे मुक्त न हो सकना अवश्य ही दुःख की बात है।'

सुखव्रत काम की वकालत करता आया था। राजनीतिक क्षुधा का हिमायती बनकर आता है :

प्रथम भूख है, काम नहीं : मैं उदर क्षुधा से
पीड़ित जीवन कंकालों को अर्थशास्त्र का
लोकतन्त्र मय संजीवन देने आया हूँ !

नेताजी का बड़ा व्यंग्यपूर्ण चित्रण है। उनके पास कागज़ की अनेक योजनाएँ बनी हैं; उनका अपना कोई मत नहीं, वे बहुमत से चलते हैं; उनका अपना कोई मान नहीं, वे बदलते मूल्यों पर अवलम्बित रहते हैं; उनकी अपनी कोई चेतना नहीं; वे परिस्थितियों की चेतना को ही अपना लेते हैं। संक्षेप में वे नेता क्या 'कोरे अभिनेता' हैं।

पर मनुष्य के अन्दर देह की भूख ही नहीं, आत्मा की भूख भी रहती है—इसका संकेत 'स्वर्ण धूलि' की एक कविता में है। देह की भूख समतल संचरण से भले ही मिट जाये, आत्मा की भूख ऊर्ध्व संचरण से ही मिटेगी। और उन दोनों संचरणों को अलग करके देखना भूल है।

महाश्चर्य है ! वही सत्य है ! ऊपर है जो
शिखर, वही नीचे प्रसार है ! एक संचरण
मात्र ! ऊर्ध्व हो अथवा समदिक्,···

इसके बाद कवि विस्थापितों का प्रवेश कराता है। आज़ादी के बाद विस्थापितों की जो दशा कवि ने सुनी या देखी थी उसका बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन यहाँ है। पर अब वे सारी मानवता के ही प्रतिनिधि बन गये हैं—'हम सब विस्थापित हैं : हम सब उत्थापित हैं'—जो प्रसार की शस्य-हरियाली के साथ शिखर का रजत-प्रकाश भी खोज रही है, जिसे समतल संचरण के साथ ऊर्ध्व संचरण भी चाहिए।

'शरद चेतना' कवि ने उस चन्द्रिका को कहा है जो शरद चन्द्र से पृथ्वी पर उतरती है। मानव के सम्यक् विकास के क्रम में केवल निम्न चेतना ही नहीं ऊपर उठती, ऊर्ध्व चेतना नीचे भी उतरती है। इसी को हमारे दार्शनिकों ने मर्कटन्याय और मार्जारन्याय कहा है। बन्दर का बच्चा ऊपर उछलकर माँ के पास पहुँचता है; बिल्ली नीचे झुककर अपने बच्चे को उठा लेती है। इसी को श्री अरविन्द ने Double ladder या दुहरी सीढ़ी कहा है। पन्तजी ने भी कहीं अधः ऊर्ध्व सोपान या श्रेणी की चर्चा की है। मूल भावना के लिए 'ज्योत्स्ना' के नाटक की ओर संकेत करना पर्याप्त है जहाँ ज्योत्स्ना उतरकर संसार में आदर्श साम्राज्य स्थापित करती है। प्रस्तुत रूपक में पन्तजी बताते हैं कि शरद चाँदनी क्या है :

भौतिक ज्योति नहीं है केवल शरद चाँदनी,
आत्म लीन वह अमर चेतना स्वर्ग लोक की,
अतिक्रम कर सब दिशा काल, तन मन के बन्धन,
आत्मोल्लास प्रदीप्त, हुई परिव्याप्त चतुर्दिक् !

इस कारण धरती की शेष पाँच ऋतुएँ शरद का अभिवादन करती हैं :

भू वासिनि ऋतुएँ अन्य सभी,
तुम नभ वासिनि चिर निर्मल री,
वे धरती की रज में लिपटीं,
तुम स्वर्गंगा सी उज्ज्वल री !

प्रकृति पन्तजी की अपनी विशेष मनोभूति है। इसके सौन्दर्य से उनका रोम-रोम भीगा है। रूपक में ऋतु-वर्णन बड़े उल्लास के साथ किया गया है। बिना किसी प्रकार की सूक्ष्म अथवा आन्तरिक भावना का आरोप किये, केवल आँखों से देखे रूप-रेख-रंग के संसार के भी पन्तजी बहुत बड़े शब्द-चितेरे हैं, प्राकृतिक

सौन्दर्य के तो और भी बड़े।

'शिल्पी' कलाकार के अन्त:संघर्ष का रूपक है, गो पुस्तक में उसे नाटक की संज्ञा दी गयी है —शायद प्रकाशक की ओर से। इसमें तीन दृश्य हैं। शिल्पी भी 'कवि, द्रष्टा, भावक' की श्रेणी में आता है, जिसे प्रत्येक युग में युग के अनुरूप आदर्श देना चाहिए। प्रतिमाएँ भी साकार आदर्श हैं, आदर्श भी सूक्ष्म प्रतिमाएँ हैं। जैसे अज्ञान जनता जड़, मृत, अनुपयुक्त आदर्शों को पुरानी प्रतिमाओं के समान पूजती चली जाती है, उसी प्रकार अचेत कलाकार भी पुराने आदर्शों पर गढ़ी प्रतिमाओं की अनुकृतियाँ तैयार करता जाता है। 'शिल्पी' का कलाकार सजग है, सचेत है, प्रगतिशील है—या हो गया है, क्योंकि 'युगवाणी' में उसे कवि से यह फटकार सुननी पड़ी थी—

हे शिल्पकार वर! कठिन धातु,
जड़ प्रस्तर में भर अमर प्राण
दे सके नहीं मानव जग को
तुम मानवता का प्रकृत मान।

उसने विघ्न विनाशन एकदन्त, मनमोहन मुरलीधर, गौतम बुद्ध, मसीह, गांधीजी, कवीन्द्र रवीन्द्र, सरदार पटेल आदि की प्रतिमाएँ बनायी हैं। क्या ये द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविताओं और राजा रवि वर्मा के चित्रों की बहनें नहीं हैं? फिर उसने शिल्प कला में अभिनव प्रयोग किये हैं। उसने 'चन्द्र कौमुदी', 'मेघ दामिनी' और 'पूर्ण चन्द्र सागर बेला' की प्रतिमाएँ बनायी हैं। वायवीय कल्पना को मूर्त करनेवाले शिल्प स्वप्न की ये स्वप्न सृष्टियाँ क्या छायावादी कविताओं और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रों की सहोदराएँ नहीं हैं, जिनके द्वारा उन्होंने 'अदृश्य स्वर झंकारों को रूप-रंग-रेखा की आकृति में जीवित कर' दिया था। बाद को उसने एक ऐसी प्रतिमा बनायी जिसे देखकर वह कह उठा—

ईश्वर! ···अब जाकर पाषाण सजीव हुआ कुछ! ···
युग विप्लव की पृष्ठभूमि साकार हो गयी —
प्रस्तर के उर में युग जीवन का समुद्र ही
हिल्लोलित हो उठा, क्षुब्ध जन आवेशों में!

पर जल्द ही उसे अनुभव हुआ कि यह 'भावना का प्रमाद' है। क्या यह मूर्ति प्रगतिवादी उफानों की प्रतिच्छाया नहीं थी? वह सोचने लगा, 'युग विप्लव' को नहीं 'युग की आत्मा को, युग जीवन के प्रतीक को मुझे प्रतिष्ठित करना होगा।' अभी वह इसी उधेड़बुन में ही रहता है कि 'युग की आत्मा' क्या है कि कुछ लोग आकर एक दिव्य मूर्ति खरीद ले जाते हैं।

कलाकार देखता है कि लोग मूर्ति के आगे कीर्तन-गान तो करते हैं पर उनका जीवन नहीं बदलता। वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि जब युग की वस्तु-स्थितियाँ बदल जाती हैं, पूर्वमान्य आदर्श निरर्थक हो जाते हैं, तब कला को अभिनव आदर्शों की सृष्टि करनी होती है; नव कल्पित को मानव आत्मा के चिरन्तन सत्य के साथ संयोजित करना होता है।

यही प्रश्न है आज कला के सन्मुख निश्चय,
जो दु:साध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को:
बहिरन्तर की जटिल विषमताओं में उसको
नव समत्व भरना होगा, सौन्दर्य सन्तुलित! —

संक्षेप में आज की आवश्यकता है बहि: के परिवर्तित और अन्त: के शाश्वत के

बीच समन्वय उपस्थित करना। यही प्रयास पन्तजी की कविता का बहिरन्तर संयोजनवाद है जिसे किन्हीं समालोचकों ने 'मानववाद' कहा है। अन्त में शिल्पी एक ऐसी प्रतिमा बनाने में सफल होता है जो उसे पूर्ण सन्तोष देती है—

आह, अन्त में दृष्टि शून्य पाहन पलकों पर
मूर्त हो उठा स्वर्ण स्वप्न मानव अन्तर का !

रूपक में इस प्रतिमा का विस्तृत वर्णन है जो मैं यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं समझता। 'शिल्पी' में मूर्तियों के माध्यम से खड़ी बोली हिन्दी कविता का सम्पूर्ण इतिहास ही एक प्रकार से आँखों के सामने लाया गया है। शिल्पी की अन्तिम मूर्ति पन्तजी की ही अभिनव कविता की मूर्ति है।

निश्चय, यह जन के मन मन्दिर की प्रतिमा है,
जन आकांक्षा की प्रतीक, जन जीवनमय है !
सामूहिक चेतना हो उठी मूर्तित इसमें,
शक्ति स्फूर्ति विश्वास भरेगी यह जन मन में !

'ध्वंसशेष' तीसरे विश्व-युद्ध की आशंका से लिखा गया है। 1952 के शीत युद्ध-वातावरण में पन्तजी जैसे भाव-प्रवण कवि के हृदय में ऐसी आशंका का उठना स्वाभाविक था। महाविध्वंसकारी अणुतापी अस्त्रों से सुसज्जित राष्ट्र यदि आपस में गुथ ही गये तो संसार का क्या होगा, मानवता कहाँ शरण लेगी, सभ्यता कैसे सुरक्षित रहेगी, संस्कृति को कौन बचायेगा ? पन्तजी अपनी कल्पना में उन राष्ट्रों के बीच युद्ध दिखला ही देते हैं जो दुर्मद फ़ासिस्त शक्ति को पराजित करने के लिए विगत महायुद्ध से काँधा-से-काँधा मिलाकर लड़े थे।

युद्ध क्या छिड़ा है प्रलय ही उपस्थित हो गया है। यदि यह पृथ्वी सर्वशक्तिमान की रचना है तो वह निरीह, निर्बल, असहाय नहीं हो सकती कि मानव अपनी किसी सनक में, या अन्धनियति अपनी किसी चाल से, उसे जब चाहे नष्ट-भ्रष्ट कर दे। महानाश और महाध्वंस के खर ताण्डव के बीच अन्तरिक्ष में पुरुष और प्रकृति दिखायी पड़ते हैं। इस महासंहार पर एक बार प्रकृति भी घबरा उठती है। लेकिन पुरुष आश्वासन देता है कि पृथ्वी की सीमा में निस्सीम बँधा है, जीवन की अचिरता में चिरन्तन परिव्याप्त है, और मृत्यु के तमस् से अमरता का प्रकाश गुँथा हुआ है।

कातर मत हो प्रकृति, तुम्हें यह मर्त्यों की सी
करुण क्लीवता नहीं सुहाती, शान्त करो मन !
भूत प्रलय यह नहीं, मात्र यह मनः क्रान्ति है,
आरोहण कर रही सभ्यता नव शिखरों पर !

समदिक् संचरण की अतिशयता में मनुष्य ने आत्मा को कितना दलित किया है, कितनी द्वेष-घृणा सँजोई है, कितनी मद की बारूद इकट्ठी की है, इस सबका विस्फोट हुए बिना मनुष्य ऊर्ध्व संचरण का सन्तुलन नहीं प्राप्त कर सकेगा। यह विस्फोटन कितना ही भीषण क्यों न हो—

भीत नहीं होगा मानव इस महानाश से,
विश्व ध्वंस से लोक करेंगे नव जग निर्मित,—
श्री समत्वमय मनुष्यत्व को नव्य जन्म दे !

दस वर्ष बाद संहार से बचे हुए लोग नवनिर्माण के लिए चलते हैं। वे विगत युग के जड़-मृत आदर्शों की कई प्रतिमाओं को ज़मीन में गाड़ देते हैं, क्योंकि नवयुग में उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह गयी। ये हैं वर्ग सभ्यता, संकीर्ण-जीर्ण धर्म, मानव की बर्बरता का नृशंस इतिहास, अचेतन के तम में भटकानेवाला फ्रायड, वर्गचयन

के आधार पर विकास का व्याख्याता डार्विन, वर्ग क्रान्ति का अग्रदूत कार्ल मार्क्स, और संग्राम करानेवाली राजनीति और अर्थनीति। दो प्रतिमाएँ फिर से स्थापित की जाती हैं – विज्ञान की, उसके विध्वंसक पक्ष को निर्मायक में बदलकर—और संस्कृति की, उसको अभिनव रूप देकर, नव अध्यात्म से अनुप्राणित करके; क्योंकि संस्कृति रूढ़ नहीं है; उसका युग-युग में रूपान्तर होता रहता है, प्रकारान्तर होता रहता है।

'ज्योत्स्ना' और उसके बाद की रचनाओं में जो बातें अमूर्त सिद्धान्त के रूप में कही गयी थीं उन्हें यहाँ अधिक मूर्त और प्रतीकात्मक शैली में कहा गया है।

चौथे और अन्तिम दृश्य में एक काल्पनिक लोकतन्त्र और आश्रम अथवा जीवन संस्थान का चित्र उपस्थित किया गया है। लोकतन्त्र में विज्ञान की सहायता लेकर अन्न, वस्त्र, शिक्षा, कला से सम्पन्न, वर्गहीन समाज का विकास किया गया है। आश्रम में अन्तर्विज्ञान अथवा आत्मज्ञान की सहायता से मानव-जीवन को अन्दर से रूपान्तरित करने और उसे भागवत जीवन के लिए समर्थ बनाने की साधना हो रही है, क्योंकि—

भगवत् जीवन ही भू जीवन का भविष्य है !

अन्त में लोकतन्त्र का बाह्य संचरण आश्रम के अन्तःसंचरण से दीक्षित होता है और उसे यह परमानुभूति होती है कि—

लोकतन्त्र का जीवन वैभव इस जीवन की
छाया की छाया है, क्षर भू रज में लुण्ठित ! ···

कहने को तो यह रूपक भी 'ज्योत्स्ना' जैसा एक अधिस्वप्न (vision) ही है। परन्तु कवि और द्रष्टा का स्वप्न ज्योतिषी की भविष्यवाणी नहीं, जिसके लिए इतिहास को प्रतीक्षा करनी पड़े कि देखें यह सत्य सिद्ध होता है कि नहीं। वास्तव में उसका स्वप्न एक लक्ष्य है जिसकी ओर चलने को इतिहास प्रेरित होता है। यह लक्ष्य उदात्त और महान है। आज की परिस्थितियों में असम्भव भी प्रतीत होता है, पर लक्ष्यविहीन चलने से असम्भव लक्ष्य की ओर चलना किसी भी समय अधिक श्रेयस्कर है। इतनी कामना तो हम कर ही सकते हैं कि मानव के लिए यह अधि-स्वप्न आकर्षक और प्रेरक सिद्ध हो।

'अप्सरा', जैसा कि पन्तजी ने स्वयं कहा है, 'सौन्दर्य चेतना का रूपक' है। यह रूपक 'गुंजन' की 'अप्सरा' शीर्षक कविता से असम्बद्ध नहीं है। दोनों को साथ पढ़ना अधिक उद्बोधक और आनन्दप्रद होगा। 'गुंजन' में अप्सरा के प्रतीक से उन्होंने किसकी ओर संकेत किया था यह इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जायेगा—

प्रति युग में आती हो रंगिणी !
रच-रच रूप नवीन,
तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित-अप्सरि !
त्रिभुवन भर में लीन।

यह तो वही पराशक्ति है जिसने गीता में कहा था, 'सम्भवामि युगे युगे'। यह शक्ति सत्, चित्, आनन्द ही नहीं सुन्दर भी है। सुर-नर मुनियों ने जब कभी उस शक्ति को सगुण रूप में स्मरण किया तब शायद ही कभी उसके 'शुभांगम्' की ओर भी संकेत न किया हो। रूपक की अप्सरा भी सौन्दर्य चेतना होकर परम चेतना ही है; जो एक बार फिर वसुधा पर उतरती है—

केवल न प्रकृति ही का प्रांगण
मैं रंग वृष्टि में नहलाती,

मैं अन्तर जग को भी अपनी
स्वप्निल सुषमा में लिपटाती !

इस रूपक में पहली बार दृश्यों के शीर्षक दिये गये हैं। प्रथम दृश्य है 'भावोद्वेलन'। कलाकार इस शक्ति को अपने हृदय में उतारने के लिए भावाकुल है। वह अपनी श्रद्धा और विश्वास उसे समर्पित करता है—

तुमको प्रतीति करता अर्पित
उर की श्रद्धा से अभिनन्दित,

पर वह तो इन दोनों से कुछ बड़ी चीज़ माँगती है—

मैं आत्म समर्पण के क्षण में
निर्झर प्रकाश के बरसाती।

यह 'आत्मसमर्पण' वही है जिसे तुलसीनास ने शिव के मुख में इस प्रकार रक्खा था—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।

आत्म-समर्पण प्रेम के बिना कब सम्भव है ?

द्वितीय दृश्य 'मानसिक संघर्ष' है। इसमें अवचेतन की विकृतियाँ, जिन्हें कवि ने अनेक अशोभन और अपरूप प्रतीकों से व्यक्त किया है, इतनी सजग हो जाती हैं कि नव्य सौन्दर्य चेतना उतर नहीं पा रही है ! तृतीय दृश्य है 'उन्मेष'। पुराणों में धर्म की ग्लानि होने पर जिस प्रकार धरा धेनु का रूप धारण कर भगवान के आगे विनती करती है कि वे अवतार लेकर उसका भार हटायें वैसे ही यहाँ धरा-चेतना करती है।

युग के कर्दम में लिपटा तन
अवचेतन तम में भटका मन,
जीवन स्वर्ग बसाने को कब से आकुल घटवासी !
... ...
मेरे मूक हृदय में प्रतिक्षण
जगता रहता स्वर्गिक स्पन्दन,
अमर चेतना से कब मण्डित होंगे मृत्यु विलासी !

और जैसे भगवान ने आश्वासन दिया था कि—

हरिहउँ सकल भूमि गरुआई,
निर्भय होहु देव समुदाई।

वैसे ही यहाँ कलाकार आश्वासन देता है —

जगत भागवत जीवन भिन्न पदार्थ नहीं हैं
ईश्वर का ही अंश जगत, आरोहण पथ पर,
जिसका पूर्ण प्रकारान्तर होना निश्चित है !

चतुर्थ और अन्तिम दृश्य है 'रूपान्तर' जिसमें कलाकार बताता है कि सौन्दर्य चेतना क्या है ? उसके शब्द थोड़े किन्तु बड़े सारगर्भित हैं 'जग जीवन की अन्तरतम स्वर संगति'—जग, अर्थात् बाह्य के साम्य, और जीवन, अर्थात् अन्तर के ऐक्य में संयोजन—बहिरन्तर संयोजन—पन्तजी के दर्शन का वह मूल मन्त्र, जो उनके उत्तर काव्य में विविध रूपों में प्रतिध्वनित होता रहता है।

काव्य में प्रतीकों के प्रयोग के बारे में मेरी एक धारणा है। जब कवि की तीव्रतम भावनाएँ अभिव्यक्त होने के लिए व्यग्र होती हैं तब एक-अर्थी अथवा दो-

अर्थी शब्द भी उसका साथ नहीं देते और वह प्रतीकों का सहारा लेता है। इसको दूसरी तरह से कहना शायद अधिक समीचीन होगा। तीव्रतम भावनाओं की वेदना से अपने को मुक्त करने के लिए कवि का मस्तिष्क उनकी अनुभूति किन्हीं प्रतीकों में करने लगता है। जेलखाने में पड़ा हुआ आदमी अपने को पिंजड़े का पंछी समझता है। यह बात बोरिस पेस्टरनाक ने अपने शेक्सपियर के अनुवाद-सम्बन्धी लेख में इस प्रकार लिखी है कि प्रतीक अहं की कारा से निकलने के द्वार हैं। ऐसी स्थिति की अभिव्यक्ति में प्रतीकों की भाषा स्वाभाविक होती है। प्रतीकों से कवि का कितना तादात्म्य है, यह भावों की तीव्रता पर निर्भर होगा। अंग्रेज़ी में इस शैली के सबसे बड़े कवि ब्लेक हैं। वे प्रतीकों के बड़े व्यापक और सम्यक् भण्डार में पैठ जाते हैं और वहीं से अपनी भावना की निधियाँ बिखेरते रहते हैं। उनकी बहुत-सी कविताओं का अर्थ समझ में नहीं आता, पर केवल अर्थ के माध्यम से तो बहुत साधारण श्रेणी की कविता ग्रहण की जाती है। ब्लेक इस भण्डार के साथ इतना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि वे स्वयं नहीं बता सकते कि अपनी किस भावना के लिए वे किस प्रतीक का प्रयोग करते हैं। यह तादात्म्य का एक छोर है। बीच का कवि सतर्कता के साथ प्रतीकों को चुनता और उनका सामंजस्यपूर्ण प्रयोग करता है—कविता चूँकि सायास कला है इस कारण भावना के साथ विवेचनात्मक बुद्धि का थोड़ा जागरूक रहना अच्छा ही होता है। दूसरे छोर पर कवि प्रतीकों का चुनाव ही नहीं करता, उनकी व्याख्या भी करता है। अर्थ के ही माध्यम से कविता तक पहुँचनेवाले पाठक के लिए शायद यह व्याख्या उपयोगी भी होती है, पर सारगर्भित प्रतीकों में जो रहस्य, जो जादू होता है वह खो जाता है और अर्थ से गहरे जानेवाले पाठक को निराशा होती है। पन्तजी जब अप्सरा की व्याख्या करके बताते हैं कि यह सौन्दर्य चेतना है तो मेरा आधा नशा उतर जाता है; जब वे उस व्याख्या की भी व्याख्या करते हैं कि सौन्दर्य चेतना है 'बहिरन्तर संयोजन' तब मेरा पूरा नशा उतर जाता है और मैं 'गुंजन' की 'अप्सरा' को पढ़ने के लिए लालायित हो उठता हूँ जिसमें प्रतीक विवेक-बुद्धि से चुना तो गया है, पर उसकी व्याख्या नहीं की गयी है। इसी प्रसंग में मैं भी 'गुंजन' में 'विहग के प्रति' कविता का भी स्मरण करता हूँ जहाँ 'विहग' उसी पराशक्ति का प्रतीक है जिसका कि 'अप्सरा', पर कवि ने प्रतीक पर से रहस्य का आवरण हटाने का प्रयत्न नहीं किया।

> रिक्त होते जब-जब तरुवास
> रूप धर तू नव-नव तत्काल,
> नित्य-नादित रखता सोल्लास
> विश्व के अक्षय-वट की डाल।

मुझे तो इस 'जब-जब' में गीता के 'यदा-यदा हि···' की ही प्रतिध्वनि मिलती है।

> बाढ़ी आवत देख के तरवर डोलन लाग,
> हमें कटे की डर नहीं पंखेरू घर भाग।

वाले प्रसिद्ध दोहे में यदि कबीर यह बताने लगते कि बाढ़ी, तरवर, कटना, पंखेरू, घर क्या हैं तो उसका कवित्व नष्ट हो जाता। हमारे पुराने कवियों में शायद कबीर ही सबसे अधिक प्रतीकों के संसार में पैठते हैं। प्रतीकों से तादात्म्य की अवस्था में वे कठबैठी भी कहने लगते हैं। ऐसी अभिव्यक्ति की मनःस्थिति समझते हुए भी मैं उसका समर्थक नहीं हूँ। कविता के पहेली अथवा शब्दों का गोरखधन्धा बनने को कविता की उच्चतम परिणति मैं नहीं मान सकता। कबीर और ब्लेक बहुत बार कविता को इस श्रेणी तक पहुँचा देते हैं। मुझे तो प्रतीकों के प्रयोग की मध्य की

स्थिति ही अधिक प्रिय है। सांकेतिकता कविता का बहुत बड़ा गुण है पर उसे सृजन के शाश्वत नियम और लक्ष्य से—जो कविता के लिए प्रेषणीयता है—अनुशासित रहना चाहिए। शेक्सपियर के कहने पर भी मैं कवि को, और प्रेमी को भी, पागलों की श्रेणी में डालने के लिए तैयार नहीं; प्रेमी का अनुशासन—दासत्व नहीं—उस समाज से आयेगा जिसमें रहकर उसे प्रेम करना है। कोई मजनूँ बनकर वीरानों की ख़ाक छानने को निकल जाये तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी, पर दिल्ली की सड़कों पर मजनूँ बननेवाले को तो जेल ही जाना होगा।

आधुनिक कवियों में पन्तजी ने प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग किया है। उत्तरोत्तर यह अधिक होता गया है। जिस विधि से प्रतीकों का प्रयोग हुआ है उससे सदा यथेष्ट परिणाम नहीं निकले। इस कारण इस प्रसंग में मुझे लगा कि प्रतीकों के विषय में मैं अपनी धारणा प्रकट कर दूँ। इससे अलग राय भी हो सकती है।

नयी कविता में तो प्रतीकों का सैलाब आ गया है। बहुत बार—सदा नहीं—प्रतीक अभिव्यक्ति की अनिवार्यता बनकर नहीं आते, बहुत बार उन्हें कुछ नवीन, कुछ असाधारण, कुछ आकर्षक, कुछ अप्रत्याशित अथवा कुछ आश्चर्यजनक के आग्रह अथवा मोह से लाया जाता है। हमें यह जान लेना चाहिए कि भावना, या विचार भी, जब सम्यक् प्रतीकों में ढलकर निकलते हैं तो उनकी प्रेषणीयता भी अधिक सटीक और गहन होती है। जहाँ तक पन्तजी के नवीन प्रतीकों का सम्बन्ध है वे बहुत कुछ नवीन विचारों और भावनाओं की नयी अनुभूति से प्रसूत हैं। अभी तो उनके लिए एक-अर्थी भाषा भी नहीं बनी; इस कारण नये प्रतीकों की ओर झुकाव होना स्वाभाविक है और उनकी व्याख्या करने की कमज़ोरी का होना भी। कबीर आदि जिन विचारों के लिए प्रतीकों का प्रयोग करते हैं वे जन-मानस के साधारण अंग हो चुके हैं। पन्तजी के विचारों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। कभी मैं उनके प्रतीकों पर स्वतन्त्र निबन्ध लिखना चाहता हूँ। इसके लिए श्री अरविन्द के काव्य और दर्शन का अच्छी तरह अध्ययन करने की आवश्यकता है, क्योंकि उनसे जो मेरा यत्किंचित् परिचय है उससे मेरी यह धारणा बनी है कि श्री अरविन्द के सक्रिय प्रभाव में आने के बाद से, यानी लगभग पिछले पन्द्रह वर्षों से, पन्तजी के प्रमुख प्रतीक उन्हीं से आये हैं। पर जल्दबाज़ी में कोई फ़ैसला देना उचित न होगा।

अब हम 'स्वप्न और सत्य' रूपक की ओर आयें। यहाँ भी समस्या यही है कि गत युग के अति-आध्यात्मिक और वर्तमान युग के अति-भौतिक आदर्शों और वर्तमान युग के सत्य, यथार्थ और वास्तविकता के बीच जो विपर्यय, विरोधाभास अथवा संघर्ष चल रहा है उसमें किस प्रकार संगति, सामंजस्य एवं समन्वय लाया जाये। पन्तजी की दृष्टि में यह कठिन किन्तु आवश्यक कार्य आज के कलाकार को करना है। 'रजत शिखर' में यह कार्यभार युवक साधक कवि के ऊपर, 'शिल्पी' में मूर्तिकार के ऊपर, और प्रस्तुत रूपक में चित्रकार के ऊपर डाला गया है।

रूपक में तीन दृश्य हैं। पहला दृश्य जागृति की अवस्था का है; शेष दो दृश्य स्वप्नावस्था के हैं। पहले दृश्य में चित्रकार के दो मित्र आते हैं जिनमें से पहला कलाकार के मनःसंघर्ष पर व्यंग्य करता है, उस पर पलायनी होने का आरोप लगता है। इस प्रकार के आरोप युवक साधक कवि और मूर्तिकार पर भी लगाये गये थे। पन्तजी के व्यक्तिगत और साहित्यिक जीवन पर समय-समय पर जो आरोप लगाये गये हैं उन्हीं की ये प्रतिध्वनियाँ हैं। दूसरा मित्र चित्रकार का समर्थक है और उसके अन्तःसंघर्ष की महत्ता भी समझता है। पहले मित्र के लिए जग की

समस्या का हल वर्ग-क्रान्ति और लोक-साम्य में दिखलायी पड़ता है, दूसरे मित्र को मानव ऐक्य को प्रेरित करनेवाले अन्तश्चेतन के नवप्रकाश का भी आभास है। चित्रकार का सहज सीधा-सादा उत्तर है—

नहीं जानता तर्कवाद, विद्वान नहीं हूँ,
मैंने सीखा नहीं पहेली कभी बुझाना !
पर जो मन की आँखों को सुन्दर लगता है
उससे कैसे आँख चुराऊँ ? जो अन्तर के
घटवासी को प्रिय लगता है, कैसे निर्मम
तिरस्कार कर उसे भुलाऊँ ? ...

इन पंक्तियों से पन्तजी के पाठकों को 'गुंजन' के 'तेरा कैसा गान' कविता की याद ताज़ी हो सकती है। तब अपने चम-चक्षुओं से प्रकृति का 'स्वर्ण विहान' देखकर उसके प्राणों में गान फूट पड़ा था। अब उसके मनःचक्षु भी खुल गये हैं और उसके 'घटवासी' उसे अन्तःचक्षु से देखने की भी शक्ति देते हैं। यह वही भौतिक और आध्यात्मिक संचरण के बीच संस्कृति के पथ को देखना है जा आधुनिक भौतिकता की अतिशयता का निराकरण करने के लिए आध्यात्मिकता की ओर कुछ अधिक मुड़ गया है। यह उसके इस कथन से स्पष्ट है —

एक और चेतना शक्ति है, जो मानव के
अन्तरतम में अन्तर्हित है, ज्योति प्रीतिमय :
जो विकास पथ में सम्भवतः, जिसके धूमिल
चरण चिह्न भू पथ पर छोड़ गये प्रबुद्ध जन !
तर्क बुद्धि, मतवादों से जो कहीं पूर्ण है !

इन्हीं प्रबुद्ध जनों का ध्यान करते-करते चित्रकार सो जाता है और अन्तर्जगत् के सूक्ष्म प्रसारों में जागता है, जिसे लोक-कल्पना में स्वर्ग का नाम दिया गया है।

स्वर्ग लोक है यह क्या, अन्तर्मन का दर्पण ?

वहाँ उसे इसका ज्ञान होता है कि विश्व का विकास एक निरन्तर दुहरी गति पर अवलम्बित है। निम्न ऊपर उठ रहा है, ऊर्ध्व नीचे उतर रहा है। मुक्त ऊपर उठ-कर रिक्त में विलीन नहीं होता, नीचे उतरकर निम्न को ऊपर उठने में सहायता देता है। यही मुक्ति का बन्धन और बन्धन की मुक्ति है—

तेरी मधुर-मुक्ति ही बन्धन, —**गुंजन**

आत्मा की निःसीम मुक्ति को
भव की सीमा में बँधवाओ। —**युगवाणी**

मुक्त आत्माएँ अपने को जन-भू की अभिभावक और जन-सेवक मानती हैं। वे कला-कार को आदेश देती हैं कि वह कला को जीवन की वास्तविकता बनाये (रक्त मांस बन जायँ निखिल भावना, कल्पना, रानी ! —**युगवाणी**), जीवन तृष्णा को अन्तर प्रकाश में बदले, घृणा-द्वेष को प्रीति में द्रवित करे और मानव को ईश्वर का प्रति-निधि बनाये। प्रसंगवश यह कह दूँ कि इन उच्च आशयों के लिए कला को प्रयो-जनात्मक बनाना ही पन्तजी का प्रगतिवाद है।

इसके अनन्तर दिव्य महापुरुषों की छायाएँ संक्षेप में अपने-अपने सिद्धान्त-प्रयास बताती हैं जिनसे उन्होंने मानव-समाज को उठाने का प्रयत्न किया—ये छायाएँ हैं—ईसा, बुद्ध, मुहम्मद, गांधी, तुलसीदास, सूरदास, मीरा, कबीर, रवीन्द्र। तुलसी, सूर, मीरा, कबीर की महत्ता पन्तजी ने 'पल्लव' की भूमिका में

मानी थी; 'शिल्पी' के कक्ष में ईसा, बुद्ध, गांधी और रवीन्द्र की मूर्तियाँ थीं—गांधी, रवीन्द्र पर वे कई कविताएँ लिख चुके हैं; 'स्वर्ण धूलि' में हज़रत मुहम्मद पर दो कविताएँ हैं—'आजाद' और 'अन्तिम पैग़म्बर'। विकसित मानव सब धर्मों के प्रति सहिष्णु होगा। 'ध्वंसशेष' में धर्म की प्रतिमा गाड़ दी गयी थी, पर धार्मिकता को मनुष्य नहीं छोड़ सकेगा, वह नव आध्यात्मिकता के रूप में आयेगी। कवि का विश्वास है—

सभी महा कवियों की वाणी जन मंगल की

... ...

सभी महापुरुषों के लक्षण एक रहे हैं,...

... ...

सभी लोक पुरुषों की वाणी सत्य पूत है,
सभी दिव्य द्रष्टा, जन भू के अभिभावक हैं !

इसके पश्चात् चित्रकार विभिन्न धर्मों एवं दर्शनों के अनुसार कल्पित स्वर्गों के अनेक स्तर देखता है। इनमें उपनिषदों के त्याग-भोग (त्यक्तेन भुंजीथा:) परिपूर्ण जीवन का नीलोज्ज्वल स्वर्ग है; इस्लाम और ईसाइयत की जीवन-कामना का हरित स्वर्ग है; शंकर की 'जगन्मिथ्या' धारणा का निष्क्रिय स्वर्ग है जहाँ मुक्ति का दीप केवल टिमटिमाता है, मुक्तात्माएँ केवल जुगनुओं की दीप्ति भर देती हैं; और भी अनेक मत-सम्प्रदायों के अधोमुखी लघु स्वर्ग हैं। अवश्य ही कवि को नीलोज्ज्वल प्रकाश का स्वर्ग ही प्रिय है पर मुख्य उद्‌घोषणा उसकी यह है—

स्वर्ग न रहता कभी चिरन्तन,

क्योंकि वह वास्तविक जीवन से उद्‌भूत कल्पना है। परिपूर्ण जीवन का स्वर्ग भी परिपूर्ण होगा अथवा परिपूर्ण जीवन ही स्वर्ग होगा। इसी को पृथ्वी पर उतारने में मानव जीवन की सार्थकता है।

ऊर्ध्व शक्तियाँ जब सजग होती हैं तब उसकी प्रतिक्रियास्वरूप निम्न शक्तियाँ भी छटपटाने लगती हैं। 'ज्योत्स्ना' में जब सृजन शक्तियाँ उतरती हैं तब संहार शक्तियाँ भी 'डम-डम-डम-डमरू स्वर' में अपना खर ताण्डव आरम्भ कर देती हैं।

स्वप्नावस्था के दूसरे दृश्य में चित्रकार नरक के भी अनेक स्तरों को देखता है। ह्रासवाद, नियतिवाद, निराशावाद, संकीर्णतावाद, सम्प्रदायवाद, जातिवाद, वर्गवाद, स्वार्थवाद, अहंवाद आदि सब वाद यहाँ मूर्तिमान हैं। 'यहाँ' तो यही पृथ्वी है। नरक तो इसी पृथ्वी पर उतरा है। इस नरक के अन्ध-गन्ध से साहित्यिक-सांस्कृतिक जीवन भी विषाक्त है। इस वर्णन-दर्पण में आज का साहित्यिक जीवन अपनी प्रतिच्छाया देख सकता है।

इसके बाद कलाकार के मन में अभिनव आदर्श और कटु वस्तुस्थितियों के चित्र बारी-बारी से आते-जाते हैं।

अभिनव आदर्श यही है कि मानव-मानव समान हों, संगठित समाज में व्यक्ति मुक्त रहे, श्रेय-प्रेय दोनों ही जीवन के एक-से लक्ष्य हों, नगरों में लोग 'लोककर्म' में निरत हों, ग्रामों में 'सहकृषि' (Cooperative Farming) में, सब लोग शिक्षित हों, संस्कृत हों, प्रगतिशील हों—किसी रूढ़ अर्थ में नहीं—और जीने में रस लें, अमरता के आकांक्षी बनें।

कटु वस्तुस्थितियों में कटुतम है युद्ध की तैयारी और युद्ध की आशंका। परन्तु अदम्य आशावादी इस कलाकार की दृष्टि में अँधेरे से अँधेरे नरक और कुरूप से कुरूप वस्तुस्थितियाँ चेतन की प्रगति को नहीं रोक सकतीं—

युग परिवर्तन का दुर्वह क्षण
डाल अचेतन का अवगुंठन
आरोहण करता नव चेतन
प्रलय सृजन क्रम दुर्निवार है।

'शिल्पी' रूपक में मूर्तिकार अन्त में एक ऐसी मूर्ति बनाता है जिसमें युग का अभिनव आदर्श आकार पाता है; 'स्वप्न और सत्य' में चित्रकार शायद पहले दृश्य के बाद भूल ही जाता है कि वह चित्रकार भी है। वह केवल कवि रहकर भी उन सब अनुभूतियों से गुज़र सकता था; बहरहाल उसका चित्रकार होना रूपक की कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है।

'सौवर्ण' इस रचनाकाल का अन्तिम प्रतीक-रूपक है। सौवर्ण का अर्थ हुआ सोने का—कंचन का। पन्तजी की कविता में उत्कृष्ट, निर्मल, ज्योतिर्मय, पवित्र, शुभ्र, तेजोमय के अर्थ में स्वर्ण के प्रयोग के लिए हमें 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' से बहुत पीछे जाना होगा। इन रचनाओं के बाद से उन्होंने सुवर्ण के विशेषण में बहुत अर्थ भरा है और इसका बहुतायत से प्रयोग किया है। सुवर्ण है भी हमारा बड़ा प्राचीन और व्यापक प्रतीक। 'हिरण्यगर्भः' से इसने वेदों में ब्रह्म की ज्योति के दर्शन कराये तो उपनिषदों में 'हिरण्मय' पात्र बनकर इसने सत्य को छिपा दिया। मध्यकालीन युग में सन्तों ने इसे कामिनी के समान त्याज्य ठहराया, पर भक्त लोहे से खरा कंचन बनने की ही प्रार्थना करता रहा। हमारे दीन-दरिद्र ग्रामीणों को सोना देखने को न मिले, पर सोना उनकी कल्पना से कभी दूर नहीं होता—सोने के दिन, सोने की रात, सोने की घड़ियाँ (टिक-टिक करनेवाली नहीं), सोने का भाग, सोने की बरखा, सोने की थाली, सोने का घर उनके गीतों में ही नहीं उनकी बातचीत में भी गूँजते रहते हैं। 'सोनचिरैया' उत्तरप्रदेश में प्रेयसी को कहते हैं; पंजाब में 'सोना' सर्वसुन्दर और बंगाल में 'सोना' सर्वप्रिय का वाचक है। सच्चे, बेदाग, बेलोग, बेजोड़ आदमी के लिए 'सोने का आदमी' का प्रयोग बहु-प्रचलित न हो —ऐसे आदमी बहुत कम होते ही हैं— पर अश्रुत नहीं हैं। पन्तजी का सौवर्ण—'सोने का आदमी' है, उससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ में। आदमी होकर भी वह देवता है ('मर्त्य अमर'); वह देवताओं से भी बड़ा है, देवता तो उसके आगे स्वागत-नत होते हैं, वह ईश्वर ही है एक तरह से, 'ज्योतितमस से पर मैं स्वयं सत्य हूँ।'

जग-जीवन के बारे में तीन तरह की धारणाएँ रखी जा सकती हैं—इसमें गति नहीं है, 'जो जैसा वह बना रहेगा'; नदी वही रहेगी, 'बहता पानी सदा बहेगा'; यह जग-जीवन पतन की ओर जा रहा है, 'ह्रास सतत होता जीवन में'; सतयुग से गिरते-गिरते हम कलियुग में आ गये, आगे चलकर घोर और उससे आगे महाघोर कलियुग में पहुँच जायेंगे; अथवा जग-जीवन का विकास हो रहा है, वह उन्नति की ओर जा रहा है। उन्नीसवीं सदी में चार्ल्स डारविन (1809-'82) ने जीव और वनस्पति-जगत् में विकास के सिद्धान्त की स्थापना की। मनुष्य वानर से विकसित होकर नर हुआ। तथ्य विवादास्पद हो, पर विकासवाद के सिद्धान्त ने ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र को छाप लिया। विचारक हर क्षेत्र में विकास देखने लगे। भारत में दर्शन के क्षेत्र में श्री अरविन्द की विचार-प्रक्रिया संक्षेप में यों हुई—मनुष्य केवल शरीर ही नहीं मनस्, आत्मा भी है, विकास होगा तो सबको लेकर होगा, अगर मनुष्य वानर से नर हुआ है तो नर से नारायण भी होगा। मानस के चरम विकास पर वह अतिमानस और अधिमानस में प्रविष्ट होगा, प्राणवान से महाप्राण बनेगा,

हाड़-मांस-शरीरी से दिव्य-शरीरी (of divine body) बनेगा। मानव-सृष्टि की अन्तिम परिणति यदि यह होनी है तो इससे अनेक तर्कसम्मत सिद्धान्त, स्थापनाएँ, विचार-शृंखलाएँ बनती हैं जिनका प्रतिपादन श्री अरविन्द ने अपने लगभग हज़ार पृष्ठों के महाग्रन्थ 'दि लाइफ़ डिवाइन' में किया है। पन्तजी का 'सौवर्ण' श्री अरविन्द के दि लाइफ़ डिवाइन का 'डिवाइन मैन'···मानव-ईश्वर है।

रूपक में हिमाद्रि की श्रेणियों में, जो विश्व-संस्कृति-संचय का प्रतीक है, देवी-देवता एकत्र होते हैं और समग्र सृष्टि पर दृष्टि डालकर देखते हैं कि अवचेतन के साथ ही अन्तश्चेतन में समान सक्रियता है। वास्तव में यह सन्धिकाल है, संक्रमण-वेला है, एक वृत्त का समापन हो गया है और बहिरन्तर में नया संयोजन आरम्भ होने को है। देवता ध्यानावस्थित हो जाते हैं।

फिर स्वर्दूत-स्वर्दूती पृथ्वी पर उतरकर देखते हैं कि कुछ लोग केवल ऊर्ध्व-मनस् की श्रेणियों पर चढ़ रहे हैं, जो कवि की दृष्टि में एकांगी और अवांछनीय है; दूसरी ओर कुछ लोग समदिक प्रसार में आगे बढ़ रहे हैं—विज्ञानोन्नति कर रहे हैं; वस्तुतः विज्ञान के अमृत को गरल में बदल रहे हैं—पर उनमें विभिन्नता है, स्पर्धा है, ईर्ष्या-द्वेष है। संसार के स्त्री-पुरुषों में विचार-मंथन हो रहा है। वे इससे सचेत हैं कि विश्व की परिवर्तित परिस्थितियों में गत युग के धर्म, नीति, आचार, आदर्श, जड़-मृत हो चुके हैं; एक बृहद भू-भाग वर्ग-संस्कृति से मुक्त होकर सामाजिक समत्व का धरा-स्वप्न निर्माण कर रहा है; दूसरा सामाजिकता की उपेक्षा कर व्यक्ति-मुक्ति पर अत्यधिक बल दे रहा है; बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने पराजय स्वीकार कर ली है (वे ऐतिहासिक दर्शन में 'डिक्लाइन आफ़ दि वेस्ट' लिखते हैं, कविता में 'वेस्ट लैण्ड'); दूसरे बुद्धिजीवी आशावादी तो हैं पर वे सभी अहंवादी हैं, अपने को सुपरमैन, महामानव या विशिष्ट मानव समझते हैं, जन-साधारण को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और उनके नेता बने रहना चाहते हैं।

इसके बाद स्वर्दूती-स्वर्दूत भारत में आते हैं जहाँ एक महत् सांस्कृतिक संचरण जन्म ले रहा है। यहाँ सामाजिक विकास क्षेत्रों में जो कुछ हो रहा है उस पर कवि ने अपना सन्तोष प्रकट किया है, असन्तोष है मध्यकालीन संस्कारों से जिनसे हम अभी मुक्त नहीं हो सके हैं। सरकार जो कुछ करे उससे असन्तोष प्रकट करने या उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने की आदत हम दासता की एक विरासत के रूप में सँजोये हुए हैं। समर्थन और चाटुकारिता में अन्तर है। चाटुकारिता आत्म-विश्वास के अभाव का द्योतक है और यह अभाव पन्तजी में कभी नहीं रहा। कालाकाँकर के सामन्ती राज्य के एक प्रकार से दस वर्ष तक आश्रित रहकर भी उन्होंने सिद्धान्त की भूमि पर उसकी कितनी निर्मम आलोचना की है यह उनकी कविताओं में वही देख सकेंगे जो पंक्तियों के बीच भी पढ़ना जानते हैं। पन्तजी ने श्री जवाहरलाल नेहरू की नीति का समर्थन किया है। कुछ विश्रुत देशों के अधिनायक शान्ति की आड़ में युद्ध का मोर्चा तैयार कर रहे हैं—

पर देखो, वह विश्व शान्ति की रजत शिखा सा
जो सबके सँग है—हताश वह नहीं तनिक भी!
मध्यमार्ग का पथिक, तटस्थ सदा हिंसा से,
पंचशील का पोषक, सहजीवन का घोषक,
घृणा द्वेष से विमुख, प्रमुख युग द्रष्टा भी जो,
चिन्तन कृश तन, निज महदाकांक्षा सा उन्नत,
चुप न रहेगा वह, जूझेगा धर्म चक्र ले,

जन मंगल का, लोक न्याय का पक्ष ग्रहण कर
निज नैतिक बल डाल सत्य की विजय के लिए !

इस सन्दर्भ में 'स्वर्ण किरण' ('47) की एक कविता 'श्री जवाहरलाल नेहरू के प्रति' भी देखने योग्य है।

भारत से स्वर्दूत-दूती इसके पश्चात् देवलोक को चले जाते हैं जहाँ से 'कुंचित अलकों' वाले, हिम अंचल के तापस, जीवनद्रष्टा को देखते हैं। वह कोई काल्पनिक क्रान्तद्रष्टा है, या श्री अरविन्द हैं, या कवि स्वयं है ? शायद तीनों ही एक साथ पन्तजी के मन में हैं। देवताओं और स्वर्दूतों ने जितने एकांगी संचरणों की अतिशयताएँ देखी थीं उन पर विचारकर वह इस परिणाम पर पहुँचता है—

महत् समन्वय आज चाहिए युग मानव को

अब उसी 'महत समन्वय' के अवतार 'सौवर्ण' का महा आगमन होता है— जो एक साथ ही अग्नि पुरुष है, प्राण पुरुष है, लोक पुरुष है। कवि कुछ विरोधभासी विशेषणों से 'सौवर्ण' का वर्णन करता है, पर सत्य तो यह है कि इस भविष्य की महत् कल्पना के लिए अभी भाषा नहीं बनी— वह पंक भी है, पंकज भी है; मिट्टी का दीपक भी है, तेजोज्ज्वल दीपशिखा भी है; पशु भी है, देवता भी है; सन्देह भी है, विदेह भी है; सभी से संयुक्त भी है, सभी से वियुक्त भी है; वह मुक्त व्यक्ति भी है, समाज-संगठित भी; जननायक भी है, जनसेवक भी; कर्मरत भी है, निष्काम भी। उसने जग-जीवन की समस्त विषमताओं के बीच सन्तुलन प्राप्त कर लिया है, वह अधः ऊर्ध्व व्यापक विश्व संचरण का प्रतिनिधि है—

विश्व संचरण जीवन का वैषम्य सन्तुलित !

वह स्वयं कहता है—

भूत भविष्यत् वर्तमान मुझमें ही जीवित,
विश्व समन्वय से मैं महत्...समष्टि प्रेरणा,
सृजन प्रेरणा,...मूर्तिमान जीवन स्पन्दन में !

अन्त में धरा गर्भ से प्रकट वह धरा में ही समा जाता है—भावी मानवता को अनुप्रेरित, अनुप्राणित, अनुमूर्तित करने के लिए। यहाँ श्री अरविन्द के महाप्रयाण और उसमें निहित महत प्रयोजन की ओर संकेत भी है। मूल सिद्धान्त यही निकलता है कि आदर्श मानव, आदर्श समाज, आदर्श संसार सर्वगत समन्वय पर ही आधारित किया जा सकता है।

इन ग्यारह रूपकों पर एक साथ विचार करें तो जो बात हमें प्रभावित करती है वह यह है कि उनकी भाव-भूमि बहुत व्यापक है। भारत और भारतेतर संसार में आज जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक हलचलें हो रही हैं, उन सब पर कवि ने विहंगम दृष्टि डाली है और देखा है कि उनमें विकार कहाँ है, क्यों है, और उनका निराकरण कैसे हो सकता है। मूल विकार है उनकी एकांगिता और संकीर्णता; मूल उपचार है निर्भीक, मुक्त, उदार मनःचक्षु से उनका सर्वेक्षण और संकल्प, श्रम, साधना से उनका संयोजन, सन्तुलन और समन्वयन। दूसरी बात है कवि की आशावादिता जो समस्त संहार, चीत्कार, अन्धकार, आँधी-तूफान के बीच निष्कम्प दीपक की लौ के समान जाज्वल्यमान रहती है। और तीसरी बात है कि कवि की अडिग आस्था कि महामंगलमय भगवान के इंगितों पर चलता हुआ यह संसार महामंगल की ओर ही जा रहा है।

रूपकों के प्रकार पर विचार करें तो उनमें आये हुए 74 गीतों को छोड़कर ये

ग्यारहों रूपक 24 मात्रा के अतुकान्त रोला छन्द में लिखे गये हैं। इस छन्द में शास्त्रीय यति शायद तेरह-ग्यारह मात्रा के बीच मानी जाती है। पन्तजी ने नाटकीय प्रवाह और विभिन्नता लाने के लिए यति के स्थान में कुछ स्वतन्त्रता ली है और उसे बारह-बारह मात्राओं के बीच या पंक्ति में दो बार आठ-आठ मात्राओं के बीच रक्खा है। इसी प्रकार पंक्ति के अन्त में वांछित दो गुरु मात्राओं के स्थान पर कथोपकथन में धारावाहिकता के लिए लघु-गुरु या दो लघु मात्राओं का उपयोग किया है।

'पल्लव' की भूमिका में ही पन्तजी ने अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए रोला छन्द की विशेष उपयुक्तता देखी थी। रूपकों के विशिष्ट और विविध मनोजीवन को मुखरित करने के लिए, रेडियो के ध्वनि-माध्यम का ध्यान रखते हुए, इस छन्द का चुनाव कवि की रुचि और विवेक दोनों का साक्षी है। साहित्य में जिस गुण को नाटकीयता कहते हैं उसका इन रूपकों में अभाव है। उसके लिए मनोजीवन नहीं, स्थूल जीवन, हाड़-मांस के जीवन का आधार चाहिए। सारे ही पात्र विचारों के ग्रामोफोन—अब टेप रिकार्डर कहना अधिक आधुनिक होगा—या रट्टू तोते हैं। उनके शब्दों में उनका रक्त-मांस नहीं बोलता, उनका दिमाग भी नहीं बोलता, दूसरे का दिमाग़ बोलता है। पन्तजी को भी अपने रूपकों के बारे में कोई ग़लत-फ़हमी नहीं है। 'चिदम्बरा' के 'चरण-चिह्न' में वे लिखते हैं, 'अपने काव्य-रूपकों को मैं नाटक न कहकर कथोपकथन प्रधान श्रव्य-काव्य ही की संज्ञा दूँगा।' इससे मैं पूर्णतया सहमत नहीं हूँ पर इसकी चर्चा आगे करूँगा।

खड़ी बोली को अन्त्यानुप्रासहीन रोला में इतना ढालने, माँजने का काम इससे पूर्व किसी कवि द्वारा नहीं हुआ था। सीमित क्षेत्र में ही सही, इसने वर्णनात्मक और, प्रकार के अर्थ में, नाटकीय काव्य के लिए रोला की उपयोगिता सिद्ध की। अंग्रेज़ी काव्य का हिन्दी में अनुवाद करनेवाले ब्लैंकवर्स छन्द के जोड़ के हिन्दी छन्द की तलाश में रोला पर ही आकर अटके। शेक्सपियर, मिल्टन, एसकिलस (जो अंग्रेज़ी के माध्यम से अनूदित हो रहा है) के अनुवाद, अतुकान्त रोला में, इन रूपकों के बाद ही सामने आये और जाने या अनजाने रूप से उनसे प्रेरित और प्रभावित रहे। प्रसंगवश मैं यह बता दूँ कि 'मैकबेथ' और 'ओथेलो' के अनुवाद में रोला के प्रयोग में मैंने पन्तजी द्वारा ली स्वतन्त्रताओं पर दो क़दम और आगे बढ़ाये। पन्तजी ने अपने 'रजत शिखर' की विज्ञप्ति में कहा था, 'पद्यनाट्य में लय की गति को अक्षुण्ण रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पढ़ते समय प्रत्येक चरण के अन्त में यथेष्ट विराम दिया जाये।' कथोपकथन में स्वाभाविकता लाने के लिए मैंने 'रन आन' चरणों का प्रयोग किया, जिसमें चरण के अन्त में नहीं, विचार के अन्त में रुका जाता है, चाहे वह जगह पंक्ति के बीच में पड़े। दूसरी बात मैंने यह की कि प्रत्येक चरण में 24 मात्रा रखने के बजाय दो पंक्तियों को मिलाकर, कहीं-कहीं, 48 मात्राएँ रखीं या तीन को मिलाकर 72 जिनमें अकेली पंक्तियाँ 23, 25 या 26, 23, 23 की भी हो सकती हैं। इन स्वच्छन्दताओं से कथोपकथन की नाटकीयता कहाँ तक बढ़ी है, इसका निर्णय मैं पाठकों, और उससे अधिक अभिनेताओं, दर्शकों-श्रोताओं पर छोड़ना चाहता हूँ।

ये रूपक रेडियो पर प्रसारित होने के लिए लिखे गये थे और समय की सीमा में संक्षिप्त करके प्रसारित किये भी गये। अप्रैल '52 में इंग्लैण्ड चले जाने के पूर्व पन्तजी के जितने रूपक प्रसारित हुए, मैंने सुने—शायद अन्त के तीन को छोड़कर सब। सुनने पर बहुत कम मेरे पल्ले पड़ा। पन्तजी के विचार विशिष्ट और भाषा

क्लिष्ट थी; यह बात तो बिल्कुल भुला दी गयी थी कि रेडियो पर प्रसार की जाने-वाली चीज़ें किस श्रेणी के श्रोताओं के लिए हैं। पर हिन्दी संसार से जब कोई विरोधी स्वर नहीं उठता था तब मैं ही क्यों अपने अल्प हिन्दी-ज्ञान का ढिंढोरा पीटता। साधारण श्रोताओं ने इनसे क्या पाय होगा वे ही जानें।

बात यह थी कि स्वतन्त्रता मिलने से पहले और स्वतन्त्रता मिलने के दो-तीन वर्ष बाद तक रेडियो से हिन्दी के नाम पर हिन्दोस्तानी और हिन्दोस्तानी के नाम पर उर्दू और उर्दू के नाम पर अरबी-फ़ारसी को प्रमुखता दी जाती रही। सन् '50 में पन्तजी रेडियो पर आये तो उनकी संस्कृतनिष्ठ क्लिष्ट हिन्दी को लोग पूर्व भाषा-विष के काट, मारक या ऐण्टी डोट के रूप में बड़े धीरज के साथ निगलते गये—विषस्य विषमौषधम्। अंग्रेज़ी कविता के बारे में मेरा अनुभव यह है कि बहुत-सी कठिन कविता सुनने से बहुत कुछ बोधगम्य हो जाती है। पन्तजी की कविता केवल सुनकर मैं नहीं समझ सका। मेरी असहमति उसे 'श्रव्य काव्य' मानने से है। शाब्दिक अर्थों में वह 'श्रव्य काव्य' की दृष्टि से असफल रही। 'पाठ्य काव्य' की दृष्टि से उसके बहुत-से गुण भी हैं। पर रेडियो से तो ऐसी ही भाषा की प्रत्याशा की जाती है जो सचमुच ही श्रवण-सुबोध हो। मैं एक प्रकार की ऐसी कविता की सम्भावना भी समझता हूँ जो पठन, मनन, चिन्तन के लिए हो। 'रामचरितमानस' सुनकर समझा जा सके, पर 'विनय पत्रिका' को, कुछ पदों को छोड़कर, केवल सुनकर समझ लेने का दावा कौन करेगा ?

पन्तजी की भाषा से झगड़ना बेकार है। उनकी कुछ परिस्थितिगत, कुछ व्यक्तिगत, कुछ भाव-विचारगत सीमाएँ हैं जिनके अन्दर से ही उन्हें अपने को अभिव्यक्त करना है। इस विषय पर मैं और कहीं भी लिख चुका हूँ इसलिए यहाँ संकेत मात्र करना है। खड़ी बोली नयी भाषा है और उसका जन्म युग-राष्ट्र की नयी चेतनाओं को मुखरित करने के लिए हुआ है। हमें अपरिचित और नवीन के स्वागत के लिए तैयार रहना होगा। खड़ी बोली का ध्वनि-सौन्दर्य एक सिरे पर फ़ारसी-अरबी का है, दूसरे सिरे पर संस्कृत का; अपने व्यक्तिगत संस्कारों से कोई एक-दूसरे से निकट या दूर हो सकता है, पन्तजी संस्कृत के निकट, अरबी-फ़ारसी से दूर हैं। भाव-विचार अथवा स्फुरणाओं का नया क्षेत्र नयी भाषा, नयी-शब्द-योजना, नये प्रतीक माँगता है। ऐसे क्षेत्र कम नहीं हैं जिनमें हिन्दी कवियों में उन्होंने पहले-पहल क़दम रक्खा है। ऊपर जो मैंने उनकी भाषा की आलोचना की है वह केवल इस विचार से कि वह ध्वनि-माध्यम रेडियो के लिए अनुपयुक्त थी। पन्त ऐसा समन्वयवादी भाषा के सम्बन्ध में समन्वय का विरोधी नहीं हो सकता, पर जब हिन्दी का समन्वय राष्ट्रभाषा के रूप में किया जायेगा तब वह भारत की बारह अन्य भाषाओं के साथ भी होगा, केवल उर्दू के साथ नहीं। उस समय इसका ध्वनि-सौन्दर्य फिर संस्कृत की ओर ही झुकेगा। अन्त में, पन्तजी के काव्य का भाव-विचार-संसार इतना समृद्ध है कि केवल भाषा की क्लिष्टता से किसी को उसमें प्रविष्ट होने से हतोत्साह नहीं होना चाहिए। उसे पार करने को जो श्रम किया जायेगा, वह अपुरस्कृत नहीं रहेगा।

रूपकों में आये हुए गीतों के विषय में यहाँ मैं अधिक नहीं कहना चाहता। उनके गीत एक स्वतन्त्र निबन्ध के विषय हो सकते हैं। गीतों में भाव अथवा राग तत्त्व प्रधान होता है। स्वाभाविक है कि उनकी भाषा अधिक तरल-सरल और संगीतमय है। गीतों के लिए सबसे परिपूर्ण, अजस्र, सुन्दर और निर्मल स्रोत तीव्रा-नुभूतियाँ हैं—अनुभूतियाँ जो नस-नाड़ियों में चलें, रक्त में डोलें, हृदय में धड़कें,

विवशता में मुँह खोलें ('विवश, फूटते गान'—**स्वर्ण धूलि**)। यह तो फ़ौरन कहा जा सकता है कि ये गीत अनुभूतिप्रसूत न होकर सहानुभूतिप्रसूत हैं। इसका एक लाभ भी है, अनुभूति से सहानुभूति का क्षेत्र अधिक व्यापक हो सकता है जैसा कि इन गीतों की विविधता से ही स्पष्ट है। तन-प्राण-मन में अनुभूत सत्य और मस्तिष्क के धरातल पर कल्पित सत्य में अन्तर होना स्वाभाविक है। एक को मैं निर्झर कहूँगा, दूसरे को नहरों का जाल जिससे एक विस्तृत भूभाग सिंचित किया जा सकता है। रूपक, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, एक विचार विशेष को पोषित-घोषित करने के लिए लिखे गये हैं; गीत उन्हीं परियोजनाओं में आबद्ध-सीमित अपनी गति निर्धारित करते हैं। उनको स्वतन्त्र निजी महत्त्व देना रूपक के लिए अपेक्षित कला के विपरीत भी जाता। फिर भी ऐसे कुछ गीत चुने जा सकते हैं जो सन्दर्भ से कटकर भी अपने में पूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, 'शिल्पी' का यह गीत 'यमुना तट पर नटनागर ने कैसे वेणु बजाई।' रूपकों के सम्बन्ध में 'इत्यलम्' कहकर अब मैं पन्तजी के दो कविता-संग्रहों की ओर आता हूँ।

'अतिमा' लगभग एक वर्ष में लिखी कविताओं का संग्रह है। विविधता पन्तजी के संग्रहों की विशेषता है; उसमें एक सूक्ष्म एकसूत्रता हो पर उसे देख सकना साधारण पाठक के लिए कठिन होता है। 'अतिमा' के विज्ञापन में वे स्वयं कहते हैं, 'प्रस्तुत संग्रह में, प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, अधिकतर, ऐसी ही रचनाएँ संगृहीत हैं जिनकी प्रेरणा युग-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।'

इस उद्धरण से कविताओं की दो श्रेणियाँ तो तुरन्त स्पष्ट हो जाती हैं (1) प्रकृति-सम्बन्धी, (2) सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त; पर ये 'अधिकतर' हैं; इससे स्पष्ट है कि कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जो इन दो श्रेणियों में नहीं आतीं। सम्भवतः कवि का संकेत 'नेहरू युग', 'अभिवादन', 'लोकगीत' या 'विज्ञापन' जैसी कविताओं से है। 'नेहरू युग' में पन्तजी ने 'महत् ध्येय', साधन मंगलमय', 'सहस्थिति' और 'पंचशील' के युग का अभिवादन किया है; 'अभिवादन', 'विश्वशान्ति के अथक प्रयासी' श्री जवाहरलाल नेहरू के प्रति है। 'लोकगीत' असफल स्वप्न 'लोकायन' का आदर्श बताता है। अवधी में एक कहावत कही जाती है, 'पर मुई सास, एसौं आये आँस' यानी पारसाल सास मरी और इस साल आँसू आये। वात को ज़्यादा दूर समानान्तर ले जाने की ज़रूरत नहीं है। यही कहा जा सकता है कि 'लोकायन' तलवे में टूट गये काँटे की तरह अब भी कभी-कभी पन्तजी के मन में करक उठता है। 'विज्ञापन' इस समय अधिक प्रचलित हो गये मुक्त छन्द का स्वागत करता है। शीर्षक से विषय की कल्पना शायद ही कोई कर सके। कविताओं का शीर्षक देना भी एक कला है। इधर पन्तजी या तो इसकी उपेक्षा कर रहे हैं या कोई ऐसा सूक्ष्म संकेत कर रहे हैं कि शीर्षक से कविता का विषय जान लेना बहुत कठिन हो गया है। बहरहाल, इस कविता में पन्तजी ने मुक्त छन्द की बड़ी सफल वकालत की है। उनके आदर्श का मुक्त छन्द, छन्द का बन्धन छोड़ देने से गद्य नहीं बन जाता। वह कविता के आन्तरिक गुणों को धारण किये रहता है। गद्य तो बहता पानी है, मुक्त छन्द वह पिघला सोना है जो अपने साथ आग भी लिये रहता है। बढ़िया और घटिया मुक्त छन्द का अन्तर पानी और पिघले सोने का है जिन्हें शब्दों के बाने में ठीक-ठीक पहचानना पारखियों का काम है। कवि जब अपने भावों को इतना ताप दे सके कि उसका कविता-कंचन पिघल उठे तभी वह मुक्त छन्द में लिखने का अधिकारी है। अधिक तप्त भावों की अभिव्यक्ति मुक्त

छन्द में ही हो यह आवश्यक नहीं। कवि के मस्तिष्क में बहुत तरह के जादुओं की सम्भावना है। वहाँ ताप से कंचन गल सुन्दर आभूषण में भी ढल सकता है—ढला भी है। हमारे बड़े-बड़े कवियों के गीत ऐसे ही आभूषण नहीं तो क्या है ? ज़रूरत यह है कि कवि के हृदय में कुन्दन का डला हो, फिर चाहे वह उसे गलाकर छोड़ दे, चाहे अलंकरण में ढाल दे। गले हुए सोने का भी मूल्य कम नहीं। साथ ही पद्यबद्ध कविता के लिए यह भी कह देने में मुझे संकोच नहीं है कि पानी बरफ़ में बँध जाने से, आकार ले लेने से ही चाँदी का टुकड़ा नहीं समझा जा सकता। अन्तिम महत्ता काव्य-तत्त्व पर होगी न कि उसके बाहरी रूप पर, गो कविता के सम्बन्ध में रूप और तत्त्व को अलग-अलग इकाई मानकर देखना भी गलती है।

'अतिमा' की कुछ कविताएँ आत्म-केन्द्रिक भी हैं—जैसे 'नव अरुणोदय', 'गीतों का दर्पण' जिनमें कवि ने अपने महत्त्व को समझा, और आत्मविश्वास के साथ उसे उद्घोषित किया है—

मैं प्रभात का रहा दूत नित,
× × ×
यदि मरणोन्मुख वर्तमान से
ऊब गया हो कटु मन,
उठते हों न निराश लौह पग,
रुद्ध श्वास हो जीवन !
... ...
तो मेरे गीतों में देखो
नव भविष्य की झाँकी,
निःस्वर शिखरों पर उड़ता
गाता सोने का पाँखी !

'जन्मदिवस' और 'कूर्मांचल' के प्रति कविताएँ भी इस श्रेणी में आयेंगी। पहली कविता पन्तजी ने अपने 54वें जन्मदिवस पर लिखी थी। उसमें अपनी जन्मभूमि के प्राकृतिक और सामाजिक जीवन की बड़ी भाव-भीगी झाँकियाँ उन्होंने सजायी हैं; जन्मकाल में, बीसवीं सदी के प्रारम्भ में, नव जागरण और नव चेतना की जो सूक्ष्म शक्तियाँ अवतरित हो रही थीं उनका भी संकेत किया है। इस कविता के अन्त में उन्होंने बताया है कि आज भी अपनी जन्मस्थली से क्या प्रेरणाएँ ले किस खोज में वे लगे हुए हैं :

हिमवत का विश्वास अटल ले, नव प्रभात की आशा,
नील मौन में खोये श्रृंगों की अनन्त जिज्ञासा,—
प्रलय क्रोड़ में खींच प्रौढ़ शिशु अमृत प्राणप्रद श्वासा,
घृणा द्वेष में लिये हृदय में महत् प्रेम अभिलाषा
खोज रहा वह युग विनाश में नव जीवन परिभाषा,
विश्व ह्रास में—नवल चेतना, सृजन प्रेरणा, भाषा।

इस श्रेणी की अन्तिम कविता 'आत्म निवेदन' है जो अपने घटवासी के समक्ष है। बहुत प्रारम्भिक प्रयत्नों के बारे में कुछ कहने के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं है। उनके दो काव्य-संग्रह उनके विद्यार्थी-जीवन में मोमबत्ती से जलकर नष्ट हो गये थे। पर उनकी प्रारम्भिक प्रकाशित रचना 'वीणा' को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्य-साधना के साथ आत्म-साधना का स्वप्न अथवा व्रत लेकर चले थे। इस आत्म-साधना के पथ में जो प्रलोभन आये, जो संघर्ष करना पड़ा, जिन महत्

उद्देश्यों और आदर्शों से कवि ने प्रेरणा ली, उनकी थोड़ी-सी झलक भर हमें 'गुंजन' में मिलती है—'तप रे मधुर-मधुर मन', 'तत्क्षण सचेत करता मन —ना, मुझे इष्ट है साधन', 'क्या मेरी आत्मा का चिर धन', 'मैं प्रेमी उच्चादर्शों का', 'सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन', 'मेरी कितनी ही बातें कुम्हला चुपचाप गयी हैं, मैं कैसे उन्हें भुलाऊँ', 'जीवन निसंग रे व्यर्थ-विफल !', 'मेरा प्रतिपल सुन्दर हो, सुन्दर, सुखकर, शुचितर हो !' अपनी पचपन वर्ष की अवस्था में कवि अपने पिछले साधनामय जीवन पर दृष्टिपात करता है और 'कूर्मवत दृढ़व्रत' रह सकने का श्रेय 'भगवत् करुणा' और अपनी श्रद्धा को देता है—

पीकर तिक्त मधुर मधु ज्वाला
रिक्त किया जीवन का प्याला,
मैं संयत, चैतन्य रहा नित,
हुआ न मोह प्रमत्त एक क्षण !
प्रतिपल दे कटु अग्नि परीक्षा,
पग-पग पर ले असि पथ दीक्षा,
हुआ तप्त, मर्माहत भी मैं,
दु:ख दग्ध, कुण्ठित न किया मन !

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पन्तजी की वाणी उनके साधना-शुभ्र जीवन की वाणी है। उनकी समस्त रचनाओं पर तुलसी की यह अर्धाली विश्वासपूर्वक लिखी जा सकती है—'इहाँ न विषय कथा रस नाना।'

प्रकृति पन्तजी की अभिन्न संगिनी है। वे प्रकृति के रूप, मन, आत्मा सबसे परिचत हैं। वे प्रकृति को देखते हैं, प्रकृति में देखते हैं, प्रकृति को भेदकर उसके आरपार देखते हैं। प्रकृति का केवल बाहरी आँखों से देखा बाहरी सौन्दर्य भी पन्त-जी की कविता में कम वर्णित नहीं है। भावना से रंजित वर्णन भी पर्याप्त हैं। प्रकृति के पीछे जो शक्ति है उसका भी संकेत उन्होंने बहुत जगहों पर किया है। अपने उत्तर काव्य में उन्होंने प्रकृति के विभिन्न उपादानों के द्वारा अक्सर अपने सूक्ष्म या दार्शनिक विचारों को प्रक्षिप्त (Project) किया है। 'जन्मदिवस', 'गिरिप्रान्तर', 'पतझर', 'कूर्मांचल के प्रति' शीर्षक कविताओं में प्रकृति का विशुद्ध वर्णन बड़ी मनोज्ञता और मुग्धता से किया गया है। पर अब वे प्राय: तब तक सन्तुष्ट नहीं होते जब तक प्रकृति के स्थूल रूपों में किसी सूक्ष्म तत्त्व का अभिचित्रण भी नहीं देख लेते। यहाँ अन्तिम कविता में विशेष रूप से उन्होंने तलहटियों में समदिक संचरण और शिखर में ऊर्ध्व संचरण को प्रतिच्छायित देखा है :

अब मैं समझ सका महत्त्व इन शिखरों का स्वर्गोन्नत
... ...

मुखरित तलहटियों को, नि:स्वर क्षितिजों को अतिक्रम कर
सात्त्विक शिखरों में जग, मानस में श्रद्धा संभ्रम भर,
स्वर्ग धरा के मध्य शुभ्र दिग् विशद समन्वय से स्थित,—
भू से रूप विधान, व्योम से सार भाव ले निर्मल,
श्यामल, प्राणोज्वल रखते तुम जग का उर्वर अंचल,
आरोहों के वैभव से अवरोहों को कर कुसुमित !

अब हम 'अतिमा' के प्रमुख स्वर पर आते हैं। 'अतिमा' का अर्थ पन्तजी ने स्वयं इस प्रकार दिया है 'वह मन:स्थिति जो आज के भौतिक, मानसिक, सांस्कृतिक परिवेश को अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता से अनुप्राणित हो।' 'अतिमा'

शीर्षक कविता इसे कुछ और स्पष्ट करती है—'अतिमा' वह ज्योति है जो अन्धकार को छेड़ती है, वह शक्ति है जो भू-जीवन को विकसित करती है, वह चेतना है जो ऊपर उठकर अन्तर में झरती है और अन्त में अपने को अपने पथदर्शक को श्रद्धानत समर्पित कर देती है। जड़, अन्धकार, अचेतन से चलकर जीवन द्वाभा के चैतन्य में समदिक प्रसरित होता हुआ जो जड़-जीवन, अन्धकार-प्रकाश, अचेतन-अतिचेतन से परे ऊर्ध्वतम या अन्तरतम सत्ता में विकसित होने के क्रम में है, उसके कितने रूप, उसकी कितनी स्थितियाँ, कितनी भावानुभूतियाँ हो सकती हैं इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। 'अतिमा' का कवि जब किसी देशकाल में सीमित बाह्य से उलझा नहीं होता तब इन्हीं अगणित रूपों, अगणित स्थितियों, अगणित भावानुभूतियों में कुछ को पकड़ने का प्रयास करता है और उन्हें रूपकों और प्रतीकों में मूर्त करता है। सब प्रयुक्त प्रतीकों का रहस्योद्घाटन करना सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए एक ऐसी कविता की ओर संकेत करना चाहता हूँ जहाँ कवि ने स्वयं प्रतीकों की व्याख्या कर दी है, हालाँकि इस प्रकार की व्याख्या को मैं काव्य-कलानुरूप नहीं समझता। 'प्रकाश, पतिंगे, छिपकलियाँ' में आधी कविता लिखकर कवि कहता है :

> पर, प्रकाश, प्रेमी पतंग या
> छिपकलियाँ केवल प्रतीक भर,
> ये प्रवृत्तियाँ भू मानव की,
> इन्हें समझ लेना श्रेयस्कर !

ये पंक्तियाँ स्वयं कितनी कवित्वहीन, पद्यशेष, गद्यात्मक हो गयी हैं ! सोमरस में जैसे पानी मिला दिया गया है। पर आइए कवि से ही इन प्रतीकों को समझ लें—

> ये आत्मा, मन, देह रूप हैं,
> साथ साथ जो जग में रहते,
> ... ...
>
> तुच्छ सरट से उच्च ज्योति तक
> एक सृष्टि सोपान निरन्तर,
> जटिल जगत्, गति गूढ़, मुक्त चिति,
> तीनों सत्य,—व्याप्त जगदीश्वर !

प्रतीकात्मक कविता का उत्कृष्ट उदाहरण 'कौए बतखें मेंढक' है। ये निम्न चेतना के प्रतीक हैं जो ऊर्ध्व चेतना का स्पर्श पा रूपान्तरित हो गये हैं—कौओं की चोंचें सोने से मढ़ गयी हैं, बतखों की पाँखें हीरों से जड़ गयी हैं, मेंढकों के कण्ठों में वीणा का स्वर भर गया है। अन्त की (टेक के लिए दुहराई पंक्तियों को छोड़कर) चार पंक्तियों में व्याख्या करने की कमज़ोरी तो आयी है, पर कवि संयम कर गया है। 'सोनजुही' भी इसी श्रेणी में आयेगी। 'भुजंगी' सोनजुही बन गयी है। व्याख्या इसमें भी है, पर संयमित।

इस संग्रह में विशेष ध्यान आकर्षित करनेवाली कविताएँ हैं—'आः धरती कितना देती है' और 'सन्देश'। अन्त्यानुप्रासहीन वृत्तों से कवि ने स्फुट रचनाएँ—मैं तो उन्हें गीत भी कहना अनुचित न समझूँगा—लिखने का सफल प्रयोग किया है। छन्द-तुक से मुक्त होने के प्रयास में अगर इस मध्यवर्ती श्रेणी पर क़दम रक्खा जाता तो शायद नयी कविता इतनी विशृंखल न होती, जितनी कि वह आज हो गयी है। एक क़दम पीछे जाने के लिए अभी अधिक विलम्ब नहीं हुआ है।

'वाणी' 'अतिमा' के ठीक बाद का संग्रह है। कुछ देर विचार के क्षेत्र में रहकर

व्यवहार के क्षेत्र में चले आना, दर्शन की चोटी पर रहकर सामाजिकता की भूमि पर उतर आना पन्तजी के लिए बहुत स्वाभाविक रहा है—'युगवाणी' के बाद 'ग्राम्या' लिखी गयी थी; 'स्वर्ण किरण' के बाद 'स्वर्ण धूलि' आयी। 'अतिमा' और 'वाणी' का सम्बन्ध कुछ-कुछ वैसा ही है।

व्यर्थ व्यक्ति मन का निशि पीड़ित
उन्मन गुंजन,
व्यर्थ आत्म दीक्षित, युग कुण्ठित
जीवन दर्शन !
आज चाहिए सामाजिक चिन्तन,
जग को, सामूहिक जीवन,
भू स्तर पर उन्नयन !

'अतिमा' के विचार-दर्शन की ध्वनियाँ-प्रतिध्वनियाँ 'वाणी' में न हों, ऐसा नहीं है। पर प्रमुख ध्येय यह है कि जो आधारभूत विकास सृष्टि के क्रम में निरन्तर चल रहा है, जो रुक नहीं सकता, जो अपने लक्ष्य पर पहुँचकर ही रहेगा, जो एक समर्थ मंगलमय शक्ति से निर्दिष्ट है उसकी आधुनिक समय में, मानवी धरातल पर, विशेषकर भारत के सामाजिक धरातल पर (अन्त का गीत 'भारत माता'—1958 सांकेतिक है) जिसमें आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक धरातल भी सम्मिलित हैं; क्या स्थिति है। उज्ज्वल भविष्य की आशा और निदेशक के महदाशय में आस्था रखकर भी आँखों के आगे बहुत-सा ऐसा यथार्थ आता है जो निराश करता है, जो नियन्ता के अन्तिम उद्देश्य के विपरीत जाता-सा प्रतीत होता है, जिसकी उसके साथ संगति बैठती-सी नहीं लगती, जो खीझ उत्पन्न करता है, जिसको डाँटने-फटकारने को जी करता है, जिसे ठीक दिशा में लगाने को मन चाहता है। 'वाणी' के कवि की प्राय: यही मन:स्थिति है जिसके कारण उसने इसे 'मंच-काव्य या प्रवचन-काव्य' कहा है, गो बीच-बीच में वह यह भी सोचता है कि जो बाहरी विपर्यय, वैपरीत्य, असंगति दिखायी देती है, वह सचमुच में है नहीं, उससे भी विकास-क्रम को सहायता मिल रही है, उसका भी कोई अनिवार्य स्थान है, अति-वांछित उपयोग है।

अब जाना, क्यों धरती उगल रही तम,
... ...

नव भावोदय निश्चित
सँग अभाव लाता नित,
विकृति प्रकृति की करती
संस्कृति को न प्रतिष्ठित ?

प्रकृति की विकृति भी संस्कृति को ही प्रतिष्ठित करती है।

बैठ तुम्हारे ही भीतर
वह तुच्छ नरक से महत् स्वर्ग गढ़ रहा
धरा पर !

बाहर जो नरक दिखायी दे रहा है उससे भी वह पराशक्ति स्वर्ग रच रही है।

कटु, असंगत, अप्रिय, यथार्थ से विक्षोभ, आक्रोश का प्रदर्शन विशेष रूप से 'कौवे' (नव चेतन के अरि ये दुर्धर), 'आत्म दान' (मैंने जग के अन्धकार को ओढ़ लिया है), 'अग्नि सन्देश' (लज्जा तुम्हें नहीं आती निर्मम, निज मन में !) और 'अभिषेक' में है जिसमें एक साथ ही कवि ने सारे अपदार्थ यथार्थ को सम्बोधित

किया है—

धर्म, नीति, संस्कृतियों,
खँडहर रूढ़ि रीतियों,
जाति-पाँतियों, परम्पराओं के प्रेतों से
आत्म पराजित,—
राग द्वेष, भय क्लेश, अनास्था से चिर कुण्ठित,
वैमनस्य, वैषम्य, स्वार्थगत मतभेदों की
घृणित भित्तियों में सीमित, शत खण्डित,—
ओ बहु आर्थिक तान्त्रिक स्पर्धाओं से पीड़ित,
सैन्य शक्ति, शस्त्रों से सज्जित,
भौतिक मदिरा पी प्रमत्त, अणु मृत जड़ चेतन !

भटके हुओं, विपरीत दिशा में जानेवालों को ठीक दिशा में लगाने का प्रयत्न विशेष रूप से 'नवोन्मेष' (जीवन श्रद्धा से आराधो), 'वाणी' (श्रद्धा की स्वर्णिम लपटों को दहने दो, दहने दो), 'सिन्धु-पथ' (सदसत् की लो थाह निरन्तर), 'विकास क्रम' (मत रोको, निर्मम मत रोको जड़ की फिर चेतन बनने की गहन पिपासा !), 'रूपान्तर' (मानवता को होना भीतर से संयोजित), 'रूपं देहि' (शिक्षित न हों, लोग हों संस्कृत), 'जयं देहि' (आत्मजयी, भोगें जीवन सुख) और 'अग्नि सन्देश' में है जिसमें कवि ने कहा है :

भू-जीवन को संयोजित कर
जगत धुरी को स्वस्थ स्कन्ध दो—
भूत क्रान्ति को वदल
श्रेयमय शान्ति गान में,
महानाश को अभय दान में,—
जीवन रति को प्रगति पन्थ दो,
यान्त्रिक मति को हृदय स्पन्द दो !

क्षोभ-आक्रोश प्रकट करने में भाषा स्वाभाविक ही खर-कर्कश हो गयी है, पर वह ओजमयी है। जहाँ आत्म-चिन्तन है वहाँ वह कोमल, प्रांजल और अधिक संगीतमय है। नयी कविता के मुक्त छन्द के वातावरण में लिखी गयी इन कविताओं में छन्दों के विविध मिश्रण और नये प्रयोग भी हैं। मनोविश्लेषणात्मक नयी कविता से पन्तजी को जो निराशा और असन्तोष है उस पर भी एक बड़ी व्यंग्यात्मक कविता 'वाणी' में है; 'घोंघे शंख' शीर्षक के साथ कोष्ठक लगाकर 'सभी नहीं' उन्होंने लिख दिया है। वे कविता को अवचेतन का प्रलाप नहीं मानते; वे चाहते हैं कविता में अवचेतन, चेतन-शासित हो।

इस संग्रह में विशेष ध्यान आकृष्ट करनेवाली दो कविताएँ हैं—'बुद्ध के प्रति' और 'आत्मिका'। 'कवीन्द्र के प्रति' से 'युगपथ' की 'कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति' कविता मुझे अधिक कल्पनारंजित लगती है। 'बुद्ध के प्रति' कविता पर विस्तृत प्रकाश मैंने अपने निबन्ध 'हिन्दी कविता में बुद्ध' पर डाला है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना है कि पन्तजी का जीवन-दर्शन बौद्ध-दर्शन को स्वीकार नहीं कर सकता। बुद्ध के व्यक्तित्व और उनकी करुणा के प्रति वे निःसन्देह आकर्षित हैं, पर इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि बौद्ध-दर्शन जड़ के विकार से पराभूत निषेध और वर्जना का दर्शन हो गया है और इस कारण एकांगी है; इसी प्रकार शंकर का अद्वैतवाद, 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सिद्धान्त भी जड़ से बिलकुल इन्कार करने के कारण

एकांगी है, जिसको पन्तजी ने इस कविता में भी 'अर्ध सत्य' कहा है। पन्तजी नितान्त असन्दिग्ध और सुदृढ़ शब्दों में कहते हैं :

जड़ से चेतन, जीवन से मन,
जग से ईश्वर को वियुक्त कर
जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन
दिया भ्रान्ति वश जन मन दुस्तर,—
किया अमंगल उसने भू का
अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़ चेतन, जीवन मन आत्मा
एक, अखण्ड, अभेद्य संचरण !

उनकी सम्मति है कि यह 'अर्ध सत्य' वह 'ह्रास दंश' है जिससे गीता का दर्शन भी मुक्त नहीं है। गीता, बौद्ध धर्म, शंकर के अद्वैतवाद तीनों ने ही पिछले दो हज़ार वर्षों से भारतीय मनीषा को विरक्ति, निवृत्ति, निष्क्रियता की ओर झुकाया है। विशद और महत् समन्वयवादी इस कवि की दृष्टि में यह असन्तुलन कभी स्वस्थ नहीं हो सकता, उसका परिणाम कभी मंगलमय नहीं हो सकता।
इस असन्तुलन को अब समाप्त होना चाहिए।

अन्तःस्वर्णिम नव चेतन में
आज प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वित,
वही बुद्ध अन्तःस्थित निश्चय
जो जन भू-जीवन में भी स्थित !

बुद्ध के व्यक्तित्व के प्रति आदर और श्रद्धा रखते हुए भी जिस कलापेक्षित संयम से पन्तजी ने बौद्ध-दर्शन का विरोध किया है उसकी सराहना की जानी चाहिए।

'आत्मिका' इस संग्रह की सबसे लम्बी और प्रधान कविता है। इसका उप-शीर्षक है 'संस्मरण और जीवन-दर्शन'। इसमें कवि ने अपने जीवन-विकास के साथ-साथ अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के विकास को भी गुम्फित किया है। पन्तजी ने कहा था कि 'ज्योत्स्ना' उनके जीवन-दर्शन की कुंजी है। 'आत्मिका' को, उसी रूपक को थोड़ा आगे बढ़ाकर, हम उनके जीवन-दर्शन का ताला कह सकते हैं। और इस ताले-कुंजी की पेटिका उनकी समस्त रचनाएँ हैं जिनमें थोड़े-बहुत बाहरी विरोधों के बावजूद एक सम्यक् सांगिक दर्शन आबद्ध है।

पन्तजी की नवीनतम प्रकाशित रचना है 'कला और बूढ़ा चाँद'। इसमें पन्तजी ने काव्याभिव्यक्ति के लिए ऐसे माध्यम को स्वीकार किया है जिसका उपयोग उन्होंने पहले कभी नहीं किया था। इसमें जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है उन्होंने छन्दों की पायलें उतार दी हैं। कविताओं को छोटी-बड़ी पंक्तियों में छापा तो गया है पर रचना-प्रकार में यह गद्य की तरह ही लिखा गया है। एक विशिष्टता के साथ मैं इसे गद्य-काव्य कहना चाहूँगा। मुक्त छन्द को विकृत होते देखकर उन्होंने गद्य-काव्य का पुराना माध्यम अभिनव करके उपस्थित किया है।

इस गद्यकाव्य की विशिष्टता यह है कि जीवन के सत्यों के प्रति इनमें एक नया उपनयन (एप्रोच) है। पन्तजी, जैसे प्रायः कवि करते हैं, भावनाओं के द्वारा सत्य को ग्रहण करते हुए काव्य के क्षेत्र में आये थे। 'युगान्त' के साथ—विशेषकर 'युगवाणी' के साथ—उनका उपनयन बौद्धिक हो गया। पर भावना बिलकुल छूट नहीं गयी। लेकिन सत्य तक पहुँचने का एक दूसरा माध्यम भी दार्शनिक और कलाकार प्राप्त कर सकते हैं—वह है सहज स्फुरण (intuition) का। 'कला और बूढ़ा चाँद'

की रचनाएँ सहज स्फुरण से प्राप्त सत्यों की अभिव्यंजना करती हैं। इसी अर्थ में पन्तजी ने इसे 'रश्मिपदी' काव्य कहा है। प्रतीकों का प्रयोग और उनकी अर्थ-गहनता पन्तजी की कविता में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। 'कला और बूढ़ा चाँद' में वह चरम स्थिति पर पहुँच गयी है। दार्शनिक विचारों में किसी नवीनता की प्रत्याशा नहीं की जानी चाहिए। प्रतीकों की व्याख्या करने की दुर्बलता से भी यह प्रायः मुक्त है।

जीवन में सबकी सीमा है। शब्दों की भी सीमा है। अनुभूति का एक स्तर ऐसा भी है जहाँ शब्द साथ नहीं देते। उस समय कवि प्रायः विरोधाभासी शब्दों—विशेषणों का प्रयोग करते है। छायावादी कवियों के 'नीरव नाद', 'मूक तन्त्री' आदि से लोग परिचित हैं। सच्चे कवि अपना गम्भीर अर्थ इन विरोधाभासों में रख देते हैं। शैली का अंग बन जाने से अनुकरणशील कवि बहुत-से अर्थहीन विरोधाभासों को गढ़कर भी प्रचलित कर देते हैं। छायावाद के द्वितीय-तृतीय श्रेणी के कवियों में इन शैलीगत विरोधाभासों का अम्बार अब भी ढूँढ़ा-खोजा जा सकता है। 'कला और बूढ़ा चाँद' में इन विरोधाभासों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। पर यहाँ न अनुकरण है, न शैलीगत रूढ़ प्रयोग। कविताओं को ध्यानपूर्वक पढ़ने से लगता है कि कवि मानसिक अनुभूतियों के ऐसे स्तर पर पहुँच गया है कि शब्द वहाँ सहायक होने के बजाय बाधक हैं। विरोधाभासी प्रयोगों में जैसे शब्द आपस में टकरा-टकराकर टूटते-गिरते जाते हैं। ऐसी स्थिति में या तो कवि मौन हो जाये; या शब्द के अतिरिक्त अपनी अभिव्यक्ति का कोई और माध्यम खोजे; कवीन्द्र रवीन्द्र कपनी अन्तिम अवस्था में चित्रकार हो गये थे। इसमें उनकी अनुभूतियों के लिए शब्दों की असमर्थता कितना कारण थी, यह खोज का विषय हो सकता है। उनके चित्रों को देखकर यह तो कहा ही जा सकता है कि उनको शब्दों के माध्यम से नहीं व्यक्त किया जा सकता था। मैंने सुना है कि कुछ भावनाओं पर उन्होंने कविताएँ भी लिखी थीं, चित्र भी बनाये थे। दोनों कला के पारखी उनकी तुलना करके बता सकते हैं कि कवि को किस माध्यम में अधिक सफलता मिली। ऐसी परिस्थिति में कवि के पास यदि कोई दूसरा माध्यम नहीं तो प्रतीक बड़े सहायक हो सकते हैं। पन्तजी ने इन्हीं का सहारा लिया है। वे लिखते हैं—

> बोध के
> सर्वोच्च शिखर से
> बोल रहा हूँ :
> × ×
> भाषा नहीं,
> भाव नहीं,—
> ओ अव्यक्त,
> तुममें समा न जाऊँ,
> खो न जाऊँ !
> आगे मौन है,
> अतल मौन,
> केवल
> निश्चल मौन !

'अतल मौन' और 'निश्चल मौन' पर आप रुककर पूछ सकते हैं कि क्या 'सतही मौन' और 'चल मौन' भी होता है ? फिर इन विशेषणों का मतलब क्या है ? मेरा

उत्तर यही है कि कवि कुछ ऐसी बात कहना चाहता है जो शब्दों से अभिव्यक्त नहीं होती। कवि अपनी करुण स्थिति को 'करुणा' शीर्षक कविता में व्यक्त करता है। शब्दों में वह नहीं बोलना चाहता, पर शब्दों में ही बोलेगा, क्योंकि मौन भी तो उतना ही असमर्थ रहेगा, कविता को पंक्तियों में न रखकर सादे गद्य की तरह रख रहा हूँ, कुछ जगह बचा लेने के ध्येय से—

शब्दों के कन्धों पर, छन्दों के बन्धों पर नहीं आना चाहता ! वे बहुत बोलते हैं ! तब ? ध्यान के यान में सूक्ष्म उड़ान में, रूपहीन भावों में तत्त्व मात्र गात्र धर खो जाऊँ ? अर्थहीन प्रकाश में लीन हो जाऊँ ! —तुम परे ही रहोगी ! नहीं,— तुम्हीं को बुलाऊँ शब्दों में भावों में रूपों रंगों में, स्वप्नों चावों में...

जब कवि के लिए शब्दों के अलावा दूसरा माध्यम साध्य नहीं तो उसे प्रतीकों की ही अन्तिम शरण है। वहीं पन्तजी गये हैं—

मैं शब्दों की इकाइयों को रौंदकर संकेतों में प्रतीकों में बोलूँगा ! उनके पंखों को असीम के पार फैलाऊँगा !

पन्तजी के प्रतीकों का प्रयोग अभी तक अग्राह्य की श्रेणी में नहीं पहुँचा। असीम के पार जाने पर यदि वे दुर्बोध पहेली, कठबैठी बननेवाले हों तो मैं चाहूँगा कि पन्तजी सीमा में ही रहें।

पन्तजी की पिछले दस वर्ष की रचनाओं का सिंहावलोकन करने के पश्चात् मुझ पर जो प्रभाव पड़ा है, मैं जिन परिणामों पर पहुँचा हूँ, उन्हें इस लेख की परि-समाप्ति पर संक्षेप में प्रस्तुत करना उचित ही समझा जायेगा, हालाँकि प्रसंगानुसार बीच-बीच में भी मैं इन पर प्रकाश डालता रहा हूँ।

इस दशक में प्रकाशित पन्तजी की रचनाओं को ध्यान में रखकर जब मैं हिन्दी काव्य-संसार की ओर देखता हूँ तो मैं पाता हूँ कि उम्र में अपने से बड़े, अपने बराबर के या अपने से छोटे जाने-माने कवियों में वे सबसे अधिक सक्रिय रहे हैं; इस सक्रियता के लिए मेरा सम्मान बढ़ जाता है जब मैं यह सोचता हूँ कि इसी काल में सात वर्षों तक वे आकाशवाणी के हिन्दी के प्रमुख नियोजक के रूप में भी काम करते रहे हैं।

उनकी रचनाओं की विविधता भी कम प्रभावोत्पादक नहीं। 'ज्योत्स्ना' गद्य-गीत-नाट्य उन्होंने अवश्य लिखा था, पर रेडियो-रूपकों में उन्होंने अपने लिए काव्याभिव्यंजन का एक नया माध्यम खोला। मैंने रेडियो-रूपकों की कला का विशेष अध्ययन नहीं किया। पन्तजी की भाषा रेडियो के लिए मुझे कठिन लगती रही है। ध्वनि के माध्यम से दी जानेवाली चीज़ों में शब्द-सतर्कता और उच्चारण-सरलता पहली आवश्यकता है। अधिक सरल और सजीव भाषा से रूपकों की नाटकीयता बढ़ायी जा सकती थी। रेडियो पर पद्य-रूपकों का श्रीगणेश कम-से-कम हिन्दी में शायद पन्तजी की रचनाओं से ही हुआ। आश्चर्य यह है कि इन रूपकों ने कोई विशिष्ट परम्परा नहीं चलायी। इनसे पद्य-नाटकों के लिए आधार-भूमि बन सकती थी, फिर भी अंग्रेज़ी पद्य-नाटकों और कथा-काव्य के अनुवादों को इन्होंने प्रभावित किया। मुख्य बात तो यह है कि रूपक लिखने के लिए पन्तजी ने यह रूपक लिखे भी नहीं। बात उन्होंने वही कही जो वे 'श्रव्य काव्य' में कहते। माध्यम गौण था; प्रतिभा परिस्थितियों पर हावी रही।

छन्द और भाषा की दृष्टि से 'अतिमा' में मुझे कोई विशिष्ट नवीनता नहीं मिली। अवश्य ही कई पुराने रूपकों पर नये विचारों का आरोप और कुछ नये प्रतीकों से स्वीकृत दर्शन का स्पष्टीकरण सफलतापूर्वक किया गया है। अन्त्यानुप्रास-

हीन वृत्तों से कई बहुत सफल और सुन्दर कविताएँ लिखी गयी हैं जो विचारों के संगठन और एकता से गीत की संज्ञा पाने की अधिकारिणी हैं। एक भाव या विचार को एक रूपक में केन्द्रित कर लेने पर, तुकों का बन्धन न रहने पर, पन्तजी कैसी लयपूर्ण, सरल स्वाभाविक शब्द-योजना में कविताएँ लिख सकते हैं, इसकी ये कृतियाँ उदाहरण हैं। 'वाणी' में यथार्थ के प्रति विक्षोभ ने कुछ नयी लय और मिश्रित छन्दों को भी जन्म दिया है; कुछ नये प्रतीकों को भी। छन्दबद्ध काव्य के विकास की नयी दिशाओं के सूक्ष्म संकेत दोनों संग्रहों में हैं।

'कला और बूढ़ा चाँद' एक नये माध्यम को लेकर आया है। मैंने उसे गद्य-काव्य कहा है, पर हिन्दी के पिछले गद्य-काव्य में यह डूब नहीं सकता। मानसिक अनुभूतियों की असाधारणता, विचित्रता और सूक्ष्मता, सहज स्फुरण द्वारा नये, ताजे, आकर्षक प्रतीकों के संचयन, और शब्दों को अभिव्यंजना की चरम सीमा पर ले जाकर छोड़ देने की कला ने 'कला और बूढ़ा चाँद' में एक अद्भुत कृति हमारे सामने रक्खी है। काव्य के माध्यम-सम्बन्धी प्रयोगों के युग में इस रचना का क्या प्रभाव पड़ेगा इसे बताना कठिन है। जिस दार्शनिक विचार, जिस मानसिक अनुभूति और जिस जीवन-साधना की अभिव्यक्ति इस कृति में हुई है अगर वह अपनी इकाई में सीमित ही रह जाये तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा। गो यह ज़रूरी नहीं कि कोई माध्यम प्रकट होते ही अनुकरण किया जाने लगे। साहित्य के इतिहास में अभिव्यंजना की बहुत-सी शैलियाँ सदियों पड़ी रहने के बाद अपनायी गयी हैं। चेतना के जिस स्तर के सर्वसुलभ होने का स्वप्न पन्तजी देखा करते हैं उसमें अभिव्यंजना का यह माध्यम सहज स्वीकृत हो सकता है। दस वर्ष के व्यस्त जीवन में काव्य को इतने गुण-रूप-राशि में प्रस्तुत करने में समर्थ पन्तजी की सृजन-शक्ति निःसन्देह असाधारण है।

मैंने इस लेख के प्रारम्भ में पन्तजी के इस काल की कविता को 'जरा का अन्तर्नयन प्रकाश' कहा है। प्रकाश की अतिशयता भी एकांगी हो सकती है। मैं उनके पिछले दस-बारह वर्ष की कविता को जब एक साथ देखने का प्रयत्न करता हूँ तब मुझे लगता है कि एक अतिशय शुभ्र दर्शन का प्रकाश उसे अपने में डुबाता चला जा रहा है। यह पन्तजी की शब्दावली में ही मुझे विरागियों, यतियों का एकांगी ऊर्ध्वारोहण लगता है। मैं अपने से पूछता हूँ कि पन्तजी जीवन और दर्शन में केवल ऊर्ध्व को अस्वस्थ मानते हैं, फिर काव्य में उत्तरोत्तर केवल ऊर्ध्व ही क्यों चढ़े जा रहे हैं; काव्य का समदिक संचरण, अन्न-प्राण-मन का धरातल, जिस पर कभी उनके स्वप्न चरण पड़ते थे, धीरे-धीरे उनसे क्यों छूटता जा रहा है। उनके काव्य में उत्तरोत्तर मुझे विज्ञानमय कोष ही प्रतिध्वनित प्रतीत होता है। सिद्धान्त ही सिद्धान्त की आकाशवाणी मेरे कानों में गूँजती है; जीवन-मरण की भूमि पर काव्य का मर्मर संगीत मुझे इसी में विलीन होता जान पड़ता है। जैसे सन्तुलित भोजन पर प्रवचन सुनने को बहुत मिलता है, प्रवचन बहुत सुन्दर भी होता है, पर षट्रस व्यंजन नहीं मिलता।

जरा की दुहाई देने से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँगा। मैं तो पन्तजी की ही 'थिओरम' से यह 'कारोलैरी' निकाल रहा हूँ कि आदर्श जरा में बचपन का हास, यौवन का प्राणोल्लास, प्रौढ़ता का बुद्धि विकास भी होना चाहिए—सब अन्तर्नयन प्रकाश से संयोजित, सन्तुलित, समन्वयित। जरा के ऐसे उदाहरण आज भी हमारे सामने हैं, फिर 'प्रौढ़ शिशु', 'ज्ञान-तरुण', 'अक्षय वय' हमारा कवि ही क्यों अन्तर्नयन प्रकाश से एकांगी, गुरु-गम्भीर हो जाये।

हम जिस सम्यक् सन्तुलन की बात करते आये हैं उसे सृष्टि-विकास के अन्त में ही नहीं आना है। अन्त में ही आना है तो वह देश-काल में सीमित होगा। उसे तो देश-काल के हर खण्ड में लाना होगा। खण्ड को पूर्ण, बूँद को समुद्र, क्षण को शाश्वत का मान देना होगा। काव्य भी क्या सृष्टि नहीं है? क्या उसका भी विकास नहीं हो रहा है? क्या उसकी भी आदर्श स्थिति सम्यक् सन्तुलन की न होगी? क्या यह स्थिति अन्तिम कवि की अन्तिम वाणी की ही प्रतीक्षा करेगी? नहीं; उसे हर कवि की, हर कविता में लाना होगा। जैसे सृष्टि के अन्न, प्राण, मन, विज्ञानमय कोष, सत्, चित्, आनन्द के स्तर हैं वैसे काव्य के भी हैं। वह काव्य एकांगी है जो केवल या प्रधानतया 'चित्' ही 'चित्' है। मान लिया जाये कि एक दिन सब कवि श्री अरविन्द या पन्तजी के दर्शन को मान लेते हैं तो क्या वे उसी सिद्धान्त की शुक रट लगा देंगे? नहीं, इस आरोहण से अवरोहण होना है। इस ऊर्ध्व को समदिक से मिलाना है, इतना मिलाना है कि ऊर्ध्व समदिक जान पड़े, समदिक ऊर्ध्व। तब हर कविता, हर गीत में अन्न-प्राण-मन-विज्ञानमय कोष के स्तर होंगे, जो परस्पर सन्तुलित होंगे, सत्, चित्, आनन्द से संयोजित होंगे। जीवन के अन्न-प्राण-मन में विश्वास रखनेवाला, उसका आदर करनेवाला, उससे प्रेम करनेवाला कविता के अन्न-प्राण-मन की उपेक्षा नहीं करेगा। कविता का अन्न-प्राण-मन क्या है, अब इस ऊर्ध्वरेता कविर्मनीषी को मैं बताऊँगा? मैं तो उसकी ऊर्ध्व संचारिणी कविता से केवल इतना कहूँगा—

भू के और निकट आ जाओ! —**वाणी**

× × ×

शिखरों से उतरो!

... ...

नव आशाऽकांक्षा का शोणित
हृदय शिराओं में कर स्पन्दित,
नव प्रभात की भैरवि, नूपुर
झंकृत चरण धरो! —**अतिमा**

[अप्रैल, 1960]

पन्तजी का साहित्यिक संघर्ष

हिन्दी कविता पर किसी भी दृष्टि से विचार करनेवाला आज इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने लगभग चालीस वर्ष की काव्य-साधना से अपने लिए एक सुनिश्चित, स्थायी और गौरवपूर्ण स्थान बना लिया है। नवयुवक प्राय: जीवन के संघर्ष से घबराकर या हार मानकर साहित्य-संसार में अपना स्थान बनाने या अपनापन स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, और मैं हमेशा उनसे कहता हूँ कि यों तो जीवन में संघर्ष सब जगह है पर जितना संघर्ष-साहित्य के क्षेत्र में है उतना और कहीं नहीं है। और हो भी क्यों न? जग जीवन के संघर्ष से आप थोड़े से भौतिक साधन या वैभव सँजोना चाहते हैं। साहित्य के संघर्ष से आप अमरों की पंक्ति में बैठना चाहते हैं। उचित ही है कि ऐसे महत्त्वाकांक्षी को संसार अच्छी तरह जाँचे-परखे। संसार के जाँचने-परखने के तरीके होते हैं और प्रत्येक खरे

साहित्यकार को इस परीक्षा की आग से होकर निकलना होता है। पन्तजी भी इस आग से नहीं बच सके। आज उनकी साठवीं वर्षगाँठ पर शायद यह देखने का अच्छा अवसर है कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन में अज्ञान, उपहास, व्यंग्य, कटाक्ष, कटु आलोचना, ईर्ष्या, द्वेष, अहम्मन्यता की लपटों का किस प्रकार सामना किया। शायद इन्हीं के कारण वे आज अधिक उज्ज्वल, निर्मल और पावन हैं। सोना तपकर ही दमकता है।

प्रतिभा किसी क्षेत्र में उतरे, वह उसमें हलचल मचा देती है। दयानन्द ने धर्म के क्षेत्र में हलचल मचा दी, गांधी ने राजनीति के मैदान में, भारतेन्दु ने साहित्य के मधुवन में, भगतसिंह ने एसेम्बली के भवन में। सुमित्रानन्दन पन्त ने हिन्दी काव्य-सरोवर के तट पर बैठ कोई तनिक-सी कागज़ की नाव भर अपने बाल-कौतूहलवश पानी में नहीं छोड़ दी थी, उन्होंने उस सरोवर में अचानक एक बड़ा-सा पत्थर ही फेंक दिया था, जिससे एक गहरा छपाका लगा और लहरें उठने-गिरने-मचलने लगीं। उस पत्थर का नाम था 'उच्छ्वास', पन्तजी की सर्वप्रथम पुस्तक, जो 1922 में प्रकाशित हुई थी।

छपे हुए दस छोटे पृष्ठों की पुस्तिका का दाम बारह आने! जब एक आने का डेढ़ सेर आटा मिलता था; आज के मानों में बारह रुपये! कौन बड़ा मोती पिरोया है जो इतना दाम! काव्य के लिए बड़ा ही प्रेम, बड़ा ही कौतूहल, बड़ी ही हिम्मत होगी उसकी जिसने ख़रीदा होगा उसे। न जाने कैसे-कैसे तभी की पूरे बारह आने में खरीदी यह पुस्तक आज भी मेरे पास है, जिसे मैं 1200 रुपयों में देने को तैयार नहीं हूँ। यदि आपके पास यह पुस्तक हो तो आप उसे हिफ़ाज़त से रख लें। यह किसी दिन और क़ीमती समझी जायेगी। इसका सीमित संस्करण हुआ था और इसका पुनर्मुद्रण नहीं हुआ।

संसार बड़ा होशियार है। विरोध करने का जो पहला हथियार वह इस्तेमाल करता है वह बड़ा पैना और सूक्ष्म होता है। वह है उपहास और व्यंग्य का, जो देखने में हथियार भी नहीं लगता, पर जिसकी मार बड़ी जबर्दस्त होती है। जो हँसकर उड़ाया जा सके, उसके विरोध में अन्धड़-तूफ़ान क्यों उठाया जाये—जो गुड़ दीन्हें ते मरै माहुर देहु न ताहि। 'उच्छ्वास' को एक आलोचक ने कहा—'बीसवीं सदी का महाकाव्य!'—और जैसे एक सियार के 'हुआ' कहने पर बहुत से सियार 'हुआ! हुआ!' करने लगते हैं वैसे ही 'उच्छ्वास' के लिए वह व्यंग्य बहुत-से कण्ठों से प्रतिध्वनित हुआ।

साहित्य पर प्रहार करनेवाले जब देखते हैं कि उनका वार ख़ाली गया तो वे साहित्यकार पर प्रहार आरम्भ करते हैं। पन्तजी का सुन्दर, गौर, क्षीण शरीर, नारी के-से केश, स्त्री-सुलभ सुकुमारता आदि शब्दाक्रमण के सहज लक्ष्य बने। अस्पष्ट, उलझी, दुरूह, अमूर्त के अर्थ में उनकी कविता को छायावादी, और लघु-लघु प्राण, क्लीब और स्त्रैण के इंगित से उन्हें 'सखी पन्थी' अथवा 'सजनी पन्थी' कहा-लिखा जाने लगा। उनकी कविताओं में 'सखि', 'सजनि' के सम्बोधन प्रायः आ जाते थे।

कल्पनाशील कवि ने साहित्य-क्षेत्र में पाँव रखने के पहले ही जान लिया था कि वहाँ छेड़-छाड़ करनेवाले बहुत होंगे। इसीलिए उसने याचना की थी :

> बना मधुर मेरा भाषण!
> वंशी-से ही कर दे मेरे
> सरल प्राण औ' सरस बचन,

जैसा जैसा मुझको छेड़े,
बोलूँ अधिक मधुर, मोहन; —पल्लव

और इस छेड़छाड़ के बीच वे मधुर-मोहन बोलते चलते गये। 1926 में पन्तजी का 'पल्लव' प्रकाशित हुआ। कविता में तो अपने विरोधियों की उन्होंने उपेक्षा की, पर भूमिका में उनके सहने की सीमा आ पहुँची। वे बड़े आत्मविश्वास के साथ काव्य के क्षेत्र में उतरे थे, उन्होंने हिन्दी काव्य के अतीत का सूक्ष्म अध्ययन किया था, भविष्य में उसकी सम्भावना पहचानी थी, हिन्दी भाषा की प्रकृति-प्रवृत्ति परखी थी। 'पल्लव' के 'विज्ञापन' और 'प्रवेश' में व्यंग्य और कटाक्ष की मात्रा कम नहीं है। काव्य पर निर्णय देने का दम्भ करनेवाले 'महापुरुषों' और नवयुवकों के काव्य के प्रति असंवेदनशील 'वयोवृद्ध समालोचकों' को आड़े हाथों लिया गया है। इस लेख में सम्भवतः सबसे बड़ी भूल थी 'निरालाजी' के मुक्त छन्द की आलोचना करना। 'पल्लव' में मुक्त छन्द की एक भी कविता नहीं थी, पर सम्भवतः छन्दों की व्यापक चर्चा में मुक्त छन्दों को और विशेषकर निरालाजी द्वारा प्रयुक्त अक्षर मात्रिक को छोड़ जाना उचित न होता, जिसे पन्तजी खड़ी बोली हिन्दी के लिए उपयुक्त न समझते थे। बहरहाल 'पल्लव' की भूमिका ने एकबारगी यह सिद्ध कर दिया कि जिस लेखनी से यह निकली है उसे पकड़नेवाला न लज्जालु है, न भीरु है, न लघु-लघु प्राण हैं, न क्लीव है, न स्त्रैण है; वह है आत्मविश्वासी, स्वाभिमानी भी, वाग्विदग्ध, छेड़ को सराहनेवाला ही नहीं, छेड़नेवाला भी।

'पल्लव' की शायद सबसे कटु आलोचना निरालाजी ने अपने निबन्धों में की। ये निबन्ध 'प्रबन्ध-पद्म' में संगृहीत हुए। अब इन्हें 'पन्त और पल्लव' नाम से स्वतन्त्र पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित किया गया है। निरालाजी ने मुख्यतः पन्तजी की मौलिकता को चुनौती दी और यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि उनकी बहुत-सी पंक्तियाँ शेली, टैगोर आदि कवियों से उठायी गयी हैं। उन दिनों यह कहा जाता था कि चूँकि पन्तजी ने 'पल्लव' की भूमिका में निरालाजी के मुक्त छन्द की आलोचना की, इसीलिए निरालाजी ने उन लेखों में अपना बदला निकाला। कुछ लोग यहाँ तक कहते थे कि पन्तजी ने अपनी पुस्तक निरालाजी को भेंट-स्वरूप नहीं भेजी, इससे वे रुष्ट हो गये। कुछ भी हो, यह धारणा उस समय लोगों के दिलों में घर कर गयी कि इन दोनों कवियों में आपस में तनातनी है। तभी से दोनों कवियों के प्रेमी, पाठक, प्रशंसक, आलोचक अलग-अलग शिविरों में बँटने लगे, और किसी न किसी रूप में यह विभाजन आज तक समाप्त नहीं हो सका। पन्तजी ने उन आक्षेपों का कोई उत्तर नहीं दिया। शत-प्रतिशत मौलिकता का दावा केवल सिड़ी कर सकता है। कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा इकट्ठा करके भानमती अपना कुनबा भले ही जोड़ ले, कविता नहीं लिखी जा सकती। अन्य कवियों की प्रतिध्वनियाँ देने के सबसे बड़े दोषी तुलसीदास हैं जिनसे बड़ा कवि शायद हिन्दी ने उत्पन्न नहीं किया। परिणाम की दृष्टि से देखें तो 'पल्लव' का सबसे अधिक प्रचार निरालाजी ने किया, सबसे अधिक उन्होंने उसे चर्चा का विषय बनाया। शायद पन्तजी इसे भीतर ही भीतर समझते रहे और उनके कृतज्ञ होते रहे।

पुरानी पीढ़ी के वयोवृद्ध विद्वानों में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पन्तजी की कविता के विरुद्ध अपना ब्रह्मास्त्र चलाया। उन्होंने मई 1927 की 'सरस्वती' में 'सुकवि-किंकर' के छद्म नाम से 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता' शीर्षक से एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने मुख्य लक्ष्य पन्तजी की कविता को बनाया। इसका उत्तर पन्तजी ने दो रूपों में दिया—एक सौम्य रूप में और एक अत्यन्त उग्र रूप

में। सौम्य रूप में उन्होंने एक कविता लिखी जो बाद को 'गुंजन' में प्रकाशित हुई :

तेरा कैसा गान,
विहंगम ! तेरा कैसा गान ?
न गुरु से सीखे वेद-पुरान,
न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान;
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य, रस, छन्दों की पहचान ?
न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर, मनन, शकुनि-नादान !
हँसते हैं विद्वान,
गीत-खग, तुझ पर सब विद्वान ! —**गुंजन**

उग्र रूप में 'सुकवि-किंकर' के लेख का मुँहतोड़ जवाब पन्तजी ने इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'वीणा' की भूमिका में दिया। अपने व्यक्तिगत प्रेम के मामले में बड़ों के विरोध के आगे उन्होंने सिर झुका दिया था —'तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार', 'हृदय ! रो, उनको है अधिकार !' परन्तु काव्य के मामले में वे बड़ों के अधिकार के आगे सिर झुकाने को तैयार नहीं थे।

इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं,
जो तरजनी देखि मरि जाहीं।

'वीणा' की भूमिका में उन्होंने अपने सुमित्रानन्दन नाम को पूरी तरह सार्थक कर दिया। रामायण में परशुराम-लक्ष्मण-संवाद में लक्ष्मण का जो रूप है, यहाँ वही रूप पन्तजी ने धारण किया। उनके व्यंग्य, कटाक्ष और बाँकपन से भरे उत्तर से वृद्ध द्विवेदीजी तिलमिला उठे—'छोट कुमार खोट बड़ भारी'—और उन्होंने अपने अधिकार का पूरा जोर लगाकर इण्डियन प्रेस के मालिकों को इस बात के लिए बाध्य किया कि वे उस भूमिका को पुस्तक से निकाल दें। ज़ाहिर है कि द्विवेदीजी ने साफ़ लड़ाई नहीं लड़ी। पन्तजी ने एक बार फिर बड़े का ख्याल किया— 'बड़ों में दुर्बलता है शाप', और भूमिका से सब डंक निकाल, उसे सीधा-सादा बना दिया। पर वह पद-पद पर चिढ़ाती, चुभती, चोट करती पहली भूमिका पन्तजी ने नष्ट नहीं की। वह उनके 'गद्यपथ' में 'विज्ञप्ति' शीर्षक से संगृहीत हैं; जिन्हें रुचि हो वे उसे देख सकते हैं। ये बातें उन दिनों छापे में तो न आयीं, पर इनका पता सबको था। पन्तजी के साथ सहानुभूति रखनेवालों को इसका क्षोभ भी था। प्रसंगवश उसी क्षोभ में एक कविता मैंने भी लिखी थी जो मेरी 'प्रारम्भिक रचनाएँ'—भाग दो में संगृहीत हैं —

हुआ मुखरित अनजान
हृदय का कोई अस्फुट गान
यहाँ तो, दूर रहा सम्मान,
अनसुनी करते विहग सुजान,
चिढ़ाते मुँह विद्वान !

और गीत-विहंग जब कवि-हृदय की डाल छोड़ धरा पर उतरता है तब उसे किसका सामना करना पड़ता है :

धरा कितनी विकराल !
झुलाती मद मृदुल वह डाल,
कठोरा यह काँटों की जाल,

यहाँ पर आँखें लाल निकाल !
तक रहे वृद्ध विडाल !

वृद्ध द्विवेदीजी भी समझ गये कि इस घर में बायन देना ठीक नहीं, और आगे पन्तजी को अपना आशीष ही देते रहे। एक बार शायद काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने द्विवेदीजी के सभापतित्व में पन्तजी का सम्मान किया। उस समय द्विवेदीजी ने कहा कि मैं सरस्वती से प्रार्थना करता हूँ कि वे कमल वन में विचरण करना छोड़कर पन्तजी की जिह्वा पर विराजें।

निराला-पन्त विवाद की स्मृति को लोगों के मन से निकाल देने के ध्येय से पन्तजी ने जब अपनी 'ज्योत्स्ना' प्रकाशित की तो उसकी विज्ञापिका निरालाजी से लिखायी। विज्ञापिका छोटी है पर बड़ी अर्थपूर्ण।

'काव्य के चारु चरणों से हिन्दी के दारु-पथ को पारकर प्रांजल-श्री श्री सुमित्रानन्दन काव्योपवन के सांजलि खिले हुए प्रकाश-दृष्टि सुन्दर गुलाब हैं। आज उन्हीं की प्रतिभा के रूप-रंग, मधु-गन्ध और भावोच्छ्वास की प्रशंसा से प्रति मुख मुखर है।...मैं गुलाब को देखता हूँ, उसके काँटों को नहीं।'

निरालाजी काँटों का संकेत करने से न चूके हों, पर उन्होंने गुलाब की खुलकर प्रशंसा की है। उधर पन्तजी ने अपनी 'युगवाणी' में 'अनामिका के कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी के प्रति' चतुर्दशी में उनके प्रतिभा-पद्म को भूरि-भूरि सराहा :

जीवन के कर्दम से अमलिन मानस सरसिज
शोभित तेरा, वरद शारदा का आसन निज।
अमृत पुत्र कवि, यशःकाय तव जरा मरणजित,
स्वयं भारती से तेरी हृत्तन्त्री झंकृत।

पन्तजी ने इसी संग्रह में आचार्य द्विवेदी के प्रति भी दो प्रशस्ति-परक चतुर्दशियाँ लिखीं :

भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-सन्धान
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार !
... ...
चिर स्मारक-सा उठ युग-युग सा भारत का साहित्य
आर्य, आपके यशःकाय को करे सुरक्षित नित्य।

इस प्रकार पुरानी और नयी पीढ़ी के अपने दो बड़े विरोधियों के साथ अन्ततोगत्वा पन्तजी ने सुलह की। इसमें कौन झुका, कौन उठा, यह बड़ा पेचीदा सवाल है। शायद तीनों ने थोड़ा लपट-झपटकर एक-दूसरे को समझ लिया। प्रतिभा ही प्रतिभा को जान सकती है। विद्यापति ने कहीं लिखा है, 'कवि कहँ कवि पहचान।'

'युगान्त' के साथ पन्तजी ने 'पल्लव' की कोमल-कान्त कला को छोड़ने और नवीन क्षेत्र अपनाने की घोषणा की। 'युगवाणी' में उन्होंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया और यही प्रयोग 'ग्राम्या' में भी चला।

संसार परिवर्तन का जल्दी स्वागत नहीं करता। पर परिवर्तन तो संसार में होता रहता है। वैसे चाहे लोग पन्तजी की पिछली रचनाओं के प्रति भी उदासीन रहे हों, पर उनकी शैली के थोड़ी परुष, थोड़ी संगीत-विहीन, थोड़ी विचार-प्रधान होने से सब एक दिन में ही उनकी पुरानी शैली के प्रेमी बन गये। अब पन्तजी की

कविता में वह 'कल-कल, टल-मल' कहाँ !

पन्तजी के उस परिवर्तन का स्वागत किसने किया ? प्रगतिवादियों ने । प्रगतिवाद आन्दोलन कुछ पहले चल चुका था। उनको अपने साथ सम्मिलित करने के लिए एक बड़े नाम की जरूरत थी । 'युगवाणी' में 'मार्क्स के प्रति', 'साम्राज्यवाद', 'धनपति', 'मध्यवर्ग', 'कृषक', 'श्रमजीवी', 'क्रान्ति' आदि रचनाओं को देखकर वे पन्तजी की ओर लपके और उन्हें प्रगतिवादी आन्दोलन का नेता घोषित करने लगे । यह तो उनको थोड़ा बाद को पता लगा कि पन्तजी मार्क्सवाद को बिना अध्यात्मवाद के स्वीकार नहीं कर सकते थे । पर तब तक गुड़ भरी हँसिया गले में अटक चुकी थी, न उसे निगलते बने, न उसे उगलते बने । उनकी पुरानी कविता के प्रेमी कह रहे थे कि पन्तजी का ह्रास हो रहा है, प्रगतिशील कह रहे थे कि उनका विकास हो रहा है और वे बहुत दिनों तक आशा लगाये रहे कि वे धीरे-धीरे अध्यात्म-वध्यात्म भूल विशुद्ध साम्यवादी ब्राण्ड के प्रगतिवादी बन जायेंगे ।

निरालाजी से जब 'प्रोग्रेसिव' कविता की चर्चा की जाती तो अपनी निराली प्रकृति के अनुसार दो क़दम और आगे बढ़कर वे कहते कि 'प्रोग्रेसिव' तुम लोग बनो, मैं तो 'एग्रेसिव' हूँ । और इसका सबूत उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविता लिखकर दिया । पन्तजी अपनी आस्थाओं पर दृढ़ थे । न वे प्रगतिवादी कहे जाने में प्रसन्न थे, न प्रगतिवादी उन्हें अपना कहकर। वास्तव में पन्तजी इस समय सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की एक स्वतन्त्र योजना बना रहे थे। 'लोकायतन' के नाम से इसकी विज्ञप्ति भी कर दी गयी थी । पन्तजी ने इसे कार्यान्वित करने के लिए कुछ प्रयत्न भी आरम्भ कर दिया था। सौभाग्य से उन दिनों पन्तजी मेरे साथ ही निवास कर रहे थे । पन्तजी की इस विज्ञप्ति से प्रगतिवादियों के कान खड़े हुए और वे आकर घण्टों उनसे सैद्धान्तिक आधार पर वाद-विवाद करते। विशेष रूप से श्री अमृतरायजी आते जो उन दिनों युनिवर्सिटी में पढ़ते थे, प्रमुख प्रगतिवादी थे, और ताज़े-ताज़े साम्यवादी ग्रन्थों को पढ़-रट बड़े शब्दबहुल और प्रखर-मुखर हो गये थे । मैं प्रायः तटस्थ श्रोता की भाँति इस बहस-मुबाहसों को सुनता । न प्रगतिवादी पन्तजी को अपदस्थ कर सके, न पन्तजी प्रगतिवादियों को आश्वस्त कर सके । वह अवस्था आ गयी जिसको अंग्रेज़ी में 'पार्टिंग आफ़ दि वेज' कहते हैं—तुम अपनी राह जाओ, मैं अपनी राह जाऊँ ।

नेता की खोज में अब प्रगतिवादियों की आँखें निरालाजी पर पड़ीं। उन्हें अपने मन्दिर में किसी प्रधान मूर्ति का अभाव हमेशा अखरा है, छोटे-मोटे देवी-देवता तो उनके पास बहुत थे, पर कोई महादेव नहीं था। उन्होंने निरालाजी में अपना महादेव पा लिया है । निरालाजी अपने पूर्ण कृतित्व से अथवा आधुनिक रचनाओं से प्रगतिवाद के सिद्धान्तों का कितना पोषण करते हैं, वह तो प्रगतिवादी जानें। हर धर्म में एक जगह पर आस्था से बल संचित किया जाता है। प्रगतिवादियों की प्रयोग की अवस्था बीत चुकी है। अब वे मानते हैं कि निरालाजी ने जो लिखा था वह सब प्रगतिशील था, जो लिखते हैं वह प्रगतिशील है, जो लिखेंगे वह प्रगतिशील होगा; और निरालाजी बाबा भोलेनाथ के समान इससे निर्लिप्त हैं कि कौन उन्हें प्रगतिशील मानता है, कौन सुगतिशील और कौन अगतिशील !

पन्तजी की 'ग्राम्या' सन् 1940 में प्रकाशित हुई और सात वर्ष के मौन के पश्चात् 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' आयी। इन सात वर्षों में प्रगतिवादी ही सबसे अधिक मुखर रहे। पन्तजी प्रायः साहित्य के सक्रिय क्षेत्रों से दूर रहे—या तो उत्तराखण्ड में, या सुदूर दक्षिण में ।

आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित,
देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित ! —**स्वर्ण किरण** '47

'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' ('47) 'युगपथ', (युगान्तर '49), 'उत्तरा' ('50) से पन्तजी ने विशेष रूप से ऊर्ध्व संचरण, अन्तश्चेतना और अध्यात्मवाद पर जोर डाला। अब तो प्रगतिवादियों ने अपने भूतपूर्व नेता को दुश्मन नम्बर 1 के रूप में देखना शुरू किया और उसको अपने तीक्ष्ण से तीक्ष्ण बाणों का लक्ष्य बनाया। इनमें शायद डा. रामविलास शर्मा के तीर सबसे अधिक विष-बुझे थे। पन्तजी प्रगतिवादियों के कोपभाजन तब से और भी अधिक हो गये जब से उन्होंने रेडियो की सरकारी नौकरी स्वीकार की और फिर एक हज़ार रुपया प्रति मास की ! लोगों ने अपनी न जाने कैसी-कैसी कुण्ठाओं को आलोचनाओं का बाना पहनाकर बाहर किया।

प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में धीरे-धीरे एक प्रयोगवादी आन्दोलन खड़ा हो रहा था। यह तो खुली मुसल्मानी समझी जाती थी कि प्रगतिवाद का सम्बन्ध साम्यवादी दल और साम्यवादी दल का सम्बन्ध रूस से है। प्रयोगवादी आन्दोलन के सम्बन्ध में यह कानाफूसी चल पड़ी कि उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अमरीकी प्रेरणा या सहायता से है। बहरहाल, यह देखने में ज़रूर आया कि एक के पैरोकार रूस की यात्रा किये हुए लोग तो दूसरे के अमरीका घूमे हुए लोग; एक के ऊपर लेनिन की छाया तो दूसरे के ऊपर अब्राहम लिंकन की छाया, एक जगह रूसी लेखकों-कवियों की दुहाई तो दूसरी ज़गह अमरीकी लेखकों-कवियों की दुहाई। 1952 में मैं इंग्लैण्ड में था तो प्रयाग के किसी साहित्यिक समारोह में दोनों दलों के बीच हाथापाई की खबर भी मुझे मिली थी और उस समय अमरीका और रूस के बीच जो तनाव चल रहा था उससे उसकी एक दूर की पटरी बिठलाने में बड़ी अक्ल की ज़रूरत नहीं थी।

प्रगतिवादियों से पन्तजी कट चुके थे, इस कारण प्रयोगवादियों ने उन्हें अपनी ओर खींचना चाहा, उन्हें नेतृत्व देने के ख़्याल से नहीं, नेता तो वहाँ पहले से थे, वहाँ तो हर एक नेता ही होता है, वहाँ ज़रूरत होती है पिछलगुओं की; पर पन्तजी का नाम है—यदि उनसे कोई संस्था सम्बद्ध होती है तो उसकी कुछ साख बनती है और उनके ज़रिये औरों को खींचना आसान होता है। मैं इंग्लैण्ड से '54 में लौटा तो मैंने पाया कि पन्तजी एक प्रयोगवादी संस्था के सदस्य हैं। उन्होंने मुझे भी राय दी कि मैं भी सदस्य बन जाऊँ। मैंने सोच-विचार करने का समय माँगा और इतने में पन्तजी स्वयं इस संस्था से अलग हो गये। पन्तजी ने मार्क्स से इसलिए पिण्ड नहीं छुड़ाया था कि वे फ्रायड के जाल में कूद पड़ें। प्रयोगवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर दिन-ब-दिन उपचेतन-अवचेतन-अचेतन के तम में पैठ, अपनी कुण्ठा और घुटन से क्षुब्ध, अपनी अहम्मन्यता का प्रलाप करने लगे थे। कहाँ पन्तजी समदिक और ऊर्ध्व, भौतिक और आध्यात्मिक, मार्क्स और गांधी, बाह्य वस्तुस्थिति और अन्तश्चेतना में साम्य खोज रहे थे, कहाँ ये आवाज़ें नरक के अतल से आने लगीं। पन्तजी ने 'वाणी' ('57) की कई कविताओं में इनका विरोध किया है।

'सिहर उठा निश्चेतन का तम
(राग द्वेष स्पर्धा कुण्ठा भ्रम !)

क्रुद्ध, रुद्ध लघु व्यक्ति का अहम्,
क्षुब्ध पीटता द्रोह पाँव ! (कौवे)

× × ×

छायावादी विश्व भावना,
सृजन प्रेरणा,
धरा स्वर्ग सौन्दर्य सर्जना
लुप्त हो गयी, अति वैयक्तिक, अति यथार्थ बन,
कुण्ठा के नैराश्य वेदना भरे
अँधेरे अवचेतन में ! (घोंघे शंख)

आज स्थिति यह है कि जितने भी तथाकथित कवियों के दल हैं उनमें से किसी के साथ उनका जाना असम्भव है। जिस दर्शन में उनका विश्वास है उसका कोई दल नहीं। उनकी जो भी समालोचना होती है, उससे उनको सन्तोष नहीं, क्योंकि वह एकांगी होती है। प्रकृति के प्रतीकों के प्रति उनको आकर्षित देखकर बहुत-से लोग उन्हें केवल प्रकृति का कवि समझ लेते हैं,अध्यात्म की ओर उनका झुकाव देखकर बहुत-से लोग उन्हें प्रतिक्रियावादी कह देते हैं, सबके लिए जीवन-साधनों के सुलभ होने की पैरवी करने के कारण बहुत-से लोग उन्हें प्रच्छन्न साम्यवादी समझते हैं, उनकी कविताओं में सौन्दर्य-चित्रण देखकर बहुत-से लोग उनमें दमित भावनाओं की प्रतिच्छाया देखते हैं, अरविन्द दर्शन से उनके विचारों का साम्य देखकर बहुत-से लोग उन पर अरविन्द का अत्यधिक प्रभाव बतलाते हैं :

वे कहते :
मैं भाव नहीं, केवल प्रभाव हूँ,
सूझ नहीं, केवल सुझाव हूँ !
सच यह :
मैं केवल स्वभाव हूँ !
••• •••
वे कहते
मैंने प्रकाश को ग्रहण किया
इससे···उससे,···
जिससे···तिससे,···
किससे···किससे !
••• •••
अधिक क्या कहूँ ?—सत्य गूढ़ !
पर, सबसे भले विमूढ़ ! **—वाणी**

प्रतिभा का एक नियम यह है कि वह अपने स्वभाव के अनुसार चलती है। प्रतिभा इसलिए प्रतिभा है कि वह साधारण न होकर असाधारण होती है। उसे इसके लिए भी तैयार रहना चाहिए कि उसे अंशतः समझा जाये, ठीक न समझा जाये, ग़लत समझा जाये, उसका उपहास-व्यंग्य किया जाये, उसका विरोध किया जाये। जो चीज़ मुझे सहन न होगी वह यह है कि प्रतिभा की उपेक्षा की जाये। प्रायः प्रतिभा की उपेक्षा करना सरल नहीं होता। उसके मित्र न बन सको तो उसका शत्रु बनना पड़ेगा, उससे उदासीन नहीं रह सकते। क्योंकि वह जिस क्षेत्र में भी उतरे किसी को अछूता नहीं छोड़ती।

लेकिन पिछले महायुद्ध से प्रचार के दो बड़े सूक्ष्म सिद्धान्त निकले हैं और

दोनों ही बड़े घातक हैं। एक तो यह कि अगर किसी झूठी-से-झूठी चीज़ के बारे में बराबर दुहराते जाओगे कि यह सच है तो कुछ दिन में लोग उसे सच मानने लगेंगे। दूसरी यह कि अगर किसी चीज़ को मारना, नेस्तनाबूद करना चाहते हो तो उसकी बुराई भी न करो, बुराई करने से कभी-कभी तारीफ़ करने से अधिक उसकी ओर ध्यान आकर्षित होता है; उसकी ओर से उदासीन हो जाओ, उसकी उपेक्षा करो, उसका कोई नोटिस ही न लो, बस उस पर मष्ट मारकर बैठ रहो। हमारे दुर्भाग्य से प्रचार के इन दोनों सिद्धान्तों का व्यवहार हिन्दी-संसार में आजकल बड़ी कुशलता से हो रहा है। नये लेखक अपने प्रशंसक, प्रचारक, आलोचक, समीक्षक, समर्थक लेकर आ रहे हैं। बार-बार उनके बारे में कहा जायेगा, सुनाया जायेगा, बताया जायेगा तो कैसे लोग उनकी ओर ध्यान न देंगे। ख्यातिप्राप्त लेखक कैसी भी चीज़ें क्यों न लिखें उनकी प्रशंसा करने की ज़रूरत नहीं, उनकी बुराई भी करने की ज़रूरत नहीं। उनकी ओर से बस उदासीन होकर चुप रहा जाय, उनकी चीजें अपने आप मर जायेंगी; पुराने लोग जगह न खाली करेंगे तो नयों को जगह कहाँ मिलेगी! बहुतों की रचनाओं के विषय में आजकल एक मष्टमारू नीति चल रही है। 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'उत्तरा' तक पन्तजी की कुछ चर्चा पत्र-पत्रिकाओं में होती थी। उनकी बाद की रचनाओं पर सजीव आलोचनाएँ भी मैंने मुश्किल से देखी हैं। पन्तजी किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया के विषय हों, वे उपेक्षा के विषय कभी भी नहीं हैं। यों तो प्रचार के इन दो सिद्धान्तों की अन्तिम विजय पर भी मेरा विश्वास नहीं, पर पन्तजी की प्रतिभा भी ऐसी नहीं कि उसकी अधिक समय तक उपेक्षा की जा सके।

मैं अपने इस लेख को इस आशा से समाप्त करना चाहता हूँ कि साहित्य-सचेत व्यक्ति पन्तजी की रचनाओं में रुचि लेंगे और उनके गुण-दोषों को अपनी चर्चा का विषय बनायेंगे; उनकी रचनाओं का रत्न मन्थन से ही प्राप्त होगा और उनके प्रति उदासीन रहना शायद बहुत बड़ा साहित्यिक अपराध होगा।

[6.5.60]

ooo

नये-पुराने झरोखे

सन् 1932-'61 के बीच लिखित

'नये-पुराने झरोखे' : प्रथम प्रकाशन 1962; राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, से प्रकाशित।

अपने पाठकों से

आज आपके हाथों में अपनी एक नयी पुस्तक रखते हुए मैं बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। 'नये-पुराने झरोखे' में मैंने पिछले लगभग तीस वर्षों में लिखे अपने निबन्धों और वार्ताओं का संकलन किया है। इनमें से प्राय: सभी समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित एवं रेडियो से प्रसारित हुए हैं। मेरे बहुत-से पाठकों और श्रोताओं की यह इच्छा थी कि इन लेखों को एक जगह संगृहीत कर दिया जाये। इन सबको ढूँढ़-खोजकर इकट्ठा करना मुझे इतने बखेड़े का काम मालूम होता था कि मैं उसे बराबर टालता आ रहा था। इधर इस सम्बन्ध में मेरे प्रकाशक का भी आग्रह रहा है। पुस्तक जिस रूप में आपके सामने है, आशा है, उससे आपको सन्तोष होगा।

अपने गद्य-लेखन के विषय में आपको कुछ रोचक बातें बताना चाहता हूँ। आज तो लोग मुझे प्राय: कवि के रूप में ही जानते हैं, पर एक समय मैं सोचता था कि मैं गद्य-लेखक ही बनूँगा और अपनी पहली रचना गद्य की ही प्रकाशित करना चाहता था। मुझे याद है कि अपने विद्यार्थी-जीवन में मुझे हिन्दी निबन्धों पर अपनी कक्षा में सबसे अधिक नम्बर मिला करते थे। मेरे कुछ सहपाठियों ने मुझे एक बार इन निबन्धों को छपाने की सलाह दी और मैं प्रेस भी पहुँचा। प्रेसवाले से मैंने पूछा कि एक कापी की छपाई का क्या लगेगा ? सोचा था तिर्रासिक से हिसाब लगा लूँगा कि एक किताब की छपाई का दाम इतना तो 100 किताबों की छपाई का दाम कितना, या इतने पैसे में एक किताब छपेगी तो जितने पैसे मैं इकट्ठा कर सकूँगा, उतने में कितनी किताबें छप सकेंगी ! पर जब प्रेसवाले ने फ़ार्म और रीम और पौण्डवाले कागज़ों की बात करनी शुरू की तो मैं कुछ न समझा और उसने मुझे भगा दिया—एम्पायर प्रेस था, उन दिनों मेरे मुहल्ला चक (प्रयाग) के घर से सबसे निकटस्थ प्रेस।

1919 से '25 तक छठी कक्षा से दसवीं तक, कायस्थ पाठशाला, प्रयाग के विद्यार्थी के रूप में मुझे गद्य-लेखन के अभ्यास का एक अच्छा सुयोग मिल गया। हिन्दी-उत्साही आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव—'अछूत' नाम से उनकी एक पुस्तक भी बाद को छपी थी—और विक्रमादित्य सिंह के उद्योग से पाठशाला में एक हिन्दी-समिति की स्थापना हुई थी। साहित्य-साधना में लगे रहते तो दोनों का छायावाद-काल के कवियों एवं नाट्यकारों में कम ऊँचा स्थान न होता। विद्यार्थियों की एक हस्तलिखित पत्रिका निकलती थी—'आदर्श'। उसके सम्पादक यादवेन्द्र सिंह थे—'हार' नाम से उनका कहानी-संग्रह भी बाद को छपा, शायद और एकाधिक पुस्तकें उनकी निकलीं—मेरे सर्वप्रथम काव्य-संग्रह 'तेरा हार' के नामकरण में उसकी प्रेरणा रही होगी। मेरे अक्षर मोती की तरह होते थे। पत्रिका के लिए आये हुए लेखों को एकरूपता देने के लिए मुझे सबको एक आकार-प्रकार के कागज़ों पर

लिखने का काम मिला करता था। उससे मेरी क़लम ज़रूर सधी होगी। ऊँची कक्षा में पहुँचने पर कुछ मौलिक भी लिखने लगा।

हाई स्कूल तक पहुँचते-पहुँचते मुझे जीवन ने अपनी मादक बाहों में जकड़ लिया—जीने के आगे क़लम घिसना फीका, सीठा, नीरस लगा। क़लम की ओर फिर लाये मुझे डा. सत्यप्रकाश (शायद डा. बाद को हुए), जब मैं बी. ए. में पहुँचा। उनसे परिचय आर्यकुमार सभा में हुआ था। उन दिनों वे रिसर्च कर रहे थे, साथ ही 'विज्ञान' पत्रिका का सम्पादन भी। मेरा एक विषय दर्शन था। कुछ अपनी अतिशय भावुकता को संयमित करने के ध्येय से, कुछ आर्य समाज के तर्क-प्रखर प्रभाव से, पर सबसे अधिक विज्ञान-दृष्टि डा. सत्य प्रकाश की संगत से, मैं जर्मनी के बुद्धिवादी (रेशनलिस्ट) दार्शनिकों में अधिकाधिक रुचि लेने लगा। मैं पढ़ रहा था हेकिल की 'द रिडिल आफ द यूनिवर्स'। सत्यप्रकाशजी ने इसी पुस्तक पर मुझसे एक लेख लिखने को कहा। मैंने 'हेकिल और जीव' शीर्षक से लेख लिखा, जिसे उन्होंने विज्ञान में प्रकाशित किया, 1928-'29 के युनिवर्सिटी सत्र के किसी मास में। पहली बार नाम छपने पर जो फुरफ़ुरी मेरे अन्दर हुई थी, उसकी तुलना मैं न करूँ तभी अच्छा। जो ही मिला, उसी के हाथों में मैंने विज्ञान की एक कापी थमा दी, "मेरा लेख छपा है, पढ़ियेगा।" इस प्रकार सर्वप्रथम प्रकाशित होनेवाला मेरा एक निबन्ध था—दर्शन जैसे शुष्क विषय पर। उसी रौ में कुछ और लेख लिख डाले जो बाद में नष्ट कर दिये गये।

1930 के आन्दोलन में एम. ए. की पढ़ाई छोड़ने के बाद, उसके ठण्डे पड़ने पर 1931 में किसी समय नौकरी की तलाश में मैं 'चाँद' कार्यालय में जा भटका—उसके संचालक थे रामरखसिंह सहगल—हिन्दी प्रकाशन में पहली बार प्रचार का सिंगार-पटार, धूम-धड़क्का लाने-मचानेवाले। मेरी बी. ए. की प्रथम श्रेणी—एक विषय मेरा हिन्दी था—से प्रभावित होकर उन्होंने मुझे 'चाँद' के सहायक सम्पादक के रूप में रख लिया, शुकदेव राय सम्पादक थे। सहगल मुझे हर सप्ताह कुछ किताबें देते और कहते इनकी सहायता से लेख लिखकर लाओ। महीने-डेढ़ महीने में उन्होंने मुझसे आधे दर्जन लेख लिखाये। एक दिन मुझे बुलाया और डाँटना शुरू किया, "क्या लेख लिखा है, न सिर, न पैर, न भाषा, न भाव; तुम्हारा काम ख़त्म, अगले महीने आकर तनख़्वाह ले जाना।"—तनख़्वाह मेरी शायद चालीस रुपये महीने नियत हुई थी। एक महीने की तनख़्वाह वसूल करने के लिए मुझे चाँद प्रेस के तीन कम चालीस चक्कर लगाने पड़े। पर सबसे अधिक चोट तब लगी, जब वही लेख कल्पित नामों और डिग्रियों के साथ प्रायः ज्यों-के-त्यों 'चाँद' में छपे। एक लेख, मुझे आज भी याद है, स्वामी रामतीर्थ पर था, जिसे आज भी अपना कहते मुझे लज्जा न होगी।

इन लेखों ने इस कल्पना को थपकी दी कि यदि कुछ लिखूँ तो वह छपने योग्य होगा और अभ्यास करूँ तो लेखक-रूप में व्यवस्थित हो सकता हूँ। मुझे 1930 की यूनिवर्सिटी हिन्दी कहानी प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार मिल चुका था, दूसरे वर्ष मैं युनिवर्सिटी का छात्र न रह गया था, फिर भी मेरी कहानी सर्वश्रेष्ठ समझी गयी थी और प्रतियोगिता के बाद पढ़ाई गयी थी—'हृदय की आँखें' शीर्षक से यह कहानी प्रेमचन्दजी ने 'हंस' के विशेषांक में छापी, एक और कहानी भी मेरी छपी थी, पर उसमें प्रेमचन्द को इतना संशोधन करना पड़ा था कि उसे अपना कहते मुझे संकोच हुआ। पारिश्रमिक कुछ भी नहीं मिला था। कुछ कहानियाँ और लिखीं, एक को 'माधुरी' में स्थान मिला, एकाध को अन्य पत्रिकाओं में। ये कहानियाँ मैंने कई वर्षों बाद 'प्रारम्भिक रचनाएँ भाग 3' में प्रकाशित करायीं। निबन्ध के सम्बन्ध

में कहीं पढ़ा था कि उसमें सफलता के लिए सम्यक् अध्ययन और परिपक्व अनुभव की आवश्यकता होती है। निबन्ध और न लिखे।

'31-'32 में साहित्य भवन, प्रयाग, से एक हास्य पाक्षिक 'मदारी' नाम से निकलता था। कुछ महीनों तक मैं उसका भी सम्पादक रहा। फ़ुलस्केप साइज़ के आठ-दस पेजों का पूरा मसाला मुझे ही देना होता। प्रति अंक के शायद 10 रुपये मिलते थे। उसके अंकों में एक व्यंग्य सम्पादकीय—'प्लेनचैट पर' और भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की विस्तृत समालोचना को अपनी कहकर मैं आज भी कुछ गर्व का अनुभव कर सकता हूँ। 1932 में 'पायोनियर' के गश्ती प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हुए मैंने प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' को एक लम्बा पत्र लिखा तो उन्होंने उसे मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव को दिखाया जो उस समय 'चाँद' का सम्पादन कर रहे थे। मुंशीजी को वह पत्र इतना पसन्द आया कि उसे उन्होंने 'चाँद' में छापा; अपने स्वाभाविक लेखन में मेरा आत्म-विश्वास जगा। उसी समय मेरी लिखी कुछ पुस्तक-आलोचनाएँ 'सरस्वती' में छपीं। '32 में ही किशोरीलाल गोस्वामी की स्मृति में 'माया' का विशेषांक निकला तो मैंने उनके सम्बन्ध में एक संस्मरण लिखा, जो अपनी सजीवता के कारण उस समय पसन्द किया गया—इस संग्रह के लेखों में सबसे पुराना वही है।

इसके बाद तो मुझे 'कविता-कामिनी का मर्ज़' ऐसा लगा कि गद्य मुझसे छूट ही गया। 1933 के अन्त में मैं 'मधुशाला' के कवि के रूप में 'बदनाम' हो चुका था।

1936 में अपनी पत्नी का इलाज कराने को पटना गया तो 'मुक्त'जी ने वहीं से 'बिजली' मासिक निकालने की योजना बनायी। मेरा फिर से गद्य-लेखन इसी पत्रिका के लिए शुरू हुआ। कहानियाँ तो शायद कई वर्ष पूर्व लिखी प्रकाशित हुईं। अन्य लेखनों में प्रमुख था, प्रेमचन्द-सम्बन्धी एक संस्मरण जो उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह में वह भी है। 'बिजली' ज़्यादा दिन नहीं चली।

आगे गद्य लिखने की प्रेरणा मुझे मुख्यतः रेडियो के कारण मिली। लखनऊ का रेडियो स्टेशन 1936 में स्थापित हुआ। वहाँ से कई बार विभिन्न विषयों पर वार्ताएँ प्रसारित करने के निमन्त्रण आये। यह क्रम और बढ़ा, जब 1949 में इलाहाबाद में भी रेडियो स्टेशन खुल गया। परन्तु इनमें से अधिकांश विस्मृति के गर्भ में पहुँच गयी हैं। पहले वार्ताओं को छपाने के सम्बन्ध में रेडियो के नियम कठोर थे; वार्ता प्रसारित हो गयी, बस, उसकी लिखित प्रति रेडियो ने रख ली। मैं इन वार्ताओं की कोई प्रति अपने पास न रखता था—एक बार वार्ता लिखने, फिर उसकी साफ़ कापी तैयार करने में ही धीरज इतना छूट जाता था कि तीसरी प्रति बनाने की हिम्मत न रह जाती थी—टाइप कराने की सुविधा मेरे पास न थी—विशेषकर जब उसका और कोई उपयोग न था। स्वतःप्रेरित न होने से उन्हें मैं अधिक महत्त्व भी न देता था—रेडियो द्वारा लिखाई वार्ता का मूल्य था, नक़द रुपये में बदल जाना। अगर कहीं मन में उन वार्ताओं के कभी छपित रूप में देखने की बात थी भी तो यह विश्वास था कि वे सरकारी ताबूत में सुरक्षित हैं। 1956 में पहली बार—शायद किन्हीं वार्ताओं को पुस्तक-रूप में प्रकाशित देख-कर—मेरी यह इच्छा हुई कि अपनी वार्ताओं को कम-से-कम एक जगह इकट्ठा कर लूँ—कभी इनका प्रकाशन हो सकता है। इलाहाबाद-लखनऊ केन्द्रों से अपनी वार्ताओं की प्रतिलिपियाँ माँगीं तो उत्तर आया कि रेडियो किसी नियम के अन्तर्गत

तीन वर्षों से अधिक पुरानी पाण्डुलिपियों को नष्ट कर देता है। '52 के पहले की मेरी कोई वार्ता उनके पास सुरक्षित न थी और '52 से '54 तक मैं स्वयं विदेश में था—यानी केवल '54-'55 की दो-तीन वार्ताएँ उनके पास थीं।

मैंने कहा, 'गतं न शोचामि' और आगे के लिए सतर्क हो गया। तब से जो वार्ताएँ दीं या जो लेखादि लिखे, उनकी प्रतिलिपियाँ अपने पास रखता गया—1956 के बाद लेखों को टाइप कराने की सुविधा भी मेरे पास हो गयी थी। संग्रह तैयार करने का विचार मन में आया तो कुछ पुराने कागद-पत्तरों की छान-बीन शुरू की। एकाध पुरानी वार्ताओं के प्रथम-पेंसिल-प्रलेख मिल गये, जिनके आधार पर उनका उद्धार सम्भव हो सका। इस प्रकार कुछ पुराने और कुछ नये लेखों का यह संग्रह तैयार हुआ। आशा है, इसका 'नये-पुराने झरोखे' नाम मेरे पाठकों को सार्थक प्रतीत होगा।

पुराने लेख और वार्ताओं की स्मृति-प्रतिध्वनियाँ मेरे पाठकों-श्रोताओं के दिमाग़-कान में कितनी हैं, इसे मैं कैसे बताऊँ। मेरे इधर के निबन्धों को लोगों ने पसन्द किया है और उन्हें संग्रह-रूप में देखने की इच्छा प्रकट की है। सुमित्रानन्दन पन्त से सम्बद्ध निबन्धों को मैंने 1960 में उनकी षष्ठिपूर्ति के अवसर पर 'कवियों में सौम्य सन्त' के नाम से प्रकाशित कराया था। उसका जो स्वागत हुआ है, उससे अपने इन निबन्धों को भी प्रकाशित कराने को मैं प्रोत्साहित हुआ हूँ।

संग्रह के सम्बन्ध में दो-एक बातें कहना चाहूँगा। पुस्तक के प्रारम्भ में जिस अवधि का संकेत किया गया है, उसमें लिखे सब निबन्ध यहाँ नहीं हैं। मैं अपनी पाण्डुलिपियों की पूरी जाँच-पड़ताल नहीं कर सका। एकाधिक छपे लेखों की स्मृति है, पर न उनका प्रथम प्रलेख ही मुझे मिला है, न उनकी कतरन ही मेरे पास है और न ठीक से याद ही है कि वे कब-कहाँ प्रकाशित हुए—विशेष स्मृति है निराला-जी पर लिखे एक लेख की, जो आज से बारह-तेरह वर्ष पहले शायद 'संगम' (प्रयाग) में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार सरोजिनी नायडू पर लिखी एक वार्ता की याद है, जो उनके स्वर्गवास पर प्रयाग से प्रसारित हुई थी। बाद को भी इन पर लिखे निबन्धों से उस अभाव की कुछ पूर्ति हो गयी है।

सोचना पड़ा, निबन्धों का क्रम क्या हो। उन्हें रचनाक्रम में रक्खा जा सकता था; दो प्रकार से : पुराने से नये की ओर या नये से पुराने की ओर; दोनों ही कुछ यान्त्रिक (मिकैनिकल) से होते। कुछ निबन्धों में विषय-साम्य तो है ही—केवल तिथि के कारण उन्हें दूर करना ठीक नहीं जँचा। इसलिए मैंने दोनों दृष्टि-बिन्दुओं से क्रम बिठलाना शुरू किया। जो विषय मेरे अधिक निकट हो सकते थे, उन्हें प्राथमिकता दी तो क्रम विषयों के अन्तर्गत नवीन से प्राचीन की ओर हो गया। संग्रह के नाम में भी 'नये' पहले है, 'पुराने' बाद को। आशा है, यह क्रम आपको पसन्द आयेगा। जहाँ निश्चित हो सका है, लेखों के अन्त में तिथि-निर्देश कर दिया गया है। जहाँ तिथि के आगे प्रश्नवाचक चिह्न है, वहाँ लेख कुछ आगे-पीछे का हो सकता है। तिथिक्रम में ही पढ़ने का आग्रह शायद ही मेरे किसी पाठक को हो, पर यदि हो तो पन्ने उलट-पलटकर ऐसा सम्भव हो सकेगा। असुविधा के लिए मैं क्षमा माँग लूँ। पर अधिकतर लोग, मेरा विश्वास है, मेरे निर्धारित क्रम से ही लेखों को पढ़ेंगे। कोई विकल्प कोई सुझायेगा तो उस पर मैं कृतज्ञतापूर्वक विचार करूँगा।

संग्रह या संकलन का पाठक विविधता के लिए तैयार होकर आता है। इन नये-पुराने झरोखों में आपको विविधता तो मिलेगी ही—शायद इनके बीच किसी

प्रकार की एकता का भी आभास हो—ये सब मेरी ही लेखनी के खने-बने हैं।

मेरी कविताएँ भी वातायन-स्वरूप रही हैं, जिनसे आपने मेरे घर में, मेरे हृदय में, मन में, मस्तिष्क में झाँका है। मेरा घर कोई जादू का घर नहीं, मेरे हृदय में कोई विचित्र धड़कनें नहीं, मेरे मन में कोई अनोखी तरंगें नहीं, मेरे मस्तिष्क में कोई अद्भुत हलचलें नहीं—फिर भी अपना वातायन मैंने कभी सूना नहीं पाया। केवल कौतूहल स्थायी नहीं होता। अजनबी में बहुत दिन रुचि नहीं रहती। मुझे विश्वास है इन सब मेरी कही जानेवाली चीज़ों में आपने अपने को भी देखा है—आपको मैं बाहरी रूप तक सीमित नहीं करता, इसे स्पष्ट करने की तो शायद ही आवश्यकता हो। सबसे अधिक इसी विश्वास ने मुझे प्रेरित किया है कि मैं अपना घर, हृदय, मन, मस्तिष्क साफ, सरल, सहज, स्वाभाविक रखने का प्रयत्न करूँ कि जब कोई इनमें झाँके तो अपने को देख सके। जब किसी ने केवल मुझे ही देखा होगा, तब निश्चय ही उसका कारण मेरे घर की गन्दगी होगी। पूर्णता का दावा कौन कर सकता है ? मैं अपनी अपूर्णताओं से अचेत नहीं।

मेरी ऐसी आशा है कि ये निबन्ध भी एक प्रकार के वातायन सिद्ध होंगे। गद्य में निबन्ध का वही स्थान है, जो पद्य में गीत का। इन झरोखों से आप मेरे घर के कुछ ऐसे कोनों को देख सकेंगे, जो मेरी कविता के वातायनों से अदृश्य रहे हैं। इन दृश्यों से आपका कौतूहल शान्त हो, कोई जिज्ञासा तृप्त हो, किसी धारणा को थपकी लगे, आपका कुछ मनोविनोद हो, आपके कोई भाव-विचार सजग-स्फूर्त हों—आवश्यक नहीं कि वे सदा मेरे अनुकूल हों—तो मुझे सन्तोष होगा। आपकी प्रतिक्रिया जानने को मैं उत्सुक रहूँगा।

13, विलिंगडन क्रिसेण्ट,
नयी दिल्ली-11 **बच्चन**
5-11-'61

स्वर्गीय नवीनजी को
तथा
भाई भगवतीचरण वर्मा को
जिनके स्वरों ने एक दिन
मेरे स्वरों को शह दी थी।

नवीन जन्मदिन
8-12-'61

नवीनजी : एक संस्मरण

नवीनजी कवि थे, पत्रकार थे, साहित्यकार थे, वक्ता थे, प्रेमयोगी थे, देश-प्रेमी थे, राष्ट्रनेता थे, संसद-सदस्य थे, पद्मभूषण थे, और भी बहुत-कुछ थे, पर मेरी दृष्टि में सबसे पहले और सबके ऊपर वे योद्धा थे, और वे योद्धा के समान जिये और योद्धा के समान मरे भी।

मुझे दिल्ली आये अभी साल भर भी पूरा न हुआ था कि मेरी पत्नी भीषण रूप से बीमार पड़ गयीं और उनका उपचार कराने के लिए मुझे उन्हें विलिंगडन नर्सिंग होम में रखना पड़ा। तभी मुझे पता चला कि इसी अस्पताल में नवीनजी भी हृद्‌रोग से पीड़ित होकर दाखिल हुए हैं। सुनकर कानों को विश्वास नहीं हुआ। अभी कुछ ही दिन पहले उन्होंने गणतन्त्र-दिवस पर होनेवाले लाल किले के कवि-सम्मेलन का सभापतित्व किया था और क्या मस्ती से अपनी कविता सुनायी थी! पर जीवन में असम्भाव्य क्या है! उन दिनों तो उनसे बातचीत करने की भी मनाही थी। हम लोग दूर से उन्हें देखते और लौट आते। रोग का पहला आक्रमण भी प्रबल था, पर नवीनजी कुछ दिनों बाद अच्छे हो अस्पताल से निकल आये। उनका शरीर क्षीण हो गया था, उनके बदन पर कपड़े ढीले हो गये थे, उनका रंग बहुत दब गया था, पर जिस चीज़ से हम लोगों को सबसे ज़्यादा तकलीफ़ होती थी वह यह थी कि जिस नवीन का स्वर किसी भी सभा-गोष्ठी में सबके ऊपर और सबसे अलग सुनायी पड़ता था, जिस नवीन के अट्टहास से छतों में दरारें पड़ती-सी जान पड़ती थीं, वह अब गूँगा हो गया था! वे बहुत धीमे और बहुत कम बोलते और कभी-कभी बोलते-बोलते उनकी ज़बान लड़खड़ा जाती। और तब ऐसी सभाओं का दृश्य आँखों के सामने घूम जाता, जिनमें नवीन धाराप्रवाह बोल रहे हैं और हज़ारों तालियों की गड़गड़ाहट भी उनकी आवाज़ को नहीं डुबो पा रही है। नियति ने नवीनजी के साथ कितना क्रूर व्यंग्य किया था!

और उनके ऊपर रोग का आक्रमण फिर हुआ, और फिर हुआ। शायद इन तीन-साढ़े तीन वर्षों में आधी दर्जन बार वे अस्पताल में दाख़िल हुए और बाहर निकले। पिछली मार्च में श्री फीरोज़ गांधी ने मुझसे बतलाया कि नवीनजी के फेफड़े में कैंसर हो गया है और अब वे एक महीने से अधिक न चल सकेंगे। अप्रैल में मैं कई बार उनसे मिलने को अस्पताल गया। आख़िरी बार मैंने उन्हें 27 अप्रैल को देखा। उन्हें आक्सीजन दिया जा रहा था। एक बार उन्होंने आँखें खोलीं तो पास खड़े लोगों को पहचानने की कोशिश करते-से लगे। मैंने कहा, 'बच्चन प्रणाम करता है।' उनके मुँह से निकला, 'खूब···दर्शन···दिये···' और उन्होंने फिर आँखें मूँद लीं। नवीनजी योद्धा थे और उन्होंने मौत से भी डटकर लड़ाई की। अन्तिम बार जब मैं उनकी चारपाई के पास खड़ा था, मुझे अंग्रेज़ी कवि राबर्ट ब्राउनिंग की ये पंक्तियाँ बरबस याद हो आयीं—

"I was ever a fighter, so one fight more,
The best and the last,
I would hate that death bandaged my eyes, and forebore,
And bade me creep past,
Not ! Let me taste the whole of it, fare like my peers,
The heroes of old,
Bear the brunt, in a minute pay glad life's arrears,
Of pain, darkness and cold."

इनके भावार्थ हैं—मैं तो सदा का ही लड़न्ता रहा, सो एक लड़ाई और, सबसे बड़ी और आख़िरी। मैं इस बात से नफ़रत करूँगा कि मौत मेरी आँखों पर पट्टी बाँध दे, मेरे साथ रू-रियायत करे या मुझसे कहे कि चुपके से खिसक जाओ। नहीं, मुझे सारी यातनाओं को झेलने दो, सारे कष्टों का सामना करने दो। अपने पूर्व पुरुषों के समान, अपने सहधर्मियों के समान, मैं भी मौत की चोटों को ओढूँगा, और एक क्षण में जीवन के सुखों का मूल्य चुका दूँगा— दर्द को, जूड़ी को, बुख़ार को, अन्धकार को सहन कर, वहन कर !

मरते तो सभी हैं, पर एक मरकर मर जाता है और एक मरकर अमर हो जाता है। भेद है मरने के अन्दाज़ में। 29 अप्रैल को दिल्ली में जिसने अपना शरीर छोड़ा और कानपुर में जिसकी चिता जली, निःसन्देह वह नर-नाहर मरकर अमर हो गया। जैसे उन्हीं से पूछने के लिए नवीनजी ने ये पंक्तियाँ हमारे लिए लिखी थीं,

"कर चुकी है क्षार तुमको क्या चिता की ज्वाल लोहित ?"

और ये पंक्तियाँ दुनिया से कहने के लिए,

"कौन कहता है कि तुमको कर चुका है भस्म पावक ?
आज तो मैं लख रहा हूँ तव छटा सब ओर अपलक !"

और वे स्वयं इनका उत्तर भी दे गये हैं,

"तुम समझो हो कि अब हो चले हम नवीन, प्राचीन !
क्यों भूलो हो कि हम अमर हैं ! ! हम हैं लौह शरीर ! ! !
सखी री, हम हैं मस्त फ़क़ीर !"

—**अपलक**

और अब नवीनजी का लौह शरीर मृत्यु के पारस का परस पाकर कंचन की यशः-काया में परिवर्तित हो चुका है जिसे जरा-मरण का किंचित भय नहीं है।

उनके जीवन की 'छटा' की झलकियों को यदा-कदा पाने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त हुआ था। ऐसे समय में जबकि उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं रहा, यह स्वाभाविक है कि वे झलकियाँ अधिक स्पष्ट, अधिक रंजित और अधिक मार्मिक हो जायँ।

अपनी 'रश्मि रेखा' (1951) के प्राक्कथन में नवीनजी ने लिखा था कि 'तीस-पैंतीस वर्षों से लिख रहा हूँ।' अर्थात् उन्होंने लगभग 1916 के लिखना प्रारम्भ किया था। यह वही समय था जब श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी काव्य-रचना आरम्भ की थी। वे अवस्था में पन्तजी से प्रायः तीन वर्ष और निरालाजी से साल-डेढ़ साल बड़े थे। पन्त और निरालाजी की रचनाएँ शताब्दी के तीसरे दशक में 'पल्लव' और 'परिमल' के नाम से प्रकाशित होकर साहित्य-क्षेत्र में चर्चा का विषय बन गयी थीं, पर नवीनजी का पहला

काव्य-संग्रह (कुंकुम) चौथे दशक के अन्त में प्रकाशित हुआ। 1926 में पण्डित रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' (भाग-2) का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ था, पर उसमें नवीनजी को नहीं सम्मिलित किया गया था, कौमुदी-कुंज में भी नहीं; जबकि उसमें पन्तजी और निरालाजी को अलग-अलग स्थान दिया गया था। फिर भी सन्'30 तक पहुँचते-पहुँचते, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अथवा कवि-सम्मेलनों में पठित कविताओं के आधार पर नवीनजी कवि के रूप में विख्यात हो गये थे।

सन् 1933 में प्रयाग में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्मान में एक अद्वितीय साहित्यिक समारोह आयोजित किया गया, जो 'द्विवेदी मेला' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। साहित्यकारों का इतना सद्भावना और सहयोगपूर्ण उत्सव मैंने दूसरा नहीं देखा। उसमें एक कवि-दरबार करने का कार्यक्रम बनाया गया था। नये कवियों में निराला, पन्त और नवीन की भूमिकाएँ उपस्थित करने का निश्चय हुआ। कविवर नरेन्द्र शर्मा पन्तजी की भूमिका में उतरे थे, निरालाजी के लिए भी कोई लम्बा, साँवला, दुबला व्यक्ति मिल गया था। पर नवीनजी के डीलडौल और काठी का कोई नौजवान प्रयाग में नहीं मिला था। राजर्षि टण्डनजी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टण्डन कवि-दरबार के संयोजक थे। उन्होंने नवीनजी को देखा था। उनकी कविता भी सुनी थी, उनके सामने जो भी नवयुवक उपस्थित किया जाता, उसे वे 'रिजेक्ट' कर देते—कोई शरीर से अयोग्य सिद्ध होता, कोई स्वर से। गुरुजी कहते, ये नवीन बनेंगे! —नवीन बनने के लिए चाहिए 'वृषभ कण्ठ केहरि ठवनि बल निधि बाहु विशाल'। (नवीनजी ने स्वयं अपनी भुजाओं के लिए लिखा है—'ये मम आजानु बाहु, देखो, अकुलाये हैं'।) उनकी जो कविता सुनवाने के लिए चुनी गयी थी, वह थी—साक़ी!

> "साक़ी! —मन-घन-गन घिर आये, उमड़ी श्याम मेघमाला,
> अब कैसा विलम्ब? तू भी भर-भर ला गहरी गुल्लाला;
> तन के रोम-रोम पुलकित हों,
> लोचन दोनों अरुण-चकित हों,
> नस-नस नव झंकार कर उठे;
> हृदय विकम्पित हो, हुलसित हो;
> कब से तड़प रहे हैं—ख़ाली पड़ा हमारा यह प्याला?
> अब कैसा विलम्ब? साक़ी भर-भर ला तू अपनी हाला।"—आदि
> (1931 में रचित)

इस कविता को मैं गा तो बड़े ठाठ से लेता था, पर शरीर से था मैं सींकिया पहलवान! अन्त में हमें नवीनजी को छोड़ देने का ही निर्णय करना पड़ा; मुझे एक देहाती कवि की भूमिका दे दी गयी। मुझे याद है, उस भूमिका के लिए मुझे श्री दुलारेलाल भार्गव ने एक स्वर्ण-पदक प्रदान किया था, जो मेरे पास कहीं पड़ा है।

1932 में मेरी कविताओं का एक संग्रह 'तेरा हार' के नाम से प्रकाशित हो गया था। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, तब तक हाला, प्याला, मधुबाला, मधुशाला के प्रतीकों के प्रति मेरे मन में कोई आकर्षण न था। मेरे मन में उस समय जो भावनाएँ हिलोरें मार रही थीं, उनके लिए मेरे इन प्रतीकों के चुनाव में नवीनजी के उपर्युक्त गीत ने कितनी शह दी होगी, इसका अनुमान लगाना मेरे लिए कठिन है। शायद नवीनजी से प्रेरणा ले अथवा स्वतः सम-प्रेरित हो

श्री भगवतीचरण वर्मा भी ऐसे गीत रच रहे थे—"बस मत कह देना अरे पिलाने-वाले, हम नहीं विमुख हो वापस जानेवाले"। द्विवेदी मेले के कुछ ही महीने बाद मैंने 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद किया और उसके बाद ही 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के कतिपय गीतों की रचना की। तथाकथित हालावाद का मधु-चक्र प्रवर्तन करने के लिए हिन्दी के छुटभैये समालोचकों ने मुझे जितनी गालियाँ दी हैं, काश उनमें से कुछ वे नवीनजी और भगवतीचरण वर्मा के लिए भी सुरक्षित रखते क्योंकि इस मामले में पेशदस्ती करने का काम इन्हीं मेरे दोनों अग्रजों ने किया था। बड़भैये चातुर्य-मौन धारण किये रहे, क्योंकि उन प्रतीकों से जो कहा जा रहा था, वह उनकी समझ में न तब आया था और न अब तक आया है। कहीं बात चली तो कह दिया, यह तो उर्दू की पिटी-पिटाई शेरबाज़ी की भौंडी-भद्दी नक़ल है। पर जनता ने खुले हृदय से इन कविताओं का स्वागत किया, क्योंकि वह जानती है कि उसकी कौन-सी भावनाएँ इन प्रतीकों में मुखरित हो रही हैं।

इन मानवीय भावनाओं को दमित न करके, इन्हें स्वीकार करके, इनके लिए लज्जित न हो करके, इन्हें प्यार करके, इन पर अभिमान करके, इनको समष्टि-मूलक बना करके, इन्हें कलाभिसंयमित करके मुखरित करने का काम खड़ीबोली हिन्दी कविता में सबसे पहले नवीनजी ने करना आरम्भ किया, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। प्रतीक गौण हैं। नवीनजी के भीतर उन्हीं के शब्दों में, जब लिखने के लिए कुछ 'खुट-खुट' हुई होगी, तो अवश्य ही उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों को, अपने सम-कालीनों को देखा होगा। वे द्विवेदी स्कूल की इतिवृत्तात्मक तुकबन्दियों से सन्तुष्ट नहीं थे। तब, वे कहते हैं, "पद्य लिखे जाते थे, किस बात पर ? इस बात पर कि एक दक्षिणी महिला का रवि वर्मा द्वारा अंकित ऐसा चित्र है जिसमें वह महिला मन्दिर में पूजा करने जा रही है। अब उसी पर कविता हो रही है। वह कैसी साड़ी पहने है, उसके हाथ में कैसा थाल है, उसमें पंचपात्र है या नहीं, इन बातों पर तुकबन्दी हो रही है।" उनके अपने ख़ास कानपुर में उन दिनों समस्यापूर्तियों का बोलबाला था। रीतिकालीन परम्परा में कवित्त रचना गाँवों में चल ही रही थी; सनेहीजी ने केवल उसका माध्यम ब्रजभाषा से खड़ीबोली कर दिया था। 'सुकवि' नाम का पत्र निकलता था और हर मास दी हुई समस्याओं पर सैकड़ों कवि अपनी प्रतिभा का चकरडण्ड पेलते थे। नवीनजी की राय थी, "यह समस्यापूर्ति-प्रथा नष्ट कर देनी चाहिए। यह एक व्यर्थ की-सी चीज़ है। इससे कोई लाभ नहीं होता।" उनके मन में जो 'कुछ धुवाँ-सा' मँडराने लगता था वह तो किसी की कविता का विषय ही नहीं था। पर वे तो इसके अतिरिक्त और किसी पर लिख भी नहीं सकते थे। किसी प्राचीन के साथ अपना साम्य न देखकर ही उन्होंने अपना उपनाम 'नवीन' रक्खा होगा। 'निरालाजी' ने भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति में अपने को 'निराला' कहा होगा। वास्तव में बीसवीं सदी के नवजागरण के साथ हिन्दी के प्रायः सभी नवयुवक कवियों ने अपने समाज में अपने को अजनबी पाया होगा। समाज से अपने को अलग करना चाहा होगा, किसी ने नया नाम लेकर, किसी ने नया रूप बनाकर, बाल बढ़ाकर, किसी ने नया परिधान धारण कर।

बहरहाल जब मैंने लिखना प्रारम्भ किया और इधर-उधर से उसका विरोध होना शुरू हुआ, तब भी मुझे विश्वास था कि एक आदमी ऐसा है जो मेरी आवाज़ को पहचानेगा और मुझे बढ़ावा देगा। नवीनजी से मेरी पहली भेंट शायद कानपुर के ही किसी कवि-सम्मेलन में हुई। मैंने चार ही पंक्तियाँ सुनायी थीं कि नवीनजी तड़प उठे।

"मैं जग जीवन का भार लिये फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ;
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर,
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूँ।"

कानपुरी लहजे में ज़ोर-ज़ोर से कह रहे थे, "लौंडा चोट खाया हुआ लगता है!" उनके सामने मैं लौंडा तो था ही, हालाँकि उस वक्त भी मेरी उम्र 27-28 वर्ष की होगी, पर मेरी काठी कुछ ऐसी है कि मैं हमेशा अपनी उम्र से 10 वर्ष कम लगता रहा हूँ। और 'मधुशाला' की रुबाइयों पर उनकी आजानु सबल डबल भुजाओं की जो थाप मेरी पीठ पर पड़ी, उससे मेरी रीढ़ अकड़ गयी। बोले, "कविता तगड़ी लिखते हो, सौ-पचास डण्ड भी निकाला करो, वत्स!"

तभी मुझे प्रथम बार उनकी कविता सुनने का भी अवसर मिला। आवाज़ ऊँची और भारी, शब्द-शब्द का उच्चारण अलग-अलग, साफ़-साफ़, पूर्ण अभिव्यंजना राग से ऐसी सधी, जैसे कोई पक्का गायक कविता सुना रहा है। नवीनजी आत्म-लीन होकर कविता सुनाते थे, पालथी मार, रीढ़-गर्दन सीधी कर, छाती फुलाकर, जैसे कोई साधक प्राणायाम करने को बैठा हो। तब तक माइक का प्रचार नहीं बढ़ा था, और कई हज़ार आदमी उनकी कविता को मुग्ध-मौन होकर सुन रहे थे। गुरुजी के कहने के अनुसार, नवीनजी सचमुच 'वृषभ कण्ठ' थे, 'कन्ध' नहीं—मानस के दोहे का यह पाठान्तर भी मिलता है—गो वे 'वृषभ कन्ध' भी थे। मेरे मुहल्ले में एक गवैया उस्ताद रहा करते थे, वे कहा करते थे, "आठ बरद बर पावैं, तब भैरव राग उठावैं"—यानी आठ बैल का बल गले में हो तब भैरव राग गाया जा सकता है। कृषि सभ्यता में शायद बल का एकांश बैल होता होगा, जैसे पश्चिम में 'हार्स पावर' का प्रयोग होता है। नवीनजी का गला भैरव राग गाने के लिए बना था। मुझे पता नहीं, उन्होंने संगीत सीखा था या नहीं; उनकी कविताओं में कहीं-कहीं रागों के नाम दिये हैं। मैं यह भी नहीं कह सकता कि जब वे काव्य-गान करते थे तब वह संगीत-शुद्ध होता था या नहीं, पर उनकी वाणी की ओजस्विता, रस-सिक्तता और उनका स्वर-संयमन किसी को प्रभावित किये बग़ैर नहीं रह सकता था। एक बार दिल्ली रेडियो के कवि-सम्मेलन में वे तानपूरे के साथ कविता-पाठ करने को बैठे थे। इन्दौर साहित्य-सम्मेलन (1935) में उनका गला बिलकुल बैठा था, उन्होंने बताया कि कानपुर की किसी सभा में गांधीजी बोल रहे थे और माइक फ़ेल गया, इस पर उनके गले से माइक का काम लिया गया। इन्दौर की यात्रा में मैं उनके साथ था, श्रीमती महादेवी वर्मा भी थीं। हम लोग एक दिन खँडवा में श्री माखनलाल चतुर्वेदी के यहाँ ठहरे थे। वहाँ एक कवि-सम्मेलन भी हुआ था; तब तक महादेवीजी ने कवि-सम्मेलनों में कविता न पढ़ने का महाव्रत नहीं लिया था। नवीनजी ने अपने बैठे गले से भी कविता सुनायी थी। चतुर्वेदीजी का वह सरल बोलचाल के लहजे में रस पैदा कर देना, नवीनजी का बैठे गले से भी घनों की गुरु-गम्भीर घहर प्रतिध्वनि करना, महादेवीजी का तृषित चातकी के-से कण्ठ से लयपूर्ण काव्य-पाठ करना—गाते उन्हें शायद ही किसी ने सुना हो, उनकी भगतिन को छोड़कर—और फिर वह मालवे की सन्ध्या में, मालवे के काव्य-रसिकों के बीच, भूलने की चीज नहीं है। इसके बाद फिर मुझे अवसर नहीं मिला कि इन तीनों कवियों को साथ सुनूँ—या देखूँ भी।

उस समय तक कवि-रूप में मेरे नाम के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा था। बहुतों की दृष्टि में शायद आज भी लगा है। पर नवीनजी ने मुझे कवि होने की

सनद दे दी थी। नागपुर साहित्य-सम्मेलन के कवि-सम्मेलन के सभापति के पद से जो भाषण उन्होंने दिया था, उसमें उन्होंने मुझे बड़े स्नेह-सम्मान के साथ स्मरण किया था। उस हाला-प्यालावाद की भी वकालत की थी, जो अब मेरे नाम से सम्बद्ध हो चला था, पर जिसके आदि अधिष्ठाता वे ही थे। जब उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'कुंकुम' (1939) प्रकाशित हुआ, तब यह भाषण उसकी भूमिका के रूप में दिया गया।

इन्दौर सम्मेलन के बाद मैं अपने जीवन के संघर्षों में इतना धँसा रहा कि शायद ही कभी नवीनजी से मिलने का मौक़ा मिला। पर उनकी थोड़ी-सी कविताओं को पढ़कर और थोड़े समय तक ही उनके सम्पर्क में आकर, मैंने उनके व्यक्ति और उनके कवि की विशिष्टता की कुछ झाँकी पा ली थी। वे द्विवेदी-कालीन और छायायुगीन दोनों तरह के कवियों से भिन्न थे। वे जीवन की ठोस अनुभूतियों, विदग्ध भावनाओं, क्रान्तिकारी विचारों, सहज कल्पनाओं, सरल अभिव्यक्तियों के कवि थे। उन्हें जीवन के हूल-हुलास ने ही रोने-गाने को विवश किया था। उन्होंने अपनी कविता के सम्बन्ध में जो कहा था, वह कोई विनम्रता-प्रदर्शन नहीं था, वह बिलकुल सत्य था। "जहाँ तक मेरी कविताओं का सम्बन्ध है, मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता हूँ कि मैं 'कवि न होऊँ, नहिं चतुर कहाऊँ'। हाँ, बाज़ औक़ात कुछ धुआँ-सा मन में मँडराने लगता है और कुछ कहने की ख़्वाहिश हो उठती है। जहाँ तक छन्द शास्त्र का ताल्लुक है, मैंने उसे बिल्कुल ही नहीं पढ़ा। न मुझे रसों के नाम मालूम हैं, न मैं यगण-मगण जानता हूँ। ताहम मेरा यह दावा ज़रूर है कि मेरे छन्द ढीले-ढीले नहीं होते।" उन्होंने राष्ट्रभाषा का सिर ऊँचा करने के लिए कविता नहीं लिखी, न खड़ीबोली हिन्दी की ध्वजा फहराने के लिए, न साहित्य की सेवा करने के लिए, न भाषा की कला-चातुरी प्रदर्शित करने के लिए, और न कवियश:प्रार्थी बनने के लिए—अपनी रचनाओं के प्रकाशन की ओर से शायद ही कोई उनसे अधिक उदासीन रहा हो—उन्होंने कविता केवल इसलिए लिखी कि जग और जीवन के अनुभवों ने उनके हृदय में कुछ ऐसी हलचल मचा दी थी, ऐसा तूफ़ान उठा दिया था, उनकी नस-नस में ऐसी टीस भर दी थी, ऐसी ज्वाला जगा दी थी, कि वे लिखने को, अपने को अभिव्यक्त करने को विवश थे। उन्होंने तभी लिखने के लिए लेखनी उठायी, जब किसी गहन, गम्भीर, तीव्र, तीक्ष्ण अनुभूति ने उन्हें विचलित कर दिया। मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि नवीनजी ने कभी अपनी क़लम को कसरत देने के ध्येय से कुछ लिखा होगा। उनकी हर कविता के पीछे एक इतिहास है, एक घटना है, चलते-फिरते व्यक्ति हैं, जीती-जागती समस्याएँ हैं, विचारों की कशमकश है (इसे नवीनजी विचारों का 'अर्राटा' कहते), भावों का ऊहापोह है (इसे शायद वे भावों का 'गन्नाटा' कहते), और है एक भावुक हृदय, जिसे सबसे लपटते, झपटते, उलझते, जूझते और मरते-खपते हुए गुनगुनाते भी जाना है। नवीनजी ने अपनी कविताएँ क्विक से नहीं लिखीं, उन्होंने अपने अश्रु, स्वेद, रक्त में अपनी लेखनी डुबाकर लिखा है, जिसमें जग का बहुत-सा गर्द-गुबार भी आकर पड़ गया है। उचित ही है कि उनकी लिखावट अस्वच्छ है, अस्पष्ट है, खुरदरी है, पर वह हर जगह सारगर्भित है, सजीव है, सार्थक है। किसी दिन पाठ्य-पुस्तकों की कुंजी बनाने से फ़ुरसत पाकर हमारे समालोचकों को इन कविताओं का अर्थ खोजना होगा, पर वह शब्दों के कोश में नहीं मिलेगा; जीवन के कोश में मिलेगा। इससे मेरा मतलब क्या है, इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देकर यह लेख समाप्त करना चाहूँगा।

1939 में नवीनजी का 'कुंकुम' निकला, जिसकी एक प्रति उन्होंने मेरे पास भी भेजी थी। अभी मैं उन्हें धन्यवाद का पत्र भी न लिख पाया था कि कानपुर से किसी ने आकर समाचार दिया कि किसी लड़की की धोती में लगी आग बुझाने के प्रयत्न में नवीनजी के दोनों हाथ जल गये हैं। दो-तीन दिन बाद मैं कानपुर गया और किसी परिचित की सहायता से श्री गणेश कुटीर पहुँचा, जहाँ नवीनजी रहा करते थे। नवीनजी की दोनों हथेलियों का एक परत मांस जलकर झूल गया था। नवीनजी पालथी मारे दोनों हाथ सन्ध्या करने की मुद्रा में घुटनों पर रक्खे बैठे थे, जैसे अभी यज्ञ करके उठे हों। उन्हीं से मालूम हुआ कि गणेशशंकर विद्यार्थी की लड़की की साड़ी में आग लग गयी थी, उन्होंने झपटकर मुट्ठी से आग मसलना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार उनके दोनों हाथ जल गये। पर लड़की जल मरने से बच गयी। यह कब हो सकता था कि नवीनजी किसी को आग में जलते देखें और उसे बचाने के लिए उसमें कूद न पड़ें। नवीनजी ने आग से लड़ाई की और उसे परास्त किया। आग बड़ी भयंकर होती है। मेरे पड़ौस में एक लड़की जलकर मर गयी थी और आठ आदमी देख रहे थे। पर योद्धा और कायर में यही तो अन्तर होता है। नवीनजी निष्क्रिय होकर बैठे थे, पर यह विदग्ध अनुभव व्यक्त होने के लिए उनके हृदय-मस्तिष्क को मथ रहा था। वे तो क़लम भी नहीं पकड़ सकते थे। चलते समय उन्होंने कहा, "इस अनुभव से यह विश्वास हो गया कि अगर देश के लिए कभी आग में कूदना पड़ा तो मन हिचकेगा नहीं।" उस दिन मैंने एक ज़िन्दा शहीद, एक साक्षात देवता के दर्शन किये थे। चरण छूकर लौट आया।

'कुंकुम' के बाद नवीनजी की रचनाएँ —'रश्मि रेखा', 'क्वासि', 'अपलक', 'विनोबा स्तवन' उस समय प्रकाशित हुईं जब मैं '52 से '54 तक अपने अध्ययन के सिलसिले में केम्ब्रिज में रहा। लौटकर व्यवस्थित होने और पिछले दो-तीन वर्षों की साहित्यिक गतिविधि से परिचित होने में मुझे कुछ समय लग गया। सबसे अधिक प्रसन्नता इस बात की हुई कि नवीनजी ने अपने प्रकाशनों की ओर कुछ तत्परता दिखलायी थी। इंग्लैण्ड जाने के पूर्व मैं उन्हें उज्जैन के एक कवि-सम्मेलन में मिला था, जिसका आयोजन बड़े पैमाने पर डा. शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने किया था। नवीनजी सपत्नीक पधारे थे। मैंने उनसे प्रार्थना की थी, "देश स्वतन्त्र हो गया, आप भी व्यवस्थित हो गये, दिल्ली में सुचारू रूप से रहते हैं, अब कुछ अपनी रचनाओं के प्रकाशन की ओर भी ध्यान दें।" उन्होंने जिस तरह हँसकर बात उड़ा दी थी, उससे मैं विशेष आशावान नहीं था।

भारत लौटने पर नवीनजी की रचनाओं को पुस्तक-रूप में देखकर सन्तोष हुआ।

'क्वासि' की 'प्रिय, जीवन-नद अपार' और 'अपलक' की 'क्या न सुनोगे विनय हमारी' कविताएँ पढ़कर मैं ठिठक गया। इन कविताओं के अन्त में स्थान, रचना-तिथि के साथ दिया गया है—'अग्नि-दीक्षा काल।' जहाँ तक मुझे मालूम है—आज लगभग दस बरस इन रचनाओं को प्रकाशित हुए हो गये हैं—किसी ने न इसके लिए जिज्ञासा प्रकट की है, न पूछा है, न इस पर प्रकाश डाला है कि यह 'अग्नि-दीक्षा काल' क्या है। और नवीनजी ने शायद यह संकेत इसीलिए छोड़ दिया है कि बिना इस 'अग्नि-दीक्षा' का रहस्य जाने इन कविताओं का रहस्य न खुल सकेगा। मुझे इन कविताओं को पढ़ते ही पता लग गया कि यह अग्नि-दीक्षा वही है, जिसमें आग को अपनी हथेलियों से मसलकर उन्होंने एक बाला की प्राण-रक्षा की थी। यह उन्हीं की उदात्त प्रकृति थी कि उन्होंने उस अनुभव को अपने लिए

अग्नि से दीक्षित होने का पुण्य अवसर माना। इस घटना पर उनकी भावना और कल्पना किस प्रकार चली है, इसे जानना हो तो उनकी इस काल की रचनाएँ पढ़िए,

"क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
हुए दग्ध दोनों कर, प्रियवर ! पूर्ण हुई इक अदा तुम्हारी;
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
हमें भान है इस जीवन में अपने कृत शत-शत पापों का,
इसी दाह मिस तुमसे क्या, प्रभु, चेतावनी मिली है भारी ?
अब तो सुन लो विनय हमारी।
जीवन के संयम के सपने, अब तो मूर्त रूप कर दो तुम,
जिससे हो जाये विदग्ध यह उच्छृङ्खल जीवन अविचारी;
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?
तुम जानो हो, अकथ वेदना के झूले में झूले हैं हम,
इतना तो प्रसाद दो जिससे मिट जाय जीवन-अँधियारी;
क्या न सुनोगे विनय हमारी ?"

—**अपलक**

'दग्ध-हृदय' और 'जले हुए दिल' का मुहावरा इस्तेमाल करना कितना आसान है ! शब्द 'आग' और वस्तु 'आग' में कितना अन्तर है ! नवीनजी ने अपने हाथों को आग में झुलसाकर यह पंक्ति लिखी थी—'हुए दग्ध दोनों कर, प्रियवर, पूर्ण हुई इक अदा तुम्हारी'। और जले हुए हाथों का इससे उज्ज्वल और पावन उपयोग क्या हो सकता था कि उन्हें विनय के लिए जोड़ा जाय, उठाया जाय। लपटों से जीवन-अँधियारी को दूर कराने और दाह से उच्छृङ्खल जीवन को संयमित बनवाने की माँग करने के नवीनजी ही अधिकारी थे। इस भावना, इस विचारधारा, इस कल्पना में मीनमेख निकालने का अधिकार मैं केवल उसे दे सकता हूँ, जो जलती हुई लपटों में पहले अपना हाथ भस्म कर आये। तभी वह जान सकेगा कि इस अनुभव की अभिव्यक्ति कैसे होती है।

दूसरी कविता में वे कल्पना करते हैं कि एक नद है जिसे कच्चे घड़े के सहारे कैसे पार किया जाय। आवश्यकता है कि आग उस घड़े को पक्का कर दे। इतनी निर्भीकता से आग को माँगने का आग्रह नवीनजी के कण्ठ से ही सम्भव था :

"किस विधि नद करूँ तरित ? पहुँचूँ उस पार सजन ?
कच्चा घट, जल संकट, लहर, भँवर, तीव्र व्यजन,
भय है, गल जायेगा यह मम तरणोपकरण,
दुस्तर सी लगती है जीवन की तीव्रधार;
प्रिय जीवन-नद अपार।
यदि वाहित करना था जीवन - नद वेग - युक्त,
तो यह रज भाजन भी कर देते अग्नि भुक्त,
पर यह तो कच्चा है, हे मेरे बन्ध मुक्त,
हैं उसमें छिद्र कई, और अनेकों विकार;
प्रिय जीवन-नद अपार।
पहले इसके कि करो सजन वेणु वादन तुम,
पहले इसके कि करो स्वर का आराधन तुम,
भेज अग्नि - पुंज करो पक्का रज भाजन तुम,

छूट जाय जिससे यह तरण-भरण भीति रार,
प्रिय जीवन-नद अपार।''

जब मैंने इन दो कविताओं की वेधकता और मार्मिकता देखी तो मुझे कौतूहल हुआ कि इस काल की रची और कविताओं की खोज करूँ। उपर्युक्त रचना की तिथि में ही एक दूसरी कविता है, गो उसमें 'अग्नि-दीक्षा काल', का संकेत नहीं किया गया है, किस कारण, मैं नहीं कह सकता। पर निःसन्देह वह 'अग्नि-दीक्षा काल' की सर्वश्रेष्ठ रचना है। शीर्षक है 'विदेह'। एक लड़की की धोती में लगी आग को बुझाने, उसकी धोती को उसके शरीर से अलग करने, आग की विभीषिका के सामने भी उसके लजाने, फिर भी बुझानेवाले की ममत्वपूर्ण निर्ममता, निश्छलता, अग्नि-पावनता से उसे नग्न कर देने के भौतिक अनुभव को नवीनजी ने इस कविता में अध्यात्म के कितने ऊँचे धरातल पर उठा दिया है! और 'अग्नि-दीक्षा काल' का संकेत शायद इसलिए नहीं किया कि इसको नीची सतह पर उतारकर कोई इसका भद्दा-भौंड़ा अर्थ न निकालने लगे,

''चल, उतार अँग वस्तर आली, तू क्षण भर में होगी पियमय,
अब कैसा दुराव साजन से? पूर्ण हुआ तेरा क्रय-विक्रय;
नतलोचने, हृदय की नीबी खोल, नयन में सहज भाव भर,
दिखला दे अपने पीतम को जनम-जनम का अपना निश्चय;
अवश दूर ही करना होगा यह अन्तरपट, यह आच्छादन,
आत्म रमण की तन्मयता में क्या सचैल परिरम्भण परिणय?
यह पल्ला, यह पट, यह अंचल भारभूत हो जायेंगे सब;
अरी! तनिक आने तो दे तू उनकी मादक मुरली की लय!
आज वक्ष, माथे, कटि, उर पर है चीनांशुक तरल लाजमय,
नेह सफल तब जान सलौनी! जब हो जाये इस पट का लय;
पट ही क्या? कंचन काया भी मचलेगी निर्देह भाव से,
उस दिन जब उनके सुपरस से होंगे रोम कण्टकित, गतिमय;''

—क्वासि

यहाँ पीतम कौन है, प्रेयसी कौन है, पट क्या है जिसका लय पीतम के पूर्ण परिरम्भण के लिए आवश्यक है! यह कल्पना हमारे साहित्य-दर्शन की इतनी व्यापक भावना है कि इसका रहस्य खोलना इस कविता-कुमारी के साथ बलात्कार करना होगा। इसके विषय में मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि ऐसी कविताएँ लेखनी और स्याही की बूँदों से नहीं उतरतीं; ये हृदय की ज्वाला से ही लिखी जाती हैं। नवीनजी महीनों लेखनी पकड़ने में असमर्थ थे, अगर उन्होंने किसी को बोलकर इनको लिखवाया होगा तो अक्षरशः उनके तप्तोच्छ्वासों से ही ऐसी पंक्तियाँ निकली होंगी; 'मैं तो हूँ वैश्वानरपायी; मैं बैठा हूँ आग पिये, सखि।'

ये तीन कविताएँ भी यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि नवीनजी कैसी खरी अनुभूतियों के कवि थे। उनके जीवन की बहुत-सी घटनाएँ और बहुत-सी कविताएँ रहस्य के अन्धकार में और पाण्डुलिपियों के अम्बार में पड़ी हुई हैं। निश्चय ही जब तक एक से दूसरे पर प्रकाश नहीं डाला जायेगा तब तक नवीनजी का जीवन और काव्य दोनों ही हमारे लिए अनबूझ पहेली बने रहेंगे। और मैं अपने शब्दों की पूरी शक्ति और अपने हृदय के पूरे विश्वास के साथ कहना चाहता हूँ कि ये दोनों बूझने योग्य पहेलियाँ हैं और इन्हें बूझकर हम बहुत कुछ पायेंगे, जग के बहुत-से भेद जानेंगे, जीवन के बहुत-से राज़ पहचानेंगे, क्योंकि नवीनजी आजीवन

उन्हीं रहस्यों की खोज में लगे रहे,

"तप्त प्राणों ने निरन्तर कौन-सी विपदा न झेली ?
किन्तु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली;
सतत अन्वेषण क्रिया है बन गयी जीवन-सहेली;"

—**क्वासि**

देखूँ इन पहेलियों को बूझने के लिए वाणी के कौन-कौन पूत आगे आते हैं।

[जून, 1960]

कविवर नवीनजी

मुझे इस बात से बड़ी प्रसन्नता और बहुत सन्तोष है कि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के निधन के बाद अनेक हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ उनके प्रति श्रद्धांजलि-अंक निकाल रही हैं। अपने जीवन-काल में नवीनजी ने राजनीति और साहित्य दोनों के क्षेत्रों में काम किया था। अब तक साधारण लोगों में यही धारणा फैली है कि नवीनजी मुख्य रूप से राजनीतिक कार्यकर्ता थे और गौण रूप से यदा-कदा कुछ लिख भी लिया करते थे। नवीनजी स्वयं अपने साहित्यकार के प्रति कुछ उदासीन थे। उन्होंने सन् 1916 के लगभग काव्य-रचना आरम्भ की थी और उनकी कविताओं का पहला संग्रह जाकर 1939 में प्रकाशित हुआ—'कुंकुम'। बारह वर्षों तक फिर न उन्होंने अपना कोई नया संग्रह छपाया और न 'कुंकुम' का ही नया संस्करण कराने की ओर ध्यान दिया। सन् 1951-'52 में उनके तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए—'रश्मि रेखा', 'अपलक', और 'क्वासि'। 1953 में उनका 'विनोबा स्तवन' निकला। 1957 में उन्होंने अपना 'उर्म्मिला' प्रबन्ध-काव्य प्रकाशित किया, जो लगभग पचीस वर्ष पूर्व समाप्त हो गया था और पाण्डुलिपि रूप में उनके पास पड़ा था। उनकी 45 वर्ष की काव्य-साधना के फलरूप उनकी यही छः पुस्तकें हमारे सामने हैं। उनका लिखा हुआ कितना अप्रकाशित है, इसका अनुमान लगाना मेरे लिए कठिन है। मुझे कभी उनकी पाण्डुलिपियों को देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ; पर मेरी धारणा है कि नवीनजी की जितनी कविताएँ प्रकाश में आयी हैं, उससे कहीं अधिक कविताएँ पाण्डुलिपियों में पड़ी हैं। अपने तीसरे काव्य-संग्रह 'अपलक' की भूमिका लिखते हुए उन्होंने कहा था, "मेरा जीवन प्रमादपूर्ण, आलस्यमय और निद्राभिभूत रहा है और है। फिर भी कुछ लिखा है और मित्रों का आग्रह था कि वह प्रकाश में लाया जाय। सो, यह समारम्भ हो रहा है।" नवीनजी अपने जीवन में कितने सक्रिय रहे हैं—कम-से-कम स्वराज मिलने के पहले तक—यह किसी से छिपा नहीं। और विनम्रता-प्रदर्शनवश इससे इन्कार करने से भी कौन विश्वास करेगा; अलबत्ता उन्होंने अपने साहित्य के प्रकाशन के विषय में अवश्य ही प्रमाद, आलस्य और निद्राभिभूति दिखायी है, और साहित्य का इतिहास इसके लिए उन्हें किसी दिन अपराधी कहेगा। खैर, जिस बात की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह यह है कि तीसरे संग्रह पर भी जो अपने प्रकाशन का 'समारम्भ' ही समझ रहा है उसकी समाप्ति पर और तक कितना कुछ आने को है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। मैं यह समझने में ग़लती नहीं कर रहा हूँ कि राजनीति के क्षेत्र में नवीनजी ने कितना ही काम क्यों न किया हो,

साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने कम काम नहीं किया।

मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूँ, न मैंने राजनीति के क्षेत्र में कोई ख़ास काम किया है; जलूस में निकलने, नारा लगाने, खद्दर पहनने, चर्खा चलाने को मैं राजनीतिक कामों में न गिनूँगा। मुझे नवीनजी के बहुत निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य भी नहीं प्राप्त हुआ, इस कारण मैं यह नहीं कह सकता कि उनके राजनीतिक क्रिया-कलाप की महत्ता क्या थी, और राजनीतिक क्षेत्र में नवीनजी की महत्त्वाकांक्षाएँ क्या थीं। आज़ादी की लड़ाई लड़ने के लिए जिस प्रकार के सैनिक की आवश्यकता थी, नवीनजी उसके लिए बिलकुल फ़िट थे। पर आज़ादी मिलने के बाद, स्वाभाविक है, एक दूसरे तरह के राजनैतिक सैनिक की आवश्यकता थी। परिणामों से देखें तो यही कहना होगा कि नवीनजी इसके लिए फ़िट नहीं थे। इस कारण स्वराज मिलने के पश्चात् राजनीति के क्षेत्र में वे आगे बढ़ते नहीं, पीछे पड़ते नज़र आये। कालान्तर में आज़ादी की लड़ाई का पर्यवेक्षण करने पर, मेरा ऐसा ध्यान है कि नवीनजी का कार्य बानर-सेना के एक सदस्य का ही समझा जायेगा। उनकी गिनती हनुमान, अंगद, सुग्रीव, जाम्बवन्त, नल-नील में शायद ही हो। कुछ लोगों के लिए यह खेद की बात हो सकती हो कि नवीनजी ने जिस क्षेत्र में इतनी तत्परता से कार्य किया, जिसके लिए इतना त्याग-बलिदान किया, इतने कष्ट उठाये, उसमें उन्होंने अपने अन्तिम वर्ष प्रायः व्यक्तित्व-विहीन और संज्ञा-शून्य होकर बिताये। राजनीति के पाँसों का अनपेक्षित उलटना-पलटना आये दिन की घटनाएँ हैं, और इन पर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यदि नवीनजी ने केवल राजनीति के क्षेत्र में काम किया होता तो अवश्य ही आज वे हमारी संवेदना के पात्र होते। पर नवीनजी ने साहित्य के क्षेत्र में भी काम किया था। इस क्षेत्र के कार्य में बाहरी चहल-पहल और धूमधाम नहीं दिखायी पड़ती। किसने जाना, यदि आधी रात को उठकर एक कविता लिखी और कापी में बन्द करके रख दी! परन्तु यदि उस कविता ने जगत का कोई रहस्य खोला है, जीवन का कोई दर्द मुखरित किया है, तो वह उस समय भी गूँजती-गुनगुनाती जायेगी, जब संसार की बड़ी-बड़ी अख़बारी हलचलें विस्मृत हो जायेंगी। आज भी यह स्पष्ट होने लगा है कि नवीनजी ने जेल की कोठरियों में बैठकर जो कविताएँ लिखी थीं वह अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, और उनकी गिरफ्तारी पर जो शोरगुल मचा था, जो हड़तालें हुई थीं, वे नगण्य थीं। उनके निधन पर राजनीति जो फूलमालाएँ चढ़ा सकती थी, वह चढ़ा चुकी और वे कुम्हला भी चुकीं। कानपुर में शायद किसी सड़क या पार्क से नवीन का नाम संयोजित कर दिया जाये। इत्यलम्।

पर साहित्य के क्षेत्र में नवीन की देन को पहचानने, उसका लेखा-जोखा लगाने, उसके महत्त्व को समझने का समय अब आया है। इक़बाल ने कहीं कहा है कि Many a poet is born after his death. राजनीतिक नवीन के क्षीण अथवा मृत होने से उसकी मृत्यु हो गयी थी, पर कवि नवीन मरकर अमर हो गया है। उनके जीवन-काल में ऐसा शायद उन्हें भी न प्रतीत हुआ हो, बहुतों को आज भी इसमें सन्देह हो सकता है, पर मेरा विश्वास है कि नवीनजी ने अपने जीवन का प्रमुख, स्थायी और महत्त्वपूर्ण कार्य राजनीति के क्षेत्र में नहीं किया था, साहित्य के क्षेत्र में किया था। और यह उचित ही है कि आज उन्हें साहित्य के क्षेत्र में ही अधिक स्मरण किया जा रहा है, आज वहाँ उन्हें अधिक श्रद्धांजलियाँ दी जा रही हैं। राजनीति में नवीनजी का शरीर था, उनका मस्तिष्क भी हो सकता है; पर उनका हृदय, उनके हृदय की सरसतम भावना उनकी कविता में थी, उनकी कविता

के लिए ही सुरक्षित थी। उनकी प्रकाशित रचनाओं को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि आकण्ठ राजनीति में डूबे रहने पर भी राजनीति-सम्बन्धी कविताएँ उनकी बहुत कम हैं। वे राजनीतिक कारणों से जेल भेजे गये थे। यदि वहाँ चक्की चलाते, मूँज बटते हुए उनका खून खौलता, यदि वे वहाँ बैठकर ब्रिटिश सरकार पर अपना क्रोध-विरोध उगलते, देश को उत्साहित और उत्तेजित करने के लिए आवेशमयी रचनाएँ करते तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक न होता। पर वे वहाँ ऊँची दीवारों के बीच अपने 'प्राणवल्लभ', अपने 'मनभावन', अपने 'प्रीतम', अपनी 'मैना' को याद करते हैं। समय की कैसी ज़बरदस्त माँग थी कि इतना भावुक, इतना कोमल हृदय, इतना रससिक्त कवि अपने को राजनीति की कवित्वहीन परिस्थितियों में झोंक देने को विवश हो गया था।

यह तो समय का बड़ा भारी व्यंग्य था कि जो केवल कवि था, उसको लोग इतने दिनों तक राजनीतिज्ञ अधिक समझते रहे। राजनीतिज्ञता उसके परिधान भर में थी, तन-मन-प्राण से वह कवि ही था। और अचरज तो इस पर होता है कि वह खुद भी कभी-कभी इस धोखे में आता रहा। अपने कवि को धोखा देना असम्भव होता है, वह बराबर अपना कर वसूल करता रहा, या अपना रसदान देता रहा; उपेक्षा से कवि नहीं मरा करते। समय से रचनाओं के प्रकाशित होने की महत्ता है; पर अगर वे प्रकाशित नहीं हुईं तो यही कौन कम है कि वे लिखी गयीं, सुरक्षित हैं, और कभी-न-कभी प्रकाश में आयेंगी। पर एक बात मैं इसी जगह पर कह देना चाहता हूँ कि नवीनजी की जितनी कविताएँ प्रकाश में आ चुकी हैं, उतनी भी पर्याप्त हैं कि हिन्दी काव्य-जगत में नवीन का नाम सदा के लिए स्मरणीय बना दें।

नवीनजी के अपनी कविताओं की थोड़ी-सी उपेक्षा करने के कारण हिन्दी कविता का पिछले 40-45 वर्षों का इतिहास ही अधूरा और विकृत हो गया है। जब खड़ीबोली हिन्दी कविता द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक वृत्त से निकली तो उसकी परिधि छायावाद या रहस्यवाद ने घेर दी, जिसके प्रमुख कवि प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी हैं। वास्तव में इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध जो आन्दोलन उठा, वह उससे अधिक व्यापक था, जिसे केवल छायावाद से घेरा जा सकता है। वह भौतिक भी था औरआध्यात्मिक भी, रागात्मक भी था, विरागात्मक भी, उसमें इस पार के लिए ललक भी थी, उस पार के लिए जिज्ञासा भी। नवीनजी ने अपने रचनाकाल के प्रारम्भ में इसी भौतिकता, रागात्मकता और जीवन की ललक और तृष्णा को वाणी दी। बुद्ध के सब्बा दुःखा, सब्बा अनत्ता, सब्बा अनिक्का की गूँज जब से इस देश में व्यापी, जिसे शंकर के 'जगन्मिथ्या' सिद्धान्त ने और बल ही दिया होगा, जिसकी स्वीकृति के लिए लगभग हज़ार बरस की दासता और असमर्थता ने समुचित वातावरण ही बनाया होगा, जीने के आनन्द की भावना यहाँ से लुप्त हो गयी थी। जीवन की स्वाभाविक और अनिवार्य भावनाओं को विकार समझा जाने लगा था। वे केवल शमित, दमित करने की वस्तुएँ थीं। रूढ़ि, रीतियों, नीतियों, लोकोपचारों और पाप-पुण्य की मनगढ़न्त व्याख्याओं ने जीवन के स्वाभाविक स्रोतों को सुखा दिया था। जीवन का राग, उल्लास, जीवन की उमंग तरंगों में उठना भूलकर नियमावलियों की नालियों में रुद्ध-बद्ध सड़ाँध उत्पन्न कर रही थी। खड़ीबोली कविता के नये आन्दोलन ने जहाँ अनन्त असीम की ओर पंख फैलाये, वहाँ उसने भौतिक जीवन की इन संकीर्ण नालियों को भी तोड़ दिया। स्वाभाविक था कि इसमें वासना, असंयम उच्छृंखलता, उन्माद, मस्ती, अक्खड़-फक्कड़पन देखा

जाता; इसका विरोध किया जाता। पर यह जीवन्त तत्त्व था और पराजित होने के लिए नहीं आया था। नवीनजी नये आन्दोलन के इसी पक्ष का शंखनाद करते हुए आये थे—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
× ×
नियम और उपनियमों के ये
वन्धन टूक-टूक हो जायें।
× ×
अरे विराग सिखानेवाले, इधर ज़रा तू देख,
कुछ क्षण को तू यहीं छोड़ दे अपना ज्ञान-विवेक;
× ×
खड़ी द्वार पै लोक-लाज यह कहती है :—तू सँभल ज़रा;
और इधर यौवन - मादकता कहती है :—तू मचल ज़रा;
× ×
आज बहुत गहरे में हूँ मैं, तुमने तो की क्रीड़ा मात्र,
पर मेरे चहुँ ओर पड़े हैं इधर-उधर ख़ाली मधु पात्र;

—कुंकुम

अब कैसी लोक-लाज ? अब क्या संकोच सजन ?
क्यों न आज वन्ध तोड़ वहे मुक्त स्नेह-व्यजन ?
हम तुम मिल क्यों न करें आज नवल नीति सृजन ?
जिस पर चलकर पायें निज को ये सब जग-जन;
× ×
पूर्ण घूँट हूँ, प्रथम प्यास की,
मैं पीड़ा हूँ नवोल्लास की;
× ×
मैं यौवन पथ का लघु रजकण
लोक-लाज का मैं उल्लंघन;
× ×
अब भी आ जाओ, देखो तो, कितनी सुन्दर वेला,
अन्धकार, लोकोपचार को ढाँक चला अलबेला;
× ×
घन-धारा में टिक पायेगी कैसे अंग भभूत, री,
धुल जायेगी इक छन भर में, यह विराग की धूल, री;
× ×
संयम ! मेरी प्राण, रंच तो
आज असंयम में वहने दो;
× ×
ज्ञान - ध्यान - पूजा - पोथी के—
फट जाने दे वर्क़ नशे में;
× ×
यह अनन्त जीवन लख, बोलो, हम क्यों बने विरागी ?

हम-से मस्ताने नवीन हैं
सीखे करना प्यार,
अब तो उलट-पलट जायेगा
जग आचार - विचार; —रश्मि रेखा

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीनजी जीवन का जो उल्लास लेकर आये हैं, उसमें विरागात्मकता, नियम-उपनियम, जग आचार-विचार, लोकोपचार, ज्ञान-विवेक सब ढहते, बहते दिखायी देते हैं।

छायावाद के आध्यात्मिक आतंक में इस उल्लास की क़द्र नहीं की गयी, पर इन पंक्तियों, इन भावनाओं ने कितनों की मनोग्रन्थियों को खोला होगा। छायावाद युग को इस उल्लास, समाज में इसकी आवश्यकता, काव्य में इसकी अभिव्यक्ति को समझना होगा। तब हम देखेंगे कि प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी के साथ हमें नवीन को भी खड़ा करना होगा। बिना नवीन की काव्य-देन को समझे छायावादी युग की व्याख्या अधूरी होगी और एक शक्तिशाली कवि के प्रति अन्याय भी होगा।

ऐसा नहीं कि नवीन छायावाद, रहस्यवाद अथवा अध्यात्मवाद से अप्रभावित रहे हैं। पर नवीन का अध्यात्मवाद उसकी पार्थिवता का ही संशोधित, परिष्कृत, विदग्ध, अग्निपूत रूप है। पार्थिव प्रियतम को वे देवता बना देते हैं, देवता का पार्थिव प्रियतम के समान साक्षात्कार करते हैं। नवीन का रहस्यवाद उस परम्परा से आया है, जिसके आदिकवि विद्यापति कहे जा सकते हैं – आराध्य को पति-रूप में देखना।

नवीनजी रागात्मक आध्यात्मिकता से ऊपर भी उठे हैं। दार्शनिक-जिज्ञासा उनमें इतने आवेश के साथ उठती है कि वह सहज ही कविता बन जाती है। उन्होंने कई आत्म-विश्लेषण-सम्बन्धी सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ भी दी हैं।

राष्ट्रीय, सामाजिक, सामयिक, अवसरपरक कविताएँ भी उन्होंने लिखी हैं। उनका हृदय इतना तरल-सरल था कि राग जगानेवाली किसी भी अवस्था की ओर ढुलक सकता था।

अन्त में, जिसे हम छायावाद युग कहते हैं, उसमें नवीनजी का प्रमुख स्थान है। उन्हें अलग कर छायावाद की जितनी व्याख्या की गयी है, मेरी समझ में, वह अपूर्ण है। नवीनजी की रचनाओं के प्रकाश में आने पर यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। आवश्यकता यह है कि नवीनजी की सारी कविताएँ प्रकाश में लायी जायें। यदि सम्भव हो तो इन्हें रचनाक्रम में प्रकाशित किया जाय। नवीनजी हर रचना के साथ तिथि भी दिया करते थे। इन तिथियों की भी बड़ी महत्ता होगी। कहीं-कहीं परिस्थितियों का भी संकेत है। इनसे कविताओं की प्रेरणा, उनके वातावरण आदि को समझने में सहायता मिलेगी। नवीनजी की कविताओं का मूल उनकी अनुभूतियों में मिलेगा। आवश्यकता उनकी विस्तृत जीवनी की भी है। उनकी बहुत-सी कविताओं का रहस्य उनसे सम्बद्ध घटनाओं से ही खुल सकेगा। अपनी कविता-सम्बन्धी मान्यताओं को उन्होंने अपनी रचनाओं की भूमिकाओं में दिया है। उनके गद्यलेखों का भी संग्रह किया जाना चाहिए। इसी प्रकार उनके पत्रादि भी संकलित किये जाने चाहिएँ। नवीनजी की कविता उनके जीवन की सच्ची प्रतिध्वनि थी। उसे पूरी तरह समझने के लिए आवश्यक होगा कि उनके जीवन और व्यक्तित्व पर जहाँ कहीं से भी प्रकाश पड़ सके, उसे हम सँजो लें। यों तो जितना कुछ उनका साहित्य प्राप्य है, उतने से भी हम उनके सशक्त कवि को पहचान सकते हैं।

पर हमारा दुर्भाग्य है कि उसको भी पढ़नेवाले नहीं हैं। नवीनजी की किसी भी रचना का दूसरा संस्करण नहीं हो सका। उनकी पुस्तकें पाठ्यक्रमों में नहीं लगी हैं। आज आलोचनाएँ भी उन्हीं पर लिखी जाती हैं जिनकी पुस्तकें कोर्स में हैं। ख़ैर, इससे एक लाभ तो हुआ है कि वे कुंजीनुमा समालोचनाओं से बच गये हैं। आवश्यकता इस बात की है कि साधारण पाठक उनकी कविताओं में रुचि लें। हम कवि के प्रति प्रेम-आदर का प्रदर्शन तो अधिक करते हैं, पर उसकी रचनाएँ नहीं पढ़ते। यह अस्वस्थ प्रवृत्ति है। अभी उस दिन की एक घटना मुझे याद हो आयी। एक समिति के आयोजक नवीन के निधन पर शोक-सभा करना चाहते थे। शोक-सभा क्या, इस बहाने अपनी समिति की कुछ चर्चा पत्रों में चाहते थे। मैंने उनसे पूछा, सच बताइये, नवीनजी की कोई रचना आपके घर में है ? नवीनजी की कोई पुस्तक आपने पढ़ी है ? वे चुप रहे। मैंने कहा, मेरे लिए यह नवीनजी की मृत्यु से अधिक शोकप्रद है।

[जून, 1960]

'यह मतवाला'—निराला !

पन्द्रह अक्टूबर की सन्ध्या को बन्धुवर नरेन्द्र शर्मा का फ़ोन आया, "बच्चन भाई !" —नरेन्द्र के इस अप्रत्याशित सम्बोधन और गम्भीर स्वर से ही मैं किसी अप्रत्याशित और गम्भीर समाचार के लिए चौकन्ना-सा हो गया। डा. नगेन्द्र, भाई अमृतलाल नागर, भाई नरेन्द्र शर्मा, दो-तीन और मित्रों के, और मेरे बीच अनजान यह समझौता-सा है कि जब हम एक-दूसरे को मिलेंगे तो 'कहो बन्धु' कहकर सम्बोधित करेंगे। और अगर किसी अवसर पर हमारा परस्पर साक्षात्कार होते ही यह सम्बोधन नहीं फूट पड़ता तो हमें आभास हो जाता है कि दाल में कुछ काला है। यह प्रथा हमारी फ़ोन पर भी चलती है। नरेन्द्र कुछ रुककर कहते गये, "निराला-जी चल-बसे। विविध-भारती की ओर से तुम्हारी श्रद्धांजलि रेकार्ड करने के लिए आ रहा हूँ।"

मेरे लिए, और शायद मेरे जैसे बहुतों के लिए, निरालाजी की मृत्यु न अप्रत्याशित थी और न आकस्मिक। पिछले लगभग दस वर्षों से उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। गत वर्ष—राजर्षि टण्डन अभिनन्दन के अवसर पर—उनकी गम्भीर बीमारी का समाचार पत्रों में आया था। उनके पश्चात जो लोग भी निरालजी से मिलते रहे, अपनी-अपनी प्रतिक्रिया लिखते रहे। श्री धर्मवीर भारती के लेख और चित्रों से वे बहुत अस्वस्थ मालूम हुए। श्री केदारनाथ अग्रवाल के लेख से लगा कि वे पूर्णतया स्वस्थ हो गये हैं। सनेहीजी के लेख ने हालत फिर नाज़ुक बतायी। जैसे जीवन से, वैसे मृत्यु से भी, निराला संघर्ष कर रहे थे और इस युद्ध में विजय मृत्यु की ही होती है, और शीघ्र भी, यदि आदमी में जीने की इच्छा-शक्ति शेष न रहे। सनेहीजी से उन्होंने कुछ ही सप्ताह पूर्व कहा था कि अब मैं नहीं जीना चाहता। मैं उसी दिन समझ गया था कि अब वे जल्द ही हमसे विदा ले लेंगे।

और प्रथा तो यही है कि कोई कितनी ही लम्बी उमर पाकर क्यों न मरे, उसकी मृत्यु को असामयिक ही कहा जाता है, पर इस समय मुझे प्रथा निभानी नहीं

है। निरालाजी की मृत्यु न अप्रत्याशित थी, न आकस्मिक और न असामयिक ही। उन्होंने अपने जीवन का अमृत-अंश बहुत पहले ही निचोड़ दिया था—शायद आख़िरी बूँद तक — काव्य के लिए, साहित्य के लिए, समाज के लिए। जो शेष रह गया था, वह विष था —जो उन्होंने अपने लिए रख छोड़ा था—और जो अनेक विकृतियों के रूप में, संसार के सामने आता रहा। 'राम की शक्ति पूजा' के पश्चात जो उन्होंने दिया है, वह इस विष को भी अमृत, अमृत नहीं तो रस—भले ही वह सदा मधुरस न हो —बनाने का प्रयास था। सात वर्ष से अधिक निराला इससे भी रिक्त होकर अपने को जिलाये रहे, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। निराला सचमुच महाप्राण थे। परन्तु कलाकार या क्रान्तिकारी जिस अर्थ में जीता है, वह उनके लिए समाप्त हो चुका था। कई वर्षों से वे अपने मिलनेवालों से अक्सर कहते थे कि निराला तो मर चुका है; और जब कोई उनका हस्ताक्षर माँगता था, तो वे अपना नाम न लिखकर किसी राजनयज्ञ अथवा पहलवान का नाम लिख दिया करते थे। मुझे किसी मित्र ने यहाँ तक बताया कि वर्षों से उन्होंने अपनी रायल्टी नहीं ली थी, क्योंकि रसीद पर वे अपना हस्ताक्षर नहीं करना चाहते थे।

निराला ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में शारीरिक और मानसिक कष्टों के रूप में केवल उस अमृत का मूल्य चुकाया, जो उन्होंने 'बहुजन हिताय बहुजनसुखाय' लुटा दिया था। इसका प्रतिदान जिस स्नेह-संवेदन-समादर के रूप में होना चाहिए था, वह नहीं हो सका। शायद जिन्होंने यह दान पाया था, वे भी उसका मूल्य ठीक नहीं जान सके, शायद अमृत का मूल्य जल्दी समझना भी कठिन है, शायद अमृत का मूल्य दिया भी नहीं जा सकता। अमृत के दानी सदा से विष के घूँट ही पीते गये हैं —सुक़रात, ईसा, मीरा, सरमद, दयानन्द, गांधी। निराला ऊँची परम्परा के थे; तभी तो वे ऐसी पंक्तियाँ लिख सके थे :

"पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं,
अपने नव जीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं,"

ध्वनि—**परिमल**

"ठहरो अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।"

भिक्षुक—**परिमल**

"नश्वर को करते अविनश्वर तत्काल
तुम अपने ही अमृत के
पावन-मृदु-सिञ्चन से"

कवि—**परिमल**

जो अमृत का दान देने चलता है, वह जानता है कि उसके लिए अन्त में विष ही रह जाना है। प्रतिदान की कामना-कुण्ठा बनी रहे तो यह विष अधिक कटु हो जाता है। मुझे यह लिखते हुए बड़ा दुख हो रहा है कि यह कामना-कुण्ठा निराला को न छोड़ सकी। निराला ऐसे साधक के लिए इस पर विजय पाना असम्भव न था, पर दुर्भाग्यवश, उनके स्नेही अपने मोह की अतिशयता में इसे उभारते ही रहे। मैं विस्तार में न जाऊँगा। थोड़ा लिखना, बहुत समझना ऐसी ही जगहों के लिए कहा गया है। इससे निराला के दान का मूल्य तो कम नहीं हुआ, पर उनका संघर्ष अधिक करुण हो गया। अभाव के प्रति निरपेक्ष रहना और अभाव को सह जाने में अन्तर तो करना ही पड़ेगा। निरपेक्षता उन्हें बहुत ऊँचा उठा देती, शायद हमसे दूर भी कर देती। उनमें थोड़ी-सी दुर्बलता रखकर शायद नियति उन्हें हम ईषिणा-पीड़ित मानवों के अधिक निकट रखना चाहती थी। हम अमृत तो देंगे, बदले में

थोड़ा रस भी चाहेंगे। मानव होकर इस मानवीय दुर्बलता को कौन वहाँ तिरस्कार की दृष्टि से देखेगा, जहाँ प्राय: विष देकर अमृत की कामना की जाती है।

नरेन्द्रजी की प्रतीक्षा में बैठे 'निराला' का नाम सर्वप्रथम सुनने से लेकर आज तक की न जाने कितनी स्मृतियाँ आँखों के सामने चित्रित होने लगीं।

खड़ीबोली हिन्दी कविता का इतिहास बीसवीं शताब्दी की आयु का इतिहास है। इतने कम समय में जिन कवियों की साधना ने हिन्दी कविता को भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं की समकक्षी ही नहीं, विश्व कविता के मानचित्र में एक सम्मान्य स्थान की अधिकारिणी बनाया, उनमें प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी का नाम सबसे पहले लिया जायगा—प्रकाशन की ओर से उदासीन न रहते तो इस श्रेणी में 'नवीन' का भी स्थान होता।

मैंने 'सूर्यकान्त त्रिपाठी' का नाम सर्वप्रथम 'मतवाला' के पृष्ठों में देखा। बात शायद 1922-'23 की है; उस समय मेरी अवस्था 14-15 वर्ष की थी। जहाँ तक मुझे स्मरण है, 'सूर्यकान्त त्रिपाठी' के साथ 'निराला' नाम पहले नहीं जुड़ता था। निरालाजी के सर्वप्रथम संग्रह 'अनामिका' (1923) के साथ भी लेखक का नाम केवल 'सूर्यकान्त त्रिपाठी' है। 'निराला' नाम सर्वप्रथम कब और किस कारण त्रिपाठीजी ने अपनाया, इस पर मैंने कहीं कुछ नहीं देखा। अभिनव 'अनामिका' के प्राक्कथन में 'मतवाला' 'निराला' के अनुप्रास का संकेत भर है। पद्य-रचना मैंने 1920 से आरम्भ कर दी थी, पर तुक-मात्रा बिठलाना मेरे लिए अब भी कठिन था। निराला के मुक्त छन्द ने मेरे संकट काट दिये—लेखनी में जैसे किसी ने चाभी भर दी और मैंने छोटे-बड़े कागज़ों पर पन्द्रह-बीस कविताएँ लिख डालीं। बाद को वे खो-खा गयीं। यह था निराला का पहला प्रभाव मुझ पर—बीस वर्ष बाद जो मैंने फिर मुक्त छन्द में लिखा, 'बंगाल का काल', वह शायद तभी के बीज का प्रस्फुटन था। निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व ने अन्य रूपों में भी मुझे प्रभावित किया।

'अनामिका' मेरे पास कैसे पहुँची, इसकी मुझे याद नहीं। पन्तजी की प्रथम पुस्तिका 'उच्छ्वास' (1922) की संगिनी बनी तभी से यह मेरे पास है। एक वर्ष के अन्तराल से निकली दोनों महाकवियों की ये सर्वप्रथम रचनाएँ कई अर्थों में उनके कवि-जीवन की जन्म-पत्रियाँ हैं। 'उच्छ्वास' का आकार डबल क्राउन सोलहपेजी है, उसमें कुल मिलाकर 16 पृष्ठ हैं, नीले कपड़े की जिल्द है, जिस पर कलापूर्ण स्वर्णाक्षरों में 'उच्छ्वास' का ठप्पा है; पुस्तिका अजमेर से स्वप्रकाशित है; दाम बारह आना है। किसी की भूमिका-सम्मति साथ नहीं है, कविता के प्रारम्भ में कविता की ही दो पंक्तियाँ 'मोटो' की तरह रख दी गयी हैं :

> "सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
> बालिका मेरी मनोरम-मित्र थी!"

'अनामिका' 'उच्छ्वास' से लम्बाई-चौड़ाई में एक-एक अंगुल कम है—उसे शायद डिमाई 16 पेजी साइज़ कहते हैं। उसमें कुल मिलाकर 40 पृष्ठ हैं। पतले कार्ड-बोर्ड का मटमैला कवर है, पुस्तक का नाम कुछ बड़े टाइप के टेढ़े अक्षरों में बैंगनी रंग में छपा है; प्रकाशक हैं नवजादिक लाल श्रीवास्तव, 23 शंकर घोष लेन, कलकत्ता; दाम छ: आना है। शुरू में महादेव प्रसाद सेठ लिखित एक पेज की भूमिका है। इसके आगे 'शारदा के भूतपूर्व सम्पादक और वर्तमान शिक्षा सम्पादक साहित्याचार्य पण्डित चन्द्रशेखर शास्त्री की सम्मान्य सम्मति' है। पुस्तक के प्रारम्भ में निम्नलिखित श्लोक 'मोटो' की तरह दिया गया है :

"पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव !"

कवर की पीठ पर लगभग एक दर्जन छोटी-मोटी पुस्तकें अपना विज्ञापन कर रही हैं।

पुस्तकों के कलेवर में जाते हैं तो पाते हैं कि 'उच्छ्वास' में एकमात्र कविता है, जिसकी आदि से अन्त तक एक शैली है, और उसे पढ़ने पर एक संश्लिष्ट प्रभाव पड़ता है। 'अनामिका' में नौ कविताएँ हैं, मोटे तौर पर मुक्त छन्द—और छन्दोबद्ध की दो शैलियों में—'पंचवटी', 'अधिवास', 'जुही की कली' पहली में हैं; 'अध्यात्म फल', 'माया', 'सच्चा प्यार', 'जलद', 'लज्जिता' दूसरी में। 'तुम और मैं' में दोनों शैलियों का सम्मिश्रण है।

यहाँ केवल जन्मपत्रियों के ग्रहों के नाम गिना, उनका फल किसी कल्पनाशील आलोचक-ज्योतिषी के ऊपर छोड़ना पर्याप्त होगा। फिर भी, इतना कहना चाहूँगा कि 'अनामिका' में निराला दो सुस्पष्ट, विभिन्न परम्पराओं के अन्तर्गत सृजन करते दिखलायी पड़ते हैं – एक समृद्ध, परिपक्व, सुस्थिर; दूसरी निस्तेज, कच्ची और प्रयोगात्मक; एक बंगला साहित्य की परम्परा, जिसमें रवीन्द्र और नज़रुल रचनाएँ कर रहे थे और दूसरी द्विवेदी युगीन—इतिवृत्तात्मक—जिसका परिचय उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका से प्राप्त किया था; बंगाल में जन्मने, पलने, बढ़ने, शिक्षित होने, युवावस्था तक रहने के कारण पहली निराला के लिए अधिक स्वाभाविक, दूसरी कम, कृत्रिम भी। परिणाम स्पष्ट है। जहाँ निराला खड़ीबोली की तत्सामयिक परम्परा भाव, भाषा, छन्द, रूपक आदि का अनुसरण करते हैं, वहाँ उनकी चीज़ें इतिवृत्तात्मक, सिलपट, फुसफुसी, भोंडी, सस्ती, सुधारवादी होती हैं—हालाँकि उनमें भी कहीं-कहीं छायावादी कल्पना के अंकुर फूटते दिखायी देते हैं; पर जब वे बंगला की परम्परा के प्रभाव में लिखते हैं, तब उनकी लेखनी को पर लग जाते हैं; उनकी चीज़ें चुस्त, दुरुस्त, सुष्ठु होती हैं। 'जलद' की ये पंक्तियाँ देखिये :

"भौंए तान दिवाकर ने जब भू का भूषण जला दिया,
माँ की दशा देखकर तुमने तब विदेश प्रस्थान किया,
वहाँ होशियारों ने तुमको खूब पढ़ाया—बहकाया—
"द" जोड़ ग्रेड बढ़ाते ही तो जाल फूट का फैलाया—
"जल" से "जलद" कहा—समझाया भेद तुम्हें ऊँचे बैठाल—
दायें-बायें लगे रहे, तुम जिससे भूलो अपना हाल,
किन्तु तुम्हारे चारुचित्त पर खिंची सदा माँ की तस्वीर—
क्षीण हुआ मुख, छलक रहा है नलिनी-दल-नयनों से नीर,
पवन शत्रु ने तुम्हें उतरते देख उड़ाया पथ-अम्बर,
पर तुम कूद पड़े, पहनाया माँ को हरा वसन सुन्दर;
धन्य तुम्हारी मातृभक्ति को ! दुःख सहे, डिगरी खोई,
ऊर्ध्वग जलद ! बने निम्नग जल, प्यारे ! प्रीति बेलि बोई !"

द्विवेदी युगीन कविता की असमर्थता, निर्बलता, त्रुटि बोल रही है।

चौथी पंक्ति में मात्राएँ पूरी हैं, पर लय दोषपूर्ण है। हमें न भूलना चाहिए कि दस वर्ष पूर्व हिन्दी 'भारत भारती' दे चुकी थी।

अब 'पंचवटी-प्रसंग' की कुछ पंक्तियाँ देखिये, जो मेरी सम्मति में 'अनामिका' की सर्वश्रेष्ठ पंक्तियाँ हैं और जिन्हें, सम्पूर्ण निराला-साहित्य में से सर्वश्रेष्ठ चुनते

हुए भी शायद ही भुलाया जा सके। अपने आप में यह गीत-सी पूर्ण है :

राम—छोटे से घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव, यह सच है प्रिये !
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निस्सीम भू पर।
प्रेम की महोर्मि माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट;
उसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण सम बह जाते हैं।
हाथ मलते भोगी, धड़कते हैं कलेजे उन कायरों के,
सुन-सुन प्रेम-सिन्धु का सर्वस्व-त्याग-गर्जन घन !
अट्टहास हँसता प्रेम पारावार
देख भय-कातर की दृष्टि में
प्रार्थना की मलिन रेखा;
तट पर चुपचाप खड़ा हाथ जोड़ मोह मुग्ध
डरता है गोते लगाते प्रेम सागर में;
जीवनाशा पैदा करती है सन्देह,
जिससे संकोच पाता सारा अंग;
यादकर प्रेम-बड़वाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला
फेरता है पीठ वह;
दिव्य-देहधारी ही कूदता है इसमें, प्रिये।

इसमें 'कविता-कलाप' के राय देवीप्रसाद साहब अथवा पण्डित कामताप्रसाद गुरु की प्रतिध्वनियाँ नहीं —इसमें प्रतिध्वनियाँ हैं रवीन्द्र और नज़रुल की—शायद नज़रुल की अधिक। ये पंक्तियाँ 'राम की शक्ति-पूजा' की बीज भी हैं, जो निराला की सर्वश्रेष्ठ रचना है। सेठजी द्वारा उद्धृत महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के शब्दों में 'नयी चीज़' और चन्द्रशेखर शास्त्री के शब्दों में 'एकदम नयी' चीज़ थी—यह मुक्त छन्द, जो निराला ने हिन्दी को दिया था। सेठजी ने भी 'पंचवटी-प्रसंग', 'अधिवास' तथा 'जुही की कली' में ही 'अभूतपूर्व नयी शैली' देखी थी। निराला के छन्द-जाल को तो सबने देखा था, पर उसने जो समेटा था, उसे किसी ने नहीं देखा। निराला का मुक्त छन्द हिन्दी का वह मुक्त हस्त था, जिसे फैलाकर उसने बंगाल की काव्य परम्परा —भारतीय काव्य परम्परा में उस समय सबसे समृद्ध—को आलिंगित करने का प्रयास किया। ज़ाहिर है कि महज़ जाल फेंटने से कुछ हाथ नहीं लगना था, और जैसाकि मैंने अपने 'बुद्ध और नाचघर' की भूमिका में लिखा था, लगभग तीन दशक तक निराला अपने प्रयोग में एकाकी रहे। और इसके लिए क्षुब्ध भी रहे कि उनका 'अनुगमन' करनेवाले नहीं मिले। 'पल्लव' की भूमिका में अक्षर मात्रिक स्वच्छन्द छन्द का विरोध प्रासंगिक था; उसके प्रचलित न होने के कारण गहरे थे।

निरालाजी को सर्वप्रथम मैंने 1928-'29 में देखा, जब वे बंगाल से विदा लेकर उत्तर प्रदेश में आ गये थे और लखनऊ में व्यवस्थित या अव्यवस्थित रूप से रह रहे थे। उन दिनों मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का छात्र था। यूनिवर्सिटी में किसी कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था—विजयानगरम हाल में। उसी में भाग लेने वे आये थे—शरीर से लम्बे, दुबले, साँवले—सिर पर लम्बे, काले बाल—दाढ़ी-मूँछ मूँडे; तहमत पर उन्होंने लम्बा कुरता पहन रखा था। जब उनके कविता पढ़ने की बारी आयी तो उन्होंने कहा, "मेरा गला ख़राब है, इस कारण गाकर कविता नहीं

सुनाऊँगा।" उन दिनों गाकर कविता सुनाने की इतनी प्रथा थी कि केवल काव्य-पाठ करनेवाले को क्षमा-याचना-सी करनी पड़ती थी—उन्होंने पहले मुक्त छन्द की कुछ कविताएँ सुनायीं। तन्मयता, उच्चारण की सुस्पष्टता, वाणी की ओजस्विता उनकी विशेषता थी। फिर लोगों के अनुरोध करने पर उन्होंने अपने कुछ गीत भी सुनाये—गले की ख़राबी का कोई पता नहीं। एक मित्र बगल में कह रहे थे, "ख़राब गले का यह कमाल है, गला अच्छा होता तब क्या होता!" उस समय तक पढ़ाई की धुन में मैं कविता लिखना छोड़ चुका था। बी. ए. करने के बाद ही मैंने फिर लिखना शुरू किया। मंच पर आने में तो कई वर्षों की देर थी। 1929 में गंगा-पुस्तक-माला के सौवें पुष्प के रूप में उनका 'परिमल' निकला तो मैंने उसे खरीदकर अपनी पत्नी को भेंट किया। आज भी वह प्रति मेरे पास है।

'परिमल' ने निराला को उसी प्रकार हिन्दी काव्य में स्थापित कर दिया, जिस प्रकार पन्त को 'पल्लव' ने। भूमिका में निराला ने दो बातों पर विशेष बल दिया था—हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने के लिए साहित्यिक पौरुष की ओर भावी कविता के लिए मुक्त छन्द अपनाने की आवश्यकता पर। कविता का जीवन से जो सम्बन्ध मेरी कल्पना में उस समय था और शायद आज भी है, उसमें ये दोनों प्रश्न गौण थे। कुछ कौतूहल की बात थी, मुक्त छन्द के आधार के सम्बन्ध में पन्त-निराला के विपरीत मत। पन्त ने लिखा था, "अन्य छन्दों की तरह मुक्त काव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए।···कवित्त छन्द, मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरस जात नहीं, पोष्य-पुत्र है; न जाने, यह हिन्दी में कैसे और कहाँ से आ गया; अक्षर मात्रिक छन्द बंगला में मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण-संगीत की वे रक्षा नहीं कर सकते।" निराला ने प्रत्युत्तर दिया, "मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। इस पुस्तक के तीसरे खण्ड में जितनी कविताएँ हैं, सब इस प्रकार की हैं। उनमें नियम कोई नहीं। केवल प्रवाह कवित्त-छन्द का-सा जान पड़ता है। हिन्दी में मुक्त-काव्य कवित्त-छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है। कारण, यह छन्द चिरकाल से इस जाति के कण्ठ का हार हो रहा है—यदि हिन्दी का कोई जातीय छन्द चुना जाय तो यही होगा।" सैद्धान्तिक बहस लम्बी होगी। परिणाम तो यही देखने में आया कि निराला के बाद कोई उसका निर्वाह सफलतापूर्वक नहीं कर सका, और पिछले दशक में जो मुक्त छन्द आया है, वह स्वर की लय पर नहीं, भाव और अर्थ की लय पर आधारित है, गद्यवत् है, यानी वह पढ़ने के लिए नहीं, देखने-समझने के लिए है। कविता की मूलभूत आवश्यकता से वह कितना दूर-निकट है, यह प्रश्न और है। और उसके पीछे पश्चिम के 'वर्स लिब्रे' की प्रेरणा भी कम नहीं है।

'पल्लव' ने विषय और शैली से प्रभाव की एकता स्थापित कर दी थी। पन्त कोमल-कान्त-पदावली में प्रकृति के कवि हैं। 'परिमल' अपनी विविधता में बिखर गया था। यहाँ संस्कृत का ध्वनि-सौन्दर्य, ठेठ हिन्दी का ठाठ, लखनवी ज़बान का चटखारा, बंगला का स्वर-वितान सब था। विषयों के लिए कवि प्रकृति, समाज, अध्यात्म, इतिहास, कल्पना सभी के पास गया था। कवि की प्रतिक्रिया में करुणाजन्य विद्रवण, रहस्य-विमुग्धता, विद्रोह, क्रान्ति, संघर्षोत्तेजन, उद्बोधन, चुनौती, पलायन, दार्शनिक-चिन्तन सब थे। 'परिमल' में जिस चीज़ ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया था वह थी दीन, दुःखी, कातर, असहाय के प्रति निराला की करुणा-ममता। निराला ने बड़ी क़ीमत देकर यह पर-दुःख विगलित मानवता प्राप्त

की थी। करुणा के चित्रण में निराला अद्वितीय हैं। विश्व-पीड़ा का इससे अधिक सजीव चित्रण मैंने नहीं देखा :

त्रस्त विश्व की आँखों से बह-बहकर,
धूलिधूसरित धोकर उसके चिन्तालोल कपोल,
श्वास और उच्छ्वासों की आवेग-भरी हिचकी से,
दलित हृदय की रुद्ध अर्गला खोल,
धीर करुण ध्वनि से वह अपनी कथा व्यथा की कहकर
धारा भरती धराधाम के दुःख अश्रु का सागर।

एक और चीज़ जिससे मैं प्रभावित हुआ, वह था, निराला का पौरुषपूर्ण प्रखर नर-स्वर। छायावाद का व्यापक स्वर नारी-स्वर था।

इसके बाद निराला को मैंने 1935 में ईविंग क्रिश्चियन कालेज, प्रयाग, के कवि-सम्मेलन में देखा। कवि-सम्मेलन उन्हीं के सभापतित्व में हुआ था। कविता पढ़ने के लिए मुझे भी निमन्त्रित किया गया था। मैं अपनी 'मधुशाला' लिख चुका था और 'मधुबाला' के गीत लिख रहा था। निराला का शरीर भारी हो चला था, बाल पक चले थे। मेरे नाम-काव्य से शायद वे परिचित हो चुके थे। उनके सामने कविता-पाठ करने का मेरा यह पहला अवसर था। 'मधुशाला' सुनकर जो उन्होंने मुझसे कहा, उसे दुहराना मेरे मुँह से न सोहेगा। उनके कोमल-प्रखर-उदात्त स्वरों ने सबके कान पवित्र कर दिए। निराला का ही व्यक्तित्व था, जो कुसुम की साँस और वज्र का गर्जन साथ लेकर चलता था। कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ तो उन्होंने मुझसे कहा, "आपको तो बड़ी जल्दी मान्यता मिल गयी।" मैंने कहा, "बड़ों की तपस्या का फल छोटों को मिलना ही चाहिए।" कवि-सम्मेलन से लौटते समय मैं अपनी पत्नी से कह रहा था, "पन्त और निराला को देखता हूँ तो मुझे लगता है कि ये कवि छोड़कर और कुछ भी नहीं हो सकते थे— ये तो अपनी प्रकृति से ही संकट-संघर्ष-मुसीबतों को न्यौता देने आये हैं। मैं तो ज़रूरत पड़ने पर कोयला भी ढो सकता हूँ।" मेरी पत्नी ने मजाक किया, "और कविता में भी आप कर क्या रहे हैं।"

इसके बाद निराला से मेरी मुलाक़ात शिमला साहित्य सम्मेलन में हुई— शायद 1939 के प्रारम्भ में। इसके कवि-सम्मेलन में जो हंगामा मचा था, उसकी चर्चा मैं अपने लेख 'कवि सम्मेलनों के मीठे-कडुए अनुभव' में कर चुका हूँ। निराला पीने लगे थे—नीट पीते थे—रूढ़ि-सुधारवादी त्रिपुण्डियों को दिखाकर पीते थे—उन्हें छेड़ने के लिए पीते थे। एक दिन मुझसे बोले, "बहुत हाला-हाला का हल्ला मचा रक्खा है। लो तुम भी।" मैं बोला, "अभी मेरी वेदनाएँ सहन की सीमा में हैं।"

इस बीच उनकी 'गीतिका' ('36) निकल चुकी थी। इसमें 101 गीत थे। मेरी प्रत्याशा को धक्का लगा। मुक्त छन्द की इतनी वकालत करने के बाद निराला ने अपने को— अपनी अभिव्यक्ति को छन्द-मात्रा में ही नहीं, संगीत के लय-ताल में भी बाँध लिया था। बन्धन के भी अपने गुण हैं। पर कविता की मुक्ति को कैसे भूल गये! मेरी अपनी व्याख्या है, आगे संकेत करूँगा। मुझे अधिक चोट लगी, पुस्तक के अन्त में 23 पेज के 'सरलार्थ' से। छायावादी कविता में जीवन की साँस का स्वर जो मुझे पहली बार केवल 'परिमल' में जहाँ-तहाँ मिला था, जिसके विकास की मुझे निराला से प्रत्याशा थी, उस पर यह सरलार्थ व्यंग्य कर रहा था। विगलित-हृदय कवि की परिणति सूक्ष्म कलाकार में हो गयी थी। 'गीतिका' की

कला समझने को मुझे दूसरा जन्म लेना होगा। भावनाएँ मैं सब कवियों की इसी जन्म में समझना चाहता हूँ।

मेरी धारणा है कि मुक्त छन्द के लिए जिस बंगाल का साहित्यिक वातावरण निराला के अनुकूल पड़ा था, उससे वे कट गये थे। यह नहीं कि उन्होंने बाद को मुक्त छन्द में लिखा नहीं पर अक्षर मात्रिक से अधिक वे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक पर आ गये, उर्दू बहरों का सहारा लिया, लेकिन उनकी कोई भी बाद की रचना बंगाल-काल की रचनाओं से होड़ न ले सकी और जीवन के अन्तिम वर्षों में भी वे अपनी पुरानी रचनाओं को ही सुनाते रहे। सृजन पर परम्परा और वातावरण के महत्त्व को हमें अधिक गहराई से समझना है।

इसके बाद 'तुलसीदास' (1938), और अभिनव 'अनामिका' (1939) आईं, जिसमें सर्वप्रथम 'राम की शक्ति-पूजा' छपी। निरालाजी की स्मृति बड़ी अच्छी थी—दोनों कविताएँ कई बार उनसे पूरी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। संस्कृत शब्दावली का ध्वनि-सौन्दर्य निराला के कण्ठ से खूब निखरता था। हिन्दी की मनीषा संस्कृत का कितना ध्वनि-सौन्दर्य समो सकेगी, यह प्रश्न अलग है। तुलसीदास जितने शब्दों में लिखा गया था, उसके चौगुने शब्दों में उसका सरलार्थ पुस्तक के साथ ही छापा गया था। 'राम की शक्ति-पूजा' के कुछ अंशों को उद्धृत कर किसी समालोचक ने लिख दिया था कि इसमें छू: लगा दिया जाये तो बिच्छू झाड़ने का मन्त्र हो जाये। यह निराला के प्रति अन्याय था। निराला अपने संस्कार-परम्परा से बँधे थे; उन्हें जो कुछ गम्भीर कहना था, उसका माध्यम संस्कृतगर्भित भाषा ही हो सकती थी। मेरी यह निश्चित धारणा है कि उद्बोधक-शक्ति कठिन-से-कठिन शब्द में भी भरी जा सकती है और सरल-से-सरल शब्दों को भी उससे रिक्त पाया जा सकता है। ध्वनि-संकेतों से जिस उद्बोधन-शक्ति का प्रकाश इन दोनों रचनाओं में किया गया है, वह हिन्दी-काव्य के लिए अप्रतिम है।

इसके बाद निरालाजी को मैंने अबोहर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में देखा—दिसम्बर 1941 में। उन दिनों मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के लेक्चरर के रूप में काम करने लगा था। उप-कुलपति पं. अमरनाथ झा अबोहर अधिवेशन के सभापति थे। उनके आग्रह से मैं भी चला गया था। पहली बार मुझे निराला के मानसिक असन्तुलन का आभास मिला। वे सम्मेलन में सबसे अंग्रेज़ी में बहस करते फिरते थे—हिन्दुस्तानी अंग्रेज़ी में, टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में, निराली अंग्रेज़ी में। एक दिन बोले, "अब मैं अंग्रेज़ी में कविता लिखना चाहता हूँ, जब योरोप में मेरी कविता का मान होगा, तब तुम लोग मेरी इज़्ज़त करोगे।" मान और मान्यता की भूख को मैं निराला की महानता के साथ कभी नहीं बिठला सका। पर उसकी अतिशयता और उसका अभाव उनकी बहुत बड़ी कुण्ठा बन गयी थी। निराला डाक बँगले के एक कमरे में ठहरे थे, बग़ल के कमरे में मैं था। निराला ने तीन-चार दिनों के अन्दर इतने मुर्ग़ खाये थे कि बिल देखकर सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष स्वामी केशवानन्द अपना सिर पीटने लगे।

हिन्दी कविता में प्रगतिवाद की चर्चा 1935-'36 से आरम्भ हुई। पन्तजी की 'युगवाणी' 1939, और 'ग्राम्या' 1940 में प्रकाशित हुईं। दोनों रचनाओं में ऊपरी ऐसा बहुत-कुछ था, जिसे देखकर प्रगतिवादियों ने उन्हें अपना नेता-सा मान लिया। निराला जगह-जगह कहते सुने जाते, "मैं प्रोग्रेसिव नहीं, ऐग्रेसिव हूँ।" पर उनके मन का क्षोभ दिन-दिन बढ़ने लगा। कारण कुछ भी हो, छायावादी काल में जो लोकप्रियता पन्त को मिली थी, वह निराला को नहीं मिली थी। निराला इसे

हिन्दी का अज्ञान मानते थे। इसे दूर करने के लिए उन्होंने 'पन्त और पल्लव', 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबन्ध लिखे थे। शायद दूसरे का उत्तर भी पन्तजी ने दिया था। जब हिन्दी कविता में नया आन्दोलन चला, तब भी उसका नेतृत्व लोग पन्त को ही दे रहे थे। निराला की तत्सामयिक रचनाएँ 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति-पूजा', सामयिक से अधिक शाश्वत की कोटि में थीं। पर निराला के व्यक्तित्व का एक पक्ष तो उस समय से प्रगतिवादी था, जब प्रगतिवादियों का जन्म भी नहीं हुआ था। मेरा संकेत प्रथम 'अनामिका' की 'अधिवास' शीर्षक कविता से है :

"मैंने 'मैं' - शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे—
झट उमड़ वेदना आई;
उसके निकट गया मैं धाय;
लगाया उसे गले से, हाय !—
फँसा माया में हूँ निरुपाय;
कहो फिर कैसे गति रुक जाय ?
उसकी अश्रुभरी आँखों पर मेरे करुणांचल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनन्त किन्तु तो भी है नहीं विमर्ष।"

करुणा यदि 'माया' में भी फँसाये तो भी वे उसे छोड़कर 'गतिहीन अधिवास' अथवा 'ब्रह्म' को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। निराला के अन्दर का संघर्ष-शील लेखक, स्वावलम्बी साहित्यकार सर्वहारा क़लम का मज़दूर, स्वाभिमानी प्रखर कवि—फन-फनाकर उठ खड़ा हुआ। पन्त ने दस-बरस कुँवर सुरेशसिंह के साथ कालाकाँकर के राजभवन में बिताये थे। अब उन्हें प्रगतिशील बनाया जा रहा है। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' के अजस्र, ओजस्वी पाठ-कर्ता ने एक दिन कवि-सम्मेलन में 'कुकुरमुत्ता' सुनाकर सबको स्तब्ध कर दिया। क्या व्यंग्य, क्या कटाक्ष, क्या ज़बान की सफाई, क्या मुहावरेदानी कि जिससे उर्दू भी कुछ सीखे—वास्तव में इसके प्रवाह में उर्दू बहरों का काफ़ी सहारा लिया गया था—और क्या सर्वहारा का सटीक समर्थन। सर्वहारा के प्रतीक निराला थे, कुकुरमुत्ते की आवाज़ में निराला बोले थे; निराला का प्रतीक कुकुरमुत्ता था, निराला ही कुकुरमुत्ता थे—

"अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पायी खुशबू, रंगोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट—
शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा,
इसलिए साधारणों से रहा न्यारा—
देख मुझको, मैं बढ़ा,
डेढ़ बालिश्त और ऊँचा हूँ चढ़ा;
और अपने से उगा मैं,
बिना दाने का चुगा मैं
क़लम मेरा नहीं लगता

मेरा जीवन आप जगता;---
मैं कुकुरमुत्ता"···आदि (1942)

और गुलाब कौन था ? 'कुकुरमुत्ता' का समर्पण 'श्री कुँवर सुरेशसिंह को' संकेत-विहीन नहीं था। जहाँ तक मुझे मालूम है, कुँवर साहब से निराला की घनिष्ठता नहीं थी। निराला ने पन्त की 'ज्योत्स्ना' की भूमिका में लिखा था, "प्रांजल श्री श्री सुमित्रानन्दन काव्योपवन के सांजलि खिले हुए प्रकाश-दृष्टि सुन्दर गुलाब हैं। ···मैं गुलाब को देखता हूँ, उसके काँटों को नहीं।" 'साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान धर्म' में प्रतीकों के लिए जो सूक्ष्म और पैनी अन्तर्दृष्टि निराला ने प्रदर्शित की है, उसे जानने पर किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं रह जाती।

निराला का वार ख़ाली नहीं गया था।

1943 के आरम्भ में, पन्त दिल्ली में डाक्टर जोशी के यहाँ टाइफ़ाइड में पड़े थे, जिसके बीच उनके मरने की भी ख़बर छप गयी थी। पन्त ने स्वीकार किया है, "मेरी अस्वस्थता का कारण एक प्रकार से मेरी मनःक्लान्ति भी थी।" ('उत्तरा' की भूमिका, पृ. 18)

पन्त के 'मरने' की ख़बर पाकर रात भर मछली की तरह तड़पना भी निराला के लिए ही सम्भव था।

'कुकुरमुत्ता' प्रगतिवाद की सबसे बड़ी उपलब्धि और अब तक हिन्दी का सबसे प्रखर व्यंग्य काव्य है। महादेवीजी ने कुछ समझा होगा, तभी निराला के आग्रह करने पर भी उसे उनके सर्वश्रेष्ठ कविताओं के संग्रह 'अपरा' में स्थान नहीं दिया।

पन्तजी चार वर्ष के लिए उत्तर भारत से हटकर मद्रास, पाण्डिचेरी, बम्बई, विशेषकर दक्षिण भ्रमण में रहे। उत्तर भारत में निराला प्रगतिवादियों के नेता बना लिये गये। 'अणिमा' 1943 में निकली। 'कुकुरमुत्ता' की तुक-संयमित मुक्त छन्द की रचनाओं ने जैसे सामाजिक विपयय के प्रति निराला के भीतर के क्रोध-कटाक्ष-व्यंग्य-हास्य का रेचन कर दिया था। इस संग्रह में 'स्फटिक शिला' को प्रवाद-स्वरूप मानना होगा, जिसमें प्रकृति और ग्राम्य-जीवन की यथार्थता के भीतर से सांस्कृतिक मूल्य को उभारा गया है। 'कुकुरमुत्ता' की प्रखरता को बाद दे दें, तो 'स्फटिक शिला' मुझे इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ रचना लगती है। 'अणिमा' की आधी से अधिक रचनाएँ प्रशस्तिपरक हैं—जिस किसी को भी उन्होंने देखा, उदार दृष्टि से देखा। शेष रचनाओं में जो प्राय. गीत हैं, निराला अपने अन्दर पैठे हैं। 'मैं'-शैली की मार्मिकता वास्तव में यहीं देखने को मिलती है। पहले तो 'मैं'-शैली अपनाते ही उन्होंने एक निज भाई को दुखी देखा था और उसी की छाया ने उनके हृदय को छा लिया था। निराला की वास्तविक 'मैं'-शैली उस गहरी चोट से प्रस्फुटित हुई, जिसका संकेत 'सरोजस्मृति' (1935) में है। और जो अभिनव 'अनामिका' के '35-'38 के मध्य लिखित कतिपय कविताओं में विकसित होती रही। 'अणिमा' के इन गीतों में निराला का स्फटिक-पारदर्शी अन्तर दिखलायी पड़ता है—जिस पर होकर कोई तूफ़ान निकल चुका है—बहुत कुछ क्षत-विक्षत, नमित-शमित हो चुका है, पर कवि को न क्रोध है, न पश्चात्ताप है; जो है—जैसा है उसे स्वीकार करने को कवि तैयार है। यदि कहीं कुछ व्यथा-वेदना है तो वह पंक्तियों में नहीं, पंक्तियों के बीच के रिक्त को पढ़ सकनेवाले के लिए है :

"उन चरणों में मुझे दो शरण, इस जीवन को करो हे मरण।
बोलूँ अल्प, न करूँ जल्पना, सत्य रहे, मिट जाय कल्पना,

मोह-निशा की स्नेह गोद पर सोये मेरा भरा जागरण।

× × ×

फूल जो तुमने खिलाया, सदल क्षिति में ला मिलाया,
मरण से जीवन दिलाया, सुकर जो वह मुझे वर दो।

× × ×

मरण को जिसने वरा है उसी ने जीवन भरा है
परा भी उसकी, उसी के अंक सत्य यशोधरा है।

× × ×

स्नेह-निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—"अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति में वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।"

× ×

मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य बेला
पके आधे बाल मेरे
मुये निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही
हट रहा मेला।
कोई नहीं पूछता, न पूछे,
भरे रह गये हैं वे, इसलिए
तेरी नज़रों में हैं छूँछे;
ढलकाता चल उनका जल रे,
भर जैसे मिलना है तेरा—
गया अँधेरा!"

'अणिमा' की कुछ कविताओं, कुछ पदों, कुछ पंक्तियों में निराला मर्म की जिस गहराई से बोले हैं, वह मुझे बहुत प्रिय है—यह न कवि का पैग़म्बरी ठाठ होता है न उसमें वचन-प्रवीण अथवा वाग्विदग्ध होने की आत्म-चेतना। उसकी सहज अनुभूति होती है, 'कवि न होउँ'। उसका सहज स्वर होता है, मानवता के प्रतीक बने हृदय का अनिवार्य, अनियन्त्रित, अनिरुद्ध उद्‌गार। उससे कोई आतंकित, चमत्कृत नहीं होता। वह भावप्रवण हृदय की सहज प्रतिध्वनि होती है। पाठक या श्रोता कवि को अपने-सा ही सहज मानव पाता है। वह उनका सम्राट, गुरु, आचार्य, औलिया, शिक्षक, उपदेशक नहीं रह जाता; वह उनका सहज मीत—'मित्र' नहीं—होता है। कवि की इस धारणा से कविता-सम्बन्धी बहुत-से परिणाम निकलते हैं, पर यहाँ तो उन्हें कल्पनाशील पाठकों पर छोड़ना होगा।

क्या भावी निराला यहीं से बोलेगा? निराला के बारे में भविष्यवाणी करने का दुःसाहस कौन करेगा! बाढ़-बवण्डर, उल्का-विद्युत की गतिविधि के बारे में भविष्यवाणी कौन करेगा! निराला अनेक दर-दरवाज़ोंवाले महाप्रासाद के

अधिवासी हैं; आप एक से उन्हें पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, वे दूसरे से निकल जाते हैं—आपको यही कहना पड़ता है—"तेरे घर के द्वार बहुत हैं।"

'बेला' और 'नये पत्ते' उनके दो काव्य-संग्रह 1946 में प्रकाशित हुए। 'बेला' के 'आवेदन' से पता चलता है कि यह संग्रह 1943 में तैयार हो गया था। सम्भव है, कुछ कविताएँ 'अणिमा'-काल की हों। प्रकाशन में विलम्ब से, सम्भव है, कुछ कविताएँ बाद की भी हों। 'अणिमा' के जिस मर्मस्पर्शी स्वर की ओर मैंने संकेत किया है, उसकी क्षीण प्रतिध्वनियाँ 'बेला' में भी हैं :

"रूप की धारा के उस पार कभी धँसने भी दोगे मुझे ?—

× ×

मधुर, उर से उर, जैसे गन्ध कभी बसने भी दोगे मुझे ?

× ×

आँखें वे देखी हैं जब से, और नहीं कुछ देखा तब से।

× ×

कैसे गाते हो ? मेरे प्राणों में आते हो, जाते हो।"

लेकिन पूरी पुस्तक पढ़ने पर जो प्रभाव मन पर रह जाता है, वह कुछ अनगढ़-असफल ग़ज़लों का है, जो कुछ समय से पत्र-पत्रिकाओं में छप रही थीं। उर्दू बहरों से परिचय का सबूत तो 'कुकुरमुत्ता' की कुछ कविताओं ने ही दे दिया था। ग़ज़ल छन्द को हिन्दी में लाने के कुछ भोंडे-भद्दे प्रयोग पहले भी हो चुके थे; निराला की प्रतिभा भी उसमें कोई विशेष निखार-सँवार नहीं ला सकी। हिन्दी के घर में ग़ज़ल के निभने की कठिनाइयों पर मैं अपनी एकाधिक भूमिकाओं में प्रकाश डाल चुका हूँ। भाषा-साम्य के कारण ग़ज़लों में हिन्दी की उपलब्धि का मानदण्ड उर्दू की उच्चतम उपलब्धियों से आयेगा। अपनी सत्ता और मौलिकता बनाये हुए उर्दू ग़ज़लों की सफ़ाई, सांकेतिकता और अर्थ-गम्भीरता लाना हिन्दी के लिए सम्भव भी नहीं और मेरी सम्मति में, स्पृहणीय भी नहीं—हिन्दी का जन्म उर्दू की उपलब्धियों को दुहराने के लिए नहीं हुआ।

ग़ज़लों की ओर निराला का झुकाव देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। निराला यह घोषणा करते हुए आये थे कि 'कविता की मुक्ति (है) छन्दों के शासन से अलग हो जाना।' 'गीतिका' के साथ उन्होंने छन्द और तुक के साथ लय-ताल का भी बन्धन स्वीकार कर लिया था। अब उन्होंने काफ़िया-रदीफ़ का नियन्त्रण मान लिया। अगर कोई चीज़ निराला की उन्मुक्त प्रतिभा के विपरीत थी तो यह काफ़िया-रदीफ़ का बन्धन था। इसने उर्दू कविता को भावना, आन्तरिक प्रेरणा से हटाकर रूप और बाहरी शब्द-साम्य पर निर्भर कर दिया था। शब्दों के इस अत्याचार ने ग़ालिब ऐसे महाकवि से एक नैसर्गिक शेर यदि यह लिखाया :

"नग़्म हाये ग़म को भी ऐ दिल, ग़नीमत जानिये,
बेसदा हो जायेगा यह साज़े हस्ती एक दिन।"

तो उसी के बाद एक कूड़ा शेर भी लिखा दिया था :

"धौलधप्पा उस सरापा नाज़ का शेवा नहीं,
हम भी कर बैठे थे ग़ालिब पेश-दस्ती एक दिन !"

क्योंकि 'हस्ती', 'मस्ती' के बाद 'दस्ती' को भी जगह देनी थी। निराला की एक ग़ज़ल शुरू होती है :

"आँख के आँसू न शोले बन गये तो क्या हुआ।"

और समाप्त होती है इस पर :

धार से निखरे हुए ऋतु के सुहाये बाग़ में,
आम भरने के न झोले बन गये तो क्या हुआ !"

एक और ग़ज़ल शुरू होती है :

"भेद कुल खुल जाये वह
सूरत हमारे दिल में है।"

और बीच में एक शेर आता है :

"पेड़ टूटेंगे, हिलेंगे, ज़ोर की आँधी चली,
हाथ मत डालो, हटाओ पैर, बिच्छू बिल में है।"

'शोले' के भाई 'झोले' और 'दिल' की बहन 'बिल' ने कविता पर जो जुल्म किया है, वह न कहने ही क़ाबिल है। इस जुल्म की हद तो तब होती है जब निराला इन हथ-कड़ियों-बेड़ियों में बँधे-छँदे हुए छन्दों को भी आज़ाद करने की उद्घोषणा करते हैं :

"संकोच को विस्तार दिये जा रहा हूँ मैं
छन्दों को विनिस्तार दिये जा रहा हूँ मैं।
प्रस्तार को प्रस्तार दिये जा रहा हूँ मैं
जैसे विजय को हार दिये जा रहा हूँ मैं।"

'हार' का अर्थ 'पराजय' करके ही मुझे कुछ सन्तोष होता है। इसी रदीफ़ पर जिगर की प्रसिद्ध ग़ज़ल न याद आये तभी ग़नीमत है। इतना ही नहीं, निराला ग़ज़ल को उस समय अपना रहे थे, जब उर्दू प्रगतिवादियों के 'क़ायदे आज़म' जनाब सज्जाद ज़हीर ग़ज़ल के खिलाफ़ जिहाद छेड़ रहे थे।

इसी समय तुलसी के 'रामचरित मानस' को खड़ीबोली में रखने के निराला के प्रयास भी पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा सामने आये। चॉसर को नयी अंग्रेज़ी में रखने का प्रयत्न ड्राइडेन ने भी किया था। उनकी किसी उपलब्धि की उपेक्षा शायद इससे अधिक नहीं की गयी। तुलसी के आधुनिकीकरण पर मैंने तो अपना सिर ही धुन लिया। सूखे तुलसी को खड़ीबोली से हरियाने-लहलहाने का विश्वास जिन्होंने व्यक्त किया है, उनसे अपनी रुचि अलग रखने के लिए क्षमा-याचना करना चाहूँगा।

'नये पत्ते' की विविधता के सम्बन्ध में स्वयं लेखक सचेत था। प्रस्तावना में निराला ने लिखा था, इसमें, "सभी तरह के आधुनिक पद्य हैं।" '28 कविताओं में 7 कविताएँ 'कुकुरमुत्ता' की भी सम्मिलित कर दी गयी थीं—एकाधिक यत्र-तत्र परिवर्तनों के साथ शायद 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक कविता ने पाठकों को इतना आकर्षित कर लिया था कि इन कविताओं की ओर लोगों का ध्यान ही न गया था—ताड़ के आसपास के लता-कुंज पर किसकी दृष्टि जाती है, पर 'स्फटिक शिला' के छोटे-सादे किन्तु दिव्य मन्दिर को अनदेखा करना शायद ही किसी के लिए सम्भव हुआ हो। फिर भी 'नये पत्ते' में उन्हें रखकर कदाचित कवि उन्हें अधिक अनुकूल परिवेश देना चाहता था। एक शोक गीत था, स्वर्गीय रणजीत पण्डित के प्रति, एक प्रशस्ति थी रामकृष्ण परमहंस के प्रति। दो कविताएँ स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेज़ी कविताओं के अनुवाद के रूप में थीं। एक और कविता में स्वामीजी के साथ कैलाश यात्रा का काल्पनिक वर्णन था। शेष कविताओं में, अधिकांश में, व्यापक अर्थ में, निराला का दृष्टिकोण प्रगतिवादी था—ज़मींदार, साहूकार, उच्चवर्ग, अधिकारी-वर्ग, स्वार्थसाधक, राजनीतिक दल के बीच निराला की हार्दिक सहानुभूति त्रासित-शोषित किसान के साथ स्पष्ट थी। ग्राम और ग्रामीण जनता को पन्त ने 'केवल बौद्धिक सहानुभूति' दी थी। 'देवी सरस्वती' में, जो इस संग्रह में सर्वप्रथम आयी

कविताओं में, मेरी सम्मति में, सर्वश्रेष्ठ थी, षट् ऋतु वर्णन के ब्याज से कवि ने ग्राम्य प्रकृति और ग्राम्य जीवन के क्रिया-कलाप और आमोद-प्रमोद का बड़ा सजीव चित्र खींचा था। किसान के लिए सबसे अधिक कष्टकर शीत ऋतु में उसका चित्र जितना करुण है, उसके भविष्य का आश्वासन उतना ही सबल :

"प्रखर शीत के शर से जग को वेधा तुमने
हरीतिमा के पत्र-पत्र को छेदा तुमने।
शीर्ण हुई सरिताएँ साधारण जन ठिठुरे;
रहे घरों में जैसे हों बाग़ों में गिठुरे।
छिना हुआ धन, जिससे आधे नहीं वसन तन,
आग तापकर पार कर रहे हैं गृह-जीवन।
उनको दिखा रही हो, तारे टूट रहे
पत्तों के, डालों के सहारे टूट रहे हैं।
जीवन फिर दूसरा उन्हें पल्लवित करेगा,
किसी अस्त्र से अन्न-वस्त्र के दुःख हरेगा।"

चूँकि 'नये पत्ते' में एक बार फिर निरालाजी ने मुक्त छन्द का उपयोग किया है और शायद अन्तिम बार, इसलिए अभिनव 'अनामिका', 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा' पर एक बार फिर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा। 'परिमल' की मुक्त छन्द की कविताओं का माधुर्य-ओज तो ग़ायब ही हो गया है। उसकी अन्तिम प्रतिध्वनि शायद 'सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति' रचना में सुनायी पड़ी। 'तोड़ती पत्थर' से संस्कृत पदावली के ध्वनि-सौन्दर्य को छोड़ बोल-चाल की मुहावरेदार, सरल भाषा में मुक्त छन्द लिखने का जो प्रयोग आरम्भ हुआ, वह 'कुकुरमुत्ता' की व्यंग्यात्मक कविताओं में, प्राय: उर्दू बहरों का आश्रय लेकर, निखरा। 'अणिमा' के मुक्त छन्द में अक्षर-मात्रिक और ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक दोनों का प्रयोग किया गया है। 'नये पत्ते' में इनके अतिरिक्त ऐसे भी प्रयोग हैं, जहाँ पन्तजी के शब्दों में 'कोई भी नियम नहीं', अर्थात् स्वाभाविक गद्य की लय है, जिसे नये कवियों ने अर्थ की लय कहा है। यदा-कदा ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं का विशेष संघट (पैटर्न) भी है, जिसकी, थोड़े-बहुत विपर्यय के साथ, आवृत्ति होती जाती है, जैसे 'तोड़ती पत्थर' में। निरालाजी न जाने किस आधार पर उसमें अंग्रेज़ी संगीत बताया करते थे। कम-से-कम अंग्रेज़ी संगीत में मेरी कोई गति नहीं। निराला का मुक्त छन्द एक स्वतन्त्र लेख की माँग करता है। उनके प्रयोगक्रम में शायद विकास-ह्रास दोनों ही देखा जा सकता है। सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों के लिए मेरी दृष्टि 'परिमल' की ही ओर जाती है, निराला की भी जाती थी। पर यह भी सच है कि जीवन की यथार्थता, कटुता, नग्नता को उत्तरोत्तर जिस निकटता से वे देख रहे थे, उसके लिए 'परिमल' की शैली उपयुक्त न होती। विचार-भाव की प्रगतिशीलता के साथ भाषा-शैली की प्रगतिशीलता अपरिहार्य रूप से जुड़ी है, इसे निराला खूब समझते थे। वे उसमें कवित्व की कितनी स्फूर्ति भर सके हैं, यह विषय विवादास्पद है। जीवन के लिए कवित्व को बलिदान कर देना बहुत बड़े जीवट के कवि का काम है।

निराला के प्रयोगों का यह परिणाम है कि मुक्त छन्द आज एक प्रकार की कविता का स्वीकृत माध्यम है। एक मात्र माध्यम की सैद्धान्तिक घोषणा करके भी उन्होंने कितना छन्द-तुक-लय-ताल-क़ाफ़िया-रदीफ़बद्ध लिखा! प्रकार की सम्भावनाएँ भी उनके प्रयोगों में शायद समाप्त हो गयी हैं। कौन हिन्दी की मनीषा के अधिक अनुकूल और उसको अधिक ग्राह्य होगा, इसका निर्णय प्रमाण से अधिक प्रत्यक्ष

पर निर्भर होगा। प्रयोग के लिए प्रयोग की महत्ता स्वीकार न करते हुए भी, मेरे मन में उस कवित्व के खरेपन और आत्मविश्वास की बड़ी इज़्ज़त है, जो नयी-नयी आग में धँसने का ख़तरा उठाता, फिर-फिर परीक्षा देता, नये-नये रूप लेता, और तत्त्वत: एक ही बने रहने की घोषणा करता है। निराला की कवित्व-शक्ति किसी रूप में प्रकट हो, निरालापन लिये रहती है।

1947 के वसन्त पर काशी में निराला की स्वर्ण-जयन्ती मनायी गयी—अभिनन्दन ग्रन्थ और बारह हज़ार की थैली समर्पित करने की भी योजना थी, पर संगठन ठीक न होने से अभिनन्दन का यह रूप विद्रूप मात्र बनकर रह गया। इसमें सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। निरालाजी विवेकानन्दी वेष-भूषा, ठाठ-ठस्से से आये थे, प्रसन्न और सन्तुष्ट थे; मान और मान्यता उन्हें बच्चों की तरह खुश कर देती थी। बाद को एक चित्र भी देखने में आया, जिसके नीचे उनके नाम के पूर्व, कुछ-कुछ याद है, श्री 108 महर्षि आदि छपा था। रामकृष्ण विवेकानन्द के प्रति उनकी आस्था, 'समन्वय' आध्यात्मिक पत्रिका से उनके सम्बन्ध से यह कुछ अप्रत्याशित न था। कुछ दिन पूर्व उनके घर छोड़ संन्यास लेने की बात भी पत्रों में छप चुकी थी। दूसरे दिन जो कवि-सम्मेलन हुआ था, उसकी चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ। रात भर दिनकर और मैंने कविता सुनाकर सवेरा कर दिया था। निरालाजी से कविता सुनाने को कहा गया तो वे बोले, "मेरा ही स्वर बोल रहा है।" मैं कैसे कहूँ, उन्होंने ठीक ही कहा था; उन्होंने उदारता दिखलायी थी। आरम्भ में वे अपनी कुछ प्रसिद्ध पुरानी कविताएँ सुना चुके थे।

इसके पश्चात् ही निरालाजी की विक्षिप्तता के समाचार इधर-उधर सुनायी पड़ने लगे। 1947 के मध्य में पन्तजी दक्षिण-प्रवास से आकर एडेल्फ़ी क्लब प्रयाग में मेरे पास ठहरे। कुछ महीनों के पश्चात्, सामने के कमरे में श्री गंगाप्रसाद पाण्डे आकर रहने लगे और उनके अतिथि के रूप में निरालाजी कभी-कभी एडेल्फ़ी में आकर रहते। अप्रैल-मई 1948 की बात है। प्रयाग में ज़ोर की गर्मी आरम्भ हो गयी थी। पन्तजी पहाड़ जाने की तैयारी में थे; श्री अमृतलाल नागर उनसे मिलने को आये हुए थे। हम तीनों लगभग चार बजे के अपने कमरे में चाय पी रहे थे। बरामदे में किसी के पाँवों की आहट सुन पड़ी। मैं पर्दा उठाकर बाहर निकला। देखता हूँ एक पहलवान बाहर खड़ा है—अरे ये तो निरालाजी हैं!—पाँवों में पंजाबी जूता, ऊपर मटमैली तहमत, शरीर पर लम्बा कुर्ता, मुँडे सिर पर छोटी-सी साफ़ी बँधी हुई, गर्दन-गाल पर मिट्टी भी लगी, बड़ी-बड़ी आँखों में लाल डोरे उभरे।

'पन्त ?"

"हैं।"

"मिलूँगा।"

"आइए।"

कमरे में घुसते ही उन्होंने आवेश-भरे स्वर में कहना शुरू किया, "पन्त, तुमने कविता तो बहुत लिखी, आज हमारी-तुम्हारी कुश्ती भी हो जाये, मैं निराला नहीं हूँ, मैं हूँ तुत्तन ख़ाँ का बेटा मुत्तन ख़ा, मैंने गामा, ज़ुबिस्को, टैगोर—सबको चित किया हुआ है—आओ, आओ!"—आदि।

यह सब कहते-कहते उन्होंने अपने सारे कपड़े उतार दिये, सिर से साफ़ी उतारकर लँगोट की तरह बाँधी और डण्ड-पर-डण्ड लगाने लगे, फिर ताल ठोंकी।

अमृतलालजी सतर्क हो गये; मूर्ति हिल सकती थी पन्तजी नहीं हिल सकते थे। उन्हें चुप देखकर उन्होंने मेरी तरफ़ देखा, "तुम आओ!" मैंने कहा, "मैं तो आपका

चरण छूने योग्य भी नहीं हूँ, आपसे कुश्ती क्या लड़ूँगा !" निराला शान्त हो गये। मैंने कहा, "निरालाजी, चाय पीजिए।" बोले, "निमन्त्रित नहीं हूँ—पानी पी सकता हूँ —लोटे में लाना।" निराला को कौन सरेख कहे, कौन पागल कहे ? कौन बाहोश कहे ? कौन बेहोश ? उन्होंने गट-गट पानी पिया और झपटकर कमरे से बाहर हो गये। पाँच मिनट हम तीनों सिर नीचा किये बैठे रहे। फिर मैं ही बोला, "अमृतलालजी, निराला ने अपना अमृत निचोड़ दिया; अब उनके जीवन का विष ही उन्हें खा रहा है।"

इसके बाद मैंने निरालाजी के दर्शन 1950 में उनके जन्मदिन पर साहित्यकार संसद, रसूलाबाद, प्रयाग में किये; जहाँ वे कुछ दिनों से स्थायी रूप से रहने लगे थे। छोटा-सा आयोजन किया गया था। नीम के पेड़ के नीचे निराला गेरुये वस्त्रों में बैठे थे। वे शान्त थे, कि दिखे, कौन कहे। गंगा के किनारे, इस एकान्त, स्वच्छ-खुले स्थान में उनके रहने की व्यवस्था थी। पर एक दिन वे इसे छोड़ दारागंज की गन्दी, पतली गली में जा बसे, क्यों ? राम जाने !

1950 में निरालाजी की 'अर्चना' प्रकाशित हुई। 'भणिति' और 'वस्तु' की दृष्टि से प्रभाव की एकता निरालाजी की सम्भवतः एकमात्र पुस्तक 'तुलसीदास' में है। 'भणिति' के अन्तर्गत शब्द-संगीत की एकता 'गीतिका' में भी मानी जायेगी। 'भणिति' और 'वस्तु' दोनों की दृष्टि से 'अर्चना' में भी विविधता है। कहीं पर एकदम संस्कृतनिष्ठ शैली है, कहीं बिल्कुल बोलचाल की भाषा। 'अर्चना' के सब गीत 1950 में लिखे गये हैं। गीतों के नीचे रचना-तिथि भी दी है। आश्चर्य तब होता है, जब निरालाजी एक ही दिन दोनों शैलियों में लिखते हैं। इससे सरल लिखना कठिन है :

> "सहज-सहज कर दो :
> सकलश रस भर दो।
>   ठग ठग कर मन को
>   लूट गये धन को,
>   ऐसा असमंजस, धिक्
>   जीवन-यौवन को।"

और उसी दिन की रचना है : पूरी दे रहा हूँ :

> "वासना-समासीना
> महती जगती दीना।
> जलद-पयोधर-भारा,
> रवि-शशि-तारक-हारा,
> व्योम मुखच्छवि सारा
> शतधारा पथ-हीना।
> ऋषिकुल-कल-कण्ठस्तुति,
> दिव्य-शस्त्र सकलाहुति,
> निगमागम-शास्त्रश्रुति
> रासभ-वासव-वीणा।"

कहीं देश-दशा का वर्णन है, सरलता में मर्मवेधी,

> "आशा-आशा मरे
> लोग देश के हरे।
>   देख पड़ा है जहाँ,

सभी झूठ है वहाँ,
भूख-प्यास सत्य,
होठ सूख रहे हैं अरे!"

कहीं वसन्त का वर्णन है, सरसता से रंजित,

"फूटे हैं आमों में बौर
भौंर बन-वन टूटे हैं।
होली मची ठौर-ठौर,
सभी बन्धन छूटे हैं।
फागुन के रंग-राग,
बाग-बन फाग मचा है,
भर गये मोती के झाग,
जनों के मन लूटे हैं।"

कहीं आत्म-वेदना की अभिव्यक्ति, जितनी ही सच्ची उतनी ही करुण,

"हार गया जीवन-रण,
छोड़ गये साथी जन,
एकाकी, नैश क्षण,
कण्टक पथ, विगत पाथ।"

लेकिन कुल मिलाकर 'अर्चना' का व्यापक स्वर मध्यकालीन सन्त-बानी का है, "स्वस्थ भगवत-समर्पण,

पंक्ति-पंक्ति में मान तुम्हारा,
भुक्ति-मुक्ति में गान तुम्हारा,"

से लेकर अस्वस्थ जीवन विरक्ति तक,

"कौन गुमान करो ज़िन्दगी का?
जो कुछ है कुल मान उन्हीं का।
बाँधे हुए घरबार तुम्हारे,
माथे है नील का टीका,
दाग़-दाग़ कुल अंग स्याह हैं,
रंग रहा है फीका—
तुम्हारा कोई न जी का।"

बीच में छोटे-बड़े सन्त कवियों के भजनोपदेशों की कितनी ही प्रतिध्वनियाँ हैं—पार पारावार कर तू, पतित हुआ हूँ भव से तार; अशरण हूँ, गहो हाथ; मोहजाल घेर रहे हैं कराल; जगज्जाल छाया, माया ही माया; भव सागर से पार करो, माया का संहार करो; दो सदा सत्संग; हरि का मन से गुनगान करो, निशिवासर ईश्वर ध्यान करो; भजन कर हरि के चरण, मन! पार कर मायावरण मन आदि-आदि। जैसा कि निरालाजी ने स्वयं लिखा था, "पुस्तक का अन्तरंग विषय यौवन से अतिक्रान्त कवि के परलोक से सम्बद्ध है।" जहाँ कवि की प्रतिक्रियाएँ अपने प्रति, किसी अन्य व्यक्ति—वास्तविक अथवा काल्पनिक—के प्रति, समाज युग अथवा इतिहास के प्रति, प्रकृति के प्रति और परा प्रकृति (सुपरनेचुरल) के प्रति मान्य हैं, वहाँ 'परलोक' अथवा 'परब्रह्म' के प्रति, विशेषकर इस धर्मप्राण देश-भाषा-संस्कृति में, उसकी प्रतिक्रिया को अमान्य कौन ठहरायेगा?—"रूप के गुण गगन चढ़कर, मिलूँ तुमसे, ब्रह्म।" पर इन गीतों के सम्बन्ध में निरालाजी के मन में कोई ग़लतफ़हमी नहीं थी। 'स्वयोक्ति' में उन्होंने लिखा था, "रस सिद्धि की

परताल कीजिएगा तो कहना होगा कि हिन्दी के भाषा-साहित्य में ज्ञानी और भक्त कवियों की पंक्ति की पंक्ति बैठी हुई है, जिनकी रचनाएँ साधारण जनों के जिह्वाग्र से अमृत की धारा वहा चुकी हैं; ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशा मात्र है। अतः यहाँ प्राचीन परम्परा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि,

"भाव कुभाव अलख आलसहू,
राम जपत मंगल दिशि दसहू।"

फिर भी, कवि की विनम्रता हमें उसकी विशिष्टता के प्रति उदासीन नहीं बना सकती। निराला, नये माध्यम से—मेरा मतलब खड़ीबोली से है—चिरन्तन की बात कहकर भी कुछ नवीन दिये बग़ैर नहीं रह सकते। निराला की अभिव्यंजना की साधना इतनी ज़बर्दस्त है कि एक अत्यन्त चर्वण-चर्वित और निहायत घिसे-पिटे विषय को लेकर भी वे उसे कुछ निरालापन दे गये हैं। उनका छुआ कुछ भी उनकी छाप लिये बग़ैर नहीं जाता।

1952 के आरम्भ में मैं इंग्लैण्ड चला गया। निरालाजी के अन्तिम दो काव्य-संग्रह—'आराधना' और 'गीत-गुंज' मेरे विदेश-प्रवास-काल में प्रकाशित हुए। लौटकर साहित्यिक मित्रों की चर्चा से पता लगा कि इन दोनों संग्रहों में 'अर्चना' की ध्वनियाँ ही क्षीण-क्षीणतर हुई हैं फिर भी, संग्रहों के देखने पर कुछ पंक्तियाँ मन में गड़ गयीं :

"दुखता रहता है अब जीवन,
पतझड का जैसा वन-उपवन।
झर-झरकर जितने पत्र नवल
कर गये रिक्त तनु का तरु दल,
है चिन्ह शेष केवल सम्वल,
जिनसे लहराया था कानन!"

—**आराधना**

"सुख का दिन डूबे डूब जाय।
तुमसे न सहज मन ऊब जाय।
× ×
भग्न तन, रुग्ण मन,
जीवन विषण्ण बन।
क्षीण क्षण-क्षण देह,
जीर्ण सज्जित गेह,
घिर गये हैं मेह,
प्रलय के प्रवर्षण।
चलता नहीं हाथ,
कोई नहीं साथ,
उन्नत, विनत माथ,
दो शरण, दोषरण!"

सहसा महाभारत के उद्योग पर्व का 'भज्येतापि न संनमेत' याद हो आया और साथ ही तुलसी का चातक जो 'मान राखियो, माँगिबो', एक साथ करता है—वह मानी मंगन जो 'सीस नाइ नहि लेइ'। निराला शरण माँगते हैं, पर 'उन्नत···माथ'!

1954 में इंग्लैण्ड से लौटने पर मैं निरालाजी के दर्शनों के लिए गया। श्री हरिमोहन टण्डन और गोपेशजी मेरे साथ थे। निरालाजी कमरे में एक तरफ

बिना बिछावन के तख्त पर एक मोटी मसनद के सहारे लेटे थे—सिर पर अधपके लम्बे वाल, अधपकी लम्बी-भरी दाढ़ी, शरीर पहले से मोटा—लगा कोई वृद्ध सिंह सो रहा है। आहट पाकर उठे, तख्त चरमराया, पालथी मारकर वैठ गये, हम लोग नीचे फ़र्श पर बैठे। कुशल-प्रश्न के पश्चात् उन्होंने कहा,

"सुना है, विलायत से डाक्टरेट लेकर आये हो। किस यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट ली?"

मैं बोला, "केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से।"

निरालाजी सहसा गम्भीर हो गये, बोले, "तुम झूठ बोलते हो। तुमने कैलकटा यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट ली है। कौन था कैलकटा यूनिवर्सिटी का फ़ाउण्डर (संस्थापक)? मैंने कैलकटा यूनिवर्सिटी फ़ाउण्ड की थी। मैंने सर आशुतोष को डाक्टरेट दी और—टैगोर को डाक्टरेट दी।"

न जाने कितने नाम उन्होंने गिनाये। मैं चुप सुनता रहा। मैंने विदा लेने की इच्छा प्रकट की तो किसी को घर से बुलाकर कहा, "डाक्टर बच्चन को चाय पिलवाओ!"—मेरे नाम के साथ 'डाक्टर' लगा बड़े गर्व और प्रसन्नता का अनुभव करते हुए।

चलने लगा तो उन्होंने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा,

"मेरी दाढ़ी टैगोर जैसी नहीं लगती?"

जिस समय हम लोग चाय पी रहे थे, उस समय भी वे बहुत-सी असंगत बातें अपने आपसे ही जैसे करते रहे। उसी दिन मुझे लगा था कि निराला बौद्ध शब्दावली में 'अनृण्ये' हो चुके हैं—अपना परिपूर्ण आत्मदान कर चुके हैं—अमृत भी, विष भी—अमृत, रस-मधु, कटु, फीका जो भी वह बन सकता था, बना करके। उनके इस दान का विश्लेषण आनेवाली न जाने कितनी पीढ़ियाँ करेंगी। और यह अमृत-विष उनके जीवन में आरम्भ से था। यही उनके वज्र-कुसुम विरोधी स्वभाव में था जो उनके साहित्य और जीवन में अनेक रूपों में प्रकट हुआ है।

'प्रसाद'जी ने आज से पचीस वर्ष पूर्व 'गीतिका' पर अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए जब यह कहा था :

" 'अमिय-गरल शशि सीकर-रविकर राग-विराग भरा प्याला। पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह 'मतवाला' ' " मतवाला के मुखपृष्ठपर छपा हुआ हिन्दी में उनका जो सबसे पहला छन्द मैंने देखा है, वह आज कई बरसों के बाद भी कवि के जीवन में, रचना में, खुली आँखों और निर्विकार हृदय से देखनेवाले को, स्पष्ट और विकसित देख पड़ेगा। तब निरालाजी के सम्बन्ध में उन्होंने अन्तिम बात कह दी थी—या वह सूत्र कह दिया था, जिसकी व्याख्या में ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे जा सकेंगे। जब-जब मैंने 'प्रसाद' के इस वाक्य को पढ़ा है, मैं उनकी काल-भेदी अन्तर्दृष्टि पर चकित रह गया हूँ। क्या 'प्रसाद' ने उस समय निराला को बन्द आँखों और विकृत हृदय से देखनेवालों को भी भविष्य चीरकर देख लिया था? अवश्य देख लिया था। मैं उनके नाम गिना सकता हूँ। इन दोनों प्रकार के लोगों ने उन पर जितना चन्दन लपेटा है, जितना कीचड़ उछाला है, उसे धो-पोंछकर निराला के सच्चे रूप को सामने लाना भविष्य की सन्तुलित समालोचना का काम होगा।

उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सूत्र एक-दूसरे से इतने उलझ-पुलझ गये थे कि उन्हे अलग करके देखना कठिन था। शायद साहित्य का मूल्यांकन कृतित्व पर ही आधारित होगा। यथाशक्य दोनों को—जितना मैंने उन्हें जाना-समझा है—अलग करके देखता हूँ तो मुझे निराला का मानव उनके साहित्यकार से भी बड़ा

मालूम होता है। कहने का मतलब है, निराला तब भी महान होते, जब वे एक पंक्ति भी न लिखते। तब शायद उनकी चर्चा पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों में न होती पर महानता इनकी मुहताज कब रही है ? ऐसे ही लोगों के लिए शेक्सपियर का यह कथन सत्य है कि दुनिया अपनी महान आत्माओं के विषय में नितान्त अनभिज्ञ रहती है। व्यक्तित्व कृतित्व में प्रतिबिम्बित हो, यह एक बात है, और व्यक्तित्व से कृतित्व का मूल्यांकन हो, यह दूसरी बात है। कीट्स का करुण जीवन दशकों तक उनके मूल्यांकन को सन्तुलित होने से वंचित करता रहा। दुनिया की सर्वश्रेष्ठ समालोचनाएँ उन कवियों के सम्बन्ध में हैं, जिनके जीवन के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। निराला के समालोचकों को इन दो बाहरी और भीतरी खतरों से बचना होगा।

निश्चय ही वह पीढ़ी बड़ी सौभाग्यशाली थी, जिसे प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी अग्रज के रूप में मिले। कविता और हिन्दी कविता में विशेष रुचि होने के कारण अपने जीवन और यत्किंचित सृजन के लिए जाने-अनजाने कितनी प्रेरणाएँ मैं इनसे लेता रहा हूँ, इसे बता सकना मेरे लिए कठिन है। भावों की गहराई के लिए महादेवी के पास, काव्यात्मक, पर सुस्पष्ट-सन्तुलित चिन्तन के लिए पन्त के पास, जीवन की हर परिस्थिति में अप्रतिहत शब्द-साधना के लिए निराला के पास, आर्यों की अमलिन परम्परा की यज्ञ-ज्वाला के लिए 'प्रसाद' के पास (जैसे मध्यकालीन संस्कृति मे उदात्त के लिए गुप्त के पास और अनुदार-संकीर्ण के प्रति जीवन-तृष्णा के विद्रोह के लिए 'नवीन' के पास) मैं कितनी बार गया हूँगा, मुझे याद नहीं। किसी अंश में समकालीन होने के कारण कभी-कभी मैंने ऐसा भी सोचा है, काश महादेवी की चूनर अधिक चौड़ी होती ! काश पन्त का हृदय अधिक धड़कता-पिघलता ! काश निराला का मस्तिष्क अधिक सजग, सचेत, सतर्क रहता ! फिर भी, 'को बड़-छोट कहत अपराधू'। आज मुझे यह सोचकर कुछ सन्तोष हो रहा है कि इस वर्ष जब पिछले तीन वर्षों की मेरी कविताओं का नया संग्रह 'त्रिभंगिमा' प्रकाशित हुआ तो मैं उसे अपने इन तीनों अग्रजों को एक साथ समर्पित कर सका—"कवि शार्दूल निराला,काव्यश्री महादेवी और सन्तों में सुमधुर कवि सुमित्रानन्दन पन्त को।" प्रसंगवश ये तीनों ही कवि बाहर से आकर प्रयाग में व्यवस्थित हुए, जब मैं वहीं की मिट्टी होकर दिल्ली की ख़ाक छान रहा हूँ।

सात वर्ष से निरालाजी से नहीं मिला था। सोचा था कि 'त्रिभंगिमा' प्रकाशित होगी तो प्रयाग-पुरी जाऊँगा, त्रिवेणी में स्नान करूँगा, त्रिमूर्ति के—आधुनिक हिन्दी काव्य के जगन्नाथ के—दर्शन करूँगा । पर दिल्ली के दामन की जकड़ से अपने को छुड़ाना सम्भव न हो सका। 'मेघ सन्देश' ही की शरण लेनी पड़ी—दिल्ली में चलते-फिरते डाकखाने का नाम, शायद आपने सुना होगा, 'मेघ-सन्देश' है।

यह भी एक घटना ही है कि इसी मास की 'कल्पना' में मेरी एक कविता आयी है 'नभ का निमन्त्रण', जिसे लिखते समय शायद ये मेरे अग्रज और समकालीन मेरे दिमाग से बाहर नहीं थे :

"याद आते हैं गरुड़-दिग्गज घनों को चीरनेवाले झपट कर,
और गौरव-गृद्ध सूरज से मिलाते आँख जो धँसते निरन्तर,
गये अम्बर में न जलकर पंख जब तक हो गये बेकार उनके, क्षार उनके,
हंस, जो चुगने गये नभ-मोतियों को और फिर लौटे न भू पर,

चातकी, जो प्यास की सीमा बताना, जल न पीना, चाहती थी,
उस लगन, आदर्श, जीवट, आन के साथी मुझे क्या फिर मिलेंगे।
शब्द के आकाश पर उड़ता रहा पद-चिन्ह पंखों पर मिलेंगे।"

निराला का तन-पंख जलकर क्षार हो चुका है, पर उनकी मन की उड़ानें बहुतों को, बहुत काल तक, ऊपर उठने, उड़ने और जीवन-गगन को मथने की प्रेरणाएँ देती रहेंगी।

[अक्टूबर, 1961]

आचार्य चतुरसेन शास्त्री : एक संस्मरण

पिछले सप्ताह आचार्य चतुरसेन शास्त्री के देहावसान का समाचार हिन्दी पत्रों में पढ़कर हृदय को भारी धक्का लगा। इसके पूर्व उनकी बीमारी का कोई समाचार पत्रों में पढ़ने या परिचितों से सुनने को न मिला था। पिछली बार मुझे उनके दर्शन करने का सौभाग्य लगभग एक मास पूर्व श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के जन्मोत्सव समारोह में मिला था। उन्होंने छोटा-सा भाषण भी दिया था—"यह देखकर बड़ा दुःख होता है कि नवीनजी उम्र में मुझसे कई वर्ष छोटे हैं, पर इतने अस्वस्थ रहते हैं और मैं हट्टा-कट्टा हूँ।" शास्त्रीजी को देखकर कोई नहीं कह सकता था कि उनका अन्त इतना निकट है, पर महाकाल का शस्त्र कब किसके सिर पर आकर गिरेगा, इसे कौन जान सका है। वह सदा ही दूर भी है और निकट भी। शास्त्रीजी सहसा हमारे बीच से उठ गये हैं और हिन्दी संसार का एक प्राणवान कोना सूना हो गया है।

वे हमारे बीच से उठ भी गये हैं और हमारे बीच बैठे भी हैं और सदा बैठे रहेंगे। मृत्यु के समय शास्त्रीजी की अवस्था लगभग सत्तर के थी। पिछले प्रायः पचास वर्षों के सक्रिय साहित्यिक जीवन में अपनी लौह लेखनी से उन्होंने जो कुछ लिखा है वह हिन्दी की अमिट और स्थायी सम्पत्ति है। उनकी सप्राण, सबल और ठोस कृतियों ने खड़ीबोली हिन्दी गद्य की अडिग और सुदृढ़ आधारशिला रख दी है और उस पर हिन्दी गद्य का प्रासाद प्रशस्त, विस्तृत और उन्नत होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। गुण का ध्यान करना थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दें तो उनका लेखन परिमाण में भी इतना है कि हमें आश्चर्यचकित कर देता है। हिन्दी के इस महाप्राण लेखक ने न कभी विश्राम किया और न अपनी लेखनी को करने दिया। एक महारथी परिश्रम से थककर सो गया है। उसे आराम की आवश्यकता थी। आइये उसकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करें और उसके जीवन और कृतित्व से प्रेरणा ग्रहण करें। वे उन आशावान भविष्यद्रष्टाओं में थे जिन्होंने सदियों से विशृंखल भारत देश को एक आन्तरिक सूत्र में आबद्ध करने के लिए एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का विश्वास लेकर अपना सम्पूर्ण जीवन उसे सजीव और सशक्त बनाने के लिए समर्पित कर दिया था। वह कार्य अभी अपूर्ण है और शायद आनेवाली कई पीढ़ियों को इन मनीषियों द्वारा निर्दिष्ट पथ की ओर श्रम और साधना से बढ़ना होगा। शास्त्रीजी का सृजन और जीवन सदा हमें उस ओर प्रेरित करता रहेगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

समय आयेगा जब शास्त्रीजी की सम्पूर्ण रचनाएँ संगृहीत होकर हमारे सामने

आयेंगी, शोधक उन पर अनुसन्धान करेंगे और उनकी कृतियों और उनके जीवन का समुचित मूल्यांकन किया जायेगा। प्रबन्ध और व्यवस्था के अभाव में हमारे देश में लेखकों के मरने के बाद शोध-सामग्री प्राय: तितर-बितर हो जाती है। अब इस सम्बन्ध में हमें सतर्क रहने का समय आ गया है। शास्त्रीजी के ग्रन्थों की संख्या लगभग सवा सौ के बतायी जाती है। हमें चाहिए कि हम उनकी समस्त अप्राप्य और दुष्प्राप्य रचनाओं की खोज आरम्भ करके उन्हें कहीं संगृहीत कर लें—शोध की दृष्टि से उनके विभिन्न संस्करणों की भी महत्ता है। उनकी हस्त-लिखित पाण्डुलिपियों को भी सुरक्षित करने की आवश्यकता है। पचास वर्षों के साहित्यिक जीवन में उनके लेख आदि कब-किन पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए इनकी भी प्रामाणिक और परिपूर्ण तालिका बनाने की ओर प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी प्रकार उनके पत्रों को भी संकलित और सुरक्षित करने की ज़रूरत है। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी लेखक विलियम बट्लर ईट्स के पत्रों की खोज में एलेन वेड ने अपने जीवन के पन्द्रह वर्ष लगा दिये और लगभग 1000 पृष्ठों का ग्रन्थ प्रकाशित किया। व्यक्तिगत सम्पर्क में आये हुए लोग अपने संस्मरण लिखें। समुचित शोध के लिए ये सब चीज़ें सहायक सिद्ध होंगी, और इन सब कार्यों में जल्दी करना चाहिए। बहुत तरह का काम व्यक्तिगत अध्यवसाय और लगन से किया जा सकता है। कुछ काम संस्थाओं द्वारा करने के हैं। दिल्ली अथवा आगरा के विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग इस कार्य में रुचि लेंगे, ऐसी आशा मैं रखता हूँ।

इस समय इस बात का स्मरण कर कि शास्त्रीजी जैसे महारथी से मेरा परिचय लगभग तीस वर्षों का था, मैं बड़े गौरव का अनुभव कर रहा हूँ। उनसे मेरा प्रथम साक्षात्कार सन् 1930 या '31 में हुआ था।

उन दिनों सन् 1930 के सत्याग्रह आन्दोलन में एम. ए. की पढ़ाई छोड़, प्रयाग विश्वविद्यालय से नाम कटा, मैं एक राष्ट्रीय संस्था, इलाहाबाद हाई स्कूल में अध्यापन का काम करता था। साहित्य के स्वाध्याय में मुझे रुचि थी और यदा-कदा कहानियाँ और कविताएँ लिखा करता था। उन्हीं दिनों प्रयाग के मुहल्ला कीटगंज के एक रईस का लड़का बहुत बीमार हो गया था और उसने शास्त्रीजी को अपने बेटे का इलाज करने के लिए बुलाया था। शास्त्रीजी उसी रईस की कोठी में कुछ दिन ठहरे थे। शास्त्रीजी से मेरी पहली भेंट स्वर्गीय मुंशी कन्हैयालाल एडवोकेट के निवासस्थान —'कृष्ण कुंज' में हुई थी। मुंशीजी मेरे पड़ौसी और निकट के सम्बन्धी थे। साहित्य और कला में उन्हें रुचि थी, प्रयाग में पहला संगीत सम्मेलन, जिसमें विष्णु दिगम्बर भी सम्मिलित हुए थे, 'कृष्ण-कुंज' में ही हुआ था। वे उर्दू 'चाँद' का सम्पादन भी कर चुके थे—हालाँकि यह पत्र ज़्यादा दिन नहीं चला। फ़ारस के सूफ़ी कवियों की रचनाओं का एक सानुवाद संकलन उन्होंने चाँद प्रेस से प्रकाशित कराया था। वैसे वे प्रधानतया उर्दू क्षेत्र के आदमी थे, पर हिन्दी में भी सक्रिय रूप से रुचि लेना चाहते थे। उनमें संगठन शक्ति बड़ी प्रबल थी और आगे चलकर उन्हीं के उत्साह और प्रबन्ध से आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के अभिनन्दन में प्रयाग में द्विवेदी मेला हुआ, जिसके जोड़ का साहित्यिक समारोह न मैंने पहले कभी देखा था और न बाद को देखा।

शास्त्रीजी से मुंशीजी का परिचय कब और कैसे हुआ यह मैं नहीं जानता। वे हर शाम रईस की बग्घी में बैठकर 'कृष्ण-कुंज' आते, दो-तीन घण्टे की बैठक होती, कभी-कभी शास्त्रीजी 'कृष्ण-कुंज' में ही भोजन करते। उस समय तक मैं शास्त्रीजी के 'हृदय की परख' उपन्यास, 'अन्तस्तल' गद्यकाव्य और उनकी कुछ

कहानियों से परिचित हो चुका था। 'अन्तस्तल' के भावों की सूक्ष्मता, तीव्रता और विविधता तथा उसकी भाषा की स्वाभाविकता, सजीवता और नाटकीयता से मैं बहुत प्रभावित हुआ था। जिस दिन से मुझे शास्त्रीजी के 'कृष्ण-कुंज' में आने का पता लगा, मैं भी उनकी बैठकों में शामिल होने लगा। शास्त्रीजी के व्यक्तित्व में बड़ा आकर्षण था। बैठक में तो मैं उनके साथ रहता ही; कभी-कभी जब रईस की बग्घी शास्त्रीजी को छोड़कर चली जाती तो रात को वे मुंशीजी की फिटन में वापस जाते, मैं कीटगंज तक उन्हें छोड़ने जाता और वहाँ भी कुछ देर उनके पास बैठकर लौटता। शास्त्रीजी आये तो थे मरीज़ का इलाज करने पर साथ अपने दो-तीन बड़े बक्स किताबों के भी लाये थे। एक दिन हँसी में कहने लगे, "मैं तो सुबह से अपने इन साहित्यिक ग्रन्थों को पढ़ता रहता हूँ और रईस समझता है कि ये ग्रन्थ वैद्यक के हैं जिनका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करके मैं उसके बेटे का इलाज करता हूँ, इससे वह मुझसे बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न है कि अच्छी फ़ीस लेता हूँ तो अच्छी मेहनत भी करता हूँ।"

उन दिनों शास्त्रीजी चूड़ीदार पाजामा, शेरवानी और किश्तीनुमा टोपी पहना करते थे; 40 की उमर थी—थोड़ा स्थूल शरीर, गेहुँआ रंग, भरा हुआ चेहरा, ऊँचा प्रतिभाशाली माथा, काले-चिकने बीच से बढ़े बाल, घनी मूँछें, और चश्मे के पीछे सजग बड़ी-बड़ी तेजस्वी आँखें, अधरों पर थोड़ा व्यंग्य और बहुत आत्म-विश्वास भरी मुस्कान—जैसे कह रहे हों, यहाँ से तो ज्ञान, अनुभव और निश्चय भरी बात निकल रही है पर जितना समझने की तुममें क्षमता है उसका हमें पता है। शास्त्रीजी के व्यक्तित्व का मुख्य आकर्षण था उनका वार्तालाप।

मैं मुंशी कन्हैयालाल से कहा करता था, और लोग तो साहित्य लिखते हैं, पर शास्त्रीजी साहित्य बोलते हैं। उनकी आवाज़ पतली थी, पर कर्कश नहीं; हर शब्द पूरा, शुद्ध उच्चरित; हर वाक्य शब्दों के ठीक क्रम में ढला; वाक्य के बाद वाक्य ठीक सिलसिले में बँधा; बीच-बीच में इतना विश्राम कि जैसे कहीं 'कामा' रख रहे हैं, कहीं 'कोलन', कहीं पूर्ण विराम और यह सब पूर्णतया स्वाभाविक रीति से। कारण यह था कि शास्त्रीजी की हर विषय पर निश्चित धारणाएँ थीं, गोलमोल बातें न वे करते थे और न उन्हें पसन्द आती थीं। उनके स्पष्ट विचार और उनकी समर्थ अभिव्यक्ति में इतना सामंजस्य था कि उनकी ज़बान न कहीं अटपटाती थी, न कहीं अटकती थी। वे धाराप्रवाह बोलते थे और उन्हें सुनते मन नहीं भरता था। क़िस्सा मशहूर है कि मीर ने अपने एक बकवासी हमसफ़र से कहा था, "किराया दिया है साथ चलें, पर मेरी ज़बान क्यों खराब करते हैं?" मीर के साथ शास्त्रीजी होते तो मुझे विश्वास है मीर कहते, "आप बात करते चलें तो यह रास्ता भले ही जहन्नुम को भी ले जाये, मैं आपका साथ न छोड़ूँ।"

शास्त्रीजी विभिन्न रुचि के व्यक्ति थे और साधारण जीवन से सम्बद्ध सभी विषयों पर अधिकारपूर्वक बोलते थे। उनका अध्ययन विस्तृत था और उन्होंने देश-काल को निकटता से देखा था। वैद्य होने के नाते राजा, महाराजाओं, पूँजीपतियों, रईसों के जीवन से उनका घनिष्ठ परिचय था। इसको उन्होंने वैद्य होने के कारण सहानुभूति और कलाकार होने के कारण व्यंग्य की दृष्टि से देखा था। उनका 'गोली' उपन्यास पढ़नेवालों को इन दोनों दृष्टिकोणों के सम्मिश्रण की सहज अनुभूति होगी। उन दिनों भी वे राजा-रईसों के कितने ही क़िस्से सुनाया करते थे। उनकी मर्मभेदी दृष्टि से कुछ भी न छिपा था, कुछ भी न छूटा था। जब वे

बातें करते, हमें ऐसा लगता जैसे हम तो किनारे की रेत से खेलते रहे हैं और ये गहरे पैठे हैं। जब वे बोलते, न जाने कितनी सुस्पष्ट लगनेवाली वस्तुओं पर से आवरण उतरते जाते और उनका कुछ और ही रूप आँखों के आगे आने लगता। वार्तालाप की कला में वे कुशल थे और दूसरों की शंकाओं, जिज्ञासाओं, प्रश्नों, प्रतिवादों को भी ध्यान से सुनते थे। क्रुद्ध होते तो नहीं, पर आवेश मे आते मैंने उन्हें कई बार देखा है। सार्थक विरोध तो वे समझते थे पर अनर्गलता उनको बरदाश्त न थी।

प्रयाग में रहते हुए रोगी का उपचार करने में उनका जो थोड़ा-बहुत समय लगता हो, उसको छोड़कर वे बराबर, अध्ययन, लेखन के काम में लगे रहते थे। उनका 'आरोग्य शास्त्र' प्रेस में था और उन दिनों उसके प्रूफ़ आया करते थे; मैं भी प्रूफ़ देखने में यदाकदा उनकी सहायता कर देता था। पुस्तक प्रकाशित हुई तो उसकी एक प्रति उन्होंने मेरे लिए भेजी। इन दिनों वे विशेषकर 'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन कर रहे थे। उनसे मैंने 'रासो' के कई स्थल सुने भी थे। रासो पर आधारित एक लघु ऐतिहासिक उपन्यास 'ख़वास का ब्याह' उन्होंने प्रयाग में ही लिखा था। जब यह उपन्यास पूरा हो गया तो उन्होंने सबका सब, शायद दो या तीन दिन की बैठकों में, हमें सुनाया था। उनके पढ़ने का ढंग इतना मनमोहक था, इतना भावानुरूप, इतना प्रवाहपूर्ण कि कुछ घण्टों के लिए हम मध्यकालीन युग में ही चले जाते थे। मुझे हिन्दी के कुछ विशिष्ट गद्यकारों का गद्य उनके मुख से सुनने का अवसर मिला है, जैसे जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा, पर किसी को मैंने इतना मन्त्रमुग्ध होकर नहीं सुना जितना शास्त्रीजी के गद्य को। यहाँ मैं शैली की बात न करके केवल पढ़ने के ढंग की बात कर रहा हूँ। डिकेंस अपने उपन्यासों को बड़ी-बड़ी मजलिसों में पढ़कर सुनाया करते थे। काश कि शास्त्रीजी से उनके उपन्यासों की सुनने की कोई योजना बनायी गयी होती —उनके यौवनकाल में। बाद को 'ख़वास का ब्याह' गंगा-पुस्तक-माला से प्रकाशित हुआ। सम्भवत: इसी से प्रेरणा लेकर मुंशी कन्हैयालाल ने 'हत्यारे का ब्याह' नाम की एक कहानी लिखी और उसी नाम से उनका एक कहानी संग्रह निकला, पर कुजा 'ख़वास का ब्याह' कुजा 'हत्यारे का ब्याह'! प्रतिभा का अनुकरण हमेशा भदेसपन में बदलकर रह जाता है।

उन्हीं दिनों प्रयाग में एक और वयोवृद्ध साहित्यकार पधारे। श्री किशोरीलाल गोस्वामी हिन्दी साहित्य सम्मेलन झाँसी, का सभापतित्व कर कुछ दिनों के लिए प्रयाग आये और लाला निरंजनलाल भार्गव की कोठी में ठहरे। शास्त्रीजी ने गोस्वामीजी का साहित्य तो पढ़ा था, पर उनका दर्शन कभी न किया था। जब उन्हें पता लगा कि गोस्वामीजी प्रयाग में ही हैं तो वे उनके दर्शनों के लिए उतावले हो उठे। मुझे वह सन्ध्या अच्छी तरह याद है जब शास्त्रीजी और मुंशीजी के साथ मैं भी गोस्वामीजी के डेरे पर पहुँचा। गोस्वामीजी की आँख उस समय तक जा चुकी थी। मसनद के सहारे पलँग पर बैठे थे, शास्त्रीजी ने उनके पाँव छुये, पूछने पर 'कौन ?' अपना नाम बताया। गोस्वामीजी ने पलँग से उतरकर उन्हें अपनी बाहों में भर लिया। अन्धे होने पर भी वे औरों से पढ़वाकर बहुत कुछ साहित्य सुना करते थे। उन्होंने शास्त्रीजी की कहानी 'आम्रपाली' की बड़ी प्रशंसा की। उनके अनुरोध पर दूसरे दिन शास्त्रीजी ने अपनी 'प्रबुद्ध' कहानी उन्हें पढ़कर सुनायी। हम लोगों के अतिरिक्त भार्गव परिवार के लोग और उनके इष्ट मित्र भी आ गये और सबने शास्त्रीजी के कहानी-पाठ का आनन्द लिया। गोस्वामीजी ने

अपने दुपट्टे से अपना सिर बाँध लिया, बोले, "शास्त्रीजी, आपने मुझे और ही लोक में पहुँचा दिया। आपकी लेखनी ने हिन्दी कहानी में कितना जीवन, कितनी रंगीनी भर दी है।" शास्त्रीजी ने उत्तर दिया, "मैं तो आपकी ही क़लम का विद्यार्थी हूँ। कुछ लोगों में गोस्वामीजी आत्मश्लाघी और शास्त्रीजी उदग्र और मुदम्मिग़ समझे जाते थे, पर उस दिन हिन्दी की दो पीढ़ियों के प्रतिनिधियों के बीच जो स्नेह, संवेदन और समादर देखा गया उसने लोगों को विभोर कर दिया। काश कि हम अपने पूर्ववर्तियों को यही आदर दे सकते, अपने अनुवर्तियों को वही स्नेह !

उन दिनों की बैठकों में मुंशीजी के अनुरोध पर मैंने भी एक रात अपनी कुछ तुकबन्दियाँ सुनायी थीं—उस समय तक मेरी कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। शास्त्रीजी पर, स्वाभाविक ही, कोई विशेष प्रभाव न पड़ा था और मुँहदेखी कहने और झूठी प्रशंसा करने की उनकी आदत न थी।

इसके बाद मैं शास्त्रीजी को 1934 में लखनऊ के एक कवि-सम्मेलन में मिला। मेरी कविताओं का एक संग्रह 'तेरा हार' के नाम से सन् '32 में प्रकाशित हुआ था और 'फ़्लैट' गया था पर 'मधुशाला' की 10-15 रुबाइयाँ दिसम्बर, 1933 में 'सरस्वती' में प्रकाशित होते ही हिन्दी संसार भर में ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगीं। कवि-सम्मेलन में शास्त्रीजी सपत्नीक श्रोताओं में विराजमान थे। मैं कविता पढ़ चुका तो वे स्वयं उठकर मेरे पास आये—"क्या 'मधुशाला' तुमने ही लिखी है ? क्या तुम वही 'बच्चन' हो जिसे मैंने दो-तीन वर्ष पूर्व प्रयाग में देखा था ? तब तो तुम मुँह खोलकर बात भी नहीं कर पाते थे; आज तो तुम्हारी वाणी को पर लग गये हैं। बड़ी प्राणमयी रचना है !" मैंने कहा, "मैं तो आपकी ही क़लम का विद्यार्थी हूँ।" शास्त्रीजी समझ गये और देर तक मेरी पीठ थपथपाते रहे।

इसके बाद मैं शास्त्रीजी को सन् 1939 में किसी कवि-सम्मेलन में मिला। 1936 में मेरी पत्नी का देहावसान हो चुका था। 'मधुशाला' की मस्ती मुझे छोड़ चुकी थी; 'निशा निमन्त्रण' के बाद मैं 'एकान्त संगीत' के गीत लिख रहा था, उन्हीं को प्रायः सुनाता भी था। एक अवसाद, विषाद की छाया मुझे घेरे रहती थी। शास्त्रीजी मुझे देखकर बोले, " 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के लेखक की यह दशा ! तुम्हें हो क्या गया है ?" मैंने उन्हें अपनी कथा-व्यथा बतायी। बोले, "तुम अस्वस्थ हो, इसी से तुमने जीवन का एक अस्वस्थ दृष्टिकोण अपनाया है, इसे छोड़ो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हारा इलाज करूँगा। शरीर और मन कोई अलग सत्ताएँ नहीं हैं।" शास्त्रीजी ने मेरे प्रति जो आत्मीयता दिखलायी, उससे मैं कृतकृत्य हो गया।

शास्त्रीजी को सचमुच मेरी चिन्ता थी। उन्होंने कई पत्र मुझे लिखे; अन्ततोगत्वा सन् 1940 में मैं दिल्ली आया, और दो-तीन दिन उन्हीं के साथ लालबाग, शाहदरा में ठहरा। शास्त्रीजी को अधिक निकट से देखने का अवसर मिला। उनको मैंने अथक परिश्रमी, अदम्य उत्साही और अबाध कर्मठ के रूप में देखा। वे नियमित रूप से दो बजे रात को उठते और बारह बजे दिन तक काम करते, फिर स्नानादि कर भोजन करते और थोड़ी देर आराम करते। शाम को उनके रोगी, मित्र, मिलनेवाले आते और वे उन्हें दवा आदि देते और उनसे बातें करते। लेखन से जो आमदनी उन्हें होती थी, उससे वे असन्तुष्ट थे, वे चाहते थे कि वैद्यक छोड़कर अपना सारा ध्यान साहित्य-सृजन की ओर लगायें पर परिस्थितियाँ उन्हें मजबूर करती थीं कि वे इस पेशे से कुछ धन कमाते रहें। वे

निराश नहीं थे; उन्होंने अपने भविष्य का एक बड़ा मनोरम स्वप्न बना रक्खा था और उसे सत्य करने की दिशा में लगे रहना चाहते थे, उपलब्धि हो, कम हो, कुछ भी न हो।

मुझे उन्होंने अपनी हार्दिक संवेदना दी, स्नेह दिया। मेरी विधिवत स्वास्थ्य-परीक्षा की, घण्टों बैठकर बचपन से मेरी ईमारियों-बीमारियों का इतिहास पूछा। अन्त में उन्होंने मुझे अपनी सलाह दी, "तुम्हें अभी बहुत दिन जीना है, तुम घर-परिवार बसाकर ही शान्त और सुखी रह सकोगे, तुम फिर से विवाह कर लो। मैं बिल्कुल तुम्हारी जैसी मनस्थिति से गुज़र चुका हूँ, इसलिए तुम मेरे अनुभवों से लाभ उठाओ।" फिर कुछ रुककर हँसकर बोले, "अगर तुम जाति-पाति का बन्धन नहीं मानते तो तुम्हारे लिए एक सुघड़ कन्या भी मेरी दृष्टि में है···

मैं केवल इतने पर राज़ी हो सका कि यदि कोई लड़की अनिवार्य रूप से मेरे जीवन में आयेगी तो मैं विवाह कर लूँगा। शास्त्रीजी को बड़ा सन्तोष हुआ। मैं चलने लगा तो उन्होंने मुझे एक ओषधि दी, खान-पान, संयम-नियम भी बताया। एक राजा के लिए उन्होंने एक रसायन तैयार किया था। बोले, "तुम्हें इससे बड़ा लाभ होगा।" मैंने पूछा, "दाम ?" बोले, "दाम इसका कुछ नहीं, पर कुछ मरीज़ों को दवा तब फ़ायदा करती है जब वे जान लें कि दवा महँगी है, इसलिए कहता हूँ कि पूरी खूराक के लिए अगर हज़ार रुपये भी माँगे जायें तो इसका दाम कम है।" तीन महीने की दवा ख़त्म हो गयी तो उन्होंने तीन महीने की दवा पार्सल से अपने ख़र्च पर भिजवायी। मेरे स्वास्थ्य में अद्भुत परिवर्तन हुआ और शायद उसके कारण मेरे मन:स्वास्थ्य में भी।

कभी सोचता हूँ, शास्त्रीजी से इतनी संवेदना, ममता, कृपा पाने का अधिकारी मैं किस नाते था। केवल हिन्दी-लेखन-क्षेत्र में उनका एक छोटा-सा सहकर्मी होने के नाते। वे अपना सच्चा नाता साहित्यकारों से ही मानते थे। जब से दिल्ली आया वे अपने जन्म-दिन पर मुझे बराबर बुलाते थे, उनके यहाँ देखता था, उनके सम्बन्धी कहो तो, मित्र कहो तो, साहित्यकार ही हैं। इसी कारण आज उनके हमारे बीच से उठ जाने से हम सबको ऐसा लग रहा है कि कोई अपना निकट सम्बन्धी ही जैसे हमसे बिछुड़ गया है। आज के ईर्ष्या, द्वेष, पीठ पीछे निन्दा, अहम्मन्यता के वातावरण में भी शास्त्रीजी अपने चलते छोटे-बड़े सबके साथ पारस्परिक सद्भावना, सहिष्णुता, स्नेह और कृपा का उदार नाता ही निभाते रहे।

हम सबका कर्तव्य है कि उस महामना साहित्यकार की कीर्ति की रक्षा करें और उसके जीवन से अपने कर्म और व्यवहार के लिए प्रेरणा लें।

[1960]

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' : एक संस्मरण

आज समाचारपत्रों में पढ़ा कि पण्डित गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' का स्वर्गवास हो गया। यह दु:खद समाचार अप्रत्याशित नहीं था। पिछली जून में उन्होंने अपने जीवन के अस्सी वर्ष पूरे किये थे। उस समय हिन्दी के कई पत्रों में उनका जो संक्षिप्त परिचय छपा था, उसमें उनकी दीर्घकालीन अस्वस्थता की चर्चा थी। तीन-चार दिन हुए उनके पौत्र श्री योगेश्वर शर्मा का पत्र आया था, जिसमें उन्होंने

लिखा था कि शर्माजी की हालत चिन्ताजनक है। 'धर्मयुग' में इनका जो चित्र छपा था, वह भी रोग-शय्या का था। दुर्भाग्यवश यह रोग-शय्या उनकी मृत्यु-शय्या सिद्ध हुई। भगवान उनकी आत्मा को अपनी शरण में लें और उनके परिवार के सदस्यों एवं उनके मित्रों को यह वियोग सहने की शक्ति दें।

नयी पीढ़ी के लेखकों एवं पाठकों में उनका नाम अपरिचित-सा हो सकता है। लगभग तीस वर्ष से वे प्रकाशन के प्रति उदासीन पर सृजन के प्रति शायद पहले से भी अधिक जागरूक थे। वे द्विवेदी युग के लेखक थे। द्विवेदीजी का दर्शन करने के लिए एक बार वे झालरापाटन से द्विवेदीजी के निवासस्थान दौलतपुर (रायबरेली) भी गये थे और द्विवेदीजी ने उनका बड़ा सम्मान किया था। उन दिनों इस प्रकार की तीर्थ-यात्रा को साहित्यकार-धर्म का मुख्य अंग माना जाता था। कोई किसी के लेख-काव्य में कोई गुण देख या उससे प्रभावित हो उससे मिलने, या सम्पर्क स्थापित करने का अवसर ढूँढ़ता रहता था। 'दिनकर'जी की प्रारम्भिक कविताओं से आकर्षित हो एक बार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने कहीं कहा था कि यदि 'दिनकर' अफ्रीका के जंगलों में रहते होते तो उनसे मिलने को मैं वहाँ भी पहुँचता। लेखकों के पारस्परिक परिचय, नैकट्य एवं सम्बन्ध का परिणाम यह था कि साहित्य-संसार में सद्भावना का एक स्निग्ध वातावरण बना हुआ था। यदि कहीं ईर्ष्या-द्वेष था भी तो वह जैसे एक ही परिवार के लोगों में था, परिवार की मर्यादा से सीमित, नियन्त्रित। जीवन आज़ अधिक व्यस्त हो गया है, लेखकों के दृष्टिकोण बदल गये हैं और साहित्य-क्षेत्र अधिक प्रतियोगितापूर्ण है। पहले सब हिन्दी के लिए कुछ न कुछ कर रहे थे; आज सबको दूसरों को पीछे छोड़ते हुए या पीछे समझते हुए अपने को आगे बढ़ाना-बढ़वाना है। दूर-दूर बैठी जो क़लमें एक-दूसरे पर विष उगला करती हैं, यदि उन्हें पास-पास कर दिया जाये तो मुझे विश्वास है कि वे सहसा रस भले ही न बरसाने लगें, अपनी बहुत-सी अवांछित और अभद्र कटुता और तीक्ष्णता से मुक्त हो जायेंगी। क्या कोई ऐसी तरकीब बतला सकता है जिससे इन साहित्यिक तीर्थ-यात्राओं का महत्त्व फिर से नयी पीढ़ी के लेखकों में दृढ़ाया जा सके ?

'नवरत्न'जी के प्रथम दर्शन मुझे उनकी इसी प्रकार की एक साहित्यिक तीर्थ-यात्रा में हुए थे। यह बात है सन् 1935 की। मेरी 'मधुशाला' निकल गयी थी और उसने मेरे विषय में एक विचित्र प्रकार का कौतूहल उत्पन्न कर दिया था। कौन है यह आदमी ? क्या इसके पास बड़ी दौलत है ? क्या यह दिन-रात नशे में पड़ा रहता है ? क्या यह जो लिखता है, वह सब उसका अनुभूत सत्य है ? क्या यह मधुशाला में रहता है, मधुबालाओं से घिरा, एक आधुनिक उमर ख़ैयाम की तरह ?—शायद कुछ इसी प्रकार की जिज्ञासा थी, जिसने 'नवरत्न'जी को लाकर मेरे मकान के सामने खड़ा कर दिया। उन दिनों मैं अपने इलाहाबाद के मुट्ठीगंजवाले मकान में रहता था। मैं घर के किसी मरीज़ की दवा लाने या किसी ट्यूशन पर गया हुआ था। मेरी अनुपस्थिति में वे मेरे लिए एक पुर्ज़ी छोड़-कर वापस चले गये। मैं लौटकर आया तो देखता हूँ कि गली में बड़ी स्फूर्ति-सी है, जो ही मिलता है, वही कहता है, एक बड़ी-सी मोटर आपके घर आयी थी, कई आदमी थे ! जैसे मेरे घर किसी की मोटर आने से ही मुझे बड़प्पन मिल गया था और लोगों की दृष्टि में मेरा आदर बढ़ गया था। पुर्ज़ी में लिखा था, "हम तो आपकी मधुशाला देखने आये थे, पर साक़ी ही ग़ायब था। हम महाराज बनारस की कोठी में ठहरे हैं। अब वहीं आपकी प्रतीक्षा करेंगे—गिरिधर शर्मा 'नवरत्न',

झालरापाटनवाले।" शर्माजी के नाम से मैं अपरिचित नहीं था, इसकी याद तो नहीं थी कि कभी 'सरस्वती' के पृष्ठों में उनकी रचना छपती थी, पर उनका 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद मैंने पढ़ा था और उसकी एक प्रति मेरे पास थी। यह अनुवाद उनका 1931 में प्रकाशित हुआ था। उस पुस्तक से जाना था या किसी और से सुन रक्खा था कि वे झालरापाटन राज्य के राजगुरु हैं। इसकी तो मैं कभी प्रत्याशा ही नहीं कर सकता था कि वे मेरे घर पर आयेंगे। पुर्जी पढ़कर मैं यह सोचने लगा कि जब शर्माजी ने मधुशाला की कल्पना लेकर मेरे 255 नम्बर, मुट्ठीगंज के अधबने, बेढंगे, बे-कलई किये हुए मकान को देखा होगा, तब उनकी क्या प्रतिक्रिया हुई होगी। यदि उन्हें यह पंक्ति याद होगी कि 'चहक रहे सुन पीनेवाले, महक रही ले मधुशाला' तो मेरे घर के सूनेपन और मेरे मकान के आगे बहती हुई दुर्गन्धित नाली से उन्हें कितनी निराशा हुई होगी।

शाम को मैं बलुआ घाट-स्थित महाराज बनारस की कोठी पर पहुँचा, जो मेरे घर से बहुत दूर नहीं थी। वास्तव में मधुशाला तो वहाँ थी। बाहर कई मोटरें खड़ीं, फाटक पर राजस्थानी पीली पगड़ी में बन्दूकधारी पहरेदार; मालूम हुआ महाराज झालरापाटन आये हुए हैं और कोठी में ठहरे हुए हैं; शर्माजी उन्हीं की पार्टी में आये हुए हैं। उनके पास पहुँचते ही मैंने उन्हें पहचान लिया; उनकी पुस्तक में मैं उनका चित्र देख चुका था—भरा हुआ, साँवला, लम्बा शरीर, बन्द कालर के कोट पर रेशमी पगड़ी, ललाट पर चन्दन। मुझे देखकर उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ, बोले, "आप तो अपने नाम के अनुरूप ही हो, बच्चे की तरह बच्चन। हमने आपकी पुस्तक पढ़ी है। महाराज साहब भी आपकी कविता के प्रेमी हैं। अभी नवयुवक हैं, आप ही की उम्र के, मैंने ही उन्हें हिन्दी पढ़ायी है। मैं आपसे मिलने गया था तो वे भी मोटर में बैठे थे। वे भी थोड़ी-बहुत कविता करते हैं। आपसे मिलने को उत्सुक हैं।"

उनकी बातें सुनते हुए मेरी कल्पना इतिहास को बेधती हुई उस आत्म-बलिदानी, स्वामिभक्त झाला सरदार की ओर चली गयी, जिसने हल्दीघाटी की लड़ाई में महाराणा प्रताप के छत्र को अपने सिर पर लगवाकर उनके निकट से शत्रुओं का दबाव अपने ऊपर ले लिया था और स्वयं वीरगति प्राप्त कर महाराणा को बचा लिया था। उन्हीं के वशंज महाराज झालरापाटन को आज मैं साक्षात देख सकूँगा, मेरा कितना सौभाग्य है। तभी ध्यान आया, यह तो अच्छा हुआ कि जब वे मेरे घर पर पधारे तब मैं नहीं था, नहीं तो मुझे ग़ालिब के दो शेरों को उलट-पलट कर कुछ इस तरह कहना पड़ता :

वो आयें घर पे मेरे यह ख़ुदा की रहमत है,
कभी हम उनको कभी बोरिये को देखते हैं।

उनको बिठलाने के लिए मेरे बाहर के कमरे में सिवा एक लकड़ी के नंगे तख़्त के और था ही क्या।

शर्माजी ने कहा, "मैं तो एक प्रकार की तीर्थयात्रा पर निकला हूँ। मेरी आँखों पर मोतियाबिन्द का आक्रमण हो रहा है, सोचा, इसके पूर्व कि मेरी आँखों की ज्योति पूरी तरह से चली जाये, अपने साहित्यिक-बन्धुओं के दर्शन कर आऊँ।" परिवार के किसी वृद्ध की वत्सलता से उन्होंने मेरी शिक्षा-दीक्षा, मेरी पारिवारिक स्थिति, मेरी नौकरी, मेरी तनख़्वाह आदि के विषय में पूछा। सच्चाई को छिपाने की मेरी आदत न थी—मैं उन दिनों अग्रवाल विद्यालय में 35) रुपये प्रतिमास पर काम कर रहा था। यह सब सुनकर वे दुखी हुए और उन्होंने मेरे

प्रति बड़ी सहानुभूति दिखलायी। कहने लगे, "देखिए, उर्दू के कितने शायरों को निज़ाम और नवाबों के यहाँ से वज़ीफ़े मिलते हैं, पर हमारे राजे-महाराजे हिन्दी की ओर से उदासीन हैं; मैं चाहता हूँ नवयुवक महाराज में हिन्दी के प्रति कुछ प्रेम जगाऊँ। आप उन्हें मिलें तो अपनी कुछ बहुत अच्छी कविताएँ सुनायें।"

पर मैं तो उनसे मिलने के लिए भद्रजनोचित पोशाक में भी नहीं आया था। वे मुझसे कह रहे थे—"महाराज के सामने नंगे सिर जाने की प्रथा नहीं है; ख़ैर, मैं आपको एक पगड़ी देता हूँ; और हाँ, महाराज को 'खमा घणी अन्नदाता' कहकर सम्बोधित करना चाहिए।" और मेरे मन में 'मधुशाला' की ये पंक्तियाँ गूँज रही थीं, 'राज्य उलट जायें, भूपों की भाग्य सुलक्ष्मी सो जाये, जमे रहेंगे पीनेवाले, जगा करेगी मधुशाला,' और 'रंक-राव में भेद हुआ है कभी नहीं मदिरालय में।' मेरे मन में बड़ा संकोच हो रहा था, और मैं महाराज से बिना मिले ही, केवल पुरोहितजी के दर्शन करके लौट आने का विचार कर रहा था कि बाहर 'खमा घणी अन्नदाता' के स्वरों के बीच महाराज स्वयं कमरे में आ गये। दरबारी औपचारिकता की परवाह न करके उनके इस प्रकार आ जाने से हम दोनों अचकचा उठे—गोरा, लम्बा, भरा शरीर, चेहरे पर मुस्कान और सरलता, बदन पर बासन्ती रंग का राजस्थानी तनसुख। मेरा मन तो उनके अन्दर परिव्याप्त झाला सरदार के रक्त को ही नमन कर रहा था। शर्माजी ने मेरा और मेरे कवित्व का परिचय अतिशयोक्तियों में दिया। बीच-बीच में उनकी और महाराज की कुछ बातें राजस्थानी बोली में भी हो जातीं। शर्माजी के संकेत पर मैंने कुछ कविताएँ और 'मधुशाला' की रुबाइयाँ सुनायीं। दोनों ने ही बड़ी सहृदयता से सुनीं। महाराज चले गये तो पुरोहितजी ने मुझसे कहा, "महाराज, आपसे बहुत ही प्रभावित हुए हैं, आपसे फिर मिलना चाहेंगे।"

दूसरे दिन उन्होंने मुझे फिर बुलाया और बातचीत के सिलसिले में मेरे सामने एक प्रस्ताव रख दिया—"महाराज आपको अपने साथ रखना चाहते हैं, आपका भाग्य जाग जायेगा,—स्वमन्दिरे वा नृपमन्दिरे वा—कवि की शोभा तो राजप्रासाद में ही होती है।"

मेरे गले में गुड़ भरी हँसिया अटक गयी। अपने प्रिय कवि पन्तजी के कालाकाँकर राज्य में आश्रय लेने से मैं बहुत विक्षुब्ध था। क्या मैं वही खुद करूँगा! मैंने निर्भयता से वह हँसिया अपने गले से खींच ली। शर्माजी दरबारी आदमी थे, मेरा रुख़ पहचान गये, बोले, "मूर्खता कर रहे हो, पछताओगे।"

दो-तीन दिन बाद शर्माजी के स्वागत में प्रयाग विश्वविद्यालय में लॉ कालेज हाल में, एक कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका सभापतित्व महाराज झालावाड़ ने किया। शर्माजी का स्वर स्पष्ट और गम्भीर था, हालाँकि कविताएँ उन्होंने विनोदात्मक ही सुनायी थीं। उन दिनों वे कुछ ऐसे पद्य लिख रहे थे जिनके अन्त में कोई कहावत फ़िट बैठ जाती थी—भाव में भी और तुक में भी। याद है, एक पद का अन्त हुआ था इस कहावत से :

"अन्धी पीसे कुत्ता खाये।"

मगर अधिक रस बरसा था उनके 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' के अनुवाद से। एक पंक्ति आज तक नहीं भूल सका :

"वह गुलाब गर्वीली नगरी अरम कहाँ है ?"

"Iram, indeed, is gone with all its Rose"

अब तक तो उमर ख़ैयाम के दर्जन से ऊपर अनुवाद हिन्दी में निकल चुके हैं।

शर्माजी सम्भवतः उसके सर्वप्रथम अनुवादक थे—जैसे कि वे 'गीतांजलि' के भी थे। हिन्दी में अपना अनुवाद प्रकाशित करने के दो वर्ष पूर्व उन्होंने 'रुबाइयत' का अनुवाद संस्कृत में भी प्रकाशित करा दिया था। रुबाइयों के अनेक अनुवाद सामने आ जाने के बावजूद शर्माजी के अनुवाद की अपनी विशेषता है। विचित्र बात है कि रुबाई के लिए जिस छोटी पंक्ति का उपयोग उन्होंने किया था, उसे अपनाने का साहस फिर किसी अनुवादक को नहीं हुआ। अनुवाद अथवा स्वतन्त्र रुबाई की पंक्ति कितनी बड़ी रक्खी जाये, यह अभी हिन्दी के लिए प्रयोगावस्था में है। ज़्यादा लोगों ने पंक्ति को ज़्यादा बड़ी ही किया है। छोटी पंक्तियों के प्रयोग कम हुए हैं। शर्माजी की पंक्ति एक माध्यमिक स्थिति की ओर संकेत करती है। अनुवाद में, कम-से-कम, इस लम्बाई की पंक्ति में, मूल के विचारों को किसी भी तरह बढ़ाया नहीं जा सकता। उन्हें थोड़े में, सिमटाकर, संक्षिप्त करके ही रक्खा जा सकता है। इससे शर्माजी के अनुवाद में विचारों का जो कसाव है, जो संयमन है, वह किसी अनुवाद में नहीं आ पाया है, भाषा में कुछ शिथिलता अवश्य है। ऊपर उद्धृत पंक्ति ही इसका उदाहरण है। अंग्रेज़ी का शब्दार्थ यों होता, 'अवश्य ही अपने समस्त गुलाबों के साथ अरम ग़ायब हो गया है।' शर्माजी इससे कम शब्दों में लगभग वही भाव और प्रभाव व्यक्त और उत्पन्न कर देते हैं।

उस कवि-सम्मेलन में मैंने 'प्याले का परिचय' सुनाया, जिसमें ये पंक्तियाँ आती हैं:

"मुझको न सके ले धन कुबेर दिखलाकर अपना ठाट-बाट,
मुझको न सके ले नृपति मोल दे माल-खज़ाना, राजपाट,
अमरों ने अमृत दिखलाया" आदि—

मुझसे और शर्माजी से तीन दिन पहले जो बातचीत हो चुकी थी, और जिसकी ख़बर महाराज साहब तक पहुँच ही गयी होगी, उसके सन्दर्भ में इन पंक्तियों में एक अजीब लाक्षणिकता आ गयी! शायद उन्होंने यह भी समझा हो कि मैंने ये पंक्तियाँ उक्त प्रसंग के बाद रचीं पर पूरी रचना कम-से-कम साल-भर पुरानी थी। इतना स्वाभिमान और इतनी उग्रता से व्यक्त उन्हें कब सहन हो सकता था! उनका रुख़ मेरी तरफ़ से बदल गया। फिर न उन्होंने मुझे बुलाया ही और न मैं ही अपने से गया।

आज जब शर्माजी की मृत्यु का समाचार सुना तो ये सब बातें एक-एक करके याद आने लगीं। आज सोचता हूँ कि मेरे सामने जो प्रस्ताव उन्होंने रक्खा था, उसमें उनकी कितनी वत्सलता, कितनी सहृदयता, कितनी हिन्दी के एक ग़रीब लेखक की सहायता करने की भावना थी—उनके रोष में भी कितना अपनत्व था!

शर्माजी की मातृभाषा गुजराती थी; उनके कुछ प्रकाशन गुजराती में भी हुए हैं। हिन्दी को उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया था और उसके विकास में उन्होंने अपना सक्रिय और सृजनशील योग दिया था। संस्कृत में उनकी मौलिक रचनाओं का संग्रह 'गिरिधर सप्तशती' के नाम से प्रकाशित हुआ था। वे अपनी रचनाएँ स्वयं प्रकाशित करते थे और परिचितों, इष्ट-मित्रों में बाँट देते थे। विज्ञापन और आलोचना के अभाव में उनकी रचनाएँ बहुसंख्य होकर भी अल्पसंख्य वर्ग में सीमित रह गयीं। लेखन से धनार्जन उनका लक्ष्य नहीं था। इससे एक हानि भी हुई कि उनकी रचनाओं का व्यवस्थित वितरण, प्रचार नहीं हो सका। आज जब वे नहीं हैं तब इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि उनके साहित्य को लुप्त

होने से बचाया जाये। शर्माजी के पौत्र सुशिक्षित नवयुवक हैं। उन्हें चाहिए कि अपने पितामह की समस्त रचनाओं को 'नवरत्न रचनावली' के नाम से संगृहीत करें और कोई बड़ा प्रकाशक, अथवा ज्यादा अच्छा हो, राजस्थान साहित्य अकादमी उसे स्मारक-संस्करण के रूप में प्रकाशित करे।

साहित्यकार का सबसे बड़ा श्राद्ध यही है कि उसके साहित्य की रक्षा हो और उसका प्रचार किया जाये।

[जुलाई, 1961]

प्रेमचन्द : एक संस्मरण

आधुनिक गद्य में 'सेवा-सदन' और पद्य में 'भारत-भारती' में कुछ ऐसी विशेषता थी कि प्रकाशित होते ही ये पुस्तकें प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के पास पहुँच गयीं। 'सेवा-सदन' को पहली बार पढ़ने का अवसर मुझे तब मिला था, जब मैं अंग्रेज़ी की सातवीं या आठवीं कक्षा में पढ़ता था। पुस्तक मुझे अपने किसी पड़ोसी से मिली थी। रोचक इतनी थी कि जब तक वह समाप्त न हो गयी, मैं और कोई काम न कर सका। शायद उसे समाप्त करने में मुझे तीन दिन लगे थे। अपने समय को तीन दिन तक नष्ट करने के लिए मुझे घर पर पढ़ानेवाले पण्डितजी की डाँट-फटकार भी सहनी पड़ी थी। उसके कई स्थान मैंने बार-बार पढ़े थे। अपने कई मित्रों से मैंने उसकी बड़ाई की थी और उसे पढ़ने का अनुरोध किया था। 'प्रेमचन्द' नाम से वह मेरा प्रथम परिचय था और उस प्रथम परिचय से ही मैं प्रेमचन्द का प्रेमी बन गया। जब पुस्तकालयों में जाता तो उनकी लिखी हुई किताबों की खोज करता और निराश होता। उस समय भारती-भवन का पुस्तकालय ही प्रयाग में हिन्दी पुस्तकों के लिए सबसे बड़ा समझा जाता था और वहाँ 'प्रेमचन्द'जी की रचनाएँ न थीं। 'अप-टू-डेट' तो हमारे पुस्तकालय आज भी नहीं हैं, पन्द्रह वर्ष पहले की तो बात ही और थी। पत्रिकाओं में मैं उनकी कहानियाँ पढ़ता और उसी से सन्तोष करता।

हमारी कुछ ऐसी प्रकृति होती है कि जब हम किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम सुनते हैं, उसकी रचनाएँ देखते हैं, या उसके कार्य के विषय में सुनते हैं तो उसके रूप की कल्पना करना आरम्भ कर देते हैं। शायद हमारी उसी आकांक्षा की पूर्ति करने के लिए आधुनिक समय के पत्रकार शीघ्रातिशीघ्र उस व्यक्ति का चित्र भी जनता के सामने उपस्थित कर देते हैं, जो अपने किसी कार्य के कारण प्रसिद्ध हो जाता है। प्रेमचन्दजी कैसे होंगे, इसकी कल्पना करनी मैंने आरम्भ कर दी थी। प्रेमचन्द—गोरे होंगे, दुबले-पतले होंगे और सुन्दर होंगे। नाम में आया प्रत्येक अक्षर जैसे मेरी कल्पना को कुछ-कुछ संकेत-सा दे रहा था। प्रेमचन्दजी का चित्र कुछ विलम्ब से ही जनता के सामने आया और उनका पहला चित्र जो मैंने देखा, वह था, 'रंगभूमि' के प्रथम भाग में। चित्र देखकर मुझे कुछ निराशा हुई। फिर आश्चर्य हुआ। अरे, ऐसे साधारण-से दिखायी देनेवाले आदमी ने यह असाधारण पुस्तक लिखी है।

प्रेमचन्दजी को साक्षात् देखने का अवसर मुझे 1930 में मिला। उस समय मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में एम. ए. (प्रीवियस) में पढ़ रहा था। उसी वर्ष पहले-पहल विश्वविद्यालय की हिन्दी-परिषद ने विद्यार्थियों में गल्प लिखने की रुचि

उत्पन्न करने के लिए गल्प-सम्मेलन करना निश्चित किया था। प्रतियोगिता में केवल विश्वविद्यालय के विद्यार्थी ही भाग ले सकते थे। सूचना दी गयी थी कि सम्मेलन के सभापति श्री प्रेमचन्दजी होंगे। इस प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए ही मैंने अपनी पहली कहानी लिखी।

निश्चित समय से पहले ही हाल विद्यार्थियों से भर गया था। मेरे ही समान अनेक विद्यार्थियों में श्री प्रेमचन्दजी को देखने की उत्सुकता थी। उस समय तक वे उपन्यास सम्राट के नाम से विख्यात हो चुके थे। उनके साथ छत्र-चँवर की प्रत्याशा तो शायद ही किसी ने की हो, पर ऐसा तो प्रायः सभी ने सोच रक्खा था कि उनकी सूरत-शक्ल-पोशाक में कुछ ऐसी विशेषता होगी कि लोग उन्हें देखते ही पहचान लेंगे। विद्यार्थियों के अतिरिक्त नगर के अन्य साहित्य-प्रेमी भी निमन्त्रित किये गये थे। आगन्तुकों में हमारी दृष्टि किसी प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व की खोज कर ही रही थी कि श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा ने ताली बजायी और उनके संकेत पर सारा हाल तालियों से गड़गड़ा उठा। प्रेमचन्दजी आ गये थे। सभापति के लिए प्रस्ताव हो जाने पर वे मेज़ के सामने बीच की कुर्सी पर आकर बैठ गये। मेरे कानों में कई बार धीमे-धीमे स्वर में आवाज़ आयी—'अरे, यही प्रेमचन्दजी हैं! अरे, यही प्रेमचन्दजी हैं!'

प्रेमचन्दजी धोती के ऊपर खुले कालर का गरम कोट पहने हुए थे। जाड़े के दिन थे। नीचे वास्कट भी थी। सिर खुला था। उन्हें देखकर मुझे मालूम हुआ कि जो चित्र मैंने उनका देख रक्खा था, उसकी अपेक्षा वे मेरी प्रथम कल्पना के अधिक समीप थे। उस समय वे घनी-लम्बी मूँछें रक्खे हुए थे।

गल्पें पढ़ी गयीं। मुझे प्रथम पुरस्कार मिला था; पर, प्रेमचन्दजी को द्वितीय पुरस्कार-विजेता की कहानी अधिक पसन्द आयी थी। सम्मेलन के पश्चात मेरा परिचय उनसे कराया गया। कहानी पढ़ने की मेरी रीति को उन्होंने बहुत पसन्द किया था। साथ ही सुनायी जानेवाली कहानी को सफल बनाने के कई गुर भी उन्होंने मुझे बताये थे। जब मैंने उन्हें बतलाया कि यह मेरी पहली ही कहानी थी तो उन्हें आश्चर्य हुआ और उन्होंने मुझे बराबर लिखते रहने की सलाह दी। हम लोगों ने उन्हें बड़ी देर तक घेर रक्खा, तरह-तरह के प्रश्न किये और सभी का उन्होंने उत्तर दिया। उनकी बातचीत में उर्दू के शब्द बहुत आते थे और सुनकर हमें आश्चर्य होता था कि ये हिन्दी लिखते कैसे होंगे? प्रेमचन्दजी चले गये और उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी मिलनसारी सदा के लिए हमारे हृदय में स्थान बना गयी। उनके चले जाने पर भी हमारे मन में यही प्रश्न उठता रहा, क्या हमने सचमुच प्रेमचन्द को देखा?

कुछ अपनी सफलता, कुछ प्रेमचन्दजी का प्रोत्साहन, कुछ बेकारी—सबने मुझे साल-भर कहानी लिखने में सहायता दी। दूसरे वर्ष फिर गल्प-सम्मेलन हुआ। मुझसे भी कहानी माँगी गयी थी, यद्यपि अब मैं विश्वविद्यालय का छात्र न था। मेरी कहानी उस बार भी सर्वोत्तम रही और परिषदवालों ने उसे प्रेमचन्दजी के पत्र 'हंस' में भेज दिया। कहानी प्रेमचन्दजी को पसन्द आयी और उसे उन्होंने अपने विशेषांक में स्थान दिया। मेरे पास उन्होंने पत्र लिखा, तुमने वर्ष-भर में काफी उन्नति की है, 'हंस' के लिए कुछ भेजते रहा करो। मैंने शीघ्र ही दूसरी कहानी भी भेजी। कहानी पहली-सी अच्छी न थी। प्रेमचन्दजी ने मुझे अंग्रेज़ी में पत्र लिखा। कहानी के विषय में लिखा था: "I hope, you won't mind if I take the liberty of making certain changes in your story." अर्थात्, मैं आशा

करता हूँ, यदि मैं तुम्हारी कहानी में कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता ले लूँ तो तुम बुरा न मानोगे।

हिन्दी का अदना-से-अदना सम्पादक यह अधिकार लिये बैठा है कि जिस लेख को जैसा चाहे घटाये-बढ़ाये, तोड़े-मरोड़े; और वह अपने इस अधिकार का इच्छानुसार उचित-अनुचित उपयोग किया करता है। कहानी-प्रधान पत्र के लिए प्रेमचन्दजी से अधिक अधिकारी सम्पादक कौन हो सकता था? मुझसे अधिक नगण्य लेखक भी कौन हो सकता था? फिर भी कहानी में परिवर्तन करने की उन्होंने मेरी अनुमति चाही। प्रेमचन्दजी के स्वभाव में बड़ी विनम्रता थी। अपने बड़प्पन का उन्हें कभी भी ध्यान न होता था। वे कितने बड़े हैं, इसे वे न जानते थे और मेरी समझ में तो उनका न जानना कुछ दोष की सीमा तक पहुँच गया था। पिछले दिनों जब कुछ नासमझ लोगों ने उनके ऊपर आक्षेप करना आरम्भ किया तो उन्हें चाहिए था कि हाथी के समान गम्भीर गति से वे चले जाते और कुत्तों को भूँकने देते। प्रेमचन्दजी हाथी तो थे, पर यह न जानते थे कि मैं हाथी हूँ, और इसी कारण वे कभी-कभी अपने क्षुद्र विरोधियों से उलझ पड़ते थे। हाथी का अपने को हाथी जानना खतरनाक है; ज़्यादा ख़तरनाक है गीदड़ का अपने को हाथी मानना।

मेरी कहानी जब परिष्कृत होकर 'हंस' में छपी तो मुझे मालूम हुआ कि प्रेमचन्दजी को कहीं-कहीं नहीं, सभी जगह अपनी लेखनी चलानी पड़ी थी। मैं बहुत लज्जित हुआ। आगे जब उनसे मिलने का अवसर मिला तो उसकी भी बात चली। कहने लगे, "हिन्दी के सम्पादक 'पकी' हुई चीज़ें कम ही पाते हैं। दस कहानी में शायद एक कहानी ऐसी आती हो जिसे ठीक करने में मिहनत न करनी पड़ती हो।"

इस बीच में मेरी कविताओं का प्रथम संग्रह 'तेरा हार' के नाम से निकल चुका था। 'हंस' में उसकी समालोचना भी निकल चुकी थी, पर प्रेमचन्दजी को इसका पता न था कि उसका लेखक मैं ही हूँ। 'तेरा हार' 'बच्चन' के नाम से निकला था और वे मुझे अब तक 'हरिवंश राय' के नाम से ही जानते थे। उन्हें जब यह मालूम हुआ तो बहुत प्रसन्न हुए, पर उन्होंने मुझे साहित्य के लिए एक ही नाम रखने की सलाह दी। कहने लगे, "अगर आज मैं दूसरे नाम से लिखने लगूँ तो मुझे भी अपना स्थान बनाने में मुश्किल हो।" इस वार्तालाप के सिलसिले में प्रेमचन्दजी ने कुछ ऐसी बातें बतलायीं, जिनका प्रभाव मेरे जीवन पर बहुत पड़ा। बोले, "कहानी और कविता की मनोवृत्ति में भारी अन्तर है। रविबाबू जैसे प्रतिभावालों की बात और है। सफल कहानी-लेखक और सफल कवि दोनों होना कठिन है। कम-से-कम आरम्भ में अपनी मनोवृत्ति जिस ओर अधिक हो, उसी ओर प्रयत्नशील होना चाहिए।" उन्होंने साफ़-साफ़ तो न कहा था, पर उनका तात्पर्य यह था कि मैं कहानी में सम्भवतः अधिक सफल हो सकता हूँ, पर मेरी रुचि कविता की ओर अधिक बढ़ी। जीवन की अनिवार्य प्रगति ही कुछ ऐसी थी।

मेरे छोटे भाई की बदली प्रयाग से काशी को हो गयी थी। मैं भी उन दिनों अंग्रेज़ी दैनिक पायोनियर के टूरिंग रिप्रज़ेन्टेटिव के पद पर कार्य करता था। मेरा बनारस आना-जाना बराबर बना रहता था। जब-जब मैं बनारस जाता था, उनके दर्शनों के लिए अवश्य जाता था और जब उनके पास से लौटता था, तब कुछ सीखकर, कुछ सबक़ लेकर। उन दिनों प्रेमचन्दजी बेनिया पार्क के पासवाले मकान में रहते थे और प्रतिदिन प्रसादजी के साथ पार्क में लगभग एक घण्टे टहला करते थे।

जितने दिन मैं बनारस में रहता, मैं भी टहलने के समय पार्क में पहुँच जाता और दोनों साहित्यिक महारथियों के पीछे-पीछे चलता। कभी-कभी श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' भी आ जाते थे। प्रसादजी कम बोलते, पर प्रेमचन्दजी अनेकानेक मनोरंजक बातें करते, हँसते-हँसाते रहते थे। मैं जब पहले दिन गया तो मैंने यह सोचा कि जब प्रसादजी और प्रेमचन्दजी चलते होंगे तो कैसा साहित्यिक वार्तालाप होता होगा। पर उनकी बातचीत में साहित्यिक चर्चा का अंश सबसे कम होता था। वे जीवन के साधारण-से-साधारण विषयों पर कैसी जानकारी से बातें करते थे, कैसी रुचि से! मैं तो कुछ देर के लिए उनके लेखक-स्वरूप को भूल ही जाता था। इसे मैंने उनकी महानता का चिह्न समझा। छोटे लेखक सदा अपनी रचित पुस्तकों के पन्नों से ढके हुए दिखायी पड़ते हैं, महान लेखक अपनी रचनाओं से अधिक महान होते हैं, वे उनसे ढके नहीं जा सकते, ढके रहना पसन्द नहीं करते।

एक बार की बात है। मैं बनारस गया हुआ था। मेरे मन में इच्छा हुई कि जिस समय प्रेमचन्दजी और प्रसादजी बेनिया पार्क में घूम रहे हों, उस समय उनका एक चित्र ले लिया जाय। मैंने अपना प्रस्ताव उनके सामने रक्खा और अनुमति मिल गयी। दूसरे दिन फ़ोटोग्राफ़र नियत समय पर पार्क में पहुँच गया था।

फ़ोटोग्राफ़र को देखकर प्रेमचन्दजी कुछ नाराज़-से हुए। बोले—"भाई, यह क्या? मैंने समझा था कि तुम्हारे पास कैमरा होगा और तुम 'स्नैप' ले लोगे। यहाँ कोई हाल पूछनेवाला नहीं और तुम पाँच रुपये खर्च करके तस्वीर खिंचाओगे। अभी नये-नये युनिवर्सिटी से निकले हो। भावुकता भरी है। पैसों का मूल्य नहीं समझते। मैं ऐसा जानता तो कभी तस्वीर खिचाने को तैयार न होता।"

मैं कुछ लज्जित हुआ, पर उससे अधिक दुखी। यदि प्रेमचन्दजी ऐसे व्यक्ति किसी अन्य देश में होते तो अब तक क्या उन्हें यही कहना पड़ता कि कोई पुर्सा हाल नहीं?

ख़ैर, फ़ोटोग्राफ़र आ ही गया था। उनका चित्र लिया गया। इस समय भी वह चित्र मेरी आँखों में है। प्रेमचन्दजी नंगे सिर, खद्दर का कुर्ता पहने खड़े हैं। उनके चेहरे पर पड़ी हुई प्रत्येक पंक्ति संघर्षमय जीवन का इतिहास-सा बता रही है। उनकी आँखों की चमक में उनका उच्चादर्श झलक रहा है। उनके चेहरे की मुस्कराहट में उनका भोलापन फूटा पड़ता है। नम्रता, सरलता और निरभिमान, उनके रूप में रसा-बसा-सा प्रतीत होता है। प्रेमचन्द जैसे रोज़ घूमने आते थे, आ गये थे—बाल बे-कढ़े, दाढ़ी बे-बनी, कुर्ते में जहाँ-तहाँ शिकन पड़ी। प्रसादजी फ़ोटो खिचाने की तैयारी से आये थे—बाल जमे-कढ़े, दाढ़ी बनी, कुर्ता रेशमी।*

जब मेरी 'मधुशाला' प्रकाशित हुई तो मैंने उन्हें एक प्रति भेजी। इसके पूर्व भी वे 'मधुशाला' मुझसे सुन चुके थे। 'हंस' में उन्होंने स्वयं इसकी समालोचना लिखी। दक्षिण भारत में सभापति के पद से भाषण देते हुए भी वे इस लघु कृति को न भुला सके। चारों ओर के विरोध के बीच में उनके कुछ शब्दों से मुझे जो बल प्राप्त हुआ, उसे मैं ही जानता हूँ।

अन्तिम बार उनके दर्शन मुझे आगरा में हुए थे। वे वहाँ की विद्यार्थी-सभा के वार्षिक अधिवेशन में सभापति होकर गये थे। मुझे भी बुलाया गया था। कवि-

---

* बाद को यह चित्र 'हंस' के प्रेमचन्द-स्मृति अंक में छपा। शायद प्रेमचन्द-प्रसाद का साथ-साथ यह एकमात्र चित्र है।

सम्मेलन में वे पधारे थे। मैं उनके बग़ल में ही बैठा था। मेरे लिए पानी आया। मैंने पूछा—"बाबूजी आप भी पानी पियेंगे ?"

"तुम्हारे हाथ से पानी पियेंगे ?" कहकर क़हक़हा लगाकर वे हँस पड़े। उनकी-सी उन्मुक्त हँसी, गाँधीजी की हँसी छोड़कर, मैंने किसी और की नहीं देखी।

कवि-सम्मेलन हुआ। जिस समय मैं कविता पढ़कर मंच से नीचे उतरा, प्रेमचन्दजी ने कुर्सी से उठकर मुझे छाती से लगा लिया। उन्होंने मुझसे जो कहा, वह तो उनका मेरे लिए आशीर्वाद था। कहने की क्या आवश्यकता ? मैंने झुककर उनके पैर छुए। उस समय यह न जान सका कि फिर उन्हें न देख सकूँगा। उन दिनों मेरी तन्दुरुस्ती ठीक नहीं थी। कितना ज़ोर दिया था उन्होंने मुझे तन्दुरुस्ती पर सबसे अधिक ध्यान देने के लिए ! पर इस विषय में तो उन्हें मैं 'पर उपदेश कुशल' ही समझूँगा। यदि वे उसका एक-चौथाई भी ध्यान अपने स्वास्थ्य की ओर देते तो शायद अभी हमको उनकी असामयिक मृत्यु का दुखद समाचार सुनने को न मिलता।

उनकी बीमारी का समाचार पत्रों में देखने को मिला था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि जाकर उनको देख आऊँ, पर अपनी पत्नी की कठिन बीमारी के कारण जाना न हो सका और एक दिन सहसा पत्रों में पढ़कर दिल बैठ गया कि अब वह उपन्यास-देश का सम्राट इस संसार में नहीं रहा।

ज्ञानी कहेंगे कि प्रेमचन्दजी तो अपनी रचनाओं में सदा के लिए वर्तमान हैं, पर मैंने तो मनुष्य प्रेमचन्द को, लेखक प्रेमचन्द से कहीं ऊँचा पाया था। और अब उस मनुष्य प्रेमचन्द को हमने सदा के लिए खो दिया है !

शोक करने के अतिरिक्त हम कर ही क्या सकते हैं ?

[नवम्बर, 1936]

किशोरीलाल गोस्वामी : एक सप्ताह की भेंट

बन्धुवर मुंशी कन्हैयालाल बड़े ही साहित्यानुरागी हैं। उनका साहित्य-प्रेम केवल पुस्तकों को पढ़ने या लिखने तक ही परिमित नहीं है। वे साहित्य के सजीव सम्पर्क में आना चाहते हैं। उनकी इच्छा सदा साहित्यकारों के पास बैठने की, उनसे बात करने की तथा उनसे मिलने-जुलने की रहा करती है। इन कामों के लिए उनके पास समय की कभी कमी नहीं रहती। स्वर्गीय पण्डित किशोरीलालजी गोस्वामी से मेरी भेंट उन्हीं की बदौलत हुई।

इसी वर्ष जनवरी के महीने में श्री गोस्वामीजी अपने पुत्र पण्डित छबीलेलाल-जी के साथ प्रयाग पधारे थे। उन दिनों पण्डित चतुरसेनजी शास्त्री भी प्रयाग में ही थे। प्रतिदिन सुबह-शाम घण्टों हम लोगों को शास्त्रीजी के साथ बैठकर साहित्य-चर्चा करने का सुअवसर मिलता था। श्री गोस्वामीजी के आने का समाचार पाकर हमें उनसे मिलने की उत्सुकता हुई। भाई साहब तो उनसे पहले भी मिल चुके थे, किन्तु शास्त्रीजी और मैंने उन्हें कभी न देखा था। मैंने उनकी कुछ पुस्तकें पढ़ी थीं, इतिहास ग्रन्थों में उनके विषय में पढ़ा था, जानता था कि हिन्दी उपन्यास मन्दिर की नींव देनेवालों में उनका प्रमुख स्थान है, पर मुझे यह विश्वास न था कि

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गोष्ठी में बैठनेवाला यह व्यक्ति अब भी मौजूद है। पचास से अधिक उपन्यास लिखकर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, उपन्यासों का 'अड़ार' लगा देनेवाला, सौ-डेढ़ सौ कहानी, इससे दुगने लेख और बहुत-सी कविताओं के लेखक के दर्शनों की मेरी उत्सुकता को यदि कौतूहल कहा जाये तो अधिक उपयुक्त होगा। छब्बीस जनवरी को भाई साहब और शास्त्रीजी के साथ मैं उनके डेरे पर गया। वे उस समय बाबू निरंजनलालजी भार्गव की कोठी में ठहरे हुए थे।

हम लोग ऊपर के कमरे में गये, जहाँ वे ठहरे थे। रात का समय था, कमरे में बिजली जल रही थी। बीच में एक चारपाई पर मैंने एक वृद्ध सज्जन को बैठे देखा। यही पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी थे। सर पर एक चौगोशिया सफ़ेद टोपी थी, शरीर पर एक हरे रंग की रुईदार मिर्जई। पैरों पर एक दुशाला पड़ा था। भाई साहब के कमरे में पैर रखते ही उन्होंने कहा, "कौन?"

मुझे यह सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ, क्योंकि इतना मैंने देख लिया था कि वृद्ध महोदय की आँखें खुली हुई हैं। भाई साहब ने अपना नाम बताकर प्रणाम किया। सुनते ही वे चारपाई पर से उतर पड़े और उनके दोनों कन्धों को पकड़कर उन्होंने आशीर्वाद दिया और बिठलाया। अब मुझे मालूम हुआ कि गोस्वामीजी की आँख की रोशनी बिलकुल जाती रही है। आँखें तो खुली हुई रहती हैं पर दिखायी उन्हें बिलकुल नहीं पड़ता। इसके पश्चात भाई साहब ने शास्त्रीजी का परिचय दिया। शास्त्रीजी का नाम सुनते ही उन्होंने उन्हें 'आम्रपाली' कहानी के लेखक के नाम से स्मरण किया और आगे बढ़कर उन्हें छाती से लगा लिया। फिर उनकी कहानियों और लेखों की बड़ाई करने लगे। शास्त्रीजी ने बहुत नम्र-भाव से कहा, "महाराज, हम तो आपकी ही क़लम के विद्यार्थी हैं।" इसके पश्चात मेरा परिचय हुआ।

गोस्वामीजी के समय के लेखकों में पारस्परिक स्पर्धा की मात्रा बहुत अधिक थी। हमारी पहली बातचीत इसी विषय पर हुई; इसके पश्चात साहित्यिक दलबन्दी, सम्मेलन, राजनीति, देश, धर्म, समाज सभी विषयों पर बातें हुईं। बातें ऐसी धारा प्रवाह, हास्य, विनोद, व्यंग्य, चुटकुलों के साथ करते थे कि उठने का जी ही न चाहता था। बहुत-से वृद्धों में जो एक आतंक जमानेवाली गम्भीरता या निराशासिंचित उदासीनता देखने में आती है वह उनमें बिलकुल न थी। ज़िन्दादिली तो इतनी थी कि नौजवानों को भी ईर्ष्या हो। इतना ही नहीं, किसी-किसी समय जब वे छोटी-से-छोटी बात को भी मज़ाक के रूप में कहकर प्रसन्न होते थे तब उनमें बच्चों का-सा भोला सरल स्वभाव भी दृष्टिगोचर होता था। सम्भवतः इसी विनोदप्रिय स्वभाव के ही कारण वृद्धता उनके जीवन को शुष्क और नीरस न बना सकी थी, हालाँकि आँखों के जाने के कारण उन्हें सदा पराश्रित रहना पड़ता था।

भाई साहब उस समय कहानियों का एक ऐसा संग्रह तैयार कर रहे थे, जिसमें हिन्दी के जहाँ तक सम्भव हो सके सभी अच्छे कहानी-लेखकों की वे कहानियाँ हों, जिन्हें वे स्वयं सर्वोत्तम समझते हों। गोस्वामीजी से उन्होंने दो कहानियाँ माँगी थीं। उन्हें इस समय अपनी सब कहानियों की याद तो थी नहीं कि बता सकें कि कौन ली जायँ। उन्होंने दो कहानियों का नाम लिया, 'प्रथम चुम्बन' और 'लीला'। साथ ही 'भारतवासी' की फ़ाइलें भी दीं कि इनमें प्रकाशित उनकी कहानियों को हम लोग देखें और यदि कोई उत्तम कहानी मिले तो उन्हें बतायें। मगर उन्होंने इस बात की सख़्त ताकीद कर दी कि ये सब फ़ाइलें बड़े यत्न से रक्खी जायँ और यथासम्भव दूसरे ही दिन लौटा दी जायँ। हमारी पहले दिन की भेंट इस प्रकार समाप्त हुई।

दूसरे दिन हम लोगों का फिर उनके पास जाने का वायदा था, पर कुछ ऐसा काम आ पड़ा कि भाई साहब और शास्त्रीजी न जा सके। 'भारतवासी' की फ़ाइलों को भी मैं न ख़त्म कर सका था। भाई साहब ने मुझसे उनके पास जाकर यह कहने को कहा कि वे फ़ाइलों को दो-एक दिन और हमारे पास रहने दें। साथ-ही-साथ उस दिन न आ सकने के लिए क्षमा चाही थी और दूसरे दिन आने का वादा किया था। मैं उनके पास पहुँचा। जो मैंने यह बात कही तो बड़े नाराज़ हुए। कहने लगे, "आप फ़ौरन जाकर फ़ाइलें लाइए। मैं कल जा रहा हूँ। उन्हें छोड़कर मैं नहीं जा सकता। मुंशीजी का काम हो गया, अब क्यों आयेंगे।" आदि-आदि। मैं वहाँ से लौटा। मैं तो सचमुच डर गया था। भाई साहब दस बजे रात को लौटे। जब उन्होंने सुना कि गोस्वामीजी नाराज़ हैं तो उसी समय मुझे लिवाकर वहाँ पहुँचे। उन्हें देखते ही उनका क्रोध न जाने कहाँ ग़ायब हो गया, और उस दिन लगभग डेढ़ घण्टे तक बात हुई।

भाई साहब इस समय एक और कहानी-संग्रह निकालने का भी विचार कर रहे थे। इसमें उनकी इच्छा थी कि एक ही प्लाट के ऊपर भिन्न-भिन्न कहानी लेखकों से कहानी लिखवायी जाय। बात-ही-बात में इसकी चर्चा गोस्वामीजी के सामने चली। फ़ौरन कहानी लिखा देने को प्रस्तुत हो गये। कहानी का 'प्लाट' बहुत साधारण न था। अनेक कहानी लेखकों को --और इनमें से कई बहुत प्रसिद्ध हैं---कहानी का प्लाट समझने में दिक़्क़त पड़ी थी। उसकी गुत्थियों को सुलझाने में उन्होंने कितना समय लिया होगा, यह तो वे जानें। गोस्वामीजी के सामने प्लाट कहा गया और उन्होंने दो मिनट के अन्दर कहानी को हल करके हमारे सामने रख दिया। हमें बहुत आश्चर्य हुआ, पर होना न चाहिए था, क्योंकि प्लाट कुछ रोमांटिक था और कदाचित हम हिन्दी के सबसे बड़े रोमांस-लेखक के सामने बैठे हुए थे। भाई साहब ने मेरी ड्यूटी लगा दी कि मैं गोस्वामीजी के पास हर सुबह हाज़िर होऊँ और जो वे बोलें, लिखता जाऊँ।

फ़ाइलें हम लोग लेते गये थे। उन्हीं की बतायी हुई दो कहानियों पर हम लोगों ने सन्तोष कर लिया। एक कहानी नक़ल हो चुकी थी, एक के लिए 'भारत-वासी' के दो नम्बर रख लिये। इसे लौटाने को मैं स्वयं बनारस जानेवाला था, पर अफ़सोस है कि कुछ ऐसी असुविधा होती गयी कि गोस्वामीजी के जीवनकाल में उन्हें लौटाने का मौक़ा न मिला। ख़ैर।

दूसरे दिन सबेरे-सबेरे मैं काग़ज़-क़लम से दुरुस्त होकर गोस्वामीजी के यहाँ पहुँच गया। गोस्वामीजी पुराने चाल के साहित्यिक थे और लिखने को सरस्वती की पूजा समझते थे। उठकर उन्होंने कुछ देर तक ज़ोर-ज़ोर से सरस्वतीजी की स्तुति की और फिर काग़ज़-क़लम माँगा। अपने काँपते हाथों से उस पर 'श्री' लिख दी और तब लिखना आरम्भ करने को कहा।

धीमे-धीमे बोलते थे। जो कुछ वे बोलते थे उसे लिखकर मुझे ज़ोर से पढ़ना पड़ता था और तब वे आगे लिखाते थे। एक बार मैंने उनके लिखाये शब्दों को न पढ़कर 'जी' कह दिया।

"जी क्या ! हम अन्धे आदमी 'जी' से क्या समझें ? पढ़िये पूरा।"

फिर भी, इस 'जी' की ग़लती मैंने कई बार की और हर बार मुझ पर डाँट पड़ी। शब्दों को दुहराने के अतिरिक्त हर वाक्य समाप्त होने पर मुझे उसे फिर से पढ़ना पड़ता था, इसी प्रकार 'पैरा' (पाराग्राफ़ को वे 'पैरा' कहा करते थे) ख़त्म होने पर शुरू से फिर सारा 'पैरा' और 'परिच्छेद' ख़त्म होने पर पूरा 'परिच्छेद'

पढ़ना पड़ता था। कहानी जिन भागों में विभाजित की जाती है, उन्हें वे 'परिच्छेद' कहते थे। दूसरे परिच्छेद के आगे नया परिच्छेद आरम्भ करने से पहले मुझे शुरू से कहानी फिर पढ़नी पड़ती थी। पढ़ते-पढ़ते पचास पेज की यह कहानी मुझे कण्ठस्थ हो गयी है। सवेरे ही कहानी समाप्त नहीं हो गयी। सन्ध्या को भी मैं लिखने गया। उस सन्ध्या को भाई साहब और शास्त्रीजी भी आये। जितनी कहानी लिखी जा चुकी थी, गोस्वामीजी ने मुझे पढ़कर सुनाने को कहा। सब लोगों ने कहानी पसन्द की। इसके पश्चात शास्त्रीजी ने अपनी 'प्रबुद्ध' शीर्षक कहानी पढ़कर सबको सुनायी। गोस्वामीजी इसको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और एक लम्बी साँस खींचकर बोले, "शास्त्रीजी, आपने तो मुझे दूसरे ही लोक में पहुँचा दिया।" इसके पश्चात् शास्त्रीजी को बहुत-बहुत आशीर्वाद देते रहे।

तीसरे दिन इसी प्रकार सुबह-शाम लिखकर कहानी समाप्त हुई। वे बराबर कहानी ही न लिखाते रहते थे। बीच-बीच में और-और बहुत-सी बातें करते थे। कुछ तो बड़े मज़े की हैं।

एक दिन कहने लगे कि कहानी-लेखक को अपनी कहानी के लिए सदा नये विचार नहीं सूझते रहते। लिखने के लिए कला पर ही न मुनहसर रहना चाहिए, कुछ तरकीब भी जाननी चाहिए। मेरे पास एक 'रजिस्टर' है। जहाँ कोई बात कहानी में लाने योग्य देखी, उसमें टीप दी। कोई समाचार देखा, कोई घटना देखी, टीप दी। वह रजिस्टर किसी को मिल जाय तो फिर लिखे 'कहाना'। 'कहाना' कहकर उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊपर की ओर उठाये। इस नये शब्द और उसके अर्थ को सोचकर मारे हँसी के मेरा पेट फूलने लगा।

एक बार पूछ बैठे, "आपने किन-किन विदेशी औपन्यासिकों के ग्रन्थ पढ़े हैं?"

मैंने कहा, "डिकेन्स, थैकरे, जार्ज ईलियट, टामस हार्डी, वेल्स, वेनेट, बालज़ाक, टाल्सटाय, आदि।"

बोले, "आपने रोलण्ड (रेनाल्ड को वे रोलण्ड कहते थे) साहब को तो पढ़ा ही नहीं।"

मैंने कहा, "महाराज, उसे तो पढ़ने को हमारे प्रोफ़ेसर लोग मना करते हैं।"

बोले, "वाह, वह तो सबसे बड़ा उपन्यास-लेखक हुआ है, उसी को तो पढ़कर मैंने उपन्यास लिखना सीखा, और उसी को तो मैं अपना गुरु मानता हूँ।"

अब मेरी हँसी भला क्यों रुकने लगी, पर बाद में उन्होंने समझाया कि एक समय था जब 'रोलण्ड' के उपन्यासों (लन्दन-रहस्य) का बड़ा ज़ोर था। उस समय पढ़ने का शौक़ रखनेवाला मुश्किल से ऐसा आदमी मिलता, जिसने उसकी किताबों को न पढ़ा हो। उन्होंने जनता की इस रुचि को देखा और उसको हिन्दी के उपन्यासों की ओर खींचने के लिए उसी के समान सनसनी से भरे पेचीले उपन्यासों को हिन्दी जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया। साधारण जनता की रुचि को विदेशी साहित्य से खींचकर देशी साहित्य की ओर ले जाने का काम कोई साधारण साहित्यकि महत्त्व नहीं रखता। अब मुझे उनके रेनाल्ड को 'गुरु' बनाने का रहस्य मालूम हुआ। चेला बनने के अर्थ हैं गुरु की गद्दी का हक़दार होना। निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य होने के कारण वे इसको ख़ूब समझते थे। रेनाल्ड का चेला बनकर उन्होंने हिन्दी जनता के हृदय-सिंहासन से उसे उतारकर स्वयं हक़ जमा लिया।

संस्कृत समालोचकों के मतानुसार दुःखान्त कथाएँ उन्हें पसन्द न थीं। उनके सब कथानक सुखान्त हैं। उन्होंने कहा, "जब मुझे कोई किताब पढ़नी होती है, तब मैं उसके पीछे देखता हूँ। यदि देखता हूँ कि यह दुःखान्त है तो उसे नहीं पढ़ता।"

उनका विनोदी मन भला दुःखान्त दृश्य कैसे देख सकता था ?

चौथे दिन उनके सम्मान में 'कृष्णकुञ्ज' में भोज हुआ था। उसके सम्बन्ध में भाई साहब ने 'माधुरी' में लिखा है।

इसके बाद भी दो-तीन दिन तक गोस्वामीजी प्रयाग में ठहरे। मैं बराबर उनसे मिलने जाता था। मुझसे वे इस बात से बड़े प्रसन्न थे कि मैंने उनकी कहानी शुद्ध-शुद्ध लिख दी। कहते थे कि अगर आप-सा लेखक मुझे मिले तो मैं अब भी बहुत लिखवाऊँ, मुझे अब भी बहुत-कुछ लिखना बाक़ी है।

भारतेन्दु के कुछ संस्मरण वे लिखना चाहते थे, पर अकृतज्ञ हिन्दी जनता से उन्हें कभी इसके लिए प्रोत्साहन न मिला।

मनुष्य अपनी कितनी अपूरित अभिलाषाओं को अपने साथ लेकर चला जाता है, कितनी !

[1932]

समकालीन हिन्दी कविता की गति-विधि*

हिन्दी कविता का रंगमंच इस समय बहुत ही आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर आज तक जिन स्कूलों ने हिन्दी कविता को निरूपित अथवा प्रभावित किया है उन सबके प्रतिनिधि हमारे बीच केवल उपस्थित ही नहीं, सक्रिय भी हैं। वर्णनात्मक शैली के सबसे पुराने और कुशल कलाकार तथा हिन्दुत्व की परम्परागत स्थापनाओं के कट्टर पक्षपाती श्री मैथिलीशरण गुप्त इस समय सत्तर के लगभग हैं, काव्य में रहस्य तथा स्वच्छन्दतावदी आत्माभिव्यक्ति का युग-प्रवर्तन करनेवाली 'बृहत्रयी' के एक प्रमुख अंग श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' इस समय साठ के लगभग हैं, अपनी ओज एवं माधुर्यमयी मनीषा, सरल शब्द-योजना तथा तेजोज्ज्वल कल्पना से हिन्दी कविता को जनसाधारण तक पहुँचानेवाले श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' पचास के लगभग हैं, प्रगतिवादी स्कूल के सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ कवि श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' लगभग चालीस के हैं; और तीस और बीस की अवस्था के बीच ऐसे बहुत-से कवि हैं जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छन्द का उपयोग कर रहे हैं; यह और बात है कि उनका गुरु पचास के पेटे में है। ये लोग अपने को प्रयोगवादी कहते हैं और इनके विषय और इनकी प्रतिपादन-शैली के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भविष्यवाणी करना असम्भव है।

हिन्दी काव्य संसार इस समय एक पुराने सम्मिलित परिवार के समान है जिसमें कम-से-कम पाँच पीढ़ियों के लोग एक साथ रह रहे हैं। इनमें से कुछ तो बहत वृद्ध हैं—आदरास्पद और उदासीन, कुछ वृद्ध हैं जो परिवार के ऊपर अपना रोब-दाब बनाये रखने के लिए ज़ोर लगा रहे हैं, पर साथ ही शायद भीतर-ही-भीतर यह भी समझते हैं कि शासन की बागडोर अब उनके हाथों से खिसकती जा रही है; कुछ अधेड़ हैं, जो अपने यौवन की उपलब्धियों से सन्तुष्ट, तथा अपने पद एवं प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में आश्वस्त हैं, और अपने उत्तराधिकारियों को, अपने से छोटा समझते हुए भी, प्रोत्साहन देते रहते हैं; युवकों में कुछ तो परिपक्व हैं

* आकाशवाणी केन्द्र, नयी दिल्ली के साहित्य समारोह (कविता) 1956 में पठित।

जिन्होंने अपनी क्षमता का अन्दाज़ा लगा लिया है और आगे चलकर और बड़ी सफलता प्राप्त करने की आशा रखते हैं, साथ ही वे नये और पुराने के बीच एक प्रकार का सेतु बनाने अथवा बनने के लिए भी प्रयत्नशील हैं, और अन्त में हैं वे उद्धत नवयुवक जो अपनी उफनती हुई शक्ति को संयमित नहीं कर पा रहे हैं, जिनके सिर पर बग़ावत का भूत सवार है और जो समस्त पुरानी परम्पराओं के विरुद्ध ताल ठोंककर खड़े हो गये हैं।

हिन्दी कविता कामिनी, अगर हिन्दी से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल उसके खड़ी-बोली रूप से है, तो वह भारत की काव्य-कामिनियों में सबसे छोटी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जिनकी मृत्यु सन् 1885 में हुई, अपने गद्य के लिए खड़ीबोली और पद्य रचनाओं के लिए ब्रजभाषा का उपयोग करते थे। आगे चलकर कुछ अधिक सूझ-बूझ के विद्वानों ने यह अनुभव किया कि यह तो एक विचित्र साहित्यिक विपर्यय है कि गद्य के लिए एक प्रकार की बोली का उपयोग किया जाय और पद्य के लिए दूसरी प्रकार की भाषा का। पद्य-रचना के लिए शुरू-शुरू में उन्होंने जो प्रयत्न किये उन्हें देखने से यह लगता है जैसे गद्य ही पद्य के नपे-तुले साँचों में ठूँस-ठाँसकर बिठाल दिया गया है।

सबसे पहली और बड़ी कठिनाई यह थी कि खड़ीबोली हिन्दी की कोई साहित्यिक परम्परा नहीं थी। शुरू-शुरू में लेखकों ने हिन्दी को जो रूप दिया, वह बनावटी था, नक़ली था, परन्तु जिस प्रेरणा से वे लोग इस कार्य की ओर अग्रसर हुए थे वह असली थी, स्वाभाविक थी। भारत के नये जागरण को एक नयी भाषा की आवश्यकता थी।

हिन्दी के प्रारम्भिक पद्यकारों की रचनाओं का पढ़ना आज हमारे लिए कष्ट-कर और निराशाजनक है। लेकिन उनमें एक तत्त्व ऐसा है, जिसकी हम किसी भी हालत में उपेक्षा नहीं कर सकते। और वह है अपनी भाषा के भविष्य में उनका अदम्य विश्वास। उन्होंने उसे काव्य की सम्यक् संवाहिका बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया; उन्होंने उसकी कड़ी भारत के अतीत की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा के साथ जोड़ी; उन्होंने उसके द्वारा भारतीय पुनर्जागरण काल में प्रस्फुटित होनेवाले अनेकानेक विचारों और भावनाओं को वाणी दी और उसके साथ सब तरह के प्रयोग किये।

इस सदी के दूसरे दशक में हमारी राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को जो धक्का लगा उसने हमारे कवियों को अन्तर्मुखी बना दिया। जब हम भारतीय अपने भीतर खोजना आरम्भ करते हैं तब हम वहीं जाकर ठहरते हैं जहाँ हमारे प्राचीन ऋषियों द्वारा आरोपित एवं अभिसिंचित दर्शन का शाश्वत अश्वत्थ खड़ा है। यहीं छाया-वाद ने आश्रय पाया। हिन्दी को विशुद्ध कविता में आबद्ध अपनी आत्मा के दर्शन हो गये।

छायावाद के उत्तराधिकारियों ने कविता को रहस्यवाद की सीमित परिधि से बाहर निकाला। उन्होंने उसे जग-जीवनोन्मुखी बनाया और साधारण मानव के उल्लास-अवसाद, उसकी आशा-निराशा, उसकी आकांक्षा-जिज्ञासा और संवेदना को मुखरित किया।

इनके बाद प्रगतिवादी आगे आये। वे अपनी सामाजिक-आर्थिक मान्यताओं से इतने अभिभूत थे कि वे काव्य-कला की उन्नति में कोई सुनिश्चित योगदान न दे सके। परन्तु जन-साधारण की ओर से चीज़ों को देखने का एक स्वस्थ दृष्टिकोण उन्होंने अवश्य दिया।

प्रयोगवादियों के विषय में अभी कुछ कहना जल्दबाज़ी होगी। उनके अन्दर कभी एक चिंगारी इधर, कभी एक चिंगारी उधर फूटती दिखायी पड़ती है, परन्तु अभी तक किसी अनवरत जलनेवाली लौ का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया।

जैसाकि मैंने प्रारम्भ में कहा था, हिन्दी कविता के लगभग सभी स्कूल आज सप्राण और सक्रिय हैं। कविता और जीवन की गति विचित्र होती है। कभी-कभी तो पुराने लोग नयों से ज़रूर बाज़ी मार ले जाते हैं, पर अक्सर नये लोग ही पुरानों को पीछे छोड़ देते हैं। इस प्रकार आज हम हिन्दी कविता के भविष्य को बड़े कौतूहल की दृष्टि से देख रहे हैं।

(अंग्रेज़ी से स्वानुवादित)

आधुनिक हिन्दी कविता में बुद्ध*

जिस समय अपभ्रंश से विकसित होकर हिन्दी की बोलियों का आविर्भाव हो रहा था, अर्थात् लगभग बारहवीं सदी के, उस समय तक भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रायः लुप्त हो चुका था। जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द में दशावतारों की स्तुति करते हुए लिखा :

"निन्दसि यज्ञ विधेरहहश्रुतिजातम्
सदय हृदय - दर्शित पशुघातम्।
केशव ! धृत बुद्ध शरीर, जय जगदीश हरे !"

बुद्ध को अवतार-पद, लगभग छठी सदी के, पुराणों के रचनाकाल में मिल चुका था।

वीरगाथा काल के कवियों का ध्यान बुद्ध अथवा उनकी अहिंसा की ओर जाना असम्भव था। भक्तिकाल में नाम, राम, श्याम और गिरिधर ही हृदयों पर छाये रहे। धनुर्धर और वंशीधर में लोग इतने रमे रहे कि पद्मपाणि की ओर उनकी दृष्टि ही न गयी। तुलसी की रामभक्ति व्यक्ति की मुक्ति की साधना मात्र न थी। उसमें उन्होंने समाज का कल्याण भी देखा था। उस भक्ति के सामाजिक रूप में वेद, विप्र, वर्णाश्रम धर्म—सबके प्रति निष्ठा निहित थी। इस कारण उनके विपरीत जानेवालों की उन्होंने कठोर और ज़ोरदार शब्दों में भर्त्सना भी की। बुद्ध पर भी उन्होंने एक छींट मारी। बुद्ध के अवतार होने की धारणा को तो वे बदल नहीं सकते थे, पर वेद के विरुद्ध उनकी क्रान्ति पर वे कैसे चुप रहते। 'विनय पत्रिका' में उन्होंने दशावतार की वन्दना करते हुए लिखा :

"प्रबल-पाखण्ड-महिमण्डलाकुल देखि
निंद्यकृत - अखिल - मखकर्म- जालं।
शुद्धबोधैक घनज्ञान गुनधाम अज
बुद्ध अवतार बन्दे कृपालं॥"

परन्तु दोहावली में, जिसमें तुलसीदास अपने विचारों को अधिक स्वतन्त्रता और साहस के साथ व्यक्त करते हैं, उन्होंने कहा :

---

* आकाशवाणी केन्द्र, नयी दिल्ली, से 31-5-56 को प्रसारित; पूर्व लेख 1959 में संशोधित, परिवर्धित।

"अतुलित महिमा वेद की तुलसी किएँ विचार।
जेहि निन्दत निन्दित भयो विदित बुद्ध अवतार ॥"

रीतिकाल के कवियों ने, जहाँ तक मुझे मालूम है, किसी अलंकार या रस के उदाहरण के लिए बुद्ध को स्मरण नहीं किया—करुण रस के लिए भी नहीं। खड़ीबोली के प्रादुर्भाव के पूर्व बुद्ध पर हिन्दी के किसी बड़े कवि का यही विशेष कथन है कि वेदों की निन्दा करने के कारण बुद्ध इस देश में निन्दित हुए।

भारतीय नवजागरण के पुरोधाओं में—राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द ने भी बुद्ध से कोई प्रेरणा नहीं ग्रहण की। भारतेन्दु की रचनाओं में बुद्ध पर कुछ पाने के लिए चिराग लेकर ढूंढ़ना पड़ेगा। ऋषभ भगवान और पार्श्वनाथ की स्तुति उन्होंने अवश्य की है।

बुद्ध और बौद्ध धर्म में फिर से अभिरुचि जगाने का श्रेय 19वीं सदी की बहुमुखी योरोपीय जिज्ञासा को है। एक ओर अजन्ता, साँची, सारनाथ, कुशीनगर की खोज हुई तो दूसरी ओर बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद अंग्रेज़ी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में हुए। अंग्रेज़ी की सृजनशील प्रतिभा ने 'लाइट आफ़ एशिया' काव्य ग्रन्थ को जन्म दिया। भारतीय पुनरुत्थान का स्वप्न देखनेवालों में न जाने कितनों को इस काव्य से यह स्वाभिमान हुआ होगा कि एशिया को दीप्तमान करनेवाला यह सूर्य भारत में ही उदित हुआ था। श्री जवाहरलालजी ने लिखा है, "Edwin Arnold's *Light of Asia* became one of my favourite books..." (एडविन आरनल्ड की 'लाइट आफ़ एशिया' को मैंने अपनी प्रिय पुस्तकों में स्थान दिया) महात्मा गांधी ने लिखा, "I read it with even greater interest than I did the *Bhagwadgita,* once I had begun it I could not leave off." (जितनी रुचि से मैंने भगवद्गीता पढ़ी थी उससे भी अधिक रुचि से मैंने यह पुस्तक पढ़ी, एक बार आरम्भ करने पर मैं इसे बिना समाप्त किये न छोड़ सका।) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी 'लाइट आफ़ एशिया' के आधार पर ब्रजभाषा में 'बुद्धचरित' नामक काव्य लिखा। हिन्दी में इससे पूर्व बुद्ध पर इतनी मधुर और सरस रचना नहीं हुई थी। बुद्ध जो प्रतिज्ञा करके घर से वन के लिए निकले थे उसे शुक्लजी के शब्दों में सुनिये :

"होहु साक्षी आज गगन के सारे तारे,
और भूमि जो दबी भार सों आज पुकारे,
त्यागत हौं मैं आज आपनो यह यौवन, धन,
राजपाट, सुख, भोग, बन्धु, बान्धव औ परिजन,
सबसों बढ़ि भुजपाश, प्रिये, तव तजत मनोहर,
तजिबो जाको या जग में है सबसों दुष्कर।
हे पत्नी, शिशु, पिता और मेरे प्रिय पुरजन,
कछुक दिवस सहि लेहु दुःख जो परिहै या छन,
जासों निर्मल ज्योति जगै, सो अति उजियारी,
लहैं धर्म को मार्ग सकल जग के नर नारी;
अब यह दृढ़ संकल्प, आज सब तजि मैं जैहौं,
जब लौं मिलि है नाहिं तत्त्व सो, नाहिं फिरि ऐहौं।"

खड़ीबोली में सर्वप्रथम जो श्रद्धापूर्ण स्वर बुद्ध के लिए निकले वे सम्भवतः श्री मैथिलीशरण गुप्त के थे। 'भारत भारती' में देश के अतीत गौरव को गाते हुए यह असम्भव था कि उनका ध्यान बुद्ध की ओर न जाता। वैदिक धर्म जब पशुबलि-

यज्ञों में विकृत हो गया तब :

"हिंसा बढ़ी ऐसी कि मानव दानवों से बढ़ गये,
भू से न भार सहा गया, अविचार ऊपर चढ़ गये।
सहसा हमारा यह पतन देखा न प्रभु से भी गया,
तब शाक्य मुनि के रूप में प्रकटी दयामय की दया।"

हिन्दी में बुद्ध के ऊपर सर्वप्रथम स्वतन्त्र और मौलिक कविता—मैं तो उसे गीत भी कहना ठीक समझूँगा—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी ने लिखी जो उनके 'पंचपात्र' में संगृहीत है। कविता एक प्रकार की व्याजस्तुति है और बख़्शीजी की अन्य रचनाओं के अनुरूप सरल-साफ़ भाषा और विचार-प्रधान शैली में लिखी गयी है :

"भगवन्, यह कैसी है रीति।
तुम हो यतिवर, ऐसी हमको होती नहीं प्रतीति।
कपिलवस्तु था क्षुद्र, हो गया वह तो तुमको त्याज्य।
किया प्रतिष्ठित अखिल विश्व में आज अचल साम्राज्य।।
प्रणयी जन थे अल्प, छोड़ दी तुमने उनकी प्रीति,
जोड़ लिया सम्बन्ध जगत से यह क्या नहीं अनीति ?
थी विरक्ति तो हुआ तुम्हारा जग से क्यों अनुराग ?
जग - सेवा कर सेव्य हो गये यह कैसा है त्याग ?
छूट गये तुम भव - बन्धन से यह केवल उपहास।
मानव - हृदय हुआ बन्दीगृह, वहीं तुम्हारा वास।।"

छायावादी कवियों में सम्भवत: जयशंकर प्रसाद ने सर्वप्रथम बुद्ध को भावना भरे हृदय से स्मरण किया। भारतीय संस्कृति का इतिहास, जिसके वे सूक्ष्म विद्यार्थी थे, बिना बुद्ध के कैसे पूर्ण हो सकता था। फिर बनारस में ही बैठे हुए—अब वाराणसी कहना चाहिए—वे कैसे भूल सकते थे कि उनके नगर से कुछ ही दूर पर बुद्ध ने अपना उपदेश दिया था। वरुणा की कछार पर लिखते हुए उन्होंने कहा :

"छोड़कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार,
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव सुलभ दुलार,
दु:ख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करने उद्धार,
सुनाने आरण्यक संवाद तथागत आया तेरे द्वार
अरी वरुणा की शान्त कछार, तपस्वी आया तेरे द्वार।"

भारतीय बुद्धिजीवियों में धीरे-धीरे बुद्ध की पुनरस्थापना हो रही थी, परन्तु जिस दिन इस देश की कोटि-कोटि जनता ने एक स्वर से मोहनदास कर्मचन्द गांधी को महात्मा गांधी कहकर उनका जय-जयकार किया उस दिन बुद्ध की स्मृति जैसे साकार हो उठी। प्राय: ऐसा कहा जाता है कि देश जिस समय असहयोग और सत्याग्रह के आन्दोलनों में जूझ रहा था, उस समय छायावादी कवि अनन्त और असीम के गीत गा रहे थे। शायद इसमें बहुत कुछ सच भी है। इसके अपवादस्वरूप मैं श्रीमती महादेवी वर्मा की 1934 में प्रकाशित कुछ पंक्तियाँ रखना चाहूँगा। महादेवीजी लिखती हैं :

"जाग बेसुध जाग।
अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक हार,
भीख दुख की माँगने फिर जो गया प्रतिद्वार,

शूल जिसने फूल छू चन्दन किया, सन्ताप;
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पदचाप।"

और किसी दिन मैं महादेवीजी से पूछना चाहूँगा कि यह पदचाप क्या आपको डांडी की ओर बढ़ते हुए महात्मा गांधी के चरणों से नहीं आयी थी ?

इसी समय के लगभग जब श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'बुद्धदेव' पर कविता लिखी, तब उसके पीछे महात्मा गांधी के दलितोद्धार की प्रेरणा स्पष्ट थी। कविता के अन्त में वे कहते हैं :

"जागो विप्लव के वाक् ! दम्भियों के इन अत्याचारों से,
जागो हे जागो, तप-निधान ! दलितों के हाहाकारों से !
जागो गांधी पर किये गये मानव-पशुओं के वारों से,
जागो मैत्री-निर्घोष ! आज व्यापक-युगधर्म पुकारों से।
जागो, गौतम ! जागो महान !
जागो अतीत के क्रान्ति-गान !
जागो, जगती के धर्म तत्त्व !
जागो हे ! जागो बोधिसत्त्व !"

1936 में श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' प्रकाशित हुई। काव्य की उपेक्षिता उर्मिला ने साकेत के गवाक्ष से यशोधरा की ओर संकेत किया था। देश की कितनी अज्ञात यशोधराओं ने अपने पतियों को जेलों, गोली की बौछारों, फाँसी के तख़्तों पर भेजकर कहा होगा :

"जाओ नाथ अमृत लाओ तुम मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी,
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी,
कहाँ तुम्हारी गुणगाथा में मेरी करुण कहानी।"

इस प्रकार बुद्ध का प्रतीक जीवन की परिस्थितियों में सार्थक हो रहा था।

1940 के लगभग श्री सोहनलाल द्विवेदी की मुक्त छन्द में लिखी 'वासवदत्ता' नामक कविता बहुत लोकप्रिय हुई। इसमें भगवान बुद्ध एक वेश्या का आत्म-समर्पण ठुकरा देते हैं, पर जब वह रुग्ण, गलित-पलित हो जाती है तब उसे अपनी करुणा का वरदान देने के लिए स्वयं चलकर उसके द्वार पर आते हैं :

"करुणामय विलोक उस शोक-युक्त रमणी को,
काँप उठे करुणा से,
पिघल उठे दुःख से।
गौतम ने अपनी पुण्य पाणि से
फफोलों पर, छालों पर, घाव पर, पीव पर,
शीतल जल छिड़का,
निज हाथ से धोया उसे
जी-सी उठी मृत-हत वासवदत्ता तुरन्त,
देखने लगी सतृष्ण गौतम की मूर्ति को
सेवा की स्फूर्ति को।
बोले तथागत,
'यह आया हूँ आज देवि,
आज अनिवार्य था आना यहाँ मेरा यह।'
कण्ठ भर आया,

वासवदत्ता नत चरणों में
मस्तक धर,
हृदय धर,
जीवन धर,
प्राण धर,
जड़-सी बनी बैठी रही,
बोल कुछ पायी नहीं,
अर्चना अचल बनी,
वेदना सफल बनी,
हा गयी मौन, कह पायी कुछ बात नहीं।"

यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता पर आधारित है पर उसमें कवीन्द्र ने बुद्ध के स्थान पर उपगुप्त भिक्षु को रखा है जिससे काव्य प्रसंग अधिक मर्यादित प्रतीत होता है।

सिद्धार्थ को लेकर हिन्दी में पहला महाकाव्य श्री अनूप शर्मा ने अभी कुछ ही दिन हुए प्रस्तुत किया है। शर्माजी हिन्दी के उन कवियों में हैं जिन्होंने खड़ीबोली को ब्रजभाषा के कवित्तों और संस्कृत के वर्णवृत्तों में बहुत सफलता से ढाला है। महाकाव्य के नायक के प्रति कवि की जो आस्था-निष्ठा होनी चाहिए, जैसी कि तुलसी की राम के प्रति है, उसकी प्रत्याशा 'सिद्धार्थ' में न करनी चाहिए। शर्माजी गौतम के सम्बोध का प्रभाव इस प्रकार वर्णन करते हैं :

"पायी संसृति ने मनोजजित से, निर्वाण की सम्पदा,
प्राची में उदिता उषा छवि हुई, फैली प्रभा भूमि पै,
आया वासर दिव्य, सत्य रवि ने मेटी मृषा यामिनी,
मानो श्री भगवान की विजय की थी घोषणा हो रही।"

स्वतन्त्रता के पश्चात् धर्मचक्र हमारी पताका पर है, सरकारी मुहर पर अशोकस्तम्भ के सिंह हैं, हमने परम वीरता के पदक का नाम अशोक चक्र रखा है। बुद्ध के पंचशील को नया रूप देकर हमारे प्रधानमन्त्री ने उसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का मूल मन्त्र बना दिया है। सारिपुत्त और महामोगल्लन की अस्थियों का हमने राष्ट्रीय निधि के रूप में स्वागत किया है। तीन वर्ष पूर्व हमने बुद्ध परिनिर्वाण का ढाई हज़ारवाँ वर्ष राजकीय स्तर पर मनाया है। आगामी युद्ध की विभीषिका से आतंकित लोग स्वाभाविक ही आज शान्ति के अवतार बुद्ध की ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं। इन सब कारणों से बुद्ध आज हमारी भावना के संसार में दृढ़ चरण रखते हुए प्रविष्ट हो रहे हैं। निरालाजी के शब्दों में :

"सत्य वाणी के मन्दिर,
जैसे उतरे थे तुम, उतर रहे हो फिर-फिर
मानव के मन में—जैसे जीवन में निश्चित
विमुख भोग से, राजकुँवर, त्यागकर, सर्वस्थित
एक मात्र सत्य के लिए, रूढ़ि से विमुख, रत
कठिन तपस्या में, पहुँचे लक्ष्य को तथागत।"

धृष्टता क्षमा हो तो मैं एक अपनी रचना की भी चर्चा कर दूँ। छः वर्ष पूर्व केम्ब्रिज में मैंने 'बुद्ध और नाचघर' शीर्षक कविता लिखी थी, जो प्रकाशित हो चुकी है। कविता बुद्ध पर व्यंग्य नहीं, संसार पर है। निरपराध जानते हुए भी, पड़ोसी के आरोप लगाने पर और प्रायः उसी पर अपना क्रोध प्रकट करने के लिए माँ कभी-

कभी अपने बच्चे को ही पीटने लगती है।

बुद्ध परिनिर्वाण जयन्ती पर हिन्दी के अनेकानेक कवियों ने श्रद्धांजलि के रूप में रचनाएँ प्रस्तुत कीं और इनमें से कई सुन्दर बन पड़ी हैं। मुझे इनमें सर्वश्रेष्ठ कविता मुक्त छन्द में लिखी श्री वीरेन्द्रकुमार जैन की लगी 'मेरे प्रणाम लो, मेरी चुनौती लो, हे भगवान अमिताभ' जो 'धर्मयुग' के तीन अंकों में प्रकाशित हुई। इसे स्वतन्त्र पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर दिया जाय तो बड़ा अच्छा रहेगा।

इस लेख की परिसमाप्ति मैं श्री सुमित्रानन्दन पन्त लिखित एक कविता से करना चाहता हूँ। इसका शीर्षक है 'बुद्ध के प्रति', जो 'वाणी' में संगृहीत है और सम्भवत: 1957 में लिखी गयी थी। जयन्ती के समय बुद्ध के प्रति स्तुति, श्रद्धा, भक्ति की जो बाढ़ आयी थी उसके शान्त हो जाने पर, पन्तजी ने तटस्थ होकर बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव, विकास, ह्रास पर विचार किया है और बुद्ध की करुणा के प्रति आदर दिखलाकर भी उनके शून्य और क्षणवादी सिद्धान्तों का विरोध किया है और भविष्य में संसार के लिए उन्हें कल्याणकारी नहीं माना। इस कविता में विश्लेषण की जो सफ़ाई, मूल हिन्दू सिद्धान्तों के प्रति जो आस्था और उन्हें प्रतिपादित करने में जो मर्यादित निर्भीकता पन्तजी ने दिखायी है उसके लिए उन्हें बधाई दी जानी चाहिए। वे कहते हैं कि बुद्ध के शून्यवाद और क्षणिकवाद क्या थे :

"शून्यवाद, जड़ क्षणिकवाद ने घेर लिया जन-मन गगनांगण,
रिक्तवारि, सिकता रज के घन दुर्लभ चातक हित जीवन कण!"

उनसे शान्ति पाने की आशा ऐसी ही थी जैसे रेत के अन्धड़ से पानी की बूँद पाने की आशा।

"उपनिषदों का शाश्वत दर्पण जिस भारत का रहा शुभ्र मन,
वहाँ निषेध कलुष घुस आये, मैं प्राय: करता था चिन्तन!"

और इस निषेधात्मक दर्शन का प्रभाव क्या पड़ा :

"अकथनीय क्षति हुई देश की उस युग के जीवन वर्जन से,
जीवन अस्वीकृति से निष्कृति निष्कृति हो गत अध: पतन से!"

पन्तजी कहते हैं कि जीवन को अस्वीकार करने पर करुणा भी मंगलपथ का सृजन नहीं कर सकती :

"मध्यमार्ग रत बोधिसत्त्व थे लोक श्रेय हित अविरत तत्पर,
अंग न थे भू पर जीवन के थे केवल करुणाहत अन्तर!
इसीलिए सेवा करुणा व्रत बन न सके जीवन मंगल पथ,
भूनिर्माण उसी से सम्भव जो जीवन कर्दम में भी रत!"

आगे चलकर पन्तजी का स्वर और दृढ़ होता है, वे कहते हैं :

"जड़ से चेतन, जीवन से मन, जग से ईश्वर को वियुक्त कर,
जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन दिया भ्रान्तिवश जन मन दुस्तर,
किया अमंगल उसने भू का अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,
जड़ चेतन, जीवन मन आत्मा एक, अखण्ड, अभेद्य संचरण!"

तो क्या जो 'युग-दर्शन' बुद्ध ने दिया वह अमंगलकर था, केवल अर्ध सत्य था, अन्धकारपूर्ण था? कवि के मन में तनिक भी सन्देह नहीं है। जिन्होंने उन्हें Light of Asia कहा है, उन पर भी व्यंग्य करते हुए वह कहता है :

"ह्रास विकास युगों का होता, मानव मन भव गति का दर्पण,
क्षमा, एशिया के प्रकाश, उस युग ने शुभ्र किया तम वितरण!"

बुद्ध के व्यक्तित्व की स्तुति करते हुए भी यह बौद्धदर्शन का विरोध है। तुलसी का

स्वर थोड़े परिवर्तन के साथ फिर से प्रतिध्वनित हो रहा है :

> "अतुलित महिमा वेद की तुलसी किएँ विचार,
> जेहि निन्दत निन्दित भयो विदित बुद्ध अवतार।"

उपनिषदों ने सत्, चित्, आनन्द को आदि सत्य माना था। बुद्ध ने इन्हीं को उलटकर सब्बा दुःखा, सब्बा अनिक्का, सब्बा अनत्ता किया। और हिन्दुत्व को सदियों तक संघर्ष करके इसको पराजित करना पड़ा। पन्तजी की कविता जैसे हमें आगाह करती है कि बुद्ध की करुणा और उनके वैयक्तिक आकर्षण में कहीं हम फिर उनके निषेधात्मक दर्शन की ओर न झुक जायें, क्योंकि ऐसा होने से देश की 'अकथनीय क्षति' होगी :

> "आज नहीं वह उद्यत जाग्रत जो जड़ चेतन द्वन्दों में रत
> शुद्ध बुद्ध चैतन्य नहीं वह जो जन भू जीवन से उपरत!
> × × ×
> अन्तः स्वर्णिम नव चेतन में आज प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वित,
> वही बुद्ध अन्तस्थित निश्चित जो जन भू जीवन में भी स्थित!"

आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना*

पिछले सितम्बर में, रोम में, एक प्रीतिभोज में इटली के वयोवृद्ध कवि प्रोफ़ेसर अंगारेटी मुझसे कह रहे थे, "आधुनिक समय में जिस बात ने योरोप-निवासियों का ध्यान भारतवर्ष की ओर आकर्षित किया वह थी उसकी स्वतन्त्रता की लड़ाई, स्वतन्त्रता की प्राप्ति, और वह भी केवल नैतिकता के बल पर। आज योरोप के विचारकों और विद्वानों के मन में इस बात की जिज्ञासा है कि इस राजनीतिक आन्दोलन के पीछे कौन-सी सांस्कृतिक, साहित्यिक हलचलें थीं जिन्होंने इस नैतिकता को पुष्ट किया। हमारा ऐसा विश्वास है कि यह नैतिकता केवल राजनीतिक नेताओं के जोशीले भाषणों अथवा नारेबाज़ियों से न तो जनता में जगायी जा सकती थी और न उसको प्रभावकारी ही बनाया जा सकता था।" प्रोफ़ेसर अंगारेटी की बात सुनकर मुझे कुछ ही दिन पहले बेल्जियम में अन्तर्राष्ट्रीय काव्य-समारोह में दिये गये एक भाषण का स्मरण हो आया। समाज में काव्य का स्थान क्या है? इस विषय पर बोलते हुए फ्रांस के नवयुवक कवि इमैनुएल ने गरजकर कहा था, "हिटलर ने दानवी बूटों से दबे हुए फ्रांस को किसने मुक्ति दिलाई। मार्शल पेताँ की कूटनीति ने? इंग्लैण्ड के टैंकों ने? अमरीका के बममारों ने? नहीं! नहीं! नहीं! फ्रांस को मुक्ति दिलायी रेसिस्तांस (विरोध) आन्दोलन ने।" जिस समय जर्मनी की दुर्द्धर्ष और दुर्निवार सेनाओं ने फ्रांस पर आक्रमण करके उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया, और उसके राजनीतिज्ञों ने हिटलर के आगे अपनी रीढ़ें झुका दीं, उस समय उसके कवियों ने एक रेसिस्तांस आन्दोलन चलाया। कविगण उत्तेजनापूर्ण कविताएँ लिखते, रातों जगकर अपने हाथों से उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार करते और डबलरोटियों में रखकर, सिगरेट के डिब्बों में छिपाकर उन्हें घर-घर पहुँचाते। फ्रांस उस समय तक पराजित नहीं हो

---

* दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित गोष्ठी में पठित—1960।

सकता जिस समय तक उसके कवियों की क़लम की स्याही नहीं सूखती। कठिन-से-कठिन समय में न फ़्रांस के कवि की क़लम रुकी न उसकी स्याही सूखी। और आज वे दावा करते हैं कि उन्होंने फ़्रांस को मुक्त किया। जिस समय इमैनुएल ने यह बात कही थी, सारा हाल तालियों की गड़गड़ाहट में डूब गया था। इधर आज़ादी मिलने के बाद भारत के कवियों ने सारा श्रेय अपने देश के नेताओं को दे दिया, या यों कहिए, नेताओं ने खुद ही ले लिया। हालाँकि स्वर्गीय डा. बड़थ्वाल ने एक बार प्रयाग में भाषण देते हुए कहा था कि इस देश को जगाने में महात्मा गांधी ने जितना काम किया है उससे कम काम 'भारत-भारती' ने नहीं किया। इस कारण जब मुझे यह समाचार मिला कि दिल्ली विश्वविद्यालय एक ऐसी गोष्ठी की योजना कर रहा है जिसमें आधुनिक भारतीय कविता में राष्ट्रीय भावना का विवेचन किया जायेगा तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और गोष्ठी का यह निमन्त्रण मैंने सहर्ष स्वीकार किया कि आधुनिक हिन्दी कविता की राष्ट्रीय प्रवृत्ति पर मैं अपने विचार आपके सामने रक्खूँ।

बिना मूल के न किसी वृक्ष में पत्ते लगते हैं और न बिना परम्परा के कोई प्रवृत्ति प्रस्फुटित और विकसित होती है। हमारा देश बहुत ही प्राचीन है और इसका इतिहास बहुत जटिल है। ऐसा मैंने विद्वानों से सुना है कि हमारे प्राचीन-तम ग्रन्थ वेद में भी मातृभूमि की वन्दना की गयी है। वेद मैंने नहीं पढ़े। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त के कुछ मन्त्रों का अनुवाद अपने ग्रन्थ 'माता भूमि' में दिया है। जो पृथ्वी हमें अन्न-जल देकर हमारा पालन-पोषण करती है वह हमारी माता के समान है और उसके प्रति हमारे कर्तव्य पुत्र के समान होने चाहिए, आदि-आदि। मैंने और भी कहीं पढ़ा है—अनुवादों से ही—कि वेदों में दासता के विरुद्ध भी आवाज़ उठायी गयी है। उसको हर प्रकार बुरा कहा गया है, उसका हर प्रकार अमंगल चाहा गया है—'यो अस्माकम् अभिदास्यसि'—जो हमको दास बनाना चाहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय भावना की जड़ हमारी जाति में बहुत पुरानी है।

हमारे महाकाव्यों और पुराणों में भी चक्रवर्ती राज्य और राजसूय यज्ञ की कल्पना इस देश की अखण्डता यदि सिद्ध नहीं करती तो कम-से-कम इस आदर्श के प्रति हमारी अटूट आस्था तो अवश्य ही व्यक्त करती है। हमारे धार्मिक संकल्पों में पुरोहितगण न जाने कितनी शताब्दियों से सिन्धु, गंगा, जमुना, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, कावेरी को एक साथ स्मरण करते आये हैं। राजाओं के बल-विक्रम का इसे सबसे बड़ा सबूत माना गया कि उनका राज्य उत्तरी पर्वत से दक्षिणी समुद्र तक है। इसमें चाटुकारिता और अतिशयोक्ति हो, तो भी इस देश को एक, और अखण्ड देखने की हमारी लालसा की पुष्टि होती है। शायद इस देश की विविधता और विशालता हमारी इस लालसा पर सदा से व्यंग्य करती आयी है, फिर भी हमारा इससे चिपके रहना बेमानी नहीं है। भारत के कई टुकड़े हो जाने पर भी अखण्ड भारत की आवाज़ आज भी हमारे कानों में पड़ती है। इसी प्रकार हमारे राजाओं की प्रशस्तियों का सदा ही यह मुख्य अंग रहा है कि उन्होंने फ़लाँ बाहरी जाति अथवा सेना को देश में प्रवेश न करने दिया या उसे मार भगाया—जैसे शकारि आदि।

परम्पराएँ पुनरुक्तियों से परिपुष्ट और ताज़ी बनी रहती हैं। मौर्य और गुप्त साम्राज्यों के बाद, मेरी ऐसी धारणा है कि, वे सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ जो भारत की एकता, अखण्डता और आक्रमण-विरोध की भावना को जगाये

रखती थीं, क्षीण पड़ने लगीं, जिसके फलस्वरूप यह विशाल देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। फिर भी भारतीय मनीषा अपनी पाचन-शक्ति से, बाहर से आने-वाली जातियों को अपना अंग बनाती रही।

मुसलमानों ने जब इस देश पर आक्रमण किया, उस समय यह पाचनशक्ति भी समाप्त हो गयी थी। मुसलमानों की विजय के अनेक कारण इतिहासवेत्ता देते हैं। पर सबसे बड़ा कारण यह था कि इस देश के कण्ठ में स्वर लुप्त हो चुका था। लगभग हज़ार वर्षों के संघर्ष, जय-पराजय के काल में किसी कवि के मुख से ऐसी वाणी नहीं निकली कि सारे देश को हड़हड़ा दे। यह सत्य है कि मुसलमान राजाओं ने एक भी दिन इस देश में इस प्रकार राज्य नहीं किया कि उन्हें कहीं-न-कहीं से विद्रोह की आग, किसी-न-किसी रूप में उठती न दिखायी दे। पर आग तभी सफल होती है, जब उसके साथ राग भी हो। और जिस दिन यह राग उठा उस दिन इस देश में मुस्लिम राजसत्ता का सूर्य अस्त हो गया :

"इन्द्र जिमि जंभ पर वाडव सुअंभ पर रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर, सम्भु रति नाह पर, ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर, भूषण बितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर, त्यों मलेच्छ वंस पर सेर सिवराज है।

भूषण ने जिस दिन यह कविता लिखी थी उसी दिन औरंगज़ेब की भाग्य-लक्ष्मी कूच कर गयी थी। मुग़लों के सिंहासन को उलटने में शिवाजी की तलवार ने जितना काम किया था, उससे कम काम भूषण की लेखनी ने नहीं किया था।

मुसलमान इस देश में ढोल बजाकर, झण्डे लहराकर, तलवार निकालकर आये। अंग्रेज़ों ने इस देश में तिजारत के चोर-दरवाज़े से प्रवेश किया। हिन्दू अभी मुस्लिम राज्य के पतन पर मोद ही मना रहे थे कि दोनों ने ही अपने को एक तीसरे के जाल में फँसा पाया। मुसलमानी राज्य खण्डों के पतन पर हिन्दुओं के, और हिन्दुओं के सद्यः प्रतिष्ठित राज्यों के पतन पर मुसलमानों के, दिल में अन्दर-ही-अन्दर किसी प्रकार के सन्तोष की भावना न होती तो अंग्रेज़ों के लिए इस सारे देश को इतनी सरलता से अपने कब्जे में कर लेना सम्भव न होता। ऐतिहासिक विभेदों को मन में बसाये हुए भी अब दोनों जातियों में मिलकर तीसरे को यहाँ से हटाने की भावना जागी। 1857 का विद्रोह हुआ। पर सफलता नहीं मिली। यहाँ भी मुख्य कारण था—आग थी, राग नहीं था। तोपें गड़गड़ाईं, तलवारें झनझनाईं, लेकिन कण्ठों की वह ललकार नहीं थी जो जनमानस को उत्तेजित और उल्लसित करे। बहुत खोज-बीन करने पर भी ग़दर-सम्बन्धी कोई ऐसी कविता नहीं मिली, जिसमें जान हो।

इस दृष्टि से 19वीं शताब्दी के मध्य में एक सर्वभारतीय लोक भाषा की आवश्यकता का अनुभव, उसको पदस्थ एवं विकसित करने के प्रयत्न को जितनी भी ऐतिहासिक महत्ता दी जाय, कम है। जिस दिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह कहा था :

"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल"

उस दिन उन्होंने इस देश के महारोग के लिए संजीवनी बूटी दे दी थी। भारतेन्दु के एक दूसरे वरदान की ओर भी विद्वानों ने प्रायः ध्यान दिलाया है। उन्होंने कविता के क्षेत्र को व्यापक बनाया। पर मैं तो यही समझता हूँ कि मुख में जीभ पाते ही यह देश अपने अतीत, वर्तमान, भविष्य—अतीत के गौरव, वर्तमान के असन्तोष और भविष्य के स्वप्नों को मुखरित करने लगा। इस प्रकार खड़ीबोली

हिन्दी की सारी कविता, सारा साहित्य एक व्यापक राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है। हिन्दी के आन्दोलन को समझने में प्राय: ग़लती इस कारण हुई है कि उसे केवल भाषा का आन्दोलन समझा गया है; वास्तव में वह भारतीय संस्कृति और भारतीय राष्ट्रीयता का आन्दोलन है और इसी रूप में देखने से उसका पूर्ण महत्त्व प्रकट हो सकेगा।

जब जातियों का पुनरुत्थान होता है, तब वे सदा ही अपने अतीत की ओर देखती हैं, वर्तमान से उसकी तुलना करती हैं और उससे जो वेदना उत्पन्न होती है, उससे भविष्य के निर्माण के लिए प्रेरणा लेती हैं।

"रोवहु सब मिलिक आवहु भारत भाई
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो
सबके पहिले विद्या फल निज गहि लीनो
अब सबके पीछे सोई परत लखाई !
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

× ×

"जागो, जागो रे भाई !
सोअत निसि बैस गँवाई। जागो, जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै दिन बीत्यौ कालराति चलि आई।
देखि परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि बस आई।
निज उद्धार पन्थ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहूँ चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताए कुछ नहीं ह्वै है रहि जैहो मुँह बाई !"

× ×

"चलहु बीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रनरंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठहु धनुष पै धरि सर साधौ।
केसरिया बानो सजि - सजि रन कंगन बाँधौ।" आदि।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों के स्वर में भारत के पुनर्जागरण की हलचल है, अपने चारों ओर के जीवन से असन्तोष है, उसे बदलने के लिए कुछ करने, कुछ उत्साह जगाने की उद्दाम कामना है, परन्तु उसमें एक संकीर्णता भी है। वे अपनी बात समस्त राष्ट्र से नहीं कह रहे हैं, उसके एक वर्ग से कह रहे हैं। इस संकीर्णता के ऊपर न उठ सकने के कई कारण भी हैं। प्राय: किसी कवि की वाणी इस बात से प्रभावित होती है कि उसके पाठक और श्रोता कौन हैं, वह किसके लिए लिख रहा है। क्या यह बताने की आवश्यकता है कि हिन्दी उस समय कौन पढ़ता था ! फिर भी उस संकीर्णता के कारण बहुत कुछ ऐसा लिखा गया है जो साँप के निकल जाने पर बाँबी पीटने के समान है।

1857 के विद्रोह के बाद भी और उसके तीस वर्ष बाद देश के राजनीतिज्ञों द्वारा इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की जाने के बाद भी, इस देश के दो प्रमुख वर्गों—हिन्दुओं और मुसलमानों—की सांस्कृतिक और साहित्यिक हलचलें अलग-अलग माध्यम से, अलग-अलग दिशाओं में चलती रहीं। कांग्रेस के

राष्ट्रीय दृष्टिकोण का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक आन्दोलन इस देश में सफल नहीं हो सका। शायद उसकी महत्ता को राजनीतिज्ञों ने समय से नहीं समझा और उसका जो परिणाम हुआ वह सबको विदित है। क्या कोई ऐसा मुसलमान पैदा किया जा सकता था जो वेदों से लेकर मुसलमानों के आक्रमण तक की भारतीय संस्कृति को अपनी समझकर उस पर गर्व करे ? क्या कोई ऐसा हिन्दू पैदा किया जा सकता था जो मुसलमानों द्वारा इस देश की पराजय की स्मृति से क्षुब्ध न हो ? ऐसी दशा में ऐसा स्वर उठना, उसका गूँजना और आज तक उसका सर्वथा समाप्त न होना कुछ अर्थ रखता है :

"चहहु जु साँचौ निज कल्यान। तो सब मिलि भारत सन्तान।
जपौ निरन्तर एक ज़बान। हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।"

(प्रतापनारायण मिश्र)

कुछ लोगों ने 'भारत सन्तान' की आड़ लेकर और 'हिन्दू' से इण्डियन का अर्थ लगाकर, जिस अर्थ में 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग भारत के बाहर बहुत जगहों पर होता है, इन पंक्तियों को व्यापक और उदार बताना चाहा है। यह सच्चाई से आँख चुराना है। हिन्दी की राष्ट्रीयता हिन्दू थी; उसने उत्तरोत्तर व्यापक और उदार होने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर हिन्दुत्व से वह अपने को सर्वथा मुक्त कर सकती है, इसमें मुझे सन्देह है। साथ-ही-साथ मेरा विश्वास यह भी है कि भविष्य में, हो सकता है सुदूर भविष्य में, राष्ट्रीयता की भावना, मानवता की भावना में विलीन हो जायेगी, और तभी उसे इन संकुचित वर्गीय विशेषणों से मुक्ति मिलेगी।

हिन्दी की संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रीयता बहुत दिनों तक नहीं चली। बाँबी पीटना बेकार था। मुसलमान आक्रमणकारी बनकर आये थे, पर वे भी हिन्दुओं के समान अंग्रेज़ों के गुलाम थे, हिन्द की प्रजा के अंग थे। उनके विरोध करने से अंग्रेज़ी शासन की जड़ें ही मज़बूत होती थीं, उनसे मेल कर नये विदेशी को देश से हटाया जा सकता था। इतिहास बदला नहीं जा सकता, पर आगे के लिए सचेत रहा जा सकता है। भारत भूमि एक है, उस पर बसनेवाले सब उसके पुत्र हैं, उसके प्रति प्रेम रखना सबका कर्तव्य है। पण्डित श्रीधर पाठक के भारत-गीतों में देशभक्ति की धारा बहुत निर्मल होकर बही है। उनका 'हिन्द वन्दना' गीत बहुत प्रसिद्ध हुआ :

"जय देश हिन्द, देशेश हिन्द,
जय सुखमा-सुख-निःशेष हिन्द।"

यह कम सौभाग्य की बात नहीं है कि जिस 'जयहिन्द' को सुभाषचन्द्र बोस ने आज़ादी की पहली सेना में सलामी का शब्द माना था और जिससे हमारे देश में एक दिन बिजली की-सी लहर दौड़ गयी थी, और जो आज भी हमारी क़ौमी सलामी का शब्द है, वह 'जयहिन्द' पहली बार एक हिन्दी कवि की लेखनी से निकला था। पाठकजी के गीतों में जहाँ हिन्दुओं में देशभक्ति जगाने की पूर्ण क्षमता है, वहाँ उनमें कुछ भी ऐसा संकुचित, संकीर्ण, पक्षपातपूर्ण नहीं जिससे किसी मुसलमान को किसी तरह की चोट पहुँचे, हाँ थोड़ी उदारता की अपेक्षा उससे भी की जायगी। पाठकजी से प्रेरणा लेकर बहुत-से कवियों ने भारत-वन्दना के गीत गाये। मैथिलीशरण गुप्त की इन पंक्तियों में उस हिन्दू-मुस्लिम एकता का संकेत है, जिसकी आवश्यकता उस समय अनुभव की जाने लगी थी :

"तेरे प्यारे बच्चे हम सब बन्धन में बहुबार पड़े,
जननी, तेरे लिए भला हम किससे जूझे कब न अड़े ?

भाई-भाई लड़े भले ही टूट सका कब नाता
जय-जय भारत माता।"

इन दो प्रमुख कवियों के अलावा जिन कवियों ने भारत के गीत गाये, उनमें गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, 'एक भारतीय आत्मा' के नाम विशेष रूप से लिये जायेंगे।

मेरे विद्यार्थी जीवन में 'प्रताप' के मोटो की ये पंक्तियाँ उत्तर भारत में गूँज रही थीं; इनके लेखक शायद महावीरप्रसाद द्विवेदी थे :

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नहीं नर, पशु निरा है और मृतक समान है।"

परन्तु जो पुस्तक उत्तर भारत में देशभक्ति की गीता बन गयी, वह मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' है। उसकी महत्ता इतनी लोक-व्यापी है कि उसके विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

1920 में महात्मा गांधी भारतीय राष्ट्र मंच पर सर्व-प्रमुख नेता के रूप में आये। उनकी प्रेरणा से जो सर्वश्रेष्ठ खण्ड-काव्य हिन्दी में लिखा गया, वह पण्डित रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' था, जिसके विषय में पण्डित मदनमोहन मालवीय ने कहा था कि इसका प्रथम संस्करण एक लाख प्रतियों का होना चाहिए। अगर वह पुस्तक इतनी संख्या में बिकी हो तो मुझे आश्चर्य न होगा।

सियारामशरण की रचनाएँ लोकप्रिय नहीं हो सकीं, पर राष्ट्रीय साहित्य में उनका स्थायी महत्त्व है। 'एक भारतीय आत्मा' की 'पुष्प की अभिलाषा' देश पर वलि होनेवालों के लिए एक ऐसा श्रद्धा-पुष्प है जो कभी नहीं मुर्झाया, न कभी मुर्झायेगा :

"चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।"

राष्ट्र की वीणा पर गानेवालों में एक 'भारतीय आत्मा' अथवा माखनलाल चतुर्वेदी का विशेष स्थान है। वे प्रवृत्ति से रहस्यवादी हैं, पर व्यवहार में सक्रिय देशभक्त भी हैं। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के सारे शोर-शरावे के बीच भी उन्होंने अपने स्वर पर संयम रक्खा है। उसमें एक विचित्र गम्भीरता भरी है। उन्होंने सदा ही अपनी कविताओं में अख़बार और प्लेटफ़ार्म की शब्दावली से बचकर संकेत और रूपकों की भाषा का प्रयोग किया है। "क़ैदी और कोकिला' इस सन्दर्भ में उदाहरण की तरह प्रस्तुत की जाती है। मेरा ऐसा विचार है कि राष्ट्रीयता को विषय बनाकर लिखनेवालों में जितना कवित्व का घनत्व माखनलाल चतुर्वेदी में है उतना शायद किसी अन्य कवि में नहीं। उनके निकट कभी-कभी जयशंकर प्रसाद ही आ पाते हैं, जैसे अपने इस गीत में—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।"

सन् बीस के बाद राष्ट्रीय धारा में उपर्युक्त कवियों के स्वर में जिन लोगों ने स्वर मिलाया, उनमें चार कवि प्रमुख माने जायेंगे—बालकृष्ण शर्मा नवीन, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान और रामधारीसिंह 'दिनकर'।

नवीनजी का 'हिन्दुस्तान हमारा है' :

"कोटि-कोटि कण्ठों से निकली आज यही स्वर धारा है,
भारतवर्ष हमारा है, यह हिन्दुस्तान हमारा है।"

सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' :

"बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।"

और उनका 'जलियाँवाला बाग में वसन्त'; और सोहनलाल द्विवेदी की 'युगावतार गाँधी' :

"हे कोटि चरण, हे कोटि बाहु, हे कोटि रूप, हे कोटि नाम।
तुम एक मूर्ति, प्रतिमूर्ति कोटि, हे कोटिमूर्ति, तुमको प्रणाम।"

और श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' की 'हिमालय' :

"मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य, गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल।
मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल।
मेरे नगपति, मेरे विशाल।"

ऐसी कविताएँ हैं जो हिन्दी पाठकों के कानों में पिछले पच्चीस वर्षों से गूँजती रही हैं। इनकी प्रेरणा पर कितनी अन्य रचनाएँ निकलकर जनता के पास पहुँची हैं, इसकी गिनती करना असम्भव है।

छायावादी कवियों का ध्यान सामयिक से अधिक शाश्वत की ओर रहा। सम्भवतः इसी कारण रूढ़ अर्थों में राष्ट्रीय कही जानेवाली कविताएँ उन्होंने नहीं लिखीं। सुमित्रानन्दन पन्त में यह प्रवृत्ति जगी, लेकिन बहुत बाद को—

"भारत माता ग्राम वासिनी—"

उनकी कविता प्रसिद्ध हुई; उन्होंने कई राष्ट्रगान भी लिखे हैं, उनमें यथार्थ कला-कवित्व भी है; पर वे जन-मानस को कभी तरंगित कर सकेंगे, इसमें मुझे सन्देह है।

आज़ादी मिलने के बाद, स्वाभाविक है कि यह राष्ट्रीय धारा क्षीण हो गयी है। पर इसने हिन्दी कविता को कुछ स्थायी सम्पत्ति और शक्ति दी है। राष्ट्रों को अपनी सत्ता-स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए बराबर संघर्ष करना पड़ता है। अपनी इस वार्ता को मैं अपने इस विश्वास के साथ समाप्त करना चाहता हूँ कि अब कभी भी जब इस देश को आग उठाने की आवश्यकता होगी तो वह राग के अभाव में अप्रभावकारी नहीं सिद्ध होगी। सामयिक सन्दर्भ में उदाहरण के लिए, कहना चाहूँगा कि अगर कभी चीनियों ने हिमालय को छूने का दुःसाहस किया तो दिनकरजी की एक ही कविता, 'हिमालय' जिसका ज़िक्र मैं ऊपर कर चुका हूँ, इस सारे देश में एक आग उठा देगी और बच्चा-बच्चा ललकार उठेगा :

"पददलित इसे करना पीछे
पहले लो मेरा सिर उतार।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !"

गीत काव्य की परम्परा, परिभाषा और तत्त्व

[रेडियो वार्ता]

प्राय: जनसाधारण में ऐसी धारणा है कि यदि किसी वस्तु या तथ्य की परिभाषा कर दी जाय तो उसे जानने-पहचानने में आसानी होगी। इसमें थोड़ा भ्रम है। कुत्ते को देखकर मैं पहचान लूँगा, पर जीवशास्त्र में कुत्ते की जो परिभाषा दी हुई है, अगर वह मुझे रटा दी जाती और मुझसे कहा जाता कि इसके अनुसार जो जीव है उसे खोज लाओ तो शायद इस काम में मुझे महीनों लग जाते। ठीक परिभाषा वज्ञानिक शब्दावली में होगी, उसमें कुत्ते के किसी ऐसे विशेष गुण की चर्चा होगी जो केवल कुत्ते में पाया जाता है, पर जिसे खोज लेना आसान न होगा। खोज लिया गया तो कुत्ते के पहचानने में कोई ग़लती न होगी। पर साधारण लोग कुत्ते को पहचानने के लिए, और मेरा ख़्याल है वैज्ञानिक भी, प्राय: परिभाषा का सहारा नहीं लेते और कोई भारी ग़लतियाँ भी नहीं करते। कुत्ते को शेर या शेर को कुत्ता समझने की ग़लती कम ही लोगों ने की होगी। मैं रूपकों की दुनिया की बात नहीं कह रहा हूँ जहाँ ऐसे कायर और दु:साहसी अक्सर मिलते हैं।

ऐसा आदमी शायद ही मिले जिसने कभी गीत सुना न हो या गीत गाया न हो। गाने का वरदान प्रकृति बड़े मुक्त हस्त से लुटाती है। जो औरों के सामने गाते हुए शरमाते हैं वे गुसलख़ाने में गाते हैं। मूक संगीत भी होता है। जैसे अनहद नाद बिना कान के सुना जाता है, उसी तरह यह मूक संगीत बिना कण्ठ के गाया जाता है। इस तरह गाने के लिए छायावादी कवि होने की ज़रूरत नहीं। कभी सहसा किसी भाव में बहते हुए मेरा मन गाने को किया है और ऐसी जगह, ऐसे अवसर पर कि गाना शिष्टाचार और व्यवहार दोनों के विरुद्ध होता, पर मैंने अपने भाव को नहीं दबाया, मूक संगीत का मज़ा ले लिया है। पता नहीं ऐसा अनुभव औरों को भी हुआ है कि नहीं। प्रसिद्ध संगीतकार बड़े ग़ुलाम अली ने एक बार कहा था कि "गाने की तबीयत बनना ही गाना है।"

जब यह गाने की तबीयत बनती है, मन में एक प्रकार का सामंजस्य आ जाता है, एक तरह की 'हारमोनी' आ जाती है। मन सब जगह से हटकर किसी भाव, विचार, अवसाद, विषाद, उल्लास में डूब जाता है और प्राय: मन की यह दशा शरीर में झलक उठती है। चलता हुआ आदमी एक ख़ास लय में पाँव उठाने लगता है, बैठा हो तो उसकी उँगलियाँ ख़ास ढंग से हिलने लगती हैं, आँखों में कल्पनाएँ झूमने लगती हैं। उनमें एक ख़ास चमक आ जाती है। गाने की तबीयत के बाहरी रूप को कुछ लोग पहचानते हैं। मेरी पत्नी ने मुझसे अक्सर कहा है, "आप किसी और दुनिया में हैं, कुछ लिखना चाहते हैं।" और उनका अनुमान ठीक ही हुआ है।

जो जीवन में है, वही कला में जाकर विकसित होता है, निखरता है। गाने की तबीयत जब ध्वनि-शब्द का आधार लेती है तब वह गीत का रूप लेती है। वह और भी रूप ले सकती है और उसके अन्य रूप भी सरस, सुन्दर और मनोरम हो सकते हैं। मुझे कई चित्रकारों को चित्र बनाते हुए देखने का अवसर मिला है और मैंने प्राय: उन्हें कुछ गुनगुनाते हुए पाया है। आवश्यक नहीं कि गाने की तबीयत की अभिव्यक्ति कला में ही हो।

हमारे देश का तो सारा जीवन ही गीतमय है। कभी-कभी सोचता हूँ कि हमारे ऋषि, मुनियों, विचारकों, दार्शनिकों, विद्वानों, सन्तों के जीवन की कौन ऐसी व्याख्या जन-जन के हृदय में बिठा दी कि समस्त जाति गीतमय हो गयी।

पर्वों, त्यौहारों, मेलों, उत्सवों की बात नहीं करता, ऐसे समय गाना स्वाभाविक है, पर कठिन मेहनत का काम करते हुए भी लोगों को गाते देखकर मैं भावविभोर हो गया हूँ। जब कभी गीत का मौलिक, बुनियादी रूप देखने की मेरी इच्छा हुई है तो मेरा ध्यान उन गीतों की ओर गया है। अगर आपने ऐसे गीत नहीं सुने तो गीत का सच्चा रूप आपको स्पष्ट नहीं होगा। ग्राम्य-गीतों के कई संकलन हिन्दी में निकल चुके हैं। इनसे भी कुछ काम चल सकता है।

गीतों का आदि खोजने का अर्थ है जीवन का आदि खोजना। गीत हज़ारों वर्षों से गाये जा रहे हैं, पर उनका मूल रूप जो आरम्भ में रहा होगा, आज भी है—भावों की तीव्रता, उनकी एकता और उनकी गेयता। गीत शब्द का अर्थ ही है गाया हुआ। अंग्रेज़ी का 'लिरिक' 'लायर' से जुड़ा हुआ है, जो एक प्रकार का बाजा होता था—उस बाजे पर गाया जानेवाला गीत। साहित्य की कोटि में आनेवाले गीत भी पहले गाने के लिए ही लिखे जाते थे। जब पढ़ने के लिए भी गीत लिखे जाने लगे तो गाये जानेवाले गीतों को 'सांग लिरिक' कहा जाने लगा। 'सांग लिरिक' को गाने का काम केवल संगीत-प्रवीण लोग कर सकते थे, 'लिरिक' को कोई भी आदमी भावपूर्ण ढंग से पढ़ सकता था। गीत से गेयता निकाल देने से तुक, लय, ध्वनि से ज़ोर हटकर भाव और अर्थ पर चला गया। भाव की तीव्रता और एकता से गीत आज भी मुक्त नहीं। इस आधार पर मुक्त छन्द में लिखी बहुत-सी कविताएँ गीत की कोटि में आयेंगी। यही भाव की तीव्रता और एकता उस लय को जन्म देगी जो गीत का प्राण है और जिससे मुक्त छन्द भी छुटकारा नहीं पा सकता। केवल अर्थ की स्पष्टता अथवा एकता से स्वच्छ गद्य लिखा जा सकता है, कविता नहीं लिखी जा सकती। भाव जब शब्द में अवतरित होगा तो वह लय का ही आधार लेगा। इस प्रकार आज गीत के तीन रूप हमें देखने को मिलते हैं—एक वह जो मधुर और दीक्षित कण्ठ से गाया जा सकता है, दूसरा वह जो समलय बद्ध है, तुकान्त है और तीसरा जिसका भाव लयबद्ध ज़रूर है पर जिसे पढ़ने के लिए न संगीत का ज्ञान ज़रूरी है, न मधुर कण्ठ; जो वार्तालाप की सहजता से भी पढ़ा जाये तो भाव की तीव्रता और एकता का आभास देगा।

साहित्य की कोटि में आनेवाले गीतों का आरम्भ, जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, हम विद्यापति से मान लें तो बहुत अच्छा होगा। विद्यापति भक्त होने के साथ ही दरबारी कवि भी थे। इससे एक ओर उनमें जहाँ विनय के भाव हैं, वहाँ दूसरी ओर शृंगारिकता के भाव भी हैं। विशेषकर इन दूसरे प्रकार के गीतों में मानव-हृदय की पीड़ा व्यक्त हुई है :

> "थे न कबीर, न सूर, न तुलसी और न थी जब बाँवरि मीरा,
> तब तुमने ही मुखरित की थी मानव के मानस की पीरा।"

भक्तिकाल में कबीर, सूर, तुलसी, मीरा ने अपने उद्‌गारों से गीतों का भण्डार भरा। कबीर का व्यक्तित्व महान ही नहीं था, बहुस्तरीय भी था। उनके किन्हीं गीतों में भावों की गहराई रहस्य का अतल छूती है :

> "घूँघट के पट खोल रे तोहे पिया मिलेंगे।"

और किन्हीं गीतों में व्यंग्य का तीखापन ऊपर-ऊपर उतराने लगा :

> "चली है कुलबोरनी गंगा नहाय
> पाँच पचीस के धक्का खाएन घरहू के पूँजी आयी लुटाय।"

तुलसी के गीतों में उनकी सात्त्विकता सब जगह समान है। विनय में भी एक प्रकार की मर्यादा वे निभाते हैं। अन्तर को बेधनेवाली, मन को व्याकुल-विह्वल

करनेवाली पंक्तियाँ तुलसी में कम ही होंगी पर वह छिछले धरातल पर कभी नहीं उतरते :

"कौन जतन बिनती करिये।
निज आचरन विचारि हारि हिय मानि जानि डरिये।"

या "अब लौं नसानी अब न नसैं हों।
राम कृपा भव निसा सिरानी जागे फिर न डसैं हों।"

सूर की दुनिया हमारे जीवन के बहुत निकट है, वह हमारे घर में समा जाती है, फिर भी उसकी विविधता आश्चर्यमयी है। भावों की तीव्रता के लिए इससे अधिक कौन कहेगा :

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर,
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर।"

सूर की तीव्रता को, कभी-कभी, मीरा ही छूती हैं। उन्मत्तता, तन्मयता मीरा में जितनी है उतनी भक्ति के काल के किसी कवि में नहीं :

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
मीरा प्रभु लगन लगी होनी हो सो होई।"

या "सूली ऊपर सेज पिया की केहि विधि मिलनो होय।"

हिन्दी गीतों के लिए भक्तिकाल स्वर्णयुग था—जन-जीवन में रँगी हुई भाषा; वेदना की आग में पिघले हृदय के भाव। जो कवि के मुख से निकला उससे देश की दिशा-दिशा प्रतिध्वनित हो उठी।

गीतों का दूसरा युग खड़ीबोली के उत्थान के साथ आरम्भ हुआ। इन पचास-साठ वर्षों में कविता के क्षेत्र म हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि गीतों के वृत्त में ही हुई है। एक अनगढ़ भाषा को लेकर उसे गीत का माधुर्य देना बड़ा ही कठिन काम था। भारतीय नवजागरण ने भावों का उफान दिया, अंग्रेज़ी गीत कला ने गीत का बाहरी रूप सँवारने की प्रेरणा दी, ब्रज और अवधी की गीत-परम्परा ने बहुत बड़ा आधार दिया, बंगला ने, विशेषकर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने, बहुत-से उदाहरण उपस्थित किये। इन सबसे आधुनिक गीत बना।

सिनेमा का प्रचार बढ़ने से सिनेमाई गीतों की एक अलग श्रेणी बन गयी। भावों में हलकापन, भाषा में सादगी बाजों-गाजों पर अत्यधिक निर्भरता। सिनेमा हाल में गाया गीत जब केवल गले का आधार लेकर गाया जाता है तब वह निर्जीव लगता है और शीघ्र मर जाता है।

जीवन में विचार की प्रधानता बढ़ी तो गीत संगीत-मुक्त हो गया। भाव-मुक्त हो गया, अर्थ-प्रधान हो गया। अब वह गाया नहीं जाता, पढ़ा जाता है।

इसकी प्रतिक्रिया दूसरी दिशा में हुई है — गीत को गेय रखनेवाले आधारभूत मानव भावनाओं की ओर चले गये हैं; और प्रेरणा ली जा रही है ग्राम्य गीतों से। कुछ कवि जनपदीय बोलियों में लिखने लगे हैं और साहित्यिक गीत-कला का लाभ ग्राम-गीतों को दे रहे हैं।

आधुनिक समय को गेय गीतों, वाद्य गीतों और पाठ्य गीतों का मिलनस्थल या समरस्थल कह सकते हैं।

[1959]

मेरा रचना-काल

[रेडियो वार्ता]

मुझे कवि-रूप में जाननेवाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो मुझे 'मधुशाला' के रचयिता के नाते न जानता हो। 'मधुशाला' इतनी लोकप्रिय कैसे और क्यों हो गयी, इसका कारण मुझे भी नहीं मालूम। इसे मैंने 1933-'34 में लिखा था; यह सर्वप्रथम 1935 में प्रकाशित हुई। इसका पहला पाठ मैंने दिसम्बर 1933 में काशी विश्वविद्यालय में किया था। वहाँ प्रायः भारत के सभी भागों से विद्यार्थी आते हैं—वहीं से जब वे अपने घरों को लौटे तो 'मधुशाला' की कुछ पंक्तियाँ और उसके पढ़ने की धुन अपने साथ ले गये। 'मधुशाला' में उन्होंने अपने कुछ भावों, विचारों, आकांक्षाओं, प्रत्याशाओं, स्वप्नों, आदर्शों को मूर्तित पाया। मैं केवल अपने गले को 'मधुशाला' की लोकप्रियता का सारा श्रेय देने को तैयार नहीं हूँ। जहाँ कुछ लोगों ने 'मधुशाला' का स्वागत किया, वहाँ कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया। इसकी जितनी पैरोडी की गयी है, सम्भवतः उतनी हिन्दी की किसी रचना की नहीं की गयी। कितने ही लोगों ने इसके विरुद्ध लेख आदि भी लिखे। पर इन सब चीज़ों ने 'मधुशाला' की ओर लोगों का ध्यान ही आकृष्ट किया। लेख-विरोध होते हुए भी पढ़ने अथवा सुनने पर उन्हें अपने आनन्द-विनोद की कुछ सामग्री इसमें मिली अवश्य। अनेक प्रकार से इसका अनुकरण भी किया गया। अनुकरण करनेवालों में कोई दूसरी 'मधुशाला' तो नहीं लिख सका, अलबत्ता ऐसी रचनाओं ने मौलिक रचना की खोज को प्रोत्साहन दिया।

हिन्दीवालों को वाद चलाने का मर्ज़ है! उन्होंने 'हाला' शब्द का अत्यधिक प्रयोग इस कविता में देखकर मुझे 'हालावाद' का प्रवर्तक घोषित कर दिया। पटने का 'योगी' मुझे 'हालाबाज़' कहकर मुझ पर व्यंग्य किया करता था, बस 'हालाबाज' से 'हालावाद' दूसरा क़दम था। मैंने न तो कोई वाद चलाया था और न चलाने की इच्छा थी। हाला का उपयोग प्रतीक-रूप में भी मैंने पहले-पहल नहीं किया था। 'हालावाद' कोई वाद हो भी, और उसके प्रवर्तक की आवश्यकता ही हो तो उसका श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को मिलना चाहिए। उन्होंने मदिरा पर कुछ दोहे लिखे थे। उनका परिचय पहले-पहल मैंने 'हिन्दी नवरत्न' से किया था। इसके पश्चात् पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'साक़ी' आदि कविताओं में हाला-प्याला के प्रतीकों का उपयोग किया था। मेरे पूर्व बाबू भगवतीचरण वर्मा ने कई कविताएँ मधुपान आदि पर लिखी थीं। इसी प्रकार मेरे समकालीन कई कवि हाला-प्याला के प्रतीकों का प्रयोग अपनी कविताओं में कर रहे थे। इस कारण अगर इन प्रतीकों को हिन्दी में लाना कोई अपराध था तो इसका अपराधी, कम-से-कम पहला अपराधी, मैं तो नहीं था, पर समालोचकों ने अपनी बाण-वर्षा प्रायः मेरे ही ऊपर की थी। कारण शायद यह था कि मेरी रचनाओं में ये प्रतीक अधिक सजीव हो उठे थे।

हिन्दी जनता 'मधुशाला' से ही मुझसे परिचित हुई पर 'मधुशाला' मेरी पहली रचना नहीं थी। मेरी पहली रचना 'तेरा हार' के नाम से 1932 में प्रकाशित हुई थी। उसकी समालोचना पत्र-पत्रिकाओं में तो अच्छी हुई थी, पर जनता में उसकी माँग बिलकुल न हुई थी। प्रयत्न करने पर भी यह बता सकना कठिन है कि मैंने अपनी पहली रचना कब की। स्कूल में पढ़ते समय जब हमें निबन्ध लिखने को दिया जाता तब अध्यापक कहते थे कि अन्त में दो-चार दोहे लिख देना चाहिए। इतना मुझे अब तक याद है कि प्रसिद्ध दोहे याद न रहने पर मैं स्वयं अपने बनाये हुए दोहे

बैठालकर पण्डितजी को सन्तुष्ट कर देता था। शायद उन्हीं दोहों में मेरी कविता का जन्म हुआ होगा। आठवीं कक्षा में मैंने नल-दमयन्ती की कहानी अपनी पाठ्य-पुस्तक में पढ़ी थी। उसे मैंने पद्यबद्ध किया था, और भी फुटकल कविताएँ लिखी थीं, प्राय: देश-भक्ति पर। 1920 का आन्दोलन मैंने देखा था और उससे मुझे प्रेरणा मिली थी उन्मुक्त जीने की, उन्मुक्त लिखने की। पर उन दिनों मैं अपनी कविता किसी को दिखाता नहीं था। एक मित्र ने मेरी अनुपस्थिति में मेरी कापी देख ली और उसकी कुछ पंक्तियाँ पढ़ सुनायीं। मुझे मालूम हो गया कि हो-न-हो, इसने मेरी कापी चोरी से देख ली है, बस मैंने अपनी कापी फाड़कर फेंक दी। उसी समय के आस-पास हमारे स्कूल के एक अध्यापक छुट्टी पर जा रहे थे। उनके अभि-नन्दन में भी मैंने एक रचना की थी, जिसका शीर्षक 'हार' था। वह याद तो नहीं है पर भाव कुछ इस प्रकार के थे कि न ये हीरे-मोती के हार हैं, न सोने-चाँदी के—ये तो फूल के हार हैं, पर हम इनमें अपना हृदय बाँधकर देते हैं। मेरी यह रचना विद्यार्थियों ने बहुत पसन्द की थी और स्कूल की हस्तलिखित पत्रिका 'आदर्श' में निकाली भी गयी थी। तभी मैंने मुक्त छन्दों में भी कुछ दस्तन्दाज़ी की थी। इसके बाद विद्यार्थी-जीवन में मैंने कविता नहीं की।

1930 में सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ हुआ था। उस समय मैं एम. ए. प्रीवियस में था। मैंने युनिवर्सिटी छोड़ दी और तभी से मेरे जीवन का संघर्ष आरम्भ हुआ। उसी समय से मैंने फिर कविता लिखना आरम्भ किया था और तब से अब तक प्राय: बराबर लिखता रहा हूँ। मेरी पुरानी आदत अब भी चल रही थी। कविता लिखता पर दिखाता किसी को न था, मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में एक कविता 'काव्य अप्रकाशन' पर भी है।

युनिवर्सिटी छोड़ने पर दुनिया की वास्तविकता से टक्कर लेनी पड़ी। उसमें मेरे जीवन के सपने टूट गये। हृदय के अन्दर भावनाओं की तरंगें उठ रही थीं, चारों ओर दीवारें खड़ी थीं। निराशा घिरती आती थी पर आशा अपनी पराजय स्वीकार न करती थी। आकांक्षाएँ संसार की सीमा के अन्दर घुट रही थीं, पर अपने विद्रोह को पुकार करके, व्यक्त करके। स्वप्नों के पर कट रहे थे, लेकिन उन्हें फिर से फैलाने की अभिलाषा तो बाक़ी बची हुई थी। ऐसे समय में मेरे भावों और विचारों में जो प्रथम उथल-पुथल हुई थी उसमें मुझे उमर ख़ैयाम की रुबाइयों में अपने प्राणों की प्रतिध्वनि मिली। रुबाई पढ़ता तो ऐसा लगता जैसे यह मेरे लिए ही लिखी गयी है।

उसी अवस्था में मैंने 1933 में 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद किया। उसके पूर्व भी 'रुबाइयात' के कई अनुवाद निकल चुके थे, पर मेरे प्राणों से जो स्वर फूट रहा था वह दूसरा ही था और किसी अन्य का अनुवाद मेरे मन की पुकार को व्यक्त नहीं करता था। मेरे अनुवाद के आसपास ही उमर ख़ैयाम के कितने ही अनुवाद हुए। ख़ैयाम की कविता के प्रति जो मेरी प्रतिक्रिया थी वह एक समय मुझे बहुत निजी मालूम हुई थी, पर अब सोचता हूँ कि सम्भवत: देश-काल के वातावरण में ही कुछ ऐसा था जिससे दूर-दूर बैठे हुए लोगों ने लगभग एक ही समय उमर ख़ैयाम को हिन्दी में उपस्थित करने की बात सोची।

ख़ैयाम के अनुवाद से ही जैसे मेरी आत्मा को सन्तोष न हुआ। मैंने मौलिक रुबाइयों की रचना आरम्भ की और इसी का परिणाम हुआ 'मधुशाला'। 'मधुशाला' पर मेरे व्यक्तित्व की, मेरे कवित्व की, स्पष्ट छाप लगी हुई है। वास्तविकता से उठकर, कल्पना की मदिरा से शक्ति संचित कर, मैं सपनों का संसार रचने लगा।

मेरे जीवन में जो कुछ कुरूप था जैसे वह कविता के पारस को छूकर सुन्दरता में मूर्तिमान हो उठा। लोगों ने मेरी इस प्रवृत्ति को पलायन या Escape कहा है। मैं उसे स्वप्न का सत्य के विरुद्ध विद्रोह कहूँगा। मैंने मदिरा नहीं पी, मैंने कविता पी, और अगर कविता स्वयं जीवन से पलायन नहीं है तो मैं अपने आपको पलायन-वादी कहने को तैयार नहीं हूँ। यदि मुझे इन्हीं दो सम्मतियों में से कि कविता जीवन मे पलायन है अथवा उसके प्रति विद्रोह, एक के साथ अपनी सहमति प्रकट करनी हो तो मैं कहूँगा कि कविता जीवन के प्रति विद्रोह है—एक तीसरी अवस्था भी है कि कविता जीवन की समीक्षा है। सम्भवत: यह तीसरी अवस्था ही अधिक सन्तु-लित है। आज का विद्रोही कल का समीक्षक हो सकता है, पर पलायनवादी फिर लौटने का नहीं। मैं जीवन से भागा कभी नहीं था, मैं कवित्व की शक्ति से सम्पन्न होकर उसका सामना करना चाहता था। कवित्व से उसकी अपूर्णता को पूर्ण करना चाहता था, कवित्व से उसकी कुरूपता को सुरूपता में परिवर्तित करना चाहता था। अगर संसार की वास्तविकता से सहयोग करना ही जीवन की सफलता है तो दुनिया में काव्य और कला की कोई ज़रूरत नहीं है। संसार की वास्तविकता संसार की एकांगिता है, वह काव्य और कला के स्वप्नों से मिलकर पूर्ण होती है। इसी अर्थ में कवि निर्माता है, नहीं तो स्रष्टा ने अपनी सृष्टि में कहाँ जगह छोड़ रखी है जहाँ हमें एक तृण भी अपनी ओर से बनाकर रखने की गुंजाइश हो? उन्हीं मन-सपनों, उन्हीं आदर्शों और उन्हीं कल्पना-क्षणों के कारण एक ओर जहाँ कवि संसार का अधिक असन्तुष्ट प्राणी है, वहीं दूसरी ओर अधिक सन्तुष्ट जीव भी। एक ओर जहाँ वह संसार को अधिक अपूर्ण देखता है, वहीं दूसरी ओर वह उसे अधिक पूर्ण भी बना सकता है। कल्पना का संसार अगर मनुष्य इस संसार की तुलना में न रखता तो यही संसार उसे स्वर्ग प्रतीत होता; और कल्पना के संसार से अगर वह इसे आलो-कित न कर देता तो यही संसार उसे नरक लगता। इसी संसार को स्वर्ग और नरक समझनेवाले दोनों ही कला और कवित्व से विहीन हैं। कला इसीलिए सक्रिय और शक्तिमान है कि वह संसार की कुरूपता को स्पष्ट भी करती है और तिरोहित भी।

'मधुशाला' में जो मैंने मुक्तकों में कहा था उसे ही मैंने 'मधुबाला' में गीतों में कहा है।

1930 से जो संघर्ष मेरे जीवन में उठा था उसकी चरमस्थिति 1936 में मेरी पत्नी के देहावसान में पहुँची। उसके पूर्व ही मेरे भावना-जगत को एक और गहरी ठेस लग चुकी थी। साहित्य-क्षेत्र में भी हर तरफ़ से मुझ पर आक्रमण हो रहे थे। 'मधुकलश' इन्हीं दिनों की रचना है। 'मधुकलश' के गीतों को गाकर मैंने अपने अन्दर शक्ति संचित की। पत्नी के देहावसान ने मुझे सहसा जड़ कर दिया और एक वर्ष तक मैंने कुछ लिखा ही नहीं।

फिर धीरे-धीरे मेरी संचित वेदना 'निशा निमन्त्रण' के गीतों में फूटने लगी। और वही क्रम 'एकान्त संगीत' के गीतों में भी चलता रहा। प्राय: 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' के गीतों को पढ़कर लोगों ने मुझे निराशावादी कह दिया है। पर सच यह है कि उन्हीं गीतों को गाकर मैंने अपनी निराशा को पराजित किया है और फिर से अपने अन्दर आशा का संचार किया है। उन्हीं गीतों को गाकर मैंने अन्धकार से युद्ध किया है और फिर से प्रकाश की ओर देखा है। 'आकुल अन्तर' तक आते-आते मैं सर्वथा उस अन्धकार से मुक्त हो गया हूँ।

1942 में मेरा दूसरा विवाह हुआ। मैंने जीवन से फिर सहयोग किया। इसके पश्चात मैंने 'सतरंगिनी' की रचना की। 'मिलन यामिनी' के गीत मैंने

'सतरंगिनी' के पश्चात् लिखने शुरू किये।

1943 में मैंने 'बंगाल का काल' की रचना की। मुक्त छन्द में, कतिपय बल-प्रयोगों को छोड़कर, यह मेरी पहली रचना थी। इससे पहले मैंने इतनी लम्बी कविता कभी नहीं लिखी थी। मैंने प्रायः गीत ही लिखे हैं।

1945 में मैंने 'हलाहल' नाम की अपनी एक पिछली रचना की पूर्ति की। मरण से आरम्भ करके मेरी कल्पना अमरता की ओर गयी है। पहले सोचा था, उसके शीर्षक के नीचे उपनिषद की यह पंक्ति लगा दूँगा 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' फिर कुछ सोचकर विचार हटा दिया।

यह मेरी रचनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। मेरा जन्म प्रयाग के एक मुहल्ले में हुआ था। मेरा वाल्यकाल शहर की सँकरी गलियों में वीता। प्रकृति का निरीक्षण मैंने नहीं किया, सिवा इसके कि ऊपर आसमान है जहाँ रात को तारे निकलते हैं और उसी में कहीं से बादल छा जाते हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त मेरे लिए मकानों के पीछे से हुआ है। प्रकृति का वर्णन प्रकृति-प्रेमवश मेरी कविता में शायद कहीं भी नहीं है। मेरा वाल्यकाल प्रकृति के प्रभाव से अछूता ही रहा है; बाद को जो कुछ घूम-फिरकर मैंने देखा है, उसने मेरे हृदय में घर नहीं किया। जब कभी प्रकृति के समीप गया भी हूँ तो अपनी भावनाओं से इतना अतिरंजित कि उसमें भी मुझे अपनी भावनाओं की ही छाया दिखायी दी है। प्रकृति के प्रतीक मैंने अवश्य ही काव्योपकरण के रूप में स्वीकार कर लिये हैं, पर मेरा हृदय सदा भावना-द्रवित रहा है—अपने और दूसरों के भी सुख, दुख, हर्ष, विषाद से। मैंने तो अपने हृदय के अन्दर देखा है और लिखा है। दूसरों के हृदयों को देखने का मेरे पास एक ही साधन है—और वह है मेरा अपना हृदय। मुझे यह कहकर सन्तोष होता है कि मैं भावनाओं का कवि हूँ। जैसे मैं अनुभव करता हूँ ऐसा दूसरे भी करते होंगे, यही बल मुझे सदा रहा है—दूसरों ने अगर मेरे उद्‌गारों में अपनी भावनाओं को मुखरित पाया है तो उसका कारण यही है कि मैंने अपने हृदय को साधारण मानव हृदय का एक नमूना-सा माना है।

मेरी शिक्षा उर्दू और फ़ारसी से आरम्भ हुई थी। एक बार स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का व्याख्यान सुनकर मैंने उर्दू छोड़कर हिन्दी ले ली। उस समय बाबू शिवकुमार सिंह, डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ़ स्कूल्स थे। वे स्वयं हिन्दी के प्रेमी थे और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में से थे। उन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया। शायद उस दिन स्वामीजी के व्याख्यान में न गया होता तो आज यदि मैं कुछ लिखता होता तो उर्दू में। कभी सोचता हूँ कि जीवन की आकस्मिक घटनाओं का भी कितना बड़ा प्रभाव होता है। मेरे पिता हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी, फ़ारसी और संस्कृत जानते थे। कविता के प्रेमी थे और इन भाषाओं के उच्चकोटि के कवियों के ग्रन्थ उनके पास थे। मैंने उर्दू की वहुत-सी कविता स्वयं उनके मुख से सुनी थी। उर्दू में जो कहने की सफ़ाई थी वह उन दिनों भी मुझे अच्छी लगती थी। नज़ीर अकबराबादी के दीवान से पिताजी ने मुझे उनकी कई कविताएँ याद करायी थीं, 'स्तोत्र रत्नाकर' से कई संस्कृत स्तोत्र। हिन्दी आन्दोलन के साथ वे 'सरस्वती' भी मँगाने लगे थे। स्कूल के दिनों में बाबू मैथिलीशरण गुप्त और 'हरिऔध' जी की कविताएँ मैं विशेष रुचि से पढ़ता था। अपने पिता से प्राप्त 'भारत-भारती' की प्रति मेरे पास अब तक सुरक्षित है। संस्कृत भी मैंने हाईस्कूल तक पढ़ी। थोड़ी उर्दू, फ़ारसी, थोड़ी संस्कृत जानने का प्रभाव मेरी भाषा पर अच्छा पड़ा। उर्दू के शब्दों से मुझे कभी परहेज़ नहीं रहा है। ज़्यादा उर्दू न जानने के कारण मेरी कविता

में कभी ऐसे शब्द नहीं आये जो हिन्दी की प्रकृति पर अत्याचार करते जान पड़ें। उसी प्रकार संस्कृत का कम ज्ञान भी मेरे लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। न तो मैं संस्कृत से ऐसा अनभिज्ञ हूँ कि साधारण और प्रचलित तथा भावोद्बोधक और सुन्दर शब्दों का उपयोग न कर सकूँ और न मैं इतनी संस्कृत जानता हूँ कि ऐसे बड़े-बड़े शब्दों को लाकर रख दूँ कि उनका अर्थ देखने के लिए कोश उठाना पड़े। मुझे एक बात पर बड़ा सन्तोष है कि आज तक मुझसे किसी ने यह नहीं कहा कि तुम्हारी कविता मेरी समझ में नहीं आती। कविता की भाषा के सम्बन्ध में मेरी सम्मति यह है कि उसे भाषा छोड़कर भाव बन जाना चाहिए। यदि मैं कोई कविता पढ़ूँ और सुननेवाला उसे सुनकर भावों में न परिवर्तित कर सके, यहाँ तक कि भाव उसके मुख पर, उसकी आँखों में, उसकी मुद्रा से बिम्बित न होने लगें तो मैं समझता हूँ कि भाषा ने अपना कार्य ठीक नहीं किया। यही प्रतिक्रिया मैं पाठक में भी चाहूँगा।

अभी तक अपने कवि-जीवन में मैंने मुक्तक ही लिखे हैं। मेरे मित्र प्रायः मुझसे कहते हैं कि तुम्हें कोई प्रबन्ध-काव्य लिखना चाहिए। मेरे जीवन की कुछ सीमाएँ हैं। केवल कविता लिखकर कोई आज भी इतना नहीं अर्जित कर सकता कि आराम न सही तो सुविधा का जीवन व्यतीत कर सके। सृजन के लिए भी कुछ सुविधा चाहिए ही। इस कारण मैं केवल कवि ही नहीं हूँ। मुझे युनिवर्सिटी में अध्यापक का कार्य भी करना पड़ता है। प्रबन्ध-काव्य लिखने के लिए समय का बन्धन नहीं चाहिए। यह नहीं हो सकता कि 8 बजे से 10 बजे तक लिखो और जब घण्टा बजे तब युनिवर्सिटी को भागो और जब लौटो, फिर लिखना आरम्भ कर दो। गीतों को लिखने के लिए इतने लम्बे समय की आवश्यकता नहीं है। कोई भाव-विचार उठा; अगर घण्टे-दो घण्टे का समय भी मिल जाये तो गीत लिखा जा सकता है। प्रबन्ध-काव्य के लिए आग्रह किये जाने पर अक्सर मैं अपने मित्रों से कहता हूँ कि जब युनिवर्सिटी से रिटायर हूँगा तब मैं कोई प्रबन्ध-काव्य लिखूँगा। देखूँ मेरी आशा पूर्ण होती है या नहीं।

[1946]

मेरी कविता के सोपान

मुझे अपनी कविता के विषय में कहने या लिखने की आवश्यकता कभी प्रतीत नहीं हुई। मेरी सबसे पहली रचना 1932 में प्रकाशित हुई थी। अपनी पहली रचना, जिसकी भूमिका मैंने लिखी वह थी 'ख़ैयाम की मधुशाला', और वह भी उसके तीसरे संस्करण के लिए जो 1946 में प्रकाशित हुआ था। उसी समय के लगभग प्रकाशित 'हलाहल' की भूमिका भी मैंने लिखी, एक विशेष कारणवश, जो उसे पढ़कर जाना जा सकता है। उस समय तक मेरी लगभग बारह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं, पर किसी में मेरी ओर से कविताओं के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया। बाद की रचनाओं में भी मेरी ओर से नाम मात्र ही कुछ पंक्तियाँ हैं। इधर कुछ वर्षों से अपने पाठकों के अनुरोध पर अपनी नयी रचनाओं के साथ अथवा अपने प्रकाशक के आग्रह पर पुरानी रचनाओं के नये संस्करणों के साथ मैं अपनी कविताओं के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से बोलने लगा हूँ। शायद इसी से प्रेरित होकर एक

नयी पत्रिका के सम्पादक श्री रामावतार त्यागी ने यह इच्छा प्रकट की है कि मैं उपर्युक्त शीर्षक से अपनी कविता के विकास के सम्बन्ध में कुछ कहूँ।

इस प्रकार मेरे और मेरे पाठकों के बीच केवल मेरी कविता रही है। इसे मैं सर्वथा उचित और स्वस्थ भी समझता हूँ। साधारण पाठकों में किसी कवि की रचनाओं को पढ़ने में किसी विशेष क्रम का आग्रह नहीं होता। वैसे यदि किसी कवि की रचनाओं को रचना-क्रम में पढ़ा जाय तो उसके उत्तरोत्तर विकास अथवा प्रगति का आभास मिलना स्वाभाविक है। मेरी ये पंक्तियाँ सम्भवत: उन लोगों को कुछ सहायक सिद्ध हो सकेंगी जो इस प्रकार मेरी रचनाओं को पढ़ना चाहेंगे।

कविता लिखना मैंने लड़कपन से ही शुरू कर दिया था। अपने प्रारम्भिक प्रयास और अभ्यास के विषय में विस्तार से कहने का प्रयत्न मैं फिर कभी करूँगा। लगभग 1930 से जो मैंने लिखा है वह पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है। मेरी प्रारम्भिक रचनाएँ तीन भागों में प्रकाशित हुई हैं। दो भाग में कविताएँ हैं; तीसरे भाग में कहानियाँ हैं। शुरू-शुरू में मैं स्वयं निर्णय नहीं कर सका था कि मैं कहानी-लेखक बनूँ या कवि या दोनों। आगे चलकर मैं कविताओं के द्वारा ही अपने भाव-विचारों को व्यक्त करने लगा और कहानी लिखना छूट गया। बीच में 'निशा निमन्त्रण' के लिए मैंने एक कहानी लिखी। मेरे कुछ पाठकों का ऐसा विचार है कि मेरा कहानी लेखक मरा नहीं, कविताओं में समाहित हो गया। युनिवर्सिटी के नाते मेरे शिष्य और उदीयमान कहानी लेखक श्री सत्येन्द्र शरत का कहना है कि उन्हें मेरी बहुत-सी कविताओं के पीछे कोई न कोई कहानी मिलती है। शायद ऐसा हो। इसकी व्याख्या की प्रत्याशा उनसे ही की जानी चाहिए। किसी भी लेखक की रचनाओं में प्रारम्भिक कृतियों का एक विशेष महत्त्व होता है। लेखक कहाँ से आरम्भ करता है, किन विषयों की ओर उसका ध्यान जाता है, उनकी ओर उसकी प्रतिक्रिया किस प्रकार की होती है, वह अपने कथ्य और कथन में सामंजस्य लाने में कहाँ तक सफल अथवा असफल होता है। एक तरह से उसकी आगे की रचनाओं की सम्भावनाएँ बीज रूप में यहाँ वर्तमान रहती हैं। इसे देख सकने के लिए पैनी दृष्टि की आवश्यकता होती है। साधारण पाठक, इनमें विशेष आनन्द का अनुभव न कर, अगर इनकी ओर से उदासीन रहे तो मुझे कोई शिकायत न होगी। विधिवत अध्ययन करनेवाले के लिए इनकी उपेक्षा करना ठीक न होगा।

मेरे काव्य जीवन में 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद एक विशेष स्थान रखता है। उमर ख़ैयाम ने रूप-रंग-रस की एक नयी दुनिया ही मेरे आगे नहीं उपस्थित की; उसने भावना, विचार और कल्पना के सर्वथा नये आयाम मेरे लिए खोल दिये। उसने जगत, नियति और प्रकृति के सामने लाकर मुझे अकेला खड़ा कर दिया। ख़ैयाम के प्रति लिखते हुए मैंने स्वीकार किया है :

> "तुम्हारी मदिरा से अभिषिक्त हुए थे जिस दिन मेरे प्राण,
> उसी दिन मेरे मुख की बात हुई थी अन्तरतम की तान।"
>
> —**आरती और अंगारे**

मेरी बात मेरी तान में बदल गयी। अभी तक मैं लिख रहा था, अब गाने लगा। अभी तक भावों को भाषा दे रहा था, अब भाव और भाषा एक होकर मेरे कण्ठ से फूटने लगे। याद नहीं पड़ता कि इसके बाद कभी मैंने पंक्तियों की मात्राएँ गिनीं।

ख़ैयाम से जो प्रतीक मुझे मिले थे, उनसे अपने को व्यक्त करने में मुझे बड़ी सहायता मिली। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' लिखते हुए वाणी के जिस उल्लास

का अनुभव मैंने किया वह अभूतपूर्व था। शायद इतने उल्लास का अनुभव मैंने बाद में कभी नहीं किया।

पर बरसात की मदमाती नदी के मार्ग में धीरे-धीरे रुकावटें आने लगीं। अपनी गति से बहना कठिन था, औरों से उलझने की भी ज़रूरत पड़ी। जीवन ने भी मोड़ लिया। सपने धुँधले पड़ने लगे, सत्य ने विकराल रूप-धारण करना आरम्भ किया। 'मधुकलश' की कविताएँ उस समय लिखी गयीं जब एक ओर मेरे सपने टूटे पड़े थे, मेरी पत्नी मृत्यु-शय्या पर पड़ी थी और दूसरी ओर 'मधुशाला' और 'मधुबाला' की कविताओं को लेकर कुछ लोग मुझ पर कीचड़ उछाल रहे थे। मालाएँ देनेवाले भी कम न थे, पर वे चुपचाप देते थे और कीचड़ पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों पर फैलकर दूर-दूर तक कलंकित कर रहा था। जवानी थी, कोई ईंट उठाये तो उस पर पत्थर नहीं, वज्र फेंकने को तबीयत करती थी। 'मधुकलश' की कविताओं से मैंने अपने विरोधियों को उत्तर दिया। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के साथ जो आलम मेरे साथ चला था उसे 'मधुकलश' की कविताओं में भी आवाज़ मिली :

"वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी
मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधू समझता।"

लोगों को पता लगा कि यह कोई कुम्हड़ बतिया नहीं है। पर भाग्य के आघात से मैं न बच सका। प्रेम की दुनिया धोखा दे गयी, पत्नी का देहावसान हो गया; जीवन विश्रृंखल हो गया; साल भर के लिए लिखना बिल्कुल बन्द रहा। फिर मेरी वेदना, मेरी निराशा, मेरा एकाकीपन 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' के लघु-लघु गीतों में मुखरित हुआ। पर अवसाद के इन तमाम गीतों में एक स्वर ऐसा भी है जो पराजित होने को तैयार नहीं है। इसे केवल मेरे सुहृदय पाठकों ने ही पहचाना है, समालोचकों को इनमें विषाद, अन्धकार और उदासी ही दिखायी पड़ी है।

तम से ज्योति की ओर जाने की कामना ही सतरंगिनी में विजयिनी हुई है :

"जो बीत गयी सो बात गयी"
"है अँधेरी रात पर दीवा जलाना, कब मना है"
"नीड़ का निर्माण फिर-फिर"

'मिलन यामिनी', 'प्रणय पत्रिका', 'आरती और अंगारे' प्यार, जवानी, जीवन के प्रति, उल्लास की तरंगों और अवसाद की लपटों में परीक्षित आस्था का राग है।

उमर खैयाम ने जिन प्रश्नों की ओर मुझे सचेत किया था और जीवन ने जो प्रश्न मेरे सामने खड़े किये थे उनका हल इन कविताओं के द्वारा मैंने खोजा भी है और पाया भी है।

मनुष्य को चेतना का छोटा-सा केन्द्र बनाकर एक अद्भुत, अज्ञात और विराट के सामने खड़ा कर दिया जाता है। इससे वह घबराये, इसको जानने और इसके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करे, यह स्वाभाविक है। पर उसका छोटा-सा स्थूल शरीर और जीवन बड़े भारी समाज, देश और बड़ी-सी दुनिया का भी अंग है, इसे वह कैसे भूले। यह किसी सचेत प्राणी को अपनी ओर आकर्षित कर अपनी समस्याओं से न उलझाये, यह अस्वाभाविक है। मैं अपनी कविता की मूल धारा आन्तरिक चेतना की गहराइयों में बहता देखता हूँ, पर वह धार के दोनों तटों पर भी कभी-कभी फैल जाती है—'धार के इधर-उधर', 'बंगाल का काल', 'सूत की माला', 'खादी के फूल', 'बुद्ध और नाचघर' इसके प्रमाण हैं।

पिछले तीन वर्षों में जहाँ एक ओर मैंने शेक्सपियर के दो नाटकों का अनुवाद किया है वहाँ दूसरी ओर मैंने गीता का अनुवाद किया है। बहुत से लोगों को मेरी रचना की इन दिशाओं ने कुछ अचरज में डाल दिया है। मैंने इन्हें यों समझा है, शायद मेरी आन्तरिक चेतना अब विश्वास का आधार चाहती है और मेरी जिज्ञासा अन्तर्द्वन्दों से मुक्त, बहिर्मुखी होकर औरों के अन्तर्द्वन्दों का विश्लेषण करना चाहती है। भविष्य में शायद नाटक अथवा कथा-काव्य लिखने की ओर मेरी रुचि हो।

[1959]

मैं और मेरी 'मधुशाला'

[रेडियो वार्ता]

आज मुझसे कहा गया है कि मैं आपको 'मधुशाला' के बारे में कुछ बताऊँ। अपनी रचनाओं के बारे में कुछ कहने या लिखने में मुझे शुरू से संकोच रहा है। मैंने हमेशा यह माना है कि ख़ास चीज़ है मेरी रचना; उससे ज़्यादा ख़ास चीज़ है मुझे सुननेवालों या मेरी पुस्तकों को पढ़नेवालों की प्रतिक्रिया, उनका आनन्द या उन पर जो असर पड़ता है। काव्य के ज़्यादातर प्रेमी रचना का रस लेते हैं; वे इन बातों को जानने के लिए उत्सुक नहीं होते कि, फलाँ रचना कब लिखी गयी, कहाँ लिखी गयी, कैसे लिखी गयी या यह भी कि किसने लिखी; उसका अनुभव क्या है, शिक्षा क्या है, योग्यता क्या है। या यह कि उसकी रचना या उसके बारे में लोग क्या कहते या लिखते हैं। पर इस तरह की जिज्ञासा भी थोड़े-से लोगों में होती है और इसी की तृप्ति के लिए किताबों के ऊपर किताबें लिखी जाती हैं, किताबों के ऊपर लिखी किताबों पर लेख लिखे जाते हैं, किताबें भी लिखी जाती हैं। आज मैं जो बातें कहने जा रहा हूँ, वह शायद ऐसे ही कौतूहल को शान्त करने के लिए। 'मधुशाला' के बारे में इनसे आपकी जानकारी कुछ बढ़ जाय, यह और बात है, पर 'मधुशाला' की कविता से जो रस या आनन्द आपको मिलता रहा है, उसमें इस ज्ञान से कुछ भी अभिवृद्धि हो सकेगी, यह बात मैं नहीं मानता। आनन्द देने का काम तो 'मधुशाला' की कविता को करना है—अकेले करना है—'संग सहाय न दूजा'। पता नहीं आपका अनुभव क्या है, पर मेरे और मेरी प्रिय कविता के बीच में जो आते हैं, उन्हें मैं दाल-भात में मूसरचन्द ही समझता हूँ।

'मधुशाला' का प्रथम संस्करण सन् 1935 में छपा था। दस संस्करणों तक प्रायः उसका पुनर्मुद्रण ही होता रहा है। 11वाँ संस्करण मेरे केम्ब्रिज से लौटने के बाद हुआ। वहाँ डब्ल्यू. बी. ईट्स की कविताओं पर अनुसन्धान करते हुए मेरी कुछ धारणाएँ बदल गयीं। ईट्स अपनी रचनाओं के प्रायः हर नये संस्करण में कुछ-न-कुछ संशोधन कर दिया करते थे। उनका कहना था कि अपनी चीज़ों को जीवनपर्यन्त सुधारते-सँवारते रहना कलाकार का अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है। जब मैं किसी पंक्ति को, बरसों के अनुभव और ज्ञान के बाद ही सही, अधिक सुन्दर रूप में रख सकता हूँ तो क्यों न रक्खूँ? अपने ही लिखे हुए को मैं पत्थर की लकीर क्यों समझूँ? संशोधन सर्वदा रचना को ज़्यादा अच्छी बना देता है, यह कहना कठिन है। ईट्स के संशोधनों से उनकी कविताएँ अधिक सुन्दर हुई हैं। उन्होंने तो अपने पूर्व लिखित गद्य को भी सुधारा है, जिससे उसमें अधिक सुघरता

और स्पष्टता आयी है। दूसरी ओर फ़िट्ज़जेरल्ड ज्यों-ज्यों रुबाइयात उमर ख़ैयाम के अपने अनुवादक को सुधारते गये त्यों-त्यों वह ख़राब होता गया। उसके प्रथम संस्करण को ही लोग सबसे अच्छा समझते हैं। मधुशाला के ग्यारहवें संस्करण में मैंने भी यह ख़तरे का काम कर डाला है। यानी मधुशाला को मैंने जहाँ-तहाँ संशोधित कर दिया है। अच्छे के लिए या बुरे के लिए यह तो मेरे पाठक ही बतायेंगे। मैंने अच्छे के लिए ही परिवर्तन किये हैं। अपने इरादे को साबित करने के लिए एक उदाहरण दे दूँ। 'मधुशाला' की 112वीं रुबाई इस प्रकार थी :

कितनी जल्दी रंग बदलती है अपना फेनिल हाला;
कितनी जल्दी घिसने लगता हाथों में आकर प्याला,
कितनी जल्दी साक़ी का आकर्षण घटने लगता है;
हाय, दूसरे ही दिन पहले सी न गयी रह मधुशाला।

इसमें, प्रथम पंक्ति में मैंने 'फेनिल हाला' के बजाय 'चंचल हाला' कर दिया है। ध्यान यह आया कि अगर हाला के ऊपर फेन है तो हाला के रंग के परिवर्तन को वह एक प्रकार से छिपायेगा। परिवर्तन इतना स्पष्ट नहीं होगा। जैसे घूँघट के भीतर ही भीतर किसी बाला का रूप ढलता जाये और पता न लगे। परिवर्तन से भिज्ञ होने को घूँघट उठाना पड़ेगा, फेन हटाना पड़ेगा। चंचल के लिए रंग बदलना स्वाभाविक है। पंक्ति यों हो गयी :

कितनी जल्दी रंग बदलती है अपना चंचल हाला।

'जल्दी', 'रंग बदलती' के साथ 'चंचल' का ध्वनि साम्य भी अधिक कर्णप्रिय है। विशेष परिवर्तन मैंने किया है अन्तिम पंक्ति में। पहले वह थी :

हाय, दूसरे ही दिन पहले सी न गयी रह मधुशाला।

अब उसे मैंने कर दिया है :

प्रात नहीं थी वैसी जैसी रात लगी थी मधुशाला।

'हाय-हूय' करके वेदना व्यक्त करना अब मुझे कुछ बाज़ारू-सा लगने लगा है, सस्तापन भी। कला, कहने की कला होने के पहले, न कहने की कला है। कलाकार को जानना चाहिए कि उसे क्या न कहना चाहिए! भावातिरेक से भाव-संयमन पाठक या श्रोता की संवेदना जगाने का अधिक कलापूर्ण साधन है। मेरा बस चले तो भावातिरेक के सबसे भोंडे रूप में आये हुए 'हाय' को मैं अपनी कविता से ही नहीं, हिन्दी की सारी कविताओं से निकाल दूँ। 'हाय' कहीं अनिवार्य रूप से भी आ सकता है। बहरहाल यहाँ का 'हाय' तो मुझे निकालने योग्य ही मालूम हुआ। फिर 'दिन' और 'दिन' की तुलना में 'प्रात' और 'रात' की तुलना अधिक स्पष्ट, अर्थपूर्ण और मार्मिक लगी। शब्द योजना ऐसी बन गयी कि पंक्ति का पूर्वार्द्ध उसके उत्तरार्द्ध से जैसे सन्तुलित हो गया। 'प्रात' और 'रात' का अन्तर 'दिन', 'दिन' के अन्तर से कम है। परिवर्तन कितनी जल्दी हो जाता है! फिर रात के धुँधले, स्वप्निल वातावरण में देखी हुई सुषमा प्रभात की तीखी ज्योति में कितनी विवर्ण, निस्तेज और फीकी लगती है! क्या मैं विश्वास कर लूँ कि आपको भी

हाय, दूसरे ही दिन पहले सी न गयी रह मधुशाला।

से

प्रात नहीं थी वैसी जैसी रात लगी थी मधुशाला।

ज्यादा अच्छी लगती है?

'मधुशाला' के नये संस्करण में मैंने चार रुबाइयाँ और जोड़ दी हैं। ये परिशिष्ट में दी गयी हैं। जिन-जिन प्रसंगों में मैंने नयी रुबाइयाँ लिखीं उनकी भी चर्चा

मैंने की है। नयी रुबाइयों में से एक तो आपको सुना ही दूँ। यह 'मधुशाला' की लोकप्रियता पर है। 'मधुशाला' से लोग अब भी काव्यानन्द लेते हैं। ध्यान आया, ऐसा हो तो ताज्जुब नहीं शराब तो जैसे-जैसे पुरानी होती है वैसे-वैसे उसका नशा बढ़ता जाता है। रुबाई लिखी :

"बहुतों के सिर चार दिनों तक चढ़कर उतर गयी हाला,
बहुतों के हाथों में दो दिन छलक, झलक रीता प्याला;
पर बढ़ती तासीर सुरा की साथ समय के, इससे ही
और पुरानी होकर मेरी और नशीली मधुशाला।"

नये संस्करण में पहली बार एक भूमिका भी लिखी, जिसमें मैंने भूमिकाओं की निरर्थकता बतलायी। किसी भी बात को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तरीके से कहने की कला का नाम कविता है। जो बात मैं अपनी कविता से नहीं कह पाऊँगा, वह मैं अपनी भूमिका से क्या कहूँगा; ···तेईस वर्षों में जो चीज़ लोग 'मधुशाला' में अपने आप नहीं देख सके, वह मेरी भूमिका से क्या देखेंगे।

'मधुशाला' का आकर्षण दूर-दूर तक अनुभव किया गया। किसी सज्जन ने उसका मराठी अनुवाद करके मेरे पास भेजा। मराठी न जानने से मैं उसका उचित मूल्यांकन न कर सका। पाण्डुलिपि मेरे पास रक्खी है। जहाँ तक मुझे मालूम है छपी नहीं। मेरे 'बंगाल का काल' के अनुवादक श्री भूपेन्द्रनाथ दास ने 'मधुशाला' की बहुत-सी रुबाइयों का अनुवाद बंगला में किया है। कुछ उन्होंने मेरे पास लिख भेजा है, कुछ मैं उनके मुख से सुन चुका हूँ। वह भी अभी अप्रकाशित है। 'मधुशाला' का सर्वप्रथम सम्पूर्ण अनुवाद 1950 में अंग्रेज़ी में 'The House of Wine' के नाम से प्रकाशित हुआ। उसे ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी की विदुषी स्नातिका कुमारी मार्जरी बोल्टन ने श्री रामस्वरूप व्यास की मदद से तैयार किया था। खड़ीबोली हिन्दी कविता की यह सर्वप्रथम कृति थी जो अंग्रेज़ी में अनूदित हुई। अपनी कविता के अनुवाद के विषय में मैंने यह सिद्धान्त रक्खा है कि जब अन्य भाषा-भाषी स्वयं उसका अनुवाद करना चाहें तभी उनको इसके लिए अनुमति दी जाय। मैंने 'बंगाल का काल' के बंगला अनुवाद की अनुमति तब दी, जब एक बंगाली ने उसे करना चाहा। 'मधुशाला' के अंग्रेज़ी अनुवाद की अनुमति मैंने एक अंग्रेज़ महिला को दी। आजकल एक आन्ध्र निवासी उसका अनुवाद तेलगु में कर रहे हैं। मैं तो तेलगु जानता नहीं पर आकाशवाणी, हैदराबाद के प्रोड्यूसर श्री राममूर्ति रेणु की सम्मति में अनुवाद काफ़ी अच्छा है।

एक सज्जन ने 'मधुशाला' का अनुवाद 'उर्दू' में भी करके मेरे पास भेजा। नागरी अक्षरों में। उर्दू को मैं हिन्दी की ही एक शैली मानता हूँ। एक शैली को दूसरी शैली में रखकर उन्होंने मेरी रचना को बिगाड़ा ही था। इसके प्रकाशन की अनुमति मैंने नहीं दी। वे इसे नागरी लिपि में प्रकाशित करना चाहते थे!

'मधुशाला' लिखने की प्रेरणा मुझे फ़िट्ज़जेरल्ड के 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' से मिली। उसका अनुवाद भी मैंने किया। उमर ख़ैयाम की रुबाइयाँ तो आज से 6-7 सौ बरस पहले लिखी गयी थीं, पर फ़िट्ज़जेरल्ड ने उन्हें जिस रूप में अंग्रेज़ी में रक्खा उसमें वे आधुनिक युग के संघर्ष-सन्देहशील बुद्धिजीवियों की मनःस्थिति का दर्पण बन गयीं। रुबाइयात की विस्तृत विवेचना मैंने अपनी ख़ैयाम की मधुशाला की भूमिका में की है। 1930 के लगभग भारतवर्ष में भी कुछ ऐसी हवा बही कि केवल हिन्दी में ही 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' के आठ-दस अनुवाद हुए। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसी समय उमर ख़ैयाम के अनुवाद हुए। इस वातावरण

का विश्लेषण भी मैंने अपनी उक्त भूमिका में किया है। विचार और भावों को छोड़ भी दें तो फ़िट्ज़जेरल्ड की रुबाइयाँ अपने शब्द गुणों के कारण उच्च कोटि की कविता के अन्तर्गत मानी जायेंगी। 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का जो प्रभाव मुझ पर पड़ा उसे मैंने एक कविता में व्यक्त किया है। उसे सुनाने का समय नहीं है। कविता 'आरती और अंगारे' में है।

'मधुशाला' को 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुकरण मात्र कहना मैं पसन्द न करूँगा। उसमें 'कुछ अपनेपन' की चेतना का आभास मैंने प्रथम संस्करण के सम्बोधन में ही दे दिया था। जहाँ तक मुझे मालूम है किसी ने उमर ख़ैयाम और मेरे दृष्टिकोण में अन्तर देखने का प्रयत्न नहीं किया। अंग्रेज़ी अनुवाद (The House of Wine) की भूमिका में मेरे मित्र स्वर्गीय श्री ज्ञानप्रकाश जौहरी ने इस ओर कुछ संकेत किया है। उनका कहना है कि उमर ख़ैयाम में जीवन के प्रति वितृष्णा है और मुझमें जीवन के प्रति आसक्ति। इस विचार का एक विस्तृत अंग्रेज़ी लेख कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने बरेली कालेज मैगज़ीन में भी लिखा था।

यदि अनुवाद से मेरी भावनाएँ उमर ख़ैयाम से एकाकार हो जातीं तो शायद मैं 'मधुशाला' न लिखता। मुझे इस अन्तर पर कुछ कहना है। यदि मेरे पाठक चाहें तो उसे देखने का प्रयत्न करें।

उमर ख़ैयाम से जो मैंने ख़ास बात सीखी वह यह थी कि हाला, प्याला, और मधुशाला के प्रतीक बड़े व्यापक हैं और उन्हें केवल प्रेमानुभूति अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। उर्दू कविता से थोड़ा-बहुत परिचित होने के कारण मैं उन प्रतीकों के सीमित प्रयोग से अनभिज्ञ न था। इन प्रतीकों ने मुझे ऐसा अभिभूत कर लिया कि कई वर्षों तक मुझे यह लगा कि जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ सब इन्हीं प्रतीकों के द्वारा कह सकता हूँ। 'मधुशाला', 'मधुबाला', और 'मधुकलश' में प्रायः मैं इन्हीं प्रतीकों की ओर झुका रहा। इन कविताओं को 'हालावाद' के नाम से पुकारा गया। यह तो सतही बात की गयी। इनको प्रतीक-वादी कहा जाता तो अधिक वैज्ञानिक होता। मैंने इसकी महत्ता केवल इतनी मानी कि इस कविता को लोग छायावाद के गल्ले में न डाल सके। यह उससे कुछ अलग चीज़ थी; आज भी यह अपनी सत्ता अलग बनाये हुए है। शायद अभी तक इस बात की छानबीन होनी बाक़ी है कि वे कौन-से कारण हैं जिन्होंने इसे यह पृथकता और प्रमुखता दी है। मेरे पाठक और प्रेमी इस रहस्य को जानते हैं, इसका मुझे विश्वास है।

[1957]

मेरी रचना प्रक्रिया

[रेडियो वार्ता]

आपने यह कहावत किसी न किसी मौक़े पर ज़रूर सुनी होगी, 'आपको आम खाने से मतलब है कि पेड़ गिनने से ?'—मैंने कविताएँ लिखी हैं, छपाई हैं, सुनायी हैं; आप उन्हें पढ़-सुनकर उनसे किसी प्रकार का आनन्द प्राप्त करते रहे हैं और अब आपकी जिज्ञासा यह जानने की हुई है कि मैं कविता कैसे लिखता हूँ, कब लिखता हूँ, कहाँ लिखता हूँ, क्यों लिखता हूँ, आदि-आदि। यदि कविता का रस लेना आम

के रस लेने-जैसा ही होता तो मैं ऊपर की कहावत को दुहराकर आपका मुँह बन्द कर देता। पेड़ गिनने से आम के रस के स्वाद में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने को है, पर कविता के सम्बन्ध में यदि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाय या जान लिया जाय तो इसके रस में अन्तर आ जायेगा। इसी जिज्ञासा के आधार पर कविता का आस्वादन करनेवालों को दो दलों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो वह जो कविता से मिलनेवाले आनन्द पर ही सन्तुष्ट हो जाता है और फिर उसके विषय में कोई प्रश्न नहीं पूछता। दूसरा वह जिसमें हृदय के साथ मस्तिष्क, भावना के साथ बुद्धि भी सक्रिय होती है और वह कविता के विषय में इस प्रकार की जिज्ञासाएँ रखता है। यह वही प्रवृत्ति है जो विकसित होकर समालोचक को जन्म देती है। ज़ाहिर है कि केवल आनन्द लेनेवालों का दल बड़ा और समालोचकों का दल छोटा है। पर प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं है। लोग आम भी खाते हैं और पेड़ भी गिनते हैं। नहीं तो यह कहावत न बनती।

लेकिन पेड़ गिना देना जितना सरल काम है उतना यह बता देना नहीं कि रचना कैसे की जाती है। रचना यदि सच्चे अर्थों में रचना है, जिसमें रचनाकार का परिपूर्ण व्यक्तित्व तल्लीन है तो वह सृजनात्मक प्रक्रिया है। सृजन कैसे होता है, इसे जानना या बतलाना विश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। और यह सर्वमान्य धारणा है कि सृजन के क्षण में विश्लेषण और विश्लेषण के क्षण में सृजन नहीं हो सकता। रचना प्रक्रिया जानने की जिज्ञासा हो भी तो उसे सम्यक् रूप से शान्त करने के लिए कोई सर्जक समर्थ हो सकेगा, इसमें मुझे सन्देह है। केवल रचना के विश्लेषण से भी रचना-प्रक्रिया का अनुमान भर किया जा सकता है, ज्ञान नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि रचना प्रक्रिया का रहस्य पूरी तरह से नहीं खुल सकता, और इस रहस्य में किसी भी बड़ी रचना का सौन्दर्य निहित है।

मैं अपनी बहुत-सी रचनाओं के पीछे देखने का प्रयत्न करता हूँ तो मुझे लगता है कि उनका जन्म मेरे अनुभवों में हुआ है। जिन अनुभवों को मैंने किसी दिन अनोखा, अद्भुत, एकमात्र मेरा समझा था, अब मैं समझता हूँ कि उनमें कुछ भी ऐसा नहीं था। लेकिन उनकी प्रतिक्रिया अवश्य ही मेरे भावप्रवण मन में तीव्र, तीखी, बेचैन करनेवाली रही होगी, क्योंकि यदि वह ऐसी न होती तो मुझे उन्हें अभिव्यक्त करने, उन्हें रूपमय और रसमय बनाने को विवश न करती। मैंने अपने अनुभवों की परिधि व्यापक रक्खी है, मैंने उनके अन्दर कल्पना को भी जगह दी है। पर कोई कल्पना क्यों इतनी सजीव होती है कि वह अनुभवों से अधिक प्राणमयी लगती है, इसे बताना मनोवैज्ञानिकों का काम है। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि ऐसा होता है। अनुभवों की प्रतिक्रिया के समान कल्पना की प्रतिक्रिया भी असह्य होती है और अभिव्यक्ति में सुख का अनुभव होता है, एक तरह की राहत मिलती है।

जब पहली बार मेरी अनुभूति शब्दों में फूट पड़ी थी तब मैंने अवश्य अपने से यह प्रश्न किया था कि क्या मैं कवि हूँ ? कवि हूँ तो 'कविहिं अरथ आखर बल साँचा'—कवि हूँ तो मुझे शब्दों के माध्यम से अपने को व्यक्त करना होगा। इस कारण शब्दों के माध्यम पर मुझे अधिक-से-अधिक अधिकार प्राप्त करना चाहिए—साहित्य के स्वाध्याय से, काव्यपाठ से, काव्य के मर्म को समझने के प्रयत्न से। मैं हिन्दी, अंग्रेज़ी, थोड़ी संस्कृत और थोड़ी उर्दू जानता हूँ, बहुत थोड़ी बंगला भी, और उनके माध्यम से जो कुछ साहित्य, काव्य मुझे पढ़ने को मिला है, उसका मैंने अध्ययन किया है। अब भी समय मिलने पर पढ़ता रहता हूँ। मैं नवयुवक कवियों

को अक्सर सलाह देता हूँ कि सौ पेज पढ़ो तो एक पंक्ति लिखो। मेरे पढ़ने-लिखने का अनुपात लगाया जाय तो मैं पर-उपदेश कुशल ही नहीं सिद्ध हूँगा।

अनुभवों में डूब और अभिव्यक्ति के माध्यम पर यथासम्भव अधिकार प्राप्त करके मैंने अपने आपको प्रेरणा पर छोड़ दिया है। प्रेरणा के अस्तित्व को मैं मानता हूँ। किसी मन:स्थिति में, किसी परिस्थिति में, किसी घटना से, किसी हृदय से, किसी विचार से सर्जक की वह प्रवृत्ति सहसा जाग उठती है जो सृजन के लिए विवश करती है। इसको अंग्रेज़ी में 'अर्ज' कहते हैं। हिन्दी में उसके जोड़ का कोई अच्छा शब्द मुझे नहीं सूझ रहा है। 'धुन सवार होना' आप चाहें तो कह सकते हैं। प्रेरणा मिली हो और लिखने की 'अर्ज' भीतर से हुई हो तो मेरा ऐसा अनुभव है कि रचना अच्छी होती है। कवि को कभी-कभी बिना अन्तर्प्रेरणा के और बिना भीतरी 'अर्ज' के लिखना पड़ सकता है। शब्दों पर अधिकार होने के कारण वह कोई ऐसी रचना तो कर ही सकता है जो शुद्ध हो, साधारण दृष्टि से बुरी न हो। परन्तु अच्छी रचना में जो सर्वश्रेष्ठ होता है वह प्रयत्न से नहीं, प्रेरणा से आता है। वह उत्पादित नहीं किया जाता है, वह मिलता है, वह दिया जाता है। इसके लिए भी अंग्रेज़ी में एक बड़ा अच्छा शब्द है, वह 'रिवील्ड' होता है। उसके लिए जैसे कोई दिव्य दृष्टि दे देता है। यह अपनी शक्तियों-योग्यताओं के किसी रहस्यमय संघात से सम्भव होता है कि सर्वथैव किसी बाहरी शक्ति से, इसे निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। यदि कोई बाहरी शक्ति है, तो भी वह माध्यम अथवा क्षेत्र के अधिकारी होने का ध्यान रखती होगी, नहीं तो हमें अपनी अद्भुत प्रतिभा से चकित करनेवाले बहुत से लोग मिलते। बिना कागद-मसि छुए कितने कबीर हुए हैं?

किसी कवि के लिए आदर्श परिस्थिति तो यही हो सकती है कि जीवन और साहित्य के स्वाध्याय से परिपक्व होकर वह प्रेरणा की प्रतीक्षा करे और अपनी 'अर्ज' के अनुसार लिखने को स्वतन्त्र हो। मुझे दुर्भाग्यवश ऐसी परिस्थितियाँ सदा नहीं मिलीं। मैं शत-प्रतिशत कवि नहीं रह सका। मुझे अपने और अपने ऊपर निर्भर रहनेवालों के लिए जीविका के साधन जुटाने को प्राय: सदा ही कुछ ऐसा काम करना पड़ा है जो सृजन की पूरी स्वतन्त्रता नहीं देता। मुझे क्लास में पढ़ाते हुए भी प्रेरणा हुई है, कचहरियों के इजलास पर भी, परेड के मैदान में भी, सरकारी दफ्तरों की फ़ाइलों के बीच भी। और सदा मैंने उन्हें सँजोकर किसी सुविधाजनक समय पर उनका उपयोग करने का प्रयत्न किया है। कुछ प्रेरणाएँ क्षिप्रगामी विहंगों के समान भी थीं, वे मेरी मस्तिष्क की क्षीण तीलियों को तोड़कर निकल भी गयी हैं और मैं उन्हें फिर नहीं पकड़ पाया। कभी-कभी प्रेरणा पाने पर 'अर्ज' के साथ-साथ चलने का सुअवसर भी मुझे मिला है। कभी मैंने ऐसा भी अनुभव किया है कि रचना की सुविधाजनक परिस्थितियों की प्रतीक्षा करने के कारण प्रेरणा ने कुछ खोया नहीं, वह भीतर-ही-भीतर और परिपक्व हुई है। सदा प्रेरणा के क्षणों में रचना करने से रचना उत्तम ही हुई हो, ऐसा भी नहीं कह सकता। मन को शायद अधिक सन्तोष भले ही मिल जाता हो। समय पर न लिख सकने की असमर्थता से वैसे बड़ी कोफ़्त होती है। पर मन के सन्तोष अथवा कोफ़्त से रचना के अच्छी-बुरी होने का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं मान सकता।

रचना करते समय भाव-विचारों की अभिव्यक्ति ही मेरा मुख्य ध्येय होता है। शब्दों अथवा अभिव्यंजना के नये प्रयोगों के लिए कुछ लिखना मुझे अस्वाभाविक लगता है। जीवन के प्रयोग की अवस्था चल रही हो तो अभिव्यक्ति का प्रयोग स्वाभाविक हो सकता है। किस रचना के लिए मैं किस प्रकार का छन्द, किस

प्रकार की शैली, किस प्रकार के रूपक का उपयोग करूँ ?—इसे मैं पहले से नहीं सोच पाता। यह सव मैं अभिव्यंजना के लिए व्याकुल होनेवाले अनुभवों पर छोड़ देता हूँ। एक उदाहरण है—मैंने लगभग 1930 से लिखना शुरू किया था और लगभग बारह वर्ष तक तुकान्त छन्दों में ही लिखता गया। 1942 में बंगाल के अकाल के प्रति मेरे मन में जो प्रतिक्रिया हुई, वह सहसा छन्दों का बाँध तोड़ मुक्त छन्द में प्रवहमान हुई। मैं समझता हूँ कि यदि मैं 'बंगाल का काल' छन्दमय भाषा में लिखता तो वह शायद इतनी सबल रचना न होती। अट्ठाईस बरस तक खड़ी वोली में लिखने के पश्चात् और उसमें यत्किंचित अधिकार प्राप्त करने पर भी जव मेरे मन में 'गीता' का अनुवाद करने की प्रेरणा हुई तो मैंने उसे अवधी में किया। मेरा विश्वास तो यही है कि 'गीता' की आध्यात्मिकता, दार्शनिकता, गरिमा उसी भाषा और शैली में अपनी कुछ झलक दे सकती थी जिसमें 'रामचरित-मानस' लिखा गया था। इन बातों में कवि की प्रेरणा कहाँ तक सच्ची थी इसे समय ही बता सकता है।

संक्षेप में मेरी रचना की प्रक्रिया, जहाँ तक मैं अपने को समझ सकता हूँ, यही है। रचना प्रक्रिया कोई रूढ़ि नहीं। कोई किसी की वतायी प्रक्रिया का अनुसरण कर लेखक अथवा कवि बनना चाहे तो उसे कठिनता ही होगी। सच तो यह है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार हर लेखक को अपनी प्रक्रिया स्वयं बनानी पड़ती है। मस्तिष्क की साधारण प्रक्रियाएँ भी बड़ी रहस्यमय हैं। मनोवैज्ञानिक अभी उसका क-ख-ग भर जान पाये हैं। सृजन की प्रक्रिया का फिर क्या कहना, जिसमें अपना ही नहीं, जन-मानस, युग-मानस, परम्परागत मानस एक साथ काम करते हैं। इन सबको एक साथ जगा, एक ध्येय पर लगा, एक परिपूर्ण कृति में कैसे परिणत किया जाय, बड़ी पेचीदी और कठिन समस्या है। पर आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि एक बड़े कवि ने उसे बड़ी आसानी से हल कर लिया था। उसकी प्रेरणा सड़े सेबों की दुर्गन्ध से जागती थी। वह अपनी मेज़ की दराज़ सेबों से भरी रखता था और उनको खोलते ही उसकी सारी सृजन-शक्ति सजग और सक्रिय हो उठती थी !

[1960]

अनुवाद की समस्या

विज्ञान की उन्नति का एक सद् परिणाम यह हुआ है कि दुनिया के दूर-दूर के लोग निकट आते जा रहे हैं। पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए भाषा की एकता सबसे बड़ा साधन है और भाषा की विभिन्नता सबसे बड़ी बाधा। दुभाषिए सहायक हो सकते हैं।

संसार की भौगोलिक निकटता प्राप्त कर लेने पर बौद्धिक और मानसिक एकता भी स्थापित करने की आवश्यकता होती है। संसार के एक भूभाग में जो ज्ञान अर्जित किया गया है उसे दूसरे भाग के लिए सुलभ करने के लिए अनुवादों की सहायता लेनी पड़ती है। पर इससे भी बड़ी आवश्यकता है कि संसार के लोग जब निकट आ गये हैं तो वे एक-दूसरे की आत्मा को भी समझें। यदि किसी देश अथवा जाति की आत्मा उनके साहित्य-काव्य में नहीं तो और कहाँ मिलेगी ? अंग्रेज़

को समझना है तो शेक्सपियर को समझना होगा। भारतीय को समझना है तो तुलसीदास को समझना होगा। इस प्रकार एक भाषा के साहित्यिक ग्रन्थों का दूसरी भाषा में अनुवाद करना ज़रूरी है।

संसार के सबसे प्राचीन अनुवादक शायद बौद्ध भिक्षु रहे हैं। पर उनका लक्ष्य था—धर्म-प्रचार। ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों का अनुवाद करने में शायद अरब के मुसलमानों को सबसे ऊँचा स्थान मिलेगा। आधुनिक संसार में अनुवादों के प्रति जितनी रुचि अंग्रेज़ों ने दिखलायी, शायद किसी अन्य जाति ने नहीं। हो सकता है कि अंग्रेज़ अपना विश्वव्यापी राज्य फैलाने के लिए सारे संसार के लोगों को जानना चाहते थे और इस कारण उन्होंने विश्व के सारे प्रसिद्ध साहित्य का अनुवाद अपनी भाषा में कर लिया है। पर इस सत्य से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि जिस जाति का अनुवाद-साहित्य जितना विपुल है, उनके पास संसार को समझने के उतने ही विपुल साधन हैं। इसके अलावा इन अनुवादों ने अंग्रेज़ी भाषा की क्षमता में कितनी वृद्धि की है!

अनुवाद की महत्ता और आवश्यकता स्वीकार कर लेने पर उसकी कठिनता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। धर्म और विज्ञान के ग्रन्थों का अनुवाद करना अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि उनमें भाषा वस्तुतथ्य का परिधान मात्र है; जब हम साहित्यिक ग्रन्थों के अनुवाद की बात सोचते हैं तब भाव और विचार और भाषा को अलग करके नहीं देख सकते। यहाँ भाव-विचारों का सम्बन्ध शरीर और वस्त्र का नहीं, बल्कि शरीर के मांस और त्वचा का है। और चूँकि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता, इस कारण कुछ लोग ऐसा सोचते हैं, और उनकी धारणा में कुछ सच्चाई भी है कि एक भाषा की साहित्यिक रचना का अनुवाद दूसरी भाषा में नहीं हो सकता। फिर भी अनेक साहित्यिक रचनाओं के अनुवाद हुए हैं और कई अनुवाद तो ऐसे हुए हैं कि उन्होंने मूल की बराबरी की है। फ़िट्ज़जेरल्ड के 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' के अनुवाद के विषय में यह बात अनेक पारखियों और विद्वानों ने कही है कि वह मूल से भी अच्छा है। कैरी ने जब इटालवी कवि दान्ते की 'डिवाइन कमीडी' का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया तब विद्वानों ने कहा कि कैरी ने दान्ते को अंग्रेज़ बना दिया है। अनुवाद की सफलता की इससे अधिक प्रशंसा नहीं हो सकती।

सफल अनुवादक के लिए यह आवश्यक है कि वह जिस भाषा से अनुवाद करे और जिस भाषा में करे, दोनों पर उसका समान अधिकार हो। साहित्यिक ख्याति के ग्रन्थों के लिए यह और भी आवश्यक है कि उसके साथ अनुवादक का रागात्मक सम्बन्ध हो। फ़िट्जजेरल्ड ने जब ख़ैयाम का अनुवाद किया तब वे संयोगवश रुबाइयों की भावना में भीगे हुए थे। इस पर मैंने अपनी 'ख़ैयाम की मधुशाला' में विस्तार से प्रकाश डाला है।

यूनानी विद्वानों ने कला के सम्बन्ध में जो सबसे बड़ी बात कही थी, वह यह थी कि कला को कला नहीं प्रतीत होना चाहिए। उसे स्वाभाविक लगना चाहिए। इसी प्रकार अनुवाद को अनुवाद नहीं लगना चाहिए, उसे मौलिक लगना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब सृजन में शब्द के स्थान को सूक्ष्मता से समझ लिया जाये। शब्द के स्थूल रूप और उसके कोश-पर्याय को अन्तिम सत्य मान लेनेवाला सफल अनुवादक नहीं हो सकता। ऊपर कही गयी मांस और त्वचा की बात हम न भूलें तो भी शब्द साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य तो वह भावना या विचार है, जो उसके पीछे है।

इसको मैं एक तरह की उलटबाँसी में रखना चाहता हूँ कि प्रत्येक मौलिक

रचना अनुवाद होती है, अनुभूतियों, भाव-विचारों का अनुवाद शब्दों में। जब अनुवादक शब्दों के आवरण को भेदकर सूक्ष्म भावनाओं के स्तर पर पहुँचता है और वहाँ से अपनी भाषा में अभिव्यक्त होने का प्रयत्न करता है तब अनुवाद मौलिक लगता है। यह गिरा-अर्थ, जल-वीचि को अलग करना है, पर अनुवाद को सरल काम किसने समझ रक्खा है?

[1960]

कवि-सम्मेलनों के कुछ कड़ुए-मीठे अनुभव

[रेडियो वार्ता]

आज आपको कवि-सम्मेलनों के कुछ अनुभव सुनाने जा रहा हूँ। मैंने प्राय: 1932-33 से कवि-सम्मेलनों में भाग लेना शुरू किया। इन पचीस वर्षों में छोटे-बड़े मिलाकर कोई 500 कवि-सम्मेलनों में तो भाग ले चुका हूँगा और इनमें तरह-तरह के अनुभव हुए हैं; सुखद, दुखद, मनोरंजक और विचित्र भी। कुछ आपके सामने रख रहा हूँ।

शायद आप यह जानना चाहेंगे कि सबसे पहला कवि-सम्मेलन कौन था जिसमें मैंने भाग लिया। सन् 1930 और 32 के बीच किसी समय प्रान्तीय कांग्रेस के अधिवेशन पर कानपुर में एक कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उस समय तक मेरी रचनाएँ न पत्रों में प्रकाशित हुई थीं और न पुस्तक रूप में। मुझे निमन्त्रित कोई क्यों करता। मेरे एक पड़ोसी, जो उन दिनों कुछ पद्य-रचना करते थे, निमन्त्रित किये गये थे या उन्होंने मुझ पर ऐसा जताया। मैं भी उन्हीं के साथ चला गया था। शायद उन्हीं के कहने से मुझे भी कविता पढ़ने को समय दिया गया था। मैंने 'झण्डा' शीर्षक रचना सुनायी थी, जो अब 'प्रारम्भिक रचनाएँ' प्रथम भाग में संगृहीत है। उन दिनों के राष्ट्रीय वातावरण में मेरी यह छोटी-सी तुकबन्दी भी फब गयी थी। कविता सुनाते समय मेरे पाँव काँप रहे थे और मुझे लग रहा था कि सम्मेलन में बैठी जनता मेरे चारों ओर घूम रही है। मित्र ने बताया कि मेरी आँखें आसमान देख रही थीं, मेरा चेहरा लाल हो गया था और माथे पर पसीने की बूँदें झलक आयी थीं। सनेहीजी सभापति के आसन पर थे। कविता सुनाकर बैठा तो उन्होंने अपने पास बुलाया और मेरी पीठ थपथपायी। इतनी बड़ी जनता के सामने कविता सुनाने का यह मेरा पहला अवसर था और इस कठिन परीक्षा में जो यत्किंचित सफलता मुझे मिली, उससे मैं बड़ा आत्मविश्वास लेकर प्रयाग लौटा।

दिसम्बर, 1933 में मेरी 'मधुशाला' की कुछ रुबाइयाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। उसी मास काशी विश्वविद्यालय में कवि-सम्मेलन होनेवाला था। वहाँ के तीन विद्यार्थी इण्डियन प्रेस से मेरा पता पूछते हुए मेरे घर आये। मुझे देखकर वे कुछ निराश हुए। वे तो किसी नये उमर ख़ैयाम की कल्पना करते हुए मेरे पास आये थे और मैं था कि ट्यूशन पढ़ाकर लौटा था।

काशी विश्वविद्यालय का कवि-सम्मेलन शिवाजी हाल में हुआ था। सभापति का आसन प्रो. मनोरंजन ग्रहण कर रहे थे। विद्यार्थियों में कवि-सम्मेलन के प्रति उन दिनों कोई विशेष आकर्षण नहीं था। उपस्थिति साधारण थी। यहाँ मैंने पहली

बार 'मधुशाला' सुनायी और विद्यार्थियों ने जिस रसिकता, उमंग और उत्साह से उसे सुना, उसका वर्णन मेरे मुँह से अच्छा न लगेगा। श्री नरेन्द्र शर्मा और श्री वीरेश्वरसिंह (आजकल वकील, बाँदा) ने भी उस सम्मेलन में भाग लिया था। दूसरे दिन 'मधुशाला' सुनने को फिर एक सभा बुलायी गयी और पहले दिन से दस गुने विद्यार्थी जमकर बैठे। मैंने पूरी 'मधुशाला' सुनायी और एक-एक रुबाई, दो-दो, तीन-तीन बार। प्रो. मनोरंजन ने दस-पन्द्रह रुबाइयों की पैरोडी कर डाली, सुनकर मुझे जो क्रोध आया, वह मैं कह नहीं सकता। उस समय मुझमें 'सेन्स आव ह्यूमर' अर्थात् विनोद-वृत्ति विकसित नहीं हुई थी। आज उस क्रोध करने पर भी हँसी आती है।

कथा चल पड़ी कि बच्चन बड़ा पियक्कड़ है। मैंने इसे अपनी कविता की सफलता माना। उत्तरप्रदेश के एक नगर से कवि-सम्मेलन का निमन्त्रण आया। मैं पहुँचा तो मुझे बताया गया कि मुझे पीने की पूर्ण सुविधा देने के लिए मेरे रहने का इन्तज़ाम एक रईस की कोठी पर कर दिया गया है। मैंने कहा, "मैं तो पीता नहीं।" उन्होंने नये स्थान में इसे मेरा संकोच समझा। रईस ने अपनी पूरी आलमारी खोल दी, और तरह-तरह की शराब दिखायी, "बच्चनजी, पीजिए, जो और जितना आपका जी चाहे।" वह तो पहले से ही पिये हुए थे और मेरे बारहा कहने पर भी न माने कि मैं नहीं पीता। उन्होंने कहा, "मैं आपको शराब से नहला दूँगा।" शाम को कवि-सम्मेलन में गया तो लौटकर उनके घर न गया। सामान दूसरी जगह मँगा लिया।

रामवृक्ष बेनीपुरी ने कहीं कुछ नवयुवकों को 'मधुशाला' पढ़-पढ़कर शराब पीते देखा था। उन्होंने मुक्तजी से कहलवाया कि बच्चन बिहार में क़दम रखेगा तो मैं गोली मार दूँगा। मुक्तजी ने सिर्फ़ इतना कहा, लेखक ने मदिरा छुई तक नहीं। बिहार से निमन्त्रण आया। मैंने स्वीकार कर लिया। मेरी पूर्व पत्नी श्यामा ने कहा, "बिहार न जाव, बेनीपुरी तुमका गोली मार देइहैं।" मैंने कहा, "बेनीपुरी हमका गोली मार देइहैं तो 'मधुशाला' अमर होय जाई।" वहाँ कवि सम्मेलन में कविता सुना रहा था और सोच रहा था कि बेनीपुरी पिस्तौल लेकर अब पहुँचे—तब पहुँचे। बेनीपुरीजी मिले तो उन्होंने छाती से लगा लिया। मैंने कहा, "गोली ?" उन्होंने कहा, "घर चलो"। तश्तरी भरकर रसगुल्ला उन्होंने मेरे आगे रख दिया, कहा, "गोली नहीं, गोला !"

मेरे पास कवि-सम्मेलनों से निमन्त्रण आने लगे। कुछ दिनों तो वाहवाही लूटना अच्छा लगा। कई जगह अपने पास से किराया ख़र्च करके गया। पर बाद में मैंने सोचा कि अगर कवि-सम्मेलनों में इसी प्रकार जाता रहा तो कुछ और काम नहीं कर सकूँगा। इन्कार करता तो लोग लिखते कि आपको तो हिन्दी की सेवा करनी है, आदि आदि।

अकबर का शेर याद आया,

"दे के तक़रीर बोले, ला चन्दा,
हिनहिनाया है तो कुछ लीद भी कर।"

कविता लिखी है तो उसे घूम-घूमकर सुनाइए भी। मैंने कहा कि मैंने हिन्दी की सेवा करने के लिए कविता नहीं लिखी, मैंने अपने हृदय के उद्‌गार व्यक्त किये हैं। प्राण बचाने के लिए पारिश्रमिक लेने की प्रथा चलायी और वह भी तगड़ा।

निमन्त्रणों की संख्या कम हुई। कई कटु अनुभव भी हुए। कई जगह बुलाकर लोगों ने कम दिया, कई बिल्कुल टाल गये। उत्तरप्रदेश के एक कालेज ने बुलाया।

कवि-सम्मेलन के बाद ही रात की गाड़ी से मुझे लौटना था। सम्मेलन की समाप्ति पर संयोजक भीड़ के साथ निकल गये। मुझे स्टेशन का रास्ता भी नहीं मालूम था। आधी रात को कोई सवारी भी नहीं। कोई रास्ता बतानेवाला भी नहीं। सिर पर सन्दूक लादे किसी तरह स्टेशन पहुँचा। संस्था का नाम मैंने अपनी काली सूची (ब्लैक लिस्ट) में रख दिया है। बहुत बार वहाँ से बुलावा आया, फिर नहीं गया।

एक कवि-सम्मेलन पंजाब में हुआ था।* एक बड़ी संस्था के तत्त्वावधान में। रेडियो से उसे प्रसारित करने का भी प्रबन्ध था। सम्मेलन की कार्यवाही आरम्भ हुई, पर स्वागताध्यक्ष ने अपने भाषण में कवियों को कुछ अपमानजनक बात कह दी। महाकवि निराला भी उसमें उपस्थित थे। अपमान, और निराला उसे पी जायें? असम्भव! उठ खड़े हुए, "मैं कविता नहीं पढ़ सकता।" अब निरालाजी न पढ़ेंगे तो कौन पढ़ेगा; कोई नहीं। उधर प्रसारण का समय आ पहुँचा। संयोजकों ने देखा कि हिन्दी के कवि नहीं पढ़ रहे हैं तो उर्दू के कुछ तुक्कड़ों से कविता पढ़ाना आरम्भ कर दिया। हमें बड़ी लज्जा आ रही थी कि हिन्दी के नाम पर इस प्रकार की तुकबन्दी प्रसारित की जा रही है। प्रसिद्ध कहानीकार यशपाल बगल में बैठे थे। उन्होंने मेरे कान में कहा कि माइक पर जाकर सारी स्थिति कह दो, लोग समझेंगे कि तुम कविता पढ़ने जा रहे हो। मैंने बढ़कर यही किया। किसी ने मुझे माइक से ढकेला और इस पर हाथापाई हो चली। उस दिन मैंने अनुभव किया कि क्रान्तिकारी के एक संकेत से क्या कुछ हो सकता है। इस पर अख़बारों में बहुत-कुछ लिखा-पढ़ा गया, पर इस सबकी जड़ में श्री यशपाल थे, शायद यह आज पहली बार मैं बता रहा हूँ। ख़ैर, कुछ लोगों के बीच-बचाव से शान्ति स्थापित हुई। इसी कवि-सम्मेलन में निरालाजी ने मुझे एक पदक प्रदान करने की घोषणा की; पता नहीं मेरी कविता पर या मेरे साहस पर। संयोजकों ने कवियों को मार्ग-व्यय आदि देने का वचन दिया था, पर हमारे जाने का समय आया तो वे गायब हो गये।

इसी प्रकार के कई अनुभवों ने पारिश्रमिक और मार्ग-व्यय अग्रिम मँगाने के लिए बाध्य किया।

अब अपनी ख़ब्तुलहवासी का भी एक क़िस्सा सुना दूँ। एक जगह से निमन्त्रण आया। इसके एक दिन पहले एक जगह और कवि-सम्मेलन था। संयोजक परिचित थे, सोचा पहली जगह से लौटते हुए वहाँ भी होता आऊँगा। गाड़ी शाम को पहुँचती थी, लेट होने से रात को पहुँची। स्टेशन पर कोई नहीं। सोचा गाड़ी के लेट होने से गड़बड़ी हुई है। संयोजक कहाँ तक इन्तज़ार करते, सम्मेलन का प्रबन्ध भी करना होगा। ख़ैर, सवारी लेकर उनके घर पहुँचा। वह इतमीनान से खाना खाकर सोने की तैयारी में थे। मुझे देखकर कुछ चकित हुए, बोले, "कैसे?" मैंने कहा, "कवि-सम्मेलन में!" बोले, "वह तो आज की ही तारीख को अगले महीने है।" मैं बहुत बिगड़ा, "आपने इसी महीने के लिए लिखा था।" बोले, "मेरा ख़त दिखाइए।" ख़त साथ नहीं था। ख़ैर, उनसे लड़-झगड़कर घर वापस आया, ख़त देखा तो संयोजक महोदय की बात ही ठीक थी, बहुत झेंपा।

एक समय था, जब मैं घण्टों कविता सुना सकता था। न मेरी आवाज़ में कोई फ़र्क़ आता था, न तरन्नुम में और न मैं थकता था। मुझे याद है, निरालाजी की स्वर्ण जयन्ती पर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के कम्पाउण्ड में एक कवि-सम्मेलन

---

* यह शिमले का हिन्दी साहित्य सम्मेलन था। स्वागताध्यक्ष थे श्री सत्यनारायण सिन्हा। रेडियो वार्ता में ऐसे नाम नहीं लाये जाते जिन पर किसी प्रकार का आक्षेप किया गया हो।

आयोजित हुआ था। कवि-सम्मेलन का संचालन कर रहे थे श्री (अब डाक्टर) शिवमंगलसिंह 'सुमन'। मैं काफी कविताएँ सुना चुका था, कई बार, पर जनता और और की माँग कर रही थी। थोड़ी देर बाद मेरी पंक्तियों से ही मुझ पर ताने दिये जाने लगे। मियाँ की जूती, मियाँ के सिर।

"बहुतेरे इन्कार करेगा साक़ी आने से पहले,
पथिक, न घबरा जाना पहले मान करेगी मधुशाला।"

× × ×

"जब-जब जग ने कर फैलाये मैंने कोष लुटाया।"

"हमारे हाथ तो फैले हैं, क्या आपका कोष ख़ाली हो गया ?" मुझे भी ताव आ गया। मैंने कहा, "अच्छा, मैं भी अब आसन मारकर सुनाने बैठता हूँ, देखूँ पहले आप उठते हैं कि पहले मैं।" तब मुझे अपनी कितनी कविताएँ याद रहा करती थीं ! सुमनजी को मौक़ा मिला। बोले "बात तो तब है कि आज काशी की जनता बच्चनजी को चीं बुला दे।" कविता पढ़ते-पढ़ते पौ फटने लगी, चिड़ियाँ बोलने लगीं, सबेरा हो गया, न जनता चीं बोली, न मैं चीं बोला। तब काव्य-रसिक, वयोवृद्ध शिवपूजन सहायजी ने बीच में पड़कर बराबर की कुश्ती की घोषणा की और कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ।

इंग्लैण्ड से लौटने के बाद एक नगर के कवि-सम्मेलन में गया। दो-तीन कविताएँ सुनाकर ही रुक गया।

"अहह प्रथम बल मम भुज नाहीं।"

उस दिन मेरी तबियत भी कुछ ख़राब थी, वर्ना मैं जनता को निराश नहीं करता। सम्मेलन का आयोजन कुछ वणिकवृत्ति लोगों के हाथ में था। जब मैं और कविताएँ सुनाने को तैयार न हुआ तो मेरे कानों में आवाज़ आयी "पारिश्रमिक तो आपने लिया इतना, और कविताएँ सुनायीं तीन, फलाँ को हमने इतना दिया और उन्होंने हमें इतना सुनाया !"

मैंने अपना बटुआ निकाला, कहा, "यह रहा आपका पारिश्रमिक, मैं कविताओं को तोलकर नहीं सुनाता"; और यह कहकर मैं चल दिया। रात एक मित्र के यहाँ बितायी और सबेरे प्रयाग चला आया। मुझे साथ यह बात भी बता देनी चाहिए कि मेरे चले आने के एक हफ्ते बाद संयोजकों ने शायद अपनी भूल महसूस करके, या किसी के कहने से मुझे पूरा-पूरा मार्ग-व्यय और पारिश्रमिक भेज दिया। क्षमा याचना की लम्बी-चौड़ी चिट्ठी लिखी। पर मैंने उनके नगर का नाम भी अपनी काली सूची में डाल दिया है।

जब मैंने अपनी बात शुरू की थी, तब सोचा था कुछ मीठे अनुभव सुनाऊँगा और कुछ कड़ुए, पर जब बात ख़त्म करने का वक्त आ गया है तब देखता हूँ कि कड़ुए अनुभव ही ज़्यादा बता पाया हूँ। मीठे अनुभव की बात तो इतने से ही समाप्त हो जाती है कि कवि-सम्मेलन में बुलाया गया, कविता की ख़ूब वाहवाही हुई, समुचित पारिश्रमिक दिया गया और घर लौट आया। इसमें कहने की क्या बात हुई। फ्रांसीसी कहानी लेखक मोपासाँ का नाम तो आपने सुना होगा; शायद उनकी कहानियों से भी आप परिचित हों। एक बार किसी ने उनसे कहा, "आप जितनी कहानियाँ लिखते हैं उन सबमें बुरी औरतों की चर्चा रहती है, आप भली औरतों के विषय में कहानियाँ क्यों नहीं लिखते ?" मोपासाँ ने कहा, "भली औरतों के बारे में कोई कहानी नहीं होती।"

[1957]

कवि-सम्मेलनों के कुछ और अनुभव

[रेडियो वार्ता]

हिन्दी कवि-सम्मेलनों से मेरा परिचय लगभग चालीस वर्षों का, और उनका अनुभव लगभग तीस वर्षों का है। मेरे विद्यार्थी-जीवन में प्रयाग की शिक्षा-संस्थाओं में समय-समय पर कवि-सम्मेलन हुआ करते थे। कविता से मुझे प्रेम था और प्रारम्भ में मैं श्रोता-रूप में इन कवि-सम्मेलनों में जाता था। कवि-सम्मेलन, साधारण जनता के सांस्कृतिक क्रिया-कलाप के अंग कभी थे या नहीं, इस पर मैं अधिकार से कुछ नहीं कह सकता। मध्ययुग में राज-दरबारों में काव्य-पाठ अथवा काव्य-प्रतियोगिता की प्रथा अवश्य थी। पर साधारण जनता उनमें भाग न ले सकती थी। 19वीं सदी के अन्तिम भाग में जब हिन्दी का आन्दोलन, उसे राष्ट्रभाषा का रूप देने के लिए, आरम्भ हुआ तो लोगों का ध्यान स्वाभाविक ही कवि-सम्मेलनों की ओर गया, क्योंकि इनके द्वारा जनता में हिन्दी के लिए रुचि जगायी जा सकती थी। पहले तो ब्रजभाषा के कवि-सम्मेलन ही आरम्भ हुए जिनमें कोई समस्या दी जाती थी। जब मैंने कवि-सम्मेलनों में जाना आरम्भ किया उस समय खड़ीबोली में भी कविता की जाने लगी थी। निमन्त्रण-पत्रों में समस्या के साथ विषय भी लिखे जाते थे। विषय खड़ीबोली की कविताओं के लिए होते थे। उस समय के कवि-सम्मेलन का टेप रिकार्ड किया गया होता और उसे आज सुनाया जाता तो लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। उस समय तक उर्दू मुशायरों की एक निश्चित परम्परा बन गयी थी। हिन्दी कवि-सम्मेलन आरम्भ हुए तो किसी भी पूर्व परम्परा के अभाव में उन्होंने उर्दू मुशायरों का भद्दा अनुकरण आरम्भ किया।

मुशायरे में जब कोई शेर अच्छा होता है तो उसके लिए 'खूब' या 'बहुत खूब' कहते हैं, 'वाह-वाह' करते हैं। जिस शेर को दुहरवाना चाहते हैं उसके लिए 'मुक़र्रर इरशाद' कहते हैं। जब कोई बात बहुत चमत्कारिक हो तो 'सुभान अल्लाह' कहते हैं।

मुझे एक ऐसे कवि-सम्मेलन की याद है जिसमें लोग बीच-बीच में 'सुन्दर' या 'अति सुन्दर' कहते थे। शायद 'खूब' और 'बहुत खूब' की जगह। 'वाह-वाह' के बजाय 'साधुवाद' कहते थे—और 'साधु' का सम्बन्ध कुछ हमारे दिमाग़ में ऐसे व्यक्ति से है जिसके सिर पर जटा हो, शरीर पर भस्म रमा हो, हाथ में कमण्डल या माला हो। अच्छे-खासे कवि के लिए ऐसा सुनकर बड़ा अजीब लगता था। 'मुक़र्रर इरशाद' के लिए 'पुनर्वाद', 'पुर्नवाद' होता था। एक कोने में कुछ नवयुवक, पता नहीं, गम्भीरता से अथवा व्यंग्य से, बीच-बीच में 'शम्भो-शम्भो' कहकर चिल्ला उठते थे। मैंने उनसे पूछा कि यह 'शम्भो-शम्भो' आप क्यों कहते हैं? बोले—यह 'सुभान अल्लाह' का हिन्दी रूपान्तर है! ज़ाहिर है कि ये सब चीज़ें नक़ली थीं और नक़ली चीज़ें ज़्यादा दिन नहीं टिकतीं। हर्षध्वनि किसी अच्छी रचना पर कवि-सम्मेलनों में आज भी होती है, पर वे सब ध्वनियाँ ग़ायब हो गयी हैं। प्रायः जनता अब ताली पीट-पीटकर अपना हर्ष प्रकट करती है। शायद यह राजनीतिक सभाओं से आया है और अधिक स्वाभाविक है—गो परम्परागत भारतीय तरीक़ा हर्ष में अपनी ही हथेलियों को बजाना नहीं, दूसरों की हथेलियों को बजाना है। महाभारत में एकाध प्रसंगों में ऐसा वर्णन आया है। हम अपने हर्ष में अपने आसपास के लोगों को शामिल कर लें। मैं चाहता हूँ, यह प्रथा फिर से चलायी जाय। इसके बहुत गम्भीर अर्थ हैं।

प्रारम्भिक कवि-सम्मेलनों में प्राय: सभी को जनता सुन लेती थी। छायावादी कवि अपने रूप,स्वर,शब्द में कुछ ऐसा आतंक लेकर आये थे कि जनता सुनकर अवाक् रह जाती थी। तव ऐसे कवियों की प्रतीक्षा की जाती थी जो कोई हल्की-फुल्की वात कहकर जनता का मनोविनोद कर सकें। हास्य रस के कवियों की आवश्यकता का अनुभव छायावादी युग के कवि-सम्मेलनों में सबसे अधिक किया गया। धीरे-धीरे वे पूर्णत: प्रतिष्ठित हो गये। आज हास्य रस के कवि के वग़ैर किसी सफल कवि-सम्मेलन की कल्पना नहीं की जा सकती।

अपने विकास में जब हिन्दी कविता जनता के समीप आयी तो जनता अपनी प्रतिक्रिया और उसकी शक्ति से सचेत हुई। जिन कविताओं की प्रतिध्वनियाँ जनता से सीधे न हो सकती थीं उन्हें सुनाना असम्भव हो गया। छायावादी कवियों ने इसी समय से कवि-सम्मेलनों से किनाराक़शी कर ली। जिन्होंने नहीं की उनको कटु अनुभव हुए। मुझे एक ऐसा अवसर याद है जब एक कवि ने कविता सुनानी आरम्भ की, कविता जनता के पल्ले न पड़ी तो उसने शोर मचाना शुरू किया, पर कवि भी अपनी कविता सुनाने को दृढ़प्रतिज्ञ थे। जब चीखने-चिल्लाने से काम न चला, उन दिनों माइक का प्रचार नहीं हुआ था, तो वे कुर्सी पर खड़े हो गये और अन्त में जनता की ओर अपनी पीठ फेरकर अपनी कविता सुनाते रहे। वे कवि महोदय भगवान की दया से अभी जीवित हैं, स्वस्थ हैं, गो उन्होंने अब कविता लिखना-सुनाना बन्द कर दिया है। किसी समय अच्छी कविता करते थे।

धीरे-धीरे कवि-सम्मेलनों का विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप विघटित होने लगा। यह प्राय: दूसरे महायुद्ध के समय से चला, जब कवि-सम्मेलन प्राय: वार-फ़ण्ड एकत्र करने के उद्देश्य से किये जाने लगे। स्वतन्त्रता के वाद विकास-योजनाओं से सम्बद्ध प्रदर्शनियों में कवि-सम्मेलन होने लगे। विशुद्ध साहित्यिक कवि-सम्मेलन कुछ शिक्षा संस्थाओं में अथवा रेडियो पर अब भी होते हैं, पर प्रदर्शनी आदि अथवा विशेष अवसरों से सम्बद्ध कवि-सम्मेलनों में, जहाँ अपार जनता आती है, वातावरण को विशुद्ध साहित्यिक रखना सम्भव नहीं होता। कुछ सामयिक घटनाएँ अथवा भावनाएँ होती हैं जिनमें जनता रुचि लेती है। अगर उन पर कुछ कहा जाय तो वह रुचि से सुना जाता है। हाल में भारत-चीन तनातनी पर बहुत-सी रचनाएँ कवि-सम्मेलनों में सुनने को मिलीं। मैं सामयिक भावनाओं को कविता की सूची से निकालना नहीं चाहता, पर कुछ असमर्थ कवि उनका लाभ उठा सस्ती-भद्दी चीज़ें जनता के सामने रख देते हैं, और समय की लहर उन्हें ऊपर उठा देती है। मुझे एक अवसर याद है जब सामयिक घटना पर की गयी एक निम्नकोटि की तुकबन्दी ने तहलका मचा दिया। सभापति ने कवि को रोकना चाहा तो जनता और उछली, पर सभापति महोदय सभा चतुर थे; उन्होंने अकबर का एक शेर पढ़ा और जनता शान्त हो गयी, कविजी भले ही कटे हों।

"क़द्रदानों की तबीयत का अजब रंग है आज,
वुलवुलों को है ये हसरत कि हम उल्लू न हुए!"

ऐसे कवि-सम्मेलनों से वड़ा लाभ भी हुआ है। जनता में कवि-सम्मेलनों की लोकप्रियता बढ़ी है। कवि और जनता का सम्पर्क कविता के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। पर साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, उसे किसी का पुछल्ला बनाकर अथवा सस्ते मनोरंजन का साधन बनाकर रखना अस्वस्थ प्रवृत्ति है। इसके कारण कभी-कभी वड़े विचित्र अनुभव हुए हैं।

एक बार किसी धार्मिक महापुरुष की जयन्ती पर एक कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया। स्वाभाविक है कि ऐसी सभा में धर्म-संकीर्ण लोगों की बहुतायत हो। 'निरंकुश: कवय:' पुरानी कहावत है। स्वतन्त्रता के अपने अधिकार का उपयोग कर किसी कवि ने ऐसी रचनाएँ सुनानी आरम्भ कीं जो उस महापुरुष के धार्मिक सिद्धान्तों के शायद विरुद्ध जाती थीं। कुछ लोगों ने एतराज़ उठाना शुरू किया। कुछ लोगों ने समर्थन के नारे उठाये और अच्छा-ख़ासा हंगामा खड़ा हो गया। कुछ लोग कवि से 'बैठ जाओ', 'बैठ जाओ' कहने लगे तो कुछ उसे उठाकर माइक के सामने लाने लगे। कवि कविता सुनाने आता है—कुश्ती लड़ने तो आता नहीं। अन्त में सभापति ने कवि-सम्मेलन बरख़ास्त कर दिया और एक पक्ष के अपशब्दों के बीच कवियों को स्थान छोड़ देना पड़ा।

"निकलना खुल्द से आदम का सुनते आये हैं लेकिन,
बहुत बे आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।"

इस सम्बन्ध में किसी सम्पादक को अपने पत्र में टिप्पणियाँ भी लिखनी पड़ी थीं और हफ़्तों उत्तर-प्रत्युत्तर चलता रहा।

इसी सम्बन्ध में मुझे एक और कवि-सम्मेलन की याद हो आयी। किसी नगर में कवि-सम्मेलन था। आयोजकों को कोई अच्छा स्थान नहीं मिल रहा था, उन्होंने किसी धार्मिक संस्था के हाल में किसी तरह कवि-सम्मेलन करने की अनुमति ले ली। यह उन दिनों की बात है जब मेरी 'मधुशाला' नयी-नयी प्रकाशित हुई थी और प्राय: हर जगह मुझसे 'मधुशाला' सुनाने का अनुरोध किया जाता था। मुझे इससे क्या मतलब कि कवि-सम्मेलन कहाँ हो रहा है और मुझे कविता सुनाते समय स्थान के सिद्धान्त-सीमान्त को भी ध्यान में रखना चाहिए। जनता चाहती थी, मैंने 'मधुशाला' सुनानी आरम्भ की। एक सज्जन बीच में खड़े हो गये और गरज-गरजकर कहने लगे "यह तो बड़ा अन्याय हो रहा है कि इस पवित्र संस्था में, संस्था के पावन प्लेट-फ़ार्म से शराब का प्रचार किया जा रहा है।" इस पर एक दूसरे सज्जन दूसरे कोने से खड़े होकर कहने लगे, " 'मधुशाला' से शराब का प्रचार नहीं किया जा रहा है, 'मधुशाला' केवल प्रतीक है। इसके पीछे बहुत गहरे आध्यात्मिक सत्य हैं, आप उन्हें समझने का प्रयत्न कीजिए।" और "आप बैठ जाइए", "आप चुप हो जाइए" के परस्पर-विरोधी नारों के बीच कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ। पर दो कठ-हुज्जतियों की बहस बड़ी देर तक चलती रही। उस दिन मेरी 'मधुशाला' में जितनी गन्दगी, जितनी कुरुचि और जितनी गम्भीरता, जितनी आध्यात्मिकता साबित की गयी उसकी ओर मेरे फ़रिश्तों का ध्यान भी शायद ही गया हो।

हिन्दी कवि-सम्मेलन आज एक बड़ी संस्था है—जनता की संस्था है, और जन-मानस की विविध और कभी-कभी परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ और विकृतियाँ अक्सर कवि-सम्मेलनों के मंच पर बड़े मनोरंजक रूप से उपस्थित होती हैं।

[1960]

अंग्रेज़ों के बीच दो साल

[रेडियो वार्ता]

मैं अपने परिवार में एक तरह का बाग़ी समझा जाता हूँ। एक साधारण पर कट्टर सनातनधर्मी घर में पलकर यह बग़ावत मुझमें कहाँ से आयी, यह आज भी मेरे

रिश्तेदारों में अचरज की बात समझी जाती है। शुरू जवानी में आर्यसमाजी बनकर मैंने कुल में पूजे जानेवाले देवी-देवता, माता-भवानी से छुट्टी ली। एक जाति से निकाले हुए सज्जन के घर कच्चा खाना खाकर, स्वयं पंगत में बैठकर खाने का अधिकार खोया, और अन्त में जात-पाँत, प्रान्त, धर्म से बाहर विवाह करके शायद सदा के लिए मैंने अपने परम्परागत समाज से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। विलायत जाने का विचार हुआ, तो अपनी एक वृद्धा चाची से भी मिलने और बिदा लेने पहुँचा। मेरे प्रस्ताव को सुनकर बोलीं—"तुमने तो कुल में युग-युग से चले आये सारे नियम-धर्मों को तोड़ा, अब क्या समुन्दर की यात्रा भी करोगे, इसकी तो मनाही है और हमारे परिवार में कभी किसी ने ऐसा नहीं किया!" मैंने कहा—"चाची, मैं तो हवाई जहाज़ से जा रहा हूँ और समुद्र की एक बूँद से भी भेंट न होगी।" इससे चाची को कुछ सन्तोष हुआ। लौटा तो समुद्री रास्ते से हूँ। अभी चाची से मिलने का अवसर नहीं मिला। वे मुझे प्रायश्चित करने की सलाह ज़रूर देंगी।

मैं 12 अप्रैल, सन् 1952 की दोपहर को बम्बई से रवाना हुआ और क़ाहिरा और पेरिस में कुछ घण्टों के लिए रुकता हुआ 13 को सवेरे लन्दन पहुँच गया। इस हवाई-यात्रा में कुल 24 घण्टे लगे, परन्तु घड़ी के हिसाब से 18।। घण्टे। पश्चिम की ओर जाते हुए हमें घड़ी पीछे करनी पड़ती है; लन्दन तक 5।। घण्टे का अन्तर डालना होता है। मुझे बम्बई एरोड्रोम पर बिदा देकर मेरी पत्नी प्रयाग के लिए रवाना हुईं, और वे प्रयाग पहुँची ही थीं कि उन्हें लन्दन से मेरे सकुशल पहुँचने का तार मिल गया था। विज्ञान कितनी जल्दी दूर को निकट और निकट को दूर कर देता है।

हवाई अड्डे पर भारतीय हाई कमीशन के कई कर्मचारी मुझे मिलनेवाले थे। उनका कहीं पता न था। नगर के हवाई जहाज़ के दफ्तर से मेरी 'मधुशाला' की अंग्रेज़ी अनुवादिका कुमारी मार्जरी बोल्टन का फ़ोन-सन्देश अवश्य मिला कि वे दफ़्तर में मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। अड्डे से दफ़्तर तक बस में जाना था। मार्जरी का चित्र मैंने देखा था, मेरा उन्होंने; हम मिलते ही एक-दूसरे को पहचान गये। मार्जरी ही मुझे भारतीय विद्यार्थियों के छात्रावास लायीं, जहाँ मेरे तीन दिन ठहरने की व्यवस्था थी। फिर तो मुझे केम्ब्रिज जाना था। हाई कमीशन के कर्मचारी दो घण्टे बाद छात्रावास में आये—हीं-हीं करके देरी के लिए सफ़ाई देते हुए। इंग्लैण्ड में रहने से कहीं हिन्दुस्तानियत छूटती है! वक़्त की पाबन्दी का नमूना तो बस अंग्रेज़ है।

लन्दन में भीड़-भाड़ की प्रत्याशा तो मैंने की थी, पर इतनी की नहीं। इतवार था, ईस्टर की छुट्टियाँ भी मिल गयी थीं, मौसम धूप-खुले आस्मान का था; लन्दन के लोग छुट्टियाँ मनाने को निकल पड़े थे। जिससे बातचीत की, उसी ने मौसम की चर्चा की। अंग्रेज़ों के बारे में पहली राय मैंने यही बनायी कि वह मौसम-सचेत जाति है। दो वर्ष उनके बीच रहकर भी मुझे अपनी राय बदलने का कारण नहीं दिखा। युवक-युवतियों के प्रेमालाप से लेकर वयोवृद्ध दार्शनिकों की गम्भीर गवेषणा तक आप किसी ऐसे प्रसंग की कल्पना नहीं कर सकते, जिसमें मौसम की चर्चा नहीं आती। मैं अपनी डाक्टरेट की मौखिक परीक्षा के लिए गया तो मेरे परीक्षकों ने मौसम की बात से शुरुआत की। मेरी हँसी न रुक सकी।

दिन को मार्जरी मुझे लन्दन दिखलाने ले गयीं—भीड़-भाड़ बहुत, मगर सामान्य प्रभाव यह पड़ा कि व्यक्तिगत रूप से जैसे सब एक-दूसरे से अपरिचित हैं, अधिक-से-अधिक दो साथ, प्रायः पुरुष-स्त्री, कभी कोई बच्चा साथ, उनके लिए

जैसे दुनिया में और कोई नहीं है और दुनिया के लिए जैसे वे भी कोई नहीं हैं; किसी तरह बड़े, प्रमुख, विशिष्ट होंगे तो अपने घर के। पार्कों में गया तो लड़के-लड़कियों को तरह-तरह की मुद्राओं में पड़े, लेटे, बैठे देखकर कुछ आश्चर्य हुआ। न उन्हें इसकी परवाह है कि उन्हें कौन देख रहा है, न किसी को परवाह है कि उन्हें देखे—सब अपने-अपने में मगन या सीमित। शायद सबमें एक समझौता-सा है, न कोई किसी के रास्ते में आये, न किसी को अपने रास्ते में आने दे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता इस बात पर तो निर्भर रहेगी ही कि वह दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न बने।

असाधारण भीड़-मेले में भी शालीनता और अनुशासन से क्या चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है, इसका अनुभव मुझे इंग्लैण्ड जाकर ही हुआ। फ़ुटपाथों पर लोग आ-जा रहे हैं धीरे-धीरे—किसी को हटाना है तो एक्सक्यूज़ मी (क्षमा कीजियेगा), किसी को धक्का लग गया है तो सॉरी (मुझे अफ़सोस है), किसी ने अपने आप जगह दे दी है तो थैंक्स (धन्यवाद) कहकर। सड़कों पर मोटरों के पीछे मोटरें कहाँ तक लगी हैं, कोई पता नहीं। जब आगेवाला बढ़ता है, तभी पीछेवाला चलता है, न कोई हार्न पों-पों करता है, न कोई अगल-बग़ल से निकल जाने का प्रयत्न करता है। इतनी रेल-पेल में भी पैदल सड़क पार करनेवालों के लिए जगह छोड़ दी गयी है। कोई कुछ भी लावाजिब करता-कहता नहीं दिखायी देता। तबीयत खुश हो गयी। दूसरे दिन पत्रों में पढ़ा कि मोटरों का जैम सत्रह मील लम्बा था।

मैंने कहीं पढ़ा था कि यदि तुम जानना चाहते हो कि कोई जाति कितनी सभ्य और शिष्ट है, तो जाकर देखो कि भीड़ में रहने पर वह किस तरह का बर्ताव करती है। अंग्रेज़ी भीड़ का बर्ताव आदर्श और संसार-प्रसिद्ध है। मैनचेस्टर में, ब्लैकपूल की रोशनी की रातों में, बड़े दिन और नये दिन पर और विशेषकर क्वीन एलिज़ाबेथ दी सेकेण्ड के राज्यारोहण पर, इस भीड़ में पड़ने और इसे देखने का मुझे फिर अवसर मिला। मैं उसकी जितनी प्रशंसा करूँ, वह कम है। सरकारी प्रबन्ध भी बहुत सोच-विचारकर किया जाता है। साथ-ही-साथ जनता भी पूरा सहयोग देती है। अंग्रेज़ स्वभाव से ही नियमों का पालन करता है। चौराहों पर प्रायः हरी और लाल रोशनियों से आर-पार की सड़कें खुलती, बन्द होती हैं। जब गाड़ियों का आना-जाना बहुत हो, तब तो उन बत्तियों का आदेश माना ही जाता है। कभी-कभी ऐसा हुआ है कि बाहर से एक बजे रात को मैं आ रहा हूँ और क्या देखता हूँ कि सड़कें सुनसान पड़ी हैं और एक आदमी साइकिल से उतरकर हरी बत्ती की प्रतीक्षा कर रहा है। वह चला जाये तो न कोई दुर्घटना की सम्भावना है और न कोई उसे रोकनेवाला या पकड़नेवाला है, पर वह नियम का पालन करता है। कभी-कभी ऐसे लोगों को देखकर हँसी भी आयी है। पर इसके पीछे एक गम्भीर संयम है, यह मानना पड़ेगा।

अंग्रेज़ी भीड़ की चर्चा करते हुए एक व्यक्ति को भूल सकना असम्भव है। वह है उनका पुलिसमैन। अपने लम्बे कद, ऊँची टोपी, नीले लिबास में वह किसी भीड़ में छिप नहीं सकता। उसका मस्तिष्क कितनी सूचनाओं का भण्डार होता है, इस पर आश्चर्य होता है। उसके नगर का नक़्शा जैसे हर समय उसकी आँखों के सामने रहता है। आप कहीं भी जाना चाहते हों, वह कम-से-कम शब्दों में आपको ठीक पता बतायेगा। लन्दन में अगर आप अजनबी हैं, तो बिना उसकी सहायता के आपका इच्छित स्थान पर पहुँच सकना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

भार्जरी ने उसे दिखलाकर मुझसे कहा था कि देखिए वह आपका ऐसा मित्र है, जो आपको कभी निराश नहीं करेगा। आपको किसी तरह की कठिनाई हो, आप उसके पास जाइये। वह आपकी सहायता करेगा या जहाँ से सहायता मिल सकती है, वहाँ आपको भेज देगा।

बसों, ट्रेनों और 'क्यू' में खड़े हुए लोगों को आप अक्सर पुस्तक या अख़बार पढ़ते हुए पायेंगे। प्रायः सभी लोग शिक्षित हैं और हर प्रकार की रुचि को सन्तुष्ट करनेवाली पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तिकाएँ प्रकाशित होती हैं। अंग्रेज़ अपरिचितों से बात-चीत करने से हिचकता है। यह अख़बार उसके लिए एक प्रकार के पर्दे का काम देता है। अंग्रेज़ों की यह आदत बाहर से आये हुए लोगों को अच्छी नहीं लगती। अंग्रेज़ों के साथ बैठे हुए भी वे अकेलेपन का अनुभव करते हैं। किसी अंग्रेज़ ने मुझसे कहा था कि अंग्रेज़ स्वयं बड़ा अकेला प्राणी है। जिस आदमी से वह बातचीत करना चाहता है, उससे वह भी बात करना चाहता है कि नहीं, इसी सोच-संकोच में वह चुप रहता है और प्रायः इसीलिए अखबार और किताब का सहारा लेता है। जहाँ तक मेरा ख़याल है, अंग्रेज़ दूसरों के मामले में दखल नहीं देना चाहते और न यही चाहते हैं कि दूसरे उनकी शान्ति भंग करें। मुझे थोड़े दिन के बाद उनकी यह आदत अच्छी लगने लगी थी। कभी किसी बात को जानने के लिए जब मैंने अजनबियों से भी पूछा है, तो मुझे बहुत विनम्र और सन्तोषजनक उत्तर मिला है।

अंग्रेज़ों की दो संस्थाएँ ऐसी हैं, जहाँ उन्हें अपने अकेलेपन से सहज मुक्ति मिल जाती है। एक है, उनकी पब-हौलियाँ, आप चाहें तो उनको मधुशालाएँ भी कह सकते हैं। ये शाम को खुलती हैं और रात को दस-ग्यारह बजे तक बन्द नहीं होतीं। बड़े नगरों में इनकी संख्या का अनुमान करना कठिन है। शायद ही कोई गाँव हो, जहाँ पब न हो। केम्ब्रिज छोटा नगर है; उसकी आबादी कोई 80,000 होगी। वहाँ पबों की संख्या कोई 150 के क़रीब है। यहाँ बैठकर अंग्रेज़ शराब पीते और गप्प लड़ाते हैं। शायद ही कोई ऐसा विषय हो, जिस पर इन पबों में बातचीत न होती हो। इंग्लैण्ड में कब कैसी हवा चल रही है, इसे जानना हो तो पबों में जाना चाहिए। यहाँ अंग्रेज़ खुलकर, जोश-ख़रोश से अपनी राय ज़ाहिर करता है और दूसरों की राय जानना चाहता है। उसके बहुत-से परिचय और मैत्रियाँ इन्हीं पबों में होती हैं। अगर आपके पास दो-चार गिलास बियर पीने-पिलाने के पैसे हों, तो आप शाम को किसी पब में चले जाइए और आप दो-चार दोस्त बनाकर बाहर निकलेंगे।

दूसरी संस्था है, अंग्रेज़ों के नाचघर। इनमें मर्द-औरतें साथ नाचते हैं। पूरे आर्केस्ट्रा में पन्द्रह-बीस लोग तक बाजे बजाते हैं। छोटी जगहों में मैंने तीन आदमियों का आर्केस्ट्रा भी देखा है। अधिक छोटे गाँवों में ग्रामोफ़ोन के रेकार्ड लगाकर लोग नाचने का संगीत बजा लेते हैं। नाचघरों में अपरिचित युवक-युवतियाँ आती हैं। किसी लड़की के साथ नाचने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उससे आपका पूर्व परिचय हो। नाचना कठिन नहीं है; लय के साथ पाँवों को आगे-पीछे चला सकने के थोड़े-से अभ्यास से कोई भी नाच सकता है। बड़े नगरों में नाच सिखाने के स्कूल भी हैं। लोग नाचने के साथ ही साथ बातचीत भी करते जाते हैं, पाँव लय के साथ हरकत करते हैं। कला की दृष्टि से मैं अंग्रेज़ी नाच को, (मैं बेले डांसिंग की चर्चा यहाँ नहीं कर रहा हूँ) कोई ऊँचा स्थान नहीं देता। पर सामाजिक दृष्टि से उसका महत्त्व बहुत है। जहाँ एक-दूसरे से मिलने-बोलने, एक-दूसरे के निकट आने के अवसर कम आते हैं, वहाँ नाचघरों की महत्ता सहज ही

स्वीकार की जा सकती है।

सम्मिलित परिवार की प्रथा इंग्लैण्ड में नहीं है। पति-पत्नी और बच्चे परिवार के अंग समझे जाते हैं। माता-पिता, भाई-बहन—सब अलग रहना पसन्द करते हैं। परिवारों में जीवन नियमित होता है। साधारण परिवारों में गृहिणी घर के कामकाज के अलावा बाहर भी काम करने जाती है। अच्छी आमदनी के लोगों के लिए भी नौकर रख सकना कठिन है। पति-पत्नी मिलकर घर का सब काम स्वयं कर लेते हैं। बिजली के यन्त्रों ने खाना पकाने से लेकर घर की सफ़ाई तक का सारा काम सरल कर दिया है। बड़े नगरों में यदि किसी के पास ख़ाली कमरे हुए तो पेइंग गेस्ट रख लेता है। केम्ब्रिज में कई अध्यापकों के घर विद्यार्थी पेइंग गेस्ट बनकर रहते थे।

अंग्रेज़ी खाना बहुत सादा होता है और बहुत सरलता से पकाया जाता है। प्राय: चीज़ें उबली या चर्बी में तली हुई होती हैं। यूरोप में अक्सर यह कहा जाता है कि अंग्रेज़ों को खाना पकाने की कला नहीं आती। सम्भवत: फ्रांसीसी लोग इस कला में दक्ष माने जाते हैं। जिनकी ज़बान मिर्च-मसाले के छौंके खाने की आदी है, उन्हें अंग्रेज़ों का खाना पसन्द नहीं आ सकता। शाकाहारियों को पानी में उबली तरकारियाँ मिल जायेंगी। उस पर नमक डाल लीजिए, किसी तरह की चटनी या सॉस डाल लीजिए और पेट भर लीजिए। रोटी की जगह डबल रोटी के टुकड़े मिलेंगे। जब मैं वहाँ था, मक्खन राशन से मिलता था और सँभालकर हफ़्ते भर चलाना पड़ता था। अब राशन हट गया है। दूध ज़रूर अच्छा मिलता है। डेरियाँ बोतलों में सस्ता और अच्छा दूध देती हैं। दूध को गर्म करके पीने की प्रथा वहाँ नहीं है, न कभी मैंने किसी को मलाई निकालते देखा। प्राय: लोग बोतलों से ही दूध पी लेते हैं। शाकाहारियों के लिए फल और तरकारियाँ प्राय: सभी मिलती हैं, हाँ, आम वहाँ नहीं मिलता। कुछ लोगों का ख़याल है कि इंग्लैण्ड की ठण्डी हवा में बिना मांस खाये काम नहीं चल सकता। ऐसी बात नहीं है। मैंने कुछ शाकाहारी अंग्रेज़ भी देखे। शाकाहारियों की एक पत्रिका भी निकलती है। मैं दो वर्ष वहाँ अन्न, फल, दूध पर रहा; अण्डे ज़रूर मैं खाता था और मेरा स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक रहा।

साधारण अंग्रेज़ का जीवन व्यस्तता का जीवन है। काम वह समय से करता है, दक्षता से करता है। 6 दिन काम, एक दिन आराम उसका सालभर चलता है। छुट्टियों के अवसर ईस्टर और बड़े दिन ही हैं। बाक़ी साल सारा समाज यन्त्रवत काम में लगा रहता है। यन्त्र प्राय: कार्य के हर क्षेत्र में हैं—यन्त्रों ने जीवन-व्यवहार को भी यन्त्रों की यथातथ्यता, व्यवस्था, एकरूपता और सफ़ाई दी है—शायद यन्त्रों की नीरसता भी।

धर्म के प्रति अंग्रेज़ में न कट्टरता है, न उत्साह; पर पीढ़ियों की ईसाइयत उसकी शिरा-शिरा में रमी है और वह धर्म के कर्मकाण्ड की उपेक्षा करके भी ईसाइयत के आधारभूत गुणों को भुला नहीं सकता। दिनानुदिन के व्यावहारिक जीवन में सुस्पष्टता, सच्चाई, ईमानदारी, पर-विश्वास, वचन-पालन, निर्भीक सत्य-कथन, ज़रूरतमन्द और असहायों की सहायता, विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता, और किसी के लिए किसी प्रकार की असुविधा का कारण बनने के प्रति सतर्कता आदि ऐसे गुण हैं, जिनके उदाहरण आपको अंग्रेज़ समाज में प्रतिदिन मिलते हैं। रूढ़ नैतिकता के मूल्यों में अन्तर हो सकता है, पर शालीनता, शिष्टता, सभ्यता में अंग्रेज़ को किसी भी समाज में लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है।

मेरी ऐसी धारणा है कि ईसाइयत और विज्ञान दोनों से अंग्रेज़ ने बहुत कुछ सीखा-सँजोया है, आत्मसात किया है।

मुझे अंग्रेज़ों के जीवन की बहुत-सी बातें अच्छी लगीं, उनको समझने का मैंने प्रयत्न किया। उनसे हमें बहुत सीखना है। पर हम उनका अन्धानुकरण नहीं कर सकते। उनकी सभ्यता इतिहास की विशेष परिस्थितियों से बनी है, जैसे हर सभ्यता बनती है। वहाँ रहते हुए बहुत बार अपने देश की उनके देश से तुलना करने को जी करता था। प्रायः यही लगता था कि उनका देश हमारे देश से बहुत बातों में अच्छा है। पर हम उस देश को अपना नहीं बना सकते। हमें तो इसी देश की मिट्टी प्रतिपल खींचती थी। हमें इसी के साथ बनना-मिटना है।

लौटते समय जिस दिन हमारा जहाज़ बम्बई के निकट आया, हम रात को 'डेक' पर सोये, सुबह सबसे पहले अपने देश की भूमि देख सकने की उत्सुकता में। बम्बई का किनारा धुन्ध-सा झलका और हम सारे भारतीय गुनगुनाने लगे :

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।"

[1954]

केम्ब्रिज में विद्यार्थी-जीवन

[रेडियो वार्ता]

अगर मैं आपको ले जाकर सहसा केम्ब्रिज की किसी सड़क पर खड़ा कर दूँ तो आप एक ऐसा दृश्य देखेंगे जिसे शायद आप कभी नहीं भूल सकेंगे। साइकिलों पर लड़के और लड़कियों के झुण्ड तेज़ी के साथ इधर से उधर जा रहे हैं और उनकी पीठ पर पड़े हुए काले गाउन हवा से फूलकर ऐसे लगते हैं जैसे बड़े-बड़े चमगादड़ उनका पीछा कर रहे हैं। पैदल चलनेवालों में भी अधिक संख्या इन गाउनधारी लड़के-लड़कियों की होगी। इनके हाथों में प्रायः काले छाते भी दिखायी देंगे। गाउन के साथ किसी प्रकार की टोपी पहनने की मनाही है। हमारे देश से गये हुए सिक्ख विद्यार्थियों को पगड़ी पहनने के लिए विशेष आज्ञा लेनी पड़ती है। वर्षा प्रायः प्रति-दिन होती है, इस कारण सिर को भीगने से बचाने के लिए छाता लेकर चलना ज़रूरी होता है। ये केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के विद्यार्थी हैं जो अपने कालेजों से निकलकर लेक्चर के कमरों, प्रयोगशालाओं अथवा पुस्तकालयों की ओर आ-जा रहे हैं। केम्ब्रिज मुख्यतया विश्वविद्यालय का नगर है। आक्सफ़ोर्ड भी ऐसा ही है। परन्तु दोनों में एक अन्तर है जिसे सत्रहवीं सदी के एक निबन्धकार टामस फुलर ने इस तरह व्यक्त किया था : "आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय है, जो एक नगर के बीच में स्थापित है; केम्ब्रिज नगर है, जो एक विश्वविद्यालय के बीच में बसा हुआ है।" फुलर का यह कथन आज भी उतना ही सत्य है जितना उनके समय में रहा होगा। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय केम्ब्रिज नगर पर छाया हुआ है।

केम्ब्रिज की आबादी लगभग 80,000 है। विश्वविद्यालय में लगभग 10,000 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते हैं। अध्यापकों और रिसर्च स्कालरों की संख्या भी करीब 3000 होगी। इस प्रकार केम्ब्रिज की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग उन लोगों का है जो विश्वविद्यालय के शिक्षक या विद्यार्थी हैं या उनसे किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध हैं।

प्राय: विद्यार्थी यहाँ तीन वर्ष के लिए आते हैं और 'ट्राइपास' की परीक्षा पास करते हैं। ट्राइपास का सम्बन्ध तीन वर्ष अथवा तीन विषयों से नहीं है। ट्राइपास एक प्रकार की तिपाई हुआ करती थी जिस पर बिठाल कर पुराने समय में विद्यार्थियों की मौखिक परीक्षा ली जाती थी। यह नाम तभी से चला आता है। ट्राइपास में उत्तीर्ण होनेवाला अपने नाम के आगे बी. ए. लिख सकता है। एम. ए. की कोई पढ़ाई या परीक्षा नहीं होती। ट्राइपास में उत्तीर्ण होने के सात वर्ष बाद एक नियत फीस देने से एम. ए. की डिग्री मिल जाती है। प्रतिवर्ष लगभग 3000 विद्यार्थी विभिन्न विषयों की ट्राइपास की परीक्षा में बैठते हैं। लगभग इतने ही विद्यार्थी प्रति वर्ष नये लिये जाते हैं। ट्राइपास की परीक्षा दो भागों में ली जाती है। पहले भाग की परीक्षा प्रथम वर्ष के अन्त में और दूसरे भाग की, शेष दो वर्षों के अन्त में। प्रथम भाग किसी विषय में पास कर लेने पर विद्यार्थी को दूसरे भाग के लिए दूसरा विषय लेने की स्वतन्त्रता होती है, परन्तु ऐसा परिवर्तन तेज़ विद्यार्थी ही करते हैं जो किसी विषय की एक वर्ष की कमी शेष दो वर्षों में पूरी कर लें। ट्राइपास करने के बाद रिसर्च की अनुमति मिल जाती है और यदि कार्य तीन वर्षों में पूरा हो गया तो एम. ए. की डिग्री के पूर्व ही पी-एच. डी. की डिग्री मिल जाती है।

केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में 21 कालेज हैं, 19 लड़कों के लिए और दो लड़कियों के लिए; वास्तव में ये सब कालेज ही मिलकर यूनिवर्सिटी कहलाते हैं। यूनिवर्सिटी विभिन्न विषयों में व्याख्यानों का प्रबन्ध करती है, प्रयोगशालाएँ और पुस्तकालय चलाती है। परीक्षा लेती और पदवी प्रदान करती है। कालेजों में लड़के रहते हैं और वहीं उनके 'सेमिनार' होते हैं। कालेज सब एक बराबर नहीं हैं। ट्रिनिटी हाल में केवल पचास लड़कों के रहने की जगह है। ट्रिनिटी कालेज में प्राय: 600 लड़के रहते हैं। पीटर हाउस केम्ब्रिज का सबसे पुराना कालेज है और उसकी स्थापना 13वीं शताब्दी में हुई थी। क्लेयर, पेम्ब्रोक, गानविल ऐण्ड की, ट्रिनिटी हाल और कारपस क्रिस्टी 14वीं, किंग्स, क्वीन्स, सेण्ट केथरीन्स जीसस और क्राइस्ट 15वीं, सेण्ट जान्स, माडलीन, ट्रिनिटी इमैनुएल, सिडनी सक्सेस 16वीं; और डाउनिंग, सेलविन, फिट्ज़ विलियम हाउस, गर्टन और न्यूनम 19वीं शताब्दी में स्थापित हुए थे। अन्तिम दो लड़कियों के कालेज हैं। पहले महायुद्ध के पूर्व स्त्रियों को यूनिवर्सिटी की डिग्री नहीं दी जाती थी। सर्वप्रथम जब उन्हें डिग्रियाँ दी गयीं तो इसका बहुत विरोध भी हुआ।

विश्वविद्यालय के 10,000 विद्यार्थियों में केवल 3000 के लिए कालेजों में जगहें हैं। शेष विद्यार्थी 'डिग्स' में रहते हैं। डिग एक विशेष शब्द है जो उन घरों के लिए उपयोग किया जाता है जहाँ विद्यार्थी रहते हैं। उसकी व्युत्पत्ति का मुझे पता नहीं है। 'डिग्स' तमाम शहर में फैली हैं। उनमें से कुछ अनुमति-प्राप्त हैं और कुछ अनुमति-हीन। अण्डरग्रेजुएट को अनुमति-प्राप्त डिग में रहना पड़ता है। और वहाँ का अनुशासन कालेज का-सा ही होता है।

कालेजों में रहने के कमरों के अतिरिक्त, एक बड़ा भोजन करने का कमरा, एक उठने-बैठने का कमरा और एक गिरजाघर होता है। प्राय: प्रत्येक विद्यार्थी के पास तीन कमरे होते हैं—एक पढ़ने-लिखने के लिए, एक सोने के लिए और एक छोटा-सा सामान वग़ैरह रखने के लिए। खाना सब लोग साथ बैठकर खाते हैं। कालेज के अधिकारी एक ऊँची टेबिल पर बैठते हैं, उसे 'हाई टेबिल' कहते हैं। हाई टेबिल पर खाना बड़े गौरव की बात समझी जाती है। सम्मानित अतिथि हाई टेबिल पर बिठलाये जाते हैं।

गिरिजाघरों में नियमित रूप से प्रार्थनाएँ होती हैं। किसी समय इनमें सम्मिलित होना अनिवार्य था; अब ऐच्छिक है।

कालेज का अध्यक्ष 'मास्टर' कहलाता है। कालेज के अन्य अधिकारी फ़ेलो, ट्यूटर, डीन, बर्सर और प्रीलेक्टर होते हैं। फ़ेलो सेमिनार क्लासों को पढ़ाता है, ट्यूटर विद्यार्थियों का अभिभावक होता है, डीन गिरजे का प्रवन्ध करता है, बर्सर कालेज के आय-व्यय का हिसाब रखता है और प्रीलेक्टर पदवी-दान के अवसर पर विद्यार्थियों को वाइस चैंसेलर के सामने उपस्थित करता है। कालेज का एक महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति उसका पोर्टर है। पोर्टर बड़ा ही सजग और सचेत होता है। कालेज में कब कौन आया, गया, कहाँ क्या हो रहा है, इन सब बातों का पता उसे रहता है।

कालेज की चहारदीवारी के अन्दर विद्यार्थी को पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। वह अपने कमरे में अपने मित्रों एवं अपनी सहेलियों को बुला सकता है। लगभग 10 बजे रात को कालेज के फाटक वन्द होते हैं। उसके पूर्व मेहमानों को कालेज से विदा हो जाना चाहिए।

यूनिवर्सिटी के व्याख्यानों के लिए कालेजों से फ़ेलो चुने जाते हैं। व्याख्यानों के लिए विद्यार्थियों को अलग फ़ीस देनी होती है। इन व्याख्यानों में हाज़िरी नहीं ली जाती। व्याख्यान प्रायः लिखित होते हैं और पढ़ दिये जाते हैं। अध्यापकों के आने पर विद्यार्थी खड़े नहीं होते। केवल सिगरेट पीने की मनाही है। जब टर्म अथवा साल का अन्तिम व्याख्यान होता है तब समाप्ति पर विद्यार्थी ताली बजाते हैं।

विद्यार्थी की मुख्य शिक्षा सेमिनारों के द्वारा होती है। सेमिनार एक या दो लड़कों का होता है और इस प्रकार शिक्षक विद्यार्थी की ओर पूरा ध्यान दे पाता है, उसकी आवश्यकताओं को समझता है और उसकी त्रुटियों को दूर करता है।

यूनिवर्सिटी का अनुशासन वाइस चैंसेलर और उसकी कमीटी के हाथ में होता है। उसके 6 सदस्य होते हैं जो विभिन्न कालेजों से लिये जाते हैं। पर यह उसी समय बैठती है जब किसी ने कोई ऐसा अपराध किया हो जिसके लिए उससे डिग्री छीनने अथवा यूनिवर्सिटी से निकालने की नौबत आ जाये। यूनिवर्सिटी का दिनानु-दिन अनुशासन 'प्रोक्टर' के हाथ में होता है। उसके नीचे दो प्रो-प्रोक्टर्स होते हैं। सन्ध्या के समय प्रायः प्रोक्टर अपने दो अनुयायियों के साथ जिन्हें 'बुलडाग' कहते हैं केम्ब्रिज की सड़कों पर घूमता रहता है। इस समय उसका मुख्य काम ऐसे लड़कों को पकड़ना होता है जो बिना गाउन पहने रात को बाहर निकलते हैं। सूर्यास्त के पश्चात् सारे विद्यार्थियों को गाउन पहनना ज़रूरी होता है। न पहनने पर 10 शि. जुर्माना होता है। ग़लत नाम-पता बताना बहुत बड़ा अपराध समझा जाता है और इसके लिए प्रायः लड़के यूनिवर्सिटी से निकाल दिये जाते हैं।

केम्ब्रिज के विद्यार्थी-जीवन की कोई वार्ता उस समय तक अधूरी है जब तक उसके 'क्लबों' और 'पबों' की चर्चा न की जाय। 'पब' वे जगहें जहाँ जाकर लोग शराब पीते हैं। केम्ब्रिज में विद्यार्थियों के कोई 150 क्लब होंगे। कोई रुचि, कोई शौक़, कोई शग़ल ऐसा नहीं जिसे सन्तुष्ट करनेवाले क्लब केम्ब्रिज में नहीं हैं। खेलकूद, नाटक, संगीत, साहित्य, ज्ञान, राजनीति, धार्मिक विचार, व्यवसाय, यात्रा, युद्ध—सभी विषयों में रुचि रखनेवालों ने अपने अलग-अलग क्लब बना लिये हैं। यूनिवर्सिटी यूनियन है पर उसकी सदस्य-संख्या सीमित है। वहाँ संसार की विभिन्न समस्याओं पर वाद-विवाद होते हैं, परन्तु शास्त्रीय धरातल पर। उनकी चर्चा समाचारपत्रों में नहीं की जाती। यूनिवर्सिटी का बोटिंग क्लब भी बहुत प्रसिद्ध है। आक्सफ़र्ड-केम्ब्रिज में प्रतिवर्ष प्रतियोगिता होती है। अब तक 100 बार

यह प्रतियोगिता हो चुकी है। पिछली बोट-प्रतियोगिता में आक्सफ़र्ड जीता था, पर अब तक अधिक वार केम्ब्रिज की ही जीत हुई है।

केम्ब्रिज में क़रीब डेढ़ सौ 'पब्स' या हौलियाँ हैं; आप चाहें तो उन्हें मधुशालाएँ कह सकते हैं। सन्ध्या के समय शायद ही कोई ऐसा 'पब' हो जिसमें आप जायें और कुछ विद्यार्थियों को पीते न पायें। इंग्लैण्ड ठण्डा देश है और शायद थोड़ा मदिरा-पान शरीर में फ़ुर्ती और गर्मी लाने के लिए आवश्यक है। अंग्रेज़ स्वभाव से लज्जालु होता है और जल्दी किसी से बातचीत नहीं करता। ज़रा नशे में आ जाने पर वह खुलकर बात करता है। पबों के अन्दर कभी-कभी बड़े जोशीले और जानदार वाद-विवाद सुनने को मिलते हैं।

इस प्रकार केम्ब्रिज के विद्यार्थी का दिन व्याख्यान के कमरों, पुस्तकालयों, या प्रयोगशालाओं में व्यतीत होता है, शाम का समय मौसम अच्छा हुआ तो खेल के मैदानों में या कैम नदी पर या क्लबों और पबों में और रात का समय अपने अध्ययन कक्ष में। Early to bed and early to rise—जल्दी सोना और जल्दी जागना अंग्रेज़ी कहावत है, पर केम्ब्रिज में मैंने उसका अपवाद ही देखा। बड़ी रात को भी अगर आप कालेजों के सामने से गुज़रें तो खिड़कियों से आनेवाली रोशनी यह बताती है कि विद्यार्थी अभी पढ़ रहे हैं। सुबह नाश्ते का समय 8—8-30 बजे होता है और उसके पूर्व शायद ही कोई उठता हो।

यूनिवर्सिटी का जीवन बहुत शान्त और नियमित है। शिक्षण-अवधि के बीच में छुट्टियाँ नहीं होतीं। 6 दिन काम और एक दिन आराम। अध्ययन और अध्यापन के बीच जिन मनोविनोदों को स्थान दिया जाता है, उनका ध्येय विद्यार्थियों की सुरुचि को जगाना और उन्नत करना होता है। दो वर्षों के बीच में न मैंने विद्यार्थियों के जलूस देखे, न नारे सुने, न लाउड स्पीकर के एलान सुने। विभिन्न सभा-सोसाइटियों के चुनाव ऐसी शान्ति से होते हैं कि पता भी नहीं चलता कि वे कब ख़त्म हो गये। केवल दो अवसर ऐसे होते हैं जब विद्यार्थियों का उल्लास सारी सीमाओं को तोड़ देता है। पहला अवसर होता है 'पापी डे'—'शान्ति दिवस'। यह उस दिन की यादगार में मनाया जाता है जिस दिन प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हुआ था, 11 नवम्बर को। पर अब ज़रूरी नहीं होता कि 'पापी डे' उसी तिथि को मनाया जाय। उस दिन विद्यार्थी युद्ध के घायल सिपाहियों के सहायतार्थ पैसे इकट्ठे करते हैं। जो कालेज सबसे अधिक धन एकत्र करता है उसे बियर का एक पीपा इनाम में मिलता है। कालेज के विद्यार्थी तरह-तरह का स्वाँग बनाकर सड़कों पर निकलते और पैसे इकट्ठे करते हैं। हमारे होली के स्वाँग उसके सामने फीके लगेंगे।

दूसरा अवसर सत्र (सेशन) की समाप्ति पर 'मे बॉल' का होता है। प्रायः यह परीक्षाफल निकलने पर जून के पहले-दूसरे सप्ताह में मनाया जाता है। हर कालेज अपना 'मे बॉल' अलग मनाता है। एक पूरी रात खाने, मदिरा पीने और नाचने में बितायी जाती है। लड़के दूर-दूर से अपनी सहेलियों को निमन्त्रित करते हैं, कालेजों में बड़ी सजावट होती है, बैण्ड बजते हैं, और दूसरे दिन सूरज निकलने के बाद तक यह नाच-रंग जारी रहता है।

कानवोकेशनों पर वह धूम-धाम नहीं होती जो अपने यहाँ के विश्वविद्यालयों में देखी जाती है। कानवोकेशन को वहाँ 'कानग्रीगेशन' कहते हैं। परीक्षाफल निकलने पर प्रति शनिवार को सेनेट हाल में कानग्रीगेशन होता है और उनमें क्रम से विभिन्न कालेज के विद्यार्थियों को डिग्रियाँ दी जाती हैं। कानवोकेशन पर कोई

भाषण वहाँ नहीं होता।

अब मैं कुछ ऐसी बातें बताना चाहता हूँ जो सम्भवत: ऐसे विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हों जो कभी केम्ब्रिज जाने का स्वप्न देख रहे हों।

यूनिवर्सिटी में प्रवेश पाने के लिए वहाँ का मैट्रिक्यूलेशन पास करना जरूरी होता है। इण्टरमीडिएट नाम की वहाँ कोई परीक्षा नहीं होती। पर हर मैट्रिक्यू-लेशन-पास लड़का यूनिवर्सिटी में दाख़िल नहीं हो सकता। यूनिवर्सिटी में दाख़िल होने के लिए एक और इम्तहान पास करना होता है जिसे यूनिवर्सिटी-प्रीवियस परीक्षा कहते हैं। वह वर्ष में चार बार होती है, मार्च, जून, अक्टूवर और दिसम्वर में। बहुत तेज़ विद्यार्थियों को इस परीक्षा से छूट भी मिल जाती है। मुझे किसी ने वताया था कि 30,000 प्रार्थियों में से केवल 3000 यूनिवर्सिटी में लिये जाते हैं। भारतवर्ष से अच्छी श्रेणी के बी. ए. अथवा एम. ए. ट्राइपास के लिए दाख़िल किये जाते हैं। तेज़ विद्यार्थियों को दो वर्ष में ही ट्राइपास करने की अनुमति मिल जाती है।

भारतवर्ष के विद्यार्थी दाख़िले के लिए सीधे यूनिवर्सिटी को नहीं लिख सकते। उन्हें भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा अपना प्रार्थना-पत्र भेजना चाहिए। लन्दन के हाई कमिश्नर के दफ़्तर में एक शिक्षा-विभाग भी है और उसी के द्वारा इंग्लैण्ड की यूनिवर्सिटियों में विद्यार्थियों के दाख़िले का प्रवन्ध होता है।

प्राय: लोग यह भी जानना चाहते हैं कि केम्ब्रिज में पढ़ाई का ख़र्च क्या पड़ता है। यूनिवर्सिटी की पढ़ाई महँगी है, इसमें कोई सन्देह नहीं है; पर इस बात को भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि यूनिवर्सिटी की शिक्षा बहुत तेज़ लड़कों के लिए ही है। केम्ब्रिज और आक्सफ़र्ड में इतनी छात्र-वृत्तियाँ हैं कि प्राय: 75 से 80 प्रतिशत विद्यार्थी इन्हें प्राप्त कर लेते हैं। 20 प्रतिशत विद्यार्थी ऐसे परिवारों से आते हैं जो धनी होते हैं और अपना ख़र्च अपने आप चला सकते हैं। मुझे एक अध्यापक ने वतलाया कि कुछ वज़ीफ़े इतने अच्छे हैं कि उनसे विद्यार्थी अपनी पढ़ाई का ख़र्च निकालकर अपने परिवारवालों की भी कुछ सहायता करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि केम्ब्रिज का विद्यार्थी आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अपना अध्ययन करता है। कुछ ऐसे विथार्थी भी मुझे मिले, पर इसकी संख्या वहुत कम है, जो तेज़ होने पर भी किसी न किसी कारण कोई छात्रवृत्ति न पा सके थे। ये छुट्टियों में काम करके पढ़ाई का ख़र्च कमा लेते हैं। यूनिवर्सिटी में एक ऐसी संस्था भी है जो बड़ी आसान शर्तों पर अच्छे किन्तु निर्धन विद्यार्थियों को पढ़ाई के लिए धन उधार देती है, या पढ़ाई का ख़र्च कमाने के लिए काम दिलाती है।

और कालेजों का मुझे पता नहीं, पर सेण्ट कैथरीन्स कालेज में, जिसका छात्र मैं स्वयं था, ट्राइपास का वार्षिक व्यय 361 पौण्ड, 5 शि. वताया जाता था। इसमें कालेज की फ़ीस, रहना, खाना, कपड़ा, किताबें सब सम्मिलित हैं। 1 पौण्ड लगभग 13 रुपये के होता है। रुपयों में यह रक़म साढ़े चार हज़ार के करीब समझना चाहिए। ऊपर के ख़र्चों के लिए मैं डेढ़ हज़ार और जोड़ देना चाहूँगा।

जिन दिनों मैं केम्ब्रिज में था लगभग 70 भारतीय विद्यार्थी वहाँ शिक्षा पा रहे थे। केम्ब्रिज मजलिस उनकी पुरानी संस्था है; अब पाकिस्तान और इण्डिया सोसाइटी भी वन गयी हैं। यूनिवर्सिटी में, जहाँ तक मेरा अनुभव है, वर्ण, जाति, धर्म भेद की कोई भावना नहीं है। केवल योग्यता ही वहाँ परखी जाती है, योग्यता का ही सम्मान किया जाता है।

[1954]

मेरी स्मरणीय जलयान यात्रा

[रेडियो वार्ता]

अपनी स्मरणीय जलयान यात्रा पर वार्ता आरम्भ करने से पहले मुझे संस्कृत की एक कहावत याद आ रही है जिससे शायद आप भी परिचित होंगे। देवदत्तस्य एको पुत्रः सैव ज्येष्ठः, सैव मध्यः, सैव कनिष्ठः। यानी मैंने अपने जीवन में एक ही जलयान यात्रा की है जो, और किसी कारण न सही तो एकमात्र होने के कारण ही, स्मरणीय है। वह मेरी यात्रा थी जून-जुलाई, 1954 में लन्दन से बम्बई तक की।

जब मैं यह कहता हूँ कि मैंने जीवन में एकमात्र जलयान यात्रा की है तो शायद मैं जलयान का अर्थ जहाज़ समझ रहा हूँ। पर ऐसा होना नहीं चाहिए। मैं प्रयाग का निवासी हूँ। एक बार नाव से जमुना नदी पर दस-बारह मील की यात्रा करके सुजावन देवता तक गया था। हम तीन-चार मित्र खुद नाव खेकर ले गये थे। एक-दो बार पटना से मुज़फ़्फ़रपुर जाते हुए गंगा पर स्टीमर की यात्रा भी की थी। एक बार कश्मीर में डल झील पर शिकारे से लम्बा सफ़र किया था। प्रकृति की नैसर्गिक छटा के बीच माँझियों के दर्द-भरे गीत सुनते हुए जो समय बीता, वह तो जैसे परि-पूर्णता का एक क्षण बनकर स्मृति में अटका हुआ है। एक बार विदेश-प्रवास के दिनों में लिवरपूल से डब्लिन और डब्लिन से लिवरपूल गया-आया था। आयरिश चैनेल की इस यात्रा में एक रात लगती है और टूरिस्ट क्लास में चलनेवाले लोग प्रायः यह रात डेक पर बैठ, बियर पी-पीकर काट देते हैं। पर आज मैं नदी, झील, चैनेल की यात्रा की चर्चा न करके खुले समुद्र में एक बहुत बड़े जहाज से, लगभग पन्द्रह दिन की यात्रा की बात करने जा रहा हूँ। इस जहाज़ का नाम था पी. ऐण्ड ओ. स्ट्राथीडेन।

पिछली गर्मी की बात है, मित्रों में बैठा घर में कूलर लगवाने पर कुछ बात-चीत कर रहा था। मेरे एक बड़े विनोद-प्रिय मित्र हैं। उन्हें कूलर के बारे में पूरा ज्ञान था, किस-किस तरह के हैं, किन दामों के हैं, उनके लगानेवाले एजेण्ट कौन हैं और उनका मासिक ख़र्च क्या पड़ता है, वग़ैरह-वग़ैरह, हालाँकि न उनके घर कूलर लगा है और न उनके अरिचित-परिचितों में किसी के घर। मैंने पूछा, "भाई, तुम्हें कूलर के बारे में इतना ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ?" बोले, "जब गर्मी ज़्यादा पड़ती है तो मैं कूलर का विज्ञापन पढ़ता हूँ और कभी उसके लगाने की कल्पना से ही जी में कुछ ठण्डक आ जाती है।" उनकी बात पर मुझे बहुत हँसी आयी, पर आज मुझे याद आता है कि इंग्लैण्ड से भारत लौटने की उत्सुकता में मैं भी तो यही करता था। अभी मुझे लौटने को साल भर था, मगर मैं पुस्तकालय के सूचना-विभाग में जाकर जहाज़ों की पत्रिकाएँ पढ़ता था। इंग्लैण्ड में जहाज़ों की गतिविधि की एक पत्रिका प्रकाशित होती है। उसमें सब कम्पनियों के जहाजों के छूटने, ठहरने, पहुँचने, उनकी सुविधाएँ, किराये आदि की बात लिखी रहती है। और उस वक्त मुझे जहाज़ों के बारे में इतनी बातें मालूम हो गयी थीं कि अगर कोई मुझसे उनके बारे में बात करता तो यही सोचता था कि मैंने सारी उम्र जहाज़ों का सफर करने में बितायी है।

यह बात शायद हैज़लिट ने लिखी है कि किसी भी यात्रा का सबसे सुखदायी भाग है उससे वापस आना। इसका अनुभव मैंने इंग्लैण्ड से लौटते हुए किया। फिर मैं एक विशेष ध्येय को सामने रखकर विदेश गया था और उसे प्राप्त कर लौट रहा था। इस कारण मुझे एक और ख़ुशी थी।

आदमी में अगर आदमियत है तो वह कहीं भी रहे, वह किन्हीं को अपने स्नेह-बन्धन में बाँध लेता है, किन्हीं के स्नेह-बन्धनों में बँध जाता है। कुछ ने केम्ब्रिज में विदा ली, कुछ ने लन्दन में, कुछ ने टिलबरी डाक पर, जहाँ से जहाज़ छूटता है। विदा का नाम ही बुरा होता है। जहाज़ चला तो ऐसा लगा कि अब प्रतिपल अगर कुछ से दूर होता जा रहा हूँ तो कुछ के निकट आता जा रहा हूँ, जो मेरी बाट जोह रहे हैं और जिनसे मिलने को मैं आतुर रहा हूँ।

पहले दो-तीन दिन तक तो अपने केबिन के साथी को छोड़ किसी से परिचय नहीं था। प्रायः डेक पर बैठता और समुद्र की ओर देखता रहता। पिछले दो वर्ष के विदेश-प्रवास की न जाने कितनी स्मृतियाँ जागतीं, सिनेमा के चित्रों के समान आँखों के आगे आतीं, और फिर ग़ायब हो जातीं।

जहाज़ पर एक अनौपचारिक ढंग का वातावरण होता है। सबसे मेलजोल हो जाता है। मेरा विशेष परिचय एक आयरिश कुमारी नोरा से हो गया था। वह अनिन्द्य सुन्दरी थी। आयरलैण्ड की सौन्दर्य-प्रतियोगिता में उसे पुरस्कार मिल चुका था पर उसमें न अपने सौन्दर्य की चेतना थी और न अभिमान। जहाज़ में ही मैंने उस पर एक कविता लिखी थी, जो 'प्रणय पत्रिका' में प्रकाशित हो चुकी है। प्रवास की यह मेरी अन्तिम कविता थी।

यह कविता मैंने उसे कई बार सुनायी। अंग्रेज़ी में इसका भावार्थ भी किया। पर हमेशा सोचता था कि काश वह इसे हिन्दी में समझ सकती :

"सबसे कोमल
आयर मधुवन की कलिका का
तुम नाम अगर मुझसे पूछो
भर आह कहूँगा मैं नोरा।"

उसके विषय में जो मुझे कहना था, वह मैंने ज़्यादा अच्छी तरह कविता में लिख दिया है। वह स्वेज़ में उतर गयी।

लन्दन से चलकर हमारा जहाज़ स्वेज़ में रुका। जिब्राल्टर दूर से दिखायी दिया। भूमध्यसागर बहुत ही शान्त था। समुद्र में बस उतनी ही हरक़त होती थी जितनी जहाज़ चलने से हो सकती थी, बाक़ी समुद्र शीशे की तरह फैला हुआ दिखलायी देता था।

स्वेज़ पहुँचते ही चमड़े के रंग-बिरंगे सामान से भरी नावों ने हमारे जहाज़ को घेर लिया। व्यापारी लम्बी-लम्बी रस्सियाँ डेक पर फेंककर सामान ऊपर पहुँचाते हैं और लोग उन्हीं से बँधी थैलियों में दाम रखकर नीचे भेज देते हैं। स्वेज़ आते ही हमें लगा कि हम पूर्व में पहुँच गये। व्यापारी तरह-तरह के माल दिखाते हैं, देर तक मोल-तोल होता है, तब जाकर सौदा पटता है।

स्वेज़ नहर से आते हुए हमें बहुत-सी छावनियों के पास से गुज़रना पड़ा। नारी के अभाव का ये सिपाही कैसा अनुभव करते हैं! जहाज़ किनारे के इतने पास होकर गुज़रता है कि जहाज़ और किनारे पर खड़े लोगों में बातचीत हो सकती है। सिपाही आवाज़ लगाते हैं, "अपनी औरतों को डेक पर खड़ा कर दो कि हम अपनी आँखें सेंक लें"; 'कुछ फ़्लाइंग किस' भेजते हैं और योरोपीय स्त्रियाँ, विनोदप्रियता में, इसका उत्तर भी देती हैं। कभी-कभी कुछ अश्लील शब्द भी सुनायी पड़ते हैं।

लाल सागर में आकर गर्मी बहुत पड़ने लगी थी। हम प्रायः खुले डेक पर सोते। दो वर्ष इंग्लैण्ड में रहकर लगता था कि आसमान में तारे ही नहीं हैं, या इने-गिने हैं, क्योंकि वहाँ प्रायः आकाश धुंधला रहता है। अब डेक पर लेटता तो

आसमान तारों से भरा दिखायी देता।

स्वेज़ से चलकर हमारा जहाज़ अदन में रुका। वहाँ लोग बड़ी चीज़ें ख़रीदते हैं, क्योंकि वहाँ चुंगी नहीं लगती और चीज़ें सस्ती हैं। ख़राब माल भी अच्छा कह-कर कभी-कभी बिकता है। अदन में बहुत-से भारतीय व्यापारी हैं। बाज़ार में ऐसा लगता है कि हम हिन्दुस्तान के ही किसी बाज़ार में घूम रहे हैं। अदन में मुझे हिन्दुस्तान का पूर्वाभास-सा हुआ। अदन से बम्बई तक का चार दिन का सफ़र था। मानसूनी हवाएँ शुरू हो गयी थीं और बड़ी ऊँची-ऊँची लहरें उठती थीं। जहाज़ हिंडोले की तरह एक बार इधर झुकता, एक बार उधर। बहुतों को मतली शुरू हो गयी थी। इसे 'सी सिकनेस' कहते हैं। जब यह होती है दिल बहुत घबराता है। जी चाहता है बस मौत आ जाय। पर वक्त कट ही गया।

चौथी रात हमारे बड़े उल्लास की रात थी। सुबह बम्बई पहुँचेंगे, अपने देश की ज़मीन पर पाँव रक्खेंगे। उस रात फ़ैंसी ड्रेस शो था। खेल-तमाशे के बाद हम डेक पर ही कुर्सियाँ डालकर लेट गये। सुबह उठकर हम सबसे पहले अपना देश देखेंगे। इस उत्सुकता में रात कितनी लम्बी लगी! अभी उजाला भी नहीं हुआ था कि बहुत-से हिन्दुस्तानी दूरबीन लगा-लगाकर देखने लगे और जैसे ही अपने देश की ज़मीन नज़र आयी हम लोगों ने गाना शुरू कर दिया :

"सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
हम बुलबुलें हैं उसकी वह गुलस्ताँ हमारा।"

हमारा जहाज़ बन्दरगाह पर पहुँच गया। और उस सपने के गुलिस्ताँ में पाँव रखते ही कुछ काँटे चुभ गये; किस गुलिस्ताँ में फूल ही फूल होते हैं? यह काँटा था चुंगीवालों का। मेरे पास जो चुंगी का सामान था, उसकी सूची मैंने पहले ही दे दी थी और उस पर महसूल अदा कर दिया था। पर अफ़सर लोग सामान की तलाशी भी लेते हैं। एक कुली ने चुपके से मेरे कान में कहा, "पचीस रुपया दीजिए, आपका सामान बिना किसी बखेड़े के निकाल देंगे।" मैंने कहा, "मेरे पास कोई चुंगी का सामान नहीं, वाजिब मज़दूरी के सिवा कुछ नहीं दूँगा। यह मेरे सिद्धान्त के विरूद्ध है।" मेरा सामान बड़ी देर तक पड़ा रहा। कुली मेरे पास फिर आया। धीरे से बोला, "साहब, बीस ही दे दीजिए। आपका काम जल्दी हो जायगा, नहीं आपको घण्टों खड़ा रखेगा, एक-एक बक्सा खुलवायेगा, आपकी एक-एक चीज़ उतिन-पुतिन कर फेंक देगा।" मेरे पास तीन भारी पेटियाँ तो सिर्फ किताबों और अपने कागज़-पत्रों की ही थीं, उनके उतिन-पुतिन होने की कल्पना से मैं घबरा उठा। मैंने मजबूरन अपने सिद्धान्त को एक जेब में रक्खा और दूसरे से नोट निकाले और काम हो गया। विदेशों में भी चुंगी के कई मोर्चों से गुज़रना पड़ा था, पर ऐसी कोफ़्त कहीं नहीं हुई थी। 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' की गूँज मेरे कानों में मन्द पड़ गयी थी।

[1957]

बेल्जियम का अन्तर्राष्ट्रीय काव्य समारोह

चौथे द्विवार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय काव्य समारोह, कनाके-लिज़ूते (बेल्जियम) में भाग लेने के लिए चार भारतीय कवियों का एक शिष्टमण्डल वैज्ञानिक अनुसन्धान

एवं सांस्कृतिक कार्य मन्त्रालय (भारत सरकार) की ओर से भेजा गया था। इनमें से एक इन पंक्तियों का लेखक था। शेष तीन थे श्री एम. गोकाक (कन्नड़), श्री प्रेमेन्द्र मित्र (बंगला) और श्री रविश सिद्दीकी (उर्दू)।

समारोह की बैठकें 3 सितम्बर से 7 सितम्बर, 1959 तक कनाके-लिज़ूते नगर, के कैसीनो-कम्यूनाल-हाल में हुईं। भारतीय शिष्टमण्डल 4 सितम्बर को मध्याह्न में कनाके-लिज़ूते पहुँचा और उसके वाद के सब कार्यक्रमों में उपस्थित रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय काव्य समारोह की कल्पना सर्वप्रथम श्री आर्थर होलो के मस्तिष्क में आयी थी, वही इसके संस्थापक हैं। पहला समारोह 1953 में हुआ था; तब से प्रति दूसरे वर्ष यह समारोह होता रहा है। हर बार यह कनाके-लिज़ूते में ही हुआ है और आगे भी इसे यहीं करने का निश्चय है। इसको यूनेस्को, पी. ई. एन. क्लब, फ्रांस की रायल अकादेमी और बेल्जियम की साहित्य अकादेमी तथा अन्य कई साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं की संरक्षता प्राप्त है। बेल्जियम के प्रधानमन्त्री, अन्य कई मन्त्री, और कई शिक्षा संस्थाओं के निर्देशक भी इसके संरक्षकों में हैं।

चौथे समारोह में 42 देशों के लगभग 250 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। भाग लेनेवालों में प्रायः योरोपीय देशों के तथा उनके उपनिवेशों के प्रतिनिधि थे। समारोह में सबसे अधिक लोग बेल्जियम के थे। आश्चर्य इस बात का था कि अन्तर्राष्ट्रीय कही जानेवाली इस संस्था के समारोह में भाग लेने के लिए इंग्लैण्ड से कोई कवि नहीं आया था।

समारोह की कार्रवाई की भाषा फ़्रांसीसी थी, अन्य भाषाओं में जो व्याख्यान आदि होते थे उनके अनुवाद फ़्रांसीसी में कर दिये जाते थे। योरोपीय महाद्वीप में प्रायः फ़्रांसीसी दूसरी भाषा के रूप में पढ़ी जाती है, इस कारण ग़ैर-फ़्रांसीसी देश के प्रतिनिधि भी प्रायः फ्रेंच में ही बोले। भारतीय प्रतिनिधिमण्डल में फ़्रांसीसी जाननेवाला कोई नहीं था; एक महिला दुभाषिया कभी-कभी हमारी सहायता करती थी।

समारोह के अध्यक्ष जां कासू का भाषण विज्ञान और कविता के विषय पर था। कविता युग-युग से अज्ञात और रहस्यमय पर पलती रही है। विज्ञान ने बहुत-से रहस्यों को खोज लिया है, पर इससे कवियों को घबराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि विज्ञान ने जहाँ बहुत-से रहस्यों को खोला है, वहाँ बहुत-से रहस्यों को जन्म भी दिया है। इन रहस्यों में धँसने का साहस आगे भी वैज्ञानिक से पहले कवि करेंगे। फिर विज्ञान नैतिकता से निरपेक्ष है। कविता नैतिकता से निरपेक्ष नहीं हो सकती। उसे विज्ञान पर नैतिकता का नियन्त्रण बनाये रखना है।

समारोह के उपाध्यक्ष पियर लुई फ़्लूके ने भी विज्ञान और कविता को अपने भाषण का विषय बनाया। उन्होंने कहा कवि को त्रिकालदर्शी होना चाहिए। उसे गत और अनागत के बीच सेतु बनाना चाहिए। विज्ञान ने आज तरह-तरह की मशीनें बना दी हैं, पर मशीनें सदा मनुष्य पर निर्भर रहेंगी। कविता का काम है कि वह मशीनों के पीछे काम करनेवाले मनुष्य को मानव-हितकारी मनुष्य बनाये रक्खे। मनुष्य कितनी ही बड़ी और सूक्ष्म मशीनें क्यों न बना ले वह उन्हें अपना सद्-असद् विवेक का एकाधिकार कभी नहीं सौंपेगा और इसको संयत-शिक्षित-दीक्षित करना कवि का काम है। मशीनों ने जिस भय को जन्म दिया है

उससे मानव को मुक्त करने का उत्तरदायित्व कविता को लेना है। कविता मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है और उसका स्थानापन्न अभी तक खोजा नहीं जा सका।

इन भाषणों के पश्चात अन्य प्रतिनिधियों ने भी इस विषय पर अपने-अपने विचार प्रकट किये।

5 सितम्बर को समाज और कविता पर भाषण हुए। योरोपीय देशों में कविता समाज से दूर चली जा रही है। कविता लिखनेवाले बहुत हैं, पर पढ़ने-वाले कम। पढ़नेवाले प्राय: लिखने-पढ़ने के पेशे से सम्बद्ध लोग हैं। जहाँ कुछ लोगों का विचार है कि कविता को लोकप्रिय बनाना चाहिए, वहाँ कुछ लोग ऐसा भी समझते हैं कि हर समाज में कविता समझनेवाले कम ही लोग होते हैं। जैसे विज्ञान की बारीकियों को कम लोग समझते हैं, पर उसका लाभ अधिक-से-अधिक लोगों को पहुँचता है, उसी प्रकार कविता भी कम लोग समझेंगे, पर कुछ ऐसा किया जा सकता है कि उसका प्रभाव व्यापक बनाया जाय। फ़्रांस के लुई गियम ने तो यहाँ तक कहा कि कविता एकान्त और सूक्ष्म चिन्तन का फल है और उसका उपभोग एकान्त में ही ठीक तरह से हो सकता है। आज की हलचल के जीवन में जो अपने को एकान्त में ध्यानस्थ कर सके, कविता उसकी है। ऐसे लोग अधिक नहीं होंगे। पर उनका भी ऐसा ध्यान है कि वह कविता भी जिसे कम लोग ही समझते हैं, किसी अनजानी जन-मनोविज्ञानी प्रक्रिया से साधारण जनता तक पहुँच जाती है और उसे प्रभावित करती है। अन्त में उन्होंने केसरलिंग के इस कथन को दुहराया —आज हम जानते तो हर चीज़ को हैं पर समझते किसी चीज़ को नहीं। विज्ञान जानने के काम में संलग्न है, कविता को समझने का काम करना है। उसे वैज्ञानिक के मस्तिष्क के जोड़ की वह शक्ति चाहिए जो उसे चीज़ों की ठीक समझने का सामर्थ्य दे।

पियर बेयार्न ने कहा कि एटमी युग में एटमी कवि भी चाहिए। समाज को दोनों को समझने-अपनाने के लिए गतिशील होना चाहिए।

इसी दिन भारतीय समाज और कविता के ऊपर मेरा व्याख्यान हुआ। मैंने कहा कि भारत में विज्ञान अभी जीवन के क्षेत्र में इतना व्यापक नहीं हुआ कि काव्य से उसके संघर्ष की बात सोची जा सके। हमारे सुधार और स्वतन्त्रता के आन्दोलन में कविता ने बराबर सहायता दी है। कविता के सम्बन्ध में दो धारणाएँ भारत में परम्परा से सुदृढ़ हैं कि कविता आनन्द के लिए है, कविता मानव-कल्याण के लिए है। इनके विरुद्ध जो भी शक्तियाँ खड़ी होंगी भारत का कवि उनका विरोध करेगा। कविता के लिए भारतीय जनता भाव-प्रवण है। जैसे-जैसे वह अधिकाधिक शिक्षित और सम्पन्न होगी वह कविता के अधिक निकट आयेगी। संसार की वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक प्रगति से भी भारत का कवि अनभिज्ञ नहीं है। पर यह मेरी व्यक्तिगत सम्मति है कि कवि को अपने ज्ञान के दम्भ में जनता से दूर नहीं चले जाना है। उसे उड़ना ही नहीं, औरों को पंख प्रदान करना भी है। मैं उच्च, रहस्यमय, जटिल, सूक्ष्म को सरल, बोधगम्य, आनन्ददायक बनाने को कवि की साधना का अंग मानता हूँ।

6 तारीख को कवि की स्वतन्त्रता के विषय में व्याख्यान हुए। फ़्रांस के पियर इमैनुएल ने कविता की शक्ति पर ज़ोर दिया, हिटलरी पंजे से फ़्रांस की मुक्ति में रेसिस्तांस आन्दोलन का हिस्सा बताया, और कहा कि कवि को अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठानी चाहिए और उसे ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र होना चाहिए।

इस सिलसिले में हंगरी के 62 वर्षीय कवि डेरी टाइबर का नाम विशेष रूप से लिया गया जो हंगरी के विद्रोह को अपनी मानसिक सहानुभूति देने के कारण 9 वर्ष की सज़ा भुगत रहे हैं। पेस्टरनाक का नाम भी कई बार लिया गया। अन्त में बहुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि कवि के राजनीतिक विचार कुछ भी हों, उसे उन्हें व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

अपराह्ण और रात्रि का समय सिनेमा, कंसर्ट, आर्केस्ट्रा, बैले नृत्य (एक बैले टैगोर की एक कविता पर था), कविता-पाठ आदि के लिए था। इन्हीं कार्यक्रमों के अन्तर्गत एक सन्ध्या को मारिस मेटरलिंक के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गयी जिसमें भारत की ओर से श्री गोकाक ने श्रद्धांजलि अर्पित की। मारिस मेटरलिंक के 'ब्ल्यू बर्ड' से प्रभावित होकर उन्होंने 'रत्न पक्षी' नाम से एक कविता भी लिखी थी, जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद भी उन्होंने सुनाया।

सन्ध्या के कार्यक्रमों में कुछ ऐसे फ़िल्म दिखाये गये जो आधुनिक कविताओं के रूपकों को समझाने के लिए बनाये गये थे। सिनेमा द्वारा यह प्रयत्न किया गया था कि किसी कविता में कवि की कल्पना किन-किन दृश्यों का ध्यान करते हुए किन रूपकों पर पहुँचती है और उनमें ऐसा क्या होता है कि उनका उपयोग करती है। यह बहुत मनोरंजक था। कुछ वृत्तचित्र कवियों के जीवन पर भी थे।

कुछ देशों के शिष्टमण्डलों ने अपने स्टैण्ड बनाये थे जिस पर उनके देशों के कवियों के चित्र और उनकी रचनाएँ सजाकर रक्खी गयी थीं। रूसी स्टैण्ड सबसे अच्छा था। रूसी शिष्टमण्डल ने अपने यहाँ की कविता-पुस्तकों का एक सेट और एक सीपी का सींगनुमा प्याला भी समारोह को समर्पित किया।

भारत के कवियों से विभिन्न देशों के कवियों ने परिचय प्राप्त किया और यहाँ की काव्य-सम्बन्धी समस्याओं के बारे में पूछताछ की। भाषा की कठिनता के कारण आदान-प्रदान में असुविधा का अनुभव हम बराबर करते रहे।

समारोह के अधिकारी इस बात से बहुत प्रसन्न थे कि भारत के कवि इसमें भाग लेने आये। समारोह में शिष्टमण्डल का परिचय कराया गया और उसका भव्य स्वागत हुआ।

ऐसे समारोहों में भारत के कवियों को जाना चाहिए। इससे उनका सम्पर्क योरोप के कवियों से होगा, वे जान सकेंगे कि पश्चिम में कवियों के सामने क्या समस्याएँ हैं और वे किस तरह उनका सामना कर रहे हैं। विज्ञान और कला के द्वारा कविता को लोकप्रिय बनाने का जो प्रयास वहाँ हो रहा है उससे भी हम लाभान्वित हो सकते हैं।

अब आगे यदि भारत के कवियों का शिष्टमण्डल जाय तो कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए :

(1) भाग लेने की सूचना कम-से-कम दो सप्ताह पूर्व देनी चाहिए, जिससे कार्यक्रम में उनके लिए भी स्थान रक्खा जा सके।

(2) ऐसे एकाधिक दुभाषियों का प्रबन्ध रहना चाहिए जो हर समय मण्डल के साथ रह सकें और फ़्रांसीसी से अंग्रेज़ी या कवियों की भाषा में अनुवाद कर सकें। यह काम ब्रुसेल्स के भारतीय राजदूतावास की सहायता से किया जा सकता है। उनको पहले से कहा जाय तो वे सुविधा से ऐसा प्रबन्ध कर सकते हैं।

(3) शिष्टमण्डल के लिए ऐसे स्टैण्ड का प्रबन्ध हो जहाँ भारत के प्रख्यात

कवियों के चित्र लगे हों और उनकी कविता-पुस्तकें रक्खी हों। यदि उनके अंग्रेज़ी या योरोपियन भाषा के अनुवाद छपे हों तो वे भी रहें।

(4) एक छोटी पुस्तिका में भारतीय कविता का इतिहास रहे, और वह निःशुल्क वितरण की जाये। बेल्जियम और हालैण्ड की कविता की इतिहास-पुस्तिका इस प्रकार बाँटी गयी थी; यदि यह फ़्रांसीसी में हो तो अधिक अच्छा हो।

(5) जो कवि भाग लेने जायँ उनका संक्षिप्त परिचय साइक्लोस्टाइल कराके या छपाकर भेजा जाय। इसमें उनके साहित्यिक कृतित्व की भी चर्चा रहे। यह भी फ़्रांसीसी में हो तो अधिक अच्छा।

(6) समारोह को उपहारस्वरूप देने के लिए भारतीय काव्य-पुस्तकें भी भेजी जायँ।

(7) समारोह के कार्यक्रम की सूची पहले से मँगायी जाय और जानेवाले कवियों को वाद-विवाद के विषयों से अवगत कर दिया जाय। सम्भव हो तो वे लिखित रूप से अपने भाषण तैयार कर लें।

(8) कवि-सम्मेलन अथवा मुशायरे जैसी कोई चीज़ योरोपीय देशों में नहीं होती। यदि किसी अच्छे कवि-सम्मेलन या मुशायरे का (उदाहरणार्थ जैसा गणतन्त्र दिवस पर लाल क़िले में होता है) वृत्त-चित्र बनाकर भेजा जाय तो हमारी इन संस्थाओं के सम्बन्ध में योरोपियनों की जानकारी बढ़ेगी और वे इसे बड़ी रुचि से देखेंगे।

अन्त में मैं वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं सांस्कृतिक कार्य मन्त्रालय को धन्यवाद देना चाहूँगा कि उसने हम लोगों को इस समारोह में भाग लेने का अवसर प्रदान किया। आशा है भविष्य में भी ऐसे शिष्टमण्डल भेजे जायेंगे और हमारे प्रतिनिधित्व को प्रभावकारी बनाने के लिए भी क़दम उठाये जायेंगे।

[1959]

आंग्ल-आयरी साहित्य

अंग्रेज़ों द्वारा आयरलैण्ड को विजय करने का कार्य हेनरी द्वितीय द्वारा बारहवीं शताब्दी (1171) में आरम्भ हुआ और हेनरी अष्टम द्वारा सोलहवीं सदी (1541) में पूर्ण हुआ तथा चार सौ वर्षों के संघर्ष के पश्चात् वह बीसवीं शताब्दी (1922) में स्वतन्त्र हुआ। इस दीर्घकाल में अंग्रेज़ों का प्रयत्न रहा कि आयरलैण्ड को पूरी तरह इंग्लैण्ड के रंग में रँग दें, उसकी राष्ट्रभाषा गेलिक को दबाकर उसे अंग्रेज़ीभाषी बनायें; और इस कार्य में वे बहुत अंशों में सफल भी हुए। आंग्ल-आयरी साहित्य से हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है जो अंग्रेज़ीभाषी आयरवासियों द्वारा रचा गया है और जिसमें आयर की निजी सभ्यता, संस्कृति और प्रकृति की विशेष छाप है। गेलिक अपने अस्तित्व के लिए 17वीं शताब्दी तक संघर्ष करती रही और स्वतन्त्र होने के बाद आयर ने उसे अपनी राष्ट्रभाषा माना है। फिर भी लगभग चार सौ वर्षों तक आयरवासियों ने जिस विदेशी माध्यम से अपने को व्यक्त किया है वह पैतृक दाय के रूप में उनकी अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इसमें से बहुत कुछ इस कोटि का है कि वह अंग्रेज़ी साहित्य का अविभाज्य अंग बन

गया है और उसने अंग्रेज़ी साहित्य को प्रभावित भी किया है, पर बहुत कम ऐसा है जिसमें आयर के हृदय की अपनी ख़ास धड़कन नहीं सुनायी देती। इस साहित्य के लेखकों में हमें तीन प्रकार के लोग मिलते हैं: एक वे जो इंग्लैण्ड से जाकर आयर में बस गये पर वे अपने संस्कार से पूरे अंग्रेज़ बने रहे, दूसरे वे जो आयर से आकर इंग्लैण्ड में बस गये और जिन्होंने अपने राष्ट्रीय संस्कारों को भूलकर अंग्रेज़ी संस्कारों को अपना लिया, तीसरे वे जो मूलत: चाहे अंग्रेज़ हों चाहे आयरी, पर जिन्होंने आयर की आत्मा से अपने को एकात्म करके साहित्य-रचना की। मुख्यत: इस तीसरी श्रेणी के लोग ही आंग्ल-आयरी साहित्य को वह विशिष्टता प्रदान करते हैं जिससे भाषा की एकता के बावजूद अंग्रेज़ी साहित्य में उसको अलग स्थान दिया जाता है। यह विशिष्टता उसकी संगीतमयता, भावाकुलता, प्रतीकात्मकता, काल्पनिकता, अति-मानव और अति-प्रकृति के प्रति आस्था और कभी-कभी बलात् इन सबसे विमुख एक ऐसी बौद्धिकता और तार्किकता में है जो उद्धत और क्रान्ति-कारिणी प्रतीत होती है। यही है जो एक ही युग में विलियम बटलर ईट्स को भी जन्म देती है और जार्ज बरनार्ड शा को भी।

आंग्ल-आयरी साहित्य का आरम्भ सम्भवत: लियोनेल पावर के संगीत-विषयक लेख से होता है जो 1395 में लिखा गया था, पर साहित्यिक महत्त्व का प्रथम लेख शायद रिचर्ड स्टैनीहर्स्ट (1547-1618) का माना जायगा जो आयर के इतिहास के सम्बन्ध में हालिनशेड के क्रानिकिल में सम्मिलित किया गया था (1578)।

17वीं शताब्दी के कवियों में डेनहम, रासकामन, टेट; नाट्यकारों में ओरेनी; और इतिहासकारों में सर जान टेम्पिल के नाम लिये जायेंगे।

18वीं शताब्दी इंग्लैण्ड में गद्य के चरम विकास के लिए प्रसिद्ध है। वाग्मिता, नाटक, उपन्यास, दर्शन, निबन्ध सबमें अद्भुत उन्नति हुई। इसमें आयरियों का योगदान अंग्रेज़ों से किसी भी दशा में कम नहीं माना जायगा।

पार्लियामेण्ट में बोलनेवालों में एडमण्ड बर्क (1729-97) का नाम सर्वप्रथम लिया जायगा। 'इम्पीचमेण्ट आफ़ वारेन हेस्टिंग्स' की प्रत्याशा किसी अंग्रेज़ से नहीं की जा सकती थी। उसमें अंग्रेज़ों के आत्म-नियन्त्रण का भी अभाव है। पार्लिया-मेण्ट के अन्य वक्ताओं में फ़िलपाट क्यूरन (1750-1817) और हेनरी ग्राटन (1746-1820) के नाम भी सम्मानपूर्वक लिये जायेंगे। यद्यपि उनके विषय प्राय: आयर-सम्बद्ध और सीमित होते थे।

18वीं सदी उपन्यासों के उद्भव का काल है। सेण्ट्सबरी ने जिन चार लेखकों को उपन्यास के रथ का चार पहिया कहा है उनमें एक—स्टर्न (1713-68) हैं। ये आयरमूलक थे और यद्यपि ये आजीवन इंग्लैण्ड में ही रहे, इनके उपन्यास ने एक इस प्रकार के चरित्र को जन्म दिया जो भावना के उद्वेग में पूरी तरह बहता है। दूसरे उपन्यासकार गोल्डस्मिथ (1728-74) ने उपन्यास में सामान्य घरेलू जीवन की स्थापना की।

जोनाथन स्विफ़्ट (1667-1745) ने सरल शैली में व्यंग लिखने में प्रसिद्धि प्राप्त की। उनका ग्रन्थ 'गलिवर्स ट्रेविल' मानवता पर सबसे बड़ा व्यंग्य है। उसे बाल-विनोद बनाकर मानवता ने लेखक पर व्यंग्य किया है। जार्ज बर्कले (1685-1753) ने योरोपीय दर्शनशास्त्र में विचार के सूक्ष्म आधारों का सूत्रपात किया।

नाट्यकारों में विलियम कांग्रीव (1670-1729), शेरिडन (1751-1816), जार्ज फरकुहर (1678-1707) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस शताब्दी

में कोई प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ।

आयर के इतिहास में 19वीं सदी राष्ट्रीयता, उदार मनोवृत्ति, क्रान्ति की विचारधारा, रूमानी उद्भावना और पुरातन के प्रति अनुराग के लिए प्रसिद्ध है। काव्य के क्षेत्र में, शारलट ब्रूक (1740-'93) ने गेलिक कविताओं के अनुवाद अंग्रेज़ी में किये थे; जे. जे. कोलेनन (1795-1829) ने गेलिक कविताओं के आधार पर अंग्रेज़ी में कविताएँ लिखीं। मौलिक कवियों में जेम्स क्लैरेंस मंगन (1803-49), सैमुएल फ़रगुसन (1810-'86), आब्रे-डि-वियर (1814-1902) और विलियम एलिंगम (1824-'89) के नाम प्रसिद्ध हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध थामस मूर (1779-1852) हुए। उन्होंने आयरी लय के ऊपर बहुत-सी कविताएँ लिखीं। अपने समय में वे रूमानी कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। 19वीं शताब्दी में कई पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं जिनसे आयरलैण्ड के सांस्कृतिक आन्दोलन को बड़ा बल मिला। इनमें 'यंग आयरलैण्ड' और 'दी नेशन' प्रमुख रहा। डबलिन युनिवर्सिटी मैगज़ीन में इस आन्दोलन की कुछ स्थायी साहित्यिक सामग्री संगृहीत है।

शताब्दी के उपन्यासकारों में निम्नलिखित नाम प्रसिद्ध हैं: चार्ल्स मेट्यूरिन (1782-1824) जिनके 'मेलमाथ दि वांडरर' को योरोपीय ख्याति मिली; मेरिया एजवर्थ (1767-1849) जिन्होंने समकालीन आयरी जीवन का चित्रण सफलता के साथ किया; जेरल्ड ग्रिफ़िन (1803-'40) जिन्होंने ग्रामीण जीवन की ओर ध्यान दिया। लघु कथा लेखकों में हैमिल्टन मैक्सवेल (1792-1850) का नाम सर्वोपरि है। चार्ल्स लीवर (1806-'72) ने हास्य और व्यंग्य लिखने में प्रसिद्धि प्राप्त की। आयरी व्यंग्य अपने ही ऊपर आकर समाप्त होता है। लीवर पर अपनी ही जाति का मज़ाक उड़ाने का दोष लगाया गया। यह दोष आगे चलकर जे. एम. सिंज पर भी लगाया गया।

इस सदी के आलोचकों में एडवर्ड डाउडन (1843-1913) का नाम प्रसिद्ध है। शेक्सपियर पर लिखी उनकी पुस्तक आज भी मान्य है।

नाटक के क्षेत्र में शताब्दी के अन्त में आस्कर वाइल्ड (1854-1900) प्रसिद्ध हुए। वे आयरी थे, परन्तु उन्होंने आयरी प्रभावों से मुक्त रहने का प्रयत्न किया था। उनमें जो कुछ आयरी प्रभाव है, उनके अवचेतन से ही आया जान पड़ता है।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में आयर में जो साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ उसके केन्द्र डब्ल्यू. बी. ईट्स (1865-1939) माने जाते हैं। कविता, नाटक, निबन्ध—सभी क्षेत्रों में उनकी ख्याति समान है। उन्होंने डबलिन में एबी थियेटर की स्थापना भी की। इससे प्रोत्साहित होकर कई अच्छे नाटककार आगे आये। इनमें लेडी ग्रिगोरी (1852-1932) और जे. एम. सिंज (1871-1909) अधिक प्रसिद्ध हैं। दोनों ने आयर के ग्रामीण जीवन की ओर देखा। लेडी ग्रिगोरी ने भावुकता से, सिंज ने व्यंग्य से। डब्ल्यू. बी. ईट्स ने कई प्रकार के नाटक लिखे। जापान के 'नो' नाटकों से प्रभावित होकर उन्होंने प्रतीकात्मक नाटक लिखने में विशिष्टता प्राप्त की। कविता के क्षेत्र में आयरी प्रभाव को न छोड़ते हुए भी अपने समय में वे अंग्रेज़ी के प्रतिनिधि कवि माने जाते रहे। उनके मित्र जार्ज रसेल, जो ए. ई. के नाम से कविताएँ लिखते थे, थियोसोफ़िकल विचारों से प्रभावित थे।

जार्ज बरनार्ड शा (1856-1950) का रुख आयर के सम्बन्ध में आस्कर वाइल्ड जैसा ही था। पर जिस प्रकार का व्यंग्य उन्होंने समकालीन समाज के

हर पक्ष पर किया है, वह कोई आयर ही कर सकता था।

ईट्स के समकालीन लेखकों में जार्ज मूर (1852-1933) का भी नाम लिया जायगा। वे कुछ समय तक आयर के सांस्कृतिक आन्दोलन से सम्बद्ध रहे, पर बाद को अलग हो गये।

आधुनिक काल में जिस लेखक ने सारे संसार का ध्यान डबलिन और आयरलैण्ड की ओर अपनी एक रचना से ही खींच लिया वे हैं जेम्स ज्वाएस (1882-1941)। उनके 'यूलिसीज़' ने मानव मस्तिष्क की ऐसी गहराइयों को छुआ कि वे सारे संसार के लिए कौतूहल का विषय बन गयीं। ज्वाएस ने भाषा की अभिनव अभिव्यंजनाओं की सम्भावनाओं का भी पता लगाया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आयर में साहित्यिक शिथिलता के चिह्न दिखायी देते हैं। कारण शायद नयी प्रेरणा का अभाव है। सम्भवत: यह भी कि आयर की मनीषा गेलिक के पुनरुद्धार और प्रचार की ओर लग गयी है और अंग्रेज़ी के साथ उसका भावात्मक सम्बन्ध ढीला हो रहा है।

[1959]

विलियम बटलर ईट्स

[रेडियो वार्ता]

आधुनिक काल में टी. एस. ईलियट अंग्रेज़ी भाषा के सबसे बड़े कवि माने जाते हैं, परन्तु उनके प्रसिद्धि पाने के पूर्व यह सम्मान यदि किसी को दिया जाता था तो विलियम बटलर ईट्स को। टी. एस. ईलियट ने स्वयं अपने एक लेख में लिखा था कि यदि मुझसे कोई पूछे कि आधुनिक समय में अंग्रेज़ी का सबसे बड़ा प्रतिनिधि कवि कौन है तो मैं नि:संकोच कहूँगा कि विलियम बटलर ईट्स। यह बात सर्वमान्य है कि टेनिसन के बाद वे ही अंग्रेज़ी भाषा के सबसे बड़े कवि हुए हैं। कुछ समालोचकों का मत तो यह भी है कि मिल्टन के बाद वे ही सबसे बड़े कवि हुए हैं। यदि इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो भी तो उन्हें वर्ड्सवर्थ और टेनिसन के कोटि का कवि मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो।

ईट्स का जन्म सन् 1865 में डबलिन में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा इंग्लैण्ड के स्कूलों में हुई। इसके पश्चात् उन्होंने चित्रकला की शिक्षा डबलिन में ली। उनके पिता स्वयं प्रसिद्ध चित्रकार थे। परन्तु उनका रुझान साहित्य की ओर बढ़ता गया; और यद्यपि आजीवन वे चित्रकला में अभिरुचि रखते रहे, तो भी उनके सृजन का क्षेत्र साहित्य ही रहा।

उन्होंने लगभग 20 वर्ष की अवस्था से काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी और अपनी मृत्यु के एक-दो दिन पहले तक वे रचनाएँ करते गये। उनकी अन्तिम रचना उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुई। उनकी मृत्यु सन् 1939 में लगभग 74 वर्ष की अवस्था में हुई। इस प्रकार उनका रचना-काल लगभग 55 वर्ष तक चला।

जिस समय उन्होंने रचना आरम्भ की उस समय अंग्रेज़ी काव्य में प्रि-रैफेलाइट स्कूल की कविता का बहुत प्रचलन था और ईट्स की प्रारम्भिक कविताओं में इस स्कूल के प्रभाव स्पष्ट हैं। परन्तु ईट्स अपने समय और अपने व्यक्तित्व के प्रति बहुत

सजग थे। जहाँ एक ओर वे केवल अनुयायी बनकर सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अपने देश के उस आन्दोलन से भी शक्ति ग्रहण की जिसे आयरी पुनर्जागरण कहते हैं और जिसकी पूर्णाहुति आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता में हुई। ईट्स कुछ वर्षों तक अपने देश की पार्लियामेण्ट के सदस्य भी रहे।

आयरी पुनर्जागरण के साहित्य-पक्ष के नेता वे स्वयं थे। साहित्य का जनता से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने नाटक की महत्ता समझी और एक नाट्यशाला की स्थापना की जो एबी थियेटर के नाम से प्रसिद्ध है। इसके लिए स्वयं उन्होंने नाटक लिखे और अपने मित्रों से लिखवाये। आयरी पुनर्जागरण में एबी थियेटर का योगदान सर्वविदित है। ईट्स के नाटक आयरलैण्ड में ही नहीं इंग्लैण्ड और अमरीका में भी खेले गये और कला की दृष्टि से भी उनका स्थान बहुत ऊँचा माना गया है।

ईट्स ने कविताएँ लिखीं, नाटक लिखे और निबन्ध लिखे। पर मुख्यतया वे कवि थे। उनके नाटकों को काव्य-नाटक ही कहना उचित होगा। उनके गद्य में भी कवित्व गुण भरे हुए हैं।

ईट्स का मानसिक विकास ऐसे युग में हुआ, जब विज्ञान ने ईसाई धर्म से लोगों की आस्था डिगा दी थी। ईट्स आजीवन धर्म की खोज में रहे। वे बहुत दिनों तक थियोसोफ़िकल सोसाइटी के सदस्य रहे। भारतीय दर्शन के प्रति भी उनका अनुराग रहा। भारत की ओर वे विशेष रूप से आकर्षित थे। सरोजिनी नायडू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से उनकी मैत्री थी। उन्होंने गीतांजलि की कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद की एक-एक पंक्ति सुधारी और उसकी भूमिका भी लिखी। उन्होंने पुरोहित स्वामी की सहायता से दस उपनिषदों का अनुवाद किया और उसकी भूमिका लिखी। उनकी बहुत-सी रचनाओं पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि उनके नाटकों का कवित्व गुण संस्कृत नाटकों से आया था। उन्होंने कई संस्कृत नाटकों के अंग्रेज़ी अनुवादों का अध्ययन किया था।

ईट्स की रचनाओं के दो विभाग किये जाते हैं—पूर्व ईट्स और उत्तर ईट्स। पूर्व ईट्स में वे गुण प्रधान हैं जिन्हें हम रोमाण्टिक कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ईट्स की रचनाएँ रोमाण्टिक गुणों से मुक्त हो गयीं। स्वप्न और लालित्य का स्थान वास्तविकता और ओज ने ले लिया। फिर भी दोनों के ऊपर ईट्स के व्यक्तित्व की छाप है। स्वप्न-द्रष्टाओं में वे सबसे अलग स्वप्नद्रष्टा हैं, और सच्चाई देखनेवालों में उनका सबसे अलग दृष्टिकोण है। यह विशेषता, हम फिर दुहरा देना चाहते हैं, उनके व्यक्तित्व की है और उनके देश की जिसकी परम्परा, संस्कृति, इतिहास से उनके हृदय का तन्तु-तन्तु भीगा था।

आयरलैण्ड की भाषा गेलिक है, पर सैकड़ों वर्षों से अंग्रेज़ी उस पर इस तरह लादी गयी है कि वह अंग्रेज़ी को ही अपनी मातृभाषा समझ बैठा है। उसके कितने ही साहित्यकारों ने अंग्रेज़ी में उच्चकोटि की रचनाएँ की हैं। फिर भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद गेलिक को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न हो रहा है। ईट्स ने स्वयं लिखा था कि यदि मैं गेलिक में लिखता तो अधिक अच्छा लिखता। परम्परा के अभाव में ईट्स गेलिक में लिखकर सम्भवतः न अंग्रेज़ी से अच्छा लिख सकते और न उनकी रचनाओं का इतना प्रचार होता, परन्तु फिर भी ईट्स के इस कथन से उनका अपना देश और अपनी भाषा के प्रति अनुराग प्रकट होता है। ईट्स का पौत्र जो भाषा बोलता है ईट्स उसे शायद ही समझ सकते। यदि कभी ऐसा हुआ कि आयरलैण्ड से अंग्रेज़ी एकदम निकल गयी तो आयरलैण्ड अपने सबसे बड़े कवि

से अपरिचित हो जायेगा। पर जहाँ तक अंग्रेज़ी का सम्बन्ध है अंग्रेज़ी काव्य में ईट्स का नाम सदा के लिए अमर है। मैंने सुना है कि ईट्स की कुछ कविताओं के अनुवाद गेलिक में हुए हैं। मैं नहीं कह सकता वे कैसे हुए हैं। उनके कुछ नाटकों के अनुवाद योरोपीय और एशियाई भाषाओं में हो चुके हैं और खेले भी गये हैं। हिन्दी में जहाँ तक मेरा ज्ञान है, न उनकी कविता का अनुवाद हुआ है और न उनके नाटकों का। ईट्स के साहित्य का विशेष अध्ययन कर मैंने उन पर केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट ली। कभी-कभी सोचता हूँ कि ईट्स का कुछ साहित्य अनुवाद रूप में हिन्दी को देने का दायित्व मुझ पर है, मगर

इश्के बुताँ करूँ कि मैं यादे ख़ुदा करूँ,
इक छोटी-सी उमर में मैं क्या-क्या ख़ुदा करूँ!

[1955]

जेम्स ज्वायस और 'यूलिसीज़'

[रेडियो वार्ता]

अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य में रुचि रखनेवाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने जेम्स ज्वायस लिखित 'यूलिसीज़' का नाम न सुना हो, या उसे उल्टा-पल्टा न हो या पढ़ा न हो। संसार के बड़े उपन्यासों में इसकी गणना होगी या नहीं, यह आज भी विद्वानों में विवाद का विषय है। फिर भी बीसवीं सदी में जिस पुस्तक ने साधारण पाठक, सुधी वर्ग और समालोचकों का ध्यान सबसे अधिक आकृष्ट किया वह 'यूलिसीज़' ही है। योरोपीय भाषाओं में इस पुस्तक के कितने ही अनुवाद हो चुके हैं, शायद जापानी में भी हो चुका है। हिन्दी अथवा अन्य किसी भारतीय भाषा में 'यूलिसीज़' या उसके किसी अंश अथवा जेम्स ज्वाइस की अन्य किसी रचना के अनुवाद का पता मुझे नहीं है। विद्वानों और आलोचकों द्वारा इस पर लिखी पुस्तकों की संख्या सौ के, और आलोचना-निबन्धों की संख्या हज़ार के लगभग पहुँचेगी। इतना मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् यूरोप की, कम-से-कम अंग्रेज़ी की, उपन्यास कला वही नहीं रह गयी जो उसके पूर्व थी। बीसवीं सदी के उपन्यासों का अध्ययन उस समय तक पूर्ण नहीं समझा जायेगा, जब तक इस पुस्तक की महत्ता पूरी तरह न समझी जाय।

जनता तक इसे पहुँचने के मार्ग में जो बाधाएँ आयीं, उनकी भी एक लम्बी कहानी है। इसके लेखक डबलिन-निवासी थे, जो 1904 में अपनी बाईस वर्ष की अवस्था में, अपने रूढ़िबद्ध परिवार, संकीर्णता-विजड़ित रोमन कैथलिक धर्म और परस्पर-विरोधी राजनीतिक दलों में विभक्त अपने देश आयरलैण्ड से असन्तुष्ट होकर योरोप चले गये थे। वे कभी इटली, कभी हंगरी, कभी स्विटज़रलैण्ड और कभी फ्रांस में रहे; उन्होंने आधुनिक योरोपीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया, डाक्टरी पढ़ी, संगीत की शिक्षा ली, अख़बार चलाने का प्रयत्न किया, सिनेमाघर खोला, नाटक आन्दोलन में भाग लिया। अन्त में वे पेरिस में भाषा के अध्यापक के रूप में व्यवस्थित हुए। साथ ही लेखन का व्यवसाय भी उन्होंने अपनाया। जीविकोपार्जन के विभिन्न साधनों को खोजने, अपनाने, छोड़ने के संघर्षों में उन्होंने

प्रथम महायुद्ध के पूर्व का योरोपीय जीवन देखा, उस पर विचार किया और उसे अभिव्यक्ति दी। यही विविधतापूर्ण ज्ञान और अनुभव जेम्स ज्वायस के साहित्य की पूर्व पीठिका है। 'यूलिसीज़' के प्रकाशन से पूर्व इनका एक कविता-संग्रह, एक कहानी-संग्रह, आत्मकथा-शैली में लिखा एक उपन्यास, और इब्सन की शैली में लिखा एक नाटक प्रकाशित हो चुका था। इनके इन ग्रन्थों से भी यह पता चलता था कि इनका झुकाव साधारण जीवन की कुत्सित वास्तविकताओं की ओर है और नवीनता के नाते, आलोचकों और पाठकों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ था; 'यूलिसीज़' ने योरोप और अमरीका के शिक्षित समाज में एक भूकम्प ही प्रस्तुत कर दिया।

जेम्स ज्वायस ने यह उपन्यास 1914 में आरम्भ किया और 1921 में समाप्त किया। यह प्रथम महायुद्ध और उसके पश्चात् का संशय और अनिश्चय का समय था। कभी वे ट्रीस्ट में रहे, कभी ज्यूरिख में और कभी पेरिस में। सात वर्षों में, तीन नगरों में घूम-घूमकर लिखा हुआ यह उपन्यास एक चौथे नगर की कहानी है, केवल उसके एक दिन की, 18 घण्टे की, बृहस्पतिवार, सोलह जून, 1904 के डबलिन की।

समाप्त होने के पूर्व ही यह अमेरिका के 'दि लिटिल रिव्यू' नामक मासिक में निकलना आरम्भ हुआ। इसकी 23 संख्याओं में क़रीब आधा 'यूलिसीज़' निकल सका। पाठक देख रहे थे कि यह ऐसा लेखक है, जो व्यक्ति और समाज की उन सच्चाइयों की ओर घूरता है जिनकी ओर दृष्टि करना धर्म, संस्कृति, परम्परा, नैतिकता, सभ्य समाज की शालीनता, और नागरिक जीवन को सुचारु रूप से चलानेवाली व्यावहारिकता ने वर्जित कर रक्खा है। लेखक की साफगोई नग्नता बनी, नग्नता उच्छृंखलता हुई : उच्छृंखलता अश्लीलता, घृणित अश्लीलता। सहने की सीमा आ पहुँची, समाज के ठेकेदारों के कान खड़े हुए, डाक के अधिकारियों ने पत्र की अन्तिम चार संख्याएँ ज़ब्त कर लीं। आगे प्रकाशन बन्द कर दिया गया। प्रकाशक पर मुक़द्दमा दायर हुआ और उस पर सौ डालर का जुर्माना ठोंक दिया गया। उपेक्षा से पुस्तक का प्रचार उसके गुण-अवगुणों पर निर्भर रहता; सरकारी विरोध ने उसका विज्ञापन कर दिया, पाठक उसे पाने-पढ़ने को बेचैन हो गये।

'यूलिसीज़' का पहला परिपूर्ण संस्करण पेरिस से 1923 में प्रकाशित हुआ। दो हज़ार प्रतियाँ छपी थीं। सोने की तरह इस पुस्तक का तस्कर व्यापार हुआ। कुछ पुस्तकें सौ गुने दाम पर बिकीं। उसी वर्ष लन्दन के इगोइस्ट प्रेस ने 2000 प्रतियों का एक संस्करण छापा। 500 प्रतियाँ जो अमरीका भेजी गयीं न्यूयार्क के डाक अधिकारियों ने जला डालीं। 1923 में उसी प्रेस ने 500 प्रतियों का एक संस्करण फिर निकाला पर उसमें से 499 प्रतियाँ फ़ोक्सटन के चुंगी अधिकारियों ने ज़ब्त कर लीं। लगभग दस वर्ष संसार के सभ्य नगरों में इस पुस्तक को रखना जुर्म था। 1931 में बी. बी. सी. ने आधुनिक लेखक-वार्ता में जब जेम्स ज्वायस का नाम रक्खा तो लण्डन टाइम्स में उसका विरोध हुआ। चोरी-छिपे जो संस्करण टाइप होते, साइक्लोस्टाइल होते या छपते, उनमें स्वार्थियों ने गन्दे क्षेपक लगाने आरम्भ किये। अधिकारियों, साहित्यकारों, प्रकाशकों, अख़बारनवीसों के एक लम्बे जद्दोजेहद के बाद सन् 1933 में जज वूलज़ी ने अमरीका में इस पुस्तक पर से नियन्त्रण हटाया और इसके तीन वर्ष बाद इंग्लैण्ड में इस पुस्तक का प्रथम प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसे सर्वसाधारण बिना रोक-टोक के ख़रीद

सकते थे। परस्पर-विरोधी सम्मतियों का अम्बार लग गया; और दोनों पक्षों में बोलनेवाले ख्यातिप्राप्त विद्वान और आलोचक थे। एक कहता था, यह पैशाचिक पुस्तक है, विषैला साहित्य है, दुनिया को मूर्ख बनाने का बड़ा भारी षड्यन्त्र है। दूसरा कहता था, यह युगान्तरकारी रचना है, सारे समाज की कृत्रिमता पर व्यंग्य है, लेखक का ध्येय नैतिक है। पाश्चात्य संसार के दो बड़े लेखक और विद्वान इसके पक्ष में थे : एज़रा पाउण्ड और टी. एस. ईलियट। पाउण्ड ने ज्वायस की ईमान-दारी की सराहना की; ईलियट ने उसकी कला-कुशलता की प्रशंसा की। उन्होंने कहा, "मिल्टन के बाद अंग्रेज़ी भाषा का इतना ज्ञान रखनेवाला दूसरा लेखक नहीं पैदा हुआ।"

उपन्यास के विषय में इतना सुन लेने के पश्चात् यह उत्सुकता स्वाभाविक है कि इस पुस्तक की कहानी क्या है? और कहानी ही इस पुस्तक में नहीं है। कुछ पात्र-परिस्थितियों को लेकर कहानी कहनेवाले उपन्यासों की परम्परा को इस उपन्यास ने बिलकुल छोड़ दिया है। फ़्रायड ने मनोविज्ञान के एक नये स्तर की खोज की थी। हम जो कुछ करते-कहते हैं, वह एक कृत्रिम सामाजिक आचार-विचार से नियन्त्रित होने के कारण हमारा सच्चा अभिव्यंजन नहीं है। यह हमारा ऊपरी परिधान है, बाहरी दिखावा है,हम जो कुछ सोचते हैं, हम जो कल्पना करते हैं, वह हमारा अधिक स्वच्छन्द और अधिक सच्चा रूप है। उसको उपचेतन अथवा अवचेतन की प्रक्रिया कहते हैं; और जब हमारे ऊपर बाहरी अंकुश नहीं रहता, तब हम यही होते हैं, इसी से हमारी क्रियाएँ परिचालित होती हैं। जब हमारे उपचेतन और अवचेतन को अपने अनुरूप अभिव्यक्ति नहीं मिलती तब हमारे जीवन के अन्दर तरह-तरह की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। विकृत व्यक्तियों का समाज सामूहिक विकृतियों को जन्म देता है। क्या हमारे कलाकारों और साहित्य-कारों का यह कर्त्तव्य नहीं कि वे इस अवचेतन का द्वार खोलें और उसमें झाँकें। वह इतने दिनों से बन्द है कि उसके परिष्कृत करने की बात तो बाद की है पहले वह बाहर तो निकले। अभी तो हमें मानो अपने उपनिषदकार के स्वर-में-स्वर मिलाकर कहना है कि सत्य का मुख सोने से ढका है, ढक्कन को तोड़ दो और सत्य को प्रकट होने दो। जेम्स ज्वायस ने फ़्रायड को अपना गुरु मानकर उसके आदेशों पर चेतना की नहर की मोहरी खोल दी और नग्न सत्य, कटु सत्य, कुत्सित सत्य, घृणित सत्य बाहर फूट पड़ा।

उन्होंने चेतना के विभिन्न स्तरों की धाराओं को उन्मुक्त कर दिया। हम वही नहीं हैं, जो हम बाहर-बाहर थे, हम यह भी हैं या हमारे अन्दर यह भी था, यह हमें प्रभावित कर रहा था और बहुत अंशों में हमें परिचालित भी कर रहा था। क्या इस अनिवार्य सत्य का ज्ञान हमें अपने को अधिक सच्चाई के साथ समझने में सहायक नहीं हो सकता? ज्वायस ने कुछ इसी प्रकार का आदर्श अपने सामने रख-कर इस उपन्यास की रचना की है। उन्होंने केवल यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि योरोप के एक प्रतिनिधि नगर के नागरिकों के चेतन-उपचेतन में एक दिन में क्या-क्या लहरें उठती-गिरती हैं; और इससे 800 पृष्ठ भर गये हैं। किसी अमरीकी लेखक ने लिखा है कि हम एक दिन में जितना सोचते हैं या हमारे दिमाग़ में जितने विचार आते-जाते हैं, यदि उनको परिमाण में परिवर्तित किया जा सके तो यह सारा संसार उसमें तिनके की तरह तैरता प्रतीत होगा।

उपन्यास की संक्षिप्त रूपरेखा यों है। स्टीफ़ेन डिडेलस, एक नवयुवक, पेरिस से लौटकर डबलिन आता है और इस चिन्ता में घूमता-फिरता है कि भविष्य में

व्यवस्थित होने के लिए वह क्या करे। उसके परिवार में उसकी माता मर चुकी है और वह सर्वथा परिवार-समाज से अलग इकाई है। बहुत दिनों के पश्चात् आने के बाद वह सब प्रकार के नियन्त्रणों से मुक्त, सब प्रकार के पक्षपात से रहित, सब प्रकार के उत्तरदायित्व से हीन, सर्वथा तटस्थ होकर अपने नगर को देखता है। एक और नागरिक है अधेड़, लिओपोल्ड ब्लूम, उसके एकमात्र पुत्र की मृत्यु हो चुकी है, बहुत पहले; उसकी पत्नी है, भविष्य दोनों के लिए रिक्त है, जी रहे हैं, जीते जाना काम है। पर ब्लूम को अपने सजातीय मानव वर्ग के प्रति जिज्ञासा है, लोग जी रहे हैं, किस आधार पर जी रहे हैं, क्या करके जी रहे हैं। श्रीमती ब्लूम का जीवन बाहरवालों के लिए घटना-विहीन भले ही लगे, पर उसके उपचेतन में एक पूरी दुनिया है और वह अक्सर दिमाग़ की पिटारी खोलकर सिनेमा की रील के समान सारा दृश्य देख जाती है। डिडेलस और ब्लूम डबलिन में घूमते हैं और क्षण-प्रतिक्षण उनके मस्तिष्क में डबलिन के जीवन की जो छाया पड़ती है, उसे हम देखते जाते हैं। अन्त में श्रीमती ब्लूम का लम्बा दिवा-स्वप्न है और उसी के साथ उपन्यास समाप्त हो जाता है।

कलाकारिता उपन्यास में पर्याप्त है। यूलिसीज़ होमर का नायक है, जो भ्रमण-शील है। ज्वायस ने ब्लूम को आधुनिक युग का यूलिसीज़ बनाया है। वह मानव के उपचेतन में भ्रमण करता है। आप चाहें तो डिडेलस को यूलिसीज़ के पुत्र टेलीमेक्स और मिसेज़ ब्लूम को यूलिसीज़ की पत्नी पेनीलोपी का प्रतिरूप—विद्रूप मान सकते हैं—अपने अवचेतन के तागों का ताना-बाना फैलाती हुई।

उपन्यास 18 भागों में है, प्रत्येक भाग डबलिन का एक विशेष दृश्य उपस्थित करता है, एक विशेष प्रतीक अपनाता है, एक विशेष रंग में रंजित है, शरीर के एक विशेष अंग की ओर संकेत करता है, एक विशेष विषय की चर्चा करता है, एक विशेष शैली का प्रतिपादन करता है। धर्म, इतिहास, भाषाशास्त्र, अर्थशास्त्र, जीवविद्या, रसायन, चर्च, स्थापत्य, साहित्य, मशीनरी, संगीत, राजनीति, चित्रकला, वैद्यक, मन्त्र-तन्त्र, नौ विद्या, विज्ञान, यौनशास्त्र—सबकी चर्चा है, और मौलिक ढंग से।

उपन्यास साहित्य के विकास में ज्वायस का योगदान मुख्यतया दो रूपों में है। एक तो उन्होंने चेतना की लहर को उन्मुक्त किया। इससे चरित्र-चित्रण का एक नया उपकरण मिला। दूसरे, उन्होंने यह सिद्ध किया कि अभिव्यंजना की मौलिक शैली हमें जीवन के नये अनुभवों को ग्रहण करने में किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकती है।

कला और साहित्य के लिए उपचेतन का प्रयोग कहाँ तक वांछनीय है इस पर हमें विचार करना होगा। परन्तु इसके पूर्व हमें कला और साहित्य के अन्तिम लक्ष्य को स्पष्ट कर लेना होगा। केवल पश्चिम की हाँ-में-हाँ मिलाने से हम ठीक परिणामों पर न पहुँच सकेंगे।

[1959]

सरवैण्टीज़ और 'डान क्विक्ज़ोट'

[रेडियो वार्ता]

मुझे याद पड़ता है कि जब मैं कालेज में पढ़ रहा था उस समय मेरे अध्यापक ने एक दिन मुझसे पूछा कि तुमने 'डान क्विक्ज़ोट' पढ़ा है ? मैंने कहा, "नहीं", और

उस पर उन्होंने कहा कि जिसने 'डान क्विक्ज़ोट' नहीं पढ़ा उसका आधा जीवन व्यर्थ गया। बात इस तरह कही गयी थी कि मेरी उत्सुकता को चाबुक लगी और शीघ्र ही मैंने यह पुस्तक पढ़ डाली। उस समय तो इस पुस्तक से मेरा मनोविनोद ही हुआ पर बाद को उस पर विचार करने का अवसर भी आया और अब मेरी धारणा यह है कि 'डान क्विक्ज़ोट' व्यंग-विनोद के लिए भले ही लिखा गया हो, उसके अन्दर मानव-जीवन के एक गम्भीर तत्त्व पर प्रकाश भी डाला गया है और यही कारण है कि यह पुस्तक देश और काल की सीमा से निकलकर दुनिया में सभी जगह लोकप्रिय बन गयी है और शायद सदा ऐसी ही बनी रहेगी।

'डान क्विक्ज़ोट' के लेखक सरवैण्टीज़ हैं जिनका पूरा नाम था मिगूएल डि सरवैण्टीज़ सावेद्रा। सरवैण्टीज़ ने और भी बहुत-कुछ लिखा था, पर 'डान क्विक्ज़ोट' ने जैसे सबको छाप लिया। आज वे अपनी इसी एक पुस्तक के लेखक के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सरवैण्टीज़ का जन्म स्पेन के एक क़स्बे में सन् 1547 में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा मैड्रिड में हुई थी, जो उस समय स्पेन में शिक्षा का मुख्य केन्द्र था, और वहीं पर उन्होंने पढ़ने-लिखने का शौक़ पैदा किया था। उन दिनों प्रत्येक शिष्ट नवयुवक को हथियार आदि चलाना भी सीखना पड़ता था। सरवैण्टीज़ ने तुर्कों और ईसाइयों के बीच लिपैण्टों में होनेवाले समुद्री युद्ध में भाग लिया था और उनका बायाँ हाथ कट गया था। परन्तु इसके बावजूद उन्होंने और कई युद्धों में भाग लिया। इन्हीं में से किसी में बन्दी बनकर उन्हें पाँच वर्ष अल्जीरिया में जेल काटनी पड़ी। जेल में उन्होंने बड़ी कठोर यातनाएँ सहीं, निकल भागने के भी कितने ही प्रयत्न किये और अन्त में उनके किन्हीं हितैषियों ने पाँच सौ क्राउन देकर उन्हें मुक्त कराया।

इस प्रकार दस वर्ष के सैनिक जीवन के कटु अनुभवों को सँजोकर सरवैण्टीज़ 34 वर्ष की अवस्था में फिर स्पेन पहुँचे।

हाथ उनका पहले कट चुका था। अब जवानी का जोश भी ठण्डा हो चला था। बन्दी-जीवन के कष्टों ने उनको जर्जर कर दिया था। इस कारण उन्होंने लेखक बनकर जीविका कमाने का निश्चय किया। इसके बीज उनके मैड्रिड के दिनों में ही पड़ चुके थे और कुछ विद्वानों की ऐसी राय है कि सरवैण्टीज़ अपने सैनिक जीवन में भी कुछ न कुछ लिखते रहते थे और 'डान क्विक्ज़ोट' के कुछ अंश अवश्य ही जेल के अन्दर लिखे गये थे।

स्पेन लौटने के तीन वर्ष बाद एक धनी कन्या से उन्होंने विवाह कर लिया। पर दहेज़ की रक़म उन्होंने तीन ही चार वर्षों में उड़ा दी और धनोपार्जन के लिए नाटक लिखने लगे। कहा जाता है कि उन्होंने बीस-तीस नाटक भी लिखे जो समकालीन स्पेन के रंगमंच पर खेले गये, परन्तु रंगमंच पर उनकी प्रतिभा विशेष न निखरी। उन्होंने आरम्भ से ही कविता लिखने का भी अभ्यास किया था, कई पुरस्कृत भी हुई थीं, पर काव्य के क्षेत्र में भी उन्हें कोई विशेष सफलता न मिली। लेखनी के बल पर जीविका चलाने में असमर्थ होकर सरवैण्टीज़ को सरकारी नौकरी भी करनी पड़ी, जिसके सम्बन्ध में दूर-दूर के नगरों में जाना पड़ता था। इन यात्राओं का लाभ यह हुआ कि उन्होंने अपने देश के समकालीन जीवन और उसके विभिन्न पहलुओं को बड़े ग़ौर से देखा। जीवन के संघर्षों ने उनकी आँखें खोल दी थीं, हृदय विशाल कर दिया था; उन्होंने जो कुछ देखा उसे उनके कलाकार ने आत्मसात कर लिया और उसके अमर चित्र उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना में

संचित कर दिये ।

'डान क्विक्ज़ोट' का प्रकाशन 1605 में हुआ, दूसरा भाग 1615 में निकला । यह पुस्तक किसी ड्यूक को समर्पित की गयी थी, पर उसने सरवैण्टीज़ को किसी विशेष प्रकार से पुरस्कृत न किया । 'डान क्विक्ज़ोट' को किसी प्रकार के पुरस्कार की आवश्यकता ही न थी । वर्ष के अन्दर उसके चार संस्करण हुए । नगर-ग्राम सभी जगह उनकी चर्चा फैल गयी । बूढ़े-जवान, विद्वान, कम पढ़े, सभी को उसने मुग्ध कर लिया । साहित्य का जादू सिर पर चढ़कर जितना बोलता है उतना कोई और जादू नहीं ।

'डान क्विक्ज़ोट' के प्रकाशन से जहाँ लेखक की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई वहाँ उसके विरोधी भी बहुक-से हो गये । अपनी रचना में 'डान क्विक्ज़ोट' को केन्द्र बनाकर सरवैण्टीज़ ने बहुत-से समकालीन लोगों का मज़ाक उड़ाया था । विरोध ने अभद्र रूप भी लिया, पर सरवैण्टीज़ गम्भीर बने रहे । उन्होंने कई कहानी-संग्रह प्रकाशित किये । एक व्यंगात्मक काव्य उन्होंने 'वियाज डि पारनेसो' के नाम से लिखा —'वियाज डि पारनेसो' यानी काव्य लोक की यात्रा । उसमें उन्होंने युग की साहित्यिक-दशा पर गहरा व्यंग किया । पर सरवैण्टीज़ के व्यंग में विनोद की मात्रा अधिक और कटुता की न्यूनतम हुआ करती थी । सरवैण्टीज़ के जीवन का उत्तर भाग केवल लेखक का जीवन था, जिसमें बाहरी चहल-पहल कम होती है । उनकी मृत्यु 1616 में हुई—ठीक उसी दिन, जिस दिन अंग्रेज़ी के महान् नाट्यकार और कवि शेक्सपियर की मृत्यु हुई ।

अब तक खोज-खोजकर सरवैण्टीज़ के जिन ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया है उनकी संख्या चालीस से ऊपर होगी । पर, सारा संसार उनकी जिस रचना को जानता-मानता-पढ़ता है वह 'डान क्विक्ज़ोट' ही है ।

सरवैण्टीज़ के समय में एक विशेष प्रकार के उपन्यासों का बड़ा प्रचलन था जिन्हें 'रोमांस' कहते थे । तुर्कों और ईसाइयों के क्रूसेड नामक युद्ध के पश्चात् समस्त योरोप में योद्धाओं का एक वर्ग बन गया था जिन्हें 'नाइट' कहते थे । किसी प्रकार के अधर्म, अन्याय के विरुद्ध खड़ा होना उन नाइटों का स्वनियुक्त कार्य था । रोमांसों में प्राय: किसी खलनायक द्वारा किसी सुन्दरी के बन्दी होने और किसी नाइट द्वारा उसकी रक्षा की जाने और अन्त में उस सुन्दरी और नाइट के विवाह की कथा होती थी । सरवैण्टीज़ ने देखा कि रिनैसैंस—पुनर्जागरण के पश्चात् इस प्रकार के रोमांस पुराने हो गये हैं, पर लेखकगण ऐसी ही परिस्थितियों पर अपनी कल्पना दौड़ाकर पुस्तकें तैयार कर देते थे । सरवैण्टीज़ ने इन रोमांसों का व्यंग करने के लिए 'डान क्विक्ज़ोट' की रचना की ।

डान क्विक्ज़ोट ला मोशा का रहनेवाला एक साधारण नागरिक था । वह रोमांसों के पढ़ने का बड़ा शौक़ीन था । कल्पना शक्ति उसमें बच्चों की-सी थी । पढ़ते-पढ़ते अपने को ही कथाओं का नायक समझने लगता । उसने सोचा, मुझे भी पुराने नाइटों की तरह बख़्तर पहन, घोड़े पर सवार हो, दुष्टों के दमन और निरीहों की रक्षा के लिए निकलना चाहिए । वह अपने दुबले-पतले घोड़े पर सवार हुआ, उसने अपने नगड़दादा का टूटा-फूटा कवच पहना । नाइट के साथ स्क्वायर अर्थात् अनुचर के लिए उसने सैंकोपैंजा को लिया । कल्पना कर ली कि कोई डलसीनिया डेल टोबोसो नाम की सुन्दरी है जिसके प्रेम का अधिकारी वह तब बनेगा जब अपने शत्रुओं को पराजित कर लेगा । रोमांसों का युग तो बीत चुका था । पुनर्जागरण ने लोगों की शक्तियाँ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की ओर आकर्षित

कर ली थीं। इस देर-आयद नाइट को बहादुरी दिखाने का कहीं अवसर ही न था। पर उसने कल्पना से शत्रु बनाये और उनसे झूठी हाथापाई की और उसे तरह-तरह की उपहासास्पद परिस्थितियों में पड़कर कष्ट उठाना पड़ा। अन्त में उसके मित्र सैमसन कैरासको ने नाइट का वेश बनाया, उसे हराया और उससे वर्ष भर न लड़ने की प्रतिज्ञा करायी। इसी में बीमार होकर डान क्विक्ज़ोट मर गया।

सरवैण्टीज़ ने जो व्यंग रोमांसों पर लिखना चाहा था वह जीवन पर ही व्यंग हो गया। अपनी शक्ति की सीमा न समझ, हममें से कितने ही समझते हैं कि हम न हों तो न जाने क्या हो जाये। हमीं अपनी कल्पना का जाल बुनते, हमीं उनको तोड़ते, हमीं अपनी पीठ ठोंकते हैं। हम सब किसी-न-किसी रूप में डान क्विक्ज़ोट हैं।

मुझे खेद है कि सम्पूर्ण डान क्विक्ज़ोट का हिन्दी में कोई अनुवाद नहीं है। कोई सज्जन सीधे स्पेनिश से इसका अनुवाद करें तो हिन्दी के भण्डार की वृद्धि हो।

[1957]

प्रेमचन्द और 'गोदान'

[रेडियो वार्ता]

'गोदान' प्रेमचन्द की अन्तिम परिपूर्ण रचना है। यह उपन्यास सन् 1936 में, उनकी मृत्यु के कुछ ही मास पूर्व, प्रकाशित हुआ था। इसे समाप्त करने के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने एक दूसरा उपन्यास लिखना आरम्भ कर दिया था, जिसका नाम उन्होंने 'मंगल सूत्र' रक्खा था, लेकिन मौत ने उनके हाथ से लेखनी छीन ली और वह रचना अधूरी ही रह गयी। प्रेमचन्द की लेखनी न थमना जानती थी, न थकना जानती थी; और यह अक्षरश: सत्य है कि अंग्रेज़ी उपन्यासकार स्काट के समान उन्होंने अपनी लेखनी मृत्यु-शय्या पर भी अपने साथ रक्खी और तभी छोड़ी, जब उनकी उँगलियों में उसे पकड़े रखने की ताब न रह गयी।

'गोदान' शब्द का अर्थ है, ब्राह्मण को गौ का दान करना। हिन्दुओं में यह एक बहुत पुरानी और बहुप्रचलित प्रथा है कि मरणासन्न व्यक्ति से ब्राह्मण को गौ का दान कराया जाता है। ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार से दी गयी गाय मरे हुए आदमी की आत्मा की परलोकयात्रा में सहायक सिद्ध होती है।

'गोदान' के प्रकाशित होने के थोड़े दिन बाद ही प्रेमचन्द की मृत्यु हो जाने से इस रचना को एक प्रतीकात्मक महत्त्व प्राप्त हो गया। यह प्रेमचन्द का अन्तिम ग्रन्थ था, अन्तिम कार्य था, जो उन्होंने साहित्य-संसार से विदा लेने के पूर्व सम्पादित किया। वास्तव में, साहित्य के संसार में ही वे अधिक स्वाभाविकता, अधिक मिलनसारी और अधिक स्वच्छन्दता के साथ विचरण करते थे। ख़रीद-फ़रोख़्त और लेन-देन की दुनिया के लिए वे अजनबी थे। मरते हुए व्यक्ति द्वारा दी गयी गौ उसकी जीवात्मा की परलोक-यात्रा में सहायक सिद्ध होती है या नहीं, इसे कोई नहीं बता सकता। कम-से-कम मैं नहीं बता सकता। लेकिन यह निर्विवाद है कि 'गोदान' प्रेमचन्द को हिन्दी के सबसे बड़े उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित करने में सहायक सिद्ध हुआ। अपने जीवनकाल में वे 'उपन्यास-सम्राट' कहे जाते थे।

शायद एक बार यह विवाद भी उठा था कि 'कवि-सम्राट' की समानता पर उन्हें 'उपन्यासकार-सम्राट' कहना चाहिए। यदि इस रूपक को थोड़ा और आगे बढ़ाना अनुचित न समझा जाये तो मैं कहना चाहूँगा कि यदि प्रेमचन्द उपन्यास या उपन्यासकार-सम्राट थे तो 'गोदान' उनका मौर-मुकुट था। 'गोदान' प्रेमचन्द की अन्तिम रचना ही नहीं, उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना भी है।

यह बात तो प्रेमचन्द के साधारण पाठक पर भी ज़ाहिर हुए बग़ैर न रहेगी कि 'गोदान' के कथानक, चरित्र-चित्रण, वातावरण अथवा लेखक के दृष्टिकोण में कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बिल्कुल नयी कही जा सके, जो पहले कभी नहीं थी और जो यहाँ पहली बार देखी गयी है। पुस्तक हाथ में लेने के समय से लेकर पुस्तक समाप्त कर धर देने के समय तक आपको बराबर यह अनुभव होता है कि आप प्रेमचन्द की दुनिया में घूम रहे हैं। आपको शुरू से यह पता रहता है कि उसकी कहानी कैसे आगे बढ़ेगी और समाप्त होगी; उसके पात्र किस प्रकार का व्यवहार करेंगे और कैसे विकसित होंगे; लेखक हमें किस ओर ले जा रहा है, किनके प्रति वह हमारी संवेदनाएँ जगाने जा रहा है, किनके प्रति हमारी घृणा उभारने। 'गोदान' को किसी भी अर्थ में हम कोई नया क़दम नहीं कह सकते। वस्तुतः 'गोदान' में उसी तकनीक और आदर्श की परिपक्वता और पुष्टि है, जिसे प्रेमचन्द ने अपने कलाकार और मानव के जीवन में शुरू से अपनाया और ऊपर उठाया था। सम्भवतः अपने साहित्यिक और साथ ही अपने भौतिक जीवन को समाप्त करने के पूर्व उन्होंने अपने को परिपूर्णता से एक उपन्यास में रख देने का प्रयत्न किया था—अपने कलाकार को भी, मानव को भी; और उसी की परिणति 'गोदान' में हुई।

इस उपन्यास के ग्रामीण तथा नागरिक पात्रों की भीड़ में घुसकर—जिनसे मैं मिला हूँ, परिचित हुआ हूँ, जिन्हें मैंने पहचाना-समझा है—जब मैं किसी प्लाट अथवा कथानक को खोजने का प्रयत्न करता हूँ तो मैं अपने-आपको असफल ही पाता हूँ। एक तरह से होरी को इस उपन्यास का नायक कह सकते हैं। मध्य-वयस्क होरी एक ऐसे गाँव का गृहस्थ है, जो एक बड़े नगर से बहुत दूर नहीं है। उसके पास थोड़ी-सी ज़मीन है, जिस पर वह अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से काम करता है और जो उसके भरण-पोषण का एकमात्र साधन है। होरी का जीवन उस लम्बे संघर्ष की कहानी है, जो उसे अपने परिवार के लोगों, समाज के ठेकेदारों, मित्र कहे जानेवाले व्यक्तियों, सूदख़ोर साहूकारों, पुलिस के हुक्कामों, कपट-चंट पटवारियों और ज़मींदार के गुर्गों के विरुद्ध छेड़ना पड़ता है—और निश्चय ही ग़रीबी के विरुद्ध भी, जो भारतीय किसान का सबसे बड़ा अभिशाप है। स्वाभाविक है कि कृषि-निर्भर समाज में गाय समृद्धि का प्रतीक बन गयी है, और होरी की महत्त्वाकांक्षा है, अपने घर एक अच्छी गाय रखने की। वह उसके घर आती है, परन्तु मृग-मरीचिका बनकर और शीघ्र ही तिरोहित हो जाती है। अपनी मृत्यु-शय्या पर वह ब्राह्मण को जो दान देता है, वह गाय नहीं है; वह उसका प्रतीक मात्र है, थोड़ा-सा पैसा, जो उसकी अन्तिम बचत है।

जिसकी पीठ के बीच में सीधी रीढ़ नहीं है वह संघर्ष नहीं कर सकता। और होरी की पीठ में वह है और निश्चय ही वह बहुत पोढ़ी है। वह क्या चीज़ है? ईश्वर में विश्वास? चरित्र की पवित्रता? ईमानदारी? सच्चाई? दृढ़ता? आशा? या और कोई नैतिक गुण जो साधारण उपदेशकों की रूढ़ सूची में स्थान पाता है अथवा धर्म-स्मृति की पावन पोथियों में बखाना जाता है? मुझे क्षमा किया

जाय यदि मैं कहूँ कि इनमें से कोई भी नहीं। होरी के सारे काम सिर्फ़ एक बात से निर्दिष्ट होते हैं, केवल एक धारणा पर आधारित हैं, एकमात्र विचार से प्रेरित हैं, जिसे वह 'मरजाद' कहता है, जो अक्सर उसकी ज़बान पर रहता है; वस्तुतः जो गाँव के सभी लोगों की जीभ पर रहता है। गाँव का प्रत्येक व्यक्ति इसकी व्यापकता, इसकी अपरिहार्यता, इसकी उपयोगिता से—शायद शोभा से भी—सचेत है। हर व्यक्ति इसके आगे नतमस्तक होता है और जब कभी कोई व्यक्ति अपनी किसी दुर्बलता अथवा किसी दुर्निवार्य परिस्थितिवश ऐसा करने में असमर्थ रहता है, तब उसे इस बात की चेतना रहती है कि उसने कुछ ऐसा किया है, जो ग़लत है, अनुचित है, अशोभन है। और मैंने अक्सर यह सोचने का प्रयत्न किया है कि इस शब्द के मतलब क्या हैं? इससे गाँव के लोग समझते क्या हैं?

मेरे विचार से इसका मतलब है, इन्सान की इन्सानियत, आदमी की आदमियत, मनुष्य की मनुष्यता, मानव की गरिमा। जब कभी होरी कहता है कि यह मरजाद नहीं है, तब उसका मतलब होता है कि यह मनुष्य को शोभा नहीं देता। मनुष्य से जो प्रत्याशित है, उसकी एक सीमा है, एक स्तर है। उससे बाहर जाने पर, नीचे गिर जाने पर, मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता।

प्रेमचन्द का जन्म और पालन-पोषण गाँव में हुआ था और उन्होंने भावप्रवण दृष्टि भावी कलाकार की रागात्मक संवेदना से भारतीय किसान के दैन्य, दुःख, संकट, कष्ट और अपमान, ग्लानि को देखा-समझा था। और वे उस दृढ़ संघर्ष के भी साक्षी थे, जो वह उन सबके विरुद्ध अपने जीवन भर करता रहता है। प्रेमचन्द ने अपनी आँखों से देखा था कि हमारे गाँव छोटे-मोटे नरक हो गये हैं और इस बात पर आश्चर्य किया था कि वे अब तक नष्ट-भ्रष्ट हो शून्य में विलीन क्यों नहीं हो गये। उन्हें आभास हुआ कि हमारे गाँवों ने कुछ भी खोया हो, सब कुछ खोया हो, एक चीज़ उन्होंने नहीं खोयी थी—मूल्यों में आस्था, मानव-मूल्यों में आस्था—मानव-गरिमा में आस्था—एक शब्द में, मरजाद। उनके मन में यह बात बैठ गयी थी कि हो-न-हो इसी ने उन्हें अतीत काल में सहारा दिया था और उन्हें विश्वास हो गया था कि यही उन्हें भविष्य में उबारेगी भी। मेरी दृष्टि में होरी इसी विश्वास और इसी आशा का प्रतीक बनकर हमारे सामने खड़ा है।

एक पक्ष को दूसरे पक्ष से सन्तुलित रखना उपन्यासकार की बड़ी पुरानी तकनीक है; उपन्यासकार की ही क्यों, सभी कलाकारों की है। कुछ लोग कह सकते हैं कि नागरिक पात्रों का वर्ग—मेहता, खन्ना, तनख़ा, मिर्ज़ा, मालती का—केवल इसलिए लाया गया है कि ग्रामीण पात्रों के—होरी, भोला, गोबर, मातादीन, धनिया और झुनिया के वर्ग के लिए पृष्ठभूमि का काम दे सके, जिससे कि इस वैपरीत्य से वे अधिक उभरकर हमारे सामने आयें। नागरिक पात्रों के वर्ग को लाने में केवल इतना देखना उपन्यासकार के उस बड़े उद्देश्य से अनभिज्ञ रह जाना है, जो सम्भवतः उसके मन में था।

गाँव के लोग भौतिक दृष्टि से ग़रीब हैं, दुखी हैं, लेकिन मानव-मूल्यों में उनकी आस्था है अथवा वे मानव-मूल्यों से सचेत हैं। शहर के लोग भौतिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, कुछ के पास धन की अति है, लेकिन या तो उन्होंने मानव-मूल्यों में आस्था खो दी है अथवा उनसे अचेत हैं, नैतिक मूल्यों से, मूल्यों से ही। पहले वर्ग के लोग भौतिक सुविधाओं को तरस रहे हैं, दूसरे वर्ग के लोग नैतिक मूल्यों के अभाव में बेचैन हैं। मालती को तब तक मानसिक शान्ति नहीं मिलती, जब तक कि वह नैतिक मूल्यों को नहीं अपना लेती। जन साधारण के प्रति संवेदना, दीनों की सेवा, असहायों की

सहायता इन्हीं से उद्भूत होती हैं।

प्रेमचन्द के 'गोदान' में गाँव के एक वर्ग का नगर के एक वर्ग से जो अन्तर दिखलाया गया है, वह उस महान अन्तर का प्रतीक मात्र है, जो हम आज के संसार में बहुत बड़े पैमाने पर देख रहे हैं। एक तरफ पश्चिम है—धन-धान्य से लदा-फँदा —लेकिन उसमें मानव-मूल्यों के प्रति आस्था का अभाव है। दूसरी ओर पूर्व है, एलिज़ाबेथ के युग का 'समृद्ध पूर्व' (रिच ईस्ट) नहीं; ग़रीबी का प्रतीक - जो अपने भौतिक अभावों में भी विश्वास और आशा के साथ कतिपय मानव एवं नैतिक अथवा जीवन के आधार-भूत मूल्यों से चिपका हुआ है। कुछ समय हुए, मैं एक पुस्तक पढ़ रहा था, जिसकी हाल में पश्चिम में काफी चर्चा हुई है—'अमेरिका नीड्स ऐन आइडियालोजी' (अमरीका को सिद्धान्त की आवश्यकता है)। एक ओर से प्रतिध्वनि-सी आयी, 'इण्डिया नीड्स ए बैंक-बैलेंस' (भारत को पूँजी की आवश्यकता है)। क्या एक-दूसरे की क़ीमत है? क्या एक-दूसरे में लेन-देन सम्भव है? और अपनी अन्तर्दृष्टि से प्रेमचन्द ने 'गोदान' में जो समस्या खड़ी की है, वह आधुनिक संसार की समस्या है और ये प्रश्न आज हर जगह पूछे जा रहे हैं। क्या दुनिया इन प्रश्नों का उत्तर देगी, इस समस्या को हल करेगी?

[1957]

पन्त और 'कला और बूढ़ा चाँद'

मेरी शिक्षा-दीक्षा कुछ इस प्रकार हुई कि मैं कविता का प्रेमी बन गया। संस्कार और परिस्थितियों के कारण जीवन के साथ अनजाने जो शौक़-शग़ल लग जाते हैं या लगा दिये जाते हैं, कभी-कभी उन पर आगे चलकर पछतावा भी होता है। अपने काव्य-प्रेम के कारण मुझे पछताने का अवसर नहीं आया। उल्टे, आज जिन दो बातों के लिए मैं परमात्मा को सबसे अधिक धन्यवाद देता हूँ उनमें काव्य-प्रेम का नम्बर दूसरा है। पहला न बताऊँगा, बहुत निजी है।···शुक्र है तूने मुझे कविता का प्रेम दिया। दुनिया में बहुत-से शौक़ समय के साथ घट भी जाते हैं; मेरा काव्य-प्रेम नहीं घटा। कविता की कोई पुस्तक देखकर, मैं उसे पढ़ने को लालायित हो उठता हूँ—ख़रीदकर, माँगकर, चुराकर। पिछली दो नौबतें भी कम नहीं आयीं। और परमात्मा से मेरी एक शिकायत भी है कि उसने मुझे कभी इतना पैसा नहीं दिया कि कविता की जितनी पुस्तकें चाहूँ ख़रीद सकूँ और जितना चाहूँ उतना दूध पी सकूँ। मधुपायी तो मैं काग़ज़ी भर हूँ; दिलदादा तो मैं दूध का ही हूँ। कभी-कभी तो ऐसी भाषाओं के काव्य-संग्रहों को भी ख़रीदने को मेरा जी करता है जिन्हें मैं नहीं समझ सकता। दूकान या पुस्तकालय में उन पर हाथ फेर चुपचाप रख देता हूँ—यह रस मेरे लिए नहीं है।

मेरे विद्यार्थी-जीवन में शिक्षकों और परीक्षकों का एक बड़ा घिसा-पिटा विषय था, जिस पर वे निबन्ध लिखाते थे, परचों में सवाल रखते थे और मौखिक परीक्षाओं में भी प्रश्न करते थे—'हू इज़ योर फ़ेवरिट पोएट?' तुम्हारा प्रिय अथवा पसन्द का कवि कौन है? उस समय ऐसे प्रश्न का उत्तर देने की योग्यता मुझमें क्या रही होगी। आज अगर वे लोग मुझसे यह प्रश्न पूछते तो मैं शायद अधिक परिपक्व निर्णय और आत्मविश्वास के साथ उनको उत्तर दे सकता। मैंने विशेष अध्ययन

अंग्रेज़ी और हिन्दी काव्य का किया। अंग्रेज़ी के पुराने कवियों में शेक्सपियर और आधुनिक कवियों में ईट्स को और हिन्दी के पुराने कवियों में तुलसीदास और आधुनिक कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त को मैं अपना 'फ़ेवरिट' कवि कह सकता हूँ। 'पसन्द के' और 'प्रिय' से फ़ेवरिट मुझे कुछ अधिक सूक्ष्म अर्थ देता है, इसी कारण मैंने इस शब्द का प्रयोग किया है। 'फ़ेवरिट' बनाने में किसी कवि के बड़े-छोटे होने का प्रश्न नहीं उठता, हालाँकि शेक्सपियर और तुलसीदास के बड़प्पन के आगे प्रश्न-चिह्न कौन लगायेगा; पर ईट्स और पन्त के सम्बन्ध में उनसे बड़े आधुनिक कवियों की कल्पना की जा सकती है।

पन्तजी की प्रथम प्रकाशित कृति 'उच्छ्वास' मैंने 1922 में ख़रीदी थी। तब से आज तक उनकी सभी नयी कृतियाँ मैंने प्रकाशित होते ही पढ़ी हैं। उनकी प्रत्येक रचना में मुझे एक विशेष प्रकार की नवीनता मिली है—भाव-विचारों का कोई नया स्तर, जग-जीवन-काल के प्रति कोई अभिनव प्रतिक्रिया। यह बात और है कि किन्हीं रचनाओं में किसी मनःस्थिति की एकता अथवा ठहराव के कारण कुछ साम्य भी हो—जैसे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में या 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में। वैसे पन्तजी में ठहराव की स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती। किसी रूढ़ अर्थ में नहीं, वे सतत प्रगतिशील कवि हैं। उनकी हर कृति नयी दिशा, या नये मोड़ का संकेत भले ही न दे, पर नयी मंज़िल पर पहुँचने का सबूत निर्विवाद रूप से देती है। हमें यह न भूलना चाहिए कि सृजन की दिशा समतल ही नहीं होती, ऊर्ध्व भी होती है। अगर वे कहीं आगे नहीं बढ़े तो ऊपर उठे हैं, और प्रायः उन्होंने ये दोनों काम साथ किये हैं, आगे भी बढ़े हैं, ऊपर भी चढ़े हैं। "मैं जहाँ खड़ा था कल, उस थल पर आज नहीं"—उस 'स्तर' पर भी आज नहीं।

पन्तजी की नवीनतम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' 1958 की रचना है जो 1959 के अन्त में प्रकाशित हुई और 1960 के प्रारम्भ में लोगों के हाथों में पहुँची। डिमाई साइज़ में छपी, 208 पृष्ठों की इस पुस्तक में 90 कविताएँ हैं। पुस्तक इधर उलटते-पलटते ही जिस बात का स्पष्ट आभास होता है, वह है इसकी नवीनता—प्रत्याशित नवीनता नहीं, अप्रत्याशित नवीनता, आश्चर्यजनक नवीनता। अपने चालीस वर्ष के काव्य जीवन में पहली बार उन्होंने एक ऐसी शैली में कविताएँ लिखीं, जिसमें शायद उन्होंने अब तक एक पंक्ति भी नहीं लिखी थी।

शैली का परिवर्तन अपने आप में एक बहुत बड़ी बात है। अपने प्रति ईमानदार और आत्मदानी कवि अथवा कलाकार में शैली का परिवर्तन उसकी जीवनानुभूति में परिवर्तन, उसके भाव अथवा विचार-जगत में किसी प्रकार की उथल-पुथल अथवा उसकी किसी आन्तरिक शोध अथवा प्राप्ति का अनिवार्य संकेत है। शैली उतनी बाहरी चीज़ नहीं, जितनी प्रायः उसे समझ लिया जाता है—उस शैली में न लिखा, इस शैली में लिखा। कथ्य और कथन में, विषय और शैली में, मांस और त्वचा से भी अधिक निकट और सूक्ष्म सम्बन्ध है। पन्त ऐसे कवि की यह सनक मात्र नहीं हो सकती कि अपने उर-अजिर में नाचनेवाली वाणी से सहसा कहे कि अपने छन्दों की पायलें उतार दो। तो, इस बाह्य नवीनता और परिवर्तन के पीछे किसी आन्तरिक नवीनता को देखने-समझने की आवश्यकता होगी।

वैसे शैली का नया प्रयोग भी सर्जक की सजीवता तो सिद्ध करता ही है। सजीव जाति, सजीव भाषा, सजीव साहित्य नये-नये प्रयोग किया करता है। यह स्वस्थ तभी होता है जब कोई आन्तरिक उद्वेलन नयी अभिव्यक्ति माँगता है। प्रयोग के लिए प्रयोग प्रायः नयी पीढ़ियाँ करती हैं—शायद अपनी सृजन-प्रवृत्ति की

उद्दामता में ही। सृजन आधे से अधिक संयमन है। किसी छिछली आकांक्षा से, किसी प्रवृत्ति का अनुकरण करने के लिए, अथवा ख़ामख़्वाह लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए—जैसे अब भी उन्हें इसकी आवश्यकता है—पन्तजी ने अपना संयम तोड़ दिया हो; इसे मैं नहीं स्वीकार कर सकता। चासील वर्ष तक वाक्-साधना करने के पश्चात्, केवल अपनी मानसिक जवानी सिद्ध करने के लिए, शब्दों की उछाल-पुछाल करना पन्तजी के लिए असम्भव है। मैं यह मानता हूँ कि पन्तजी की नयी शैली उनके अन्तर में किसी नवीन प्रस्फुटन का प्रतिफलन है।

मेरा अनुमान है कि अगर आपने आलोच्य कृति नहीं देखी तो अब तक इस शैली की रचना के लिए आपकी जिज्ञासा जाग गयी होगी। दो कविताएँ यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगा—एक लम्बी, एक छोटी।

मधुछत्र

ओ ममाखियो,
यह सोने का मधु
कहाँ से लायीं ?
वे किस पार के वन थे
सद्य: खिले फूल ?
जिनकी पंखुड़ियाँ
अंजलियों की तरह
अनन्त दान के लिए
खुली रहती हैं !
कितने स्रष्टा
स्वप्न द्रष्टा
चितवन तूली से
उनके रूप रंग अंकित कर लाये !
फूलों के हार
पुष्पों के स्तवक सँजोकर
उन्होंने
कुम्हलाई हाटें लगायीं !
रूप के प्यासे नयन
मधु नहीं चीन्ह सके !
ओ सोने की माखी,
तुम मर्म ही में पैठ गयी,
स्वर्ग में प्रवेश कर
हिमालय-से अचेत
शुभ्र मौन को
गुंजित कर गयीं !
उन माणिक पुष्पराग के
जलते कटोरों में
कैसा पावक रहा,
हीरक रश्मियों भरा ?—

जिसे दुहकर
तुम घट भर लायीं !
कौन अरूप गन्ध तुम्हें
कल का सन्देश दे गयी ?

ओ गीत सखी
ये बोलते पंख मुझे भी दो,
जो गाते रहते हैं,—
और,
वह मधु की गहरी परख,—
मैं भी
मधुपायी उड़ान भरूँगा !

मानवता की रचना
तुम्हारे छत्ते-सी हो !
जिसमें स्वर्ग-फूलों का मधु,
युवकों के स्वप्न,
मानव हृदय की
करुणा, ममता,—
मिट्टी की सौंधी गन्ध भरा
प्रेम का अमृत,
प्राणों का रस हो !

बाह्य बोध

तुम चाहते हो
मैं अधखिली ही रहूँ !
खिलने पर
कुम्हला न जाऊँ,
झर न जाऊँ !

हाय रे दुराशा !
मुझमें
खिलना
कुम्हलाना ही
देख पाये !

इन रचनाओं को पन्तजी की पूरी रचनावली के बीच रख दें तो ये अपनी सत्ता और इयत्ता अलग उद्घोषित करेंगी। यदि आप पन्तजी की रचनाओं से परिचित हैं तो आप सहज ही मुझसे सहमत हो सकेंगे। इन कविताओं को खड़ीबोली की समस्त कविता के बीच रख दें, जिसमें आज की अधुनातन कविताएँ भी सम्मिलित हैं, तो भी इनका व्यक्तित्व सबसे अलग परिलक्षित होगा। मेरी समझ में इसका कारण है सबसे अलग पन्तजी का व्यक्तित्व, सबसे अलग पन्तजी की सूक्ष्मानुभूति, और तदनुरूप उसकी अभिव्यक्ति कर सकने की पन्तजी की सक्षमता।

इस समय हिन्दी-काव्य की प्रचलित विधाओं पर एक नज़र डालना होगा। मोटे तौर पर कविताएँ या तो छन्दोबद्ध होती हैं, या मुक्त छन्द में, जिनमें एक प्रकार की ध्वन्यात्मक लय निहित होती है, या तथाकथित 'नयी कविता' में प्रयुक्त

उस स्वच्छन्द छन्द में जिसमें 'अर्थ की लय' बतायी जाती है। पहली बार इन कविताओं को देखने से ऐसा लगता है कि पन्तजी ने जैसे नयी कविता के इस अर्थ-लयी छन्द को अपनाया है। कुछ नयी कविता के पैरोकारों को भी यह भ्रम हुआ है और उन्होंने शोर मचाना शुरू कर दिया है—तुम कहाँ इधर चले आ रहे हो, यह हमारा घेरा है, हमारा चौका है, न तुमने अवचेतन की नदी में स्नान किया, न तुमने फ़ायड से दीक्षा ली, न तुमने माथे पर ईलियट की छाप लगवायी—अछूत ! अछूत !!

वास्तव में पन्तजी की शैली इन तीनों से भिन्न है। कविताओं को साधारण गद्य की तरह छाप दिया जाता, तो इस प्रकार के भ्रम की सम्भावना न रह जाती, पुस्तक कम पृष्ठों में छप जाती, सस्ती होती, और साधारण जनता तक पहुँच जाती। मैंने किन्हीं दो पृष्ठों पर गिना है—कुल शब्द 55 हैं। मेरी ऐसी धारणा है कि 'कला और बूढ़ा चाँद' की रचनाओं की शैली एक विशिष्टता लिये हुए गद्य-काव्य की शैली है—आप चाहें तो उन्हें गद्य-गीत भी कह सकते हैं। इसी को पन्तजी ने अधिक कवित्वपूर्ण ढंग से 'रश्मिपदी काव्य' कहा है। गद्य से गद्यात्मकता का संस्पर्श अथवा संगति अभी हम अपने मन से नहीं हटा सके, हालाँकि हिन्दी में बहुत ही कवित्वपूर्ण, भावपूर्ण, रसपूर्ण गद्य-काव्य लिखा जा चुका है। जहाँ तक 'कला और बूढ़ा चाँद' की विधा की बात है, मेरी यह निश्चित धारणा है कि उसका सम्बन्ध गद्य-काव्य की उस परम्परा से है जिसका बीजारोपण छायावाद की कविता के साथ ही साथ, राय कृष्णदास की 'साधना' (1916) से हुआ, जो वियोगी हरि (तरंगिणी), चतुरसेन शास्त्री (अन्तस्तल), तेजनारायण 'काक' (मदिरा), रामकुमार वर्मा (हिमहास) की कृतियों में पल्लवित तथा दिनेशनन्दिनी चोरड्या (शबनम), डा. रघुबीरसिंह (शेष स्मृतियाँ) और माखनलाल चतुर्वेदी (साहित्य देवता) की कृतियों में पुष्पित-फलित हुई; न कि मुक्त छन्द की उस परम्परा से जो महाकवि निराला से आरम्भ होकर अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, कुँवरनारायण आदि कवियों में विकसित हुई। मैं फिर दुहरा देना चाहता हूँ कि यह केवल पन्तजी की नयी विधा, कथन अथवा शैली के लिए कहा जा सकता है। कथ्य अथवा विषयवस्तु से वह विशिष्टता आयी है जो उनके गद्य-काव्य को परम्परागत गद्य-काव्य से अलग करती है और एक नवीन प्रतीकात्मकता, सूक्ष्मता अथवा प्रोज्ज्वलता देती है।

इस पर कुछ लिखने के पूर्व, रचना-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर, मैं कविता की एक परिभाषा देने का प्रयत्न करूँगा। कविता, बोध के तलातल, धरातल अथवा शिखर पर थरथरानेवाले भाव-विचारों की वह अभिव्यक्ति है जिसमें शब्दों की लय तथा रूपकों एवं प्रतीकों से सहायता ली जाती है। आधुनिक खड़ीबोली के काव्य का अधिकांश बोध के धरातल का ही काव्य है। बोध का धरातल भी कुछ छोटा नहीं, बहुत बड़ा है—लम्बा-चौड़ा; और बीसवीं शताब्दी के पूर्व प्रायः कवि इसी धरातल से अपना कथ्य संग्रह करता रहा है। बीसवीं सदी का आरम्भ होते-होते मनोविज्ञान की दुनिया में एक शक्ति ने बड़ी हलचल मचा दी। उसका नाम है फ़ायड। फ़ायड जर्मनी का एक यहूदी, आधुनिक मनोविश्लेषण (साइको-अना-लिसिस) का अनुसंधानकर्ता माना जाता है। उन्माद के रोगियों की परीक्षा करते-करते फ्रायड ने साधारण मानव-मस्तिष्क के अनेकानेक तत्त्वों की खोज कर डाली। उसने सिद्ध किया कि मानव के सचेत मस्तिष्क के नीचे अवचेतन की भी एक भारी परत है। अचेतावस्था से लेकर मनुष्य की सहज-स्वाभाविक वृत्तियों को संसार,

समाज अथवा अपने परिवेश से जो टक्करें लेनी पड़ती हैं, जो पराजय स्वीकार करनी पड़ती है, जिन इच्छाओं को दमित-दलित करना पड़ता है, वे सबकी सब उसी अवचेतन में संगृहीत होती रहती हैं, और विविध विकृतियों का रूप लेकर उसके व्यवहार में परिणत होती हैं। स्वभाव से भावप्रवण और वृत्ति से अभिव्यक्तिप्रिय होने के कारण कवि या कलाकार इस अवचेतन का सबसे बड़ा शिकार होता है। फ़ायड के विचार साहित्य के क्षेत्र में भी घुसे। समालोचना की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति चल पड़ी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ़ायड ने कविता समझने की एक नयी दिशा दी। फ़ायड के विचार सृजन के क्षेत्र में भी घुसे। जहाँ पहले अवचेतन अनजान सर्जक की अभिव्यक्ति को प्रभावित करता था, वहाँ अब वह जान-बूझकर अपने मस्तिष्क की अन्ध गुहा तलातल में पैठा, और वहाँ से सत्य, और तथ्य के नाम पर बहुत-सा कूड़ा-कर्कट-कीचड़ निकालकर बाहर फेंकने लगा। पाश्चात्य संसार के, और पाश्चात्य संसार के प्रभाव में आये हुए संसार के काव्य में इस अवचेतन से निकाला हुआ बहुत-सा मर-मसाला आज बजबजा रहा है। ऐसा करनेवालों के पास विज्ञान का बल है; सत्य से मुँह कैसे मोड़ सकते हैं, सत्य को आँख फाड़कर देखना होगा। ऐसे ही समय में पूर्व में एक और शक्ति का उदय हुआ, उसका नाम अरविन्द है। फ़ायड नीचे को धँसे तो अरविन्द ऊपर को उठे। फ़ायड ने अवचेतन की खोज की तो अरविन्द ने अतिचेतन का साक्षात्कार किया। बोध के धरातल से जहाँ बहुत-से कवि अवचेतन की ओर झुके, वहीं कई कवि अतिचेतन की ओर भी उठे। हिन्दी में पन्तजी एकमात्र कवि हैं जिन्होंने इस अति-चेतन को अवगाहने के लिए बहुत वर्षों से प्रयत्न किया है। उन्होंने अवचेतन से मुख ही नहीं मोड़ा, उसका विरोध भी किया है। उनकी 'शिल्पी' में संसार-संहार के पश्चात् नवसर्जकों को जो एक प्रतिमा विगत-विकृत युग की मिलती है, वह फ़ायड की है :

> यह सिर के बल खड़ी मूर्ति है किस नर पशु की ?
> मानव के पूर्वज सा लगता भाव मूढ़ जो !
> पुच्छ विषाण विहीन, भरा बहु रोओं से तन,
> दृप्त मद्यपी के से दृग, भौंडी मुख आकृति :
> मत्त वृषभ का सा मांसल निचला तन इसका,
> कौन पड़ा यह गड्ढे में, कीचड़ में डूबा !
>
> किसी मनोविश्लेषक की प्रतिमा लगती यह,—
> सीढ़ी-सीढ़ी उतर गहन वासना गर्त में
> अवचेतन के अन्धकार में भटक गया जो !
> ऊर्ध्व श्रेणियाँ छोड़ चेतना की, जो निम्नग
> निश्चेतन में विचरा पशु मानस के स्तर पर,
> उलझ ग्रन्थियों में असंख्य इन्द्रिय भ्रम पीड़ित
> खोज न पाया आत्मशुद्धि का पथ अन्तर्मुख,—
> उभरे मोटे ओठों में लालसा दबाये
> कुण्ठाओं की रेखाओं से जर्जर आनन !

अतिचेतन की ओर उठने का यह अध्यवसाय सम्भवतः उन्होंने 'स्वर्ण किरण' की रचनाओं के साथ आरम्भ किया था। 'कला और बूढ़ा चाँद' में उसकी बड़ी मनोमय परिणति हुई है। जो बात पहले सिद्धान्त या विचार के रूप में आयी थी

वह, कवि की कल्पना का आश्रय पाकर भी, थोड़ी शुष्कता के साथ 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' में व्यक्त हुई। 'उत्तरा' में वह अधिक भाव-सिक्त होकर आयी। आश्चर्य नहीं, पन्तजी ने स्वयं 'उत्तरा' को सौन्दर्य-बोध तथा भाव-ऐश्वर्य की दृष्टि से अपनी रचनाओं में सर्वोपरि माना। 'अतिमा' और 'वाणी' से होते हुए 'कला और बूढ़ा चाँद' तक पहुँचते-पहुँचते विचार और भाव लय हो गये, सूक्ष्मानुभूति में बदल गये, जिसे आप चाहें तो सहज स्फुरण, सहज प्रज्ञा अथवा दिव्य दृष्टि, कुछ भी कह सकते हैं :

"ओ रचने,
तुम्हारे लिए कहाँ से
ध्वनि, छन्द लाऊँ ?
कहाँ से शब्द, भाव लाऊँ ?
सब विचार, सब मूल्य
सब आदर्श लय हो गये !"

अनुभूतियों की एक सीमा पर शब्द साथ नहीं देते, यह साधारण अनुभव है। 'कला और बूढ़ा चाँद' में भी शब्दों की असमर्थता बार-बार व्यक्त की गयी है। विरोधाभासी अभिव्यक्तियाँ छायावादी काल से ही हिन्दी में आ गयी थीं। इस रचना में उनका प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। शब्द जैसे एक-दूसरे से टकराकर चकनाचूर हो जाते हैं। कवि मौन भी होने को तैयार है। पर जैसे शब्द से, वैसे मौन से भी, अनुभूति अनभिव्यक्त ही रहेगी। फिर वह बोलता क्यों न जाये ! साधक के ऊपर कलाकार विजयी होता है। वह निश्चय करता है कि वह प्रतीकों में बोलेगा :

"मैं शब्दों की
इकाइयों को रौंदकर
संकेतों में
प्रतीकों में बोलूँगा।"

मज़ा तो यह है कि चाहे कवि 'बोध के सर्वोच्च शिखर से' अतिचेतन की चोटी से बोले, चाहे बोध के तलातल से—अवचेतन की निचली-से-निचली सतह से, बोलते दोनों हैं प्रतीकों में ही। जिसे अवचेतन की कविता कहा जाता है वह उतनी ही प्रतीक-प्रचुर है जितनी अतिचेतन की कविता। दक्षता शायद दोनों स्तरों की अभिव्यक्ति देने के लिए चाहिए। शायद दोनों से अच्छी कविता भी लिखी जा सकती है, पर जब कविता के द्वारा जीवन को समझने का प्रयत्न किया जायेगा, जीवन को उदात्त बनाने की प्रेरणा ली जायेगी तब अवचेतन की सत्ता स्वीकार करते हुए भी अतिचेतना के शिखर पर ही चढ़ना होगा। कविता का अन्तिम ध्येय जीवन को उठाना ही हो सकता है। 'पल्लव' में पन्तजी स्वयं यह घोषणा करते हुए आये थे :

"अकेली सुन्दरता, कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान।"

'कला और बूढ़ा चाँद' में वे स्पष्ट स्वर में कहते हैं :

"शिव की कला ही
सत्य और सुन्दर है।"

अवचेतन केवल सत्य-तथ्य, वैज्ञानिक दृष्टिकोण की दुहाई देकर अपना रखाव-बचाव नहीं कर सकेगा। अवचेतन के भूत, प्रेत, चुड़ैलों, डाकिनियों को शिव का

अनुयायी होना पड़ेगा। हमारी पौराणिक कथा का यही मर्म अर्थ है।

संक्षेप में, 'कला और बूढ़ा चाँद' ऊर्ध्व मूल्यों का काव्य है। उन मूल्यों पर पन्तजी 'स्वर्ण किरण' से लेकर, शायद एक दूसरे रूप में 'ज्योत्स्ना' से लेकर आज तक लिखते आये हैं; 'ज्योत्स्ना' में सर्वप्रथम उनके जीवन-दर्शन ने एक बुनियादी धरातल तैयार किया था। पन्तजी ने अपने काव्य-जीवन में भावों से भी बहुत कहा है —विचारों से भी बहुत कहा है—विचारों से जो उन्होंने कहा है शायद बहुत-से लोग उसे उच्चकोटि की कविता न मानें—'कला और बूढ़ा चाँद' में उन्होंने सहज स्फुरण (इनटूइशन) से कहा है, दिव्यदृष्टि से कहा है—द्रष्टा के आत्म-विश्वास से कहा है, जैसे हमारे वैदिक ऋषि कहते हैं :

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं"—
(मैं इस महद् पुरुष को जानता हूँ)

× ×

"मैंने
हिमालय के
शुभ्र श्वेत मौन को
फूँका,
मानस शंख से
छोटा था वह!"

× ×

"मैं सूर्य में डूबा,
वह स्वच्छ सरोवर निकला,
(मैं) रक्त कमल सा खिला!
मेरे अंग अंग
स्वर्ण शुभ्र हो उठे।"

पन्तजी केवल कवि नहीं रहे हैं, वे बहुत बड़े विचारक भी हैं, यह और बात है कि विचारों को पद्यबद्ध करना कविता न माना जाये। पद्य रचना पर पन्तजी का इतना ज़बर्दस्त अधिकार है कि अब मैं ऐसा सोचने लगा हूँ कि शायद अपने विचारों को संयमित, नियमित, सन्तुलित, संक्षिप्त, सबल और पूर्णतः प्रभावकारी (ब्रेविटी इज़ स्ट्रेंथ) रखने के ध्येय ही से तो नहीं उन्होंने उन्हें पद्यबद्ध किया! अपने कुछ विचारों को उन्होंने गद्य में भी व्यक्त किया है और पद्य में भी। किसी को किसी दिन इसका अध्ययन करना पड़ेगा कि किस माध्यम से कवि ने थोड़े में अधिक सार-गर्भित बात कह दी है। कविर्मनीषी तो पन्तजी पहले भी थे। 'कला और बूढ़ा चाँद' ने उन्हें द्रष्टा कहलाने का भी अधिकारी बना दिया है। अपनी लम्बी कविता 'स्वर्णोदय' के नायक में शायद उन्होंने अपना पहले का और अब का चित्र अंकित कर दिया है :

"तरुण रथी ने झेले बहु फूलों के शायक,
क्रान्त दृष्टि वह रहा, विचारक, जनगण नायक;
अन्वेषक, शोधक, निज युग का भाग्य विधायक,
धर्म नीति दर्शन मन्थन में अपर विनायक!"

× ×

"सहज चेतना से अब उसका हृदय प्रकाशित,
आतप-सी वह, जिसे न भू रज करती रंजित,

शैशव, यौवन, शिशिर, वसन्त उसी में चित्रित,
शुभ्र किरण वह, जीवन इन्द्रधनुष में सज्जित''

मैं यह लेख इस विश्वास के साथ समाप्त करना चाहता हूँ कि 'कला और बूढ़ा चाँद' के प्रति आपकी जिज्ञासा बढ़ेगी और आप उसे पढ़ना चाहेंगे। कुतुबमीनार की चोटी पर पहुँचने के लिए बहुत-सी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। पन्तजी की यह अभिनव कृति उनकी चोटी की रचना है। अगर आप चाहते हैं कि उसका रस आप ले सकें तो आपको सीढ़ी-सीढ़ी ऊपर जाना चाहिए—उनकी प्रथम रचना 'वीणा' से आरम्भ करके। अपना एक रहस्य आपको बताऊँ, पन्तजी की जब कोई नयी रचना प्रकाशित होती है तो मैं एक बार शुरू से उनकी सारी रचनाओं का पारायण कर उसे पढ़ना आरम्भ करता हूँ। और अपनी पिछली रचनाओं के सन्दर्भ में ही, मुझे लगता है, उनकी नयी रचना पूरा अर्थ देती है।

[1961]

हमारा राष्ट्रीय गीत*

राष्ट्रीय गीत के सम्बन्ध में जो चर्चा बहुत दिनों से चल रही है उससे भारतीय जनता भली भाँति परिचित है। स्वतन्त्र देश के लिए कुछ बाहरी प्रतीकों की आवश्यकता होती है, जिससे उस देश का व्यक्तित्व दूसरों से अलग व्यक्त हो सके। इनमें राष्ट्रीय झण्डा, राष्ट्रीय मुहर और राष्ट्रीय गीत प्रमुख हैं। राष्ट्रीय झण्डे के सम्बन्ध में निर्णय हो चुका है और वह सबको मान्य भी है। राष्ट्रीय मुहर के लिए अशोक स्तम्भ का शिखर पसन्द किया गया है और उसका प्रयोग भी हो रहा है। परन्तु राष्ट्रीय गीत के सम्बन्ध में हम अभी तक किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचे। मैंने अक्सर सुना है कि राष्ट्र-गीत के सम्बन्ध में देश के साहित्यकारों और कवियों को अपनी सम्मति देनी चाहिए; यह प्रश्न केवल राजनीतिज्ञों पर नहीं छोड़ देना चाहिए। कुछ लोग अधिक आवेश में आकर, प्रायः वे लोग जो अंग्रेज़ी की तुलना में भारतीय भाषाओं को नगण्य समझते हैं, यह भी कह उठते हैं कि राष्ट्र-भाषा, राष्ट्र-भाषा चिल्लाते तो बहुत हो, तुमसे इतना भी तो नहीं हो सका कि एक अच्छे राष्ट्र-गीत की रचना कर सको। पहली बात का समाधान तो यों किया जा सकता है कि हमारे देश के साहित्यकार विदेशियों के शासन के समय मे ही इतने उपेक्षित रहे हैं, कि उन्हें इस बात का विश्वास ही नहीं रह गया है कि वे जो कुछ अपनी बुद्धि अथवा सुरुचि के अनुसार कहेंगे, उसकी कोई क़द्र की जायेगी। इस कारण वे प्रायः ऐसे मामलों में तटस्थ ही रहते हैं। दूसरी बात के लिए मेरा अपना विचार यह है कि राष्ट्र-गीत के लिए किसी रचना का बहुत उच्चकोटि का होना आवश्यक नहीं है। दुर्भाग्यवश मैं अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के राष्ट्र-गीत नहीं जानता। परन्तु मैं पूछना चाहूँगा कि अंग्रेज़ों के राष्ट्र-गीत में कौन-सा कवित्व है जिसके लिए अंग्रेज़ जाति के मनीषियों और कवियों ने अपना मस्तिष्क खपाया है। लेकिन यह वह गीत है कि जहाँ कहीं भी यह गाया जाता है, हर अंग्रेज़ अटेनशन पर खड़ा होकर ध्यानस्थ हो जाता है। राष्ट्र-गीत, जैसा कि मैंने ऊपर

* संगम (प्रयाग) 13.12. 48

कहा है, एक प्रतीक है—एक मूर्ति है—मानो तो देवता नहीं पत्थर। सारी बात मानने की है।

यह मानने की बात जितनी सरल मालूम होती है, उतनी सरल नहीं है। सारे देश का देश बिना किसी ज़ोर-दबाव के कोई चीज़ मान ले, यह कोई साधारण बात नहीं है। उस चीज़ में कुछ तो ऐसा होना ही होगा जो सबके अन्तर को छू सके। एक पीढ़ी के मान लेने के बाद दूसरी पीढ़ी उसे कुल-देवता के समान पूजेगी और उसी के साथ अपनी भावनाएँ सम्बद्ध करती जायगी, पर प्रश्न तो है हमारी वर्तमान पीढ़ी का। हम अवश्य ही एक नवीन भारत की नींव डाल रहे हैं, पर हम सब कुछ नया ही नहीं कर सकते। हम कुछ संस्कार भी लाये हैं। शायद हम उन्हें न भूलें तो अपने भविष्य के निर्माण में अधिक सतर्क और सन्तुलित रह सकेंगे। राष्ट्र-गीत के सम्बन्ध में भी हम कुछ संस्कार लाये हैं। राष्ट्रीय झण्डे के सम्बन्ध में भी हमारे संस्कार थे। हमने स्वाधीन भारत का झण्डा बिल्कुल नये रूप में नहीं खड़ा किया। उसके पुराने रूप में ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। अगर आवश्यकता हो तो एकदम नयी चीज़ लाने का मैं विरोधी नहीं हूँ, परन्तु राष्ट्र-गीत के सम्बन्ध में मेरी धारणा है कि हम एकदम नया कुछ नहीं ला सकेंगे। कम-से-कम, आइए इस पर थोड़ा-सा विचार तो कर ही लें कि राष्ट्र-गीत के नाम पर हमारी भावनाएँ किन बिन्दुओं पर केन्द्रित होती रही हैं।

मुझे क्षमा किया जाये, यदि मैं कुछ व्यक्तिगत चर्चा भी करूँ। मुझे याद आते हैं अपने म्यूनिस्पल स्कूल के दिन, सन् 1917-'18 का ज़माना, जब हमारे स्कूलों में जार्ज पंचम और क्वीन मेरी की तस्वीर लगी रहा करती थी। उस समय विशेष अवसरों पर एक गीत गाया जाता था। हम सब लोग खड़े हो जाते थे, दो-एक अच्छे स्वरवाले लड़के उसे गाते थे। उस गाने की पहली पंक्ति मुझे अब तक याद है।

"भगवन हमारे जार्ज पंजुम को चिरायू कीजिए।"

हमारे अध्यापक गण बहुत श्रद्धा और आदर से उसे हमें गाना और सुनना सिखलाते थे। यह हमारी दास प्रवृत्ति के अनुरूप था और आनेवाली पीढ़ियाँ भले ही इस पर अचरज करें, परन्तु हम, जिन्होंने अपनी आधी उमर दासता में काटी है, भली भाँति उस दबी मनस्थिति का अन्दाज़ा कर सकते हैं, जिसमें ऐसी बातें सम्भव थीं।

सन् 1919 में मैं कायस्थ पाठशाला में आया। यहाँ स्कूल का काम शुरू होने के पहले बड़े हाल में सब जमा होते थे और 'वन्दे मातरम्' का गीत गाया जाता था। उत्सव आदि पर भी हमारी कार्रवाई 'वन्दे मातरम्' के गीत से शुरू होती थी और हम सब लोग इस गीत का आरम्भ होते ही चटपट खड़े हो जाते थे। वहीं मैंने यह सीखा कि यह हमारा राष्ट्र-गीत है। इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना याद है। स्कूल में तो इस गीत को गाना ठीक था, पर हमारे बड़े-बूढ़े इसे बाहर कहीं गाने में भय का अनुभव करते थे। एक दिन मैं अपने घर पर 'वन्दे मातरम्' गा रहा था कि मेरे चाचा ने मुझसे कहा, "वन्दे मातरम् इस तरह गा रहा है, पकड़वायेगा?" मैं कुछ समझ नहीं सका, केवल यही ध्यान आया कि यह पूजा गीत जहाँ-तहाँ गाने की चीज़ नहीं, इसे सदा गम्भीरता से गाना चाहिए। बाद को जैसे-जैसे मेरा ज्ञान बढ़ा, मैंने वन्दे मातरम् आन्दोलन के विषय में काफ़ी जाना। तभी से मेरी धारणा थी कि 'वन्दे मातरम्' ही हमारा राष्ट्र-गान है। स्वतन्त्रता आन्दोलनों में कितने ही अवसरों पर सहस्त्रों कण्ठों से उठाया गया यह नाद, "क़ौमी नारा—वन्दे मातरम्" आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है। यही 'वन्दे मातरम्' का इतिहास और संस्कार

शैशव, यौवन, शिशिर, वसन्त उसी में चित्रित,
शुभ्र किरण वह, जीवन इन्द्रधनुष में सजित''

मैं यह लेख इस विश्वास के साथ समाप्त करना चाहता हूँ कि 'कला और बूढ़ा चाँद' के प्रति आपकी जिज्ञासा बढ़ेगी और आप उसे पढ़ना चाहेंगे। कुतुबमीनार की चोटी पर पहुँचने के लिए बहुत-सी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। पन्तजी की यह अभिनव कृति उनकी चोटी की रचना है। अगर आप चाहते हैं कि उसका रस आप ले सकें तो आपको सीढ़ी-सीढ़ी ऊपर जाना चाहिए—उनकी प्रथम रचना 'वीणा' से आरम्भ करके। अपना एक रहस्य आपको बताऊँ, पन्तजी की जब कोई नयी रचना प्रकाशित होती है तो मैं एक बार शुरू से उनकी सारी रचनाओं का पारायण कर उसे पढ़ना आरम्भ करता हूँ। और अपनी पिछली रचनाओं के सन्दर्भ में ही, मुझे लगता है, उनकी नयी रचना पूरा अर्थ देती है।

[1961]

हमारा राष्ट्रीय गीत*

राष्ट्रीय गीत के सम्बन्ध में जो चर्चा बहुत दिनों से चल रही है उससे भारतीय जनता भली भाँति परिचित है। स्वतन्त्र देश के लिए कुछ बाहरी प्रतीकों की आवश्यकता होती है, जिससे उस देश का व्यक्तित्व दूसरों से अलग व्यक्त हो सके। इनमें राष्ट्रीय झण्डा, राष्ट्रीय मुहर और राष्ट्रीय गीत प्रमुख हैं। राष्ट्रीय झण्डे के सम्बन्ध में निर्णय हो चुका है और वह सबको मान्य भी है। राष्ट्रीय मुहर के लिए अशोक स्तम्भ का शिखर पसन्द किया गया है और उसका प्रयोग भी हो रहा है। परन्तु राष्ट्रीय गीत के सम्बन्ध में हम अभी तक किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचे। मैंने अक्सर सुना है कि राष्ट्र-गीत के सम्बन्ध में देश के साहित्यकारों और कवियों को अपनी सम्मति देनी चाहिए; यह प्रश्न केवल राजनीतिज्ञों पर नहीं छोड़ देना चाहिए। कुछ लोग अधिक आवेश में आकर, प्राय: वे लोग जो अंग्रेज़ी की तुलना में भारतीय भाषाओं को नगण्य समझते हैं, यह भी कह उठते हैं कि राष्ट्र-भाषा, राष्ट्र-भाषा चिल्लाते तो बहुत हो, तुमसे इतना भी तो नहीं हो सका कि एक अच्छे राष्ट्र-गीत की रचना कर सको। पहली बात का समाधान तो यों किया जा सकता है कि हमारे देश के साहित्यकार विदेशियों के शासन के समय में ही इतने उपेक्षित रहे हैं, कि उन्हें इस बात का विश्वास ही नहीं रह गया है कि वे जो कुछ अपनी बुद्धि अथवा सुरुचि के अनुसार कहेंगे, उसकी कोई क़द्र की जायेगी। इस कारण वे प्राय: ऐसे मामलों में तटस्थ ही रहते हैं। दूसरी बात के लिए मेरा अपना विचार यह है कि राष्ट्र-गीत के लिए किसी रचना का बहुत उच्चकोटि का होना आवश्यक नहीं है। दुर्भाग्यवश मैं अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के राष्ट्र-गीत नहीं जानता। परन्तु मैं पूछना चाहूँगा कि अंग्रेज़ों के राष्ट्र-गीत में कौन-सा कवित्व है जिसके लिए अंग्रेज़ जाति के मनीषियों और कवियों ने अपना मस्तिष्क खपाया है। लेकिन यह वह गीत है कि जहाँ कहीं भी यह गाया जाता है, हर अंग्रेज़ अटेनशन पर खड़ा होकर ध्यानस्थ हो जाता है। राष्ट्र-गीत, जैसा कि मैंने ऊपर

---

* संगम (प्रयाग) 13.12.48

कहा है, एक प्रतीक है—एक मूर्ति है—मानो तो देवता नहीं पत्थर। सारी बात मानने की है।

यह मानने की बात जितनी सरल मालूम होती है, उतनी सरल नहीं है। सारे देश का देश बिना किसी ज़ोर-दबाव के कोई चीज़ मान ले, यह कोई साधारण बात नहीं है। उस चीज़ में कुछ तो ऐसा होना ही होगा जो सबके अन्तर को छू सके। एक पीढ़ी के मान लेने के बाद दूसरी पीढ़ी उसे कुल-देवता के समान पूजेगी और उसी के साथ अपनी भावनाएँ सम्बद्ध करती जायगी, पर प्रश्न तो है हमारी वर्तमान पीढ़ी का। हम अवश्य ही एक नवीन भारत की नींव डाल रहे हैं, पर हम सब कुछ नया ही नहीं कर सकते। हम कुछ संस्कार भी लाये हैं। शायद हम उन्हें न भूलें तो अपने भविष्य के निर्माण में अधिक सतर्क और सन्तुलित रह सकेंगे। राष्ट्र-गीत के सम्बन्ध में भी हम कुछ संस्कार लाये हैं। राष्ट्रीय झण्डे के सम्बन्ध में भी हमारे संस्कार थे। हमने स्वाधीन भारत का झण्डा बिल्कुल नये रूप में नहीं खड़ा किया। उसके पुराने रूप में ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है। अगर आवश्यकता हो तो एकदम नयी चीज़ लाने का मैं विरोधी नहीं हूँ, परन्तु राष्ट्र-गीत के सम्बन्ध में मेरी धारणा है कि हम एकदम नया कुछ नहीं ला सकेंगे। कम-से-कम, आइए इस पर थोड़ा-सा विचार तो कर ही लें कि राष्ट्र-गीत के नाम पर हमारी भावनाएँ किन बिन्दुओं पर केन्द्रित होती रही हैं।

मुझे क्षमा किया जाये, यदि मैं कुछ व्यक्तिगत चर्चा भी करूँ। मुझे याद आते हैं अपने म्यूनिस्पल स्कूल के दिन, सन् 1917-'18 का ज़माना, जब हमारे स्कूलों में जार्ज पंचम और क्वीन मेरी की तस्वीर लगी रहा करती थी। उस समय विशेष अवसरों पर एक गीत गाया जाता था। हम सब लोग खड़े हो जाते थे, दो-एक अच्छे स्वरवाले लड़के उसे गाते थे। उस गाने की पहली पंक्ति मुझे अब तक याद है।

"भगवन हमारे जार्ज पंजुम को चिरायू कीजिए।"

हमारे अध्यापक गण बहुत श्रद्धा और आदर से उसे हमें गाना और सुनना सिखलाते थे। यह हमारी दास प्रवृत्ति के अनुरूप था और आनेवाली पीढ़ियाँ भले ही इस पर अचरज करें, परन्तु हम, जिन्होंने अपनी आधी उमर दासता में काटी है, भली भाँति उस दबी मनस्थिति का अन्दाज़ा कर सकते हैं, जिसमें ऐसी बातें सम्भव थीं।

सन् 1919 में मैं कायस्थ पाठशाला में आया। यहाँ स्कूल का काम शुरू होने के पहले बड़े हाल में सब जमा होते थे और 'वन्दे मातरम्' का गीत गाया जाता था। उत्सव आदि पर भी हमारी कार्रवाई 'वन्दे मातरम्' के गीत से शुरू होती थी और हम सब लोग इस गीत का आरम्भ होते ही चटपट खड़े हो जाते थे। वहीं मैंने यह सीखा कि यह हमारा राष्ट्र-गीत है। इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना याद है। स्कूल में तो इस गीत को गाना ठीक था, पर हमारे बड़े-बूढ़े इसे बाहर कहीं गाने में भय का अनुभव करते थे। एक दिन मैं अपने घर पर 'वन्दे मातरम्' गा रहा था कि मेरे चाचा ने मुझसे कहा, "वन्दे मातरम् इस तरह गा रहा है, पकड़वायेगा ?" मैं कुछ समझ नहीं सका, केवल यही ध्यान आया कि यह पूजा गीत जहाँ-तहाँ गाने की चीज़ नहीं, इसे सदा गम्भीरता से गाना चाहिए। बाद को जैसे-जैसे मेरा ज्ञान बढ़ा, मैंने वन्दे मातरम् आन्दोलन के विषय में काफ़ी जाना। तभी से मेरी धारणा थी कि 'वन्दे मातरम्' ही हमारा राष्ट्र-गान है। स्वतन्त्रता आन्दोलनों में कितने ही अवसरों पर सहस्रों कण्ठों से उठाया गया यह नाद, "क़ौमी नारा—वन्दे मातरम्" आज भी मेरे कानों में गूँज रहा है। यही 'वन्दे मातरम्' का इतिहास और संस्कार

मेरे मन में था, जब मैंने बंगाल के काल पर लिखित अपनी कविता में उसके विषय में भी लिखा था :

"वही बंगाल
देख जिसे पुलकित नेत्रों से
भरे कण्ठ से
गद्‌गद स्वर में
कवि ने गाया राष्ट्र-गान वह
वन्दे मातरम्,
सुजलाम्, सुफलाम्, मलयज शीतलाम्,
शस्य श्यामलाम्, मातरम्...
वन्दे मातरम्;
जो नगपति के उच्च शिखर से
रास कुमारी के पदनख तक
गिरि-गह्‌वर में,
वन प्रान्तर में,
मरुस्थलों में, मैदानों में
खेतों में, औ' खलिहानों में,
गाँव-गाँव में,
नगर-नगर में,
डगर-डगर में,
बाहर-घर में,
स्वतन्त्रता का महा मन्त्र बन,
कण्ठ-कण्ठ से हुआ निनादित,
कण्ठ-कण्ठ से हुआ प्रतिध्वनित;
जपकर जिसको आज़ादी के दीवानों ने,
कितने ही,
दी मिला जवानी
मिट्टी में, काले पानी में;
कितनों ने हथकड़ी-बेड़ियों की झन-झन पर
जिसको गाया,
और सुनाया,
मन बहलाया,
जब कि डाल वे दिये गये थे,
देश प्रेम का मूल्य चुकाने,
कठिन, कठोर, घोर कारागारों में;
कितने ही जिसको जिह्वा पर लाकर
बिना हिचक के,
बिना झिझक के,
हँसते-हँसते,
झूल गये फाँसीवाले तख़्ते पर
या खोल छातियाँ खड़े हुए
गोली की बौछारों में ।"

यह था वन्दे मातरम् का संस्कार मेरे मन पर। कायस्थ पाठशाला के दिनों में ही मेरा परिचय 'जनगण मन' वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत से हुआ। पर इसके साथ किसी प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास की अथवा बलिदान की कहानी नहीं जुड़ी हुई थी। बीच में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के बढ़ने पर मुस्लिम लीग के द्वारा और फिर प्रायः सभी मुसलमानों के मुँह से यह बात सुनायी पड़ने लगी कि 'वन्दे मातरम्' में मूर्तिपूजा की गयी है और मूर्ति पूजना इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है, इसलिए जहाँ यह गाया जाय, वहाँ किसी मुसलमान को उपस्थित नहीं रहना चाहिए। बाद को मुझे भी मालूम हुआ कि 'वन्दे मातरम्' का जो भाग हम लोग गाते हैं, वह सम्पूर्ण गीत न होकर उसका ऊपरी हिस्सा है और आगे चलकर इसी गीत में दुर्गा की उपासना की गयी है। दुर्गा पूजा के बंगला विशेषांकों में दुर्गा के चित्र के साथ मैंने यह पूरा गीत छपा देखा भी और तब मन में यह बात भी आयी कि मुसलमान जो कहते हैं, उसमें कुछ तर्क अवश्य है, यद्यपि जो अंश राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार कर लिया गया है, उसमें किसी देवी-देवता की उपासना न होकर भारतमाता की ही वन्दना है। मैंने सम्मिलित जलसों में इस गीत के आरम्भ होने पर मुसलमानों को सभा छोड़ते भी देखा। स्वतन्त्रता-प्रदान उत्सव पर अनेक मुसलमान नेता उस समय सभा में आये, जब 'वन्दे मातरम्' का गीत समाप्त हो चुका; इनमें मिस्टर खलीक़ुज़्ज़मा का नाम पत्रों में भी आया था।

'जनगण मन' वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत से भी एक इतिहास जुड़ा था। जब युद्ध के समाप्त होने पर श्री सुभाषचन्द्र बोस की आज़ाद हिन्द फौज की कहानी देश में पहुँची तो सन '42 की कुचली हुई जनता में एक बिजली की लहर दौड़ गयी। जो कुछ आज़ाद हिन्द ने किया था, वह हमारे लिए कौतूहल और सम्मान का विषय बन गया। आज़ाद हिन्द के ये नारे थे, ये टिकट थे, ये अखबार थे, यह झण्डा था, आदि-आदि। इसी बीच यह बात भी खुली कि आज़ाद हिन्द सरकार ने 'जनगण मन' को अपना राष्ट्र-गीत मान लिया था। आज़ाद हिन्द सरकार ने इस गीत का एक हिन्दुस्तानी रूप बना लिया था। इस गीत का प्रचार शीघ्रता से होना शुरू हुआ और यह दिखलाने को कि जैसे आज़ाद हिन्द के विद्रोह के साथ हम सब सम्मिलित हैं, यही 'जनगण मन' का गीत हर जगह गाया जाने लगा और 'वन्दे मातरम्' धीरे-धीरे पीछे पड़ने लगा। उसी समय से हमने 'जय हिन्द' का सैलूट स्वीकार किया। पण्डित नेहरू ने इस पर एक लेख भी लिखा कि 'वन्दे मातरम्' की जगह अब हमें परस्पर मिलने पर 'जय हिन्द' कहना चाहिए और वे आज भी अपने समस्त भाषणों में 'जय हिन्द' कहना नहीं भूलते। बताने की आवश्यकता नहीं कि जय हिन्द 'आज़ाद हिन्द' गवर्नमेण्ट का सैलूट था। 'वन्दे मातरम्' को छोड़कर श्री सुभाषचन्द्र बोस ने 'जनगण मन' को क्यों राष्ट्र-गीत माना, इसे समझना कठिन नहीं है। 'वन्दे मातरम्' के साथ मुसलमान मूर्तिपूजा का भाव जोड़े हुए थे। ऐसी फौज़ में जिसमें हिन्दू-मुसलमान सब सम्मिलित हों, वे किसी प्रकार के विवाद अथवा विरोध के लिए तैयार न थे। फिर 'वन्दे मातरम्' का गीत संस्कृतमय और कठिन भी था। उन्होंने इतना ही नहीं किया 'जनगण मन' के बंगला रूप को हिन्दुस्तानी रूप भी दिया। ऐसा करने में उस सुन्दर कविता में बहुत-से रचना-दोष भी आ गये। पर जान पर खेलने का समय था, शब्दों की ओर ध्यान देने की फ़ुरसत नहीं थी। गीत ने सबकी श्रद्धा समेटी; ध्येय सफल हुआ।

आज़ाद हिन्द फौज़ के विद्रोह के पूर्व यदि राष्ट्र-गीत के नाम से किसी गीत पर ध्यान जा सकता था तो वह 'वन्दे मातरम्' ही था। आज 'वन्दे मातरम्' के

साथ 'जनगण मन' उसका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी है। दोनों गीतों से जो भावनाएँ जुड़ गयी हैं, उनकी तुलना करना उचित नहीं है। एक से यदि हमारी श्रद्धा और उमंग जुड़ी हुई है तो दूसरी से हमारा विद्रोह और आज़ादी का पहला सपना जुड़ा हुआ है। एक से यदि हमारा त्याग और बलिदान जुड़ा हुआ है तो दूसरे से हमारी शक्ति और वीरता जुड़ी हुई है। 'वन्दे मातरम्' के गीत में यदि भारतमाता अपने कोटि-कोटि भुजाओं में करवाल लेकर खड़ी हो गयी हैं तो 'जनगण मन' में जैसे वह अपने शत्रु को पराजित करने के लिए वेग से चल पड़ी हैं। एक स्थिरता का और दूसरा गति का गीत है; दोनों को साथ सुनकर आप उनकी ध्वनि से यही आभास पायेंगे।

राष्ट्र-गीत की चर्चा करते समय सहसा 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा' का भी ध्यान आता है। उसका आजकल कोई नाम भी नहीं लेता। प्रचारात्मक साहित्य का ऐसा ही अन्त होता है। उसमें कोई कवित्व गुण भी नहीं था। रचना-दोष भी उसमें बहुत थे। जब झण्डे का गीत पसन्द किया गया, तो दूसरों से उपेक्षित और अपने से तटस्थ हिन्दी कवियों की राय भी नहीं ली गयी। गीत चल पड़ा और उसने अपना काम किया। कम ही लोगों को यह बात मालूम होगी कि यह झण्डे का गीत मौलिक नहीं है। यह गीत 'यूनियन जैक' पर लिखे गये एक गीत से लिया गया था। 'यूनियन जैक' पर वह कविता 1925 की फ़रवरी की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। रचना किसी अमनसभाई की मालूम होती है जिसे अपना नाम देने में भी शर्म मालूम होती थी, इसी से उसने अपने क़लमी नाम 'सत्कविदास' से यह कविता छपाई थी। 1920 के असहयोग आन्दोलन के पश्चात् कवियों में भी कोई इस मनोवृत्ति का था, इस पर अचरज होता है। कौतूहल के लिए कुछ पंक्तियाँ दे रहा हूँ, जिससे आपको पता लग सके कि झण्डे के गीत का लेखक इस 'सत्कविदास' का कितना ऋणी है :

"संहति मूर्ति, तिरंगा प्यारा,
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।
उसकी छवि दर्शनिवाला,
स्वजनों को हर्षनिवाला,
उस झण्डे की छाया में अब
चलो साथ ही बोलें हम सब,
कैसर हिन्द, प्रजा के प्यारे,
रहें सुखी सम्राट हमारे।"

जिस गीत के नुत्फ़े में 'यूनियन जैक' पड़ा हो, उसके भुलाये जाने पर अथवा नष्ट होने पर मुझे कोई दुख नहीं है। इसके विषय में इतना लिखने की ज़रूरत इसलिए थी कि कुछ दिशाओं से इसे भी राष्ट्र-गीत मानने की कुछ आवाज़ें कभी-कभी कानों में पहुँचीं।

'जनगण मन' और 'वन्देमातरम्' की प्रतिद्वन्द्विता में 'जनगण मन' को पण्डित जवाहरलाल नेहरू से बल प्राप्त हुआ है। उन्होंने सर्वप्रथम इस बात को उठाया कि 'वन्दे मातरम्' का गीत मन्द और 'जनगण' का गतिमय है। यह बिलकुल ठीक बात है। बाजों पर इसे बजाने की सुविधा के अतिरिक्त, प्रगति के इस युग में हमें गति-मय गीत को ही अपनाना चाहिए। आज़ाद हिन्द फौज़ के साहसी कारनामों से पण्डित नेहरू एक समय फड़क उठे थे और उन्होंने इन्हीं के बल पर जेल से बाहर होते ही सन् '42 की मरी-मसली जनता में जान फूँकी थी। यह बात भी उनके मन में अवश्य होगी कि आज़ाद हिन्द सरकार ने उसको अपना राष्ट्र-गीत माना था।

'वन्देमातरम्' को वे नहीं चाहते, इसका कारण सम्भवतः केवल यही नहीं है कि उसकी गति मन्द है। हमारे देश का एक अंग इसका विरोध अपने धार्मिक सिद्धान्तों के कारण करता रहा है। पाकिस्तान बनने के बाद अगर आज हिन्दू चाहें तो उनकी इस भावना की उपेक्षा कर सकते हैं। पर पण्डित नेहरू कभी ऐसा करके सुखी नहीं हो सकते। सम्भवतः 'वन्देमातरम्' को छोड़ने के पीछे उनके मन में मुसलमान जनता की एक भावना का भी ध्यान है। यह उदारता और दरियादिली पण्डित नेहरू के अनुकूल है, और इसे हमारा समर्थन मिलना चाहिए। 'जनगण मन' को स्वीकार करने की कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। यह अपने संगीत में पूर्ण है और बैण्ड आदि पर बजाने के उपयुक्त है। प्रगति युग में गति का आभास भी देता है। उसके साथ हमारी आज़ादी की पहली किरण का इतिहास भी बँधा है। पर हर रचना पर कुछ युग की छाप रहती है। समय ने हमारे देश का नक्शा ही बदल दिया। पूरे का पूरा 'सिन्ध' हिन्दुस्तान की सीमा से बाहर चला गया है। 'पंजाब' और 'बंग', हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों में हैं। विधान सभा के प्रथम सभापति श्री सच्चिदानन्द सिन्हा ने एक बार लिखा था कि इस गीत में मेरे सूबे का (यानी बिहार का) नाम ही नहीं है; मैं कैसे इसे अपना राष्ट्र-गीत मानूँ। कभी-कभी पात्रों में कुछ लोगों ने लिखा है कि यह रचना जार्ज पंचम के लिए लिखी गयी थी। पता नहीं इसका कुछ सबूत भी उनके पास है या नहीं। यदि ऐसा है तो हम अपने राष्ट्र-गीत के साथ ऐसे सम्बन्ध पर कैसे अभिमान कर सकते हैं। फिर इस 'भाग्य विधाता' में कुछ मध्यकालीन प्रवृत्ति भी जान पड़ती है। हम भाग्यवादी कब तक बने रहेंगे, कब तक 'भाग्य विधाता' के संकेतों पर ही चलते रहेंगे। आनेवाली दुनिया में हमें भाग्य-भरोसे न बैठकर कुछ उद्यम भी करना होगा। इस कारण भी बहुत-से लोगों को 'भाग्य विधाता' खटकता है। एक बात और भी है। इस गीत में देश का सम्यक् रूप नहीं है; न तो इसकी भूमि का और न इसके निवासियों का। देश क्या है—पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा आदि-आदि। निवासी क्या हैं—हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख, जैन, पारसी आदि-आदि। क्या हमारा यही सपना है कि भारत की भूमि प्रान्तों में बँटी रहे और भारतवासी धर्मों के गल्ले में विभक्त रहें? यहीं पर है प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता की जड़, जिसे काटने को हमारे नेता लगे हुए हैं। फिर क्या हम प्रत्येक अवसर पर अपना यह राष्ट्र-गीत गाकर अपनी साम्प्रदायिकता और अपनी प्रान्तीयता की स्मृति जगाते रहेंगे?* हमारा सपना है एक भारत, एक भारतीय। यह गीत हमें उस ओर न बढ़ने देगा।

क्या एक स्वस्थ जाति यह नहीं कर सकती कि पुराने से बिल्कुल मुँह मोड़कर कुछ नये का निर्माण करे। इस तरह की प्रवृत्ति भी चल रही है।

कलकत्ते में एक बंगीय हिन्दी परिषद है। उसने हिन्दी के लिए कुछ अच्छा काम भी किया है। उसने कुछ दिन हुए मेरे पास एक पर्चा भेजा था, जिसमें इस बात की अपील की गयी थी कि चूँकि हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है, इस कारण हमारा राष्ट्र-गीत हिन्दी में होना चाहिए। 'वन्देमातरम्' और 'जनगण मन' दोनों ही बंगला में हैं। और यह हिन्दी गीत उन्होंने चुना था, श्री जयशंकर प्रसाद के चन्द्रगुप्त नाटक के चौथे अंक के एक गीत को। गीत यह है:

---

* तेरह वर्षों के बाद मैं यह सोचने को विवश होता हूँ कि इतने दिनों में हमारी प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता की अभिवृद्धि में हमारे राष्ट्र-गान ने कितना योगदान दिया है?

—लेखक (1961)

"हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध-शुद्ध भारती,
स्वयं-प्रभा, समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती,
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति रश्मियाँ
विकीर्ण दिव्य दाह-सी,
सपूत मातृभूमि के,
रुको न, शूर साहसी।
अराति सैन्य सिन्धु में सुबाड़वाग्नि से जलो,
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो!"

शब्दावली क्लिष्ट और उच्चारण कठिन है। 'वन्देमातरम्' की संस्कृत हम इसलिए निगलने को तैयार हैं कि उसके साथ हमारे देश के संघर्ष का एक इतिहास जुड़ा है। पर इस गीत से कोई इतिहास नहीं जुड़ा है। फिर यह राष्ट्र-गीत न होकर प्रगति-गीत है। हम, जो संसार में शान्ति की स्थापना करना अपने राष्ट्र का मूल सन्देश और सिद्धान्त मानते हैं, हर समय शत्रु की कल्पना नहीं करना चाहते। शत्रु-शत्रु करते रहना, उससे डरते अथवा उसे डराते रहने की बात सोचते रहना कायरता है अथवा गुण्डापन। कहने का तात्पर्य है कि प्रसादजी की रचना का सम्मान करते हुए भी मैं राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार करने की अपनी राय नहीं दे सकता। परिषद का काम बहुत क़ायदे से प्रचारात्मक ढंग पर किया जा रहा है। न जाने कितने लोगों के हस्ताक्षर इस विषय पर अब तक प्राप्त हो गये होंगे, और शायद उन्हें विधान सभा के सामने भेजा भी जायेगा, परन्तु मैं इसे समझदारी नहीं कहूँगा।

इस बीच मध्यप्रान्त के मुख्यमन्त्री श्री रविशंकर शुक्ल की ओर से कुछ दिन हुए पत्रों में एक वक्तव्य राष्ट्रीय गान के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने 'कृष्णायन' के यशस्वी लेखक और मध्यप्रान्त के शिक्षामन्त्री श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र से एक गीत की रचना करायी है और वे चाहते हैं कि यह गीत राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। उनका कथन है कि यह गीत किसी भारत-भाग्य-विधाता की सेवा में न होकर स्वयं भारतमाता की सेवा में है। इस गीत में 'वन्देमातरम्' और 'जनगण मन' दोनों के गुणों का समावेश है और भारतीय संस्कृति युग-युग से जिस सिद्धान्त को मानती आयी है उसका प्रतिपादन है। गीत 'जनगण' की ट्यून पर है, इस कारण जो संगीत उससे अपेक्षित है वह भी उसमें है। गीत छोटा भी है और राष्ट्र-गीत छोटा होना भी चाहिए। 'जनगण' के भी एक-दो पद गाये जाते हैं। 'वन्देमातरम्' भी अपने सम्पूर्ण रूप में नहीं गाया जाता। गीत यह है:

"जनगण-मन-अधिवासिनि जय हे महिमणि भारतमाता।
हेम-किरीटिनि, विन्ध्य-मेखले, उदधि-धौत पद-कमले,
गंगा, यमुना, रेवा, कृष्णा, गोदावरि जल विमले,
विविध तदपि अविभक्ते, शान्त, शक्ति संयुक्ते,
युग-युग अभिनव माता,
जनगण क्लेश विनाशिनि, जय हे महिमणि भारतमाता।
जय हे, जय हे, जय हे, महिमणि भारतमाता।"

अगर हम यह मान लें कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत को परिवर्तित-संशोधित करके अपने राष्ट्र के लिए हमें नया गीत बनाने का अधिकार है, तो मैं इस प्रयास पर बधाई देना चाहता हूँ। इसमें मैं कोई हानि नहीं समझता। स्वर और कुछ शब्द रवीन्द्र के अवश्य हैं, पर गीत अपनी कल्पना में उनके गीत से अलग है। भारत को माता रूप से देखने की आकांक्षा सर्वथैव भारतीय है। भारतीय जीवन में माता का जो स्थान है, उस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे भारत की सजीव एकता प्रकट होती है। प्रान्तीयता की गन्ध भी इसके पास नहीं है। 'वन्देमातरम्' से ही सम्भवतः यह भारत का मातृ स्वरूप स्वीकार किया गया है। 'महिमणि' में उसकी 'शुभ्र ज्योत्स्ना' ही नहीं 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' भी संक्षेप रूप में आ गया है। इसी प्रकार 'अधिवासिनि' मूल गीत के 'अधिनायक' की ध्वनि भी समेटे हुए है। हमारा ध्येय भी यही है कि प्रान्त-प्रान्त का ध्यान छोड़ हम सम्पूर्ण भारत का सजीव चित्र अपने हृदय में रक्खें। इस कविता की प्रथम पंक्ति बहुत ही उत्तम और सारगर्भित है। प्रवाह और संगीत में भी यह पूर्ण है। यमक और अनुप्रास, वर्णमैत्री और उच्चारण सारल्य का तो यह एक नमूना है। पूरी पंक्ति में एक भी संयुक्ताक्षर नहीं आया।

मुझे पता नहीं कि श्री रविशंकर शुक्ल को अपने प्रयास में कितनी सफलता मिलेगी अथवा विधान सभा के कितने लोग उनके गीत, या कहना चाहिए, श्री द्वारिकाप्रसादजी मिश्र के गीत, का समर्थन करेंगे। पर यदि इसकी कुछ सम्भावना हो तो मैं महाकवि श्री मिश्रजी की आज्ञा से और उनसे क्षमा माँगते हुए, उसमें कुछ संशोधन का प्रस्ताव रखना चाहता हूँ। मैं किसी अल्पाति अल्प कवि के पदों में भी कुछ जोड़ने-घटाने की बात कभी नहीं सोचता, और मिश्रजी की रचना में कुछ संशोधन करने की बात तो धृष्टता की सीमा लाँघना ही है। यदि मिश्रजी की यह रचना उनकी अन्य रचना के समान होती तो मैं उसमें कुछ परिवर्तन अथवा परिवर्धन करने की बात के मोह को दबा देता। परन्तु यह गीत यदि राष्ट्र-गीत होने जा रहा है तो मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन करना चाहूँगा। मुझे आशा है कि मेरे आशय को समझ लेने पर मेरी धृष्टता क्षम्य होगी।

प्रथम पंक्ति का एक-एक अक्षर अपने स्थान पर अटल है और उस पर सुधार नहीं हो सकता। दूसरी पंक्ति में 'किरीटिनी' शब्द मुझे नहीं अच्छा लगा। यह पंक्ति के ध्वनि-साम्य को बिगाड़ता है। इसी प्रकार 'उदधि धौत' में 'द', 'ध', इस क्रम में आते हैं कि उनका उच्चारण करना कठिन है। आगे का 'त' भी उसी वर्ण का है। इस पंक्ति को मैं यों कर देना चाहूँगा :

"हेम कुन्तले, विन्ध्य मेखले, सिन्धु नमित पद कमले।"

जिसे भी ध्वनि का कुछ बोध है, वह इस पंक्ति में अधिक संगीत और प्रवाह देख लेगा। 'हेम केश' हमारे शिवजी का प्रचलित नाम है। केश और कुन्तल एक ही हैं। इससे सांस्कृतिक सम्बन्ध भी स्थापित होता है। कुन्तले और मेखले में ध्वनि साम्य आ जाता है। 'ले' की खिंची हुई ध्वनि में देश का विस्तार भी अभिव्यंजित होता है। इसी प्रकार 'सिन्धु' जैसे विन्ध्य की ध्वनि को प्रतिध्वनित करता है, साथ 'उदधि धौत' की उच्चारण कठिनता भी नहीं रह जाती।

तीसरी पंक्ति में कोई परिवर्तन नहीं चाहिए। 'विविध तदपि अविभक्ते' बहुत सुन्दर टुकड़ा है। थोड़ा गद्यात्मक होते हुए भी इसमें अर्थ-गम्भीरता है। हमारी युग-युग की सारी संस्कृति का एक यही सन्देश है। इसमें देश के विभाजन के पश्चात् भी जो दोनों खण्डों में एकता है, उसका संकेत है, और घाव पर जैसे यह मरहम-सा

लगाता है। क्या यही बात गांधीजी ने बीसों तरह से नहीं कही। संसार से मैत्री करने की आकांक्षा लेकर चलनेवाले हम क्या अपने एक कटे हुए अंग को ही विभिन्न और अलग समझेंगे। 'शान्त, शक्ति संयुक्ते' को मैं 'शान्ति शक्ति संयुक्ते' कर देना चाहूँगा। इसके अर्थ दोनों होंगे, शान्ति और शक्ति से संयुक्त अथवा शान्ति की शक्ति से संयुक्त। 'शान्त, शक्ति' भी रक्खें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

'युग-युग अभिनव माता' में कोई नयी बात नहीं कही गयी। रचना-दोष भी एक है। 'माता' फिर जाकर 'भारत माता' का तुक बनता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत में इस पद का तुक अलग होता है, 'विधाता का गाथा' आदि। इस पंक्ति को मैं यों कर देना चाहूँगा :

"त्रिविध ताप-तम त्राता"

अपनी ध्वनि से 'त्रिविध' 'विविध' की ध्वनि की पुनरुक्ति करता है और इस प्रकार उसकी गद्यात्मकता को, जिसका संकेत मैंने ऊपर किया है, कुछ कम कर देता है। फिर ये वही त्रिविध 'तापा' हैं, जो 'राम राज नहिं काहुहि व्यापा'। हमारे बापू स्वराज्य से रामराज्य का स्वप्न देखते रहे। उनकी इस कल्पना को भी हम इस गीत में स्थान दे दें तो अच्छा होगा। इसी प्रकार जो 'मणि' है, 'हेम कुन्तल' है, 'विमल' है उसे 'तम' का विनाश करना ही चाहिए। आप चाहें तो तीन प्रकार के तम की कल्पना भी कर सकते हैं। फिर 'त्राता' है, जो 'माता' बार-बार आने के रचना-दोष को बचा देता है। अनुप्रास उच्चारण-सरलता ला देता है। इसको अगर स्वीकार कर लें तो 'क्लेश विना-शिनि' बेकार हो जाता है। ताप तो कट ही चुके। फिर 'क्लेश विनाशिनि' एक नकारात्मक गुण का बोध कराता है। इस पंक्ति को मैं यों चाहूँगा :

"जनगण-पन्थ प्रकाशिनि जय हे महिमणि भारतमाता।"

सुना है अमरीका में स्वतन्त्रता की मूर्ति के हाथ में एक मशाल है। भारतमाता भी स्वतन्त्रता की मूर्ति बनें और जन गण का पन्थ प्रकाशित करें, उन्नति के पथ पर ले जायँ। इस पंक्ति के द्वारा भारतमाता की स्थिर मूर्ति गतिमान हो उठेगी।

मेरी प्रार्थना है कि कविता के पारखी मेरे इन संशोधनों पर ध्यान दें और अगर उनकी सुनायी विधान सभा तक हो, तो वे इस बात को वहाँ तक पहुँचावें। यदि 'जनगण' के परिवर्तित रूप पर विचार किया जाय तो मैं चाहूँगा कि मेरे इन संशोधनों पर भी कुछ विचार किया जाय। राष्ट्र-गीत रोज़-रोज़ नहीं बनते। उसे पसन्द करने में हम जितने खुले मस्तिष्क से सोच-विचार कर सकें, उतना ही अच्छा।

लेख समाप्त करने के पहले मैं फिर श्री मिश्रजी से क्षमा चाहूँगा। और यह भी स्वीकार करना चाहूँगा कि उनकी पंक्तियों में यत्र-यत्र परिवर्तन करने की प्रेरणा मुझे उनकी रचना से ही मिली है। आशा है जिस अधिकार से उन्होंने 'वन्देमातरम्' और 'जनगण मन' के भावों को समवेत कर कुछ अपना मिलाया है, उसी अधिकार से उनकी रचना में कुछ अपना मिलाने का हक वे मेरा भी समझेंगे।

[1948]

गांधी-चर्चा

[रेडियो वार्ता]

गांधीजी पर लिखी अपनी एक कविता में मैंने कहा था :

"बापू की छाती की हर साँस तपस्या थी,
आती-जाती हल करती एक समस्या थी।"

और उस तपस्या का फल बापू अवसर और पात्र के अनुरूप अपने सारे जीवन बाँटते रहे। उनकी तपस्या का एक छोटा-सा प्रसाद पाने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था।

यह बात असहयोग आन्दोलन के समय की है। अवसर विशेष क्या था, इसकी मुझे याद नहीं। प्रयाग में कांग्रेस के बहुत-से नेता आये हुए थे। आनन्द-भवन अतिथियों से भरा था। नेताओं की दैनिक सुविधाओं की देखरेख करने के लिए एक स्वयंसेवक दल बना लिया गया था। हमारे 5-7 साथियों की ड्यूटी हमाम के पास थी। जाड़े के दिन थे। एक बड़े बर्तन में पानी गर्म होता था और जब, जिसको नहाने-धोने के लिए पानी की ज़रूरत होती थी, हम छोटी-छोटी बाल्टियों में भर-कर पहुँचा दिया करते थे। गांधीजी भी आनन्द-भवन में ठहरे थे। उनके नहाने के लिए गर्म पानी 11 बजे पहुँचाने का आदेश था। समय आ गया। पानी तो तैयार था ही। दुर्भाग्यवश हमारे पास उस समय एक ऐसी बाल्टी बची हुई थी, जिसका हैण्डिल निकल गया था। पानी तो हमने उसमें भर लिया, पर उसे उठाकर ले कैसे जाया जाय। इन्तज़ार था कि कोई अच्छी बाल्टी खाली होकर आ जाय तो उसी को ले जायें। यह भी ध्यान था कि नहाने के लिए भी क्या कोई मुहूर्त्त होता है, दो-चार मिनट इधर-उधर ही हो गये तो क्या। ठीक ग्यारह बजे गांधीजी नहाने की तैयारी में बरामदे में आये। पानी तो उनके पास नहीं पहुँचा था। हमारी ओर उन्होंने देखा, समस्या भी समझ गये, मुसकराये और हमने देखा कि तेज़ी के साथ वे हमाम की ओर आ रहे हैं। बाल्टी के पास आते ही उन्होंने अपने दोनों हाथों से उसे उठा लिया और लेकर तीर की तरह अपने नहाने के कमरे की ओर चले गये। जाते समय इतना भर कह गये, "जो काम जिस वक्त करना है, करना; न करना वक्त के साथ दगाबाज़ी है।" यह सब इतनी जल्दी हो गया कि न हमसे बन पड़ा कि खुद बाल्टी ले जायें, न यह कि उस गर्म हुए बुर्तन को उनसे छुड़ा लें, शायद भय भी था कि इस छीना-झपटी में कहीं गर्म पानी बाहर छलककर हाथों को न जला दे। वे तो बस आये और बर्तन उठाकर चले ही गये। किसी तरह का उन्होंने मौक़ा ही न दिया।

"लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े
लखा न काहु रहे सब ठाढ़े।"

बापू ने अपने समय पर स्नान किया। हम समय के साथ खेल कर सकते थे, पर बापू तो समय के साथ 'दगाबाजी' नहीं कर सकते थे। समय के साथ जो उन्होंने वादा किया था, उसको उन्होंने पूरा किया। उनका हाथ जल गया था। शाम को हमने देखा उनके अँगूठों और तर्जनी पर किसी सफेद किस्म की दवा लगी थी। समय की पाबन्दी तो बहुतों ने सिखलायी, पर अपना हाथ जलाकर केवल बापू ने सिखलाया। और ऐसा सिखलाया कि जैसे अपना सन्देश हृदय पर दाग दिया। मेरे और साथियों के ऊपर उसका क्या असर हुआ, मैं नहीं जानता पर मुझे उस दिन से प्रमाद नहीं व्यापा।

"तब ते मोहि न व्यापी माया।"

जब कभी ऐसा अवसर आया है कि किसी निश्चित समय पर कोई काम करना या पूरा करना है तो किसी बात या बहाने को बीच में लाकर उसे टालने या उसमें देरी करने को मेरा मन गवारा नहीं कर पाया। मुझे बापू का जला हाथ याद आता है और उनके शब्द मेरे कानों में गूँजने लगते हैं :

'जो काम जिस बख्त करना है, करना; न करना बख्त के साथ दगाबाज़ी है।'

उन दिनों बापू की हिन्दी अच्छी नहीं थी, पर वे अपनी अटपट वाणी में ही अपना सारा आशय कह डालते थे। वे शब्दों में बोलते कहाँ थे, उनका हृदय बोलता था, उनका व्यक्तित्व बोलता था, उनकी साधना बोलती थी। और उनके बोल हृदय में घुल जाते थे, कान बेकार खड़े रहते थे। मैं बहुत दिन यही समझता रहा कि 'बख्त के साथ दगाबाजी' बापू की अटपटी हिन्दी का एक नमूना है। पता नहीं वे क्या कहना चाहते थे और हिन्दी में उनको यही शब्द सुलभ हो पाये। पर अब सोचता हूँ, बापू बिल्कुल यही कहना चाहते थे। और वे जो कहना चाहते थे उसको दूसरे शब्दों में नहीं कहा जा सकता था। एक शब्द, एक मात्रा से कम में नहीं, ज़्यादा में नहीं। बापू बनिये थे, अपने बनियापन पर उन्हें गर्व था। शायद शब्दों के मामले में वे सबसे अधिक बनिये थे। तोलकर बोलते थे। न ज़रूरत से ज़्यादा, न ज़रूरत से कम। और हर शब्द सच्चा, खरा, यथार्थ-भरा।

हम जो कुछ करने का निश्चय करते हैं वह सचमुच समय के साथ हमारा वादा है। हमारा सारा जीवन ही काल, महाकाल के साथ एक प्रतिज्ञा है। हम सचमुच दिनानुदिन अपने कर्तव्यों को करके इस वादे को पूरा करते हैं। अपने निश्चयों से डिगते हैं तो समय के साथ वादा खिलाफी होती है। समय क्या हमें क्षमा करेगा इस महान अपराध के लिए! जिन्होंने समय के हाथों दण्ड पाया हो, वे ज़रा अपने से पूछें कि समय के साथ उन्होंने कितनी दग़ाबाज़ी की है। इन सूत्र शब्दों की व्याख्या के लिए कुछ मिनटों का समय अपर्याप्त है। इससे बापू के उन शब्दों को एक बार फिर दुहराकर यह वार्ता समाप्त करता हूँ : 'जो काम जिस बख्त करना है, करना; न करना बख्त के साथ दगाबाज़ी है।"

[1956]

भारत कोकिला सरोजिनी नायडू

[रेडियो वार्ता]

आज मैं जब सरोजिनी नायडू के बारे में सोचता हूँ तो मुझे सहसा अंग्रेज़ी कवि ब्राउनिंग की वे पंक्तियाँ याद आती हैं जो उन्होंने शेली के विषय में लिखी थीं। पंक्तियों का भावार्थ यों है, "क्या तुमने शेली को साधारण मनुष्य के समान देखा था? क्या वे सामने खड़े हो गये थे, और उन्होंने तुमसे बात की थी, और क्या तुमने भी उनसे कुछ कहा था और उन्होंने उसे सुना था? यह कितना आश्चर्यजनक लगता है, कितना सत्य लगता है!"

आज भी बहुत-से लोग मौजूद हैं, जिन्होंने सरोजिनी नायडू के व्याख्यान सुने थे, उनके मुख से उनकी कविताएँ सुनी थीं, उनके पास बैठे थे और उनसे बातें की थीं। और मुझे इसका विश्वास है कि जिन्हें भी ऐसा सुयोग मिला था, वे उसे अपनी

सुधि में संचित किये हुए हैं और शायद ही कभी वे उसे भुला सकेंगे। इन सौभाग्य-वानों में इन पंक्तियों का लेखक भी अपने को रख सकता है। आज तो विज्ञान ने यह सम्भव कर दिया है कि हम चाहें तो अपने नेताओं, कवियों, महापुरुषों का स्वर सुरक्षित रख सकते हैं। पर यह साधन सरोजिनी नायडू के जीवन-काल में इतना सहज सुलभ नहीं हुआ था। शायद उनका बोला और कहा हुआ बहुत कम सुरक्षित हो सका है, पर हमारी पिछली पीढ़ी के नेताओं में यदि किसी के स्वर के प्रसाद, माधुर्य और ओज को सबसे अधिक सुरक्षित रखने की आवश्यकता थी तो सरोजिनी नायडू के स्वर की। जिनके कानों में उनकी गूंज भरी हुई है, वे अपने को धन्य मान सकते हैं।

हमने अपनी आज़ादी की जो लड़ाई लड़ी, उसके सेनानियों में सरोजिनी नायडू सबसे आगे की पंक्ति में थीं। वास्तव में हमारी यह लड़ाई केवल लड़ाई नहीं थी; यह भारत का पुनर्जागरण भी था; भारत के पतझड़ में वसन्त का आह्वान भी था। और इसलिए जहाँ एक ओर सिंहों की दहाड़ थी, वहाँ दूसरी ओर कोकिल का मधुमय गान भी था। सरोजिनी नायडू को Nightingale of India 'बुलबुलेहिन्द' या 'भारत कोकिला' कहा जाता था। पर यह कोकिला ऐसी नहीं थी जिसने केवल गाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली थी, उसने सिंहों की दहाड़ से भी होड़ ली थी और आज़ादी के शत्रुओं से लड़ी भी थी।

Where brave hearts carry the sword of battle,
T'is mine to carry the banner of song—

जहाँ वीरों की तलवारें जाती हैं, वहाँ मैं गीतों की पताका ले जाती हूँ।

मैंने इस प्रकार के विचार अक्सर सुने हैं कि सरोजिनी नायडू अपने सच्चे रूप में कवि थीं और यदि वे राजनीति के झंझट में न फसतीं तो शायद वे साहित्य और काव्य की बहुत अधिक सेवा करतीं। इस प्रकार के विचारों से मेरी लेशमात्र सहानुभूति नहीं। निकुंजों में पड़े गीत गुनगुनानेवाले कवि को मैं बहुत स्वस्थ नहीं समझ सकता। कवि का जो रूप मुझे सबसे अधिक भाता है वह यही है—"भार सिर पर, कण्ठ में स्वर"।

मुझे जिस बात का अफसोस है वह यह है कि सरोजिनी नायडू जैसी प्रतिभा ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम अपनी देश की भाषा को क्यों नहीं चुना। यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो उनकी प्रतिभा का अधिक विकास ही न होता, देश की साहित्यिक सम्पत्ति की वृद्धि होती और उनकी वाणी इस देश के अधिक लोगों के लिए प्रेरणादायक सिद्ध होती। जहाँ तक मुझे मालूम है, अंग्रेज़ी काव्य साहित्य के इतिहास में शायद कहीं उनका नामोल्लेख नहीं। काव्य संकलनों में भी शायद ही कहीं उनकी कविता को स्थान दिया गया हो। सच्चाई तो यह है कि विदेशी भाषा हम कितने ही श्रम, साधना से सीखें, उसमें कुछ सृजनात्मक दे सकना हमारी सामर्थ्य के बाहर है।

इसके लिए हमारे देश की परिस्थितियाँ बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। गुलामी की अवस्था में अंग्रेज़ी भाषा की सर्वश्रेष्ठता की धाक हम पर बिठा दी गयी थी। सरोजिनी नायडू की शिक्षा-दीक्षा में अंग्रेज़ी का बड़ा महत्त्व था। इंग्लैण्ड में रहकर भी उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। कविता में रुचि थी। उन दिनों लन्दन में डब्ल्यू. बी. ईट्स अपने घर पर सोमवार की शाम को एक साहित्यिक गोष्ठी किया करते थे। सरोजिनी देवी भी उसमें सम्मिलित होती थीं और उसमें उन्हें Little Inidan Princess कहा जाता था—भारत की छोटी राजकुमारी। उनकी एक कविता

Indian Weavers और ईट्स की एक प्रारम्भिक कविता में भाव, भाषा, कल्पना की बड़ी समता है और सम्भव है कि सरोजिनी नायडू ने ईट्स से प्रेरणा ली हो।

पहले-पहल जब सरोजिनी देवी ने कविताएँ लिखीं तब उन्होंने पूरी अंग्रेज़ी परम्परा को अपना लिया था—अंग्रेज़ी के रूपक, अंग्रेज़ी की भावाभिव्यक्ति शैली, अंग्रेज़ी का वातावरण। सौभाग्य से उन्होंने ये कविताएँ उस समय के प्रसिद्ध समालोचक एडमण्ड गास को दिखलायीं। गास ने उन्हें बड़ी अच्छी सलाह दी, इस तरह की कविताएँ आप लिखेंगी तो वे अनुकरण मात्र होकर रह जायँगी, आप अंग्रेज़ी में बेशक लिखें पर वातावरण अपने देश का दें। सरोजिनी देवी को यह सलाह ठीक जँची और इसका उन्होंने आजीवन पालन किया।

यदि हम उनकी कविता के विषयों को भी देखें तो हमें पता लगेगा कि भारत के जीवन में जो विशेष रूप से भारतीय है, चित्र-मय है, रंगीन है उसे उनकी आँखों ने पकड़ा है। कविताओं में इसे उन्होंने अपनी भावनाओं से प्राणमय किया है, कल्पना से रंजित किया है। पालकी उठानेवाले, रमते गायक, भारतीय जुलाहे, कारोमण्डल तट के मछवाहे, सँपेरा, चक्की पीसनेवाली, मेंहदी, पालना, सती, भारतीय नर्तक, नल-दमयन्ती, परदानशीन, रास्ते का शोरगुल, गोलकुण्डा के मक़बरे, भगवान बुद्ध, वसन्त पंचमी, गुलमुहर, चंपक, चूड़ी बेचनेवाली, नाग पंचमी, राधा का गीत, चर्खे का गीत, इन्द्र वन्दना, वृद्धा नारी, शाम की नमाज़, मन्दिर, लक्ष्मी, इमामबाड़ा, वृन्दावन का मुरलीवाला, भिखारी, कमल, घण्टियाँ, मोती, काली माई, वसन्त, गुलाब आदि।

इन कविताओं में सरोजिनी नायडू का दृष्टिकोण रोमानी है, कला प्री-राफ़ेलाइट (Pre-Raphaelite) स्कूल की है जिसमें शब्द संगीत पर विशेष बल दिया जाता है। अंग्रेज़ी न समझनेवाले भी उनके शब्द संगीत का कुछ आनन्द ले सकते हैं। पालकी उठानेवाले गीत से कुछ पंक्तियाँ सुनिए :

"Lightly, O lightly, we bear her along,
She sways like a flower in the wind of our song,
She skims like a bird on the foam of a stream,
She floats like a laugh from the lips of a dream."

कल्पना और मधुर-ध्वनियों का ताना-बाना जो यहाँ बुना गया है वह सरोजिनी देवी की कविताओं की विशेषता है। वसन्त और प्रेम उनकी कविता के ऐसे विषय हैं जिन पर उन्होंने कई कविताएँ लिखी हैं। वसन्त प्रकृति वर्णन से उठकर देश और मानवता के नवजागरण तक जाता है; उसी प्रकार प्रेम मानवी सम्बन्धों से ऊपर उठकर कहीं-कहीं रहस्यवादी बन गया है।

देश का उद्‌बोधन करनेवाली भी उनकी कई रचनाएँ हैं और इनमें उनका स्वर ओजस्वी हो उठा है :

"Thy future calls thee with a manifold sound,
To crescent honours, splendours, victories vast;
Waken, O slumbering Mother and be crowned,
Who once wert Empress of the sovereign Past."

"भविष्य अपने बहुकण्ठों से तुझे पुकार रहा है। वह श्री-सम्पदा और विजय से तेरा अभिषेक करना चाहता है। तू निद्रा त्यागकर उठ और अपना ताज पहन। क्या तुझे याद नहीं कि तू अतीत की महारानी थी!"

ऐसी उद्‌बोधनकारी कविताओं में 'Awake', 'जागो', शीर्षक कविता है जो

1915 की कांग्रेस में पढ़ी गयी थी और मुहम्मद अली जिन्ना को समर्पित हुई थीं —कविता के अन्त में सब धर्मों के लोग हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी तथा अन्य धर्मावलम्बी भारतमाता को अपनी-अपनी सेवाएँ अर्पित करते हैं।

इधर उनकी कविताओं को पढ़ते हुए मेरा ध्यान 'द लोटस' सानेट पर गया जो महात्मा गांधी पर है जिसमें उन्होंने महात्मा गांधी की तुलना उस रहस्यमय कमल से की है जिसके चारों ओर लाख-हा-लाख भौंरे एकत्र हो गये हैं।

उनकी कविताएँ अधिक नहीं हैं। उनके जीवन-काल में उनके तीन संग्रह निकले थे। उनका संकलन 'सेप्टर्ड फ़्लूट' (Sceptred Flute) के नाम से कर दिया गया है। मेरी बड़ी इच्छा है कि कोई सरोजिनी नायडू की समस्त रचनाओं का अनुवाद हिन्दी में करे। मैंने स्वयं उनकी कई कविताओं का अनुवाद किया था, पर वे कहीं मेरे कागद-पत्तरों में दबी पड़ी हैं। एकाध मैंने उन्हें सुनायी भी थीं और उन्हें पसन्द आयी थीं। सरोजिनी नायडू की कविताओं में भारत के नवजागरण की प्रतिध्वनियाँ आज भी साफ सुनायी देती हैं।

[फ़रवरी, 1959]

बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन : एक संस्मरण

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के वयोवृद्ध सेवक बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन के सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बनायी गयी है। इलाहाबाद नगर का निवासी होने के नाते, इलाहाबाद-निवासी श्रद्धेय बाबूजी से अपना कुछ अधिक निकटता का नाता मानकर, गौरवान्वित होने का मुझे अधिकार है,

"गाता हूँ अपनी लय-भाषा
सीख इलाहाबाद नगर से।"

कई महीनों से यह सुन रहा हूँ कि बाबूजी बहुत बीमार हैं; अस्वस्थता के कारण उन्होंने राज्यसभा से भी इस्तीफ़ा दे दिया है। कई बार मन में इच्छा हुई कि इलाहाबाद जाकर उनके दर्शन कर आऊँ, परन्तु दिल्ली के व्यस्त जीवन से इसके लिए समय निकालना असम्भव-सा लगता है। ऐसी परिस्थिति में अभिनन्दन-ग्रन्थ के आयोजकों का मैं बड़ा आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे ग्रन्थ के लिए कुछ लिखने के लिए निमन्त्रित किया और इस प्रकार मुझे यह अवसर दिया कि दूर से ही सही, मैं उनकी सेवा में अपने भावों की यह श्रद्धांजलि उपस्थित कर सकूँ। एक बात का मुझे खेद भी है, यदि बाबूजी अभिनन्दन-ग्रन्थ के योग्य अथवा अधिकारी थे तो आज के बहुत पहले हो चुके थे और इस रूप में उनका सम्मान आज से बहुत पहले किया जाना चाहिए था। हम कामों को समय से न करने के आदी हो गये हैं। असमय किये कामों का महत्त्व घट जाता है। यों बाबूजी सच्चे अर्थों में स्वनामधन्य हैं, और किसी भी समय उनका सम्मान करके हम स्वयं गौरवान्वित होते। आज तो विशेषकर हमारा उनका सम्मान करना, उनके सम्मान से कहीं अधिक हमारा उनके त्याग, बलिदान एवं सेवा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन ही है।

भारत के पुनर्जागरण की वेला में अनेकानेक आन्दोलन उठे परन्तु उनमें दो प्रमुख थे—एक राष्ट्र को स्वतन्त्र करने का आन्दोलन और दूसरा राष्ट्र को एक

भाषा से सुसंगठित करने का आन्दोलन। वस्तुतः कालक्रम में यह दूसरा आन्दोलन पहले उठा, जैसा कि स्वाभाविक भी था, और मैं कहना चाहूँगा कि यह पहले से अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण भी था। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् स्वतन्त्रता का आन्दोलन समाप्त हो गया, पर राष्ट्रभाषा का आन्दोलन आज भी चल रहा है और उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि यह समस्त देश एक भाषा के सुवर्ण सूत्र में आबद्ध नहीं हो जाता। इस देश की विविधता सदियों से इतिहास के घटना-चक्रों में पड़ी एकसूत्रता और अखण्डता के लिए चीत्कार कर रही है। बाहरी रज्जु-पाशों और शृंखलाओं से जकड़कर यह एकता नहीं लायी जा सकती, उसे तो किसी आन्तरिक सूत्र से ही लाना होगा—और वह सूत्र एक भाषा का है—हिन्द के लिए हिन्दी का है। जब तक यह देश अपनी सांगिक और स्वाभाविक एकता नहीं प्राप्त कर लेता तब तक इसकी स्वतन्त्रता अधूरी है, इसकी स्वतन्त्र सत्ता अस्पष्ट। इसीलिए आज वर्षों से श्रद्धेय टण्डनजी परम आस्था और दृढ़ता के स्वरों में यह उद्घोषणा करते आ रहे हैं कि राष्ट्रीयता ही हिन्दी और हिन्दी ही राष्ट्रीयता है। इस ऋचा के उदार और उदात्त और अर्थ को न समझना अपनी बुद्धि की परि-क्षीणता, हृदय की संकीर्णता और दृष्टि की मलिनता का ही सबूत देना है। आज जब उनके इस दिग्-दिग् प्रतिध्वनित स्वर के विरुद्ध कुछ लोगों ने कान में उँगली दे ली है और कुछ ने प्रतिवादी स्वरों में बोलना आरम्भ कर दिया है तब हमारा उन्हें स्मरण करना, उनका सम्मान करना, उनका अभिनन्दन करना, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना, हमारा एक बार फिर, उनके सन्देश की महत्ता को स्वीकार करना और उसके अनुरूप कुछ प्रभावकारी करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ और कटिबद्ध होना है। केवल इसी रूप में यह अभिनन्दन-ग्रन्थ किसी अंश में उनके सन्तोष का विषय बन सकता है; अन्यथा वे निन्दा-स्तुति, मान-अपमान के बहुत ऊपर उठ चुके हैं।

मेरे विद्यार्थी जीवन में ही वे नगर के एक प्रतिष्ठित वकील के रूप में विख्यात हो चुके थे और हमारे सांस्कृतिक जीवन में हिन्दी को पुनर्स्थापित करने का कार्य उन्होंने आरम्भ कर दिया था। हिन्दी-प्रेमियों को हिन्दी पुस्तकें सहज सुलभ हों इसके लिए अपने एक धनी मित्र को प्रेरित कर उन्होंने 'साहित्य-भवन' की स्थापना करायी थी जो शाहगंज में, चौक में, उनकी बैठक के सामने, वर्षों तक प्रयाग में हिन्दी पुस्तकों की एकमात्र दुकान थी। आक्सफ़र्ड की सर्वप्रसिद्ध पुस्तकों की दुकान पर यह लिखकर टँगा है कि आप कोई भी पुस्तक कितनी भी देर तक दुकान में बैठकर पढ़ सकते हैं। 'साहित्य-भवन' में यह लिखकर टँगा तो नहीं था, पर परम्परा यही थी। पुस्तक खरीदने के लिए पैसों के अभाव में मैंने न जाने कितनी किताबें वहाँ बैठकर पढ़ी थीं और मेरी तरह के वहाँ बहुत लोग आया करते थे। टण्डनजी को शायद पहली बार वहीं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लोगों को किताबें देखते-पढ़ते देख उनकी आँखों में जो प्रसन्नता झलक उठी थी उसकी आभा से आज तक मेरी स्मृति का कोई कोना कभी-कभी जगमगा उठता है।

टण्डनजी को पहली बार सुनने की स्मृति भी विद्यार्थी जीवन की है। स्कूल के किसी जलसे में उन्हें बुलाया गया था। उन्हें और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को एक ही मंच से सुनने की कुछ धुँधली-सी याद मुझे बनी हुई है। दोनों ही हिन्दी की महत्ता पर बोले थे—एक गृहस्थ, एक संन्यासी, पर हिन्दी के विषय पर दोनों एकमत। तब से कई बार उन्हें सुनने का अवसर मिला, पर प्रसंग कोई हो हिन्दी के प्रचार, हिन्दी की महत्ता की चर्चा उनके व्याख्यान में कहीं न कहीं से घूम-फिरकर

आ ही जाती थी।

हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य का पठन-पाठन विधिवत हो सके, इसके लिए उन्होंने प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की थी। हमें यह न भूलना चाहिए कि यह वह समय था जब हिन्दी के विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने की बात तो दूर, उसके झरोखों से उसे झाँकने की भी आज्ञा न थी, वह इण्टरमीडिएट में भी नहीं पढ़ायी जाती थी; उसका साहित्य केवल हाई स्कूल तक पढ़ाने योग्य समझा जाता था।

ठीक सन् तो मुझे याद नहीं; पर विद्यापीठ का उद्घाटनोत्सव मीरगंज के विद्यामन्दिर हाई स्कूल के अहाते में सम्पन्न हुआ था। अब यह स्कूल सड़क में आ चुका है। उद्घाटन करने के लिए काशी से बाबू भगवानदास को बुलाया गया था। आज यह सोचकर मैं बड़े गौरव का अनुभव करता हूँ कि मैं उस उत्सव में मौजूद था। हम अपनी संस्कृति से कितने अपरिचित हो गये थे कि 'पीठ' जैसे ऐतिहासिक शब्द का अर्थ केवल वह 'पीठ' समझते थे जिसके बीच में रीढ़ होती है। उस दिन टण्डनजी ने और भगवानदासजी ने क्या-क्या कहा इसकी तो मुझे याद नहीं, पर उस 'पीठ' शब्द की उनको विशद व्याख्या करनी पड़ी थी और इस प्रसंग में कभी समुपस्थित जनता हँसी भी थी। टण्डनजी ने हिन्दी पर जैसे भाव-विभोर होकर व्याख्यान दिया था, वैसे भाव-विभोर मैंने केवल कुछ सन्तों को भगवान् का गुण-गान करते समय देखा है। जहाँ तक मुझे मालूम है, टण्डनजी ने कभी कविता तो नहीं की, परन्तु उस दिन उनका भाषण काव्यचित्र ही था। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हिन्दी प्रचार-प्रसार के लिए टण्डनजी ने सक्रिय रूप से जितना किया उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो, पर उनमें प्रतिभा थी कि हमें कुछ सृजनात्मक और स्थायी सम्पत्ति भी दे जाते। पर टण्डनजी के संघर्षमय जीवन ने शायद वह शान्ति और सुविधा कभी नहीं दी जो सृजन के लिए आवश्यक होती है। ऐसी प्रतिभाओं को देखकर इस कथन की सत्यता का बोध होता है कि जीवन साहित्य से बड़ा है। टण्डनजी ने कविता न लिखी हो, पर उनका जीवन स्वयं एक काव्य रहा है, टण्डन-जी ने निबन्ध न लिखा हो, पर उनका जीवन स्वयं निबन्ध-सम्बद्ध रहा है।

उनके हिन्दी-प्रेम का एक उत्कट उदाहरण मुझे उनकी कन्या दुलारी के विवाह के समय देखने को मिला। हमारे संस्कारों में संस्कृत अब भी प्रतिष्ठित है; हमारे समाज में फ़ारसी आयी, उर्दू आयी, अंग्रेज़ी आयी पर जीवन के एक क्षेत्र में हमारे पुरोहितगण संस्कृत की सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रहे। टण्डनजी के मन में हिन्दी का जो स्वप्न है वह सर्वव्यापक है, वे भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को हिन्दी की परिधि से बाहर नहीं समझ सकते—चाहे वह शिक्षा का हो चाहे न्याय का, चाहे राजनीति का, चाहे धर्म का, चाहे कर्मकाण्ड का। उन्होंने यह निर्णय दिया कि विवाह में जो भी मन्त्रादि पढ़े जाते हैं उनका हिन्दी में अनुवाद कर दिया जाये और संस्कार के समय वे हिन्दी में ही पढ़े जायें। हफ़्तों पण्डितों को अपने घर पर बिठाकर उन्होंने सब संस्कृत मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कराया, स्वयं भी सहायता देते रहे और विवाह मण्डप में केवल हिन्दी ही सुनी गयी। उनका विश्वास है कि जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े-से-बड़े क्षेत्र में जहाँ वाणी की आवश्यकता पड़ती है, हिन्दी अपना दायित्व निभाने में समर्थ है, या समर्थ बनायी जा सकती है। टण्डनजी अमूर्त सिद्धान्त बनाने और उसकी घोषणा करने में विश्वास नहीं रखते। जो कुछ करने योग्य है, जिसे किया जाना चाहिए, वे उसे करके दिखलाते हैं; वह सम्यक् रूप में न हो सके, उसका उपहास किया जाये, उसका विरोध किया

भाषा से सुसंगठित करने का आन्दोलन। वस्तुतः कालक्रम में यह दूसरा आन्दोलन पहले उठा, जैसा कि स्वाभाविक भी था, और मैं कहना चाहूँगा कि यह पहले से अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण भी था। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् स्वतन्त्रता का आन्दोलन समाप्त हो गया, पर राष्ट्रभाषा का आन्दोलन आज भी चल रहा है और उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि यह समस्त देश एक भाषा के सुवर्ण सूत्र में आबद्ध नहीं हो जाता। इस देश की विविधता सदियों से इतिहास के घटना-चक्रों में पड़ी एकसूत्रता और अखण्डता के लिए चीत्कार कर रही है। बाहरी रज्जु-पाशों और शृंखलाओं से जकड़कर यह एकता नहीं लायी जा सकती, उसे तो किसी आन्तरिक सूत्र से ही लाना होगा—और वह सूत्र एक भाषा का है—हिन्द के लिए हिन्दी का है। जब तक यह देश अपनी सांगिक और स्वाभाविक एकता नहीं प्राप्त कर लेता तब तक इसकी स्वतन्त्रता अधूरी है, इसकी स्वतन्त्र सत्ता अस्पष्ट। इसीलिए आज वर्षों से श्रद्धेय टण्डनजी परम आस्था और दृढ़ता के स्वरों में यह उद्‌घोषणा करते आ रहे हैं कि राष्ट्रीयता ही हिन्दी और हिन्दी ही राष्ट्रीयता है। इस ऋचा के उदार और उदात्त और अर्थ को न समझना अपनी बुद्धि की परि-क्षीणता, हृदय की संकीर्णता और दृष्टि की मलिनता का ही सबूत देना है। आज जब उनके इस दिग्-दिग् प्रतिध्वनित स्वर के विरुद्ध कुछ लोगों ने कान में उँगली दे ली है और कुछ ने प्रतिवादी स्वरों में बोलना आरम्भ कर दिया है तब हमारा उन्हें स्मरण करना, उनका सम्मान करना, उनका अभिनन्दन करना, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना, हमारा एक बार फिर, उनके सन्देश की महत्ता को स्वीकार करना और उसके अनुरूप कुछ प्रभावकारी करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ और कटिबद्ध होना है। केवल इसी रूप में यह अभिनन्दन-ग्रन्थ किसी अंश में उनके सन्तोष का विषय बन सकता है; अन्यथा वे निन्दा-स्तुति, मान-अपमान के बहुत ऊपर उठ चुके हैं।

मेरे विद्यार्थी जीवन में ही वे नगर के एक प्रतिष्ठित वकील के रूप में विख्यात हो चुके थे और हमारे सांस्कृतिक जीवन में हिन्दी को पुनर्स्थापित करने का कार्य उन्होंने आरम्भ कर दिया था। हिन्दी-प्रेमियों को हिन्दी पुस्तकें सहज सुलभ हों इसके लिए अपने एक धनी मित्र को प्रेरित कर उन्होंने 'साहित्य-भवन' की स्थापना करायी थी जो शाहगंज में, चौक में, उनकी बैठक के सामने, वर्षों तक प्रयाग में हिन्दी पुस्तकों की एकमात्र दुकान थी। आक्सफ़र्ड की सर्वप्रसिद्ध पुस्तकों की दुकान पर यह लिखकर टँगा है कि आप कोई भी पुस्तक कितनी भी देर तक दुकान में बैठकर पढ़ सकते हैं। 'साहित्य-भवन' में यह लिखकर टँगा तो नहीं था, पर परम्परा यही थी। पुस्तक खरीदने के लिए पैसों के अभाव में मैंने न जाने कितनी किताबें वहाँ बैठकर पढ़ी थीं और मेरी तरह के वहाँ बहुत लोग आया करते थे। टण्डनजी को शायद पहली बार वहीं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लोगों को किताबें देखते-पढ़ते देख उनकी आँखों में जो प्रसन्नता झलक उठी थी उसकी आभा से आज तक मेरी स्मृति का कोई कोना कभी-कभी जगमगा उठता है।

टण्डनजी को पहली बार सुनने की स्मृति भी विद्यार्थी जीवन की है। स्कूल के किसी जलसे में उन्हें बुलाया गया था। उन्हें और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को एक ही मंच से सुनने की कुछ धुँधली-सी याद मुझे बनी हुई है। दोनों ही हिन्दी की महत्ता पर बोले थे—एक गृहस्थ, एक संन्यासी, पर हिन्दी के विषय पर दोनों एकमत। तब से कई बार उन्हें सुनने का अवसर मिला, पर प्रसंग कोई हो हिन्दी के प्रचार, हिन्दी की महत्ता की चर्चा उनके व्याख्यान में कहीं न कहीं से घूम-फिरकर

आ ही जाती थी।

हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य का पठन-पाठन विधिवत हो सके, इसके लिए उन्होंने प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की थी। हमें यह न भूलना चाहिए कि यह वह समय था जब हिन्दी के विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने की बात तो दूर, उसके झरोखों से उसे झाँकने की भी आज्ञा न थी, वह इण्टरमीडिएट में भी नहीं पढ़ायी जाती थी; उसका साहित्य केवल हाई स्कूल तक पढ़ाने योग्य समझा जाता था।

ठीक सन् तो मुझे याद नहीं; पर विद्यापीठ का उद्घाटनोत्सव मीरगंज के विद्यामन्दिर हाई स्कूल के अहाते में सम्पन्न हुआ था। अब यह स्कूल सड़क में आ चुका है। उद्घाटन करने के लिए काशी से बाबू भगवानदास को बुलाया गया था। आज यह सोचकर मैं बड़े गौरव का अनुभव करता हूँ कि मैं उस उत्सव में मौजूद था। हम अपनी संस्कृति से कितने अपरिचित हो गये थे कि 'पीठ' जैसे ऐतिहासिक शब्द का अर्थ केवल वह 'पीठ' समझते थे जिसके बीच में रीढ़ होती है। उस दिन टण्डनजी ने और भगवानदासजी ने क्या-क्या कहा इसकी तो मुझे याद नहीं, पर उस 'पीठ' शब्द की उनको विशद व्याख्या करनी पड़ी थी और इस प्रसंग में कभी समुपस्थित जनता हँसी भी थी। टण्डनजी ने हिन्दी पर जैसे भाव-विभोर होकर व्याख्यान दिया था, वैसे भाव-विभोर मैंने केवल कुछ सन्तों को भगवान् का गुण-गान करते समय देखा है। जहाँ तक मुझे मालूम है, टण्डनजी ने कभी कविता तो नहीं की, परन्तु उस दिन उनका भाषण काव्यचित्र ही था। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि हिन्दी प्रचार-प्रसार के लिए टण्डनजी ने सक्रिय रूप से जितना किया उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो, पर उनमें प्रतिभा थी कि हमें कुछ सृजनात्मक और स्थायी सम्पत्ति भी दे जाते। पर टण्डनजी के संघर्षमय जीवन ने शायद वह शान्ति और सुविधा कभी नहीं दी जो सृजन के लिए आवश्यक होती है। ऐसी प्रतिभाओं को देखकर इस कथन की सत्यता का बोध होता है कि जीवन साहित्य से बड़ा है। टण्डनजी ने कविता न लिखी हो, पर उनका जीवन स्वयं एक काव्य रहा है, टण्डन-जी ने निबन्ध न लिखा हो, पर उनका जीवन स्वयं निबन्ध-सम्बद्ध रहा है।

उनके हिन्दी-प्रेम का एक उत्कट उदाहरण मुझे उनकी कन्या दुलारी के विवाह के समय देखने को मिला। हमारे संस्कारों में संस्कृत अब भी प्रतिष्ठित है; हमारे समाज में फ़ारसी आयी, उर्दू आयी, अंग्रेज़ी आयी पर जीवन के एक क्षेत्र में हमारे पुरोहितगण संस्कृत की सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रहे। टण्डनजी के मन में हिन्दी का जो स्वप्न है वह सर्वव्यापक है, वे भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को हिन्दी की परिधि से बाहर नहीं समझ सकते—चाहे वह शिक्षा का हो चाहे न्याय का, चाहे राजनीति का, चाहे धर्म का, चाहे कर्मकाण्ड का। उन्होंने यह निर्णय दिया कि विवाह में जो भी मन्त्रादि पढ़े जाते हैं उनका हिन्दी में अनुवाद कर दिया जाये और संस्कार के समय वे हिन्दी में ही पढ़े जायें। हफ़्तों पण्डितों को अपने घर पर बिठाकर उन्होंने सब संस्कृत मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कराया, स्वयं भी सहायता देते रहे और विवाह मण्डप में केवल हिन्दी ही सुनी गयी। उनका विश्वास है कि जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े-से-बड़े क्षेत्र में जहाँ वाणी की आवश्यकता पड़ती है, हिन्दी अपना दायित्व निभाने में समर्थ है, या समर्थ बनायी जा सकती है। टण्डनजी अमूर्त सिद्धान्त बनाने और उसकी घोषणा करने में विश्वास नहीं रखते। जो कुछ करने योग्य है, जिसे किया जाना चाहिए, वे उसे करके दिखलाते हैं; वह सम्यक् रूप में न हो सके, उसका उपहास किया जाये, उसका विरोध किया

जाये,इसकी उनको परवाह नहीं है। पृथ्वी पर चलना है, दौड़ना है तो बच्चा इसकी प्रतीक्षा नहीं करेगा कि जब तक उसके पाँव मज़बूत न हो जायें तब तक वह क़दम नहीं उठायेगा। वह अपने अस्थिर, निर्बल, डगमगाते चरणों से भी चलेगा, गिरेगा, फिर उठेगा, आगे बढ़ेगा। जो लोग इस प्रतीक्षा में हैं कि जब हिन्दी समर्थ हो जायेगी तब उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में चलायेंगे वे हिन्दी पंगु को बनाये रखने का षड्यन्त्र रच रहे हैं।

महात्मा गांधी के 1920-'21 के असहयोग आन्दोलन में जब वे अपनी जमी-जमायी वकालत छोड़कर कूद पड़े तो किसी को आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य उनके ऐसा न करने पर होता। उनका परिवार बड़ा और गृहस्थी कच्ची थी और बाबूजी के त्याग के कारण घर के छोटे-बड़े सबको जो कष्ट उठाना पड़ा उसने न जाने कितने परिवारों को सहन का पाठ पढ़ाया, सहारा दिया, ऊपर उठाया। मेरा ऐसा ध्यान है कि बहुत बड़े लोगों द्वारा किये गये त्याग-बलिदान लोगों को सहज अनुकरणीय नहीं होते। नेहरू-परिवार का त्याग बहुत बड़ा था, उसमें प्रेरणा थी, परन्तु उसकी सम्पन्नता उसके उदाहरण को अनुकरणीय बनाने में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करती थी। टण्डनजी का त्याग एक मध्य वर्ग के व्यक्ति का त्याग था; उसने प्रयाग के मध्यवर्गीय परिवारों के लिए त्याग और बलिदान को सहज-साध्य सिद्ध किया। स्वतन्त्रता के संघर्ष के समय में देश के लिए ख़तरा उठानेवाले, त्याग करनेवाले, काम करनेवाले नागरिकों के लिए टण्डनजी सबसे निकट और परिचित प्रतीक थे, सब उन्हें पास से देखते थे, पास से जानते थे; उनके घर पर फाटक नहीं था, उनके दफ़्तर में द्वारपाल नहीं थे।

1930 के सत्याग्रह आन्दोलन में एम. ए. प्रीवियस करने के बाद मैंने भी यूनिवर्सिटी छोड़ दी थी। डेढ़-दो वर्ष बाद जब आन्दोलन की गर्मी शान्त हुई तो जीवन की कठोर वास्तविकता ने घूरना आरम्भ किया। 'पायनियर' अंग्रेज़ों के अधिकार से देसी साहबों के हाथ में आया तो उन्होंने मेरे पिता की पेंशन बन्द कर दी। सौभाग्य से मेरे छोटे भाई को बी. ए. करने के बाद ही बैंक की नौकरी मिल गयी। मैंने नारे, जलूस, सभा, पिकेटिंग, झण्डे, बिगुल, चर्खे, वालन्टियरों, क्रान्तिकारियों की दुनिया से पलटकर अपने घर को देखा तो काँप उठा। दस आदमियों का परिवार, दो उनमें से बीमारियों के शिकार, छोटी बहन ब्याहने को, एक भारी क़र्ज़ चुकाने को, और एक आदमी के कन्धे पर सारा भार। ट्यूशनें एक-दो मैं करता था, पर मैंने निश्चय किया कि कोई नियमित नौकरी करके मैं छोटे भाई का हाथ बटाऊँगा। काम मैं ऐसा चाहता था जिसमें देश के लिए कुछ करने का अवसर भी रहे और इतना वेतन भी मिले कि घर का काम-काज चलता रहे। उन दिनों बाबूजी लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित 'सर्वेण्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' के चैयरमैन थे। उसमें कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि योग्य लोगों को पचास रुपया मासिक आदरधन (आनरेरियम) दिया जाता था और उनसे आजीवन देशसेवा का व्रत लिया जाता था। टण्डनजी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टण्डन (इस समय विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष) बी. ए. में मेरे सहपाठी थे। उनसे परामर्श करके मैंने सोसाइटी की सदस्यता के लिए एक प्रार्थनापत्र दे दिया। बाबूजी ने मुझे बुलाया, उन्होंने मेरी आँखों में आँखें डालीं, और न जाने क्या उन्होंने उनमें देखा कि मुझे सोसाइटी में लेने से इन्कार कर दिया। मुझे बी. ए. में प्रथम श्रेणी मिली थी, मैंने अपनी पढ़ाई छोड़ी थी, सरकारी छात्रवृत्ति छोड़ी थी, और उन दिनों के मानों में देश के लिए कुछ काम भी किया था, अपने पुत्र के द्वारा उन्हें मेरी पारि-

वारिक स्थिति का पता था, पर उन्होंने निर्ममतापूर्वक मुझसे कहा, "मुझे लगता है तुम्हारा क्षेत्र यह नहीं, तुम्हें अपनी पढ़ाई पूरी करके शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अपना विकास करना चाहिए।" मुझे बड़ी निराशा हुई, टण्डनजी के लिए स्वार्थ-वश मेरे मन में कुछ कुभावनाएँ भी उठीं, पर आज मैं जानता हूँ कि उस समय मुझसे अधिक उन्होंने मुझे पहचाना था, और यह मानता हूँ कि उन्होंने सोसाइटी में न लेकर मेरे साथ उपकार ही किया था।

इसके थोड़े ही समय बाद मैं 'मधुशाला' की रुबाइयों में फूट पड़ा। ऐसे कई अवसर मुझे मिले जब उनके सम्मुख या उनके सभापतित्व में मुझे कविता सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने हर बार मेरी आँखों में अपनी आँखें डालीं, और जैसे मुझे उस पहली भेंट की याद दिलायी, मैंने तुममें जो देखा था वह ग़लत नहीं था, तुम राजनीति के जंगल के लिए नहीं थे, काव्य के उपवन के लिए थे।

मेरी तरह टण्डनजी ने न जाने कितने नवयुवकों को जीवन की ठीक दिशा दी होगी, जो यदि आज मेरे समान लेखनी-मुखर हो सकते तो अपनी-अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते। महान आत्माओं का दान दोनों दिशाओं में होता है, वे देश-समाज को एक व्यापक दान तो दे ही जाते हैं, व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को भी कुछ अमूल्य, अलभ्य, अविस्मरणीय दे जाते हैं। सूर्य समुद्र को जाज्वल्यमान करता है, ओसबिन्दु को भी चमका देता है। इन सीमित वरदानों की चर्चा इतिहास के पृष्ठों में नहीं होती, पर समष्टि के जीवन में इनकी महत्ता कम नहीं होती। टण्डनजी हमारे देश की महान आत्माओं में हैं; उन्होंने अपने जीवन, कर्म, विचार से व्यापक रूप से देश को और सीमित रूप से अनेकानेक व्यक्तियों को प्रभावित किया है। उनकी साधना उनके जीवनकाल में ही पल्लवित-पुष्पित हुई है। हमारी भगवान से प्रार्थना है कि श्रद्धेय बाबूजी स्वस्थ होकर अभी बहुत दिनों तक हमारे बीच वर्तमान रहें और अपनी साधना को फलवती होते हुए भी देखें। हम उनको यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि जिस 'राष्ट्रीयता' का स्वप्न उन्होंने देखा था, उसे सत्य करने का हम सतत प्रयत्न करते रहेंगे।

[1960]

अमरनाथ झा

[रेडियो वार्ता]

इस शताब्दी के पहले दो दशकों में प्रयाग के शिक्षित-दीक्षित नागरिकों में जिनकी चर्चा बड़े आदर-मान से हुआ करती थी वे थे पण्डित मदनमोहन मालवीय, पण्डित मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू और महामहोपाध्याय पण्डित गंगानाथ झा—मालवीयजी और नेहरू साहब का नाम देश-सेवा के क्षेत्र में, सप्रू साहब का न्याय के क्षेत्र में और झा महोदय का शिक्षा के क्षेत्र में। गंगानाथजी म्योर सेण्ट्रल कालेज में संस्कृत-आचार्य के पद से उन्नति करके प्रयाग विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के पद पर पहुँचे थे और उन्होंने प्राय: 9 वर्षों तक विश्वविद्यालय की बागडोर सँभालकर 1932 में अवकाश ग्रहण किया था।

अमरनाथ झा पण्डित गंगानाथ झा के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म 1897 में हुआ और बचपन में ही अपने पिता के साथ दरभंगा से प्रयाग चले आये थे।

उनकी शिक्षा कर्नलगंज स्कूल, गवर्नमेण्ट हाई स्कूल, म्योर सेण्ट्रल कालेज में हुई। उनके स्वाध्याय और उनकी बुद्धि की प्रखरता से अधिकारी-वर्ग इतने प्रभावित थे कि जब वे स्वयं एम. ए. में पढ़ते थे, तभी उन्होंने बी. ए. को पढ़ाने का काम उन्हें दे रक्खा था। आगे चलकर वे प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष हुए और 1938 में उपकुलपति के पद के लिए चुने गये। अपने पूज्य पिता के समान 9 वर्षों तक वे उस पद पर रहे, पश्चात् एक वर्ष के लिए काशी विश्व-विद्यालय के उपकुलपति रहे, 6 वर्ष उत्तर प्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष, और 2 वर्ष बिहार पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष। उनका देहावसान 1955 में पटना में हुआ।

प्रयाग से उनको बड़ा प्रेम था। काशी जाने के पूर्व वे अक्सर कहते थे कि मैं जब से प्रयाग आया तब से अब तक कभी भी एक साथ 6 महीने से अधिक प्रयाग के बाहर नहीं रहा। और यह 6 मास की अवधि भी केवल एक बार पहुँची थी, जब वे इंग्लैण्ड गये थे। उन्होंने प्रयाग नगर और प्रयाग विश्वविद्यालय की परम्परा को पूरी तरह ग्रहण किया था और उसके ऊपर अपनी पूरी छाप भी छोड़ी थी।

झा साहब से मेरा सम्पर्क उस समय हुआ जब मैं एम. ए. में पहुँचा। उनकी विद्वत्ता और बुद्धि की प्रखरता की चर्चा इतनी सुन चुका था कि बहुत डरते-डरते उनके पास पहुँचा। वे एम. ए. का सेमिनार लिया करते थे जिसमें वे हर विद्यार्थी को अलग-अलग विषय पर लेख लिखने को दिया करते थे। युनिवर्सिटी में उनका एक अलग कमरा था, दीवारें क़द्देआदम अलमारियों से ढकी, ठसाठस किताबों से भरी, मेज़ पर भी नयी-से-नयी पुस्तकें, पत्रिकाएँ, सामने कुर्सी पर गुरु-गम्भीर मुद्रा में झा साहब, बड़ा भारी सिर, ज्ञान के भण्डार का प्रतीक, बड़ी-बड़ी आँखें, जिनसे किसी का भी अज्ञान छिपा नहीं रह सकता। क्लास में 6 लड़के, उन्हें सोचना नहीं पड़ा; खट-खट हर एक को निबन्ध का एक-एक विषय दे दिया और फिर हर एक को सहायक पुस्तकों की सूची बता दी—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम, पत्रिका का लेख है तो उसका मास-वर्ष। विषयों पर जो कुछ कहना था, उन्होंने ही कहा, किसी को कुछ बोलने-पूछने की हिम्मत नहीं हुई। क्लास से निकले हैं तो जैसे किसी ने कानों में कहा है कि इज़्ज़त के साथ क्लास में बैठना है तो मिहनत करनी पड़ेगी।

उन दिनों उनके एक्स्ट्रा मूरल लेक्चर भी कभी-कभी होते थे। वे सैकेण्ड की सुई से ठीक वक्त पर पहुँचते, उनके आते ही सन्नाटा छा जाता, उनके व्याख्यान के पीछे गम्भीर अध्ययन होता; विचारों की स्पष्टता होती, क्रम होता, सन्तुलन होता। उनके व्याख्यान में किसी के किसी तरह की गड़बड़ी मचाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उनकी आँखें सबको देखती रहती थीं और सबको अपनी शक्ति से प्रभावित करती थीं। वे अपने व्यक्तित्व और अपने ज्ञान दोनों से दबंग थे।

उनसे विशेष मिलने-जुलने का अवसर मुझे उन दिनों मिला जब वे विश्व-विद्यालय के उपकुलपति हो गये थे और मैं अंग्रेज़ी विभाग में लेक्चरर था। अब तक मैंने केवल उन्हें विद्यार्थी की दृष्टि से देखा था, दर्जे में, या लेक्चर हाल में। अब यदा-कदा घर पर भी उनके दर्शन करने का सुयोग मिला। एक बार मैं लगभग एक मास उनके मंसूरी के लिनवुड काटेज में उनके साथ ठहरा था। और इस प्रकार उनकी दिनचर्या और उनकी कार्यविधि से भी परिचय प्राप्त कर सका था।

यों तो उनका विशेष विषय अंग्रेज़ी साहित्य था, पर उनकी रुचि में विविधता थी —ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में उनका थोड़ा-बहुत दख़ल था। अंग्रेज़ी के माध्यम से वे विभिन्न योरोपीय साहित्य से भी परिचित थे। भाषाएँ वे कई जानते थे। संस्कृत, बंगला, मैथिली, हिन्दी और उर्दू। इनमें भी जो उच्चकोटि का साहित्य है, वह उन्होंने पढ़ रखा था। संस्कृत के कितने ही श्लोक उनकी ज़बान पर थे, जो प्रसंगानुसार वे सुना देते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सम्पूर्ण बंगला रचनावली उनकी मेज़ पर रक्खी रहती थी। मैथिली उनकी मातृभाषा ही थी। उनके हिन्दी लेखों का एक संग्रह भी छप चुका है। उर्दू कवियों पर उनके लेख प्रायः पत्रों में निकला करते थे। अब उनके ऐसे लेखों का संग्रह 'उर्दू पोएट्स एण्ड पोएट्री' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। अंग्रेज़ी में 'शेक्सपीरियन कामिडी' के नाम से उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। वे बिहारी के दोहों का अंग्रेज़ी अनुवाद भी कर रहे थे, मुझे पता नहीं कि उनके देहावसान के पश्चात् उनकी पाण्डुलिपियों का क्या हुआ।

अपने घर पर उनका अधिक समय अपने रामकाशी पुस्तकालय में बीतता। उस पुस्तकालय में केवल पुस्तकें ही नहीं थीं; अनेक चित्रकारों के चित्रों और कलाकारों की कला-कृतियों से वह सुसज्जित था। शायद ही कोई प्रसिद्ध पत्र-पत्रिका ऐसी हो जो उनके यहाँ न आती हो। पुस्तकें तो वे बराबर पढ़ते ही रहते थे, पत्र-पत्रिकाओं में भी कुछ अच्छा उनकी नज़र से न छूटता था। यह सारी सामग्री उनके मित्रों और विद्यार्थियों के लिए खुली थी। लोग बराबर उनके पुस्तकालय से किताबें ले जाते थे। मैंने जब 'खैयाम की मधुशाला' की भूमिका लिखनी चाही तो प्रयाग के सब पुस्तकालयों से अधिक सामग्री उस विषय पर मुझे झा साहब के पुस्तकालय में मिली।

इस प्रकार झा साहब एक सुसंस्कृत व्यक्तित्व के प्रतीक बन गये थे। यूनिवर्सिटी या नगर में किसी भी सांस्कृतिक अवसर या पर्व पर उनके व्याख्यान सारगर्भित और आनन्ददायक होते थे।

कला और संस्कृति के सब प्रकार के आयोजनों में वे रुचि लेते थे। चित्र-प्रदर्शनी, संगीत-सम्मेलन, कवि-सम्मेलन, नाट्य-प्रदर्शन सभी को उनका सहयोग मिलता था। कवि-सम्मेलन और मुशायरे उनके घर पर बराबर हुआ करते थे। अपने समकालीन उर्दू और हिन्दी के प्रायः सभी कवियों से उनका व्यक्तिगत सम्पर्क था।

उनके कार्य के क्षेत्र बहुत विस्तृत और विविध थे। छोटी-सी वार्ता में सब पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं। प्रमुख रूप में वे प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में स्मरण किये जायेंगे। उनका द्वार उनके प्रत्येक विद्यार्थी के लिए खुला रहता था। वे जहाँ तक सम्भव हो सकता था सबकी बात सुनते थे, सबको उचित सलाह देते थे। न जाने कितने विद्यार्थियों के जीवन को उन्होंने बनाया था। एक बार यूनिवर्सिटी छोड़कर जो मैं फिर यूनिवर्सिटी में आया, यह उन्हीं की प्रेरणा का प्रभाव था। विद्यार्थियों से सम्पर्क रखना उनको इतना प्रिय था कि वाइस चैन्सेलर हो जाने के बाद भी वे इतना समय निकाल लेते थे कि बी. ए. के विद्यार्थियों का एक सेमिनार लिया करते थे। यूनिवर्सिटी छोड़ने के बाद भी वे अपने विद्यार्थियों की खोज-खबर रखते थे। जब कभी यात्रा पर जाते, विभिन्न स्टेशनों पर अपने विद्यार्थियों को सूचना देकर बुलाते और उनसे मिलते।

उनकी पत्नी का देहावसान उनके यौवन-काल में ही हो गया था। उनका अपना कोई पारिवारिक जीवन नहीं था। उनका परिवार था उनके प्रेमियों का,

विद्यार्थियों का। सुबह और शाम के कई घण्टे लोगों से मिलने-मिलाने के लिए होते थे। यूनिवर्सिटी से अलग होने पर भी उनके दरबार में लोग बराबर जमा रहते थे।

आवश्यकता है कि उनकी एक विस्तृत जीवनी लिखी जाय। अभी बहुत-से लोग और बहुत-सी सामग्री मिल सकती है जो इस दिशा में सहायक हो सके।

जब-जब उत्तर भारत के विद्या और शिक्षा-विशारदों की चर्चा होगी, अमरनाथ झा को आदर से स्मरण किया जायेगा।

[जनवरी '59]

कश्मीर यात्रा : एक संस्मरण

[रेडियो वार्ता]

कश्मीर भारत का मधुवन है, पृथ्वी का स्वर्ग है, प्रकृति के शृंगार की पिटारी है आदि-आदि कवित्वपूर्ण बातें कश्मीर के सम्बन्ध में मैं लड़कपन से सुन चुका था। पर पहली बार कश्मीर देखने का सुयोग मिला मुझे 1949 में, अर्थात् अपनी 42 वर्ष की अवस्था में। मेरा जन्म शहर में हुआ, गलियों में मैं खेला-कूदा, मुहल्ले-टोलों में घूमा-फिरा। प्रकृति-प्रेम के संस्कार मुझमें जागे ही नहीं। याद नहीं पड़ता कि किसी स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य से आकर्षित होकर मैं उसे देखने गया हूँ। हाँ, कहीं अपना मित्र या प्रेमी हो तो वहाँ जाने के कुछ मतलब मेरे लिए होते हैं। या यदि कोई मित्र या प्रेमी हो तो उसके साथ प्राकृतिक सौन्दर्य के स्थान की यात्रा भी की जा सकती है। इनके अभाव में कश्मीर की यात्रा मेरे लिए टलती आयी।

उन दिनों मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी का अध्यापक था। कुछ दिन पहले कश्मीर के एक नेता यूनिवर्सिटी में आये थे और उन्होंने विद्यार्थियों के एक दल को कश्मीर आने, और वहाँ का जीवन देखने के लिए आमन्त्रित किया था। दशहरे की छुट्टियों में विद्यार्थियों का एक दल इस यात्रा के लिए तैयार हुआ और वाइस चैन्सेलर महोदय ने उसकी देख-रेख और उसके प्रबन्ध का कार्य मुझे सौंपा। कश्मीर सरकार की ओर से पत्र आ गया कि जम्मू से हमारे सफ़र, ठहरने, खाने-पीने, घुमाने-दिखाने की सारी ज़िम्मेदारी कश्मीर सरकार की होगी।

कश्मीर जाने के लिए पठानकोट निकटतम रेलवे स्टेशन है। वहाँ से जम्मू के लिए बसें मिलती हैं। तीन-चार घण्टे का रास्ता है। पठानकोट से जम्मू का रास्ता विशेष आकर्षक नहीं। सड़क भर अच्छी है। जिस समय हम लोग जम्मू पहुँचे सन्ध्या हो गयी थी। बाहर से देखने से नगर भारत के अन्य नगरों से भिन्न नहीं जान पड़ा—बेतरतीबी से बसा, तंग रास्ते, बाज़ार का शोर-गुल। लौटते समय हमें नगर को देखने का अधिक समय मिला। नगर के बाहर खुली जगहें हैं, कुछ अच्छी इमारतें और अच्छे मन्दिर हैं। सबसे भव्य भवन भूतपूर्व राजाओं का राजमहल है। कश्मीर जिस प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है, उसकी झालर जम्मू में भी यत्र-तत्र देखी जा सकती है।

कश्मीर सरकार के अधिकारी हमें जम्मू में मिल गये। हमें जम्मू से श्रीनगर भेजने का इन्तज़ाम इस प्रकार था। शाम को जम्मू से ट्रकें जाती हैं जिनमें सामान वगैरह जाता है। ये ट्रकें बहुत तेज़ नहीं जातीं। रास्ते में रुकती भी देर-देर तक हैं

और इस प्रकार ये लगभग दो सौ मील का सफ़र चौबीस-पच्चीस घण्टे में तै करती हैं। हमारे दल में बीस विद्यार्थी थे। हम दो-दो करके इन ट्रकों में आगे की सीट पर बिठा दिये गये। हम लोग कोई सात बजे रवाना हुए थे। इलाहाबाद से दिल्ली और दिल्ली से पठानकोट तक हम बीस के बीस एक ही डिब्बे में आये थे। पठानकोट से जम्मू तक भी एक ही बस में। साथ में बातचीत, हँसी-मज़ाक में जो आनन्द आ रहा था वह सहसा ख़त्म हो गया। अब हम बस दो-दो साथ रह गये और साथ में दो अपरिचित एक ड्राइवर और एक क्लीनर जिन्हें हमें लाना प्रियकर न था, क्योंकि गो उनको सवारी ले जाने की मनाही है फिर भी वे चोरी-छिपे सवारी ले जाते हैं और कुछ रुपये बना लेते हैं।

पहला पड़ाव कुड नामक स्थान पर हुआ। यहाँ हम लोग लगभग 11 बजे रात पहुँचे। बसों के अड्डे पर ही एक छोटा-सा होटल है। यहीं हमने खाना खाया और दो-तीन घण्टे आराम किया। सुबह चार बजे बसें फिर चल पड़ीं। कुहरा पड़ रहा था और हमारी बसें देवदारु के वृक्षों में होकर गुज़र रही थीं—धीरे-धीरे, सँभल-सँभल।

पीर पंजाल हमने लगभग 6 बजे शाम को पार किया। बहुत सीधा और ऊँचा पहाड़ है। पाँच-सात समानान्तर सड़कें एक-दूसरे के ऊपर दिखायी पड़ती हैं। कोई बस नीचे है, कोई बीच में, कोई ऊपर। ऊँचाई पर पहुँचकर एक सुरंग पार करनी पड़ती है और इसके पार करते ही हम कश्मीर की घाटी में पहुँच जाते हैं। सुरंग के अन्धकार में थोड़ी देर रहने के बाद जो सहसा चौड़ी घाटी और दूर पर ऊँचे पहाड़ों का दृश्य सामने आता है वह जल्दी नहीं भुलाया जा सकता।

हम लोग श्रीनगर नौ बजे रात पहुँचे। कुछ बसें जो पिछड़ गयी थीं वे डेढ़-दो घण्टे बाद आयीं। रात हम लोगों ने एक होटल में खाना खाया और वहीं सो रहे। सुबह हम लोगों के ठहरने का इन्तज़ाम बाजरों में कर दिया गया। बाजरे डल झील में पड़े रहते हैं। किनारे से बाजरे तक जाने के लिए शिकारे होते हैं। इन्हें एक प्रकार की छोटी नावें समझिये। हर बाजरे का एक नाम होता है, किन्हीं-किन्हीं शिकारों के भी नाम होते हैं। नाम सबके सब अंग्रेज़ी। शिकारों के कुछ नाम बड़े रूमानी और रसीले होते हैं। अंग्रेज़ महाप्रभुओं को प्रसन्न करने के लिए जो किया जाता था उसकी परम्परा अभी तक चली आ रही है।

बाजरों को आप नाव पर बना हुआ बँगला ही समझिये। आगे ड्राइंगरूम—जिसमें आठ-दस आदमियों के बैठने की जगह। उसके पीछे खाने का कमरा जिसमें 4-6 आदमी बैठकर खाना खा सकें। उसके पीछे दो-दो पलँगों के दो सोने के कमरे। दोनों के बीच में गुसलख़ाने—किन्हीं-किन्ही में फ़्लश के पाख़ाने। आधुनिक जीवन की सुविधा की कोई चीज़ नहीं जो इन बाजरों में न मिलती हो—बिजली की रोशनी, रेडियो, शायद टेलीफ़ोन भी। बाजरे का प्रबन्धक ही भोजन की भी व्यवस्था करता है, और जैसा भी खाना आप चाहें आपको बनाकर देता है। बाजरे के ऊपर लम्बी-खुली छत होती है, जिस पर मौसम अच्छा हो तो बैठा जा सकता है। बाजरे की छत पर बैठे हुए दो इमारतों पर आपकी निगाह ज़रूर जायगी; पास की पहाड़ी के एक पुराने क़िले पर और झील के उस पार एक छोटी पहाड़ी के शिव-मन्दिर पर, जिसे कहते हैं शंकराचार्य ने स्थापित किया था।

सुबह होते ही झील की सतह पर कश्मीर का जीवन देखिये। एक शिकारा आ रहा है, तरह-तरह के फूलों से लदा है। एक फल बेचनेवाले का, एक मेवे बेचनेवाले का; किसी में लकड़ी का सामान, किसी में शाल-दुशाले, किसी में पेपर-

मेशी की चीज़ें, किसी में सुई, सिलाई, कढ़ाई के बारीक काम। श्रीनगर में कोई चीज़ ख़रीदना बहुत होशियारी का काम है। व्यापारी कभी-कभी चौगुना दाम कहता है। आप संकोच में कितना कम करेंगे। नतीजा होगा, आप ठगे जायेंगे। चीज़ों का ठीक दाम आप तभी देंगे जब या तो आप अनुभवी हों, यानी कई बार कश्मीर आये-गये हों; या किसी कश्मीरी से आपकी जान-पहचान हो जो चीज़ों का वाजबी दाम जानता हो। कश्मीर कला-कारीगरी का प्रदेश है और अगर आपका कला से प्रेम है तो स्वाभाविक है कि ये चीज़ें आपके मन को मोहेंगी। व्यापारी आँख पहचानता है। अगर किसी चीज़ पर आपकी तबीयत आ गयी है तो वह जानता है कि आपसे मुँह माँगा दाम ले सकता है। कश्मीरी चीज़ों को बनाने की ही कला नहीं जानते, उन्हें बेचने की कला भी जानते हैं।

श्रीनगर ख़ास में देखने की चीज़ें शालामार और निशात बाग़ हैं—मुग़ल बादशाहों के बनवाये हुए बाग़, जहाँ वे मैदानों की गर्मी से बचने के लिए आया करते थे। चश्मा शाही में भी एक बाग़ और छोटी-सी इमारत है। इसका पानी बहुत अच्छा माना जाता है।

श्रीनगर से बाहर के स्थानों को देखने के लिए कश्मीर सरकार ने हमें एक बस दे दी थी। उसी से हमने गुलमर्ग, पहलगाँव, अनन्तनाग, अच्छाबल, ऊलर झील और मतन आदि स्थान देखे। जहाँ बस नहीं जाती थीं वहाँ या तो हम पैदल गये या घोड़ों से। खिलन मर्ग में मौसम साफ़ था और नंगापर्वत आसमान में अपना सिर ऊँचा उठाये हुए बहुत भव्य लगा। पहलगाँव से चन्दनबाड़ी तक हम घोड़ों पर गये, चन्दनबाड़ी में वर्फ़ से पुल बन जाता है और पानी नीचे से बहता है। अनन्तनाग में पानी का स्रोत है जहाँ से वितस्ता अथवा झेलम निकलती है। कश्मीर पहाड़ी प्रदेश है, कहीं बर्फ़ से ढकी चोटियाँ दिखायी पड़ती हैं, कहीं नीलम-से जल की नदियाँ-झरने। बाग़ हैं तो फलों से लदे, बगीचे हैं तो फूलों से रंगारंग।

कश्मीर सुन्दर है, पर कश्मीरी मुझे अधिक सुन्दर लगे। शिकारावालों से लेकर लेखक और कवियों तक बहुतों से मेरा परिचय हुआ। मुझे कवि रूप में भी जानने-वाले वहाँ बहुत थे, कई संस्थाओं में मैंने कविता पाठ किया। बहुतों से जिनसे परिचय हुआ था आज तक मेरा पत्र-व्यवहार है। कश्मीरी मित्र बनाना और मित्रता क़ायम रखना दोनों जानते हैं।

दो वर्ष हुए मैं कश्मीर फिर गया था, पर मैं स्पष्ट कर दूँ, कश्मीर का प्राकृतिक सौन्दर्य मुझे वहाँ नहीं खींच ले गया था। मुझे खींच ले गयी थी वहाँ के मेरे कुछ मित्रों की मुहब्बत और आगे भी कभी मेरा जाना हुआ तो कश्मीर से अधिक कश्मीरियों के प्रति मेरा आकर्षण ही मुझे वहाँ ले जायगा।

[1959]

कर्ण

[रेडियो वार्ता]

महाभारत के योद्धाओं का स्मरण करते हुए कर्ण को भूलना सम्भव नहीं है। वे कौरवों की ओर से लड़े थे और अन्त में अर्जुन द्वारा पराजित और धराशायी हुए थे। कर्ण महाबलवान और पराक्रमी थे पर उनके नाम के साथ जो विशेषण जुड़ा

वह 'दानवीर' का था—दानवीर कर्ण। और यही दानवीरता सम्भवतः उनके पराजय का कारण भी बनी थी। उनके जन्म के साथ एक ऐसी घटना जुड़ी थी जिसके कारण उनमें एक हीन-भावना भी थी, जिसे आजकल की भाषा में इन-फ़ीरियारिटी काम्प्लेक्स कहेंगे। उनका अहंकार भी उसी का दूसरा और उग्र पहलू था। उनके प्रति जो व्यवहार किया गया और जिस प्रकार युद्ध में उन्हें मारा गया उसमें उनके प्रति न्याय किया गया अथवा नहीं इसका उत्तर देना सहज नहीं। महाभारत का तर्क दूसरा ही है। मूल बात यह है कि कर्ण कौरवों की ओर थे, इस कारण वे अधर्म की ओर थे और भगवान कृष्ण का जन्म धर्म के अभ्युत्थान और संस्थापन के लिए हुआ था। उनके संकेत और उनकी प्रेरणा से जो हुआ उसे वेठीक कहने का साहस कौन करेगा? "यतो कृष्णस्ततो धर्मः, यतो धर्मस्ततो जयः", महाभारत की घोषणा है।

अब हम उनका जीवन वृत्तान्त सुनें। कहते हैं कुन्ती ने अपने कौमार्य में दुर्वासा ऋषि की बड़ी सेवा की। ऋषि ने प्रसन्न होकर कुन्ती को यह वरदान दिया कि अवस्था प्राप्त होने पर जिस देवता का भी वह स्मरण करेगी उससे पुत्र प्राप्त कर सकेगी। कुन्ती ने कौतूहलवश मुनि के वचन की परीक्षा करने के लिए सूर्य का स्मरण किया। सूर्य देवता मनुष्य-रूप में प्रकट हुए और कुन्ती ने उनसे गर्भ धारण किया। कुमारी कुन्ती के गर्भ से जो बालक उत्पन्न हुआ वह कर्ण था। बालक बहुत ही दिव्य था और जन्म से ही कुण्डल और कवच धारण किये हुए था, जो कहते हैं अमृत से प्रकट हुआ था। इनको धारण करने के कारण वह मृत्युंजय था और उसे मानव-दानव-देवताओं में से कोई नहीं मार सकता था। पर कुमारी अपने पुत्र को लेकर समाज के सामने कैसे आती। उसने कर्ण को एक पिटारी में रखकर नदी में प्रवाहित कर दिया।

यह पिटारी अधिरथ ने देखी और पकड़ ली। अधिरथ कर्म से सूत या सारथी था और राजा धृतराष्ट्र का मित्र था। उसके कोई सन्तान न थी। उसने बालक को लाकर अपनी पत्नी राधा को दिया, जिसने बड़े लाड़-प्यार से उसका पालन-पोषण करना आरम्भ किया। इसी कारण कर्ण को कभी-कभी सूतपुत्र, अधिरथि अथवा राधेय भी कहा जाता है।

सूर्य का अंश होने के कारण कर्ण अपने तेज से ही दिन-प्रतिदिन ओज और बल में बढ़ने लगे। उधर द्रोणाचार्य ने जब कौरवों और पाण्डवों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देनी आरम्भ की तो कर्ण भी उनके साथ युद्ध-कौशल में दक्ष हो गया। विशेष प्रतिस्पर्धा उसकी अर्जुन के साथ रहती और पारखियों के लिए भी यह कहना कठिन था कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है।

एक समय राजकुमारों के बल-कौशल के प्रदर्शन के लिए एक रंगभूमि की रचना की गयी। इसमें अर्जुन ने तीर फेंकने, रथ चलाने आदि के प्रदर्शन से सारी सभा को चकित कर दिया और उनकी सब ओर से प्रशंसा होने लगी। कर्ण को अर्जुन का लोक-यश असह्य हो गया। उसने अर्जुन को चुनौती दी और रंगभूमि में ही उनसे लड़ने को तैयार हो गया। उस समय के नियमों के अनुसार राजकुमार राजकुमारों से ही प्रतियोगिता करते थे। गुरुवर कृपाचार्य ने कर्ण से अपना वंश-परिचय देने के लिए कहा। कर्ण तो सारथी का पालित पुत्र भर था, अपना क्या परिचय देता, बहुत लज्जित हुआ। दुर्योधन को कर्ण ऐसे योद्धा को अपनी ओर कर लेने का अच्छा अवसर मिला। उसने उसका सूत-वंशीय कलंक धोने के लिए उसे अंगदेश का राजा घोषित कर दिया। इसी से कर्ण को अंगराज भी कहा जाता

है। अर्जुन प्रतियोगिता के लिए तैयार नहीं हुए और इसी समय से कर्ण दुर्योधन का मित्र बन गया और उसने सदा दुर्योधन का साथ देने की प्रतिज्ञा की। यह पहला अपमान था जो कर्ण को सूतपुत्र होने के कारण सहना पड़ा।

दूसरा अपमान उसका द्रौपदी स्वयंवर के समय हुआ। द्रौपदी स्वयंवर में मत्स्यवेध की बड़ी कठिन शर्त रक्खी गयी थी। उसमें कर्ण भी गया था। लाक्षा-गृह से अपने प्राण बचाकर भागनेवाले पाण्डव भी उसमें ब्रह्मचारी-मुनियों के वेष में गये थे। परन्तु कर्ण जिस समय लक्ष्यवेध के लिए उद्यत हुआ उस समय द्रौपदी ने उसके सूत-पुत्र होने के कारण अपमानजनक वचन कहकर उसे वरण करने से इन्कार कर दिया। अन्त में अर्जुन ने लक्ष्यवेध किया और द्रौपदी ने उनके गले में जयमाल डाल दी। आगे चलकर कुन्ती के मुख से एक ऐसी बात निकल गयी कि वह पाँचों पाण्डवों की पत्नी मानी गयी।

अपने ससुर द्रुपद की सहायता से जब युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राज्य मिला और उन्होंने राजसूय यज्ञ करने की तैयारी की तब चारों दिशाओं के राजाओं को पराजित करने और उनसे कर वसूल करने के लिए युधिष्ठिर के चारों भाई चार दिशाओं में गये। भीम पूर्व में गये जिधर कर्ण का अंग-बंग का राज्य था। कर्ण और भीम का बड़ा घोर संग्राम हुआ, परन्तु अपनी दानवीरता के कारण अब वह अपना कवच-कुण्डल खो चुका था जो उसे अजेय बनाता था। कर्ण ने पराजय स्वीकार की और राजसूय यज्ञ में अन्य राजाओं के समान ही आया।

कौरवों और पाण्डवों का युद्ध धर्म और अधर्म का युद्ध था। कर्ण ऐसे अजेय योद्धा को कौरवों की ओर, अधर्म की ओर, जाते देखकर देवताओं में चिन्ता छा गयी। इन्द्र ने सोचा, किसी न किसी प्रकार कर्ण से अमृतोद्‌भूत कुण्डल-कवच ले लेना चाहिए। एक दिन इन्द्र ब्राह्मण का वेष बनाकर कर्ण के सामने पहुँच गया। कर्ण के मन में ब्राह्मण के लिए बड़ा सम्मान था और उसके पास कुछ भी ऐसा न था जो ब्राह्मण के लिए अदेय हो। इन्द्र कर्ण की यह उदारता जानता था, उसने इसी कवच-कुण्डल की याचना की। कर्ण ने अपना कुण्डल और अपनी त्वचा से जुड़े हुए कवच को खड्‌ग से काटकर अलग किया और ब्राह्मण को दान कर दिया। उसके मन में न किसी प्रकार का खेद हुआ, न पश्चात्ताप, उल्टे वह बहुत प्रसन्न हुआ कि उसने ब्राह्मण का वचन खाली नहीं किया। कर्ण के उस आदर्श दान से इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने कवच-कुण्डल के बदले उसे 'शक्ति' नामक एक अमोघ अस्त्र प्रदान किया। उसे वह केवल एक ही बार छोड़ सकता था, पर जिस पर वह गिरेगा उसका अवश्य ही संहार कर देगा, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली शूर क्यों न हो। मगर इसे छोड़ने के बाद कर्ण किसी भी साधारण योद्धा के समान अपने ही बल-विक्रम पर निर्भर रहेगा। कर्ण इस शक्ति को बड़े यत्न से संचित रखता था, क्योंकि उसने सोचा था, किसी दिन वह इसे अर्जुन पर छोड़ेगा। इसी कारण भीम से हार मानकर वह राजसूय में आया तो, पर भीतर ही भीतर जलता हुआ।

राजसूय के शीघ्र बाद ही युधिष्ठिर अपना राज-पाट, अपने भाइयों को और अपनी पत्नी को भी जुए में हार गये। शायद उस अवसर पर पाण्डवों और द्रौपदी के प्रति भी जितने कटु शब्द कर्ण ने कहे उतने किसी अन्य ने नहीं। उसे रंगभूमि और उससे भी अधिक स्वयंवर में द्रौपदी के अपमानजनक वचनों की याद थी। पाण्डवों और द्रौपदी के वस्त्र उतरवाने की सलाह कर्ण ने ही दुःशासन को दी थी। उसी ने द्रौपदी को दासी, तथा उससे दूसरा पति चुनने की बात कही थी।

पाण्डव जब बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के लिए निकल गये तो कर्ण को अपनी शक्ति और प्रभाव बढ़ाने का पूरा अवसर मिला। उसने दिग्विजय की और हस्तिनापुर में उसका बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ।

जब पाण्डवों के वनवास से लौटने पर महाभारत की तैयारी होने लगी और दोनों दल अपने-अपने पक्ष में राजाओं को मिलाने लगे तब भगवान कृष्ण ने कर्ण को बहुत समझाया, पर उसने दुर्योधन का पक्ष ग्रहण करने की ज़िद ठानी। कृष्ण उसकी शक्ति जानते थे और उसकी कमज़ोरी भी। शल्य को भी भगवान कृष्ण पाण्डवों की ओर लाना चाहते थे, पर वह दुर्योधन से प्रतिज्ञाबद्ध हो चुका था। उसने कर्ण के सारथी बनने का कार्य अपने ऊपर लिया था। भगवान कृष्ण ने शल्य से कहा, "तुम कर्ण के सारथी अवश्य बनो, मगर देखो, कर्ण जब-जब अन्य योद्धाओं से अपनी तुलना कर आत्मप्रशंसा करे तब तुम उसकी हाँ में हाँ मिलाना, पर बीच-बीच में यह कहते रहना कि केवल अर्जुन से मुझे डर है। इतनी शंका भी कर्ण को भीतर से दुर्बल बना देगी।"

महाभारत के युद्ध में कई बार वह कई योद्धाओं से पराजित हुआ, पर उसने अपनी शक्ति अर्जुन पर छोड़ने को सुरक्षित रक्खी। भगवान कृष्ण तब तक अर्जुन को उससे निश्चयात्मक युद्ध नहीं करने देना चाहते थे जब तक उसके पास यह शक्ति रहे। अन्त में उन्होंने घटोत्कच का सामना कर्ण से करा दिया। घटोत्कच हिडिम्बा से उत्पन्न भीम का पुत्र था और महापराक्रमी था—दानव-मानव-देवता के रज-वीर्य-अंश से उत्पन्न। घटोत्कच ने कर्ण के साथ घोर संग्राम किया और कर्ण को लगा कि अपने प्राण बचाने को उसे अन्तिम शक्ति का उपयोग करना पड़ेगा। वह शक्ति लगते ही घटोत्कच ढेर हो गया और कर्ण निःशक्त; फिर भी वह अपने पराक्रम से लड़ने को तैयार हुआ। केवल भीम और अर्जुन को छोड़ उसने नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर समेत अनेकानेक वीरों को पराजित किया। अन्त में अर्जुन के साथ उसका द्वैरथ युद्ध हुआ। युद्ध करते-करते अचानक उसके रथ का पहिया ज़मीन में धँस गया। उसे निकालने के लिए वह रथ से नीचे उतरा। उसने अर्जुन से अनुरोध किया कि जब तक वह फिर से रथ पर आसीन न हो जाय तब तक वह उस पर बाण न चलाये, परन्तु भगवान कृष्ण का आदेश कुछ और ही था।

कर्ण की मृत्यु के पश्चात् जब पाण्डवों को उसके साथ अपना सम्बन्ध मालूम हुआ तो वे बहुत दुःखी हुए। वह तो उनका सहोदर भाई ही था। पाण्डवों ने विधिवत उसका दाह-संस्कार किया और उसकी पत्नी, उसके बच्चों तथा उसके आश्रितों की रक्षा की। कुन्ती की वेदना सहृदयों की कल्पना पर ही छोड़ना चाहिए। उसके एक पराक्रमी पुत्र ने दूसरे पराक्रमी पुत्र का वध किया। पर धर्म और अधर्म के युद्ध में ऐसा होना ही था। महाभारत में उसका संकेत है कि कर्ण नरकासुर का अवतार था।

मृत्यु के पश्चात् कर्ण स्वर्ग जाकर सूर्यदेव में लीन हो गया।

हिन्दी में कर्ण के ऊपर दो प्रसिद्ध खण्ड-काव्य हैं। एक श्री आनन्दकुमार का लिखा 'अंगराज' और दूसरा श्री दिनकर का लिखा 'रश्मिरथी'। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र कर्ण पर एक महाकाव्य लिख रहे थे। उसका कुछ अंश उन्होंने यदा-कदा सुनाया भी था। महाकाव्य का प्रकाशन शायद अभी तक नहीं हो सका।

[1961]

'टूटी-छूटी कड़ियाँ' : प्रथम प्रकाशन 1973; राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, से प्रकाशित ।

अपने पाठकों से

आज अपनी एक गद्य-कृति आपके सामने रख रहा हूँ।

इसे विशुद्ध निबन्ध-संग्रह तो नहीं कह सकता।

इसमें कुछ निबन्ध हैं, कुछ वार्ताएँ, कुछ भाषण, कुछ पत्र-परिचर्चाएँ, कुछ साक्षात्कार और कुछ संस्मरण हैं। पिछले दस वर्षों में लिखित विविध गद्य में जो कुछ मैंने अपने पाठकों के लिए रुचिकर समझा है उसे जोड़-बटोर इस संग्रह में रख दिया है। इस प्रकार इसका नाम 'टूटी-छूटी कड़ियाँ' शायद सार्थक समझा जायगा, जबकि कविता से विदा लेने के बाद मैं गद्य से भी छुट्टी लेने की तैयारी में हूँ।

इसे आप मेरे पिछले निबन्ध-संग्रह का पूरक मान सकते हैं, जो आज से दस बरस पहले 'नये-पुराने झरोखे' के नाम से प्रकाशित हुआ था।

आत्मकथा, डायरी और पत्रों के रूप में इधर जो मेरा गद्य आपके सामने आया है उसमें आपने विशेष रुचि ली है; प्रस्तुत संग्रह से मेरे गद्य में दो-एक विधाएँ और जुड़ेंगी; और मुझे आशा है कि वे आपको कम रुचिकर नहीं प्रतीत होंगी।

लेखों का क्रम निर्धारित करने और प्रेस-कापी को संशोधित एवं अन्तिम रूप देने के लिए श्री सत्येन्द्र शरत् का आभारी हूँ।

आप कभी इनके बारे में कुछ कहना चाहें तो मुझे सुनने को उत्सुक पायेंगे।

बच्चन

20, प्रेसीडेन्सी सोसाइटी,
नार्थ-साउथ रोड नं. 7
जूहू-पारले स्कीम, बम्बई-56
अगस्त, 1973

'टूटी-छूटी कड़ियाँ' : प्रथम प्रकाशन 1973; राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, से प्रकाशित।

अपने पाठकों से

आज अपनी एक गद्य-कृति आपके सामने रख रहा हूँ।

इसे विशुद्ध निबन्ध-संग्रह तो नहीं कह सकता।

इसमें कुछ निबन्ध हैं, कुछ वार्ताएँ, कुछ भाषण, कुछ पत्र-परिचर्चाएँ, कुछ साक्षात्कार और कुछ संस्मरण हैं। पिछले दस वर्षों में लिखित विविध गद्य में जो कुछ मैंने अपने पाठकों के लिए रुचिकर समझा है उसे जोड़-बटोर इस संग्रह में रख दिया है। इस प्रकार इसका नाम 'टूटी-छूटी कड़ियाँ' शायद सार्थक समझा जायगा, जबकि कविता से विदा लेने के बाद मैं गद्य से भी छुट्टी लेने की तैयारी में हूँ।

इसे आप मेरे पिछले निबन्ध-संग्रह का पूरक मान सकते हैं, जो आज से दस बरस पहले 'नये-पुराने झरोखे' के नाम से प्रकाशित हुआ था।

आत्मकथा, डायरी और पत्रों के रूप में इधर जो मेरा गद्य आपके सामने आया है उसमें आपने विशेष रुचि ली है; प्रस्तुत संग्रह से मेरे गद्य में दो-एक विधाएँ और जुड़ेंगी; और मुझे आशा है कि वे आपको कम रुचिकर नहीं प्रतीत होंगी।

लेखों का क्रम निर्धारित करने और प्रेस-कापी को संशोधित एवं अन्तिम रूप देने के लिए श्री सत्येन्द्र शरत् का आभारी हूँ।

आप कभी इनके बारे में कुछ कहना चाहें तो मुझे सुनने को उत्सुक पायेंगे।

बच्चन

20, प्रेसीडेन्सी सोसाइटी,
नार्थ-साउथ रोड नं. 7
जूहू-पारले स्कीम, बम्बई-56
अगस्त, 1973

मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई।
रूप रासि गुन सील सुहाई ।।

अपनी पुत्रवधू जया को
जिसके योग्य ये 'टूटी-छूटी कड़ियाँ' तो न थीं,
पर जिन्हें जोड़ना-मिलाना उसके लिए कुछ
विनोद हो सकता है

मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई।
रूप रासि गुन सील सुहाई॥

अपनी पुत्रवधू जया को
जिसके योग्य ये 'टूटी-छूटी कड़ियाँ' तो न थीं,
पर जिन्हें जोड़ना-मिलाना उसके लिए कुछ
विनोद हो सकता है

शिकायत है—बच्चन को बच्चन से*

'ग़ल्तियाँ, अपराध, माना, भूल जायेगा ज़माना,
किन्तु अपने आपको कैसे क्षमा मैं कर सकूँगा ?'
—एकान्त संगीत

बच्चनजी,

यह पत्र मैं आपको पहली बार लिख रहा हूँ, पर इसके लिए आपसे किसी प्रकार की क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं समझता। पहला पत्र लिखते समय लोग प्रायः अपना परिचय देते हैं, पर क्या आपको मुझे अपना परिचय देने की ज़रूरत है ? आप मुझे जानते हैं और मैं आपको जानता हूँ— ठीक उतना, जितना अपने को अपने से जाना जा सकता है। इसके यह अर्थ नहीं कि मैं आपको ठीक-ठाक जानता हूँ। अपने को ठीक-ठीक जानना कोई सरल काम नहीं है। ठीक कहूँ तो बहुत कठिन काम है, तप है, साधना है। तभी तो सभी दर्शनों का चरम आदेश इस पर जाकर समाप्त होता है, Know Thyself, यानी 'अपने को जानो'। जानने की इस सीमा को स्वीकार करते हुए भी जैसा मैंने आपको जाना है, वैसा यदि मैं आपको आपके सामने रखना चाहता तो मुझे आपका जीवन-चरित ही लिखना चाहिए था, पर अभी मुझे इसके लिए अवकाश नहीं है, और शायद आपको भी इतना अवकाश न हो कि आप मेरा पोथा पढ़ सकें।

आपको याद होगा कि मैं आपके पास अक्सर उस समय रहा हूँ जब आपके पास कोई दूसरा नहीं रहा है—'तुम मेरे पास होते हो गोया जब कोई दूसरा नहीं होता।' आप भूले न होंगे कि मैं अक्सर आपकी प्रशंसा करता रहा हूँ, आपको प्रोत्साहन देता रहा हूँ, आपको ढाढ़स बँधाता रहा हूँ, आशा दिलाता रहा हूँ—उस समय भी, जब दुनिया आपकी बुराई करती रही है या आपका विरोध करती रही है। लेकिन आप अपने जीवन की बड़ी भारी ग़ल्ती करेंगे अगर आप मुझको चापलूस या अपना चाटुकार समझेंगे। मैं आपका आलोचक भी रहा हूँ। आपकी ग़ल्तियों, आपके अपराधों की ओर भी समय-समय पर संकेत करता रहा हूँ, यह और बात है और शायद स्वाभाविक भी—और मैं मानव की इस दुर्बलता को क्षम्य समझता हूँ—कि उन्हें आपने अपने दिमाग़ से निकाल दिया है। इसीलिए मैंने यह ज़रूरी समझा कि आपकी कुछ कमज़ोरियों, कुछ ग़ल्तियों को, इस पत्र के रूप में आपके सामने रख दूँ ताकि यह सिद्ध हो जाये कि मैं आपका केवल ऐसा मित्र नहीं रहा जो 'गुन प्रगटै अवगुनहिं दुरावै,' बल्कि आपके अवगुन भी प्रगट करता रहा हूँ। बाहर मैं दोनों के प्रति मौन हूँ—आपने महाभारत में पढ़ा होगा कि आर्य न अपनी निन्दा

* 'कादम्बिनी', मार्च 1966, में प्रकाशित।

करे न अपनी स्तुति। कृपया, इस पत्र को गोपनीय समझें; ज़्यादा अच्छा हो कि पढ़कर फाड़ दें। आपकी ख़ब्तुलहवासी को मैं ख़ूब जानता हूँ। ऐसा न हो कि आप इसे कहीं इधर-उधर रख दें और यह किसी के हाथ लग जाये। किसी शैतान सम्पादक के हाथ लग गया तो ग़ज़ब ही हो जायेगा, और इस तबक़े के लोग अक्सर आपके यहाँ देखे जाते हैं।

यों तो आपके जीवन की बहुत-सी ऐसी ग़ल्तियों और कमज़ोरियों को मैं जानता हूँ जिनसे मुझे शिकायत है, पर आज जिनकी ओर मैं इशारा करना चाहता हूँ वे आपके लेखक-जीवन की हैं, और एक दृष्टि से अधिक प्रभावपूर्ण हैं। भाई, जीवन में आप ग़ल्तियाँ करते हैं, आप उनका फल भोगेंगे; ग़ल्तियाँ किसी को माफ़ नहीं करतीं। लेकिन आपके लेखक-जीवन की कमज़ोरियों का फल आप तक ही सीमित नहीं रहता।

आपमें प्रतिभा थी—लेखन-प्रतिभा, पर अपनी लेखन-प्रतिभा के प्रति पूर्ण विश्वास आपको कभी नहीं हो सका। इसलिए विशुद्ध रूप से लेखक आप कभी नहीं हो सके। पहले करते रहे अंग्रेज़ी की प्रोफ़ेसरी, और लिखते रहे हिन्दी की कविता; और अब एक सरकारी दफ़्तर में क्लर्की करते हैं—सरकारी दफ़्तरों में सब क्लर्क ही होते हैं, कोई छोटा क्लर्क, कोई बड़ा क्लर्क। आपने किसी दिन बैठकर यह निश्चय क्यों नहीं किया कि आपको अध्यापक बनना है या कवि। आपने यह कैसे समझ लिया कि आप दोनों बन सकते हैं? सच कहूँ तो आपने दो विरोधी कर्मों को मिलाने का दुःसाहस किया था। लड़कों को पढ़ानेवाला कभी अच्छा कवि नहीं बन सकता। आज तक साहित्य के इतिहास में शायद ही कोई मोदर्रिस—प्रोफ़ेसर होकर भी वह मोदर्रिस ही रहता है—अच्छा कवि बन सका हो। कवि गतिशील होता है, वह अपने अनुभवों को दुहराता नहीं, वह नित्य नया खोजता, नित्य नया सीखता, नित्य नये से जूझता है; मोदर्रिस साल-दर-साल एक ही गद्य, एक ही पद्य को एक ही तरह से पढ़ाता जाता है, और अन्त में उसका सारा ज्ञान उसके विद्यार्थियों के स्तर का होकर रह जाता है। उसे जीवन की बहुत-सी रूढ़ियाँ और मर्यादाएँ भी निभानी पड़ती हैं, और कवि, जीवन को मुक्त दृष्टि से देखता है, मुक्त पथ का अनुसन्धान करता है और मुक्त चरण से उस पर विचरण करता है। बच्चनजी, आपका कवि बड़ा सख़्त-जान होगा कि उसे आपकी बीस बरस की मोदर्रिसी भी नहीं मार सकी, और लगभग दस बरस से सरकारी दफ़्तरों के दम-घोट वातावरण में भी उसे आप जिलाये हुए हैं। तभी तो कहता हूँ कि आपने अपने को विशुद्ध कवि के रूप में स्थापित किया होता तो आज?—इस पर मेरा मुँह बन्द किये रहना ही ठीक है। कल्पना के धनी आप भी हैं।

फिर आपने एक जुर्रत और की। हिन्दी में लिखना था तो हिन्दी में एम. ए. करते, हिन्दी के प्रोफ़ेसर बनते। हिन्दी के प्रोफ़ेसर रहते हुए भी बहुतों ने साहित्यिक कमाल किये हैं। आप स्वाध्याय करते रहे अंग्रेज़ी का, और लिखते रहे हिन्दी में। तीन कम पचास की उम्र तक आप यह निश्चय नहीं कर सके कि आपका कार्य-क्षेत्र हिन्दी होगा या अंग्रेज़ी। 'मधुशाला' से 'मिलन यामिनी' तक जब आपकी एक दर्जन पाये की किताबें निकल चुकी थीं तब आप केम्ब्रिज जाकर वहाँ से अंग्रेज़ी में पी-एच. डी. की डिग्री ले आये। काश, आपने यह डाक्टरेट हिन्दी में की होती तो हिन्दी के शोध-साहित्य की अभिवृद्धि हुई होती, और इससे आपकी हिन्दी कविता को भी बल मिला होता। इससे हिन्दी की जो हानि हुई सो तो हुई ही, आपकी भी बड़ी हानि हुई है। आपको किसी विश्वविद्यालय ने अंग्रेज़ी विभाग का

अध्यक्ष नहीं बनाया, क्योंकि आप विशुद्ध अंग्रेज़ी के आदमी नहीं हैं—हिन्दी भी लिखते हैं। और हिन्दीवालों ने आपको टिकने की जगह नहीं दी क्योंकि आप अंग्रेज़ी में भी टाँग अड़ाये हैं। जवाहरलाल नेहरू स्वर्ग में बैठे हुए घी-शक्कर खायें जिन्होंने आपकी हिन्दी, अंग्रेज़ी दोनों की योग्यता की उपयोगिता समझी, और आपको अंग्रेज़ी राजनयिक दस्तावेज़ों के हिन्दी अनुवाद के काम पर लगा गये। पर, कवि-जी, यह तो बतलाइये कि इस शब्द-कोषी कुश्ती की पटरी आपके छन्द-गान के साथ कैसे बैठती है! मैं जानना चाहता हूँ कि अपनी काव्य-कल्पना के साथ इतना बलात्कार आपने कैसे सहन किया है?

और आपकी काव्योपलब्धि पर भी एक बात कहूँ तो आप बुरा न मानियेगा। आप साहित्य के क्षेत्र में उल्टे पैदा हुए हैं।

'मधुशाला' तो आपकी पहली ही कविता थी न?—प्रारम्भिक पद्य-अभ्यासों को बाद देकर—जो आज से तैंतीस बरस पहले लिखी गयी थी, जिसके बाईस संस्करण हो चुके हैं और जिसकी प्रकाशकों द्वारा दिये गये हिसाब के अनुसार—प्रकाशकों द्वारा—दुहराने में जो संकेत है उसे समझते हैं न?—दो लाख से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं। इन तैंतीस बरसों में भी आप बराबर क़लम-घिसाई करते रहे हैं, पर आपकी बाद की रचनाएँ दस-बारह संस्करणों से ऊपर नहीं गयीं, किसी-किसी के तो तीन-चार संस्करण ही हुए हैं, कुछ के केवल दो-एक। 'मधुशाला' ही आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना समझी जाती है। जब कभी आप कवि-सम्मेलन में जाते हैं, वही रचना लोग आपसे सुनना चाहते हैं। आपका नाम आने पर लोग यही कहते हैं, वही 'मधुशाला' वाले बच्चन। साहित्य में आकर भी आप साहित्यकारों की रीति-नीति से बे-बहरे रहे। 'प्रसाद' ने 'कानन-कुसुम' लिखा, 'आँसू' लिखा, 'झरना' लिखा, तब जाकर उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना लिखी 'कामायनी'; 'निराला' ने 'परिमल' लिखा, 'गीतिका' लिखी, 'तुलसीदास' लिखा, तब जाकर 'राम की शक्ति-पूजा' लिखी; पन्त ने 'पल्लव' लिखा, 'ग्रन्थि' लिखी, और अन्य एक कोड़ी कृतियाँ, तब जाकर उन्होंने अपनी रचना प्रस्तुत की 'कला और बूढ़ा चाँद' जिस पर साहित्य अकादमी ने पुरस्कार देकर उस पर सर्वश्रेष्ठता की मुहर लगायी। उम्र में आपसे छोटों के भी ऐसे ही उदाहरण हैं। आप हैं कि आपने आते ही आते अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना दे दी। अब आप कुछ भी लिखें, 'मधुशाला' से बढ़कर कोई चीज़ नहीं लिख सकेंगे। कविवर, आपको अपने काव्य का प्रासाद नींव से उठाना चाहिए था, जैसा सब करते हैं। आपने पहले कलश ही गढ़कर धर दिया, मानों आप एलोरा का मन्दिर काट रहे हों जो, ज़ाहिर है, ऊपर से नीचे की ओर बना था। मैं क्या बेजा करता हूँ अगर कहता हूँ कि साहित्य की भूमि पर आप उल्टे पैदा हुए थे। अब उतरते जाइये नीचे और नीचे 'दो चट्टानें' तक, जिन्हें भी काटकर शायद आपको अपने लिए कोई कन्दरा बनानी पड़े—जहाँ आप गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ की समाधि लगा सकें। सिरहाने के तले गीता रखने की बात आप अपनी हाल की किसी कविता में कह चुके हैं। कुछ बरस पहले आपने 'जनगीता' लिखी थी; अब खबर है आपने 'नागर गीता' भी लिख ली है। कहीं दोनों मिलकर सिरहाने की जगह ही न ले लें।

आपकी प्रसिद्धि में कवि-सम्मेलनों का कम हाथ नहीं रहा है, और एक तरह से आपको हिन्दी कवि-सम्मेलनों का प्रतिष्ठापक माना जाता है। आपके पहले जब छायावादी कवि मंच पर बैठकर अपनी हृत्तन्त्री के तारों से नीरव-झंकार करते थे तो जनता अपना मुँह बाकर टुकुर-टुकुर उनकी विचित्र वेष-भूषा और अलक-पलक

को निहारा करती थी; हिन्दी को प्रोत्साहन देने के लिए कोई-कोई महारथी 'अति सुन्दर' या 'पुनरवाद' का उच्चारण भी बीच-बीच में कर देते थे। जब आप मंच पर आये तो जनता में जीवन की एक लहर दौड़ गयी, शब्द श्रोता और वक्ता के बीच सेतु बन गये, आग्रहपूर्वक बुलाये गये लोग ललककर कवि-सम्मेलनों में आने लगे, हज़ारों की भीड़ लगने लगी, सन्ध्या के ही एकाध घण्टे में समाप्त हो जानेवाले सम्मेलन रात-रात भर चलने लगे। ऐसे कवि-सम्मेलन की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी जिसमें आप न हों। लेकिन उन कवि-सम्मेलनों का स्वस्थ विकास आप नहीं कर सके। आपने इनमें जाना भी अब बन्द कर दिया है। शायद आपको समय नहीं,शायद अब कवि-सम्मेलनों से मिलनेवाले पारिश्रमिक की आपको दरकार नहीं, शायद बढ़ती उम्र के साथ उनके लिए आपका उत्साह क्षीण हो गया है; और अन्त में, शायद अब आपका स्वास्थ्य लम्बी यात्राएँ करने, रात-रात भर जागने, बैठने, और गले की कसरत करने योग्य नहीं रह गया। पूछूँ, क्या उनके द्वारा फैलनेवाले अपने सुयश से भी आपको अपच हो गयी है ? फिर भी कभी जाकर देखें, कि उन कवि-सम्मेलनों की, जिन्हें आपने सुरुचि, साहित्यिकता और सप्राणता से सँवारा था, क्या दशा हो गयी है। मुझे कहते हुए दुःख होता है कि अब वे विदूषकों और भाँड़ों के अखाड़े बन गये हैं। कवि और श्रोता के बीच सजीव सम्पर्क का यह माध्यम आपकी बड़ी भारी देन होती; लेकिन यदि आपने इसे विकृत नहीं किया तो विकृत होने दिया है।

मैं आपकी एक आदत जानता हूँ, आप सुनते सबकी हैं करते अपने मन की ही हैं, चाहे उसका कोई परिणाम हो, या उसकी कोई क़ीमत आपको चुकानी पड़े। आपको बदलने के लिए मैंने यह पत्र लिखा भी नहीं। शायद आप चाहें भी तो अपने को बदल नहीं सकते। और अब वक़्त भी कहाँ है।—

उम्र सारी तो कटी इश्क़े बुताँ में 'मोमिन',
आख़री वक़्त में क्या ख़ाक़ मुसल्माँ होंगे।

आपका अगला जन्म-दिन साठवाँ होगा। मेरी शुभकामनाएँ।

आपका चिरसंगी
हरिवंशराय

ब्रज भाषा की मेरी प्रिय कविता*

ब्रज भाषा का काव्य साहित्य ऐसी अनेक रचनाओं से भरा पड़ा है जो कानों को प्रिय लगती हैं, हृदय को छूती हैं; 'छूती' कहना पर्याप्त नहीं, हृदय को वेधती हैं, और जिनको पढ़ने में ऐसा लगता है कि मुख में माखन-मिश्री घुल रही है, और उनकी ध्वनि-प्रतिध्वनि से वातावरण में रस बरस रहा है।

ब्रज भाषा काव्य के मोर-मुकुट तो सूरदास हैं। किसी कवि ने 'सूर सूर तुलसी ससी', ऐसा कहकर उनको अवधी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसी के भी ऊपर स्थान दिया

* 29-9-'66 को लिखित और कुछ दिन बाद ही आकाशवाणी, नयी दिल्ली, से 'ब्रजमाधुरी' कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रसारित।

है। एक दृष्टि से यह अनुचित नहीं है। काव्य के तीन गुणों—माधुर्य, प्रसाद और ओज—में सबसे अधिक और सर्व परिष्कृत माधुर्य की सृष्टि-वृष्टि करनेवाले सूरदास ही हैं। पहले मैंने कविता द्वारा हृदय बेधने की बात कही है; सूरदास के लिए यह दोहा प्रसिद्ध है :

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर,
किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत सरीर।

सूर का पद जिसको लग जाता है, सचमुच, उसकी ऐसी ही दशा होती है। कब, किसको, कौन पद लग जायेगा, कहना कठिन है। परिस्थिति, मनस्थिति की बात है; सबके लिए अलग हो सकती है। मैं आज जिस पद की चर्चा करने जा रहा हूँ, मैं कह सकता हूँ कि वह मुझे लगा है। मेरे मन में पैठ गया है। मैं उसे बहुत बार गुनगुनाता हूँ, सोचता हूँ कि उसमें क्या है जो बार-बार मेरी स्मृति में उभरता है, और हर बार मुझे विभोर कर जाता है। उस पद की पहली पंक्ति है :

मुरली अधर सजी बलबीर।

सूरदासजी ने इस पद में भगवान श्रीकृष्ण के मुरली बजाने का वर्णन किया है और आगे की पंक्तियों में बताया है कि उस मुरली के नाद की प्रतिक्रिया क्या होती है।

'मुरली अधर सजी बलबीर'···यदि मैं कहूँ कि इस पंक्ति के प्रत्येक अक्षर पर मैं मुग्ध हूँ तो वह अतिशयोक्ति न होगी। तुलसीदास ने रामचरितमानस के आरम्भ में कहा है, 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि'···। काव्य की कला वास्तव में अर्थ, वाक्य अथवा शब्द से नहीं आरम्भ होती; वह तो वर्ण से आरम्भ होती है। कवि को वर्ण-वर्ण के प्रति सचेत होना पड़ता है। अंग्रेज़ी में भी साहित्यकार को 'मैन आफ़ सेन्टेन्स' या 'मैन आफ़ वर्ड्स' न कहकर 'मैन आफ़ लेटर्स' कहते हैं — वर्ण-पुरुष। इस पंक्ति में वर्णों के प्रति कैसी सचेतता है! पूरी पंक्ति में कोई कठोर अक्षर नहीं है। बड़ी 'ई' की मात्रा तीन बार थोड़े-थोड़े अन्तर पर आकर जैसे मुरली के स्वर को दूर-दूर तक पहुँचा देती है—'मुरली अधर सजी बलबीर।' अब ज़रा वर्णों के क्रम पर ध्यान दें—'मुरली अधर'—मुरली अधर पर सजने से पहले अधर से 'रली' है, रल गयी है। 'अधर' और 'सजी' ऐसे आये हैं कि बीच में 'रस' की भी व्युत्पत्ति हो गयी है। 'अधर सजी बलबीर'—अब ज़रा 'बलबीर' के 'ब' पर ही रुक जायें—ध्वनि संकेत करती है कि मुरली अधरों का रस पीकर सजीव हो उठी है। भगवान के अधरों का रस पीकर भी मुरली जड़ ही रह जाये तो आश्चर्य है—मुरली अधर सजी बलबीर। और 'ब' 'ल' 'बी' 'र' तो वर्ण-ध्वनि से मानो मुरली को ही मुखरित कर रहा है!

अब हम आगे बढ़ें और ज़रा मुरली के नाद का प्रभाव देखें। मुरली के नाद का प्रभाव मानव-जगत, पशु-जगत, पक्षी-जगत, वनस्पति-जगत और जड़-जगत —सभी पर पड़ता है, और एक विशेष क्रम में पड़ता है। मुरली बजानेवाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं। कृष्ण हैं, साक्षात् भगवान स्वयं। जिस समय भगवान की मुरली बजेगी उस समय यह कैसे सम्भव होगा कि कोई दूसरे कामों में लगा रहे। सब चराचर जगत मुग्ध होकर उनकी मुरली को सुनने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकेगा।

पहला प्रभाव मानव पर दिखाया गया है। यह आकस्मिक नहीं है; मानव ही सबसे अधिक संवेदनशील प्राणी है, इस कारण मुरली नाद का पहला प्रभाव मानव-जगत पर पड़ता है—नाद सुनि बनिता विमोहीं 'घर बिसारे चीर'। नाद को सुन-

कर वनिताएँ घर से बाहर निकल पड़ी हैं; उन्हें यह भी सुध नहीं है कि उनके बदन पर चीर हैं या नहीं। भगवान की मुरली बजेगी तो वह ध्यान को पूर्णरूपेण खींचेगी। फिर किसे सुध-बुध रहेगी घर की या वस्त्र की। एक जगह मैं इस गीत की चर्चा कर रहा था। युनिवर्सिटी के एक हिन्दी अध्यापक बोल उठे, प्रभाव केवल वनिताओं पर पड़ा, पुरुषों पर नहीं। यहीं पर मोर्दरिसी बुद्धि की शुष्कता और भाव-हीनता अपना भरम खोल देती है। भावक और कवि की दृष्टि और गहरे जाती है। सूर की दृष्टि में, ब्रज में एक मात्र पुरुष भगवान कृष्ण हैं, बाकी सब आत्माएँ वनिताएँ हैं, स्त्रियाँ हैं, गोपियाँ हैं। कथा प्रसिद्ध है, स्वामी हरिदास के आश्रम में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध था। मीरा दर्शनों को पहुँचीं। उन्हें भीतर जाने से रोक दिया गया, सन्त पुरुष के पास स्त्री का आना मर्यादा के विरुद्ध है। मीरा ने बाहर से उलाहना भेजा, मेरी तो धारणा थी कि ब्रज में एक मात्र पुरुष भगवान कृष्णचन्द्र आनन्द कन्द हैं। अब मालूम हुआ, ब्रज में दूसरा पुरुष भी है। हरिदास की आँखें खुल गयीं। मीरा हरिदास के सम्मुख थीं, पुरुष के सामने स्त्री के रूप में नहीं; भक्ति में, भाव में, भगवान की एक गोपी के समक्ष दूसरी गोपी के रूप में। सूर के जगत में पैठकर, डूबकर ही सूर का पूरा आनन्द लिया जा सकता है। सूरदास मुरली-नाद का प्रभाव केवल वनिताओं पर दिखाते हैं, क्योंकि ब्रज में मानव के रूप में केवल वनिताएँ हैं, पुरुष केवल कृष्ण हैं, इस समय मुरली के बजानेवाले।

इसके पश्चात् सूरदास पशु-जगत पर मुरली का प्रभाव बताते हैं :

'धेनु तृण तजि ठाढ़ि, ठाढ़े बच्छ तजि मुख छीर'

मुरली-नाद सुनते ही गउओं ने घास चरना छोड़कर मुख ऊपर उठा लिया है, मुरली सुनना और घास चरना जैसे एक साथ नहीं हो सकेगा। हो तो सकता है, पर गउएँ भी सम्पूर्ण रूप से मुरली-नाद को समर्पित होना चाहती हैं। बछड़ा तो बड़ी मुश्किल से अपनी माँ का थन छोड़ता है। पर भगवान की मुरली सुनकर आतुर बछड़ों ने भी थनों से अपने मुख हटा लिये हैं। वे भी गउओं के समान, घर-चीर बिसारे वनिताओं के समान, मुरली-नाद पर रीझ गये हैं। सहज-मुग्ध हो निष्क्रिय खड़े हो गये हैं।

मुरली बजती जाती है और उसका जादू फैलता जाता है, घर से बन पर, धरती से आकाश पर,

'नैन मूँदि समाधि धर खग बैठ ज्यों मुनि धीर'

मुरली का प्रभाव पक्षी-जगत पर पहुँच गया है। पक्षी आँख मूँदकर ऐसे समाधिस्थ हो गये हैं जैसे वे धीर मुनि हों। 'मुनि' का सम्बन्ध 'मौन' से समझ लें। बड़ा मधुर कलरव करनेवाले पक्षी हैं, पर भगवान की वंशी की मधुरता के सामने सब मौन हो गये हैं। सब परिन्दों के स्वर बन्द, पर बन्द हैं, और वनस्पति-जगत में क्या हो रहा है :

'डोल नहिं द्रुम लता विथकी मन्द गन्ध समीर।'

मुरली-नाद से जो निष्क्रियता, जो सुस्थिरता, जो शान्ति छाती जाती है उसका प्रसार और बढ़ता है, गन्ध समीरण इतना मन्द हो गया है कि न लताएँ हिलती हैं, न पत्ता हिलता है, न तिनका हिलता है; तिनका तो हवा की थोड़ी भी हरकत से हिल उठता है, पर इस समय वह भी नहीं हिलता-डुलता। याद आती है विद्यापति की पंक्ति, 'जेहि बन सिकियो न डोल पिय मोर करत किलोल'—जिस बन में मेरे प्रियतम क्रीड़ा करते हैं उसमें सींक भी नहीं डोलती—कबीर का 'सुन्न महल'—वहाँ सभी कुछ सुस्थिर, सभी कुछ शान्त !

अब आइए पद की अन्तिम पंक्ति पर। मुरली-नाद का असर गोप-वनिताओं पर पड़ा, गाय-बछड़ों पर पड़ा, द्रुम-लतिकाओं पर पड़ा, गन्ध समीरण पर पड़ा, तरु-पखेरुओं पर पड़ा, पर अभी एक वस्तु पर नहीं पड़ा। जमुना तो बहती चली जाती है—पानी ही ठहरा, बहना ही उसका स्वभाव है। पर क्या भगवान की बंशी बजेगी और जमुना बहती जायेगी—निःस्पृह, निरपेक्ष ? नहीं। सूर ने अपनी एक पंक्ति से जमुना की धार को भी बाँध दिया है। 'सूर मुरली शब्द सुनि थकि रहत जमुना नीर'। मुरली का नाद सुनकर जमुना का पानी भी सहसा थम गया है। मैंने मुरली का 'नाद' कहा है। सूर ने यहाँ 'नाद' नहीं कहा है, 'शब्द' कहा है—'सूर मुरली **शब्द** सुनि थकि रहत जमुना नीर'। शब्द की ध्वनि में जो आघात है, आकस्मिकता है, आधिकारिक आदेश है उसको सुनते ही मानो जमुना अचानक, स्तब्ध होकर रुक गयी है—ठिठक गयी है। और 'थकि' 'रहत' शब्दों की ध्वनि में मानों बहते-बहते सहसा रुक जाने पर आगे-पीछे की लहरें एक दूसरे से टक्कर खाकर 'थक'-'थक' शब्द कर उठी हैं। कोई अर्थ भी न समझे तो ध्वनियों से ही यहाँ बहुत कुछ कहा गया है। 'सूर मुरली शब्द सुनि थकि रहत जमुना नीर'—इस अन्तिम पंक्ति के साथ सारा दृश्य स्तब्ध, सुस्थिर, शान्त, चित्रवत् हो गया है—और सुनायी देती है केवल भगवान की विश्वविमोहिनी बंसरी ! अब पूरा गीत सुनिए और उसी के रस में डूब जाइये।

मुरली अधर सजी बलबीर।
नाद सुनि बनिता विमोहीं घर बिसारे चीर।
धेनु तृण तजि ठाढ़ि, ठाढ़े बच्छ तजि मुख छीर।
नैन मूँदि समाधि धर खग बैठ ज्यों मुनि धीर।
डोल नहिं द्रुम लता विथकी मन्द गन्ध समीर।
सूर मुरली शब्द सुनि थकि रहत जमुना नीर॥

प्रसंगवश बता दूँ कि एक समय श्रीमद्‌भागवत पढ़ते हुए मेरा ध्यान कुछ ऐसे श्लोकों पर गया जिनमें यह सारा दृश्य वर्णित है, पर ब्रज के गीत में जो रस है, मिठास है, सम्मोहन है, भगवान व्यास की आत्मा मुझे क्षमा करें, वह संस्कृत के श्लोकों में नहीं है।

कविता-पाठ की कला*

पुराने समय में कला का क्षेत्र सीमित था। उनकी संख्या तक निश्चित कर दी गयी थी। 64 कलाओं का नाम मैंने सुना है, शायद आपने भी सुना होगा। नाम गिनाने को कहें तो मेरे लिए मुश्किल होगी। मैं यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि कविता-पाठ की कला उसमें सम्मिलित है या नहीं। पर कविताएँ बहुत प्राचीन काल से पढ़ी और सुनायी जा रही हैं। कविता पढ़ने का ढंग बुरा, साधारण, अच्छा और बहुत अच्छा समय-समय पर समझा गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। और इसी विभिन्नता में उसके कला होने की बात निहित है। वस्तुतः आज हम कला का प्रयोग जिस अर्थ में करते हैं वह यही है कि किसी भी काम को सफ़ाई से,

* 23-3-'64

सलीक़े से, अच्छे ढंग से, प्रभावकारी विधि से सम्पादित करना। बात तो सभी करते हैं, पर किसी-किसी के बात करने के ढंग को देखकर हम कहते हैं कि उसे बात करने की कला आती है। हमारा मतलब होता है कि उसके बात करने के ढंग में कुछ ऐसी चीज़ होती है जो मन को अच्छी लगती है, छूती है या उसे प्रभावित करती है। कोई भी काम हो कला का स्पर्श उसे अधिक प्रिय, सुखकर और मनोज्ञ बना देता है। यदि कविता पढ़ी जाने की चीज़ है, तो उसे कलापूर्ण ढंग से पढ़ने की बात सहज ही समझ में आ जायेगी।

मेरी यह धारणा है, और बहुत-से लोग इससे सहमत होंगे कि कविता शब्दों की कला है और शब्द का पूरा बल और प्रभाव तभी प्रकट होता है जब उसे मुखरित किया जाये, ध्वनित किया जाये और सुना जाये। इसमें सन्देह नहीं कि आज बहुत-सी कविता छपकर हमारे सामने आती है और हम आँखों से ही उसे पढ़ते हैं। जिन्हें काव्य-कला की समझ है वे आँखों से पढ़ते हुए भी मानसिक ध्वनियों की कल्पना कर लेते हैं, पर साधारण लोग किसी कविता को पहले केवल आँख से पढ़कर और बाद को स्वयं सस्वर पढ़कर अथवा किसी से सुनकर दोनों स्थितियों की तुलना कर सकते हैं। आँख से पढ़ने और कान से सुनने की स्थिति में अन्तर का आभास अवश्य होगा।

तुलसीदास ने कहा है कि 'कविहिं अरथ, आखर बल साँचा'। यहाँ 'अरथ' और 'आखर' का तात्पर्य हमें ठीक से समझ लेना चाहिए। 'अरथ' तो स्पष्ट है। जब हम शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका कुछ विशिष्ट अर्थ होता है, जैसे हम कहीं 'सुरसरि' शब्द का प्रयोग करें तो उसका अर्थ होगा 'गंगाजी'! पर अगर 'अरथ' से ही काम चल जाता तो तुलसीदास 'आखर' शब्द का प्रयोग न करते। 'आखर' यों तो 'अक्षर' का बिगड़ा हुआ रूप है, पर अब उसका अर्थ 'ध्वनि' या 'बोल' हो गया है। वैज्ञानिक सत्य भी है कि 'अक्षर' अपने शाब्दिक अर्थ में, जो क्षर या नष्ट न हो, ध्वनि ही हो सकती है, अक्षर का चित्र नहीं---जैसा लिखी या छपी वर्णमाला में। ख़ैर, हम इन बारीकियों में नहीं जायेंगे। हमारी पंजाबी में 'आखने' का अर्थ 'बोलना' ही होता है। संक्षेप में तुलसीदास के कहने का मतलब यह है कि कवि को अर्थ और ध्वनि का बल होता है। और अच्छा कवि इन दोनों साधनों का पूरा उपयोग करता है। बड़ा कवि जितना अर्थ से कहता है उतना ही ध्वनि से, और कहीं-कहीं तो वह ध्वनि के द्वारा अर्थ की अपेक्षा अधिक कहता है। यही कारण है कि जब हम किसी अच्छे या बड़े कवि की पंक्ति का एक शब्द भी बदल देते हैं, तब उसका सौन्दर्य और प्रभाव समाप्त हो जाता है; स्थूल अर्थ तो शायद स्पष्ट हो जाता है, पर सूक्ष्म अर्थ, जो ध्वनि से दिया गया था, बिल्कुल ग़ायब हो जाता है। अर्थ और ध्वनि दोनों का आनन्द साथ लेने का एक मात्र साधन है, कविता को सस्वर पढ़ना या किसी से सुनना।

कवि 'अरथ' और 'आखर' अथवा अर्थ और ध्वनि का साथ प्रयोग कैसे करता है, इसका हम एक उदाहरण देंगे। ऊपर हमने 'सुरसरि' शब्द का हवाला दिया है। आइए, हम तुलसीदास से ही एक ऐसी पंक्ति लें जिसमें 'सुरसरि' शब्द का प्रयोग हुआ है। वे कहते हैं,—

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

अर्थ तो इसका कठिन नहीं है। वे कहते हैं कि कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही भली है जिससे सबका हित हो जैसे गंगाजी से सबका हित होता है। पर इसकी

ध्वनि में भी एक विशिष्टता है, जिसने इस पंक्ति को एक अतिरिक्त चित्रमयता और गतिमयता दी है। अधिक शब्द नहीं, आइए, इस पंक्ति का केवल एक शब्द बदल दें, और देखें कि ध्वनि के परिवर्तन से कितना अन्तर आ गया है। 'सुरसरि' की जगह पर 'गंगा' कर दें। मात्रा में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। अर्थ 'सुरसरि' का वही है जो 'गंगा' का। पर 'सुरसरि' और 'गंगा' की ध्वनि एक नहीं है, अलग-अलग है।

'सुरसरि' सम सब कहँ हित होई।
'गंगा' सम सब कहँ हित होई।

पहली पंक्ति में लगता है कि जैसे 'सुरसरि' से सरसर, निर्बाध, मुक्त, बहती हुई नदी आँखों के आगे आ गयी है—'सुरसरि सम सब कहँ हित होई'। कवि ने 'सुरसरि' के आगे लघु मात्राओंवाले शब्द रखकर विचित्र कौशल दिखलाया है। जब हम कहते हैं, 'गंगा सम सब कहँ हित होई', तब 'गंगा' शब्द के दो दीर्घ मात्रिक अक्षरों से जैसे हमारे सामने कोई चट्टान खड़ी हो जाती है और प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। इस छोटे-से उदाहरण से भी यह स्पष्ट हो गया होगा कि कविता 'अर्थ' और 'ध्वनि' की कला है और कविता अपना पूरा बल और वैभव तभी प्रकट करती है जब उसे मुखरित किया जाय, उसे सस्वर पढ़ा जाय या सुना जाय।

अगर मुझसे कोई पूछे कि, सफल काव्य-पाठ का एक मात्र गुण क्या है तो मैं कहूँगा, 'तन्मयता'। यानी काव्य-पाठ करनेवाला अपने को उसी मनःस्थिति में रख सके जिसमें रहकर कवि ने अपनी रचना की है—अर्थात् काव्य-पाठ करते समय वह कविता के भाव, विचार, रस में पूर्णतया डूब जाये। यह आदर्श स्थिति है; पर उससे निकटतम स्थिति प्राप्त करना पाठक का ध्येय होना चाहिए।

अब मैं कुछ ऐसी बातों पर प्रकाश डालना चाहता हूँ जिनसे ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सके।

भाषा कविता की सीमा है। जिस भाषा में कविता लिखी गयी है उसका ज्ञान होना आवश्यक है। पर कविता में भाषा का विशिष्ट प्रयोग होता है। पाठक को कविता का सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ जानना चाहिए। यदि सम्भव हो तो उसके यथा-ग्राह्य सौन्दर्य से भी परिचित होना चाहिए। शेली की 'वेस्ट विण्ड' कविता मैंने बहुत बार सस्वर पढ़ी, औरों से भी सुनी थी, पर जब मैंने उसे आई. ए. रिचर्ड्स के मुख से सुना तब उसमें जो जीवन्तता अनुभव की, वह पहले कभी न की थी।* कारण स्पष्ट था; उन्होंने उस कविता को जिस मार्मिकता से समझा था, उसके सौन्दर्य को जिस गहराई से ग्रहण किया था, वह सब उनके काव्य-पाठ में प्रतिबिम्बित हो उठी थी। रट-रटाकर कोई ऐसी कविता भी सुनायी जा सकती है, जिसका अर्थ हम बिल्कुल न समझते हों, जिसके सौन्दर्य से हम नितान्त अछूते हों, पर ऐसा कविता-पाठ निर्जीव लगेगा। अर्थ और भाव और सौन्दर्यानुभूति से जो हमारी ध्वनि में कम्पन होता है, जो हमारे मुख की मुद्राएँ बदलती हैं, जो हमारे अंगों में भंगिमाएँ निरूपित होती हैं उनका उसमें सर्वथा अभाव रहेगा। इसलिए पाठक को यह जानना चाहिए कि वह जो कह रहा है वह क्या है, कैसा है।

जैसे हमारी बातचीत में, वैसे काव्य में भी शब्द तो माध्यम भर हैं। मुख्यता होती है उन भाव, विचारों, सन्दर्भों की जिन्हें व्यक्त, जाग्रत अथवा संकेतित करने

* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के युगान्तकारी समालोचक आई. ए. रिचर्ड्स '54-55 के सत्र में इलाहाबाद युनिवर्सिटी में आये थे।

के लिए हम अर्थ-ध्वनि समन्वित शब्दों का उपयोग करते हैं। कविता-पाठ में भी निरन्तर हमारा ध्यान उन भाव, विचारों, सन्दर्भों पर ही केन्द्रित रहना चाहिए। पर कवि के भाव, विचारों, सन्दर्भों से एकात्म रहते हुए भी हमें उन्हीं शब्दों का उपयोग करना है जो कवि ने किये हैं; सच्चाई तो यह है कि उन्हीं शब्दों से, उसी के शब्द क्रम से वे पूर्णतया उजागर होते हैं। क्रम का महत्त्व बताने के लिए हम एक उदाहरण देंगे। शेली की पंक्ति है,

When the hearts have mingled.
Love first leaves the well-built nest,

अब ज़रा दो शब्दों का क्रम बदल दीजिए,

When the hearts have mingled
First Love leaves the well-built nest.

अंग्रेज़ी के मर्म को समझनेवाले देखेंगे कि इस तनिक से क्रम-परिवर्तन से कविता के भाव-विचार में कितना अन्तर आ गया है।

ऐसी स्थिति न आने देने के लिए सबसे पहली आवश्यकता है कि जिस कविता का पाठ हमें करना है, वह हमें पूरी तरह याद हो। इसका सबसे अच्छा उदाहरण रंगमंच पर मिलता है। जिन अभिनेताओं को अपना पार्ट याद रहता है उनका अभिनय अधिक सजीव और स्वाभाविक होता है। जिन्हें याद नहीं रहता वे रंग-मंच पर खोये-खोये-से रहते हैं; उनका आधा ध्यान 'प्राम्पटर' के संकेत पर लगा रहता है; और सफल अभिनय पूर्णता माँगता है। जो बात अभिनय के लिए ठीक है वही बात कविता के लिए भी ठीक है। थोड़ी देर के लिए हम स्वयं कवि की भूमिका में उतरकर उसी के समान बोलते हैं, अपने को व्यक्त करते हैं। जब शब्द हमें इतने याद रहें कि वे अपने आप जिह्वा पर आते जायें तब भावों-विचारों पर अपने को केन्द्रित करना सरल हो जाता है।

उच्चारण का सम्बन्ध तो भाषा की शिक्षा से है; फिर भी कविता-पाठ में उनके दो पहलुओं पर ध्यान दिला देना चाहिए—एक है उच्चारण की शुद्धता; दूसरा है भावानुरूपता। कुछ भाषाओं के साथ उच्चारण की कठिनता अधिक होती है, जैसे अंग्रेज़ी के साथ। हिन्दी फ़ोनेटिक अर्थात् ध्वन्यात्मक भाषा है। वह जैसी लिखी जाती है वैसी ही पढ़ी जाती है। इस कारण उसके साथ उच्चारण की कठिनाई अधिक नहीं है। फिर भी लोग कभी प्रान्तीयता, कभी अनभ्यास, कभी लापरवाही के कारण हिन्दी शब्दों के उच्चारण में ग़लतियाँ करते हैं। उदाहरणार्थ पंजाबी प्रायः दो व्यंजनों को, जो अलग हैं, जोड़कर बोलते हैं; या जो जुड़े हैं उन्हें अलग कर देते हैं। पंक्ति है, 'न्याय खड्ग उसकी गर्दन पर लटक रहा है।' उसे प्रायः यों पढ़ा जायेगा, 'न्याय **खड़ग** उसकी गर्दन पर **लट्क** रहा है।' कुछ लोग लापरवाही से 'आशा' को 'आसा' कह देंगे। कुछ लोग नाक की कुछ त्रुटि से बहुत-से ऐसे शब्दों को सानुनासिक कर देंगे जो ऐसे नहीं हैं। ये ऐसी भूलें नहीं जिनका सरलता से सुधार न हो सके। भाषा कोई भी हो, उच्चारण की शुद्धता आवश्यक है, विशेषकर जब हम भाषा के उत्कृष्टतम रूप कविता का पाठ कर रहे हों।

भावानुरूपता अधिक सूक्ष्म विषय है। 'कमल' शब्द कहते हुए उसकी कोमलता का अनुभव हम करते हैं या नहीं; 'वज्र' शब्द कहते हुए उसकी कठिनता की अनुभूति हमें होती है या नहीं? इसी प्रकार के अनेक शब्द हैं जो अपने सन्दर्भ में एक सूक्ष्म भाव छिपाये है। स्वाभाविक तो यही होना चाहिए कि उनका उच्चारण करते ही केवल अर्थ से ही नहीं, ध्वनि से भी उनमें निहित भाव व्यक्त हो जायें। इसके

प्रति थोड़ा सचेत होने पर वाणी का सौन्दर्य अधिक बढ़ जायेगा। पर सचेतता को अस्वाभाविकता या कृत्रिमता की सीमा तक न जाना चाहिए। संक्षेप में कहना चाहूँगा कि कोई भी शब्द अपनी भावानुरूपता तभी व्यक्त करता है जब वह उच्चारणकर्ता के पूर्ण व्यक्तित्व से जिया जाता है। यदि आपको किसी ऐसे व्यक्ति से बात करने का अवसर मिला हो जो बात तो आपसे कर रहा हो, पर उसका ध्यान कहीं और हो तो उसका शब्द पूर्णतया जिया नहीं लग सकता। वह शब्द तो बोलता है, पर ध्वनि में, कम्पन में, शब्द को पूर्ण अर्थवत्ता नहीं दे पाता। ऐसी मन:स्थिति से यदि कविता-पाठ भी किया जाये तो पूर्णतया सजीव नहीं लग सकता। कविता-पाठ में तो प्रत्येक शब्द के जिये जाने की आवश्यकता है। अच्छी कविता में प्रत्येक शब्द का अनिवार्य स्थान होता है।

कविता-पाठ के सम्बन्ध में एक प्रश्न प्राय: पूछा जाता है कि कविता को गाकर पढ़ना चाहिए या साधारण गद्य की तरह। कविता का संगीत से पृथक व्यक्तित्व है यह तो मानी हुई बात है। संगीत में ध्वनि ही प्रधान है। कविता अर्थ को नहीं छोड़ सकती। कविता के साथ उतना ही संगीत निभ सकता है जितने से उसका अर्थ स्पष्ट रह सके और उसकी ध्वनियों को पूरा प्रकाश मिल सके। कविता का अपना भी ध्वनि सौन्दर्य होता है, और उसके द्वारा वह बिना संगीत की सहायता के भी प्रभावकारी हो सकती है। छन्दबद्ध कविताओं, विशेषकर गीतों में संगीत की सीमित सहायता वर्जित नहीं होनी चाहिए। मेरा ऐसा ध्यान है कि इससे गीत अपना भाव अधिक सफलता से व्यक्त कर सकता है। अच्छा गीत यदि केवल गद्य की तरह पढ़ भी दिया जाये तो अप्रभावकारी नहीं रह सकता। कुछ कविताएँ तो लयात्मक ढंग से पढ़ने के लिए ही लिखी जाती हैं। उन्हें गाने का प्रयत्न करना उपहासास्पद होगा। गाने से वे अपनी गतिमयता, तीव्रता, गम्भीरता गँवा देंगी।

प्रतिभा कुछ अपवाद भी प्रस्तुत करती है। अंग्रेज़ी में कविता को गाने की प्रथा नहीं है; कभी थी भी तो अब भुला दी गयी है। पर प्रसिद्ध आइरिश कवि विलियम बटलर ईट्स कविताओं को गाने के आग्रही थे। उनका कहना था कि कविता गद्य नहीं है, कविता पढ़ने में उसे गद्य होने का आभास भी नहीं देना चाहिए, वे कविता को incantation—मन्त्र—मानते थे। वे अपनी हर कविता को लयात्मक ढंग से गुनगुनाते थे। उनका कहना था कि ऐसी lilt या लय के साथ ही कविता साधारण गद्य के वातावरण से ऊपर उठ जाती है और श्रोता को उसे कविता की तरह, यानी मन्त्र की तरह, स्वीकार करने को तैयार करती है। उनकी बात में बहुत कुछ सच्चाई है, पर साथ ही कविता को मन्त्र होने की भी ज़रूरत है और ईट्स की कविता अपनी ऊँचाइयों पर मन्त्र ही है। इसे सिद्ध करने को विस्तार में जाना पड़ेगा जो यहाँ अप्रासंगिक होगा।

अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि अपवादों से नियम सिद्ध होते हैं। मैं हर कविता को लय के साथ गुनगुनाने या गाने के पक्ष में नहीं। जहाँ हमें कवि से ही सहायता न मिलती हो वहाँ सुरुचिपूर्ण और विवेकवान व्यक्तियों के प्रयोगों से इस बात का पता चल सकता है कि कौन कविता किस प्रकार पढ़ने से अधिक प्रभावकारी होगी। साथ ही यह भी आवश्यक नहीं कि कवि अपनी कविता का सबसे अच्छा पाठक भी हो। यदि कवि का कण्ठ सधा और स्वर अच्छा हो तो निश्चय ही अपनी कविता को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करना औरों की अपेक्षा उसके लिए अधिक सहज होना चाहिए।

दो शब्द मैं कविता-पाठ करते समय की मुख-मुद्रा और अंग-भंगिमा के सम्बन्ध

में भी कहना चाहूँगा। हम सब लोग बातचीत करते हुए प्रसंगानुसार मुख-मुद्राएँ बनाते हैं या अपने अंगों का संचालन करते हैं, भले ही हम उनके प्रति सचेत न हों। इनसे हमारी बातचीत में एक प्रकार की सजीवता आती है। यदि मूर्ति की तरह सुस्थिर रहकर हम लोग बोलें तो कैसा अजीब लगेगा। साथ ही हमारी बात की अर्थवत्ता और प्रभाव में भी न्यूनता आयेगी। कविता-पाठ में भी यदि अर्थवत्ता और प्रभाव को बनाये रखना है तो मुखमुद्रा और अंग-भंगिमा का उपयोग करना पड़ेगा। परन्तु इन्हें स्वाभाविक होना चाहिए। कुछ लोग कविता में आये हर भाव को मुख-मुद्रा अथवा अंग-भंगिमा से प्रदर्शित करना चाहते हैं। इनसे अति नाटकीयता प्रकट होती है जो प्रभावकारी होने के स्थान पर उपहासास्पद हो जाती है। मूल सिद्धान्त यही है कि कविता के भाव-विचार से तन्मय हो जायँ और उस समय जो भी मुद्राएँ-भंगिमाएँ स्वाभाविक रूप से बनती हैं उन्हें बनने दें। कविता-पाठ अभिनय नहीं है, हालाँकि अभिनय में भी अब स्वाभाविकता को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है।

अन्त में यह जान लेना चाहिए कि कविता-पाठ की कला एक-तरफ़ी नहीं है। जब आप कविता पढ़ते हैं तब कोई कविता का श्रोता भी होता है। कविता-पाठ की चरम सफलता तो यही है कि वह श्रोता-वर्ग को आकर्षित कर ले, मोह ले, मुग्ध कर दे, पर इसके लिए श्रोता को भी responsive होना होगा। यानी काव्य-पाठ के श्रोता पढ़े-लिखे हों, काव्य-प्रेमी हों, कविता के पारखी हों। कहावत प्रसिद्ध है, 'भैंस के आगे बीन बाजै भैंस ठाढ़ पगुराय।' अगर भैंस ही श्रोता हो तो बीनवादक की कला क्या करिश्मा दिखायेगी! मैं तो बीनवादक की कला का एक अंग इसे भी मानूँगा कि वह श्रोता को देखते ही पहचान ले कि वह उसकी कला को appre-ciat कर सकेगा कि नहीं। नहीं कर सकता तो उसे साहसपूर्वक उसके सामने अपनी कला का प्रदर्शन करने से इन्कार कर देना चाहिए। 'अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरषि मा लिख, मा लिख, मा लिख' मुझे तो दुर्बल की पुकार मालूम होती है।

हिन्दी कविता की प्रारम्भिक मंज़िलें*

[सरहपाद से तुलसीदास तक]

परम पुरातन है हमारा देश,
अज्ञात अतीत में है
हमारी संस्कृति का मूल,
कला, संगीत, साहित्य,
न जाने कितनी बार,
नये-नये रूप धार,
उभरे हैं, बढ़े हैं,
परवान चढ़े हैं
कि उन्हें इतिहास भी गया है भूल।

---

* 1964-1973

अब भी एक नया उन्मेष
वदल रहा है हमारे देश का वेश—

—बुद्ध और नाचघर

हमारा देश बहुत प्राचीन है। हमारी सभ्यता-संस्कृति, हमारे धर्म-दर्शन, साहित्य-काव्य का इतिहास बहुत लम्बा, उतार-चढ़ाव भरा, बहुत घेर-घुमावदार, परन्तु निरन्तर गतिवान रहा है। वेदों का मन्त्रोद्‌घोष करते हुए आर्यों के जो दल इस देश में आये थे, यदि वे आज हमारी हिन्दी सुनते तो अवश्य ही उन्हें उसे समझने में कठिनाई होती। भाषा भी समय के साथ प्रगति करती, बदलती, नये-नये रूप धारण करती है। वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्रादेशिक भाषाएँ—राजस्थानी, ब्रज, अवधी आदि—खड़ी बोली, उर्दू-हिन्दी, क्रमानुसार उसी प्रगति की मंज़िलें हैं, जिन्हें हम इनमें रचित प्राप्त साहित्य के द्वारा आज भी पहचान सकते हैं।

हिन्दी का क्षेत्र, मोटे तौर पर, पच्छिम में राजस्थानी से लेकर पूर्व में भोज-पुरी तक का क्षेत्र है, उत्तर में पहाड़ी से लेकर दक्षिण में मालवी-छत्तीसगढ़ी तक का। दो बातें इस भाषा-क्षेत्र के सम्बन्ध में समझ लेनी चाहिए—भारत के भाषा-क्षेत्रों में यह सबसे बड़ा है; और इसके सीमान्त जितने भाषा-क्षेत्रों को छूते हैं उतने भारत की और किसी भाषा के नहीं। पूरब में यह बंगला-उड़िया क्षेत्र को छूता है, पच्छिम में सिन्धी-गुजराती को; उत्तर में नेपाली, डोगरी, पंजाबी को और दक्षिण में मराठी को। भाषा-लिपि की दृष्टि से यह क्षेत्र और बड़ा हो जाता है क्योंकि डोगरी, नेपाली और मराठी की लिपि वही देवनागरी है जो हिन्दी की।

जिस हिन्दी को हम आज बोलते-लिखते हैं उसका उद्‌भव होना लगभग किस समय से आरम्भ हुआ, इसका निर्णय करने के लिए हमें अतीत के साहित्य की ओर जाना होगा। जहाँ तक जाकर हमें अपनी वर्तमान भाषा से मिलता-जुलता रूप मिले, जिसे हम सहज ही समझ सकें वहीं से, मोटे तौर पर, हमें अपनी भाषा का समारम्भ मान लेना चाहिए।

भारत धर्म-प्राण देश है। धर्म इस देश की मानसिक प्रगति का सबसे प्रबल स्फूर्ति-केन्द्र रहा है। भाषा की प्रगति के लिए भी हमें धर्म की ओर देखना होगा। वैदिक धर्म के पतन की प्रतिक्रिया में जैन-बौद्ध धर्म का उत्थान हुआ। मेरे विचार में भारतीय चिन्तन में जैन-बौद्ध का सबसे बड़ा योगदान यह है कि इसने आर्य मानस को रूढ़ि की कारा से मुक्त कर शोध और प्रयोग के क्षेत्र में छोड़ दिया। कालान्तर में दोनों का विविध रूपों में विभाजित-विखण्डित हो जाना स्वाभाविक था—कतिपय विशिष्ट कारणों से जैन धर्म कम विखण्डित हुआ, बौद्ध धर्म तो एक समय इस देश से ही ग़ायब हो गया।

बौद्ध धर्म रूढ़ हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया महायान में हुई—हीनयान रूढ़ि के मठ में पैठा तो महायान शोध-प्रयोग के जीवन-क्षेत्र में विचरा। फिर तो कई यान आगे आये—मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान आदि। जीवन की सबल-स्वाभाविक माँगें सब धर्मों के नीति-नियमों के लिए गहरी चुनौतियाँ रही हैं। इस चुनौती को महायानी सरहपाद (ईसवी आठवीं सदी) ने जिस वीरता और साहस के साथ स्वीकार किया वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है। उनके अनुसार धर्म वह है जो सहज जीवन के प्रतिकूल नहीं जाता। सहजयान के संस्थापक सिद्ध सरहपाद ने सहज जीवन के साथ, स्वाभाविक ही, सहज भाषा भी अपनायी। सरहपाद केवल भाषा के ही कारण नहीं, अपने मौलिक विचार और क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के

कारण भी हमारी हिन्दी के आदिकवि माने जा सकते हैं। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए :

विसअ रमन्त ण विसअहिं लिप्पइ
उअअ हरन्त ण पाणी च्छुप्पइ।

अर्थात्, विषयों में रमता हुआ भी विषयों में लिप्त न हो; उदक (पानी) आहरण करते हुए (लाते हुए) भी पानी न छुए।

जग उपपाअणो दुक्खबहु उप्पण्णाउ तहिं सुह सार।

अर्थात्, जग में उत्पन्न होने से बहुत दुःख है, वहीं उत्पन्न होना सुख-सार भी है। (बुद्ध के 'सब्बा दुःखा' से हम कितनी दूर चले आये हैं!)

जइ जग पूरिअ सहजानन्दे
णाचहु गाअहु विलसहु चंगे।

अर्थात्, यह जग सहज आनन्द से पूरित है; नाचो, गाओ, अच्छी तरह बिलसो।

और बारह शताब्दियों के बाद जब हम सुमित्रानन्दन पन्त की ये पंक्तियाँ पढ़ते हैं,

मत हो विरक्त जीवन से,
अनुरक्त न हो जीवन पर। —**ज्योत्स्ना**

× ×

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से। —**गुंजन**

× ×

विश्व आनन्द भरा है। —**वाणी**

तब हमें आभास होता है कि इनमें सरहपाद की ध्वनियाँ ही नहीं, विचारधारा भी प्रतिध्वनित हो रही हैं। वर्तमान हिन्दी बड़े सूक्ष्म तन्तुओं से अपने अतीत से जुड़ी हुई है।

इसके बाद 400 वर्षों तक हिन्दी कविता सिद्धों, नाथों, जोगियों, साधुओं के पीठों, मठों, आश्रमों में पलती रही, कागद-मसि न छूनेवाले गुरुओं के मुख से निकलती, चेलों की स्मृति में समाती, परिवर्तित-विकृत होकर प्रतिध्वनित होती, विलीन होती। गोरखनाथ की वाणी शायद किसी रूप में सुरक्षित है; ओज-हीन नहीं है।

इसी अवधि में हिन्दी कविता की वृद्धि और विकास के अपर केन्द्र भी स्थापित हो रहे थे। सम्राट् हर्षवर्द्धन (सातवीं सदी) के पश्चात् देश छोटे-छोटे बहुसंख्य राज्यों, उपराज्यों में विभक्त होने लगा। बारहवीं शताब्दी तक इनमें परस्पर स्पर्धा-ईर्ष्या-द्वेष-जन्य युद्ध ही नहीं होने लगे थे, बाहर से इन पर मुसल्मानों के आक्रमण भी शुरू हो गये थे। पहला आक्रमण तो आठवीं सदी के आरम्भ में ही हो चुका था। भीरु जनता ने राजाओं को समाज का केन्द्र बना लिया और उन्हीं की दृढ़ता में अपनी सुरक्षा देखने लगी। राजा राजनीतिक प्रमुख ही न था वह धर्म, संस्कृति, कला, संगीत, साहित्य का संरक्षक भी था। इस कारण विद्वान, गायक, कवि, गुणी, शिल्पी—सब राजा की छत्रछाया में एकत्र होने लगे। इस युग के राज्याश्रयी सांस्कृतिक अवदान अनेक रूपों में आज भी देखे जा सकते हैं। फिर भी ऐसे अवदानों के, विशेषकर साहित्यिक अवदान के, लोकाश्रयी केन्द्र भी निश्चय होंगे।

इसी युग में भाषा ने क्रमशः बदलकर अपभ्रंश से हिन्दी का रूप लिया।

साहित्यिक अभिव्यक्ति, जो मुख्यतः पद्य के रूप में थी, अपनी परम्परा अपभ्रंश से लायी। चौदहवीं सदी के अन्त तक बहुत-से 'रासक' अथवा 'रासो' लिखे गये। रासो परम्परा में चन्द बरदाई रचित 'पृथ्वीराज रासो' और जगनिक रचित 'आल्ह खण्ड' सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

रासो जिस रूप में प्राप्य है वह मौलिक है अथवा नहीं, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। फिर भी इसकी भाषा इतनी पुरानी, अपभ्रंश के इतनी निकट, हमारी भाषा से इतनी दूर है कि हम उसे सरलता से नहीं समझ सकते। 'आल्ह खण्ड' की भाषा अपने मौलिक रूप में 'रासो' की भाषा के निकट होगी, परन्तु जनता उसे देश-काल के अनुसार बदलती आयी है। वह आज जिस रूप में उत्तर भारत के गाँवों में गाया जाता है, अपढ़ों के लिए भी सहज बोधगम्य है। इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों ग्रन्थ मध्य-युगीन आन-बान-शान, मान-मर्यादा, जीवन-पद्धति, आदर्श-संघर्ष की एक बड़ी सजीव झाँकी अपने अन्दर सँजोये हैं।

जबकि पच्छिम के राजदरबारों में युग-परिस्थिति वश शृंगार से अधिक ओज का स्वर मुखर हो रहा था, पूर्व के, यवन-आक्रमण क्षेत्र से दूर के, एक राज्य में बैठा एक कवि शृंगार के स्वर में अधिक रस-माधुर्य घोल रहा था। मेरा संकेत मिथिला के भूप सिव सिंह और उनकी रानी लखिमा के दरबार के कवि विद्यापति की ओर है (चौदहवीं सदी)। उन दिनों मिथिला शिक्षा, विद्या, कला की केन्द्र थी और भारत में चलनेवाली सांस्कृतिक हलचलों से पूर्णतया परिचित। वैदिक धर्म बौद्ध धर्म की टक्कर खा परिवर्तन की आवश्यकता से अवगत हो गया था। वह क्रमशः पौराणिक धर्म, गुप्त काल के वैष्णव धर्म, शंकर (नवीं सदी) के अद्वैतवाद, रामानुज (बारहवीं सदी) के भक्ति सम्प्रदाय में बदलता हुआ जन-जीवन में अधिकाधिक सक्रिय हो रहा था। उधर सहजयान वामाचार, हठयोग, तन्त्रवाद का रूप ले, पौराणिक धर्म से सहयोग कर शैव-शाक्त सम्प्रदाय में अवतरित हो रहा था। मिथिला इन सब प्रभावों को आत्मसात् कर रही थी। मैथिल ब्राह्मण के मस्तक पर चन्दन, रोली, भस्म, वैष्णव, शाक्त, शैव सम्प्रदाय के चिह्न एक साथ आज भी देखे जा सकते हैं। विद्यापति के बारे में प्रायः यह विवाद उठता है कि वे शैव थे कि वैष्णव। उस युग में दोनों एक साथ होने में कोई विरोध न देखा जाता होगा। रूढ़ियाँ बाद को बनी होंगी।

कुल मिलाकर हम विद्यापति को शृंगारी कवि कह सकते हैं। भक्ति भावना यदि उनमें है तो उसे वे मानवी स्तर पर उतार लाते हैं। मैंने लिखा था,

> थे न कबीर न सूर न तुलसी और न थी जब बावरि मीरा,
> तब तुमने ही मुखरित की थी मानव के मानस की पीरा।
>
> —**आरती और अंगारे**

भाषा की क्षमता सरहपाद ने भले ही मानी हो, भाषा का ओज रासो-कवियों ने भले ही जाना हो, भाषा की मिठास का स्वाद सबसे पहले विद्यापति की जिह्वा ने ही जाना—'देसिल बयना सब जन मिट्ठा'। विद्यापति हमारे सर्वप्रथम परिष्कृत गीतकार हैं। संस्कृत के ध्वनि-माधुर्य के कवि जयदेव को वे पूरी तरह भाषा में उतार देते हैं। उन्हें 'अभिनव जयदेव' कहा भी जाता था। मार्मिकता और भावों की गहराई में वे जयदेव और रासो-काल के शृंगारी कवियों से कहीं आगे हैं,

> आकुल कए गये हमर परान,
>
> × ×

जनम अवधि हम्ह रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल,

× ×

सकल सरीर कुसुम तुअ सिरजल
हिय तुअ किहल पषाने।

'देसिल बयना' के द्वारा मानव भावनाओं को इतनी सूक्ष्मता से सबसे पहले विद्यापति ने ही छुआ।

इन्हीं सदियों में हिन्दी कविता का एक तीसरे प्रकार का केन्द्र स्थापित हो रहा था। यह न साधुओं के जमात-अखाड़ों में था और न राजदरबारों में; यह था साधारण जन-जीवन के कार्य-कलाप, आमोद-प्रमोद और चहल-पहल के बीच। इसमें न सिद्ध-साधकों की अर्थ-गूढ़ता थी, न भाट-चारणों की शब्दाडम्बरी, न श्रृंगारी गायकों की रस-मधुरता; इसमें थी जीवन की सहज-सरल स्वाभाविकता।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के मुस्लिम आक्रमणों के फलस्वरूप प्रायः सारा उत्तर भारत उनके अधीन हो गया था। सल्तनत की राजधानी दिल्ली में अवश्य ही मुसल्मान और हिन्दू जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में साथ हुए होंगे, और एक दूसरे की भाषा को समझने की आवश्यकता हुई होगी। तेरहवीं सदी का पद्य-बद्ध फ़ारसी-हिन्दी कोश 'खालिकबारी' इसी ओर संकेत करता है। कहते हैं उसके रचनाकार अमीर ख़ुसरू थे। ख़ुसरू बहुमुखी प्रतिभा के आदमी थे, विशेषकर फ़ारसी के उच्च-कोटि के कवि और संगीतकार। उन्होंने फ़ारसी-हिन्दी की मिली-जुली रचना भी की थी;

'ज़े हाल मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना बनाय बतियाँ
जो मैं न अपने पिया को देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ॥'

हिन्दू राजदरबारी श्रृंगारी कवियों की परम्परा में भी लिखा—उसमें फ़ारसी सूफ़ीवाद का पुट देकर,

ख़ुसरू रैन सुहाग की सोयी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को दोनों भये एक रंग॥

× × ×

गोरी सोवत सेज पर मुख पर डारे केस
चल ख़ुसरू घर आपने रैन भई यह देस।

कहते हैं यह दोहा ख़ुसरू ने अपने गुरु निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु पर कहा था और इसके साथ ही स्वयं मृत्यु की गोद में सो गये थे।*

लेकिन अपनी जिन रचनाओं के कारण वे घर-घर पहुँच गये, वे थीं कुछ कहमुकरियाँ, पहेलियाँ और दो-सखुने जो किसी न किसी रूप में आज तक

---

* और छह सौ बरसों बाद हिन्दी का एक कवि एक गीत लिखते हुए इस दोहे को प्रतिध्वनित करने को विवश हो गया :

सो न सकूँगा, और न तुझको सोने दूँगा, हे मन-बीने !
इसीलिए क्या तुझ से मैंने साँसों के सम्बन्ध बनाये,
मैं रह-रहकर करवट लूँ, तू मुख पर डाल केश सो जाये,
रात अँधेरी, जग जा गोरी माफ़ आज की हो बरजोरी;
सो न सकूँगा और न तुझको सोने दूँगा, हे मन-बीने !

प्रचलित हैं :

खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता,
क्या सखि साजन नहिं सखि कुत्ता।

× ×

लाखों का सिर काट लिया
ना मारा ना ख़ून किया। (नाख़ून)

× ×

घोड़ा अड़ा क्यों ?
पान सड़ा क्यों ? (फेरा न था)

× ×

हरी थी, रस-भरी थी
हीरा-मोती जड़ी थी,
बाबाजी के बाग में दुशाला ओढ़े खड़ी थी। (भुट्टा)

यहाँ तक कि असंगत, कवित्वहीन, हास्यास्पद पंक्तियाँ भी,

खीर पकाई जतन से, चर्ख़ा दिया चला,
कुत्ता आया खा गया, (तू) बैठी ढोल बजा,
ला पानी पिला।

ख़ुसरू ने 'भाखा' और 'बयना' को हिन्दी नाम दिया (हिन्दी बोलते आरसी आये। मुँह देखे जो उसे बताये), और वे उस 'हिन्दवी' के संस्थापक भी बने जिसने आगे चलकर उर्दू नाम और फ़ारसी संस्कृति प्रेरित संकीर्ण मनोवृत्ति अपनायी, भारतीय संस्कृति से प्रयत्नपूर्वक अलग रही और मुख्यत: मुसल्मानों की वाणी बनी। 'बाबाए उर्दू' सर अब्दुल क़ादिर ने तो यहाँ तक कहा कि पाकिस्तान न जिना ने बनाया, न इक़बाल ने; पाकिस्तान बनाया उर्दू ने !

नव धर्म-संगठित एवं भारतीय-सम्पत्ति-लोलुप मुस्लिम आक्रमणकारियों और पारस्परिक विद्वेष-विभक्त, असंगठित हिन्दू राज्यों के बीच जो संघर्ष दो सौ वर्षों तक चला उसमें हिन्दू पराजित हुए, हिन्दू-राज्य, राजदरबार संस्कृति-कला-साहित्य केन्द्र—नष्ट हो गये; हिन्दू मन्दिर लूटे-तोड़े गये। कुछ समय की स्तब्धता स्वाभाविक थी। इसके बाद हिन्दू मनीषा ने परिस्थिति को समझने का प्रयत्न किया होगा। नि:संशय पददलित और अपमानित हिन्दुओं ने भौतिक उन्नति के सारे मार्ग अवरुद्ध देख भगवान का आश्रय लेना ठीक समझा होगा। पर भगवान को पाते कहाँ ! पूजा-उपासना के सामूहिक केन्द्र मन्दिर-देवालय ईंट-पत्थर के ढेर हो गये थे अथवा मस्जिद, ईदगाहों, मक़बरों, शाह-सुल्तानों के महलों में परिवर्तित हो गये थे। पौराणिक अथवा ब्राह्मण धर्म जिन सामाजिक संस्थाओं, बाह्य साधनों और आन्तरिक विश्वासों पर आधारित था वे आमूल हिल गये थे। इस्लामी हमलों के समय न हिन्दुत्व लोगों को एक कर सका था, न उन्हें सशक्त बना सका था, न कोई चमत्कार दिखा सका था और न अब उन्हें सान्त्वना देने में समर्थ हो रहा था। हिन्दुत्व अंग-प्रत्यंग घायल होकर धराशायी हो गया था, पर मरा नहीं था—घुट्टी तो वह अमरता की पीकर आया है। इस समय अवश्य वह किंकर्तव्यविमूढ़ और निश्चेष्ट होकर पड़ा था।

ऐसे गाढ़े समय में काम आये सिद्धों, नाथों, जोगियों के मठ-पीठ-आश्रम जो देश भर में फैले थे और जो इस्लामी आक्रमण से अप्रभावित रहे थे। वहाँ न जलाने के लिए पोथियाँ थीं और न तोड़ने के लिए मूर्तियाँ। वहाँ लूटने के लिए धूनियों की

राख और ढहाने के लिए झोपड़ियों के टट्टर के अतिरिक्त और क्या था। हमलावर इन पर अपना जोश-ख़रोश नहीं ख़र्च करना चाहते थे। साथ ही शोध-प्रयोग की परम्परा में होने के कारण वे किसी प्रकार की संकीर्ण रूढ़ि-रीति से आबद्ध नहीं थे और हर तरह के सिद्धान्त-विचार को समझने, परखने और आत्मसात् करने के लिए तैयार थे—इस्लाम तलवार, कुदाल ही नहीं था, क़ुरान, कलमा, रसूल, ज़कात, नमाज भी था। बाहर से आनेवाले मुसल्मानों में ग़ज़नवी, गोरी, बख़्तियार जैसे खड्गधर योद्धा ही नहीं थे; मुईनुद्दीन चिश्ती, निज़ामुद्दीन औलिया, गेसू दराज़ जैसे तसबीहधारी फ़कीर भी थे जिनकी मानवता मोमिन और काफ़िर के बीच भेद-भाव रखना न जानती थी। फिर युद्ध, विरोध, घृणा का बुख़ार किसी भी जाति पर सदा के लिए चढ़ा नहीं रह सकता। नये के साथ पुराने का समन्वय कर लेना हिन्दुओं की बड़ी ही स्वस्थ विशेषता है। इन्हीं जोगियों, सिद्धों, सन्तों के बीच इस्लाम के उपयोगी, लाभकारी और अच्छे तत्त्वों को हिन्दुत्व में सम्मिलित कर लेने की आवश्यकता का अनुभव किया गया, उनका प्रयोग किया गया और बाद को जन-साधारण में उनका प्रचार किया गया। इस युग के प्रायः सभी सन्त एक ईश्वर की आराधना (साहब मेरा एक है—ला इलाह इल्लिल्लाह), गुरु का सम्मान (गुरु-गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पायँ—इस्लाम में रसूल के सम्मान का प्रतिरूप), मूर्तिपूजा की अनावश्यकता (पाथर पूजे हरि मिलैं तो मैं पूजौं पहार), जात-पाँत की उपेक्षा (जात-पाँत पूछै ना कोय, हरि को भजै सो हरि का होय), कर्मकाण्ड के प्रति उदासीनता (मन चंगा तो कठौती में गंगा; मनका फेरत जुग गया फिरा न मन का फेर) और सर्वमान्य नैतिक गुणों पर बल देते हैं (तेरे दया-धरम नहिं तन में, मुखड़ा क्या देखे दरपन में)। हिन्दुत्व ने इस्लाम के साथ मैत्री करने के लिए बड़ा लम्बा हाथ बढ़ाया था, गो उसका एक विशिष्ट वर्ग आक्रमणकारी से निरन्तर असहयोग करता रहा—कई ऐतिहासिक आन्दोलन, संगठन, संघ इसके साक्षी हैं। इन सन्तों में जो उभरकर ऊपर आये उनमें नानक, नामदेव, रामानन्द (कबीर ने जिन्हें अपना गुरु माना था) के नाम प्रसिद्ध हैं।

एक बात विशेष ध्यान देने की है कि ये सबके सब सन्त जग-जीवन से विरक्ति का उपदेश देते हैं, जो इस्लाम में नहीं थी। इसकी जड़ें तो बुद्ध के सब्बा दुःखा में थीं; शंकराचार्य ने बुद्ध की नास्तिकता की प्रतिक्रिया में, ब्रह्म को सत्य सिद्ध करने के प्रयत्न में जगत को मिथ्या भी सिद्ध कर दिया था, फिर मुसल्मान आक्रमण-कारियों के हाथों हिन्दुओं की करारी हार ने भी उनमें हीन भावना जगा, अथवा उन्हें कुण्ठाग्रस्त कर जग-जीवन के प्रति विरक्त और उदासीन कर दिया था—'दुनिया मुक़ाम फ़ानी' (नानक), 'यह संसार कागद की पुड़िया' (कबीर)। सिद्ध सरहपाद को, जिन्होंने कहा था, 'जइ जग पूरिअ सहजानन्दे', हम कितना पीछे छोड़ आये हैं।

इस काल के सबसे बड़े और प्रतिनिधि कवि कबीर हैं। कबीर ने शायद अपने को कवि कहीं नहीं कहा, उन्होंने अपने को पैग़म्बर, नबी घोषित किया, धरती पर ईश्वर का सन्देश लेकर आनेवाला—'दास कबीर लै आएँ सँदेसवा।' कबीर से अधिक भाव-प्रवण, जटिल, निर्भीक, अक्खड़ और आकर्षक व्यक्तित्व भारतीय साहित्य के इतिहास में कम ही हुए हैं। उनके युग-समाज के मानस की कोई भी चेतना ऐसी नहीं है जो उनकी वाणी से प्रतिध्वनित नहीं होती, और कबीर निरक्षर थे—'कागद मसि छूओ नहीं'—हज़रत मुहम्मद की तरह। उनकी सहज ग्राहिका शक्ति कितनी प्रबल रही होगी, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। कहाँ-कहाँ के सूत्रों को पकड़कर उन्होंने अपने विचारों और भावों का ताना फैलाया

था तथा अपनी प्रतिभा के बाने से बीनकर वाणी की झीनी चादर तैयार की थी। वास्तव में वह चादर झीनी नहीं गफ़ थी, ठोंक-ठोंककर बीनी गयी थी।

उनके मुख से इस्लाम के विरुद्ध हिन्दुत्व का आक्रोश भी व्यक्त हुआ (मस्जिद ऊपर मुला पुकारै क्या साहब तेरा बहरा है; जो खोदाय महजीद बसत हैं और मुलुक केहि केरा; जो तुम तुरुक-तुरुकिनी जाए पेटहि काहे न सुनत कराये; खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करै सगाई; दिन को रोजा रखत हो रात भखत हो गाय आदि), हिन्दुत्व की निर्भय आलोचना भी व्यक्त हुई (चारि भुजा के भजन में भूलि परे सब सन्त, कबिरा सुमिरै ताहि को जेहि की भुजा अनन्त; दसरथ कुल अवतरि नहिं आया; नाम छोड़ पूजन लागे पथरा; घर की चकिया कोई न पूजै पीस खाय संसार; चली है कुलबोरनी गंगा नहाय; मूड़ मुड़ाए हरि मिलै सब कोउ लेय मुड़ाय; मन मथुरा तन द्वारका काया कासी जानु; कहैं कबीर सुनौ हो सन्तो कलि माँ बाम्हन खोटे; मन न रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा आदि) कबीर ने एक ओर तो क़ुरान के अल्लाह की वहदत को वेदान्त के 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' से मिलाया, दूसरी ओर उसकी आराधना के लिए सूफ़ियों के प्रेम तत्त्व को भक्ति-मार्गियों के राग तत्त्व से। साथ ही सिद्धों के हठयोग की परम्परा से भी वे अपरिचित नहीं थे। कम-से-कम रूपकों में तो वे उसके अंगों का उपयोग करते ही हैं। साधक की साधना में वे उसे कितना महत्त्व देते थे इसे बताना कठिन है (इंगला-पिंगला ताना भरनी सुषमन तार से बीनी चदरिया)। इस प्रकार हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों को कर्मकाण्ड और बाहरी आबम्डर से मुक्त कर, दोनों के मूल तत्त्वों का समन्वय कर उन्होंने निर्गुण सम्प्रदाय की नींव डाली। व्यावहारिक जीवन में उदार एवं उदात्त नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा की और कुल मिलाकर संसार के प्रति विरक्ति अथवा उदासीनता का पाठ पढ़ाया। कबीर ने जिन विभिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी विचारधाराओं को मिलाने का प्रयत्न किया था उन्हें वे कोई सुस्थिर, संगठित, संश्लिष्ट रूप दे सके थे या नहीं यह विवादास्पद विषय है, पर प्रयत्न भी कम साहस और महत्त्व का काम नहीं था। उनके अनुयायियों में हिन्दू, मुसलमान दोनों थे, पर उनका सन्देश मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं में, और हिन्दुओं में भी उच्च वर्ग की अपेक्षा निम्न वर्ग में अधिक सुना गया। उच्च वर्ग अभी किसी अन्य समन्वयकारी की प्रतीक्षा में बैठा था जो समन्वय को समझौता न बना दे, विशेषकर ऐसे वर्ग के साथ जो अपनी स्थिति से कट्टरता से जकड़ा हो।

कबीर के कवित्व का प्रश्न हम एक बार फिर उठा सकते हैं। इसे हम धार्मिक चिन्तन को गौण बनाकर नहीं कर सकते; क्योंकि कबीर के युग में धर्म का प्रश्न जन-चिन्तन में सर्वोपरि था, सबके समक्ष खड़ा था और सबको छूता था। कबीर ऐसा जन-सम्पृक्त व्यक्ति उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। कह सकते हैं वाणी की प्रमुख धारा—यह अपने-आप में अप्रमुख धाराओं के अस्तित्व की स्वीकृति है—धर्म के क्षेत्र में होकर बहती थी। निश्चय ही यही कारण है कि साहित्य की बड़ी उपलब्धियाँ इसी क्षेत्र में हुईं।

इन अप्रमुख धाराओं में एक विशेष की चर्चा यहाँ आवश्यक है; सबकी चर्चा उस संक्षिप्त सिंहावलोकन में हो भी नहीं सकती। इस विशेष धारा का महत्त्व इसलिए है कि इससे एक ज़मीन तैयार हुई जिस पर हिन्दी साहित्य की उपलब्धि का उस समय तक का सबसे बड़ा प्रासाद खड़ा हुआ, शायद अब तक का भी, मेरा संकेत तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की ओर है।

'रामचरितमानस' से लगभग तीन दशक पूर्व मलिक मुहम्मद जायसी का

'पद्मावत' लिखा गया था। 'पद्मावत' में ही अपने पूर्ववर्ती, लगभग आधे दर्जन, अवधी में लिखे कथा-काव्यों की चर्चा है। एक समय ऐसा समझा जाता था कि ऐसे कथा-काव्यों की परम्परा फ़ारसी की सूफ़ी मसनबियों से आयी थी, कि इनके लेखक मुसल्मान ही थे, कि ये मादन भाव से परमात्मा की आराधना करने के लिए लौकिक सौन्दर्य-रूपकों की भाषा में लिखे गये थे।

आधुनिक शोधों ने इन सब मान्यताओं को प्राय: निर्मूल सिद्ध कर दिया है, और इन आख्यानों को रोमाण्टिक काव्य-कथाओं की संज्ञा दी गयी है, जिनमें सौन्दर्य, प्रेम, विरह, संघर्ष, अलौकिक शौर्य-साहस आदि गुणों को प्रमुखता दी जाती है। परम्परा, ऐसा अनुमान है, इन कथाओं की महाभारत, हरिवंश पुराण से चलकर, बृहत्कथा, कथासरित्सागर, जैन कवियों के चरित-काव्यों में होती तथा-कथित सूफ़ी प्रेमाख्यानों तक आयी है। मंझन कहते हैं,

हौं मन यह उपजी अभिलाषा।
कथा एक बाँधौं रस भाषा॥

मूल उद्देश्य इन कवियों का है कथा कहना, इनमें सूफ़ीवाद है—केवल विशिष्ट रचनाओं में निहित, प्राय: संकेतित, सामयिक प्रभाव अथवा व्यक्ति का निजी झुकाव। इन कवियों की निश्चित देन है कथा कहने का ढाँचा—दोहों-चौपाइयों में—जिसे उन्होंने जैन चरित-काव्यों और हिन्दू पौराणिक कथा-काव्यों से लेकर निखारा और जिसे जायसी ने पूर्णता दी।

'पद्मावत' सूफ़ी दर्शन के लिए आज शायद ही पढ़ा जाता हो, लेकिन रोचक प्रेम-कथा के रूप में वह निश्चय पढ़ा जा सकता है। काव्य-सौन्दर्य, कल्पना, रस में वह नि:सन्देह अपने सभी पूर्ववर्ती काव्य-कथाओं के ऊपर है।

'पद्मावत' की विकसित अवधी भाषा और कथा कहने का दोहा-चौपाइयों का मँजा-सधा ढाँचा रामचरितमानसकार को दाय के रूप में मिले। कथा कहने की परम्परा और शैली तुलसी को जैन कवियों के चरित-काव्य और पौराणिक प्रबन्ध-कथाओं से मिली। बिना इन स्थूल और मज़बूत आधारों के मैं मानस-प्रासाद-निर्माण की कल्पना नहीं कर पाता। साथ ही यह भी सच है कि तुलसी की निजी काव्य-प्रतिभा, व्यापक स्वाध्याय ('नाना पुराणनिगमागम' आदि), परिष्कृत रुचि ('ऊँच रुचि आछी'), अनन्य राम-भक्ति और सबके ऊपर धर्म, दर्शन, संस्कृति, जीवन, देश काल के प्रति उनकी समन्वयी दृष्टि के बिना यह प्रासाद न इतनी ऊँचाई प्राप्त कर सकता था न इतनी भव्यता। तुलसी का काव्य, परिवेश और प्रतिभा के मणि-कांचन संयोग से ही सम्भव हो सका था।

हिन्दू जैसे प्रजातन्त्री, प्रयोगाश्रयी और उदारतावादी धर्म में अनेकरूपता और विविधता बहुत स्वाभाविक हैं। इसीलिए समय-समय पर उसमें समन्वय की भी आवश्यकता है, और हिन्दुत्व अपने लम्बे इतिहास में ऐसे समन्वय अनेक बार कर चुका है—अपने ही भीतर-भीतर समन्वय। जिसे हम साहित्य का भक्ति काल कहते हैं उसके सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि इस्लाम के साथ हिन्दुत्व के समन्वय करने के प्रयत्न में भक्ति-आन्दोलन का जन्म हुआ, और ऐसे समन्वय की आवश्यकता इस्लामी आक्रमण के पहले ही महसूस की जाने लगी थी, क्योंकि आक्रमणों से बहुत पूर्व मालाबार तट से काठियावाड़-सिन्ध तक हिन्दुओं की टक्करें मुसल्मान अरबी समुद्री व्यापारियों से हो रही थीं। क्या इन्हीं परिस्थितियों में भक्ति का जन्म दक्षिण में माना जाता है—'भक्ती दक्षिण ऊपजी लाये रामानन्द'? अन्य विद्वानों का मत है कि भक्ति-आन्दोलन हिन्दुत्व के

अपने ही अन्दर से समन्वय करने की आवश्यकता और प्रक्रिया से जन्मा था। वहरहाल आन्दोलन में उसके दोनों रूप पाये जाते हैं। कबीर में एक रूप की हल्की-सी झाँकी हम देख चुके हैं; तुलसी में दूसरे रूप की झाँकी है। इसे हम तुलसी की सीमा मान लेंगे कि उनका समन्वय हिन्दुत्व के भीतर-ही-भीतर का है। हिन्दुत्व ने तो प्रयोग दोनों का किया और इसे काल पर छोड़ दिया कि वह जिसे चाहे उसे अपनाये। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जन-स्वीकृति जितनी तुलसी को मिली उतनी कबीर को नहीं मिली। कारण शायद यह है कि समन्वय दो-तरफ़ी चीज़ है। इस्लाम अपनी विशुद्धता बरक़रार रखने के आग्रह में अपने से बाहर से कुछ नहीं अपनाता। उसमें कुछ जोड़नेवाले को 'मुशरिक' का हेय नाम दिया जाता है। आज भी 'ईश्वर अल्ला तेरो नाम' हिन्दू कहता है, मुसल्मान नहीं कहता। शायद इस्लाम के साथ हिन्दुत्व का जो सम्बन्ध निभ सकता है वह सहिष्णुता का है, उसके साथ समन्वय का नहीं। क्या इस बात को तुलसी ने अपनी दूरदर्शिता से बहुत पहले ही नहीं देख लिया था ?

तुलसी के साथ उनकी समकालीन दो विभूतियों को और स्मरण करना होगा—सूर और मीरा को—केवल इसलिए नहीं कि तुलसी की प्रतिभा यदि प्रबन्ध काव्य सँजोने की थी तो सूर-मीरा की गीत-मुक्तकों को बिखेरने की, बल्कि इसलिए कि तुलसी ने अपनी भक्ति में यदि राम को प्रतिष्ठित किया तो सूर-मीरा ने कृष्ण को अपनी भावांजलियाँ समर्पित कीं। वास्तव में राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति में एक-दूसरे के पूरक हैं —राम यदि समाज-मर्यादा के प्रतीक हैं तो कृष्ण जीवनोल्लास के। पतित-मर्दित जाति को उठने-उभरने के लिए उल्लास की उतनी ही आवश्यकता थी जितनी अपने को व्यवस्थित करने के लिए मर्यादा की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर-तुलसी-मीरा द्वारा जिस भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व किया गया वह बड़ा ही उपयोगी और वैज्ञानिक आन्दोलन था—देश-काल की आवश्यकता से जन्मा और जन-मानस की स्वस्थ प्रतिक्रिया से पोषित। अकबर की आभा से मण्डित यदि वह इतिहास का सुवर्ण-काल था तो तुलसी-सूर-मीरा की प्रतिभा से देदीप्यमान वह साहित्य का भी सुवर्ण-युग था। हिन्दी के लगभग 1000 वर्षों के इतिहास में कवि और जनता के बीच जैसा मनोज्ञ संवाद भक्ति-काल में सम्भव हुआ वैसा न कभी उसके पहले हुआ और न बाद को ही। और आज भी जिन कवियों और जिन कृतियों से जनता अपना तादात्म्य बनाये हुए है, जिन्हें वह अपने सुख-दुख-संघर्षों में याद करती है, जिनसे प्रेरणा लेती, शान्ति-सन्तोष पाती है वे भक्ति-काल के कवि और उनकी कृतियाँ ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी कविता ने अपनी सबसे ऊँची मंज़िल भक्ति-काल में ही छुई थी।

इतिहास अकबर से शाहजहाँ पर आता है, काव्य तुलसी से बिहारी पर। रीति और श्रृंगार काव्य उन्नीसवीं सदी के मध्य तक छाये रहते हैं—पद्माकर तक। और तब देश की टक्कर पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता से होती है, ईसाइयत से होती है, विज्ञान से होती है, और फिर एक नये समन्वय की आवश्यकता अनुभव की जाती है। समन्वय तो दूर की बात, नये से पुराने की जद्दोजहद में ही हिन्दी का ब्रज और अवधी का समय-सिद्ध माध्यम छूट जाता है, खड़ीबोली अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनायी जाती है और अपनी तीन-चौथाई शताब्दी वह आदर्श (सुधारवादी आन्दोलन), रूमान (छायावादी आन्दोलन), सामाजिक यथार्थ (प्रगतिवादी आन्दोलन) और वैयक्तिक वास्तविकता (प्रयोगवादी

आन्दोलन) को वाणी देती हुई अपना स्वरूप स्थिर करती, अपनी क्षमता बढ़ाती है। पूर्व का पश्चिम के साथ अथवा भारतीयता का योरोपीयता के साथ सर्वांगीण सर्व समर्थित समन्वय इस भाषा का सबसे बड़ा मिशन है। देखें यह अपने कबीर, सूर, तुलसी कब देती है।

आधुनिकता और हिन्दी कविता*

आधुनिकता का अर्थ क्या है, और उससे हमारा तात्पर्य क्या है, यह आज विवाद से रहित विषय नहीं है। मोटे तरह से तीन तरह के लोग आधुनिकता की व्याख्या करते हैं—दार्शनिक, इतिहासकार और साहित्यकार। दार्शनिकों के अनुसार आधुनिकता कालिक सातत्य है, अर्थात् कालप्रवाह में अतीत और भविष्य के बीच का समय जो प्रभाव में अतीत की परिणति और भविष्य की सम्भावना का बीज है। इतिहासकारों ने विज्ञात काल का सुविधाजनक विभाजन करके आधुनिक काल की एक शुरुआत मान ली है। कुछ दार्शनिक इतिहासकार भी आधुनिकता के प्रति दार्शनिकों की-सी दृष्टि रखते हैं। जो इतिहासकार वर्तमान समय में आधुनिकता के आरम्भ की एक सीमा लगा चुके हैं वे सुदूर भविष्य में आधुनिक, आधुनिकतर, आधुनिकतम के क्रम को बढ़ाते हुए अपने वर्तमान को क्या संज्ञा देंगे, इसकी कल्पना करना कठिन है। साहित्यकार का आधुनिक समसामयिक चिन्तन-मनन, अभिव्यक्ति है। वह दार्शनिक और इतिहासकार की 'आधुनिक' की व्याख्या से बिलकुल अप्रभावित भी नहीं रहता। फिर भी उसका आधुनिक कालवाची न होकर गुणवाची होता है। यानी उसका आधुनिक कुछ नवीन प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है। इसकी चेतना यों तो प्रायः हर युग के साहित्यकार को रही है—अपने वर्तमान की चेतना—पर पिछले कुछ दशकों में काल की गति में इतनी तेज़ी आयी है कि आज का साहित्यकार उसके प्रति जितना सचेत है उतना पहले कभी नहीं रहा। काल की गति में तेज़ी बराबर बढ़ती जा रही है। नतीजा यह हुआ है कि आधुनिकता का हर आन्दोलन अपने आगे आनेवाली आधुनिकता के साथ होड़ लगा रहा है और आज की आधुनिकता है केवल गति, विविधता और अस्थिरता।

गति के कारण अतीत अथवा परम्परा को साथ लेकर चलना कठिन प्रतीत होता है; सहज लगता है उससे कट जाना, उसे छोड़कर आगे बढ़ जाना। विज्ञान और वैज्ञानिक चिन्तन नित्य नया शोध, नित्य नया सत्य हमारे सामने प्रस्तुत कर रहे हैं। वे हमारे सम्पर्क में इतनी तेज़ी से आते हैं कि जीवन के पुराने ढाँचे के साथ उनका सामंजस्य बिठाना नामुमकिन हो गया है। हर जगह नये-पुराने की टक्करें हो रही हैं, और ऐसा लगता है कि नया ही छा जायेगा और पुराने का कोई अस्तित्व न रहने पायेगा, और वह विस्मृत—यदि मृत भी नहीं—हो जायेगा। क्या हम सभ्यता की प्रगति में एक ऐसे स्थान पर पहुँच गये हैं जहाँ से वह एकदम नया मोड़ लेनेवाली है, जहाँ पहुँचकर पिछला सब कुछ हमारी आँखों से ओझल हो जायेगा? क्या कोई नया आरम्भ होने जा रहा है, और हमारा वर्तमान उसी नवजन्म की

* सितम्बर, 1966 में शिमला सेमिनार में पठित।

पीड़ा में है ? जहाँ भी काव्य अथवा साहित्य युग की इस स्थिति से सचेत है वहाँ यह सब उसमें प्रतिच्छायित है।

'We look before and after.' आज वर्तमान ने हमें इतना चकित कर दिया है कि पीछे देखकर हम उसकी पूरी व्याख्या नहीं कर सकते। साथ ही वर्तमान से हम अनागत के लिए कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकते। कविता के भविष्य के प्रति लोगों ने आशंकाएँ प्रकट की हैं। सच तो यह है कि आज संसार और मानव-जीवन के भविष्य के विषय में भी आशंकाएँ हैं। भविष्यवाणियाँ प्राय: सच नहीं होतीं। वर्तमान को उसकी पूर्णता में समझना भी सरल नहीं होता, क्योंकि समझने-वाला स्वयं उस वर्तमान का एक अंग होता है। फिर भी हर क्षण अतीत होता जा रहा है, और अतीत का अंग बनकर एक प्रकार की स्थिरता प्राप्त करता जा रहा है। शायद इसी कारण विवेचन-विश्लेषण सम्भव होता है। सुदूर अतीत के सम्बन्ध में निर्णय की भूलों की उतनी ही सम्भावना है जितनी निकट अतीत के सम्बन्ध में। वर्तमान के सम्बन्ध में निर्णयात्मक कुछ कहने का दावा, कम-से-कम, मैं नहीं कर सकता। मैं चाहूँगा कि आधुनिकता और हिन्दी कविता के विषय में जो मैं कहने जा रहा हूँ उसे एक प्रयोगात्मक विहगावलोकन मात्र समझा जाये।

तो आइए, ज़रा हिन्दी कविता के इतिहास पर दृष्टिपात करें। यदि वीर-गाथा काल का आरम्भ एकछत्र बड़े राज्यों के विघटन के पश्चात् से मान लें तो यह लगभग चार सौ बरसों तक चला होगा। कबीर से भक्तिकाल का आरम्भ मान लें तो उसकी आयु भी लगभग चार सौ बरसों की रही होगी। लगभग दो सौ वर्षों तक रीतिकाल का बोलबाला रहा जो भारतेन्दु के समय तक आया, जिनकी मृत्यु सन् 1885 में हुई। भारतेन्दु ने जहाँ एक ओर भक्ति और रीतिकाव्य का परिष्कार किया वहाँ आधुनिककता की छुअन का भी अनुभव किया। वह अंग्रेजी एवं पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के साथ भारतीय पुनर्जागरण का भी समय था। इसके बाद लगभग 30-40 वर्ष तक हिन्दी कविता प्राय: आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन की छाया में पनपती रही। भारत की स्वतन्त्रता के लिए गांधीजी का असहयोग आन्दोलन सन् 1920 में आरम्भ हुआ। पन्त का 'उच्छ्वास' सन् 1922 में प्रकाशित हुआ, जिसे छायावादी काव्य की संज्ञा दी गयी। छायावाद प्राय: रोमाण्टिक आन्दोलन कहा जाता है। महात्मा गांधी और चिरयुवा राज-कुमारवत् नेहरू के नेतृत्व में 'रामराज्य' की कल्पना का हमारा स्वतन्त्रता का आन्दोलन भी रोमाण्टिक राष्ट्रीय आन्दोलन ही था। गांधी के रूमान को जिना की वास्तविकता ने टक्कर दी और आगे चलकर नेहरू के रूमान को चो-एन-लाई ने। पन्तजी ने स्वीकार किया है कि छायावादी काव्य युधिष्ठिर के रथ के समान वास्तविकता की धरती से ऊपर उठकर चलता रहा। छायावादकी परिणति स्वरूप 'कामायनी' 1936 में प्रकाशित हुई, हृदय और बुद्धि के सामरस्य का सन्देश लेकर शरीर फिर भी उपेक्षित रहा जिसकी सुधि कुछ उत्तर छायावादी कवियों ने ली। इसी समय छायावाद की स्वप्निलता की प्रतिक्रिया में आर्थिक यथार्थ को आगे रखकर प्रगतिवाद आया। इसे कई नये कवियों के साथ छायावाद के मूर्धन्य कवि पन्त और निराला का भी सहयोग प्राप्त हुआ; पर स्वप्न-कल्पनाजीवी कविता यथार्थ की भूमि पर उतरकर श्रीहीन हो गयी और अन्त में प्रचार और नारेबाज़ी पर उतर आयी। उत्तर छायावाद का मधुर गीतकार नरेन्द्र लिखने लगा,

> लाल रूस है ढाल, साथियो, सब मज़दूर-किसानों की,
> वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।

लाल रूस का दुश्मन, साथी, दुश्मन सब इन्सानों का,
दुश्मन है सब मज़दूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।

तब छुटभैयों की कथनी को कल्पना पर ही छोड़ देना होगा। संक्षेप में प्रगतिवादी आन्दोलन विशुद्ध प्रचारवादी आन्दोलन था। राजनीति की एक विशेष विचार-धारा से प्रतिबद्ध होने के कारण उसके आन्तरिक विकास की कोई दिशा नहीं थी, बाह्य शिल्प की ओर उसका किसी प्रकार का आग्रह नहीं था। इस प्रकार यह प्रगतिवादी आन्दोलन अगतिवादी सिद्ध हुआ और शिथिल पड़ने लगा।

जीवन और साहित्य क्रिया-प्रतिक्रिया से आगे बढ़ते हैं। प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया में दो आन्दोलन सामने आये—प्रयोगवाद और प्रपद्यवाद। यह इस शताब्दी के पाँचवें दशक के प्रारम्भ की बात है। प्रयोगवाद की घोषणा 'तार सप्तक' के प्रकाशन से हुई, प्रपद्यवाद की नकेन के प्रकाशन से—न, के, न नाम नलिन विलोचन, केसरी कुमार और नरेश के नामों के प्रथम अक्षर के नाम पर। ये कवि लिख बहुत पहले से रहे थे, संग्रह बहुत बाद को प्रकाशित हुआ— शायद 1956 में। प्रयोगवादियों का आग्रह नये प्रयोगों पर था, पर वे संयत थे; प्रपद्य-वादी असंयत थे। प्रपद्यवादियों की बहुत-सी रचनाएँ शब्द-क्रीड़ा मात्र होकर रह गयीं।

उसे चाहिए खुली हवा
फल, दूध औ' दवा, कहता डाक्टर !—और ले लेता अपनी फ़ीस
वह खाँस रही है
मरणोन्मुख उसकी जान
धीरे-धीरे यक्षमा से
करती पहचान।
यक्ष मा
रामगिरि पर बैठा
भेज रहा सन्देश—
वेष में बादल गीले-गीले !

यक्षमा से यक्ष के रामगिरि पर छलाँग लगाना शब्द-क्रीड़ा नहीं तो और क्या है। शब्दों के जोड़-तोड़ के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं; मुझे याद आ रहा है, किसी ने लिखा था, 'भारत' यानी 'भार रत'। भार से तो आदमी दबेगा, उससे रत कैसे होगा। पर शब्दों से कुछ वैचित्र्य उत्पन्न करना उनका विनोद है। कच्चे माल की खान के लिए उन्होंने जीवन को ही नहीं, शब्द-कोष को भी अपनाया था।

प्राय: दस वर्षों तक ये दोनों आन्दोलन उपेक्षित ही रहे; छाये रहे उत्तर छाया-वाद के कवि, विशेषकर छायावाद के वयोवृद्ध कवि पन्त जो अरविन्द-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर नव-छायावाद अथवा नव-स्वच्छन्दतावाद को प्रतिष्ठित कर रहे थे। ये दस वर्ष प्रयोगवाद के लिए अन्त:साधना के वर्ष थे। इनमें बहुत चिन्तन, मनन, अध्ययन, प्रयोग किया गया। 'तार सप्तक' अज्ञेय के सम्पादकत्व में निकला था। इस बीच उन्होंने 'प्रतीक' नाम से एक द्विमासिक पत्रिका निकाली जो तीन वर्ष चली। नये प्रयोग को लेकर और भी पत्रिकाएँ निकलीं। इन पत्रिकाओं में सृजनात्मक और आलोचनात्मक बहुत कुछ लिखा गया। सर्जकों और समालोचकों में नये प्रयोग के बहुत-से पैरोकार तैयार हुए।

1950 के लगभग 'नयी कविता' को सक्रिय आन्दोलन का रूप दिया गया।

प्रयाग से 'नयी कविता' नाम की नयी पत्रिका निकली। बाद को 'निकष' नाम की एक और पत्रिका निकली। कुछ पहले से प्रतिष्ठित पत्रिकाओं ने नयी कविता का पक्ष लिया, विशेषकर 'ज्ञानोदय' और 'कल्पना' ने। पिछले 15-16 वर्षों में, पत्र-पत्रिकाओं में, शायद सबसे अधिक चर्चा नयी कविता को लेकर हुई है। आज हिन्दी में इसी कविता को आधुनिकता की वाहिका माना जाता है। दो-तीन वर्षों से कुछ नवयुवक नयी कविता को पुरानी भी बतलाने लगे हैं और उन्होंने 'अकविता' का नारा लगाया है। 'अकविता' की एक लघु पत्रिका भी निकलती है जिसमें एक कवि ने निरर्थक ध्वनियों का संपुंजन करके भी कविता लिखी है। उधर उत्तर छायावादी कवियों की गीत परम्परा को आगे बढ़ानेवालों ने 'गीत' को 'नयी कविता' के वज़न पर 'नव गीत' कहना शुरू कर दिया है। 'अकविता' के वज़न पर 'अगीत' का भी आन्दोलन शुरू हुआ है। 'अगीत' नाम की एक पत्रिका भी निकलनी शुरू हुई है। नयी कविता के कवि तो अपने को शायद नयी पीढ़ी का समझकर सन्तुष्ट हो गये थे, पर बाद के कवियों ने अपने को 'भूखी पीढ़ी', 'नंगी पीढ़ी', 'विद्रोही पीढ़ी', आदि का घोषित किया है। अभी कुछ दिन हुए एक 'कबीर पीढ़ी' घोषित हुई है। मैंने विनोद में कहा कि प्रसिद्ध है, 'बूड़ा बंस कबीर का उपजा पूत कमाल' तो उत्तर मिला, वंश को डुबाना भी हमारा एक काम है—परम्परा का विरोध, मूल्यों का विघटन, युग की अस्थिरता और अनास्था शायद सभी इस वाक्य में निहित है।

आइए, अब उस आधुनिकता का कुछ विश्लेषण करें जो हिन्दी की नयी कविता में मूर्तिमान हुई है या हो रही है।

ऐसा देखा गया है कि जब-जब कविता का ढाँचा यानी फ़ार्म बदलता है तब-तब कविता में आन्तरिक परिवर्तन भी आ जाते हैं, या आन्तरिक परिवर्तनों के कारण ही बाहरी ढाँचा बदलता है। प्रयोगवादी कविता ने, जिसने आगे चलकर नयी कविता का रूप लिया, परम्परागत अपने पूर्ववर्ती सभी छन्दों का परित्याग कर दिया। छन्दों का बन्धन तो उससे बहुत पूर्व निराला ने भी तोड़ा था, पर वे लय में फिर भी बँधे थे। नयी कविता ने लय का बन्धन भी नहीं माना। कभी-कभी अर्थ की लय की बात कही गयी, पर अब तो उसे शुद्ध गद्य की लय के समीप लाने की बात कही जाती है। केवल पद्यबद्ध होने से कोई कृति कविता नहीं हो जाती। तब कविता गद्य के बाने में भी रह सकती है। कहने का तात्पर्य है कि कविता कुछ ऐसी चीज़ है जो अपने ढाँचे से स्वतन्त्र है। यहीं से विशुद्ध कविता यानी pure poetry की खोज शुरू होती है। योरोप में तो यह आन्दोलन बहुत पुराना है और सम्भवत: अपनी सारी विकृतियाँ भी देख चुका है, पर हिन्दी की नयी कविता के साथ शुद्ध कविता की भी खोज की जा रही है।

मार्क्स की छाया में भागे हुए लोग प्राय: फ़्रायड की गोद में जा गिरते हैं। प्रगतिवादी कविता पर निश्चय ही मार्क्स की छाया थी। प्रयोगवादी कविता उस छाया से भागकर फ़्रायड के अवचेतनवाद में जा गिरी। फ़्रायड का अवचेतन रूपकों, प्रतीकों, बिम्बों का भण्डार है। जब कविता तुक, लय, छन्द, ध्वनि का परित्याग करती है तब इन्हीं प्रतीकों और बिम्बों पर अपने को आधारित करती है। यह उस ऊर्ध्व चेतना की प्रतिक्रिया भी हो सकती है जिसकी प्रतिष्ठा सुमित्रानन्दन पन्त ने अरविन्द दर्शन के प्रभाव में की थी। ऊर्ध्व चेतना का प्रतीक प्राय: पन्त ने पर्वत माना है। इसके विरोध में अधोचेतना या अवचेतन का प्रतीक प्राय: ग़ार, खन्दक, बावड़ी, कुआँ माना गया है। मुक्तिबोध के बावड़ी प्रतीक की चर्चा प्राय: की गयी है :

बावड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य
ब्रह्मराक्षस एक पैठा है,
वह भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज,
बड़बड़ाहट शब्द पागल-से।
गहन अनुमानिता
तन की मलिनता
दूर करने के लिए प्रतिपल
पाप-छाया दूर करने के लिए, दिन-रात
स्वच्छ करने—
ब्रह्म राक्षस
घिस रहा है देह—

नयी कविता में नये प्रतीकों, बिम्बों, रूप-चित्रों की हाट-सी लग गयी है। विज्ञान, इतिहास, पुराण, यथार्थ, कल्पना—किसी भी क्षेत्र से चित्रों, बिम्बों, प्रतीकों को प्रस्तुत करना आज कवि के लिए वर्ज्य नहीं है। कवियों का कहना है कि वे अपनी अनुभूतियों को इन चित्रों के द्वारा उपस्थित करते हैं। ध्येय है इन चित्रों के द्वारा पाठकों को उन्हीं अनुभूतियों तक पहुँचाना। अपने ध्येय में वे असफल भी हो सकते हैं; पाठकों को शिकायत हो सकती है कि वे उन अनुभूतियों तक नहीं पहुँचते, पर कवि अपनी अभिव्यक्ति से किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं है। यानी उसका मुख्य ध्येय अभिव्यक्ति है, प्रेषण नहीं। पाठक को शिकायत हो सकती है कि कविता का कोई अर्थ उसकी समझ में नहीं आता, पर कवि कहता है कि अर्थ देना कविता का काम नहीं है; कुछ अस्पष्टता को तो कविता का विशेष लक्षण मान लिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज कवि के पाठक नहीं हैं, या बहुत कम हैं। पर उसे इसकी भी परवाह नहीं है; उसने इसे आज के कवि की नियति मान लिया है। नया कवि नितान्त एकाकी है; प्राय: वह अपना कवि और अपना ही पाठक भी है, या उसके पाठक हैं उस विशिष्ट वर्ग के लोग जो उसी तरह के प्रयोग में लगे हैं।

नयी कविता के कवि को समाज में व्यक्ति को केन्द्रित करने के आन्दोलन से भी बल मिला है। अधिनायकवाद और साम्यवाद दोनों में ही व्यक्ति नगण्य हो गया है। पूँजीवादी प्रजातन्त्र में भी विधि और अर्थ-व्यवस्था पर सत्ता का इतना अधिकार हो गया है कि व्यक्ति के लिए यन्त्रवत् संघर्ष करने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं। ऐसी परिस्थिति में योरोप में अस्तित्ववादी दर्शन का उदय स्वाभाविक था। उसका ध्येय है समाज, धम, नैतिकता, परम्परागत संस्कार, पारलौकिक विभ्रम से विमुक्त और ज्ञान, विज्ञान, मनो-विज्ञान के प्रति सचेत मानव की प्रतिष्ठा करना और उसको अपनी स्वतन्त्र सत्ता के लिए संघर्ष करने को तैयार करना।

हमारे देश और समाज की भी स्थिति कुछ ऐसी हैं जिसमें आज का नवयुवक इस अस्तित्ववादी दर्शन की ओर आकर्षित हुआ है। हमारे मध्ययुगीन संस्कारों में व्यक्ति नगण्य था—अनेकानेक रस्म-रिवाजों, अन्धविश्वासों, रूढ़ि-रीतियों का शिकार; निवृत्ति और त्यागवादी धर्म-दर्शनों की दमन-शमन-वर्जनाओं से कुण्ठाग्रस्त; वर्ण, जाति, कुल की शृंखलाओं में जकड़ा। सुधारवादी आन्दोलनों के प्रयास बहुत सफल नहीं हुए। हमारी राजनैतिक मुक्ति ने निश्चय ही एक मुक्त मनस् का संस्कार हमको दिया है। आजादी के पश्चात् विकसित और वृद्धिप्राप्त नगरों ने

भी व्यक्ति को उन्मुक्त होने की प्रेरणा दी है। समाज के लिए जो कुछ किये जाने को है उसे अपने ऊपर लेकर शासन ने व्यक्ति को सामाजिक दायित्व से भी मुक्त कर दिया है। रामराज्य की कल्पना में उसके करने के लिए बहुत कुछ था। समाज-वादी समाज में उसका कोई कर्तव्य स्पष्ट नहीं है। आजादी के बाद हमारे समाज ने जो अवांछित दिशा ग्रहण की है उसने समाजिक संगठन के कुछ मूलभूत आधारों को हिला दिया है। ऐसी स्थिति में कवि के लिए सम्भव और स्वाभाविक हो गया है कि वह समाज-निरपेक्ष व्यक्ति को अपनी ही इकाई में पहचाने और मुक्त करे।

नया कवि बहुत-सी वर्जनाओं पर से पर्दा उठा रहा है, विशेषकर यौन वर्जनाओं पर से। जहाँ अतिशयता है वहाँ अश्लीलता, नंगापन, भदेसपन भी आ रहा है :

तुम स्त्री हो
तुम्हें अधिक से अधिक
पुरुषों को प्राप्त हो जाना चाहिए।
तुम पुरुष हो
तुम्हें अधिक से अधिक
स्त्री शरीरों को
अपने बिस्तर तक का रास्ता बताना चाहिए।
क्योंकि
बन्धन
चाहे अच्छाई का ही हो
विकृत करता है।

बहुतों ने समाज की विकृति के समक्ष अपनी असमर्थता, कुण्ठा, निराशा को ही अभिव्यक्ति दी है :

मैं इस व्यस्त अनिश्चित नंगी दुनिया में
कुछ यों हूँ
जैसे निर्वासित हूँ
भीतर ज़िन्दा हूँ लेकिन
भूकम्प-धँसा
घर मेरा पृथ्वी में बन्द हो चुका है।
जिस सुरंग में दौड़ रहा हूँ मैं उसका
द्वार बिच्छुओं-भरे
कुएँ में खुलता है
जिह्वा के नीले टुकड़ों में ढकी हुई
अर्थ नहीं देती है मेरी आदिम पीड़ा,
अब मेरा अस्तित्व यहाँ कुछ ऐसा है
जैसे ताज़ा कमल
खौलते पानी में।

अवचेतन के दो प्रतीकों, कुएँ और सुरंग की ओर भी ध्यान जाना चाहिए।

अधिक आत्मविश्वासियों ने आज के यथार्थ को व्यंग्य और कटूक्तियोंसे अभि-व्यक्त किया है। कुछ ने नये जीवन-मूल्यों को भी पहचानने का प्रयत्न किया है। कुछ ने समाज से अलग रहने में अपना अस्तित्व देखा है तो कुछ ने समाज के साथ रहकर अपने अस्तित्व को अर्थ दिया है।

अज्ञेय ने कहा था, 'हम नदी के द्वीप हैं', यानी नदी में नहीं मिल सकते।

भारत भूषण अग्रवाल कहते हैं :

हम नहीं हैं द्वीप जीवन की नदी के
वरन् जीवन से भरे निर्मल सरोवर;
भले मिट्टी से हुआ निर्माण,
किन्तु मिट्टी है परिधि ही,
नहीं है मिट्टी हमारा प्राण।

अन्त में नयी कविता नयी मुक्त चेतना की अभिव्यक्ति है। कवि को अपनी किसी अनुभूति को किसी भी तरह व्यक्त करने की छूट है। ध्वनियों का संपुंजन मात्र करने की बात पहले कही जा चुकी है। अच्छी-बुरी कविता प्राय: सभी आन्दोलनों के साथ आती है। विशिष्टता के नये मानदण्ड अभी बनने को हैं। प्राय: समय ही सबसे बड़ा निर्णायक माना जाता है, पर नया कवि समय के निर्णय तक प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं : 'अज्ञेय' ने तीसरे सप्तक की भूमिका में यह घोषणा कर दी है कि नया कवि अपना ही अभियोक्ता, अपना ही वकील और अपना ही न्यायाधीश भी है।

क्या कविता की अन्तिम परिणति नितान्त वैयक्तिक और निजी होने में है ?

साहित्यिक शोध की समस्याएँ*

देवियो और सज्जनो, एक समय स्वयं शोधार्थी होने के नाते, शोधार्थियों और शोध-निरीक्षकों की इस सभा में अपने को पाकर मैं बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। मैं डॉ. नगेन्द्र के प्रति आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे आमन्त्रित किया कि मैं हिन्दी शोध-विद्यार्थियों की इस गोष्ठी के सम्मुख साहित्यिक शोध की समस्याओं पर कुछ प्रकाश डालूँ। जहाँ मुझे साहित्यिक शोध का कुछ अनुभव है वहाँ यह भी सत्य है कि मेरा अनुभव एक विदेशी विश्वविद्यालय में, एक विदेशी भाषा के साहित्य के शोध का है। हिन्दी में शोध-कार्य मैंने कभी नहीं किया। देश की विश्वविद्यालयी और विशेषकर हिन्दी साहित्यिक शोध की समस्याएँ कुछ ऐसी हो सकती हैं जिनका मुझे सीधा अनुभव नहीं, पर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से लगभग बारह वर्ष सम्बद्ध रहने और अंग्रेजी तथा हिन्दी के कतिपय शोध-विद्यार्थियों के निकट सम्पर्क में आने के कारण ऐसा भी नहीं है कि मैं आपकी समस्याओं से बिल्कुल अनभिज्ञ हूँ। फिर भी आज मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ वह मुख्यतया विदेश में मेरे शोध के अनुभव पर आधारित है। गौण रूप से आपकी जो समस्याएँ मैंने समझी हैं उनकी ओर भी संकेत करूँगा और सम्भव हुआ तो उनका समाधान भी प्रस्तुत करूँगा। आशा है आप मेरी बातों को ध्यान से सुनेंगे, उन पर विचार करेंगे; यदि आपके मन में कुछ प्रश्न उठेंगे तो अन्त में उनका उत्तर भी देने का प्रयत्न करूँगा।

साहित्य सम्बन्धी शोध का इतिहास हमारे देश में तो नया है ही, विदेशों में भी बहुत पुराना नहीं है, और आज भी वहाँ उसके सम्बन्ध में बहुत निश्चित

* दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित शोध-विद्यार्थी गोष्ठी के सम्मुख पठित लेख। तिथि मेरे दिमाग से उतर गयी है।

धारणाएँ नहीं बन सकी हैं। फिर भी वहाँ जो सोचा-विचारा गया है, जो प्रयोग हुए हैं उनसे हम कुछ लाभान्वित हो सकते हैं।

आज से लगभग दस बरस पहले मैं केम्ब्रिज युनिवर्सिटी में शोध-छात्र था, और वहाँ जो मैंने देखा-सुना उससे मुझे लगा कि साहित्यिक शोध के प्रति वहाँ के दिग्गज विद्वानों में विशेष सम्मान की भावना नहीं है। पुराने अध्यापकों में शायद कोई भी औपचारिक शोध के निकट नहीं गया था। नये अध्यापकों में भी बहुत-से ऐसे थे जो बिना किसी प्रकार का शोध-कार्य किये अथवा शोध की डिग्री लिये युनिवर्सिटी में अध्यापन का काम कर रहे थे। हाँ, यह ज़रूर है कि बहुतों ने फ़ेलोशिप के लिए प्रबन्ध लिखा था, जो सर्जनात्मक समालोचना का होता है, और जिसका दर्जा शोध-निबन्ध के ऊपर का माना जाता है; वैसे ही जैसे, किसी प्रसिद्ध कालेज का फ़ेलो बनाना किसी युनिवर्सिटी की डाक्टरेट लेने से अधिक स्पृहणीय समझा जाता है। युनिवर्सिटी से सम्बद्ध कालेजों की जो प्रतिष्ठा केम्ब्रिज-आक्सफ़र्ड में है वह अपने यहाँ नहीं है और न उनकी फ़ेलोशिप पाने के लिए विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध लिखने की प्रथा। ख़ैर, इस बात को हम छोड़ें। मैंने देखा कि वहाँ सद्य: डिग्री प्राप्त स्नातकों को शोध-कार्य करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता था, प्रथम श्रेणी पानेवालों को भी नहीं; गो उसके पीछे एक ऊँचा लक्ष्य भी था, जिसकी ओर मैं बाद को संकेत करूँगा। बाहर से आये हुए विद्यार्थियों के डाक्टरेट पाने के लक्ष्य और डिग्री लेने के लोभ को आधे उपहास और आधे व्यंग्य की दृष्टि से देखा जाता था। कुछ आँकड़े परिस्थिति को और स्पष्ट करेंगे। जिन दिनों मैं केम्ब्रिज में था उन दिनों युनिवर्सिटी में लगभग 1200 शोध-विद्यार्थी थे, जिनमें से 1150 विज्ञान सम्बन्धी विषयों के थे, और बाकी 50 कला सम्बन्धी विषयों के, जिनमें इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि भी सम्मिलित हैं। विशुद्ध साहित्य के सात या आठ शोधार्थी थे। वर्ष में तीन शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किये गये थे जिनमें से दो नान-इंगलिशमेन यानी विदेशियों के थे।

केम्ब्रिज में तो भाषा या साहित्य का अध्यापन भी नया ही विषय है। युनिवर्सिटी लगभग छह सौ वर्ष पुरानी है, परन्तु 1917 से पहले अंग्रेज़ी न तो पढ़ाई जाती थी और न उसमें परीक्षा ली जाती थी; उसके माध्यम से अन्य विषय पढ़े-पढ़ाये जाते थे। जब अंग्रेज़ी साहित्य का प्रवेश अध्यापन विषय के रूप में किया गया तब उसका बड़ा विरोध हुआ—साहित्य भी कोई विश्वविद्यालय में पढ़ाने की चीज़ है। बहुत दिनों तक अंग्रेज़ी के ट्रायपास में दो-तिहाई से ऊपर संख्या महिलाओं की हुआ करती थी, और उसे Novel reading tripos कहा जाता था। जहाँ कुछ दशक पूर्व साहित्य को अध्यापन का विषय मानना भी विद्वानों को स्वीकार न था, वहाँ उसे शोध का विषय मानना कहाँ तक लोगों को ग्राह्य होता, सोचने की बात है। साहित्य को मनोरंजन और आनन्द अथवा अधिक-से-अधिक स्वान्त: सुखाय चिन्तन का विषय मानने की प्रवृत्ति बड़े-बूढ़ों में आज भी बनी है।

विज्ञान के साथ खोज अथवा शोध की बात शुरू से लगी थी। विद्यार्थी को विभिन्न पदार्थों से विभिन्न प्रयोग करने पड़ते थे और इनके दौरान बहुत-से नये तथ्यों और सत्यों की खोज हो जाती थी। 19वीं सदी में जब विज्ञान की उन्नति के साथ सूक्ष्म उपकरण अथवा आले तैयार हुए तो विज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। विद्यार्थी सिद्धान्त मात्र नहीं सीखता था; सिद्धान्तों को प्रयोग से परखता था, तब मानता था, और इस प्रक्रिया से नया और व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता था। जहाँ तक मुझे मालूम है, रिसर्च की उपाधि देने की प्रथा सबसे पहले जर्मनी

में शुरू हुई। विश्वविद्यालयों में विज्ञान के साथ कला का सम्पर्क होने के नाते, प्रायः विज्ञान के अनुकरण पर ही कला विषयों पर भी शोध की प्रथा चली, साहित्य में भी आयी, और साहित्य के पहले डाक्टर जर्मनी से आये। ऊँची उपाधियों के लिए विद्यार्थी के मन में बड़ा मोह होता है, विशेषकर नयी जातियों में। अमरीका के लोग अब डाक्टरेट लेने के लिए इंग्लैण्ड न जाकर जर्मनी जाने लगे। डॉ. टिलयार्ड ने लिखा है कि इंग्लैण्ड की युनिवर्सिटियों ने इन्हीं विद्यार्थियों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए रिसर्च की डिग्री चलाने की ग़लती की। (The university made the mistake of introducing the Ph. D. to wean Americans from their ancient habit of seeking higher degrees in Germany.) डॉ. टिलयार्ड केम्ब्रिज के पुरखा-अध्यापकों में हैं और उन्होंने जो लिखा है उससे रिसर्च की ओर उस मनोवृत्ति का पता चलता है जिसका संकेत मैं पहले कर चुका हूँ।

जब केम्ब्रिज और आक्सफ़र्ड में साहित्य में शोध के विषय और उसकी उपाधि का प्रवेश हुआ तो अध्यापकों को खुद पता नहीं था कि शोध में किस तरह का कार्य किया जाय। आक्सफ़र्ड में शोध विद्यार्थियों को पुरानी पुस्तकों के पाठ-संशोधन का काम दिया गया। केम्ब्रिज के कुछ प्रोफ़ेसर इसी प्रकार के कार्य को साहित्यिक शोध समझने के पक्ष में थे। आज भी केम्ब्रिज में प्रथम वर्ष में शोधार्थी को 'मेथड आफ़ रिसर्च'—शोध-विधि पर जो व्याख्यान दिये जाते हैं उनमें से आधे पुराने ग्रन्थों के पाठ-संशोधन पर होते हैं, एक चौथाई शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने की तकनीक पर, और केवल एक चौथाई ऐसे सामान्य विषयों पर जिन्हें Etichs of Research (शोध की नैतिकता) या Cultivation of research-spirit (शोध की मनोवृत्ति जगाना) कह सकते हैं। पर शोध स्वयं क्या है, यह इन व्याख्यानों में प्रायः अपरिभाषित और अनजाना ही रह जाता है; कम-से-कम मुझे तो अनजाना ही रहा।

केम्ब्रिज के प्रोफ़ेसरों से पूछने पर कि साहित्यिक शोध क्या है, प्रायः यह उत्तर मिला, Finding out somthing new which changes old concept about an author or his work or the period of his work—किसी ऐसी चीज़ की खोज जो किसी लेखक, उसकी कृति अथवा उसके रचनाकाल के विषय में पुरानी धारणाओं को बदल दे। किसी-किसी ने कहा, शोध है, Contribution to knowledge—ज्ञानवृद्धि में योगदान। निश्चय ही इन उत्तरों के पीछे गहराई है, और बहुत दिनों के चिन्तन-मनन के बाद इन पर पहुँचा गया है। इनसे कुछ परिणाम ऐसे निकाले जा सकते हैं जो शोध के सम्बन्ध में हमारी धारणा को दिशा दे सकते हैं।

पहली बात तो यह है कि अगर शोध नये की खोज है तो नया खोजने की कोई पुरानी विधि नहीं बतायी जा सकती। अधिक-से-अधिक जो बताया जा सकता है वह यह है कि खोज की मनोवृत्ति कैसे जाग्रत की जाय। केम्ब्रिज के प्रोफ़ेसरों ने ठीक ही किया है कि उन्होंने अपने को यहीं तक सीमित रक्खा है। दूसरी बात यह है कि नये की खोज अथवा ऐसे की खोज जिससे ज्ञान की वृद्धि हो किसी प्रकार के आग्रह से असम्भव है। आप यह नहीं कह सकते कि हम दो या तीन वर्ष के अन्दर कुछ नया खोज ही लेंगे, या आप फलाँ विषय पर कोई नयी बात निकाल-कर ही छोड़ेंगे। इस प्रकार का आग्रह दुराग्रह ही होगा और परिणाम झूठे, निरर्थक और विकारग्रस्त होंगे।

हम बहुत बड़ी ग़लती करेंगे अगर हम यह समझ लें कि जैसे एफ़. ए. के बाद बी. ए. और बी. ए. के बाद एम. ए. है वैसे एम. ए. के बाद पी-एच. डी. या डाक्टरेट या शोध का दर्जा है और जैसे दो-दो साल में हम बी. ए., एम. ए. की डिग्रियाँ लेते चले आये हैं वैसे ही दो या तीन साल बाद पी-एच. डी. की डिग्री ले लेंगे। बहुत-से लोग हमारे यहाँ ऐसा कर लेते हैं, पर यह भी सच है कि बहुत-से लोग नये की खोज नहीं करते; वे केवल ऐसा प्रदर्शित करते हैं, केवल विकृतियों का शब्द-जाल फैलाते हैं। आप क्षमा करेंगे, अगर मैं कहूँ कि हमारे अधिकांश शोध-प्रबन्ध इसी कोटि में आते हैं। समय का आग्रह जितनी बड़ी ग़लती है, विषय का आग्रह उससे कम बड़ी ग़लती नहीं है। आप किसी को कोई विषय देकर यह नहीं कह सकते कि इस पर कुछ नया निकालिये ही। हमारी युनिवर्सिटियों में, मैं जानता हूँ, शोधार्थी विषय पूछते हैं, शोध-निरीक्षक विषय सुझाते, देते, कभी-कभी थोपते भी हैं; उन पर शोध होता है, उनमें कुछ नया निकाला भी जाता है, पर वह कैसा नया होता है, इसे आप भी जानते हैं, मैं भी जानता हूँ। इस प्रकार शोध, शोध नहीं, शोध की विडम्बना मात्र है।

तब प्रश्न उठता है कि शोध का समय कब माना जाये, उसकी सीमा क्या हो, उसका विषय कैसे निश्चित किया जाये। यहाँ मैं उस बात की याद दिलाना चाहूँगा जिसकी ओर मैंने पहले संकेत किया है कि केम्ब्रिज में सद्यः डिग्री प्राप्त स्नातकों को साहित्यिक शोध के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता। मैंने, आपको याद हो तो, यह भी कहा था कि इसके पीछे एक उच्च ध्येय निहित है। उस उच्च ध्येय को अब स्पष्ट करना चाहूँगा।

जब मैं युनिवर्सिटी में अध्यापन का काम करता था, अपने विद्यार्थियों से अक्सर कहता था कि स्कूल, कालेज या युनिवर्सिटी में हमें अध्ययन करना सिखाया जाता है, साहित्य में रुचि जगायी जाती है; अध्ययन करने का समय, साहित्य में रस या आनन्द लेने का समय तो युनिवर्सिटी छोड़ने के बाद आता है। युनिवर्सिटी से आपने डिग्री ले ली; अब अगर साहित्य के प्रति आपमें आकर्षण है तो उसके किसी विशेष क्षेत्र, अंग अथवा विधा में, किसी काल की रचना में, किसी लेखक में अथवा उसकी कृति के किसी पक्ष में विशेष रुचि लें; उसका विस्तार से, गहनता से, सूक्ष्मता से अध्ययन करें, दस बरस, बारह बरस। आप निश्चय जानें कि अपने विषय को पूर्णता से जानने-समझने के लिए दस-बारह वर्ष का समय भी आपको कम लगेगा। अपने विषय पर चिन्तन-मनन करते हुए सम्भव है आपको कुछ नया मिले, कोई नयी बात सूझे। यह सच्चे अर्थों में आपकी शोध है। यदि आप अपने नये को, उसके महत्त्व को, उसके प्रभाव को व्याख्यायित कर सकें, सिद्ध कर सकें तो यही आपका शोध-लेख अथवा शोध-प्रबन्ध है। उस समय अपने विषय पर जो निर्णय आप देंगे या लेंगे वह परिपक्व बुद्धि का निर्णय होगा -- बुद्धि, व्यापक स्वाध्याय से परिपक्व, समय पाकर सम्यक अनुभवों से परिपक्व। अगर मेरा वश चले तो मैं यह नियम बना दूँ कि साहित्यिक शोध के लिए किसी को तब तक रजिस्टर न किया जाय जब तक उसे एम. ए. पास किये हुए कम-से-कम दस बरस न बीत चुके हों। पर निश्चय ही, ऐसे दस बरस जिसमें उसने लगकर साहित्यिक स्वाध्याय, चिन्तन-मनन किया हो। इसे 'पर उपदेश कुशल' की बात न समझें। यदि व्यक्तिगत हवाला देने की मेरी धृष्टता आप क्षमा करें तो मैं आपको बताना चाहूँगा कि मैंने एम. ए. सन् 1938 में किया और शोध के लिए मैंने अपने आपको 1952 में रजिस्टर कराया। मैं अपने अनुभव से आपको बताना चाहूँगा कि मुझे कभी

इसका पश्चात्ताप नहीं हुआ कि मैं देर से शोध करने के लिए गया। उलटे, मैं यह सोचकर आश्वस्त था कि मैंने उचित ही अध्ययन-अध्यापन की पकी उम्र में—मैं उस समय 45 का था—इस काम में हाथ डाला और अब मैं जिन और जैसे भी परिणामों पर पहुँचूँगा वे सुविचारित, सुनिर्णीत और सन्तुलित होंगे। मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि मेरे शोध प्रबन्ध ने पारखियों को निराश नहीं किया।

अगर आप केम्ब्रिज जायें और वहाँ के प्रोफ़ेसरों से कहें कि मुझे कोई विषय बताइए जिस पर मैं रिसर्च करूँ तो आपको वापस भेज दिया जायेगा। विषय तो आप बताइए; किस विषय में आपने रुचि ली है, किस विषय का आपने व्यापक अध्ययन किया है, किस विषय में आपने कुछ नयी स्थापनाएँ की हैं। युनिवर्सिटी या युनिवर्सिटी का निरीक्षक तो आपको इतना ही बता सकता है कि जो आपकी स्थापनाएँ हैं वे कहाँ तक ठीक हैं, कहाँ तक उनके सिद्ध किये जाने की सम्भावना है, उसमें कितना या कैसा संशोधन-परिवर्तन आवश्यक होगा, उनको किस प्रकार प्रस्तुत किया जाये। केम्ब्रिज में शोध के लिए दाखले के पहले प्रार्थी को एक निबन्ध लिखना पड़ता है जिसमें वह बताता है कि वह किस विषय पर शोध करना चाहता है और क्यों, और क्या वह सिद्ध करना चाहता है। शोध समिति के विद्वान सदस्य जब आपके लेख से सन्तुष्ट हों तभी आपको शोध-विद्यार्थी के रूप में स्वीकार किया जाता है। आपके इस लेख से वे इस बात की परख करते हैं कि जिस दिशा में आप जाना चाहते हैं उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण नवीन पाने की कितनी गुंजाइश है, क्या उसके द्वारा आप साहित्यिक ज्ञान-वृद्धि में कुछ उल्लेखनीय योगदान कर सकेंगे।

पुराने लोग जहाँ साहित्यिक-शोध को सन्देह की दृष्टि से देखते थे वहाँ नये उसमें कुछ प्रभावकारी, उपयोगी, आकर्षक अथवा ज्ञान-वर्द्धक पाने की प्रत्याशा करते हैं। एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक पहुँचने में साहित्य के सम्बन्ध में लोगों की धारणाओं में बड़ा परिवर्तन आया है। पहले लोग साहित्य को पढ़े-लिखे, शिक्षित-दीक्षित, शिष्ट-सुसंस्कृत व्यक्ति का मनोविनोद भर समझते थे—सृजन में भी, आस्वादन में भी। हमारे यहाँ भी ऐसी उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, 'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' या 'साहित्य-संगीत-कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः'—वही आभिजात्य का मनोरंजन। व्यक्ति-व्यक्ति के विनोद में उत्तम, मध्यम, सामान्य, निम्न का अन्तर शायद किया जाता हो, पर उनमें किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना शायद ही कभी की जाती हो। अन्तर के कारण की ओर भी शायद ही ध्यान जाता हो। प्रतिभा का अकारण उत्पन्न हो जाना मानी हुई बात थी। युग और युग और देश और देश के साहित्य को जोड़नेवाले सेतु और अलग करनेवाली खाइयाँ शायद देखी ही न जाती थीं; और अगर देखी भी जाती थीं तो उनको व्याख्यायित करने की आवश्यकता न समझी जाती। संक्षेप में, साहित्य विशिष्टों के आनन्द की, किसी प्रकार का प्रश्न न उठानेवाली सीधी-सादी चीज़ समझा जाता था। और अगर आज वह पेचीदगी भरी, सौ तरह का प्रश्न उठानेवाली, सौ प्रकार का विश्लेषण माँगनेवाली अभिव्यक्ति बन गया है तो कुछ साहित्येतर कारणों से जिन पर यहाँ संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा।

डारविन की विकासवादी व्यवस्था, मार्क्स का अर्थ है और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त और फ़ायड की मनोवैज्ञानिक विचारधारा से आज का सुशिक्षित वर्ग भली भाँति परिचित है। इन तीनों ने बीसवीं सदी में मानव चिन्तन और चेतना के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया और साहित्य भी इनसे अछूता न रह सका। अगर मैं

यह भी कहूँ कि साहित्य सम्बन्धी धारणाएँ इन तीनों से सबसे अधिक प्रभावित हुईं तो अतिशयोक्ति न होगी। विकासवादी व्यवस्था ने किसी भी भाषा के साहित्य को सांगिक अर्थात् organic रूप में देखने को बाध्य किया। आज का साहित्य अतीत के साहित्य से अविच्छिन्न रूप में जुड़ा है। युग-युग पुरानी उपलब्धियाँ ही नये-नये रूपों में विकसित हो रही हैं। इससे किसी भी नये को देखने-समझने के लिए पुराने को देखना-समझना अनिवार्य हो गया। किसी काल विशेष की रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि प्रतिभा को बाद दे दें तो औसत लेखकों का स्तर प्रायः एक ही होता है और वह साहित्यिक विकास की किसी विशेष अवस्था का प्रतिफलन है। कोई रचनाकार अब आसमान से अचानक अवतरित नहीं रह गया; देखा गया कि वह अपने देश, काल, समाज, परिवेश की ही उपज है और उसे समझने के लिए देश, काल, समाज, परिवेश को समझना आवश्यक हो गया। मार्क्स के अर्थवादी सिद्धान्त ने विचार-विकास और उसके अभिव्यक्ति की एक निश्चित दिशा का संकेत किया। इससे साहित्य को समझने के लिए मानव-समाज के आर्थिक विकास का अध्ययन ज़रूरी हुआ। कृषि युग और औद्योगिक युग के साहित्य का अन्तर अब प्रतिभा की विलक्षणता से व्याख्यायित नहीं हो सकता। अर्थ-व्यवस्थाएँ बदलती हैं तो समाज बदलता है, चिन्तन और अनुभव की प्रक्रियाएँ बदलती हैं, साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ बदलती हैं। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, सम्भवतः, इन दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावकारी सिद्धान्त फ़ायड का साबित हुआ है। समाज या समूह कितना ही बदले, नया रूप ले, सम्पन्न, सशक्त, संस्कृत, क्रान्तिकारी या शान्ति-कामी, सन्तुष्ट या असन्तुष्ट बने; रचना या सर्जन व्यक्ति ही करता है, वह व्यक्ति का ही विशेषाधिकार है। फ़ायड ने कलात्मक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध मानव के चेतन से अधिक अवचेतन से लगाया। अभि-व्यक्ति कोई सतही चीज़ नहीं, उसका सम्बन्ध व्यक्ति की अपनी ही मानसिक प्रक्रिया से नहीं, जो काफ़ी पेचीली है, बल्कि जाति-मानस, युग-मानस से भी है।

इन विचारों ने साहित्य के ऊपर से विशुद्ध आनन्ददायकता, प्रश्नहीनता और सरलता का आवरण हटा दिया। जो साहित्य से केवल आनन्द ले सकता है वह उसकी ऊपरी तह भर देखता है। ऊपरी तह भर देखनेवाले सदा रहे हैं; आगे भी रहेंगे, पर तह के नीचे, उसकी परतों, उसकी गहराइयों में देखने पर उसके बहुत-से जानने-योग्य रहस्य उद्घाटित होंगे, गो यह काम विशिष्टों, विशेषज्ञों का होगा। किसी कृति का पूरा अर्थ—सम्यक अर्थ अपने युग की अनेक प्रवृत्तियों में, अनेक विचार-धाराओं में, अनेक युगीन रचनाओं-सर्जनाओं में, और परम्परा से चले आये तथा प्रयोग से नव-निर्मित सूत्रों में निहित होता है, जिनका विश्लेषण किया जा सकता है, और कृतिकार की मनोगुहाओं में—बहु वचन जान-बूझकर रख रहा हूँ—जिनमें कोई विचक्षण शोधक ही किसी विशिष्ट संयोग से झाँक पाता है। पुराने समय का आनन्दवादी आलोचक भी अपने स्वाध्याय, अनुभव, पैठ से आनन्द का वह घनत्व प्राप्त करता था जो साधारण पाठक की पहुँच से बहुत दूर होता था। उपर्युक्त विचारधाराओं ने आज के आलोचक को अपनी प्रतिक्रिया में सचेत रहने के नये आयाम दिये हैं। शोधक के लिए साहित्य का पूरा क्षेत्र खुल गया है। शोध से साहित्य के बड़े अद्भुत रहस्य खुल सकते हैं बशर्ते कि शोधक में Genuine Research spirit हो—सच्ची शोध-धर्मिता हो—तथ्यों को एकत्र करने के लिए धैर्य हो, और तथ्यों से सही परिणाम निकालने के लिए कल्पना हो। आप इस पर आश्चर्य न करें, कि शोध के लिए कल्पना भी आवश्यक है, कल्पना जो आसमानी,

वादली, वायवी न हो, वल्कि जिसके पाँव ठोस धरती से लगे हों, जो तथ्य पर आधारित हो। कल्पना से विहीन तथ्य किन भोंड़े परिणामों पर पहुँच सकता है, इस पर मुझे एक किस्सा याद आ गया है।

एक राजा था। उसने अपने लड़के को राज्य के सबसे बड़े ज्योतिषी के पास ज्योतिष विद्या सीखने के लिए भेजा। कई वर्षों तक शिक्षा देने के पश्चात् ज्योतिषी राजपुत्र के साथ राजदरबार में उपस्थित हुआ। उसने राजा से प्रार्थना की कि उसने ज्योतिष विद्या में राजकुमार को निष्णात और पारंगत कर दिया है। राजा ने सोचा, राजकुमार की परीक्षा लेनी चाहिए। राजकुमार को दरबार से बाहर कर दिया गया। राजा ने कोई चीज़ अपनी मुट्ठी में ले ली और राजकुमार को बुलाया गया कि वह बताये कि मुट्ठी में क्या है। थोड़ी देर के बाद कई तरह की गणना करके राजकुमार ने कहा, 'चक्की का पाट!' राजा ने क्रोध-भरी दृष्टि से ज्योतिषी को देखा। ज्योतिषी ने विनती की, महाराज, इसमें विद्या का दोष नहीं। फिर उसने राजकुमार से पूछा, 'ज्योतिष ने क्या तथ्य बताये थे?' राजकुमार ने कहा, 'कोई गोलाकार वस्तु जिसमें पत्थर का भी संयोग हो।' ज्योतिषी ने राजा से कहा, 'महाराज, ज्योतिष ने ठीक ही तथ्य की ओर संकेत दिये थे; पर आपके पुत्र में कल्पना का अभाव था। वह इतना भी न सोच सका कि मुट्ठी में आनेवाली पत्थर के संयोग की गोल चीज़ केवल नगीने जड़ी अँगूठी हो सकती है।' चक्की का पाट कहने के पूर्व उसे यह तो सोच लेना था कि वह मुट्ठी में समा कैसे सकता है!—

शोध पर चर्चा के दौरान एक बार यही क़िस्सा मैंने डॉ. नगेन्द्र को सुनाया था जिस पर उन्होंने कहा था कि हिन्दी शोध-प्रबन्धों का सबसे बड़ा दोष यही है कि उनमें तथ्य तो जोड़-बटोरकर धर दिया जाता है, पर उनमें कल्पना का सर्वथा अभाव होता है। इसीलिए वे शुष्क, नीरस और अपठनीय होते हैं। कल्पना का विकार उन्हें उपहासास्पद, हेय और उपेक्षणीय भी कर देता। तथ्यों का अम्बार सत्य नहीं है। तथ्य पर आधारित कल्पना ही सत्य को उजागर करती है। शायद वड्सवर्थ का यह कथन 'What the imagination seizes as beauty must be truth', शोध के क्षेत्र में जितना लागू होता है उतना किसी और क्षेत्र में नहीं। हाल ही, मैं डॉ. टिलयार्ड की एक किताब पढ़ रहा था जिसमें केम्ब्रिज के इस पुरोधा ने, साहित्यिक-शोध के प्रति बहुत सहानुभूति न रखते हुए भी उसके सम्बन्ध में एक फ़ारमूला दिया था जिसे हम सारे शोध का मूलतन्त्र मान सकते हैं—Research is Fact+Imagination, (शोध है तथ्य+कल्पना)।

मैं किसी प्रकार का अभ्यास, प्रशिक्षण नहीं जानता, कोई दाय, उपाय नहीं बता सकता जिससे कल्पना-हीन में कल्पना जगायी जा सके। शायद यह गहन स्वाध्याय, चिन्तन-मनन, गहरी अनुभूतियों से, अथवा अविज्ञेय संस्कारों से जाग्रत होती हो। शायद हम शोधार्थी के लिए भी वही कह सकते हैं जो अंग्रेज़ी में कवि के लिए कहा जाता है कि A poet is born not made. कवि तो जन्मजात होता है वह ठोंक-पीटकर नहीं बनाया जा सकता। शोधार्थी भी जन्मजात होता है और विश्वविद्यालयों के अनुभवी अध्यापकों का यह काम है कि वे सच्चे शोधार्थियों की शोध करें और उन्हीं को शोध का काम सौंपें जो उसके अधिकारी हों। शायद शोधाकांक्षी स्वयं अपने से यह प्रश्न पूछ सकता और तटस्थ निर्णय ले सकता है। निश्चय ही, शोध की सबसे पहली और सबसे बड़ी समस्या है शोधार्थी की खोज।

शोध की दूसरी समस्या है विषय का चुनाव। विषय के सम्बन्ध में जो मैं

पहले कह आया हूँ उससे इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि विषय का सम्बन्ध किसी के देने, बताने, सुझाने से इतना नहीं जितना अपने आप उपराजने से है। 'उपराजना' देशज शब्द है। इससे शायद revealed या self-revealed का अर्थ लिया जा सकता है। जब यह पहले प्रकट होगा तो आपके रुचि-रस का क्षेत्र बतायेगा। शोध के अनुरूप बनाने के लिए उसकी सीमाएँ बनानी होंगी, उसे किसी विशेष दिशा में बढ़ाना या घटाना पड़ सकता है। यहाँ Supervisor, guide अथवा शोध-निरीक्षक बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। अच्छे, सुयोग्य निरीक्षक का काम यह है कि शोधार्थी को उसकी सीमाओं में रक्खे; उसे उधर-उधर बहकने से बचाये; सीमा के भीतर भी विषय के विभिन्न पक्षों पर उसे असन्तुलित न होने दे। यों तो प्राय: शोध प्रबन्ध की सीमा बनी होती है—उदाहरणार्थ केम्ब्रिज में शोध प्रबन्ध की सीमा 40,000 शब्दों की थी। यानी इससे अधिक न हो, पर यह आवश्यक नहीं कि यह सीमा पहुँचाई ही जाये। यदि आपकी बात सिद्ध हो गयी है तो व्यर्थ शब्द-जाल फैलाने की आवश्यकता नहीं। केम्ब्रिज के शोध-प्रबन्धों में मुझे कुछ ऐसे भी मिले जो 20,000 शब्दों से अधिक के न थे। और वे अच्छे प्रबन्ध समझे गये थे, उन पर डिग्रियाँ दी गयी थीं। बहुत बार ऐसा भी होता है कि शोधार्थी ऐसा विषय ले लेता है कि उसे सीमित संख्या से अधिक शब्द इस्तेमाल करने पड़ते हैं। अगर कोई सीमा न हुई तो इस अधिकता में वह किसी हद तक जा सकता है। मैं इसमें विषय के चुनाव की ग़लती देखूँगा। आपको बड़ी किताब लिखनी है तो लिखिए। समालोचक के लिए सीमा नहीं बनी। पर शोधार्थी के लिए बनी है। केम्ब्रिज के इतिहास में ऐसे अवसर आये हैं जब शोधार्थी कोई बड़ा और फैला विषय लेकर आया है; वह अपने विषय का आग्रही है और उसे राय दी गयी है कि वह उस पर कोई ग्रन्थ लिखे; वह उपयोगी भी होगा, उसको मान भी मिलेगा, पर वह शोध-प्रबन्ध के योग्य नहीं। हर समालोचना शोध नहीं। शोध समालोचना का एक विशिष्ट रूप है। शोधक को उस विशिष्टता को बनाये रहना है। समालोचक बहुत-सी बातें अपनी विद्वत्ता, अपने व्यक्तित्व के अधिकार से कह सकता है; शोधक को यह नहीं भूलना है कि वह विद्यार्थी है, उसे अपनी हर सम्मति, अपने हर निर्णय के लिए आधार, सबूत प्रस्तुत करना है। सम्भव है, वह जिस विषय पर काम कर रहा है उससे मिलते-जुलते विषय पर दूसरे काम कर चुके हों। यदि वह उनसे सहमत अथवा असहमत होता है तो उसे सकारण होना होगा। फ़ुटनोट्स या टिप्पणियों की प्रचुरता अच्छे समालोचना ग्रन्थ में बाधा मानी जायेगी, पर शोध प्रबन्ध की वे शोभा हैं। वे सबूत हैं कि शोधक हर क़दम पर अपनी ज़मीन के प्रति सतर्क-चौकस है।

शोध की तीसरी समस्या है सामग्री की। अगर विषय शोधक की रुचि-रस से निकलता है तो अपने विषय की सामग्री वह जानता है। उसके लिए और जो आवश्यक हो उसका सुझाव उसका निरीक्षक देता है। विदेशों में बहुत अच्छे पुस्तकालय हैं जहाँ प्राय: सभी वांछित ग्रन्थ ही नहीं उपलब्ध होते, पत्र-पत्रिकाएँ भी प्राप्य होती हैं। युनिवर्सिटी अथवा विशिष्ट संस्थाएँ बहुत-सी शोधोपयोगी, अप्रकाशित सामग्री, पाण्डुलिपियाँ, पत्रादि सुरक्षित रखते हैं। विदेशों में निश्चय ही समस्या चुनाव की होती है। किसी भी विषय पर इतनी सामग्री प्राप्य होती है कि सबकुछ को पढ़ना असम्भव है। यहाँ भी निरीक्षक के सुझाव उपयोगी हो सकते हैं। अपने देश में सामग्री का अभाव है। शोधार्थी की आधी शक्ति शोध-सामग्री के जुटाने में खर्च हो जाती है। प्राय: अन्त तक उसे प्राप्य सामग्री से

सन्तोष नहीं होता। फिर शोध कार्य किस प्रकार सन्तोषजनक हो सकता है।

पर शोध-सामग्री जुटाने से अधिक बड़ी समस्या है कि शोध-सामग्री का उपयोग किस प्रकार किया जाय। यहाँ कोई चीज़ इतनी सहायक सिद्ध नहीं होती जितनी अपने लक्ष्य की सुस्पष्टता। शोधार्थी को अपना सारा स्वाध्याय इस दृष्टि से करना होता है कि वह जो सिद्ध करने चला है उसमें कब, कहाँ, किस चीज़ का उपयोग किया जा सकता है। शोध-दृष्टि विकसित कर स्वाध्याय करनेवाले को, यह मैं अनुभव से कहता हूँ, बीसों ऐसी चीजें मिलती हैं, जो रोचक, आकर्षक, नयी, पहली बार खोजी लगती हैं और उनकी ओर खिंच जाने का खतरा रहता है, पढ़ते समय भी, लिखते समय भी। इनसे बचना बहुत ज़रूरी है। अपना कोई दृष्टिकोण बनाकर चलनेवाले की विपरीत दृष्टिकोण बनाकर चलनेवालों से जगह-जगह टक्कर होती है। शोधक को जानना चाहिए कि दूसरे को ग़लत साबित करना उसका लक्ष्य नहीं है; उसका लक्ष्य है अपने को सही साबित करना। शोधार्थी से सर्वथा मौलिक लेख की प्रत्याशा नहीं की जाती। सहमति, असहमति, समर्थन, असमर्थन के लिए उसे बहुतों के विचारों का सकारात्मक या नकारात्मक उपयोग करना पड़ता है। बहुत बार उद्धरण भी देने पड़ते हैं। यह शोध की नैतिकता है कि कोई चीज़ अपने सन्दर्भ से इस प्रकार हटायी या निकाली न जाये कि मूल लेखक या विचारक के प्रति अन्याय हो। उद्धरण की शुद्धता पर तो हमेशा बल दिया जाता है। उससे किसी प्रकार की स्वतन्त्रता लेना अक्षम्य समझा जाता है। शोधक कुछ सिद्ध करने के लिए तो चलता ही है, पर शत-प्रतिशत कोई चीज़ सिद्ध होती नहीं। इसका आग्रही प्रायः असन्तुलित हो जाता है। सन्देह की थोड़ी-बहुत दरारें विश्वास के बाँध की मजबूती होती हैं। Categorical statements (फ़तवे-बाज़ियाँ) शायद शोध के सबसे बड़े दूषण माने जायेंगे।

अन्त में आती है समस्या शोध के परिणाम को स्वरूप देने की यानी शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने की। इसकी अब पूरी तकनीक बन गयी है कि उसमें क्या-क्या हो और किस क्रम अनुपात से हो --प्राक्कथन और भूमिका जिसमें विषय को प्रस्तुत किया जाये, उसकी सीमाएँ निर्धारित की जायें, उसे सम्बद्ध साहित्यिक समस्याओं से अलग किया जाये; फिर कई परिच्छेदों में उसके विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला जाये और अन्त में परिणाम निकाला जाये, विशिष्ट शब्द परिभाषित किये जायें, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दी जाय आदि-आदि। इन पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, पर शोध-प्रबन्ध के मूल रूप पर कुछ कहना चाहूँगा।

आदर्श शोध-प्रबन्ध पूरा पढ़ने पर एक Unity, एक इकाई का प्रभाव दिमाग़ पर छोड़ता है। जैसे जीवन में वैसे साहित्य में बहुत-सी चीज़ें यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी हैं। शोध प्रबन्ध जैसे कुछ को लेकर एक इकाई में जोड़ देता है। कुछ चीज़ों की एक साफ़ तस्वीर दिमाग़ के सामने आती है—Chaos में से एक Cosmos जन्म लेता है —बिखराव में से एक व्यवस्था।

अभिव्यक्ति की हर विधा की एक उपयुक्त शैली होती है। उपन्यास जिस शैली में लिखा जाता है उसमें निबन्ध नहीं, ललित निबन्ध जिस शैली में लिखा जाता है उसमें विश्वकोष की टिप्पणियाँ नहीं। शोध-प्रबन्ध की एक विशिष्ट शैली होती है। शोधक कोई बात सिद्ध करने चलता है तथ्यों के आधार पर। मोटे तौर पर उसे तर्क की शैली कह सकते हैं। उसका सबसे बड़ा गुण होता है सुस्पष्टता। यह उसी से सधती है जो अपनी विचारणा (thinking) में सुस्पष्ट हो। भाषा का लालित्य या घेर-घुमावपन यहाँ अवांछित है। संयम, सन्तुलन,

अपनी सीमाओं की स्वीकृति, दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति उदारता, अपनी स्थापनाओं के प्रति आस्थावान रहते हुए भी अनाग्रह, अच्छे शोध-प्रवन्ध के स्पृहणीय गुण समझे जाते हैं। ये सब गुण सहज-साध्य होते हैं अगर हम शोधी की विशुद्ध spirit—चेतना—से शोध में प्रवृत्त हों। खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस देश में, विशेषकर हिन्दी में हम शोध के लिए बड़ी ग़लत spirit में जाते हैं। विदेशों में शोध के सम्बन्ध में जो स्वस्थ स्थापनाएँ बनी हैं, उनकी यह चर्चा शायद आपको अपने यहाँ की शोध-समस्याओं पर कुछ सोचने-विचारने को बाध्य करे। धन्यवाद।

ग़ालिब की जीवनी*

'ग़ालिब' का देहावसान सन् 1869 में हुआ, पर उनकी यश:काया जरा-मरण के भय से मुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर चुकी है। उनका काव्य समय की कसौटी पर चढ़कर ख़रा और सजीव ही नहीं सिद्ध हुआ, उसकी सप्राणता बढ़ती गयी है। यह उचित ही है कि आज हम अनेक रूपों में उनके कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं। कवि के प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि यही है कि हम उसकी रचनाओं को पढ़ें, उनको समझें, उनके भाव-विचारों से एकात्म हों और उनसे अपने जीवन के लिए सम्बल और प्रेरणा ग्रहण करें। ग़ालिब-शताब्दी की अन्तिम परिणति मैं इसी रूप में देखना चाहूँगा।

कविता के प्रति आकर्षण प्रायः कवि के प्रति भी आकर्षण जगाता है—उसके भौतिक जीवन के प्रति। कवि का जीवन किसी राजा अथवा सेनानायक का जीवन नहीं कि उसमें बहुत-सी प्रदर्शनकारी, विचित्र अथवा कौतूहल-वर्द्धक घटनाएँ हों। प्राय: उसका जीवन, उसका संघर्ष आन्तरिक होता है, जो किसी परिवर्तित रूप में, उसके काव्य में प्रतिबिम्बित होता है, और जिसकी शोध समालोचकगण करते रहते हैं। वस्तुतः यह आन्तरिक जीवन ही कवि का सच्चा जीवन है, फिर भी उसके भौतिक जीवन के प्रति भी, प्रायः लोगों की जिज्ञासा होती है। इस वार्ता का उद्देश्य 'ग़ालिब' के भौतिक जीवन पर ही कुछ प्रकाश डालना है।

'ग़ालिब' तख़ल्लुस है। कवि का पूरा नाम था, असदुल्ला ख़ाँ बेग़। वे अपनी कविता में 'ग़ालिब' और 'असद' दोनों को तख़ल्लुस की तरह प्रयोग करते हैं। किसी समय वे मिर्ज़ा नौशा के नाम से भी प्रसिद्ध थे, मिर्ज़ा ग़ालिब उन्हें प्रायः कहा ही जाता है।

ग़ालिब के बाबा, कोकान बेग़ ख़ाँ, जो सलजोकी तुर्क थे, शाह आलम के शासनकाल में, समरक़न्द से भारत आये थे; और उन्हें शाही सेना में कोई पद दिया गया था। ग़ालिब ने अपने किसी शेर में अपने पूर्वजों के सौ पुश्त से सिपहगिरी के पेशे का दावा और गर्व किया है। अपने को भी उन्होंने 'आजाद मर्द' कहा है। उनकी कविता में यह सिपाहियाना तेवर जगह-जगह देखा जा सकता है।

यह मुग़ल साम्राज्य के विघटन का समय था। निजाम, नवाब, मराठे,

* रेडियो वार्ता, फरवरी, 1969 में प्रसारित।

राजपूत—सब केन्द्र से अपने को स्वतन्त्र मानकर अपनी-अपनी सीमाओं में अपना प्रभुत्व स्थापित करने और दूसरों के प्रभुत्व को समाप्त करने में लगे हुए थे, और यह स्थिति अंग्रेजों के अपने राज्य-विस्तार के लिए बहुत अनुकूल थी।

ग़ालिब के पिता अब्दुल्ला बेग़ ख़ाँ ने क्रमश: लखनऊ में नवाब आसफ़ुद्दौला की फ़ौज में, हैदराबाद में निज़ाम अली ख़ाँ की फ़ौज में, और अलवर में राजपूत राजा बख्तावर सिंह की फ़ौज में सिपहगिरी की थी, जहाँ राजा की ओर से किसी जागीरदार से लड़ाई करते हुए उनकी मृत्यु हुई—सन् 1802 में।

ग़ालिब की ननसाल आगरे में थी जहाँ उनका जन्म 27 दिसम्बर, 1797 को हुआ था। जिस हवेली में ग़ालिब पैदा हुए थे, वह अभी मौजूद है; आजकल उसमें लड़कियों का कोई स्कूल है। जब ग़ालिब के पिता की मृत्यु हुई वे केवल पाँच वर्ष के थे।

ग़ालिब अपने चाचा के संरक्षण में आये, जिनका नाम नसरुल्ला बेग़ ख़ाँ था और जो मराठों की ओर से अकबराबाद के सूबेदार थे। मराठों के पतन और अंग्रेज़ों के उत्थान के समय वे अंग्रेज़ों की ओर रहे और जब 1806 में किसी लड़ाई में वे मारे गये तो उनके परिवारवालों को एक पेन्शन दी गयी जिसमें से ग़ालिब का हिस्सा 750) सालाना पड़ा यानी 62॥) महीना। चाचा की मृत्यु के समय ग़ालिब की अवस्था नौ वर्ष की थी।

ग़ालिब की प्रारम्भिक शिक्षा आगरा में हुई। उनके ग्रन्थों से अनुमान लगाया जाता है कि ग़ालिब की शिक्षा फ़ारसी, अरबी, ज्योतिष, तर्क-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, हिकमत, संगीत, तत्त्वज्ञान में हुई होगी, पर प्रतिभा सहज रूप में अपने वातावरण से भी बहुत कुछ ग्रहण कर लेती है। इतना निश्चित है कि ग़ालिब ने दो वर्ष तक मुल्ला अब्दुल समद ईरानी से सूफ़ीवाद की शिक्षा ली थी और उसका उदारवादी प्रभाव ग़ालिब के काव्य और जीवन पर बराबर बना रहा।

ग़ालिब का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था में नवाब-लोहारू की भतीजी ग्यारह वर्षीय उमराव बेगम से हुआ। पत्नी को वे पाँव की बेड़ी ही समझते रहे, और दिल्ली को जेलख़ाना, जहाँ अब वे सारी उम्र रहने को आ गये थे। एक डोमनी से भी उनका प्रेम हुआ था, जिसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गयी। नारी-प्रेम की प्रेरणा के संकेत ग़ालिब के काव्य में पर्याप्त हैं। विवाह से वे अपने ससुर इलाही बख़्श के सम्पर्क में आये जो सूफी वृत्ति के व्यक्ति थे। साथ ही फ़ज़ल हक़ ख़ैराबादी की संगत ने भी ग़ालिब में सूफ़ी प्रवृत्ति की पुष्टि की। ग़ालिब ने अपने एक शेर में 'वो मसायले तसव्वुफ़' की ओर संकेत किया है जैसे वह उनकी कविता का ख़ास विषय हो, गो ऐसा है नहीं।

मेरी ऐसी धारणा है कि ग़ालिब विशुद्ध शायर की ज़िन्दगी बिताना चाहते थे जिसमें पढ़ने-लिखने के लिए फ़ुरसत और सुविधाएँ हों, शायरी और शराबनोशी के मुशायरे और मजलिसें हों, और आराम की ज़िन्दगी बसर करने के लिए किसी प्रकार की आर्थिक चिन्ता न करनी पड़े। और आर्थिक दृष्टि की यह निश्चिन्तता ही ग़ालिब के भाग्य में नहीं बदी थी। और इसी के लिए वे जीवन भर संघर्ष करते रहे। अर्थ समाज, सरकार और संस्था के पास है। शायर के पास जो गुण है उसका कोई आर्थिक मूल्य नहीं है। वह अपना मूल्य मनवाने को इनसे टक्कर लेता है, जीतता है, हारता है, समझौता करता है, शायद ऊपर से; भीतर से अपने ही ऊपर कुढ़ता है और अपने इस जद्दोजहद को आवाज़ देता है, जो सभी संघर्ष में पड़े लोगों के हृदयों की प्रतिध्वनि बन जाती है।

62।।) महीने की पेन्शन से असन्तुष्ट होकर ज़्यादा का दावा गवर्नर जनरल की कौंसिल में पेश करने के लिए ग़ालिब ने 1826 में यानी 29 वर्ष की अवस्था में कलकत्ते का सफ़र किया—घोड़े, नाव, बैलगाड़ी से; और बीच में लखनऊ, कानपुर, बनारस, पटना, मुर्शिदावाद होकर गुज़रे। 1829में लौटे। आर्थिक दृष्टि से कोई लाभ नहीं हुआ। यात्रा के अनुभव ने कविता को ही कुछ दिया हो तो दिया हो।

1842 में ग़ालिब ने फ़ारसी की अध्यापकी करनी चाही थी, पर स्वाभिमान खोकर नहीं। स्वाभिमान रहा, नौकरी नहीं मिली।

ग़ालिब अपने आर्थिक संकटों से बचने के लिए घर पर जुआ खेलाने और नाल का रुपया लेने लगे। 1847 में पकड़े गये, जुर्माना हुआ, सज़ा हुई। छह वर्ष पहले जब इसी जुर्म में पकड़े गये थे, केवल जुर्माना देकर छूट गये थे।

1850 में बहादुर शाह ज़फ़र ने तैमूर वंश का इतिहास लिखने के लिए ग़ालिब को 50) महीना देना शुरू किया। ''ज़ौक़' के मरने के बाद बादशाह और उनके उत्तराधिकारी के उस्ताद होने के नाते उन्हें 400) सालाना मिलने लगे, पर उस धन को स्वीकारने के लिए उन्होंने भीतर-ही-भीतर अपने को कितना धिक्कारा था!

'ग़ालिब वजीफ़ा ख़्वार हो दो शाह को दुवः,
वह दिन गये कि कहते थे नौकर नहीं हूँ मैं।'

शेर सबूत है कि ग़ालिब का 'आज़ाद मर्द' कहीं अब भी जीवित था।

लखनऊ के नवाब वाज़िद अली शाह ने भी पुराने पैतृक सम्बन्धों के नाते ग़ालिब को 500) सालाना वजीफ़ा दिया, पर दो ही वर्ष बाद लखनऊ की नवाबी ख़त्म हो गयी।

सात बरस ग़ालिब को रोटी देकर 1857 में दिल्ली की सल्तनत भी ख़त्म हो गयी। ग़दर की गड़बड़ी में दो बरस पेन्शन बन्द रही। ग़ालिब क़र्ज़ ले-लेकर अपना काम चलाते रहे। 1859 में उन्होंने रियासत रामपुर की यात्रा की और वहाँ से 100) महीने का वजीफ़ा मिलने लगा। ज्यादा रुपया पुराने क़र्ज़ों को उतारने में जाता, जो किसी समय 50-50 हज़ार तक पहुँच गया था।

ग़ालिब का पारिवारिक जीवन भी सुखमय न था। सात बच्चे हुए पर कोई पन्द्रह महीने से अधिक न जिया। भाई पागल था, जिसकी बाद को मृत्यु हो गयी। गोद लिया बेटा भी जवानी में मरा, अपने दो छोटे बेटों के भरण-पोषण का भार ग़ालिब पर छोड़कर। जीवन के अन्तिम दस वर्ष अनेक रोगों से जूझते बीते। जब वे मरे तब उन्हें निज़ामुद्दीन में दफ़नाया गया। उनकी क़ब्र पर 1957 में स्वतन्त्र भारत की सरकार ने संगमरमर की चौखण्डी बनवायी।

ग़ालिब अपने संघर्षों में मर मिटे; पर उन्हीं संघर्षों में उन्होंने जिस कविता को जन्म दिया, वह अमर है।

ग़ालिब की कविता*

ग़ालिब का नाम आज हमारे देश के वातावरण में बार-बार गूँज रहा है। कुछ ही महीनों बाद उनकी निर्वाण शताब्दी मनायी जाने को है; उनकी और उनके काव्य

---

* रेडियो वार्ता, दिसम्बर, 1968 में प्रसारित।

की चर्चा बराबर की जा रही है, कई रूपों में यह उत्सव मनाया जायेगा, और उस अवसर की स्मृति को स्थायी बनाने के लिए बहुत कुछ किया जायेगा। एक कवि का काव्य समय की कसौटी पर चढ़कर खरा सिद्ध हुआ है—यह वास्तव में उस कवि की स्मृति को श्रद्धांजलि समर्पित करने का समय है। हमारे यहाँ जन्म-जयन्ती मनाने की प्रथा है; उसके पीछे एक विचारधारा है, पर कवि की मृत्यु-जयन्ती मनाने के पीछे भी एक विचारधारा है। इक़बाल ने कहा था कि Many a poet is born after his death—बहुत-से कवियों का जन्म उनकी मृत्यु के पश्चात् होता है। सच पूछें तो जब हम किसी कवि की मृत्यु-जयन्ती मनाते हैं तो उसकी कविता की ही जन्म-जयन्ती मनाते हैं। किसी काव्य की श्रेष्ठता का इससे बड़ा और क्या सबूत हो सकता है कि वह काल की सीमाओं को पारकर भी अपनी सत्ता बनाये रहे, देश की सीमाएँ भी पार कर सके तो क्या कहना, पर उसके लिए, यदि उसकी भाषा का देशान्तरों में प्रचार नहीं हुआ तो अच्छे अनुवादों की आवश्यकता होगी। मैंने सुना है कि ग़ालिब का कुछ अनुवाद अंग्रेज़ी तथा कई अन्य भाषाओं में हुआ है, गो काव्य का सौन्दर्य अनुवादों में प्राय: पूरी तरह व्यक्त नहीं हो पाता।

काल-प्रवाह में ग़ालिब की कविता ने अपनी सत्ता ही नहीं बना रखी, उसने समय के साथ अपनी श्रेष्ठता भी सिद्ध की है। उर्दू के वे सबसे बड़े शायर माने जाते हैं; और हिन्दी जाननेवालों में भी उनके प्रेमियों-प्रशंसकों की कमी नहीं रही। आंशिक रूप में उनकी कविताएँ कई बार नागरी अक्षरों में पहले भी प्रकाशित हुई थीं; इधर पिछले कुछ वर्षों में उनके पूरे दीवान नागरी अक्षरों में प्रकाशित हुए हैं। कई ख्याति-प्राप्त हिन्दी साहित्यकारों ने टीका-टिप्पणी के साथ उनके दीवान को सर्व साधारण के लिए सुलभ बनाने का भी प्रयत्न किया है। सर्व साधारण में तो उनकी कविता ने उनके जीवन के प्रति भी रुचि जगायी। कई वर्ष हुए 'मिर्ज़ा ग़ालिब' नाम से एक फ़िल्म भी बनी थी जो बहुत लोकप्रिय हुई थी। शताब्दी वर्ष में सरकार की ओर से ग़ालिब पर वृत्त-चित्र भी बनाया जा रहा है। जन साधारण ने केवल उनकी जीवन-घटनाओं में रुचि नहीं दिखायी; पाकेट-बुक्स और छोटे संकलनों में उनकी रचनाएँ बहुत बड़ी संख्या में बिकी हैं और उनकी माँग बराबर बनी रहती है। यहाँ ग़ालिब के महान कवि होने का दूसरा सबूत है। संसार में जितने भी बड़े कवि हुए हैं, वे विद्वानों की तो प्रशंसा पाते ही हैं—'जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं : सो श्रम बादि बालकवि करहीं।'— जन साधारण में भी लोकप्रिय होते हैं। तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के विषय में ठीक ही कहा था, 'जन-रंजन सज्जन प्रिय एहा।' ग़ालिब की कविता भी जन-रंजनी और सज्जन-प्रिय सिद्ध हुई है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग़ालिब इस देश के महान कवियों में हैं। बड़े-बड़े विद्वानों, आलोचकों ने उनके काव्य को समझने, उसका विवेचन करने का प्रयत्न किया है तो जन साधारण ने उनकी पंक्तियों में अपनी भावना को मूर्तिमान पाया है, अपने उल्लास-अवसाद अथवा जीवन की विभिन्न मानसिक परिस्थितियों में ग़ालिब का शेर पढ़कर, या उसे उद्धृत कर, अपने आपको व्यक्त किया है, अपने को बहलाया है या अपने घावों को सहलाया है।

जीवन में कविता का उपयोग क्या है ? इसके उत्तर में लोग उसे पाठ्य-क्रम में रखने से लेकर शोध का विषय तक बता सकते हैं। कविता का यह उपयोग भी होता है, पर मेरी दृष्टि में कविता का यह मूल उपयोग नहीं। कवि, जगत और जीवन के प्रति अपनी आवेगपूर्ण भावनाओं, विचारों को भी व्यक्त करता है; और

पाठक या श्रोता उसी कवि की वाणी को दुहराता है जो केवल अपनी नहीं, उसकी भावनाओं को भी व्यक्त करने में सफल होता है। यह वही कवि कर सकता है जो अपने को जग और जीवन, युग और युग की समस्याओं और उससे जूझनेवाली जनता से अपने को एकात्म करके लिखता है; जो अपने को समझने में, अपने प्रति ईमानदार रहने में, मानवता को ही समझ लेता है, मानवता के प्रति ही ईमानदार हो जाता है। मेरी दृष्टि में ग़ालिब ऐसे ही कवि थे। वे अपने प्रति पूर्णतया ईमानदार और सच्चे हैं, पर अपने को जैसे माध्यम बनाकर उन्होंने मानवता के ही दुख, दर्द, सुख, संघर्ष और शत-शत भावों के प्रति सच्चाई और ईमानदारी बरती है।

मैं उर्दू थोड़ी-बहुत पढ़ लेता हूँ, फ़ारसी तो बिल्कुल नहीं पढ़ सकता, और सुनता हूँ कि मिर्ज़ा ग़ालिब की फ़ारसी कविता परिमाण में बहुत अधिक है, लेकिन ग़ालिब की ख्याति उनकी उर्दू कविता के ही कारण है। और उर्दू में भी मिर्ज़ा ग़ालिब की कई शैलियाँ हैं—कहीं तो फ़ारसी के बिल्कुल क़रीब और कहीं पर सीधी-सादी खड़ी बोली। मैं स्वीकार करना चाहता हूँ मैंने ग़ालिब को, यानी उनकी उर्दू कही जानेवाली कविता को, नागरी अक्षरों में ही पढ़ा है। उनके फ़ारसी या फ़ारसी-बहुल शेरों में क्या बुलन्दी है, इसे बताने का मैं अधिकारी नहीं हूँ, पर गहराई उनकी सरलतम भाषा में ही आयी है। ग़ालिब की सरलता कोई सस्ती सरलता नहीं—सस्ती सरलता से उर्दू पटी पड़ी है। ग़ालिब की सरलता बड़ी गम्भीरता, बड़े दर्द और बड़ी मार्मिक अनुभूतियों की सरलता है। साहित्य में इसके सैकड़ों उदाहरण हैं कि जब किसी गम्भीर स्थिति को सरलतम शब्दों में व्यक्त किया गया है तभी वह अधिक वेधक हो पायी है। गम्भीर स्थिति में सरलता ही स्वाभाविक होती है, पर यह भी जान लेना चाहिए कि हर सरल अभिव्यक्ति गम्भीरता ही नहीं प्रकट करती। कुछ पंक्तियाँ आपके सामने प्रस्तुत करूँ तो आप स्वयं देखेंगे कि उनके पीछे कितना कुछ है—

'दिल में ज़ौक़े-वस्लो यादे-यार तक बाक़ी नहीं,
आग इस घर को लगी ऐसी कि जो था जल गया।'

शेर की दूसरी पंक्ति में एक भी शब्द ऐसा नहीं जो किसी अपढ़ को भी न मालूम हो, पर कितने बड़े विध्वंसक की पीड़ा इसके पीछे है। और देखिए—

'किससे महरूमिए-क़िस्मत की शिकायत कीजे,
हमने चाहा था कि मर जायँ, सो वो भी न हुआ।'

यहाँ भी पहली पंक्ति में कठिन शब्द हैं, पर दूसरी पंक्ति कितनी सीधी-सादी भाषा में है। ऐसा ग़ालिब के शेरों में अक्सर है। उर्दू के शेरों का ढाँचा ही ऐसा होता है। पहली पंक्ति कुछ तथ्य-सा रखती है, दूसरी परिणाम निकालती है, या कभी-कभी पहली परिणाम बता देती है, दूसरी कारण बताती है। ग़ालिब की कितनी ही ऐसी सरल पंक्तिताँ मुहावरा बन गयी हैं—मुहावरा वही तो बनता है जिसमें मानवता अपने युग-युग-के अनुभवों की सच्चाई को बँधा पाती है। जैसे—

'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसाँ होना।'

यहाँ 'आदमी' और 'इन्सान' का अन्तर कितनी सूक्ष्मता से बताया गया है। 'आदमी' होना तो वैसे पैदाइशी अधिकार है, पर इन्सान अपने को संस्कार से, साधन से, अध्यवसाय से बनाना पड़ता है। इसी तरह के दो-एक और उदाहरण आपके सामने रक्खूँ—

'न हो मरना तो जीने का मज़ा क्या।'

× ×

'मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसाँ हो गयीं।'

× ×

'रात-दिन गर्दिश में हैं सात आसमाँ
हो रहेगा कुछ न कुछ घबरायें क्या।'

× ×

'लाग हो तो हम उसे समझें लगाव
जब न हो कुछ भी तो धोखा खायें क्या।'

× ×

'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना'

इसी प्रकार कितनी ही ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जिनमें भाषा की सरलता, भावों की गहराई और अनुभवों की ऐसी सार्वजनीनता है कि उन्हें मुहावरे की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है।

मैं कहना चाहूँगा कि अपने उर्दू-ज्ञान की सीमा में, मुझे ग़ालिब की यही सरल गम्भीर, सार्वजनीन और सर्वकालीन अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ अधिक आकर्षक और मार्मिक लगी हैं। सुना है, किसी समय ग़ालिब स्वयं अपने फ़ारसी काव्य को अधिक महत्त्व देते थे, पर धीरे-धीरे उन्हें सरल-सीधी भाषा का जादू मालूम हुआ। 'मोमिन' का एक शेर है—

'तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता।'

ग़ालिब इन सरलतम शब्दों में अभिव्यक्त गहराई पर इतने मुग्ध हो गये थे कि उन्होंने कहा था कि काश 'मोमिन' उनका पूरा दीवान ले लेते और अपना यह एक शेर उनको दे देते। इससे स्पष्ट है कि ग़ालिब भी सरल-सहज अभिव्यक्ति, और गम्भीरता को व्यक्त करने की उसकी क्षमता के क़ायल हो गये थे। विद्वान लोग ग़ालिब की कला पर न जाने कितना कुछ कहें-लिखेंगे, पर साधारण जनता के लिए ग़ालिब की यही सरल उक्तियाँ मन्त्रवत् बनकर उनका मन मोहती और उनके दिलों में चुभती रहेंगी।

ग़ालिब के समकालीनों में 'मोमिन' और 'ज़ौक़' बड़े मशहूर शायर थे। ख़ालिस ग़ज़ल लिखने में 'मोमिन' का दर्जा बहुत ऊँचा माना जाता था। 'ज़ौक़' भाषा के शृंगारक समझे जाते थे। ग़ालिब को दार्शनिक समझा जाता था। ग़ालिब ने स्वयं लिखा था—

'ये मसायले तसव्वुफ़, ये तेरा बयान ग़ालिब,
तुझे हम वली समझते जो न बादाख़्वार होता।'

'तसव्वुफ़' का अर्थ है दर्शन। पता नहीं ग़ालिब के विशेषज्ञ उन पर कैसा दर्शन थोपते हैं। मैं कवि से कविता की प्रत्याशा करता हूँ, दर्शन की नहीं। जिस ग़ालिब को मैं समझता हूँ उसका दर्शन अगर कोई है तो वह मानव-अनुभूतियों का दर्शन है, जिसे दिमाग़ में सोचा-विचारा नहीं गया, बल्कि जिसको नस-नाड़ी में भोगा-जिया गया है।

एक दूसरी चीज़ जो मुझे ग़ालिब के निकट लाती है वह है उनकी अवसाद में डूबी हुई आवाज़। शेली का यह कथन, Our sweetest songs are those that tell of saddest thought, ग़ालिब पर भी लागू होता है। ग़ालिब का पूरा दीवान पढ़ने पर मुझे अक्सर लगा है कि वह किसी निराश, उदास, हताश और परिणामस्वरूप गम्भीर बन गये व्यक्ति की आवाज़ है। ग़ालिब कहते हैं—

'न गुले नग़मा हूँ न पर्दए साज़,
मैं हूँ अपनी शिकस्त की आवाज़।'

जीवन और जगत में कुछ ऐसा है कि भाव-प्रवण व्यक्ति उसे अपने अनुकूल न पा सकता है और न बना पाता है। ऐसी दशा में पराजित या परास्त या शिकस्त होने की भावना से अभिभूत होना कोई अस्वाभाविक नहीं।

कलाकार की महत्ता इसी में है कि वह इस जग-जीवन से असन्तुष्ट होकर भी सृजन में लगा रहता है, और कम-से-कम अपनी सृजन की दुनिया को ऐसी बनाने का प्रयत्न करता है कि उस पर कोई उँगली न रख सके—

'लिखता हूँ 'असद' सोज़िशे दिल से सुख़ने गर्म,
ता रख न सके कोई मेरे हर्फ़ पर अंगुश्त।'

ग़ालिब का सुख़ने-गर्म कभी ठण्डा न हो और उस पर कोई उँगली न रख सके।

सियारामशरण गुप्त : एक संस्मरण*

29 मार्च को प्रातः काल मैंने 'नव भारत टाइम्स' में पढ़ा कि सियारामशरणजी कई दिनों से स्थानीय सर गंगाराम अस्पताल में हैं और उनकी हालत अच्छी नहीं है।

उन्हें देखने के लिए मैं अस्पताल जाने की तैयारी में ही था कि एक सज्जन ने आकर समाचार दिया कि उनका देहावसान हो गया।

सुबह उनकी दशा का जो समाचार छपा था उससे उनके अन्त के निकट होने की आशंका तो मन में पैठ ही गयी थी—वे मूर्च्छितावस्था में पड़े थे और उन्हें आक्सिजन दिया जा रहा था; फिर भी जी धक से हो गया। मृत्यु बड़ी विचित्र है —वह बग़ैर हाथ उठाये भी मार सकती है, हाथ उठाकर भी छोड़ सकती है। उसका हाथ उठता तो दिख गया था पर मन यह मानने को तैयार न था कि वह गिरेगा ही। वह गिरा और उसने हमारे बीच से एक तपस्वी साहित्यकार को सदा के लिए हटा लिया।

मन में बड़ी ग्लानि हुई—दिल्ली में रहते हुए भी उनके दर्शन न कर सका, और अब उनका शव मात्र शेष है। मैंने अस्पताल में फ़ोन किया, नर्स ने उत्तर दिया कि उनका शव अभी कमरे में ही है। टैक्सी लेकर अस्पताल पहुँचा तो मुझे और बड़ी निराशा हुई। उनके शव को लेकर लोग चिरगाँव के लिए रवाना हो गये थे। जिस कमरे में वे थे उसे जमादार साफ़ कर रहा था। दिल्ली में जीवन किस तेजी से भाग रहा है! उनके शव के भी दर्शन मेरे भाग में नहीं थे।

मुझे निराशा पर निराशा हुई थी, पर मैं पराजित होने के लिए तैयार नहीं था। उनसे मिलने का, उनके अधिक सजीव स्वरूप से मिलने का, एक उपाय मेरे पास अब भी था। दफ़्तर पहुँचकर मैंने हिन्दी विभाग के पुस्तकालय से उनकी सभी किताबें निकलवाकर टेबिल पर रख लीं। अब मैंने उन्हें जहाँ भी खोला मुझे सियारामशरण मिले। मेरे सामने अब उनका वाङ्मय शरीर था, उनकी यश-काया थी, जिसे जरा-मरण का भय नहीं है।

खड़ीबोली के काव्य-प्रासाद की नींव डालनेवालों में तो वे नहीं थे, पर जिन्होंने

* मई, 1963 को लिखित।

उसकी दीवारों को सीधा रचकर ऊँचा उठाया उसमें उनका नाम बड़े आदर के साथ मिल जायेगा।

ऐसा याद पड़ता है कि उनकी 'मौर्य विजय' नाम की पुस्तिका मुझे विद्यार्थी-जीवन में पुरस्कार के रूप में मिली थी। इसके पूर्व मैं बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' से परिचित हो चुका था। नाम-साम्य ही यह जतलाने के लिए पर्याप्त था कि सियारामशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त के भाई हैं। 'मौर्य-विजय' की भूमिका में बड़े भाई ने इसका संकेत भी किया था कि 'लेखक मेरा अनुज है'। 'मौर्य-विजय' की प्रेरणा भी 'भारत भारती' की कुछ पंक्तियाँ थीं जो कवर पर छपी थीं :

'जिसके समक्ष न एक भी विजयी सिकन्दर की चली
वह चन्द्रगुप्त महीप था कैसा अपूर्व महाबली।'

1920-21 में महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन की छाया में बचपन से किशोरावस्था की ओर बढ़ती हुई मेरी चेतना ने अपने देश के अतीत की इस गौरव गाथा को किस चाव से पढ़ा होगा, उसकी इस समय मैं केवल कल्पना ही कर सकता हूँ। सहज-सन्तुलित भाषा-शैली में पुस्तक की एक पंक्ति मेरे दिमाग़ में उसी समय गड़ गयी थी—

'भारत के हम और हमारा भारत प्यारा।'

और आक्रमणकारी 'ग्रीक' तो न जाने कब के मर-बिला गये थे, पर जोड़ की पंक्ति को इस प्रकार थोड़ा बदलकर पढ़ने में मज़ा आता था—

'अंग्रेज़ों का गर्व छुड़ा देंगे हम सारा।'

समालोचना के नाम पर गुप्त-बन्धुओं के विषय में उस समय क्या लिखा जाता था, मुझे नहीं मालूम। हिन्दी के अध्यापकों में यह बात अक्सर दुहरायी जाती थी कि व्याकरण-सम्मत शुद्ध खड़ी बोली पद्य जैसा गुप्त-बन्धु लिखते हैं वैसा दूसरा नहीं। साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी के प्रकाशनों के विषयों में जो दूसरी बात प्रसिद्ध थी वह यह थी कि वह देश के सुधारवादी और राष्ट्रीय आन्दोलन का पोषक होता है और निःसंकोच किशोरों और नवयुवकों के हाथ में रक्खा जा सकता है। हम क्या पढ़ रहे हैं, इस पर हमारे बड़ों की काफ़ी निगहबानी रहती थी, पर सदन के प्रकाशनों का पीला कवर ही उन्हें आश्वस्त करने के लिए पर्याप्त होता था कि लड़का कोई ग़लत चीज़ नहीं पढ़ रहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सियारामशरणजी की प्रारम्भिक रचनाएँ अपने बड़े भाई की काव्योपलब्धि की अनुगामिनी प्रतीत होती हैं। एक बार उनकी कविता को महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मैथिलीशरण गुप्त द्वारा लिखित समझने की भूल की थी और इसमें सियारामशरणजी ने अपना बड़ा गौरव माना था। साहित्यकारों के विषय में जो पहला प्रभाव लोगों पर पड़ जाता है उसका मिटना ज़रा मुश्किल होता है। बहुत समय तक पढ़े-लिखों के बीच भी सियारामशरणजी की काव्य-प्रतिभा स्वतन्त्र और मौलिक नहीं मानी गयी। उनकी कविता की चर्चा आने पर एक बार मैंने पण्डित अनूप शर्मा को कहते हुए सुना था, 'दीदी नाचैं, मैं भी नाचूँ।' अनूपजी विनोदी, मनमौजी, भंग-तरंगी आदमी थे, और नहीं चाहते थे कि उनकी बातों को गम्भीरतापूर्वक लिया जाये, फिर भी उनके व्यंग्य में बहुतों की दबी-छिपी राय खुल पड़ी थी। खामोशी से नीम रज़ामन्दी ज़ाहिर होती है तो हँसी से पूरी—हँसा सो फँसा, इसी से।

खड़ीबोली हिन्दी के प्रारम्भिक पद्यकारों को बिना मात्रा गिराये हुए व्याकरण-

ुद्ध पंक्ति लिखना और सार्थकता बनाये हुए तुक भी मिलाना बड़ा कष्ट-साध्य लगता था। उस समय की पद्य रचनाओं को पढ़ते हुए ऐसा मालूम होता है कि कवियों की प्रतिभा जैसे माध्यम से रगड़-झगड़ कर रही है—कभी उसका दाँव लग गया है, कभी वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी है, और कभी कुण्ठित होकर बैठ गयी है। मेरा ऐसा ध्यान है कि सियारामशरणजी की काव्य-प्रतिभा के लिए मात्रिक छन्दों से लड़-झगड़कर उन्हें अपने अनुकूल बनाना न सहज ही था और न सुखद ही। उनके तीसरे काव्य-संग्रह 'दूर्वादिल' की सबसे सफल कविताएँ वे हैं जिनमें उन्होंने मात्रा का यह बन्धन छोड़ दिया है। मेरा तात्पर्य है 'पथ', 'बाढ़' और 'वृद्ध' शीर्षक कविताओं से। इनमें पहली बार उनकी कल्पना ने पर फैलाये हैं, उनके वर्णनों में सजीवता आयी है और उनकी भावना उन्मुक्त होकर प्रवाहित हुई है। इस बीच उन्होंने कवीन्द्र रवीन्द्र की कविताओं से परिचय प्राप्त किया था और बंगला के अक्षर मात्रिक छन्द से प्रभावित हुए थे। इन तीनों कविताओं में लघु-दीर्घ अक्षर मात्रिक पंक्तियाँ तुकान्त बनाकर रक्खी गयी हैं। अक्षर मात्रिक पंक्तियों में मात्रा की जकड़बन्दी से जो स्वतन्त्रता मिली है उसमें कवि ने खुलकर साँस ली है। पर इस छन्द की अपनी सीमा है। इसमें खड़ीबोली का ध्वनि-सौन्दर्य पूर्णतया मुखरित नहीं होता। इस विषय में पन्तजी विस्तार से 'पल्लव' की भूमिका में लिख चुके हैं।

'विषाद' में केवल एक को छोड़कर सब कविताएँ मात्रिक छन्द में थीं। सम्भवतः इस समय तक पन्त के प्रयोगों ने मात्रिक छन्दों का सहज ध्वनि-सौन्दर्य सिद्ध कर दिया था, और उससे सामयिक कवियों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। प्रारम्भिक पंक्तियों में ही छायावादी स्वर बोलता है,—

> 'जहाँ है अक्षय स्वर-झंकार,
> प्रमद-चिर-चंचल पारावार
> हिलोरें लेकर अतुल, अपार
> निरन्तर करता जय-जयकार।' आदि

परन्तु 'विषाद' की विशेषता थी उस व्यक्तिगत विषाद की संयत अभिव्यक्ति जिसको कवि ने गहराई से अनुभव किया था। उसमें इतनी शक्ति तो नहीं थी कि दूसरों को उस विषाद का सहयोगी बना ले, पर इन्हें कवि के विगलित हृदय का बोध कराने की क्षमता अवश्य थी। 'आर्द्रा' में कवि ने अपनी आर्द्र आँखों से जीवन के कई छोटे-छोटे, साधारण किन्तु मार्मिक प्रसंगों को देखा था और उनके प्रति हमारी करुणा जगायी थी। इसी संग्रह में 'एक फूल की चाह' शीर्षक कविता थी जो किसी समय बहुत प्रसिद्ध हो गयी थी। 'आर्द्रा' की करुणा विशुद्ध से उठकर सोद्देश्य बन गयी है, पर सोद्देश्यता सियारामशरण के काव्य में ऐसी चीज़ नहीं जिसके लिए लज्जित हुआ जाय या जिसके लिए क्षमा-याचना की जाये। सोद्देश्य रखकर भी जो उन्होंने उसे उपदेशात्मक होने से बचा लिया है, उसके लिए उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए।

'आत्मोत्सर्ग' गणेशशंकर विद्यार्थी के आत्म-बलिदान पर लिखा शोक-काव्य हैं। विद्यार्थीजी सियारामशरण के सगों में थे। जिन परिस्थितियों में उनकी मृत्यु हुई थी वे सत्य ही हृदय-विदारक थीं। इसमें किसे सन्देह हो सकता है कि उस घटना से कवि का हृदय बहुत ही द्रवीभूत हुआ होगा। पर बड़े आश्चर्य की बात है कि 'आत्मोत्सर्ग' करुण रस का काव्य नहीं बन सका; इसका अधिकांश गद्यात्मक होकर रह गया है। शायद 'आत्मोत्सर्ग' सियारामशरणजी की रचनाओं में सबसे

कमज़ोर है। कारण का विवेचन तो कभी समालोचकगण करेंगे।

अब तक सियारामशरणजी से मेरा परिचय केवल उनके साहित्य के द्वारा था। विशेष प्रभाव मुझ पर था उनकी 'दूर्वादल', 'विषाद' और 'आर्द्रा' की कविताओं का।

सियारामशरणजी को पहली बार मैंने 1934 में देखा। मैं अग्रवाल विद्यालय, इलाहाबाद में नया-नया हिन्दी अध्यापक नियुक्त हुआ था। सियारामशरणजी साहित्य-सदन द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकों को पाठ्य-क्रम में लगवाने के लिए हेड-मास्टर साहब के पास आये थे। उन दिनों विभिन्न कक्षाओं के लिए 3-4 वैकल्पिक पुस्तकें स्वीकृत होती थीं; प्रकाशक लोग स्कूल-अधिकारियों से मिलकर अपनी-अपनी पुस्तकें रखवाने के लिए प्रार्थना करते, ज़ोर डालते अथवा सिफ़ारिशें पहुँचाते थे। ऐसा याद पड़ता है कि पण्डित प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' भी उनके साथ आये थे और उन्होंने ही मेरा परिचय उनसे कराया था।

सियारामशरणजी क़द-काठी में मेरी प्रत्याशा के बिल्कुल प्रतिकूल निकले। मैंने मैथिलीशरणजी के दर्शन एक बार ट्रेन में किये थे—लम्बा क़द, लम्बा कुर्ता, सिर पर मण्डील बँधी; सियारामशरणजी को उनसे लम्बा होना था; मेरा छोटा भाई मुझसे लम्बा था। पर वे थे क़द से नाटे, शरीर से दुबले-पतले, रंग से साँवले। उनके सिर के झबरे, घुँघराले, सूखे बालों पर लगी गांधी टोपी लम्बी की अपेक्षा गोल अधिक लगती थी। चौड़ा माथा, चौड़ी नाक, खुला मुँह, झुकी मूँछें उनकी बौद्धिक प्रतिभा से अधिक उनके भोलेपन, सरलता और विनम्रता का संकेत कर रही थीं। आँखों में ऐसे आश्चर्य-चकित की चमक थी जो पहली बार गाँव से चल-कर किसी बड़े शहर में पहुँच गया हो। खादी का कुर्ता, धोती, थैला उन्हें पूरा गांधीवादी सिद्ध करता था।

उनसे उस समय क्या बातें हुई थीं इसकी तो मुझे याद नहीं है, अलबत्ता इतने बड़े कवि का प्रकाशक के एजेण्ट के रूप में स्कूल-स्कूल घूमना मुझे अच्छा नहीं लगा था। कुछ समय पूर्व मैं स्वयं अभ्युदय प्रेस की ओर से यही काम कर चुका था, और मेरे भाव-प्रवण, नवयुवक, कवि-मन को उस काम से जो कोफ़्त हुई थी वह मुझे अब तक कुण्ठित कर रही थी; 'मधुशाला' लिख चुका था। मैंने अपना भाव प्रकट कर दिया। पर उनके उत्तर ने मुझे पूरी तरह परास्त कर दिया—'कविता लिखना हम क्या जानें; हम तो पुस्तकों के व्यवसायी हैं।'

यह विनम्रता की पराकाष्ठा तो थी ही, जीवन के उस कटु यथार्थ की व्यंग्य-पूर्ण स्वीकृति भी थी जिससे किसी-न-किसी रूप में हर स्वप्नजीवी को टक्कर लेनी पड़ती है। इस कठोर सत्य से मैं अपरिचित नहीं था, पर जिस सहज भाव से वे उसे झेल रहे थे, या उसके साथ सहयोग कर रहे थे, उसने मुझे बहुत प्रभावित किया! मैं उससे भीतर ही भीतर कुढ़ रहा था।

'सरस्वती' में प्रकाशित 'मधुशाला' के कुछ पद उन्होंने देखे थे, पर उन्हें विकृति, विलास अथवा पलायन के स्वर से अधिक महत्त्व वे न दे सके थे; और उनकी यह राय आख़िर तक नहीं बदली। पाँच-छह वर्ष हुए उन्होंने साहित्य-सदन द्वारा प्रकाशित 'कविश्री' सिरीज़ में मेरी कविताओं का संकलन भी प्रकाशित करना चाहा था, पर चुनाव का अधिकार वे स्वयं लेना चाहते थे और मधु सम्बन्धी कवि-ताओं को कोई स्थान नहीं देना चाहते थे; और मैं कहता था कि बिना मधु सम्बन्धी कुछ रचनाओं के मेरा प्रतिनिधित्व ठीक नहीं हो सकता। विनम्र होने के बावजूद सियारामशरणजी सिद्धान्तों के मामले में झुकना नहीं जानते थे। मुझे 'कविश्री' में

रखने का विचार उन्होंने छोड़ दिया। अब मुझे पछतावा है कि अपनी कविताओं के सम्बन्ध में उनकी रुचि जानने का मैंने एक अवसर खो दिया।

दूसरी बार मैंने सियारामशरणजी को इन्दौर के साहित्य-सम्मेलन में देखा। वे वर्धा से गांधीजी के साथ ही आये थे। इस समय तक वे गांधीजी के रंग में पूरी तरह डूब चुके थे। उनके साथ उनके छोटे भाई चारुशीलाशरणजी भी आये थे। दोनों भाई गांधी टोपी, खादी के कुर्ता-धोती में आगे-पीछे चलते गांधी युग के राम-लक्ष्मण के समान लगते थे। धनुष-बाण की जगह उनके हाथों में खादी के थैले होते जिनमें पूनी-तकली रक्खी रहती—जहाँ बैठते तकली निकाल सूत कातने लगते। गांधीजी के अनुकरण पर बहुत-से लोग उन दिनों ऐसा करने लगे थे।

सियारामशरणजी मिलनसार थे, पर भीड़-भाड़ से बहुत घबराते थे। कवि सम्मेलन में वे श्रोता की हैसियत से आये थे और एक कोने में बैठे तकली चलाते जाते थे, कविताएँ सुनते जाते थे। लोगों ने उनसे बहुत अनुरोध किया तो डरते-डरते माइक पर आये। शायद दमे की पुरानी बीमारी के कारण हमेशा वे रुक-रुककर बोलते थे। कविता पढ़ने लगे तो बीच में ही भूल गये और जब दो-तीन बार प्रयत्न करने पर भी पंक्ति उनको याद न आयी तो बड़े भोलेपन से 'भूल गया!' कहकर वे उठ गये। इसके बाद मैंने किसी भी कवि-सम्मेलन में उन्हें कविता पढ़ते नहीं सुना।

कविताएँ उनकी बराबर उच्चकोटि की हिन्दी पत्रिकाओं में छपती रहीं। 'पाथेय', 'मृण्मयी', 'बापू' चौथे दशक की रचनाएँ थीं। 'पाथेय' के पीछे मुख्यतः गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन की प्रेरणा थी। 1930 में जैसे समस्त जाति अपना बल-साहस बटोरकर सरकार के दमन-अत्याचार का विरोध करने के लिए उठ खड़ी हुई थी और सब तरह का दुख-संकट सहने के लिए तैयार थी, उसी प्रकार 'पाथेय' का यात्री भी झंझा, घन-घटा, तमिस्रा तथा कुश-कण्टक, खाई-खन्दक, जंगल-पर्वत—किसी को अपने पथ की बाधा नहीं बनने देता। वह कहता है—

> 'सखे, रोक मत मुझे आज तू,
> सब कुछ है मेरे अनुकूल।'

उस आन्दोलन में लाठियाँ बरसी थीं, गोलियाँ चली थीं और जाति ने जिस अदम्य साहस और दृढ़ता से उनका सामना किया था उसकी साक्षी ये पंक्तियाँ हैं :

> 'सिर के ऊपर के प्रहार सब सुमन-समूह-समान झड़ें,
> पैरों के नीचे के काँटे मृदु मृणाल से जान पड़ें।
> भय के दीप्तानल में धँसकर उसे बुझा दें पैरों से,
> छाती खोल खले में अड़कर विपदाओं के साथ लड़ें।'

और उस आन्दोलन की असफलता पर भी कवि निराश नहीं हुआ था। उसने असफलता में भी सफलता देखी थी :

> 'घोषित है तुझको ही लेकर आज विपक्ष-विजय-भेरी,
> असफल है, हे बन्धु, आज तू, आज यही जय है तेरी।'

'मृण्मयी' में पद्यबद्ध कथाओं के द्वारा जीवन के कारुणिक, सरल, उदात्त और मंगलकारी तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया था। वस्तुतः उन रचनाओं में सियारामशरण का कथाकार ही उभर रहा था जो 'मानुषी' के कहानी-संग्रह और 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा', और 'नारी' जैसे उपन्यासों में पूर्ण विकसित हुआ। 'मृण्मयी' का सर्वोत्तम कथा-काव्य शायद 'नाम की प्यास' है।

'बापू' सियारामशरणजी की रचनाओं में सबसे सशक्त है। यहाँ कवि ने अपने

विषय के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है। बापू पर हिन्दी में इससे अच्छी रचना शायद ही हो। वाणी का विलास सियारामशरणजी की रचनाओं में प्राय: नहीं है; उसके लिए प्रयत्न तो कहीं भी नहीं मिलेगा; उन्होंने स्वयं अपनी वाणी को 'निरलंकार' कहा है। उसमें रस की कमी अथवा उसका अभाव भी है। पर 'बापू' में जैसे सात्त्विक ही सरस और उदात्त ही ओजपूर्ण हो गया है। यह रचना अक्षर मात्रिक लघु-दीर्घ तुकान्त पंक्तियों में की गयी है जिसमें सियारामशरण का कवि अधिक निर्बाध गति से विचरण करता है। उनका ऐसा विचार था कि ओज के लिए अक्षर-मात्रिक छन्द अधिक उपयोगी है। बात कुछ अजीब लग सकती है, पर यह दमे का दायमुलमरीज़, क्षीण-काय कवि अपनी वाणी में ओज भरने का सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी था। इसके लिए वह काव्य के अन्य गुण, प्रसाद और माधुर्य को नि:संकोच बलिदान कर सकता था। उसने कर्कश और कठोर का आह्वान कई स्थानों पर किया है।

'ओ भैरव, कवि की वाणी का,
मृदु-माधुर्य लजा दे आज';

—**पाथेय**

और आप चाहें तो इस पर हँस सकते हैं कि काव्य की समय-स्वीकृत परम्परा के प्रतिकूल उन्हें कोयल से नहीं, कौए से

'वाणी का उल्लास मिला, जो नहीं मात्र कोयल में;
प्राणों का उच्छ्वास उठा, जो नहीं मात्र कोमल में।
मधु में मादक ही प्रधान है, कहाँ जागरण उसमें?
सुनो, सुनो, उठकर अवलोको, यह है तीव्र-परुष में।'

—**दैनिकी**

अपने 'शुष्कोवृक्ष:' निबन्ध में उन्होंने लिखा था, 'रस कठोर में भी होता है। सब कोमल पदार्थ सुस्वादु नहीं होते।'

एक समय मधु की मादकता को प्राणों में बसानेवाला मेरा कवि यदि इस तीव्र-परुष-कण्ठी जागरण के चारण की संवेदना नहीं पा सका तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जिस समय मैंने लिखा था,

'है आज भरा जीवन मुझमें,
है आज भरी मेरी गागर',

— **मधुकलश**, '37

लगभग उसी के आसपास उन्होंने लिखा था,

'तेरे तीर्थ-सलिल से, प्रभु हे,
मेरी गगरी भरी - भरी।'

—**बापू**. '38

और उन्होंने भले ही मेरी गागर के मधु से नाक सिकोड़ी हो, पर मैं उनके पावन तीर्थ-सलिल-पात्र की ओर कम उन्मुख नहीं हुआ था।

'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' का अवसाद सियारामशरणजी के अनुभूत और अभिव्यक्त 'विषाद' से बहुत दूर की वस्तु नहीं था। उन दिनों भी एक बार उनसे काशी में मिलने की स्मृति है। उस समय मुझे उनसे जो सहानुभूति मिली, कह नहीं सकता कि वह मेरे काव्य के प्रति थी अथवा मेरे व्यक्ति के प्रति। वे बड़े कोमल-हृदय थे और दूसरों की वेदना में बड़ी जल्दी

अपने को घुला-मिला देते थे। वैसे, ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो मेरी इन रचनाओं में अधिक यथार्थता, अधिक सच्चाई अथवा अनुभूति की अधिक गहराई देखते हैं।

जो चीज़ शायद उनकी समझ में नहीं आयी, वह यह थी कि अवसाद का इतना घटाटोप उठाकर और आहों-आँसुओं का इतना सावन-भादों ठेलकर मैंने फिर से 'नीड़ का निर्माण' कर लिया था और 'सतरंगिनी', 'मिलन यामिनी' के गीत गाने लगा था। ऐसे पथ-परिवर्तन में, सम्भव है, उन्होंने मेरी कमज़ोरी देखी हो। उनकी दृढ़ता, एकरसता, एकनिष्ठा के लिए मेरे मन में सम्मान था। उनका नीड़ उजड़ा तो उन्होंने उसे फिर बसाने की कभी बात ही न सोची; एक युग-देवता के आराधक बने तो आजीवन बने रहे; एक आदर्श अपनाया तो पूरी तरह उसका पालन और समर्थन करते गये—व्यवहार में भी, उद्‌गार में भी।

परिवर्तन अथवा, एक सीमित अर्थ में, विकास जैसी चीज़ का आभास मुझे उनके काव्य से नहीं होता। वे जीवन के कवि नहीं, आदर्शों के कवि हैं। आदर्श परिपूर्णता की स्वीकृति है, उसका ह्रास-विकास कैसा। उन्होंने जीवन को आदर्श के घेरे में, अथवा आदर्श के प्रकाश में देखा है—जो है सब उज्ज्वल है, आभामय है, दिव्य है; उनका आँगन साँझ-उषा का आँगन नहीं है, उसमें धूप-छाँह का सम्मोहक मिलन नहीं है, गो उससे साधारण आँखों में चकाचौंध भी होती है। फिर भी हमारा युग जिस तमिस्रा से निकल रहा था उसमें ऐसे प्रभ प्रदेश के कल्पक को हम जितना गौरव दें, कम है। इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, यह हमारे-आपके जीवन की कल की घटना है कि उस तमिस्रा को फाड़ने का सबसे अधिक श्रेय गांधी दर्शन को है, और सियारामशरणजी ने इसी गांधी-दर्शन के प्रकाश से अपने सृजन क्षेत्र को ज्योतिर्मय किया था। शायद ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि गांधी दर्शन का जितना प्रकाश उन्होंने खींचा उतना हिन्दी के किसी अन्य लेखक ने नहीं। काश, वे उसका उतना ताप भी निरन्तर खींचते रहते जितना उन्होंने 'बापू' में खींचा है।

पिछले सात वर्षों से जब से मैं विदेश मन्त्रालय में काम करने को दिल्ली आ गया था उनके दर्शन अक्सर होते थे। मैथिलीशरणजी के राज्यसभा के सदस्य होने के कारण वे अक्सर दिल्ली आते रहते थे। उनके चेहरे पर वही भोलापन होता, उनके बात-व्यवहार में वही विनम्रता होती और उनकी आँखों में वही आश्चर्य-चकित की-सी चमक होती जिसका परिचय मुझे उनके प्रथम दर्शन पर प्राप्त हुआ था। अपने साहित्य की चर्चा तो शायद उन्होंने भूल से भी नहीं की।

मेरे मानस-प्रेम और अखण्ड मानस-पाठ की बात शायद पन्तजी ने उनसे कभी कह दी थी और इससे वे बहुत प्रभावित हुए थे। उसके लिए वे जब मिलते मेरी प्रशंसा करते और औरों से भी उसका जिक्र करते। उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि मैं उतना बड़ा रिन्द, नास्तिक अथवा अनास्थावान नहीं हूँ जितना कि लोगों ने मुझे मशहूर कर रखा है।

सियारामशरणजी मुझसे उम्र में बारह वर्ष बड़े थे। जीवन और काव्य के सम्बन्ध में उनके और मेरे दृष्टिकोण में बहुत अन्तर था। शिक्षा-दीक्षा, संस्कारों ने भी हम पर विभिन्न प्रभाव डाला था, फिर भी एक बिन्दु पर हमारा मानसिक मिलन हो गया। उन्होंने भी गीता का अनुवाद किया, मैंने भी। उन्होंने खड़ी बोली में अनुष्टुप छन्द में किया, मैंने अवधी में दोहा-चौपाई में। मैंने उनका अनुवाद पढ़ा तो मुझे लगा कि अनुष्टुप छन्द खड़ी बोली हिन्दी के लिए उपयुक्त नहीं है।

अनुष्टुप स्वीकार करने के उनके अपने कारण थे। उन्होंने मुझे जो पत्र लिखा उससे कई बातों पर प्रकाश पड़ा। अनुष्टुप का सम्बन्ध उन्होंने कवित्त छन्द से जोड़ा, कवित्त का ओज से, जिसे लाने को उन्होंने अक्षर-मात्रिक का उपयोग सफलतापूर्वक किया था। मेरी धारणा अब भी है कि खड़ी बोली का स्वाभाविक छन्द मात्रिक ही हो सकता है, माधुर्य के लिए भी, ओज के लिए भी; अक्षर-मात्रिक नहीं। इसमें जो सफलता सियारामशरणजी को मिली है उसके कारणों का विवेचन यहाँ नहीं करने जा रहा हूँ, पर उनकी धारणा स्पष्ट हो सके इसके लिए उनका पत्र नीचे दे रहा हूँ :

श्रीराम

चिरगाँव (झाँसी)
1-2-1961

प्रिय भाई बच्चनजी,

30 जनवरी के दिन का लिखा आपका कृपा-पत्र मिला। ऐसे पत्र कम ही मिलते हैं। अत: उसके लिए मेरा आभार अव्यक्त ही रहे तो अच्छा।

'गीता-संवाद' आपको बापू की पुण्यतिथि पर पाठ करने के लिए आकर्षित कर सका इसका श्रेय सारा-का-सारा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता को ही है। आपने अपने पुण्य का प्रसाद कुछ-कुछ मुझ तक भी पहुँचा दिया है। उसे सादर शिरोधार्य करता हूँ।

अनुष्टुप छन्द का प्रयोग मैंने जिस भावना से अपने अनुवाद मैं किया है, उसका उल्लेख भूमिका में कर चुका हूँ। मैं जानता था कि अधिकांशत: हिन्दी में यह वृत्त पसन्द नहीं किया जायेगा। (अक्षर ?) मात्रिक छन्द हिन्दी के लिए उसकी प्रकृति के अनुरूप नहीं माने जाते हैं, यह भी जानता था। पर मेरा अपना यह दृढ़ मत है कि मात्रिक छन्द में हिन्दी की कोमलता तो निश्चित थी, पर गीता में भाषा का जो ओज है वह बहुत ही अल्प मात्रा में उतर सकता था। ओज के लिए इसी कारण ब्रज और अवधी में प्राय: कवित्त चुना जाता रहा है, जो मात्रिक न होकर वर्ण वृत्त है। और मेरी मान्यता यह भी है कि जिस प्रकार सरसी, नरेन्द्र और वीर आदिक छन्द चौपाई परिवार के हैं उसी प्रकार कवित्त छन्द भी अनुष्टुप परिवार का है। जैसे—

राम राम सीताराम राम राम सीताराम
सीताराम सीताराम सीताराम कहिए।

सम्भवत: यह पद्माकर के किसी कवित्त का चरण है। इसके पूर्वार्द्ध में यह परिवर्तन किया जाय तो यही अनुष्टुप हो जाता है—

राम राम रमा राम राम राम रमा रमा

ब्रज और अवधी आदि सिकुड़कर अथवा पसरकर तत्सम शब्दों में अपनी रुचि के परिवर्तन कर लेती हैं। उनके कवियों को भी मात्रिक छन्द इसलिए रुचे कि उनमें शब्द के सिकुड़ने अथवा फैलने की सुविधा वर्ण वृत्तों की अपेक्षा अधिक है। और यही कारण है कि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की अपेक्षा छन्द के विषय में उनके प्रेरणा स्रोत जयदेव अथवा वैसे ही संस्कृत अथवा प्राकृत के अन्य कवि रहे हैं। ब्रज-अवधी और अन्य प्राकृत भाषाएँ इसी कारण स्थानीय अथवा क्षेत्रीय रहे गयी हैं कि वर्ण वृत्तों की-सी दृढ़ता उनमें न थी। संस्कृत सम्पूर्ण भारत में अपने को आज तक प्रतिष्ठित रख न पाती यदि वह वर्ण वृत्त जैसी सुदृढ़ न होती। उत्तराधिकार

के रूप में संस्कृत का यह गुण आधुनिक हिन्दी ने अपनाया है और इसी कारण उसे राष्ट्रभाषा का उत्तरदायित्व मिल भी सका है।

विषय के शास्त्रीय निरूपण का अधिकार मुझे नहीं है, पर आपने मेरी सम्मति चाही इसलिए इतना लिख गया हूँ। हो सकता है अनुष्टुप हिन्दी में न चले, पर वह हमारे लिए त्याज्य नहीं होना चाहिए। कम-से-कम वह हिन्दी को नाद-सौन्दर्य तो दे ही सकता है। मैंने अनेक राग-रागिनियों में अनुष्टुप अत्यन्त मधुरता से गाये जाते हुए सुना है और यदि मेरा संगीतज्ञों से परिचय होता तो मैं 'गीता संवाद' के कुछ श्लोकों की स्वरलिपि भी तैयार करवाता। आकाशवाणी से इस सम्बन्ध में कुछ साहाय्य लेना एक बार मैंने सोचा भी, पर वहाँ बड़ों में मौन रहना ही मुझे ठीक लगा।

अनुष्टुप में लघुमात्रा पादान्त में दीर्घ हो जाती है, यह कोई बड़ा दोष नहीं है। संस्कृत में हम इसे सहज ही सह लेते हैं तो हिन्दी में भी यह सहन किया जा सकता है। संस्कार की बात है। 'गीता-संवाद' के स्थितप्रज्ञ के लक्षणोंवाले श्लोकों का व्यापक प्रचार भी हुआ है, मैं अपनी कहूँ तो मुझे यह सहज ही सह्य हो गया है।

आपने 'आप' और 'तुम' या 'तू' के सम्बन्ध में सुझाव दिया है, वह मैं बाद में पढ़कर सोचूँगा कि वैसा मुझसे सम्भव है या नहीं। सम्भव होगा तो संशोधन करने का प्रयत्न अवश्य करूँगा। 'अवलोके' जैसे प्रयोग लेखक या कवि लाचार होकर करता है। शायद इतनी छूट तो उसे देनी ही पड़ेगी और उसके लिए आपसे क्षमा की भी आशा है।

आपकी यह बात सच हो सकती है कि अनुवाद का कार्य मौलिक-सा होकर सफल माना जाता है। पर गीता का अनुवाद मैं अनुवाद ही रखना चाहता था। मैं यह चाहता था कि उसका आज की राष्ट्रभाषा में ऐसा अनुवाद अवश्य हो जो मूल के स्थान पर प्रयुक्त हो सके। मैं अपनी न्यूनताएँ जानता हूँ पर आशा है, आगे की किसी कृति के द्वारा ऐसा हो सकेगा।

जिस दिन आपने प्रूफ़ की वह ग़लती देखी उसी दिन वह भाई चारुशीला-शरण की दृष्टि में भी पड़ी थी। उसे अगले संस्करण में सुधरवाने का ध्यान रखूँगा।

अपने अनुवाद की त्रुटियों का भान मुझे है। पूज्य विनोबाजी ने भी कहा था, तुम्हें समय देकर एक बार इसे मैं देख लूँगा, पर अपने स्वास्थ्य के कारण उस सम्बन्ध में उद्योग कर न सका। कुछ हो, इस कार्य में जितना समय मैंने दिया उसका सौ गुना से अधिक लाभ पा लिया है। अपने कवित्व का बल मुझे न था। इसी से अनुवाद को मौलिक जैसा करने की ओर मेरा ध्यान भी नहीं गया। और इसके लिए खेद भी मुझे नहीं है।

इतना ही यह पत्र लिख पाया था कि आपकी भेजी हुई 'जनगीता' मिली। इस कृपा के लिए मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। आपने जिस दृष्टिकोण से यह अनुवाद किया है वह स्तुत्य है। गीता जैसे ग्रन्थ के अनुवाद निरन्तर होते रहेंगे और उन सबसे लोकहित की वृद्धि ही होती रहेगी। फिर आप जैसे सामान्य कवि की कृति तो लोक के लिए विशेष रूप से आकर्षक होनी चाहिए। अभी इधर-उधर ही कुछ चौपाइयाँ देख सका हूँ। उन्हें पढ़ते हुए रामचरितमानस का स्मरण आ गया। यह भी बहुत बड़ी बात है। समय पाकर मैं इसका पारायण करने की सोच रहा हूँ। इस सत्प्रयत्न के लिए मेरी हार्दिक बधाई कृपया स्वीकार कीजिये। मेरे और आपके अनुवाद में दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट है। मैंने जो मार्ग अपनाया उसका कारण

ऊपर स्पष्ट कर चुका हूँ। आपकी दृष्टि का स्पष्टीकरण आपकी भूमिकाओं में मिला। मैं समझता हूँ, पृथ्वी इतनी बड़ी है कि दो क्या कितने हर भिन्न दृष्टिकोण के लिए उसमें स्थान है।

आपकी भूमिका में एक जगह गीता के अनुवाद के प्रसंग में यह पढ़ने को मिला कि आप मक्षिका स्थाने मक्षिका पसन्द नहीं करते हैं। इस प्रसंग में यह उपमा मुझे कुछ खटकी। क्षमा याचना के साथ ही यह बात आप तक पहुँचा रहा हूँ।

आशा है आप सानन्द हैं। कृपा बनाये रहें।

आपका
(ह.) सियारामशरण

पुनश्च—पत्र लिखने में कुछ कट-कुट गया था, इसलिए भाई चारुशीलाशरण ने उसकी प्रतिलिपि की और 'जनगीता' मिलने पर शेष अंश मैंने लिख दिया। ऐसा ही भेज रहा हूँ। क्षमा करेंगे। इस त्रुटि में भी हम दो भाइयों के नमस्कार आप तक पहुँचने का सुयोग मिल गया।

(ह.) सि. श.

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में उनका स्थान विवादास्पद नहीं। अपने बड़े भाई से उनकी यश:काया दबी रही हो, पर वह उनकी छाया नहीं रही है; उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। उनका काव्य-बोध द्विवेदी युग में जगा, पर वह छायावाद के प्रभावों से विमुख नहीं रहा। गांधी-दर्शन की स्वीकृति ने जहाँ उनके सृजन क्षेत्र को सीमित किया वहाँ उसने उसे विशिष्टता भी दी। वे अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों से सतोगुणी हैं। उन्होंने अपनी साधना से अपने को जीवन के रज और तम से अलग रखने का प्रयत्न किया है; उससे जीवन का बहुत कुछ प्राणमय उनसे छूटा भी है, पर उन्होंने जो कुछ उपलब्ध किया है वह तुलसी के शब्दों में 'निरस विसद गुनमय फल' है।

मुझे इस बात का बड़ा सन्तोष है कि आज से छह-मास पूर्व जब मेरा नया काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ तो उसे मैंने जिन विभूतियों को समर्पित किया था उनमें सियारामशरणजी का भी नाम था। संग्रह पाकर उन्होंने जो पत्र मुझे लिखा था उसमें भी उनके व्यक्तित्व की एक शुभ्र झाँकी है। यही उनका अन्तिम पत्र था जो मुझे मिला।

श्री राम

चिरगाँव (झाँसी)
5.12.62

प्रियवर बच्चनजी,

सस्नेह नमस्कार। 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसमें आपने हिन्दी की जिन विभूतियों के साथ मेरा भी स्मरण किया, उससे मेरा संकुचित हो उठना स्वाभाविक ही है। पर उसी के साथ आपके स्नेह का जो संस्पर्श भी मुझे मिला, उसने मुझे गद्‌गद ही किया। इसके लिए 'धन्यवाद' जैसा शब्द मुझे यथोचित नहीं जान पड़ता। आपके अनुग्रह को मौन रहकर ही शिरोधार्य कर रहा हूँ।

ऐसी ही कृपा बनी रहे।
आशा है आप सानन्द हैं।

विनीत
(ह.) सियारामशरण गुप्त

सुनने में आया है कि अपने देहावसान के पूर्व उन्होंने एक कथा-काव्य 'गोपिका' नाम से पूरा कर दिया था।* मैं बड़ी उत्सुकता से उसके प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। धन्य हैं वे कविर्मनीषी जो अपनी अन्तिम साँसों तक भारती का भण्डार भरते चले जाते हैं।

पन्त के काव्य में राष्ट्रीय भावना*

श्री सुमित्रानन्दन पन्त का रचना-काल लगभग 1918 से आरम्भ होता है और उनकी नवीनतम रचना 'लोकायतन' इसी वर्ष प्रकाशित हुई है। इस 45-46 वर्ष की अवधि में कवि के रूप में वे बराबर सक्रिय रहे हैं, और अब तक उनकी 27 मौलिक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें केवल पाँच गद्य रचनाएँ हैं। उनकी चुनी हुई कविताओं के आठ छोटे-बड़े संकलन भी उपलब्ध हैं। स्वाभाविक है कि इस लम्बे समय में हमारे देश में जो राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक हलचलें हुई हैं वे किसी न किसी रूप में पन्तजी के काव्य में प्रतिबिम्बित हों। पन्तजी बड़े ही भाव-प्रवण और विचार-प्रबुद्ध कवि हैं और वे अपने युग के प्रति निरन्तर सजग-सचेत रहे हैं। संसार, देश अथवा काल के प्रति उनकी जो सृजनशील प्रतिक्रिया हुई है उसी से उनके काव्य-कलेवर का अधिकांश निर्मित हुआ है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है इस काल की सबसे व्यापक और महत्त्वपूर्ण घटना रही है महात्मा गांधी के नेतृत्व में हमारी आज़ादी की लड़ाई और स्वतन्त्रता की प्राप्ति। हो सकता है कि कुछ लोग उसे केवल राजनैतिक आन्दोलन मानें, और किन्हीं अर्थों में वह ऐसा था भी, पर इसे मानने से शायद ही कोई इन्कार कर सके कि इस आन्दोलन ने देश और समाज के हर क्षेत्र को प्रभावित किया, हर क्षेत्र पर अपनी छाप छोड़ी। हिन्दी साहित्य और काव्य भी इससे अछूता नहीं रहा। जहाँ इसका प्रभाव स्थूल रूप से पड़ा वहाँ उसे पहचानना कठिन नहीं है, परन्तु जहाँ यह प्रभाव सूक्ष्म रहा उस पर प्रायः लोगों की दृष्टि नहीं गई। उदाहरण के लिए जिन कविताओं में भारतमाता, देश प्रेम, झण्डा, बिगुल, नारा, चर्खा, जेल, हथकड़ी, फाँसी, गोलीबारी, शहीद, आह्वान, बलिदान का ज़िक्र आया है उनमें तो साफ़ दिखाई पड़ता है कि ये सामयिक आन्दोलन से प्रभावित हैं। ऐसी हज़ारों कविताएँ लिखी गईं और भुला भी दी गईं; मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि इस प्रकार की कविताएँ भुलाने योग्य ही थीं। बहुत-सी ऐसी कविताएँ भी उच्च कोटि की हुई हैं और हमारे काव्य-साहित्य की स्थायी

*'गोपिका' कथा-काव्य अब प्रकाशित हो चुका है।
*रेडियो वार्ता, 1964 में प्रसारित।

निधि हैं। श्रीधर पाठक, माखनलाल चतुर्वेदी, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, सोहनलाल द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर' आदि की अनेक रचनाएँ याद आती हैं जो देशप्रेम, स्वदेशाभिमान, पराधीनता के प्रति विद्रोह, स्वतन्त्रता के प्रति अनुराग से प्रेरित हैं। इस काल में राष्ट्रीय काव्य की एक अलग धारा ही चली जिसकी अपनी गति है, अपना विस्तार है, अपना महत्त्व है। पर इसी काल में एक दूसरी धारा भी फूटी और विकसित हुई जिसे छायावाद का नाम दिया जाता है। और जन साधारण में ऐसी धारणा है कि इस काव्य का सम्बन्ध प्रायः शाश्वत, अनन्त, अनादि, अमूर्त अथवा वायवी से रहा है और समकालीन आन्दोलनों और हलचलों से इसे कुछ भी लेना-देना नहीं है—देश की मिट्टी, पानी, अश्रु, स्वेद, रक्त से यह बिल्कुल अछूती है। मेरी समझ में यह भ्रान्त धारणा है। छायावादी कही जानेवाली कविताओं पर भी राष्ट्र के उस व्यापक आन्दोलन का निश्चित प्रभाव है और इसे किसी हद तक प्रमाणित और सिद्ध भी किया जा सकता है।

यदि इतिहास के दर्शन-पक्ष की दृष्टि से विचार करें तो राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य—सब क्षेत्रों में प्रायः एक ही कारण से, एक ही समय पर, परिवर्तन आता है। अर्थात् प्रस्तुत सन्दर्भ में, जिसने साहित्य में छायावाद का रूप लिया, उसी ने राजनीति में सत्य-अहिंसा-आधारित असहयोग और सत्याग्रह का रूप लिया। साथ ही विभिन्न क्षेत्रों ने एक दूसरे को प्रेरित-प्रभावित भी किया। गांधी के विराट व्यक्तित्व का प्रश्रय पाकर राजनीति ने यदि साहित्य को अधिक प्रभावित किया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक प्रकार का सतही राष्ट्रीय आन्दोलन तो शायद कांग्रेस की स्थापना के समय से ही चल रहा था—गांधीजी के आविर्भाव के तीस बरस पहले से। गांधीजी ने हमारे सामने स्वतन्त्रता का एक महास्वप्न रक्खा और उसे देखने के लिए हमें दिव्य दृष्टि दी। उन्होंने हाथ-पाँव की बेड़ियों को खोलने के पहले हमारी चेतना को उद्‌बुद्ध किया. हमारे मानस को उन्मुक्त किया, जो चिरकाल से सुप्त, विजड़ित और भयाक्रान्त पड़ा था। आबद्ध मानस अनादि और अनन्त की कल्पना भी नहीं करता और उन्मुक्त मानस प्रभाव ग्रहण कर भी अपना व्यक्तित्व बनाये रखता है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात्—जैसे घनी अँधेरी रात के पश्चात् नवोदित सूर्य के समान गांधीजी भारतीय क्षितिज पर उठने लगे। यह वही समय था जब द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता से निकलकर हिन्दी कविता नई भाव-भूमि पर नवीन लाक्षणिकता के क्षिप्र चरण रखने लगी। छायावादी कवियों ने गांधीजी के युग-जागरण के प्रभाव को बड़ी सूक्ष्मता से ग्रहण किया। पन्तजी की गणना 'युगान्त' (1936) के प्रकाशन तक प्रमुख छायावादी कवि के रूप में ही होती रही। इस संकलन में सर्वप्रथम 'बापू के प्रति' रचना निकली और उसके पूर्व की रचनाओं में शायद ही किसी ने उन पर किसी प्रकार के राष्ट्रीय प्रभाव को देखने का प्रयत्न किया हो। और मेरा कहना है कि उन पर—जैसे अन्य छायावादी कवियों पर—राष्ट्रीय भावना का प्रभाव शुरू से ही पड़ रहा था—किसी रूढ़ अथवा सीमित अर्थ में नहीं, बल्कि एक व्यापक, सूक्ष्म और लाक्षणिक रूप में। मैं एक उदाहरण देना चाहूँगा। पन्तजी की कविता, 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि' से बहुत-से लोग परिचित हैं। यह कविता 1919 में लिखी गई थी। उसे सदा ही प्रकृति-प्रेमी कवि का उद्‌गार कहा गया है। ज़रा 1919 में भारतीय

क्षितिज पर उदित होनेवाले सूर्य को ध्यान में रखकर यह कविता पढ़ें। अपनी लाक्षणिकता और ध्वनि से यह कुछ और ही कहती प्रतीत होगी—

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि ! तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ, हे बाल-विहंगिनि ! पाया तूने यह गाना।

× ×

सोई थी तू स्वप्न नीड़ में पंखों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर, प्रहरी से जुगनू नाना;

× ×

शशि किरणों से उतर-उतरकर भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियों का मृदु मुख सिखा रहे थे मुसकाना;

× ×

स्नेहहीन तारों के दीपक, श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न-अवनि में, तम ने था मण्डप ताना;

× ×

निकल सृष्टि के अन्ध गर्भ से छायातन बहु छायाहीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर चला कुहुक टोना-माना;

× ×

मूर्च्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग, जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल, साँसों का आना-जाना;

× ×

तूने ही पहले, बहुदर्शिनि ! गाया जागृति का गाना,
श्री, सुख, सौरभ का, नभचारिणि ! गूँथ दिया ताना-बाना।

यह जागृति का गाना गानेवाला कौन था ? मूर्च्छित और स्तब्ध होकर कौन पड़ा था ? कुहुक और टोना-माना का कुचक्र रचनेवाले खल निशिचर कौन थे ? कवि के अवचेतन में या चेतन में क्या पराधीन भारत की तस्वीर नहीं थी ? क्या वह उसके साथ षड्यन्त्र रचनेवालों से परिचित नहीं था ? क्या उसे जागरण का शंख फूँकनेवाले की पगध्वनि नहीं सुनाई पड़ी थी ? हम यदि इन संकेतों के सहारे चलें और राष्ट्रीयता के प्रभाव को उसकी व्यापकता और सूक्ष्मता में देखना चाहें तो छायावादी कविता से, विशेषकर पन्तजी की कविता से, हमें निराश नहीं होना पड़ेगा।

'ज्योत्स्ना' में जिस सुसंस्कृत और परस्पर सहिष्णु समाज का चित्र खींचा गया है क्या उसपर गांधीजी के हरिजन-उद्धार अथवा हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना का प्रभाव स्पष्ट नहीं है ? 'युगान्त' के 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र', 'गा कोकिल बरसा पावक कण,' 'बढ़ो अभय विश्वास चरण धर' में क्या समग्र राष्ट्र के लिए क्रान्तिकारी आह्वान नहीं है ? 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पन्तजी अधिक खुलकर राष्ट्र के गायक के रूप में आगे आते हैं। उनकी 'भारतमाता ग्रामवासिनी' बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है। उनका राष्ट्रगान 'जन भारत हे' बहुत बार रेडियो पर सुना जाता है। चर्खे पर भी उन्होंने कविता लिखी। इस काल में विशेष ध्यान उन्होंने सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की आवश्यकता पर दिया। उनका दृढ़ विश्वास है कि भारत का भविष्य तब तक उज्ज्वल नहीं होगा जब तक वह मध्य-युगीन मनोवृत्तियों से निकलकर आधुनिकता को न अपनाये। आधुनिकता के साथ वे भारत की समय-सिद्ध आध्यात्मिकता पर भी बल देते हैं।

ऐसा समझना बड़ी भारी भूल होगी कि स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के पश्चात् जन-जीवन में राष्ट्रीय भावना की आवश्यकता नहीं रह गई। राष्ट्रीय भावना केवल ऋण-पक्षी नहीं। उसे तभी जगाने की ज़रूरत नहीं, जब किसी का विरोध करना हो। उसका धन-पक्ष भी है। हमारे राष्ट्र के निर्माण का बहुत बड़ा काम अभी हमारे सामने है। और पन्तजी इसके प्रति बहुत सचेत हैं। वे यह जानते हैं कि भारत का भविष्य संसार के भविष्य के साथ बँधा है। संसार की हलचलों से कटकर भारत न अपनी उन्नति कर सकता है, न अपना निर्माण कर सकता है। इस कारण उन्होंने अपने रूपकों में संसार में आज जितनी भी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक हलचलें हो रही हैं उन सब पर अपनी विहंगम दृष्टि डाली है और यह देखने का प्रयत्न किया है कि कहाँ से भारत को क्या लेना और किसको क्या देना है। आज संसार संकीर्ण राष्ट्रीयता के युग से बाहर चला गया है। इस कारण अपनी इधर की रचनाओं में पन्तजी मानववाद और समन्वय पर अधिक बल देते हैं।

उनकी नवीनतम रचना 'लोकायतन' भविष्य का जीवन-दर्शन ही है। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में भारत में शायद ही कुछ ऐसा हुआ हो जिसकी चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं है। भारत के पिछले इतिहास, उसके नव जागरण की दिशाएँ और उसकी परम्परागत और अभिनव प्रवृत्तियों का गहन अध्ययन कर उन्होंने उसके भविष्य को एक रूप-रेखा दी है। वास्तव में यह भारत के भविष्य की रूप-रेखा न होकर विश्व के भविष्य की रूप-रेखा है। भारत की सत्ता विश्व का अभिन्न अंग बनकर रहने में ही है। उन्हीं के शब्दों में

> मैं लाँघ विश्व मानस समस्त, प्राची पश्चिम को अतिक्रम कर
> इतिहास, धर्म, संस्कृतियों के शिखरों पर नवयुग के पग धर
> दे रहा तुम्हें जीवन-दर्शन यह महत् कल्प परिवर्तन क्षण—
> निर्माण करो नूतन भविष्य, भू जीवन हो भगवत् दर्पण।

हम यही कामना कर सकते हैं कि कवि ने भारत और संसार के भविष्य की जो कल्पना की है वह किसी दिन सत्य हो।

पाँच देशों में दो मास एक सप्ताह*

[यात्रा-संस्मरण]

भारत सरकार और साम्यवादी देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान-कार्यक्रम के अन्तर्गत मैंने शिक्षा-मन्त्रालय के आदेश पर 3 अप्रैल, 1967 से 31 मई, 1967 तक रूस, मंगोलिया, चेकोस्लोवाकिया तथा पूर्व-जर्मनी की यात्रा की।

चूँकि इसके पूर्व लबनान की राजधानी बेरूत में तीसरा अफ्रो-एशियायी लेखक सम्मेलन होने को था और मुझे भारतीय शिष्टमण्डल का नेतृत्व करने के लिए निमन्त्रित किया गया था, इसलिए विदेश-मन्त्रालय की अनुमति मिलने पर मैं उक्त सम्मेलन में भाग लेने के लिए 25 मार्च को दिल्ली से रवाना हुआ। जो टिकट मुझे मास्को जाने के लिए मिलने को था उससे सीधे मास्को जाने अथवा

*8-8-1967

बेरूत होकर मास्को जाने में किराये में कोई अन्तर नहीं पड़ता था।

शिष्टमण्डल में प्रमुख थे मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर। सज्जाद ज़हीर पहले ही बेरूत पहुँच चुके थे। मुल्कराज उसी जहाज़ में थे जिसमें मैं जा रहा था। हम लोग 26 मार्च को तड़के बेरूत पहुँचे, हल्की फुहार पड़ रही थी, हवा में दिल्ली से अधिक ठण्डक थी; घड़ी कोई तीन घण्टे पीछे करनी पड़ी।

हवाई-अड्डों के भारवाही मासिक वेतन पाते हैं और उन्हें मुसाफ़िरों से मज़दूरी माँगने का हक़ नहीं होता; कोई ख़ुशी से दे तो सभी जगह ले लेते हैं। कहीं-कहीं के भारवाही प्रत्याशा करते हैं, कहीं के माँग और कहीं के आग्रह भी। बेरूत के अन्तिम कोटि के थे। हमें बाहर ले जाने के लिए केवल पाँच पौण्ड मिले थे और वे अभी पौण्ड की शक्ल में ही थे। देना ही पड़ता तो पौण्ड को लबनानी सिक्कों में परिवर्तित कराना पड़ता। मुल्कराज ने स्थिति सँभाली। वे अभ्यस्त यात्री हैं, लबनानी भारवासियों का तेवर उन्हें अप्रत्याशित नहीं लगा। वे उसके लिए तैयार होकर आए थे। उन्होंने अपनी जेब से कुछ लबनानी सिक्के निकालकर दिए, और हम अपने होटल के लिए रवाना हुए।

दस बजे से सम्मेलन का खुला सत्र आरम्भ होने को था। हम लोग जल्दी-जल्दी तैयार होकर सभा-भवन में पहुँचे जो निकट के ही एक होटल के बड़े हाल में था। दस-बारह देशों के शिष्टमंडल सम्मेलन में भाग लेने के लिए आए थे—चीन और पाकिस्तान, जिन्होंने पिछले सम्मेलनों में भाग लिया था, अनुपस्थित थे, कतिपय राजनैतिक कारणों से। संख्या में सबसे बड़ा शिष्टमण्डल रूसियों का था; वे मास्को से एक पूरा प्लेन चार्टर कराके आए थे। शिष्टमण्डल के नेताओं को प्रीसीडियम में स्थान दिया गया, जो एक ऊँचे डायस पर था; मुझे भी वहीं जगह मिली। उपस्थिति दो-ढाई सौ के क़रीब होगी; हाल छोटा था, इसलिए अतिथियों का प्रवेश नियन्त्रित था।

फ़्लोर की भाषा अरबी थी, पर भाषणों के अंग्रेजी अथवा फ्रेंच अनुवाद इअर-फ़ोन के द्वारा सुने जा सकते थे। मध्याह्न-पूर्व के सत्र शिष्ट-मण्डल के नेताओं के भाषण के लिए थे। उद्घाटन, स्वागत भाषण के पश्चात् पहले दिन का प्रमुख भाषण रूसी शिष्टमण्डल के नेता का था। वे रूसी में बोले और उसका अनुवाद अरबी में किया गया, साथ ही इअर-फ़ोन द्वारा अंग्रेजी और फ्रेंच में सुना गया। उनके भाषण ने जैसे टोन सेट की, दिशा-संकेत दिया और फिर सभी नेता उलट-फेरकर उन्हीं की बातों को दुहराते रहे। दूसरे दिन मैंने अपना लिखित भाषण पढ़ा और किसी अंश में वह भी रूसी भाषण के प्रभाव से मुक्त नहीं था।* मैंने अपना भाषण हिन्दी में दिया जिसका अनुवाद मुल्कराज ने अंग्रेजी में किया। लबनान में तो उसका स्वागत हुआ, पर भारत के अंग्रेजी पत्रों में इसे मेरा हिन्दी कठमुल्लापन कहा गया—हिन्दी शावनिज़्म!

सारे सम्मेलन पर रूसी छाए रहे। कार्यकारिणी और खुले सत्र में भी उनके द्वारा प्रस्तुत सभी प्रस्ताव पास हुए। मुल्कराज के सुझाव पर चौथा सम्मेलन नयी दिल्ली में करने का प्रस्ताव मैंने पेश किया, जो स्वीकार कर लिया गया। इसके लिए अनुमति मुल्कराज श्रीमती इन्दिरा गांधी से लेकर आए थे, और सम्भवतः रूसी शिष्ट-मण्डल की पूर्व-सहमति भी उन्होंने प्राप्त कर ली थी। प्रायः सभी प्रस्ताव राजनैतिक स्थितियों-परिस्थितियों-सिद्धान्तों से प्रभावित थे। राजनीति से

---

*. वह भाषण इस संग्रह में अलग दिया जा रहा है।

मुक्त शायद दो ही प्रस्ताव थे—एक तो यह कि अफ्रीका-एशिया के विशिष्ट लेखन की एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जाय—'लोटस' नाम की। 'लोटस' (कमल) नाम किसका सुझाव था, इसका मुझे पता नहीं, पर इस पर भारतीय शिष्ट-मण्डल को विशेष सन्तोष हुआ था। पत्रिका का मुख्यालय काहिरा में होने को था और पहले वह अंग्रेजी और बाद को रूसी, फ्रेंच और अरबी में निकलने को थी; मैंने हिन्दी का भी सुझाव दिया था, पता नहीं वह स्वीकार हुआ या नहीं। दूसरा प्रस्ताव था, हर वर्ष अफ्रीका-एशिया के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक को 'लोटस' पुरस्कार देने का। पुरस्कार की राशि अच्छी-ख़ासी होने को थी, गो वह निश्चित नहीं की गई थी। कुछ लोगों का ख्याल था कि वह नोबल-पुरस्कार-धनराशि की टक्कर की होगी; और लेखकों में भावी प्राप्त-कर्ताओं के नाम की अनुमान-चर्चा चल पड़ी थी।*

सम्मेलन में कवि-सम्मेलन अथवा मुशायरे का कोई कार्यक्रम नहीं था, पर एक सन्ध्या को येवतेशेंको का काव्य-पाठ हुआ। येवतेशेंको रूस के नवयुवक कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं; वे भी रूसी शिष्टमण्डल के साथ आए थे। रूसी तो मैं न समझा, पर उनके काव्य-पाठ से लगा कि जोशो-ख़रोश की कविता है; और वे बड़ी नाटकीयता से पढ़ते हैं, हाथ-पाँव फेंकते हुए, चेहरे से विभिन्न भावों की मुद्राएँ प्रदर्शित करते। शायद अभिनेता बनते तो बहुत सफल होते—अच्छे डील-डौल के हैं; सुन्दर भी। ख़बर थी कि उन्हें काव्य-पाठ के लिए अमरीका बुलाया गया है और वे यहीं से जायँगे।

स्वागत समिति की ओर से बाहर से आनेवाले लेखकों के लिए मनोरंजन और ऐतिहासिक तथा दर्शनीय स्थानों को दिखाने का भी प्रबन्ध था। 'बिबलोस' को भूलना असम्भव है। रोमन युग के—आज से दो हजार वर्ष से भी अधिक समय के—दो-तीन महाकाय, नक़्क़ाशी किए दृढ़ स्तम्भ खड़े हैं। यदि ये किसी बड़े 'हाल' के अवशेष हैं तो शेष खम्भों का क्या हुआ; उनको वहाँ से हटा ले जाना असम्भव था। एक ही सम्भावना है उनके गायब हो जाने की—शायद किसी भूचाल में नीचे की धरती फटी और उन खम्भों को निगल गई। रोमनों के समय के बन्दरगाह के अवशेष भी हमने एक समुद्र-तट पर देखे।

दर्शनीय स्थानों में विशिष्ट हमने एक पर्वत की गुफा देखी जिसके अन्दर दर्पण-स्वच्छ पानी का एक बड़ा नाला बहता है। हमने उसमें नाव से यात्रा भी की। गुफा को कितना साफ़, बिजली की रोशनी से कितना प्रकाशमान, संगीत से गुंजायमान कर रक्खा गया है! दोनों तटों पर तथा गुफा की छत में भी ऊपर से चूनेवाले पानी के साथ आती मिट्टी ने प्राकृतिक बेल-बूटों की क्या अद्भुत कारीगरी की है! क्या चित्रकूट की गुप्त गोदावरी को ऐसा ही नहीं बनाया जा सकता? वहाँ भी गुफा में पानी की धारा बहती है; पर वहाँ कितना अन्धकार है, कितनी बदबू, चमगादड़ों का कितना अशोभन, घृणोत्पादक जमघट!

मनोरंजन में हमने लबनानी संगीत-कला-नृत्य का कोई प्रदर्शन नहीं देखा। कैसीनो, पेरिस की 'फ़ॉली बरजेर' की सफल नक़ल भर कहा जा सकता है। एक भाग में बहुत ऊँची बाज़ी का जुआ भी होता है। सुना, कई लाख वार्षिक आमदनी पर इन्कम-टैक्स देनेवाले ही जुआघर में प्रवेश पाते हैं—एक छोटे-से सूराख से

*लोटस पुरस्कार की धन-राशि 30,000) की रक्खी गई। 1967-68 और 1968-'69 में यह राशि तीन-तीन लेखकों में बराबर बाँट दी गई। बाद की सूचना मुझे नहीं।

जीतनेवालों की दानवी अट्टहासी मुद्रा और हारनेवालों की नारकीय शोक सन्तप्त शक्ल देखी जा सकती है; और इसके लिए भी बड़ा महँगा टिकट खरीदना पड़ता है। दोनों तरह के लोगों को सँभालने के लिए डाक्टर और नर्सों का एक दस्ता वहाँ मौजूद रहता है।

एक दिन हमें सीरिया की राजधानी दमिश्क भी ले जाया गया। वहाँ हम दमिश्क की पालियामेण्ट में बैठे और सीरिया के प्रधान मन्त्री ने फ़िलिस्तीनी शरणार्थियों की समस्या पर व्याख्यान दिया। फिर हमें शरणार्थियों के शिविरों को देखने के लिए ले जाया गया—बड़ी ही दयनीय हालतों में वे रह रहे थे। छोटी-छोटी कोठरियों से औरत, मर्द, बच्चे, बूढ़े निकलते ही आते थे—हैरत होती थी कैसे, क्या करते इतने-इतने लोग उनमें बैठे होंगे, और कितने दिनों नहीं, कितने सालों से! सुना कि दमिश्क की उमय्या मस्जिद बड़ी विराट और भव्य है। खुदा के बन्दों की माँदों को देखने के बाद—माँदों से भी बदतर थीं उनके रहने की जगहें—खुदा के रंगमहल को देखने का मेरा उत्साह जाता रहा। मुल्क जाकर देख आये। चमत्कृत थे!

भारतीय शिष्टमण्डल के हम कुछ लोग एक दिन लबनान स्थित भारतीय राजदूतावास गये। मि. खूबचन्द हमारे राजदूत हैं वहाँ; उन्होंने बड़े आदर से हमारा स्वागत किया। बातचीत के दौरान उन्होंने इज्राइल-अरब राष्ट्र संघर्ष पर भी हमें कुछ मर्म की बातें बताईं। अरब राष्ट्र इज्राइल से विरोध क्यों मान बैठे हैं? इसलिए कि फ़िलिस्तीन से निकाले हुए शरणार्थी सब अरब राष्ट्रों में फैल गये हैं और सालहा-साल संख्या में बढ़ रहे हैं, पर अरब राष्ट्र इन्हें हज़म नहीं कर पाये। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अरब राष्ट्रों में एकता नहीं है और न हो सकती है; यह इज्राइल के हित में है। जार्डन में इतने शरणार्थी आ गये हैं कि जार्डन की मूल आबादी के बराबर हैं और वे सल्तनत के लिए चुनौती बन गये हैं। जार्डन को उन्हें बसाने की इतनी फ़िक्र नहीं जितनी उन्हें अपने देश से निकालने की। लबनान में फ़िलिस्तीनियों के प्रति पूरी हमदर्दी नहीं, यहाँ की 50% जनसंख्या ईसाइयों की है जो इस समस्या के प्रति निरपेक्ष हैं। इसी तरह सीरिया, ईराक तथा अन्य अरब-राष्ट्रों में तख्ता पलटने का खेल मौसम बदलने की तरह चला करता है। सब मिलकर इज्राइल के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई शायद ही कभी कर सकें। क्रूर सत्य तो यह है कि अरब राष्ट्रों को यत्किंचित निकट लाने का इज्राइल-विरोध एक नकारात्मक माध्यम बना हुआ है। फिर इज्राइल को अमरीका का समर्थन प्राप्त है—राज्य का भी और अमरीकी यहूदी जनता का भी, जिनकी संख्या और शक्ति बहुत बड़ी है; जैसे अरब राष्ट्रों को रूस की सद्भावना और सहायता सुलभ है। लेकिन रूसी बाहरी समस्याओं को सुलझाने से अधिक रुचि आन्तरिक शासन-पद्धति को बदलने में लेते हैं। बहरहाल, फ़िलिस्तीन के प्रश्न को लेकर अमरीका और रूस निकट-संघर्ष का ख़तरा नहीं उठा सकते और बहुत दिनों तक यह समस्या ज्यों की त्यों खड़ी रहेगी। एक आसान-सा हल यह हो सकता था कि अरब राष्ट्र फ़िलिस्तीनी शरणार्थियों को अपने देश की राष्ट्रीयता देकर हज़म कर लें।—वे सबके सब अरब जाति (रेस) के हैं, सब मुसल्मान हैं, सब अरबी भाषी हैं, पर ऐसा सुझाव देने का साहस आज कोई नहीं कर सकता।

लबनान यात्रा का सबसे सुखद अनुभव था श्री सत्येन्द्र कुमार 'बीना' और श्री वीरेन्द्र पाल सिंह से मिलने का। 'बीना' नवयुवक हैं, विवाहित; बेरूत में

उन्होंने एक हैण्डलूम हाउस खोल रक्खा है जहाँ वे भारत से हथकरघे-बने वस्त्र और कला-कारीगरी के नमूने मँगाकर बेचते हैं। काम तो वे दूकानदारी का करते हैं, पर तबीयत उन्हें मिली है शायरों की। मेरी कविता के बड़े प्रेमी हैं। वीरेन्द्र पाल सिंह, अविवाहित, भारतीय राजदूतावास में कमर्शल सेक्रेटरी हैं, और उन्हें भी मेरी कविता से बड़ा प्रेम है। जब उन्हें मेरे बेरूत में होने का पता लगा तो उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। वे पता लगाते-लगाते मेरे होटल आये, मुझे अपने घर लिवा ले गये, खाना खिलाया, तस्वीरें खींचीं; मुझसे कविताएँ सुनीं, उन्हें टेप की। उनके साथ मैं बहुत जल्दी घुल-मिल गया। चलते समय 'बीना'जी ने 100 डालर का एक नोट मेरी जेब में डाल दिया—लबनानी डालर का, जो भारत के दो-ढाई रुपये के बराबर होता है। बोले, मुझे मालूम है भारत सरकार कितनी कम विदेशी मुद्रा बाहर ले जाने देती है और आदमी को बाहर सौ तरह की ज़रूरतें पड़ती हैं। आप यथावश्यकता खर्च करें और जो बचे, जाते समय मुझे वापस कर दें, और की ज़रूरत हो तो निःसंकोच माँग लें। उन्होंने इतनी आत्मीयता के साथ आग्रह किया कि मुझसे इन्कार करते न बना। बाद को मैंने महसूस किया कि अच्छा ही किया वे डालर ले लिये।

लबनान पहले फ्रांसीसियों के अधिकार में था और फ्रांसीसी होटलवालों से लबनानियों ने मुसाफ़िरों को दुहने की कला खूब सीखी है। यों तो हम लेखक-सम्मेलन के मेहमान थे, पर फ़ोन, जूता-पालिश, कपड़ों की प्रेस कराई-धुलाई, कभी-कभार किसी मेहमान के लिए चाय आदि का अतिरिक्त खर्च क़रीब 50 डालर होटलवालों ने लगा दिया जिसे देने को सम्मेलन बाध्य न था और माँगने में हमें संकोच होता था; ऊपर से होटल के बेयरों को 'टिप' भी देनी थी। 'बीना' के डालर बहुत काम आये। बीना और वीरेन्द्र का आग्रह था कि यात्रा से लौटूंगा तो मैं बेरूत ही होते, लौटते समय क्यों न दो-तीन दिन उनके पास रुकूँ, उनका अतिथि बनकर। मुझे प्रसन्नता है कि लौटते समय मैं उनकी इच्छा पूरी कर सका, और उनके स्नेह-सत्संग का मैंने भी बड़ा आनन्द उठाया।

यों तो मास्को में मेरा कार्यक्रम दो अप्रैल से आरम्भ होने को था, पर बेरूत से मास्को जानेवाले जहाज़ में तीन से पहले जगह न मिल सकी। इस परिवर्तन की सूचना मास्को को दे दी गई थी। मैं तीन अप्रैल की सन्ध्या को मास्को पहुँचा। जहाज़ उतरने के कुछ देर पहले मास्को में बरफ पड़ चुकी थी और जहाज़ की खिड़की से बाहर पड़ी बरफ़ का दृश्य दिखाई देता था। सहसा ध्यान आया दिल्ली में लू शुरू हो गई होगी।

हवाई अड्डे पर सोवियत राइटर्स यूनियन की ओर से मादाम मरियम ने मेरा स्वागत किया। पूरा नाम उनका मरियम सलगानिक है, कई बार भारत आ-जा चुकी हैं, हिन्दी बहुत अच्छी और शुद्ध बोलती हैं, किसी हिन्दी लेखक ने, शायद 'दिनकर' ने उन्हें 'मीरा' नाम दे रक्खा है और इसे उन्होंने बड़ी खुशी से स्वीकार कर लिया है। मेरा-उनका पूर्व परिचय भी था। औपचारिक सद्भावना प्रकाशन के बाद उन्होंने मेरा परिचय मादाम इरीना से कराया—भरे शरीर की सुन्दर नवयुवती—दुबली-पतली स्त्रियाँ-लड़कियाँ रूस में अपवाद ही होती हैं जैसे स्वयं मरियम। वे मेरी दुभाषिया थीं और मेरी रूस-यात्रा के दौरान बराबर मेरे साथ रहने को थीं। वे हिन्दी-उर्दू के अतिरिक्त अंग्रेज़ी भी समझती और बोल सकती थीं। उनके बैग में हर समय दो पाकेट-कोष पड़े रहते थे—रूसी-

अंग्रेज़ी और रूसी-हिन्दी के, जिन्हें वे जब-तब निकालकर देख लिया करती थीं। शायद ही कोई ऐसा अवसर आया जब उन्हें मेरी बात समझने या अपनी बात मुझे समझाने में दिक़्क़त पेश हुई। बने हुए कार्यक्रम को पूरा कराने के लिए सब तरह का प्रन्बध करने में वे दक्ष थीं और मेरी सुविधा और आवश्यकता का हर समय ध्यान रखती थीं।

मुझे पीकिंग होटल में ठहराया गया। सुना कि चीन की सरकार ने चीनी ढंग से सजाकर इसे मास्कोवालों को भेंट किया था। सबसे नीचे तल्ले पर खाने के लिए बने दो बड़े 'हालों' को छोड़कर चीनी साज-सज्जा मुझे कहीं न दिखी। दस-बारह तल्लों का होटल था जिसमें आधुनिक रहन-सहन की सभी सुविधाएँ प्राप्त थीं। मेरी दुभाषिया लगभग दस बजे होटल में आ जाती थी और फिर दिन भर के कार्यक्रम में मेरे साथ रहती थी। मेरे लिए एक बड़ी कार का भी प्रबन्ध कर दिया गया था जो नगर में कहीं भी आने-जाने के लिए मुझे हर समय सुलभ थी। रूस में एक बड़ी अजीब प्रथा देखी और बाद को तो सभी साम्यवादी देशों में देखी — अतिथि को प्रतिदिन के हिसाब से सारे प्रवास के लिए निश्चित धन-राशि दे दी जाती है। उसे अपने ब्रेकफ़ास्ट, लंच, डिनर का बिल ख़ुद उसी राशि से चुकाना पड़ता है। राशि इतनी होती है कि खाने का बिल अदा करने के बाद भी ऊपर के ख़र्च के लिए कुछ बच रहता है। मैं तो शाकाहारी था और शराब-सिगरेट भी नहीं पीता था। प्रतिदिन के लिए नियत राशि के आधे से ही मेरा काम चल जाता था। वापस आते समय बचाये रूबलों से मैंने कई रूसी 'सोवेनीर' (स्मारक-उपहार) ख़रीदे।

अफ्रो-एशियायी लेखक सम्मेलन में रूसी लेखकों का जो प्रतिनिधि-मण्डल गया था वह भी उसी जहाज़ से मास्को लौटा जिससे मैं आया। सम्मेलन में भाग लेनेवाले कई पूर्वी देशों के लेखक भी मास्को आये, जैसे जापान, वियतनाम आदि के। तीन-चार दिन तक मेरा कार्यक्रम प्रायः उन्हीं लेखकों के साथ बँधा था। पहली प्रमुख सभा इस ध्येय से की गई कि मास्को के लेखकों को उपर्युक्त सम्मेलन की उपलब्धियों से अवगत कराया जाये। दूसरी बड़ी सभा में जनता भी बुलाई गई और उसमें अन्य कवियों के साथ मैंने भी अपनी कविता का पाठ किया। उसका रूसी अनुवाद मादाम इरीना ने पढ़कर सुनाया। मेरी चुनी हुई कविताओं का एक संकलन 'लिरिका' नाम से रूसी भाषा में अनूदित और प्रकाशित हो चुका है। सम्पादन मादाम रीमा बरान्निकोवा ने किया है। उनके पति प्योत्र बरान्निकोव कुछ समय पूर्व भारत स्थित रूसी राजदूतावास में सांस्कृतिक-कार्य अधिकारी थे। पति-पत्नी दोनों हिन्दी का अच्छा ज्ञान रखते थे और बड़े सहज ढंग से बोलते थे। तभी मैं उनके सम्पर्क में आया था और रीमा मेरी कविताओं की प्रेमी हो गई थी। मैंने 'एकान्त संगीत' की 'अग्नि-पथ, अग्नि पथ, अग्नि पथ, !' कविता सुनाई। श्रोताओं की प्रतिक्रिया से मैं अनुमान कर सकता था कि अनुवाद अच्छा था और कविता उन्हें पसन्द आई थी।

इन कार्यक्रमों के अतिरिक्त हमें कभी दिन के और कभी रात के कई भोज दिये गये। रूसी भोज कई घण्टे तक चलते हैं और बीच-बीच में मेजबानों और मेहमानों की तरफ़ से भाषण होते हैं और विशिष्ट लोगों के जामे-सेहत पीने के प्रस्ताव किये जाते हैं। रूसी अपनी मेहमान-नवाज़ी में अपने यहाँ की ख़ास शराब 'वोदका' पीने की प्रार्थना करते हैं, मनुहार करते हैं, आग्रह करते हैं और ख़ुद नशे में आ गये तो जबर्दस्ती भी करते हैं! इन भोजों में मेरी तो बड़ी मुसीबत

होती थी। रूसी यह समझ ही नहीं सकते थे कि मैं शराब न छूने के लिए प्रतिज्ञा-वद्ध हूँ। और एकाध जगह बिना 'वोदका' के गिलास को होठों से छुलाये मैं अपने प्राण न छुड़ा सका। मैंने इसे आपद्धर्म कहकर अपना प्रबोध कर लिया। एक काकटेल पार्टी भारतीय राजदूतावास में दी गई। राजदूतावास की इमारत पुरानी है, ऐतिहासिक है, कुछ नये हिस्से भी उसमें जोड़े गये हैं। पुराने हिस्से में हमें एक 'वालकनी' दिखाई गई जहाँ से, कहते हैं, नेपोलियन ने मास्को को जलते हुए देखा था। जब उसने मास्को पर आक्रमण किया था तब, इसके पूर्व कि उसकी सेनाएँ नगर में घुसें, मास्को निवासियों ने स्वयं नगर ख़ाली करके उसमें आग लगा दी थी! राजदूतावास से चलते समय फिर मुझे एक विचित्र बात मालूम हुई। एक अधिकारी ने मुझे कुछ मेरे काम की जगहों के फ़ोन नं. दिये, बताया, मास्को में फ़ोन तो असंख्य हैं पर 'डायरेक्टरी' नहीं छपती, अपने काम-बात के ज़रूरी नम्बरों का पता आप मुख्यालय से लगा सकते हैं। इसके तो बड़े गहरे मतलब हुए। अपने देश में तो आप रिसीवर उठाइए और प्रधानमन्त्री के यहाँ फ़ोन कर दीजिए। रूस में यह अकल्पनीय। प्रजातन्त्र और साम्यवाद का अन्तर!—ख़ैर।

तीन-चार दिन के सम्मिलित कार्यक्रम के वाद मेरा स्वतन्त्र कार्यक्रम वनाया गया। लेनिन की समाधि का दर्शन सबसे पहले याद आता है। क्रेमलिन की दीवार के वाहर रेड स्क्वायर में लेनिन की समाधि है—इमारत लाल संगमर-मरी पत्थरों की बनी—सादी, सुदृढ़, गम्भीर—लेनिन के व्यक्तित्व के अनुरूप। किसी भी दिन जाइये, दर्शनार्थियों के लम्बे-लम्बे 'क्यू' आपको मौन प्रतीक्षा में खड़े मिलेंगे। लोग एक दरवाजे से जाते हैं और बिना रुके लेनिन के शव को देखते हुए दूसरे दरवाजे से बाहर निकल आते हैं—किसी तरह की फूल-माला भीतर ले जाने अथवा बोलने की आज्ञा नहीं है। लेनिन का शव एक शीशे के ताबूत में रक्खा है; उनके चेहरे पर तेज़ रोशनी पड़ती है, चेहरा प्रायः श्वेत दिखाई पड़ता है। चारों कोनों पर, जैसे बाहरी दरवाजों पर, नीली वर्दी में बुत-से खड़े बन्दूक-धारी फ़ौजियों का पहरा रहता है। स्टेलिन के मरने के बाद उनका भी शव लेनिन के बग़ल में रख दिया गया था, पर ख्रुश्चोव ने उसे हटवा दिया। मैं चूँकि विशिष्ट अतिथि था—राज्य सभा का सदस्य भी—इसलिए मुझे 'क्यू' में नहीं खड़ा होना पड़ा। समाधि के वातावरण का कुछ ऐसा प्रभाव मुझ पर पड़ा कि बाहर निकलकर मैं बहुत गम्भीर हो गया और बड़ी देर तक मेरे मुँह से कोई शब्द नहीं निकला!

रेड स्क्वायर में ही एक सिरे पर ईवान दि टेरिबिल का बनवाया हुआ सेण्ट वेसिल का चार सौ बरस पुराना गिरजा है जो अपने गुम्वदों के रंग, आकार, प्रकार, तरतीब के कारण संसार में अद्वितीय है। कहते हैं कि इसको बारमा नाम के इंजीनियर ने वनाया था। ईवान इसे देखकर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने वारमा की आँखें निकलवा लीं, जिससे कि वह कहीं और ऐसा गिरजा न बना सके। बारमा को इसकी आशंका पहले से हो गई थी। उसने मेहराबों के बीच-बीच में झरोखे बना दिये थे जिन्हें दूर से देखने से लगता है कि बारमा की आँखें ही जैसे अनेक हो इन नेत्राकार मेहराबों और पुतली-रूप झरोखों से घूर रही हैं!

कई दिन मैंने युनिवर्सिटी, आर्ट गैलेरियाँ, पुस्तकालय, प्रसिद्ध लेखकों के भवन—जैसे तोल्सतोय, गोर्की, मायकोव्सकी, चेखोव आदि के देखने में लगाए। लेखकों के भवनों में जाने के पहले जूतों के ऊपर बड़े-बड़े कैनवस-नम्दे के जूते पहनने पड़ते हैं

जिससे एक तो जूतों की रगड़ से फ़र्श न ख़राब हों; हजारों लोग प्रतिदिन दर्शनार्थी के रूप में आते हैं; दूसरे जूतों की खटर-पटर से शोर न हो। तोल्सतोय में अपने लेखन को निखारने के प्रति कितनी लगन थी, कितना धैर्य उनमें था, कितना श्रम उन्होंने किया ! 'वार ऐण्ड पीस' ऐसे भीमकाय ग्रन्थ को सात-आठ बार उन्होंने अपने हाथों से लिखा ! प्रतिभावानों के कैसे विचित्र-विचित्र शुग़ल भी होते हैं। लियो तोल्सतोय को जूते बनाने का शौक़ था और वे फ़ुरसत के समय जूते बनाया करते थे; जूते बनाने का उनका सारा सामान ज्यों का त्यों रक्खा है। क्रान्ति के बाद लेनिन ने गोर्की को रहने के लिए जो घर दिया वह किसी सामन्त का था ! सोने के कमरे का श्रृंगार देखकर उन्होंने कहा, इसमें तो किसी बैले डांसर को सोना चाहिए। बिस्तर के आगे दीवार में क़द्दे आदम शीशा लगा था, पहली रात तो गोर्की को नींद ही न आई। दूसरी रात को उन्होंने शीशे की ओर अपना सिरहाना करा लिया। हर जगह गाइड हैं जो लेखकों के भवनों, रहन-सहन, कार्य-प्रणाली आदि के बारे में मनोरंजक बातें बताते हैं।

एक सन्ध्या को मास्को की स्टेट युनिवर्सिटी में मेरा काव्य-पाठ हुआ। मास्को की युनिवर्सिटी मकानियत और विद्यार्थी-अध्यापक संख्या में इतनी बड़ी है कि अगर हमारे देश की दस-बारह सर्वश्रेष्ठ युनिवर्सिटियाँ मिल जाएँ तो भी उसकी बराबरी शायद ही कर सकें ! सभा में भारतीय विद्यार्थियों के अतिरिक्त बहुत-से रूसी भाई भी आए। एक और सन्ध्या को लुमुम्बा फ्रेण्डशिप युनिवर्सिटी में मेरा व्याख्यान और काव्य-पाठ हुआ। यहाँ डेढ़-दो सौ भारतीय विद्यार्थी विभिन्न विषयों में शिक्षा पा रहे हैं। एक दिन रूस के वयोवृद्ध लेखक और कवि ईलिया एहरेनबुर्ग से मेरी भेंट का प्रबन्ध किया गया। साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला में भी उनकी गहरी रुचि है। उनके ड्राइंग रूम में मैंने एक-दो चित्र जैमिनी राय के देखे। एहरेनबुर्ग का कहना था कि जैमिनी राय की कला पर फ्रेंच प्रभाव है। मैंने उनसे लगभग एक घंटे आधुनिक साहित्य और काव्य के विषय में बातचीत की। अपने साहित्य सम्बन्धी विचारों में वे बहुत-से रूसी लेखकों से अलग और स्वतन्त्र लगे निर्भीक भी। इन दिनों उनके दिमाग़ में साहित्य-कला के अन्तरराष्ट्रीय मापदण्ड की बात जोरों से घूम रही है। सोवियत राइटर्स यूनियन में एक सन्ध्या को केवल मेरा काव्य-पाठ कराया गया; एहरेनबुर्ग ने सभापति का आसन ग्रहण किया; कई हिन्दी जाननेवाले रूसी मित्रों ने मेरी कविता का भाव रूसी में बताया। एक रूसी भाई ने लिखकर भेजा—मेरी हिन्दी कविता, जिसकी वे केवल ध्वनि मात्र सुनते हैं, रूसी अनुवाद से अधिक प्रभावकारी लगती है। एहरेनबुर्ग ने पढ़कर उसका मतलब मुझे समझाया और कहा, यह आपके लिए बहुत बड़ा सर्टिफ़िकेट है। उसी रात को मुझे एक भोज दिया गया जिसमें एहरेनबुर्ग, भारत के राजदूत और कई प्रसिद्ध रूसी लेखक सम्मिलित हुए।

प्राय: प्रत्येक रात्रि को किसी न किसी प्रकार के मनोरंजन का प्रबन्ध रहता था, थियेटर, बैले, ओपेरा, सिनेमा; और कुछ न सही तो पपेट शो (कठपुतली का खेल) या सरकस। सरकस के लिए मास्को में स्थायी भवन हैं जैसे सिनेमा के लिए। बोलशाई थियेटर का 'स्वान लेक बैले' भूलने की चीज़ नहीं। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उस पर कविता लिखी जा सकती है—मैंने एक लिखी भी है—स्वानलेक बैले की प्रमुख बैलेरीना के प्रति—'हंस-मानस की नर्तकी' शीर्षक से। प्रस्तुत कर दूँ ?

शब्द-बद्ध तुमको करने का
मैं दु:साहस नहीं करूँगा।

तुमने अपने अंगों से जो गीत लिखा है
विगलित लयमय, नीरव स्वरमय, सरस रंगमय, छन्द-गन्धमय
उसके आगे मेरे शब्दों का संयोजन —
अर्थ-समर्थ वहुत होकर भी—मेरी क्षमता की सीमा में—
एक नई कविता-सा केवल जान पड़ेगा —
लयविहीन, रसरिक्त, निचोड़ा, सूखा, भोंड़ा।

ओ माखन-सी मानस-हंसिनि, गीत तुम्हारा
जब मैं फिर सुनना चाहूँगा,
अपने चिर-परिचित शब्दों से नहीं सहारा मैं माँगूँगा।
कान मूँद लूँगा, मुख अपना बन्द करूँगा,
पलकों में पर लगा, समय-आकाश पार कर
क्षीर-सरोवर तीर तुम्हारे उतर पड़ूँगा
तुम्हें निहारूँगा नयनों से
जल मुक्ताहल तरल झड़ूँगा!

दर्शक बैले समाप्त होने पर हाल छोड़कर घर जाने की जल्दी में नहीं रहते। वे तालियाँ बजाते हैं और नर्तकियाँ बारम्बार-बारम्बार परदे से बाहर आकर दर्शकों का अभिनन्दन स्वीकार करती हैं, और ज़ोर से तालियाँ बजती हैं, लोग 'ब्रावो' 'ब्रावो'—खूब किया—चिल्लाते हैं और यह क्रम आठ-दस मिनट तक चलता है!

मुझे दस दिन मास्को में रखने के बाद रूस के अन्य नगरों की यात्रा कराने का भी कार्यक्रम बनाया गया। 14 की रात को ट्रेन से मैं लेनिनग्राद के लिए रवाना हुआ—इस गाड़ी को 'रेड ऐरो' कहते हैं। स्टेशन पर मुझे लेने के लिए वरान्निकोव दम्पति मौजूद थे, शायद राइटर्स यूनियन की ओर से मेरे लेनिनग्राद पहुँचने की सूचना उन्हें दे दी गई थी। दोनों आजकल लेनिनग्राद की विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में अध्यापन का कार्य करते हैं। इरीना मेरे साथ आई ही थी। हमें 'होटल एस्टोरिया' में ठहराया गया। कहते हैं हिटलर ने लेनिनग्राद पर कब्जा करने के बाद इसी होटल में भोज देने का स्वप्न देखा था; योजना तक बना डाली थी, निमन्त्रण-पत्र भी छपा लिये गए थे, पर उसने अपना भाग्य समझने में कितना धोखा खाया था!

पहले मुझे 1917 की क्रान्ति और पिछले महायुद्ध से सम्बद्ध स्थान-स्मारक दिखाये गये। मैंने 'अरोरा' नामक जहाज़ देखा जिससे क्रान्ति का पहला गोला दागा गया था। मुझे बताया गया कि जिस आदमी ने पहला गोला दागा था वह अभी मौजूद है और अक्तूबर में जब क्रान्ति की स्वर्ण-जयन्ती मनाई जायगी तब उसे विशेष रूप से सम्मानित किया जायगा। 'स्मालनी' वह इमारत है जिसमें क्रान्ति की सफलता के पश्चात् लेबनिन रहते और काम करते थे। इस बड़ी इमारत में उन्होंने केवल दो कमरे अपने और अपनी पत्नी के लिए रक्खे थे। एक कमरे को पर्दे से दो भागों में विभाजित कर छोटा-सा सोने का कमरा बनाया गया था—विस्तर इतने कम चौड़े थे जितने अपने यहाँ के रेलवे के बर्थ। आधे में उनका

दफ़्तर था। दूसरे कमरे में वे लोगों से मिलते थे। उसी कमरे में अब लेनिन के व्याख्यानों के रेकार्ड दर्शकों को सुनाए जाते हैं। रूसी तो मैं न समझा, पर उनकी आवाज़ में गम्भीरता, सन्तुलन, निश्चितता, ठोसपन सहज आँका जा सकता था। ये विशेषताएँ गांधीजी की आवाज़ में भी थीं। एक जगह एक रेल का डिब्बा देखने की याद है जिसमें चढ़कर लेनिन क्रान्ति पूर्व लेनिनग्राद (पहले पीट्रोग्राद) आये थे, एक टैंक देखने की भी, जिस पर खड़े होकर क्रान्ति के पश्चात् लेनिन ने जनता को सम्बोधित किया था। पिछले महायुद्ध की गति-प्रगति प्रदर्शित करने के लिए तो एक स्थायी प्रदर्शनी लगाई गई है। युद्ध में काम आये सैनिकों, शहीदों, नागरिकों के स्मारक पर रात-दिन अविरत आग की लपटें उठाने का प्रबन्ध है—गैस-प्रवाह के द्वारा। आप दिन में किसी वक़्त जाएँ आपको एक भीड़ मातृभूमि के लिए प्राणों की आहुति देनेवाले अपने सम्बन्धियों की याद में खड़ी दिखाई देगी।

'हरमिताज' पुराने ज़ारों का राजमहल था; अब वह रूस का सबसे बड़ा संग्रहालय है, चित्रों, मूर्तियों और नानाविध कलाकृतियों का। उसके सारे कक्षों में से होकर निकल जाने के लिए ही सारा दिन चाहिए। हम दो दिन 'हरमिताज' देखने गये और नहीं कह सकते कि हमने वहाँ की सारी चीज़ें देख लीं, गो कला-कृतियों के देखने भर का कोई अर्थ नहीं होता। एक-एक कृति के पीछे कलाकारों के जीवन-भर का परिश्रम है; वह साधिकार माँग करती है कि उसके सामने रुको, उसके सौन्दर्य को समझो, उसके सर्जक के प्रति आदर से झुको। हर संग्रहालय से मैं यह भावना लेकर लौटता हूँ कि मैं उसके प्रति न्याय नहीं कर सका। यह सोचकर उदास भी हो जाता हूँ कि इन कलाकारों ने अपनी कल्पना, प्रतिभा, श्रम, लगन से दुनिया के एक कोने को सुन्दर बना दिया है; क्या मैं भी कभी ऐसा कुछ कर सकूँगा! इस जन्म में तो नहीं।

एक दिन रीमा बरान्निकोवा मुझे अपने स्कूल लिवा ले गई। वहाँ हिन्दी एक विषय के रूप में शुरू से पढ़ाई जाती है। मुझे बताया गया कि ऐसे बहुत-से स्कूल हैं जहाँ विश्व की कोई न कोई भाषा शुरू से आखिर तक शिक्षा क्रम में रहती है—एक तरह से रूस में भी 'थ्री लैंग्वेज फ़ारमूला' माना जाता है। जिनकी भाषा रूसी है उन्हें एक योरोपीय भाषा और एक एशियायी भाषा सीखनी होती है। रूस के तीस से अधिक रिपब्लिकों की अलग-अलग भाषाएं हैं। रूसी के अतिरिक्त उन्हें अपनी भाषा भी सीखनी होती है और एशिया अथवा योरोप की एक और भाषा। रूसी के सर्वस्वीकृत होने का एक बड़ा कारण है कि अन्य रूसी भाषाओं की तुलना में वह सर्वाधिक विकसित है। हिन्दी के भारत भर में स्वीकृत न होने की वजह यही है कि वह भारत की अन्य दर्जन भर प्रमुख भाषाओं के समान ही विकसित या अविकसित है।—मैंने स्कूल के बच्चों को कुछ कविताएँ सुनाईं, उन्हें गाने की लय सिखाई। उन्होंने भी मेरी कुछ कविताएँ मुझे सुनाईं।

एक शाम को प्योत्र और रीमा बरान्निकोवा ने मुझे अपने घर बुलाया, हिन्दुस्तानी खाना बनाकर खिलाया, रीमा अपने भारत-प्रवास में हिन्दुस्तानी खाना बनाना सीख गई थी, पर सामान आदि उसने कहाँ से जुटाया, राम ही जानें!

लेनिनग्राद से मैं हवाई जहाज से किएव गया। किएव किसी समय रूस का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर था। ईसा की दसवीं शताब्दी में जब प्रथम रूसी राजवंश की नींव डाली गई तो किएव को ही राजधानी बनाया गया था। किएव के

धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विकास में उसकी यूनान से निकटता का बड़ा हाथ है। किएव के ही राजा व्लादिमीर प्रथम ने सन् 989 में सर्वप्रथम ईसाई धर्म स्वीकार किया—यूनानी कट्टरपन्थी चर्च का ईसाई धर्म, जिसे ईस्टर्न चर्च भी कहा जाता है; वेस्टर्न चर्च रोम केन्द्रित था। मुझे याद है कि पहले दिन जब मैं अपने होटल से निकल नगर देखने चला था तो सबसे पहले मुझे व्लादिमीर प्रथम की मूर्ति के सामने ले जाया गया था जो एक ऊँचाई पर खड़ी की गई है।

ईसाई धर्म को शासकीय स्वीकृति तो दसवीं शताब्दी में मिली, पर उसके बहुत पूर्व ईसाई साधक किएव में साधना करने को आ गये थे। सम्भवतः खुले में साधना का विरोध देखकर उन्होंने जमीन के अन्दर-अन्दर गुफाएँ खोदकर, रास्ते बनाकर अपनी साधना जारी रक्खी थी। मुझे ये गुफाएँ दिखाई गईं, गुफाओं के पतले रास्तों की लम्बाई ही सब मिलाकर एक मील से कम न होगी। बीच-बीच में अच्छे बड़े कमरों की चौड़ाई की गुफाएँ हैं जिनमें सामूहिक प्रार्थना होती होगी। अब तो इनमें बिजली का प्रकाश है, ताजी हवा भी पहुँचाई जाती है, पर सदियों पूर्व इनके भीतर जीवन की कठिनाई का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। सन्तों के मरने पर उनकी लाशें दीवारों में जगह खोदकर रख दी जाती थीं—बहुत-सी लाशें हज़ार बरस से अधिक पुरानी हैं और सड़ी नहीं! किएव में बड़े सुन्दर और भव्य गिरजे हैं जिनमें बाइज़ैनटियम शैली की चित्रकारी की गई है। यह दीवारों पर रंग-बिरंगे पत्थरों के छोटे-छोटे टुकड़ों को जमाकर की जाती है। साम्यवादी व्यवस्था में चर्चों में तो प्रार्थनाएँ नहीं होतीं पर उनकी सफाई, मरम्मत और उनके जीर्णोद्धार का पूरा प्रयत्न किया जाता है। पिछले युद्ध में कई गिरजे वममारी से ध्वस्त हो गये थे; उनका उसी तरह पुनर्निर्माण करने की योजना बनी है। रूसी अपने अतीत के इतिहास से जुड़े रहने की महत्ता को खूब समझते हैं; फिर टूरिज़्म की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है। मनुष्य में न जाने क्या है कि चीज़ें जितनी पुरानी हों वह उतनी ही रुचि-कौतूहल से उन्हें देखता है।

किएव में मुझे एक प्लेनिटोरियम भी दिखाया गया। यहाँ एक विशेष प्रकार के डिमोन्सट्रेशन से ज़मीन के चलने का सबूत दिया जाता है। बड़ी ऊँची छत से एक भारी लट्टू टँगा हुआ है। उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक झूलने का अनुपात किसी वैज्ञानिक विधि से धरती की चाल से रक्खा गया है: लट्टू इतना भारी है कि वह अपनी चाल की सीधी रेखा नहीं बदल सकता, पर पृथ्वी के चलने से वह थोड़ा बदलता है। इसका पता यों लगता है कि लट्टू आते जाते अपनी नोक से दोनों ओर रक्खी लकड़ी की छोटी-छोटी गोटों को टक्कर से गिरा देता है जबकि पहली झूल में वह साफ़ उनके बग़ल से निकल गया था।

किएव ऊँचाई और ढलानों पर जैसा बसा है उससे मुझे वह शिमले की याद दिलाता था, आबोहवा भी उन दिनों वहाँ कुछ शिमले जैसी थी।

किएव की भी राइटर्स यूनियन में मुझे निमन्त्रित किया गया और वहाँ बहुत-से लेखकों और कवियों से मेरा परिचय कराया गया। कुछ ने अपनी कविताएँ भी सुनाईं, मैंने भी सुनाईं, उनके अनुवाद भी एक दूसरे के लिए किये गये पर ऐसे अनुवादों से कविता का कोई तत्त्व हाथ नहीं लगता।

किएव के मूल निवासी कोसक्स या कज़्ज़ाक हैं। कज़्ज़ाक शब्द के सन्दर्भ हमारी भाषा में बहुत प्रिय नहीं है—'कज़्ज़ाक अज़ल का लूटे है दिन-रात बजाकर नक़्क़ारा।' कज़्ज़ाक भावुक लोग हैं, मिलते-विदा होते मर्द भी मर्द का चुम्बन लेते हैं, रंगों से बड़ा शौक़ है। वैसे तो साधारणतया अब सब योरोपीय पोशाक

पहनते हैं, ख़ासकर बाहर; पर घरों में उन्हें अपनी पुरानी पोशाकें पसन्द हैं जिन पर रंगीन तागों से बड़ी सुन्दर कढ़ाई की जाती है। किएव के आसपास के पहाड़ी स्थानों में बड़े सुन्दर चिकने पत्थर पाये जाते हैं। वहाँ इन पत्थरों को कलापूर्ण शक्लों में काटने की कारीगरी विकसित की गई है। ऐसे पत्थरों की एक दूकान पर गया तो समझ में नहीं आता था कि किसे ख़रीदूं किसको छोड़ूँ। विचित्र पत्थरों को इकट्ठा करने का शौक़ मुझे भी है, बहुत-से लोगों को होता है। मैंने ज़ाकिर हुसेन साहब के पास पत्थरों का बहुत अच्छा संग्रह देखा था। कहीं पढ़ा था जर्मन कवि गेटे को भी पत्थरों के प्रति बड़ा आकर्षण था। किएव के पत्थर एक तो भारी, दूसरे भारी क़ीमतों के, फिर मुझे हवाई जहाज़ से यात्रा करनी और रूबल अपने पास इने-गिने। केवल नमूने के तौर पर ख़रीदा; बाक़ियों को अपनी स्मृति में सँजो लाया। अब भी कभी-कभी विचित्र शक्ल-रंग के पत्थरों की वह दूकान मेरी आँखों के आगे नाच जाती है।

तीन दिन किएव में रहकर मैं हवाई जाहज़ से बाकू गया। मुझे किसी ने बताया कि 'बाकू' का पुरारा नाम 'बादेखूबा' था जो दो शब्दों से बना था 'बाद:' और 'खूबा'; 'बाद:' का अर्थ है 'हवा' और 'खूबा' का अर्थ है अधिक — यानी वह स्थान जहाँ हवा खूब चलती है। दोनों शब्द फ़ारसी के हैं। 'बादेखूबा' ही बिगड़कर 'बाकू' हुआ। बाकू में हवा अब भी खूब चलती है। ठण्डक भी वहाँ मुझे और जगहों से अधिक लगी। अपने यहाँ कहावत प्रसिद्ध है—'माघे जाड़ न पूसे जाड़, जबै बयार तबै जाड़' और बयार बाकू में हर समय चलती थी। अब तो बाकू की प्रसिद्धि उसकी तेल उगलनेवाली ज़मीन के कारण है। नगर के बाहर चप्पे-चप्पे पर तेल खींचने की मशीनें लगी हैं। जिन दिनों मैं वहाँ था समुद्र के अन्दर से तेल निकालने का कोई बड़ा अभियान चल रहा था।

पुराना बाकू निश्चय ही रूमानी नगर था—हुस्नो-इश्क़ का, शेरो-शायरी का, कला-करीगरी का, सुन्दर इमारतों का। पुराने महल-मीनारों से प्रेमी-प्रेमिकाओं की अजीबोगरीब कहानियाँ जुड़ी हैं, जो अब भी दुहराई जाती हैं—फ़लाँ महल में फ़लाँ सुन्दरी क़ैद थी; फ़लाँ मीनार से फ़लाँ आशिक़ कूद पड़ा था। पुराने साहित्य और कला को संरक्षित रखने के बहुत अच्छे संग्रहालय हैं। आबादी में बहुतायत मुसल्मानों की है। मुझे बताया गया, किसी को अपना धर्म छोड़ने को बाध्य नहीं किया जाता, पर नास्तिक भौतिकवाद की शिक्षा स्कूल के पाठ्यक्रम का एक अंग है। एक मस्जिद को देखने की याद है—निहायत साफ़, सुथरी, सुन्दर। भीतर नमाज़ केवल बूढ़े लोग पढ़ रहे थे, औरतों के नमाज़ पढ़ने की जगह पीछे थी, परदे से अलग की हुई।

पुराने बाज़ार, जिनमें पुरानी कला-कारीगरी की चीजें बिकती हैं, दिल्ली या लखनऊ के बाज़ार की याद दिलाते हैं। सामान बेचना और शायद ख़रीदना भी एक कला है। योरोप में तो चीजें रखी हैं, उन पर दाम लिखा है, आपको चीज पसन्द हो तो इशारा कीजिए, चीज पैककर आपको दे दी जायेगी, आप काउण्टर पर जाइए, दाम चुकाइए, अपनी राह लीजिए। पूर्व का विक्रेता दूकान में आपका स्वागत करता है, आपकी आँख भाँपता है, आपकी जेब आँकता है, कौन-सी चीज आपको पसन्द है, कौन नहीं; किस पर, कहाँ तक आप खर्च कर सकते हैं। कोई चीज आपको कम पसन्द है, उसे पूरी पसन्द करा देने में बिक्री की कला है; कोई चीज आपको पसन्द नहीं है उसे आपको ख़रीदवा देना बिक्री-कला की बहुत बड़ी सफलता है। एक बाज़ार में चाँदी के बारीक काम के गहने बिक रहे थे। इरीना

की नज़र एक झुमके पर पड़ी और दूकानदार ने बातों की वह झड़ी लगाई, झुमका निकालकर इरीना के कानों में पहना दिया कि उसे लेना ही पड़ा। उस झुमके के बारे में मुझे मनोरंजक बात याद आ गई। बाज़ार से गुज़रते हुए इरीना के एक कान का झुमका कहीं गिर गया; बहुत ढूँढा गया, नहीं मिला। इरीना बड़ी दुखी हुई, मैंने उसका मन बहलाने को 'बरेली के बाज़ार में झुमका गिरा रे' गीत थोड़ा बदलकर सिखाया,

बाक़ू के बाज़ार में झुमका गिरा रे!
सास मोरी पूछे, ननद मोरी पूछे,
कहाँ गिरा रे?
बाक़ू के बाज़ार में झुमका गिरा रे।
सइयाँ ने देखा, कान मेरा छूँछा;
कहाँ गिरा झुमका, सवाल नहीं पूछा;
चुपके से ला के नया दिया रे!
बाक़ू के बाज़ार में झुमका गिरा रे!

इरीना अन्त में फिर गहनों की दूकान पर गई, इस आशा में कि शायद उसी तरह का दूसरा मिल जाए। दूकानदार ने यह कहकर कि सिर्फ़ इस झुमके के तीन पीस बने थे बिल्कुल उसी तरह का एक झुमका लाकर दे दिया! फिर बेचने की कला का नमूना। बाद को मैं सोचने लगा कि झुमका दूकान में ही तो नहीं गिर गया था कि दूकानदार ने वही फिर पेश कर दिया; पर इरीना इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुई कि रूस का दूकानदार ऐसी बेईमानी करेगा।

बाक़ू से मैं 22 अप्रैल को मास्को वापस आया। वह दिन मैंने ख़रीदारी करने में बिताया। मेरी 'लिरिका' की रायल्टी मुझे दे दी गई जो कई सौ रूबल थी; इरीना के हिसाब से भारतीय सिक्कों में लगभग तीन हज़ार रुपयों के बराबर; कुछ रूबल दैनिक भत्ते के मेरे पास बचे थे। ये सब रूस के अन्दर ही ख़र्च करने थे। कुछ समय मैंने किताबों की दूकानों पर बिताया। रूस में सारा प्रकाशन राज्य की ओर से होता है। रूस ने अपने को वर्ल्ड कापीराइट कन्वेन्शन से मुक्त कर लिया है। वे दुनिया की किसी भी पुस्तक का अनुवाद बिना लेखक की अनुमति के और बिना कुछ रायल्टी दिए कर सकते हैं—करते भी हैं; कोई लेखक रूस पहुँच जाए तो रूबलों में वे उसकी रायल्टी अदा कर देते हैं, पर रूबलों को रूस में ही ख़र्चना होता है। रूस की आन्तरिक भाषाओं में भी परस्पर अनुवाद ख़ूब होते हैं। पुस्तकें सुन्दर होने के साथ सस्ती भी होती हैं और रूसी जनता में पुस्तक प्रेम बहुत है। जहाँ भी मैं पुस्तकों की दूकान पर गया मैंने ख़रीदनेवालों की भीड़ देखी। मुझे बताया गया कि भारतीय साहित्य की ही लगभग सौ किताबें रूसी में अनूदित हो चुकी हैं और कई किताबें रूसी अनुवाद में जितनी बिकी हैं उतनी मूल भारतीय भाषा में नहीं।

रूस ऐसे बड़े देश के विषय में, जो देश नहीं दुनिया है, केवल तीन सप्ताह रहकर, और उसके सिर्फ़ चार नगरों को देखकर, और उन नगरों में भी वही देखकर जो आपको दिखाया गया है, कोई सही राय बनाना असम्भव है। कुल मिलाकर मुझ पर यह असर पड़ा कि रूस ऐसे विविधतापूर्ण देश को सुगठित, सुअनुशासित करने और उसके निवासियों को समृद्धि नहीं तो खुशहाली देने और भविष्य के लिए उन्हें आशावान और कर्मशील बनाने में जो सफलता प्राप्त की गई है वह किसी भी शासन प्रणाली के लिए बड़ी भारी उपलब्धि है। शासन की

जकड़बन्दी बड़ी चौकस है पर उसके बदले में जनता को कुछ मिला है जिसके कारण वह उस जकड़बन्दी को स्वेच्छया स्वीकार किए हुए है।

× × ×

रूस के बाद मुझे मंगोलिया जाना था। मैं २२ अप्रैल की शाम को मास्को से हवाई जहाज़ से रवाना हुआ। ओमस्क रुकते जब हमारा जहाज़ इरकुटस्क पहुँचा तो घड़ी में मास्को समय से चार घण्टे का अन्तर आ चुका था। इरकुटस्क में हमें बताया गया, रात के दो बजे हैं, गो सूरज निकल रहा था, गर्मियों में वहाँ सूरज ऐसे ही वक्त निकल आता है। वहाँ से मंगोलिया जानेवाला जहाज़ आठ बजे चलने को था। हम लोग पास के होटल में जाकर सो गए। काले परदों को खिड़कियों पर खींचना पड़ा तब रात होने का आभास हुआ। इरकुटस्क से आठ बजे चलकर हमारा जहाज़ क़रीब ग्यारह बजे मंगोलिया की राजधानी उलानबतोर पहुँचा। मुझे नेहरू परिवार में किसी ने बताया था कि 'उलानबतोर' के अर्थ हैं 'लाल बहादुर'—'उलान' का अर्थ है लाल, 'बतोर' वही शब्द है जो बहादुर। मुझे पता नहीं कि नगर का यह नाम पुराना है या लाल क्रान्ति के बाद यह नाम दिया गया। वहाँ मुझे पूछने की याद नहीं रही। अपने देश में दक्षिण में 'कोयमबतोर' नगर प्रसिद्ध है। क्या सम्बन्ध होगा 'कोयमबतोर' और 'उलानबतोर' के बतोर में? प्रसंगवश बता दूँ कि मंगोलिया में क्रान्ति के जनक थे सूकेबतोर, जो वही है जो सुख बहादुर। सूकेबतोर लेनिन से मिले थे और मंगोलिया में उनका वही स्थान है जो रूस में लेनिन का। उलानबतोर के रेड स्क्वायर में सूकेबतोर का स्मारक उसी तरह बना है जिस तरह मास्को में लेनिन का। क्रान्ति के पूर्व मंगोलिया में लामा-धर्म सामन्ती शासन था, जैसे तिब्बत में, तिब्बत से उसका निश्चित रूप से धार्मिक-सांस्कृतिक सम्बन्ध और आदान-प्रदान था; और इस प्रकार सदियों से भारतीय बौद्ध संस्कृति का निर्यात मंगोलिया को हो रहा था। मध्ययुगीन लामाधर्म-संस्कृति से अपने को बिल्कुल काटकर नवयुग में पदार्पण करने के क्रान्ति के प्रयत्नों के बावजूद मंगोलिया के जन जीवन में पुरा संस्कारों के सूक्ष्म चिह्न आज भी देखे जा सकते हैं; उदाहरणार्थ लड़कों के संजय, धनंजय नाम, लड़कियों के सूकिया (सुखिया), सुन्दरिया। प्रणाम करने में हाथों को जोड़ने की रीति; यह प्रथा तो कोरिया-जापान तक चली गई है। ख़ैर।

उलानबतोर के हवाई अड्डे पर मंगोलिया सरकार की मिनिस्ट्री आफ़ कल्चर की ओर से मिस्टर थरवा और मिस्टर तावा ने मेरा स्वागत किया। मि. तावा मेरे दुभाषिया थे, वे अंग्रेज़ी बोल और समझ सकते थे। हिन्दी जाननेवाला दुभाषिया उपलब्ध न था; संस्कृत जाननेवाला दुभाषिया मिल सकता था, लेकिन लज्जा और दुर्भाग्य की बात कि भारत का सांस्कृतिक प्रतिनिधि मैं संस्कृत नहीं बोल सकता था! संस्कृत न जानने की लज्जा इससे अधिक शायद ही कहीं मैंने अनुभव की।

मैं उलानबतोर होटल में ठहराया गया। होटल समस्त आधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न योरोपीय होटलों के समान था। अधिक लोग उस होटल में नहीं ठहरे थे।

उलानबतोर में मेरा कार्यक्रम छह दिनों का था। संग्रहालय और पुस्तकालय के अतिरिक्त वहाँ मुझे कोयले की खान, चमड़े की एक फ़ैक्टरी और ऊन की बुनाई का एक कारखाना दिखाया गया। पुस्तकालय में तिब्बती भाषा में लिखी पाण्डुलिपियों का बहुत बड़ा संग्रह है। मन्त्रों और धार्मिक पुस्तकों को स्वर्णाक्षरों

में लिखने की कला मंगोलिया के लामाओं ने विकसित की थी। बहुत-सी पाण्डु-लिपियाँ सचित्र हैं। संग्रहालय में दीवारों से टाँगने के लिए कपड़े पर बने चित्रों का बहुत बड़ा संग्रह है। पत्थर, काठ, धातु की कला-कारीगरी की, पूजा के उपयोग में आनेवाली अथवा जन-जीवन के दैनिक व्यवहार की जितनी भी चीज़ें हैं, सब पर तिब्बती कला की छाप है। कला के सम्बन्ध में तिब्बत की एक अपनी दृष्टि है। मुझे पता नहीं कला विशेषज्ञों ने कला में किसी विशिष्ट तिब्बती स्कूल की स्थापना की है या नहीं। यह लिखावट में, चित्रकारी में, धातु की वस्तुओं की ढलाई में, पत्थरों की गढ़ाई में, लकड़ी पर की गई नक़्क़ाशी में, भवनों की बनावट में, उन पर किए गए रंगों की सजावट-मिलावट में, सब जगह अपनी विशिष्टता लिये हुए है। इसका ध्येय वास्तविकता से दूर ले जाना है और कल्पना को एक अर्थ-गर्भित वक्रता देना है, अर्थ जो गुह्य तन्त्रों या मन्त्रों में छिपा है। साधारण दृष्टि से देखने पर भी उनका वैचित्र्य अर्थ की जिज्ञासा तो जगाता ही है।—संग्रहालय में लोहे की एक इतनी मोटी ज़ंजीर रक्खी है कि कल्पना नहीं की जाती कि किन दानवों को उनसे बाँधा जाता होगा। चंगेज़ खान का झण्डा आज भी दिल में दहशत पैदा करता है। यह असंख्य बालों का बना है, कहते हैं जब चंगेज़ ख़ान किसी का सिर काटता था तो उसके सिर या दाढ़ी का एक बाल इस झंडे में जोड़ देता था। एशिया और योरोप को रौंद डालनेवाला चंगेज़ ख़ान बौद्ध था मंगोलियायी उसे अपना राष्ट्र वीर मानते हैं।

मुझे ग्राम की एक सहकारी संस्था भी दिखाई गई जिसे मंगोल भाषा में 'नंगदल' कहते हैं। 'नंगदल' में ग्राम जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाले, विभिन्न परिवारों को एक साथ रक्खा जाता है। खेती करनेवाले, कपड़ा बनाने-वाले, जानवरों की देख-रेख करनेवाले, डेरी का काम करनेवाले, शिक्षक, डाक्टर और मेकैनिक—मशीन की सँभाल-मरम्मत करनेवाले—सब मिलकर एक इकाई बनाते हैं जो आत्म पर्याप्त होती है। मंगोलिया में जहाँ जन-संख्या बहुत कम है मशीनों के अधिकाधिक उपयोग को प्रोत्साहित किया जाता है। जहाँ मशीनें कभी देखी ही नहीं गई थीं वहाँ जनता बड़े विनोदपूर्ण कौतूहल से मशीनों को देखती, चलाती और उनकी उपयोगिता सीखती है, तोड़ती भी है, और नंगदल में मेकैनिक का बड़ा महत्त्व है। शुरू-शुरू में विकसित साम्यवादी देशों से मेकैनिक लाकर रक्खे गए थे। अब मंगोलियायी उनकी जगह लेते जा रहे हैं।

मंगोलिया में मीलों लम्बे-चौड़े-चौरस मैदान हैं जिनमें खेती नहीं हो सकती, केवल जंगली घास उगती है। वहाँ केवल भेड़ें और घोड़े पाले जा सकते हैं; घोड़ी वहाँ की गाय है, घोड़ा बैल। घोड़ी के दूध से 'क्यूमिस' बनाया जाता है जो गड़रियों का प्रिय पेय है; मादक और शक्तिवर्धक भी होता है। गड़रियों के परि-वार नमदे के तम्बू लिये चारागाहों में एक जगह से दूसरी जगह घूमा करते हैं। भेड़-घोड़े जब एक जगह की घास चर लेते हैं तो दूसरी जगह जाना जरूरी हो जाता है। उनके गोल तम्बू 'घिर' कहलाते हैं। डा. रघुवीर ने मुझसे बताया था कि 'घिर' 'शिविर' का बिगड़ा रूप है। ये 'घिर' आधे घण्टे में उखाड़े या लगाए जा सकते हैं। मुझे बताया गया कि जाड़ों में भी, जब बरफ़ पड़ रही हो, 'घिर' पक्के मकानों से अधिक गर्म रहते हैं। एक घिर में आठ-दस आदमियों का परिवार बड़े मजे से रह सकता है। मुझे मोटर से ले जाकर एक चरागाह में 'घिर' दिखाया गया। बैट्री से चलनेवाले रेडियो सेट 'घिरों' में रक्खे गए हैं, जिनसे गड़रियों को ख़बरें दी जाती हैं, मौसम का हाल बताया जाता है, गीत-वार्ताएँ सुनाई जाती हैं

और शिक्षित भी किया जाता है। एक घिर में गड़रियों ने मुझे खाना खिलाया। भेड़ का मांस वे इस प्रकार पका-सुखाकर रखते हैं कि बहुत दिनों तक ख़राब न हो। शक्करपारे भी वे बनाकर रखते हैं, पर वे इतने सख़्त थे कि उन्हें काटने में दाँतों को पूरी ताक़त लगानी पड़ती थी। मांस तो मैंने न खाया; दूध, घी, शक्कर में पका चावल भी था, वही मैंने लिया; एकाध शक्करपारे खाए; क्यूमिस भी चखी; तेज़ थी, स्वादिष्ट नहीं लगी। मैंने मंगोली घोड़े की सवारी की और याद आया कि सम्भव है इसी घोड़े के लक्कड़दादे के लक्कड़दादे की पीठ पर सवारी गाँठकर चंगेज़ ख़ाँ या उनका कोई जाँबाज़ सरदार लूट-मार के किसी साहसी-क्रूर अभियान पर गया हो !

मुझे मंगोलिया में बचा एकमात्र लामाओं का मठ दिखाया गया, जहाँ क़रीब सौ लामा अब सरकारी वेतन में रहकर पुरानी पांडुलिपियों को व्यवस्थित, संरक्षित अथवा उन पर शोध का काम करते हैं। मुख्य हाल में भगवान बुद्ध की मंगोली मुद्रा में चमकती धातु-मूर्ति थी और उसके अगल-बग़ल बहुत-सी मूर्तियाँ और पूजा का सामान था जो खुली आलमारियों में सजा था। घी के बड़े-बड़े दीपक जल रहे थे, अगरबत्तियाँ जल रही थीं और उनके गन्ध और धुएँ से हाल भरा था। बीच में आमने-सामने दो पंक्तियों में पालथी मारे बैठे वृद्ध, मुंडित शीश, स्थूलकाय, पीतलबादा धारी एक दर्जन लामा अपने आगे पोथियाँ खोले पढ़ रहे थे और 'ग़ें-ग़ें-ग़ें'—शब्द हाल भर में गूँज रहा था। बीच-बीच में छत से लटकती एक खँझड़ीनुमा डफली को एक लामा नीचे से घुमाकर 'डिमिक-डिमिक' बजा देता और दूसरा लामा एक बड़े झाँझ को 'झइम-झइम', और फिर वे बिना रुके, बिना हिले-डुले, बिना किसी की ओर देखे 'ग़ें-ग़ें-ग़ें'—करने लग जाते। हाल की दीवारों से लगी आलमारियों में बस्तों में बँधी सैकड़ों पोथियाँ रक्खी थीं; किसी लामा ने उनकी ओर संकेत करके कहा, 'गंजोर-तंजोर'। इसके आगे मैं कुछ न समझा। मठ के बाहर 'प्रेयर ह्वील' या प्रार्थना चक्र लगे हैं, जिन पर 'ऊँ नमो मणि पद्मे हुँ' लिखा है। कुछ लोग अब भी आते हैं, इन प्रार्थना चक्रों को घुमाते हैं और मुख्य द्वार पर साष्टांग प्रणाम करते हैं।

प्रमुख लामा से भी मुझे मिलाया गया—पाठकारी लामाओं का प्रतिरूप, रक्तवर्ण, गम्भीर। मठ से लगा उनका निजी कक्ष था। मैंने झुककर प्रणाम किया तो उन्होंने मुन्न से कुछ कहा। दुभाषिया ने बताया, आपको आशीर्वाद देते हैं। वहाँ मंगोलिया के कई कवि और लेखक भी एकत्र हुए; मेरा कविता-पाठ हुआ; मैंने ही अपनी कविता का भावार्थ अंग्रेज़ी में बताया, तावा ने उसको मंगोल में समझाया। वहीं मुझे दिन का भोज दिया गया। प्रमुख लामा ने साथ खाना नहीं खाया; वे उपस्थित भर रहे। मंगोलिया में वह मेरा अन्तिम दिन था। चलते समय मंगोलियायी चित्रों का एक भारी एलबम मुझे भेंट किया गया।

मंगोलिया जो आधी सदी पूर्व केवल गड़रियों और लामाओं और उनके संरक्षक तानाशाही सामन्तों का देश था अब साम्यवादी जनसत्तात्मक लोकतन्त्र है; हर दिशा में विज्ञान के सहारे औद्योगिक उन्नति हो रही है; नये नगर खड़े हो रहे हैं और उसे आधुनिक बनाने की योजनाएँ कार्यरूप में परिणत की जा रही हैं। रूस और चीन दोनों ही मंगोलिया को अपने प्रभाव में रखना चाहते थे, पर सफल रूस ही रहा है। मंगोलिया में चीन के प्रति इस बात पर आक्रोश है कि उसने आउटर-मंगोलिया को अपने क़ब्ज़े में कर रक्खा है। मंगोलिया की उन्नति-प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि पूर्वी समुद्र तट पर उसे कोई द्वार मिले जिससे

निकलकर वह बाहरी दुनिया से स्वतन्त्र सम्बन्ध बना सके। रेड स्क्वायर में घोड़े पर सवार सूकेबतोर की मूर्ति अपना बायाँ हाथ पूर्व दिशा की ओर बढ़ाए हुए है। क्या मंगोलियावासियों के लिए यह कोई संकेत है ?

मंगोलिया से लौटकर मैं मास्को आया और मैंने पहली मई का परेड देखा जिसके लिए मुझे पहले से निमन्त्रण मिला था। भूलने की चीज़ नहीं वह। रूसी फ़ौज और उसके हथियारों का विश्व-आतंककारी प्रदर्शन ! रूसियों को अडिग आश्वासन कि कोई शक्ति तुम्हारे देश का बाल बाँका नहीं कर सकती। लेनिन की समाधि की छत पर खड़े होकर रूस के राष्ट्रपति और मन्त्रिमण्डल के सदस्य सलामी लेते हैं। जिसके पाँवों में सात-आठ घण्टे खड़े रहने की ताक़त न हो वह रेड स्क्वायर में परेड देखने न जाये। वहाँ किसी को बैठने की जगह नहीं दी जाती। जब फ़ौजी मार्च करते हुए जा रहे हैं तब किसी को आराम से बैठकर उन्हें देखने का अधिकार नहीं है। अपने देश का रिपब्लिक डे भी याद आया ! फ़ौजियों के परेड के बाद किसान, मज़दूर, नागरिक हाथों में फूल की डालियाँ लेकर निकलते हैं गाते-नाचते-हज़ारों, हज़ारों, हज़ारों—जैसे घोषित करते हों कि यह सारी युद्ध की तैयारी इसलिए है कि देश में शान्ति के सुमन खिलते-महकते रहें।

× × ×

अगला पखवाड़ा चेकोस्लोवाकिया की यात्रा के लिए था। वास्तव में चेकोस्लोवाकिया दो देशों का सम्मिलित नाम है। किन राजनीतिक कारणों से चेक और स्लोवाक दो विभिन्न भाषा-भाषी देशों को एक कर दिया गया है, मुझे नहीं मालूम। मैं तो उसे एक ही देश समझता था। वहाँ जाने पर पता चला कि दोनों देशों की अलग-अलग राजधानियाँ भी हैं; चेक की प्राग, जिसको वहाँ वाले प्राहा कहते हैं, और स्लोवाक की ब्राटिसलावा। मैं 2 मई को मास्को से हवाई जहाज़ से चलकर प्राग पहुँचा। प्राग में राइटर्स यूनियन की ओर से मदाम यूनोवा ने मेरा स्वागत किया। वे स्वयं लेखिका हैं और अंग्रेज़ी अच्छी तरह बोल और समझ सकती हैं। उनके पति किसी समय मन्त्रिमण्डल में थे; अब उनकी मृत्यु हो चुकी है और युनोवा अपने दो बेटों के साथ रहती हैं जिनमें से एक की शादी हो गई है; दूसरा कालेज में पढ़ता है। भारतीय राजदूतावास के सांस्कृतिक सम्पर्क अधिकारी भी हवाई अड्डे पर मुझसे मिलने आये थे। मुझे एम्बेसेडर होटल में ठहराया गया।

तीस अप्रैल को उलानबतोर में, 1 मई को मास्को में, 2 मई को प्राहा में था। माना कि यात्रा हवाई जहाज़ से की गई थी पर बदन थककर चूर था। मैंने यूनोवा से कहा, आज कोई प्रोग्राम नहीं; वह चली गई। पर शाम को कमरे में लेटे-लेटे घुटन महसूस हुई और मैंने अकेले ही बाहर निकलने का निश्चय किया। फ़ुटपाथ पर काफ़ी चहल-पहल थी और मैं अपनी अजनबी की-सी नज़र आदमियों, मकानों, दुकानों पर डालता आगे बढ़ रहा था कि मुझे एक आदमी निर्मल वर्मा-सा दिखा और मैंने आवाज़ लगा ही दी। वर्मा ही थे।

'अरे आप ! यहाँ कैसे ? खूब पहचाना !'

'योरोपियनों की भीड़ में हिन्दुस्तानी कहीं छिपता है !'

फिर हम दोनों साथ हो गये और दो-तीन घण्टे उन्होंने मुझे पैदल और ट्राम से प्राग की ख़ास-ख़ास सड़कें, इमारतें, बाज़ार, रेस्टराँ दिखाये; चेकोस्लोवाकिया के सिक्के समझाए; नगर-नागरिकों की विशेषताएँ बताईं, फिर किसी क्लब या पब में ले गये। सवाल है, पीनेवालों की संगत का मज़ा वह ज़्यादा उठाता है जो

खुद पीता है या जो नहीं पीता ! मैं अपना निर्णय न पीनेवालों के पक्ष में देना चाहूँगा। क्लब में निर्मल ने एक नवयुवक चेक कवि से मेरा परिचय कराया; नाम था तोपिका—सुन्दर, छरहरा, निर्मल की ही तरह नाटा, किसी क़दर 'नार्टी' भी यानी नटखट; वह निर्मल से बीच-बीच में चेक में कुछ कहकर हंसता रहा। निर्मल ने मुझे बताया था और मुझे खुद भी यह भाँपने में देर न लगी कि चेकोस्लोवाकिया में साम्यवाद है पर साम्यवाद का आतंक या दबदबा नहीं है। रूस और मंगोलिया की यात्रा के बाद चेकोस्लोवाकिया का यह खुला-खुलापन मुझे प्रियकर लगा। मुझे यह भी लगा कि चेकोस्लोवाकिया का नागरिक उतना राजनीति-प्रेरित नहीं, जितना कला अथवा सौन्दर्य-प्रेरित; सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करते हुए वह कहीं अपनी स्वतन्त्रता के प्रति भी सचेत है।

बाद को मादाम यूनोवा के संरक्षण में कई बार राइटर्स यूनियन में चेक लेखकों और कवियों से मेरी भेंट कराई गई; और भारतीय साहित्य और भाषा के विषय में मैंने उनकी जिज्ञासाओं का समाधान किया ! ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों और भवनों को देखने के अतिरिक्त मैंने चार्ल्स युनिवर्सिटी में हिन्दी विभाग के विद्यार्थियों के बीच व्याख्यान दिया और कविता-पाठ किया। वहाँ डॉ. स्मेकल हिन्दी के अध्यापक हैं। वे एक से अधिक बार भारत आ चुके हैं। उनका-मेरा परिचय दिल्ली में हुआ था। जब वे पहली बार भारत आये थे तब भी इतनी शुद्ध, और सही उच्चारण से हिन्दी बोलते थे कि आश्चर्य होता था। मैं उनके घर भी गया, उनकी पत्नी से मिला। उनके घर के भीतर की साज-सज्जा किसी सुसंस्कृत भारतीय के घर से अधिक भारतीय लगी। उन्होंने अपने टेप रेकार्डर पर मेरी कई कविताएँ रेकार्ड कीं। मेरी 'मधुशाला' के कई पदों का अनुवाद उन्होंने चेक भाषा में किया था जो किसी चेक पत्रिका में छपा भी था; और भी कुछ कविताओं का।

प्राग में सभी क्लब-पब पीने-पिलाने, नाचने, ब्रिज-रमी खेलने के लिए नहीं हैं। कुछ क्लबों का ऊँचा सांस्कृतिक स्तर है, जहाँ बुद्धिजीवी, कवि, कलाकार, चित्रकार एकत्र होते हैं। ऐसे ही एक 'वियोला क्लब' में मेरा कविता-पाठ कराया गया; डॉ. स्मेकल ने मुझ पर और मेरी कविता पर एक परिचयात्मक व्याख्यान दिया और मेरी पठित कविताओं का अनुवाद चेक में सुनाया। वास्तव में मैंने वही कविताएँ सुनाई जिनका अनुवाद डॉ. स्मेकल पहले ही चेक में कर चुके थे; कविता कोई साधारण भाषण नहीं कि उसका अनुवाद तुरत-फुरत दूसरी भाषा में प्रस्तुत कर दिया जाये।

तीन दिन के लिए मुझे प्राग से ब्राटिसलावा भेजा गया। वहाँ भी मैंने ऐतिहासिक स्थानों को देखा और राइटर्स यूनियन में व्याख्यान दिया और कविता-पाठ किया। डेन्यूब के तट पर बसा ब्राटिसलावा बड़ा रमणीक नगर है। नगर के कतिपय भागों में किसी प्रकार की सवारी गाड़ियाँ ले जाना मना है। वहाँ बड़ी शान्ति रहती है ; बूढ़े लोग निर्भय घूमने आते हैं, नगर की दौड़-धूप-तेजी-शोर-शराबा जैसे यहाँ आकर शान्त हो गया है। ब्राटिसलावा में 'सिरेमिक्स' का काम बहुत अच्छा होता है—मिट्टी के बर्तनों, खिलौनों, कलाकृतियों को रँगकर पकाने का काम। 'सिरेमिक्स' का काम सिखाने के कालेज भी हैं—एक कालेज में एक भारतीय विद्यार्थी भी प्रशिक्षण ले रहा था। डेन्यूब पर मैंने मोटर लांच से यात्रा की; थोड़ी दूर पर उस पार हंगरी की सीमाएँ शुरू होती हैं; तटों पर बड़ी चौकसी रक्खी जाती है।

चेकोस्लोवाकिया में मैंने कई ओपेरा, बैले, नाटक भी देखे। नाट्य कला को वहाँ विशेष रूप से विकसित किया गया है—विशेषकर रंगमंच की तकनीक को। सिनेमा और रंगमंच को मिलाने के भी प्रयोग हुए हैं। सिनेमा कई जगह बीच के बड़े पर्दे के अतिरिक्त पखवाइयों पर भी दिखाया जाता है—तीन दृश्यों पर ध्यान रखने से दिमाग़ और आँख दोनों पर ज़ोर पड़ता है—शायद अभ्यास से देखना सहज और आनन्ददायक भी हो जाता हो। प्राग में एक रात को मैंने 'रूमियो ऐण्ड जूलियट' का चेक रूप देखा। रंगमंच की तकनीक नाटक पर हावी हो गई थी। मैं शेक्सपियर के नाटकों को सादे से सादे रंगमंच पर देखना चाहता हूँ; तभी भाषा के सौन्दर्य और पात्रों के अभिनय-कला की पूरी परख होती है। शेक्सपियर के नाटक इन्हीं दो लक्ष्यों को सामने रखकर लिखे गये थे। शेक्सपीरियन नाटकों के मंचन में आधुनिकीकरण की एक सीमा माननी होगी; उसका उल्लंघन कर जाने से शेक्सपियर शेक्सपियर नहीं रह जाएगा।

कुल मिलाकर मुझको चेकोस्लोवाकिया बड़ा कल्पना-प्रवण और प्रयोग-प्रिय देश लगा।

× × ×

14 मई को मैं प्राग से ईस्ट बर्लिन पहुँचा। हवाई अड्डे पर मिनिस्ट्री आफ़ कल्चर की ओर से मेरा स्वागत किया गया और मिस कोपेल्के मुझे दुभाषिया के रूप में दी गईं। ईस्ट बर्लिन में मुझे उन्टर डिन लिन्डेन होटल में ठहराया गया। यह होटल हिन्डेनबर्ग गेट से दूर नहीं है जो वेस्ट-ईस्ट बर्लिन के बीच खिंची दीवार की सीध में है। वेस्ट बर्लिन से शायद ही कभी किसी ने ईस्ट बर्लिन आने की कोशिश की हो, पर ईस्ट बर्लिन से वेस्ट बर्लिन जाने पर सख्त प्रतिबन्ध है और दीवार फाँदकर उस पार जाने के प्रयत्न में बहुत-से लोग पहरेदारों की गोलियों के शिकार हुए हैं। इस पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं। हिन्डेनबर्ग गेट से दीवार की सीध में चलकर कुछ दूर पर वह स्थान है जहाँ हिटलर की चांसरी थी। उसे बिल्कुल नेस्तनाबूद कर दिया गया था; उस पर अब जंगली घास उगती है; केवल हिटलर का बंकर, जैसे किसी जानवर की माँद के रूप में, छोड़ दिया गया है; वहाँ किसी को जाने की आज्ञा नहीं है। चांसरी की सारी भूमि ईस्ट बर्लिन की ओर पड़ती है।

सबसे पहले मुझे वह स्मारक दिखाया गया जो उन लोगों की यादगार में बनाया गया है जो हिटलरी फ़ासिज़्म के शिकार हुए थे। एक बड़ा-सा हाल है जिसमें मानो फ़ासिज़्म के प्रतीक के रूप में एक भारी कुरूप काला पत्थर रक्खा है। मुझे बताया गया कि गैस-प्रवाह से यहाँ दिन-रात अग्नि-ज्वाल उठती रहने का प्रबन्ध किया जा रहा है। इमारत के आगे फ़ौजी पहरा रहता है और सप्ताह में एक दिन फ़ौज की एक टुकड़ी बैण्ड-बिगुल-झण्डे के साथ आकर शहीदों को सलाम पेश करती है।

युद्ध के समय बर्लिन पर ज़बरदस्त बममारी हुई थी। मलबे साफ़ की गई ज़मीन पर नया बर्लिन उठ चुका है, उठ रहा है, पर नगर के बीच में कई अंशतः ध्वस्त इमारतें अब भी खड़ी हैं। शायद उन्हें न गिराया गया है, न उनकी मरम्मत कराई गई है, इस ध्येय से कि आनेवाली पीढ़ियाँ देख सकें कि युद्ध कितनी भीषण चीज़ होती है! और वह सभ्यता-संस्कृति की बहुमूल्य उपलब्धियों को किस निर्ममता से विनष्ट करती है।

ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा के अतिरिक्त मैंने राज्य-पुस्तकालय, संग्रहालय

और युनिवर्सिटी देखी। कुछ स्कूल भी मुझे दिखाये गये। एक स्कूल के विद्यार्थियों को मैंने अपनी कविताएँ सुनाईं। बर्लिन नगर छोटी-छोटी झीलों से घिरा है; इनको नहरों द्वारा मिलाकर बड़ा मनोरम जलमार्ग बनाया गया है। मोटर लांच द्वारा इस जलमार्ग से यात्रा करने की याद बहुत दिनों तक बनी रहेगी। इस जलमार्ग के दोनों तटों पर छोटे-छोटे काटेज बने हैं जहाँ नगर के धूल-धुएँ-शोर के दमघोट वातावरण से ऊबकर ताज़गी पाने के लिए लोग छुट्टियों में आ जाते हैं। बर्लिन जैसे व्यस्तता-विक्षिप्त नगर के लिए ऐसे स्थल कितने बड़े वरदान हैं!

चार-पाँच दिन बर्लिन में रखने के बाद मुझे कार से ड्रेसडेन, लाइपज़िग और वाइमार की यात्रा पर भेज दिया गया। ड्रेसडेन पर पिछले युद्ध के समय सबसे बर्बर और भीषण बमबारी हुई थी और बताते हैं कि लगभग अस्सी प्रतिशत इमारतें धराशायी हो गई थीं। नया ड्रेसडेन फिर से खड़ा हो गया है। कुछ पुराने ध्वंसावशेष ज्यों के त्यों पड़े हैं, शायद जैसे बर्लिन में, युद्ध की भीषणता का बोध कराने के लिए। ड्रेसडेन में मैं वहाँ के कवि ज़िमरिन और उपन्यासकार विली माइन्क्स से मिला। माइन्क्स भारत आ चुके हैं, भारत पर कोई पुस्तक भी लिख रहे हैं।

लाइपज़िग व्यावसायिक नगर है, वहीं पर मैंने जर्मन भाषा का सबसे बड़ा पुस्तकालय देखा। संसार में जहाँ कहीं भी जर्मन में कुछ लिखा जाता है लाइपज़िग के पुस्तकालय में उसे संगृहीत करने का प्रयत्न किया जाता है। ग्राफ़िक आर्ट स्कूल भी वहाँ बहुत बड़ा है, जहाँ छपाई की कला का विकास किया जाता है। मुझे यहाँ के छपे कई सचित्र जर्मन क्लासिक्स दिखाए गये। महाकवि कालिदास के 'ऋतुसंहार' के जर्मन अनुवाद का सचित्र भव्य संस्करण मुझे भेंट किया गया, जो कभी यहीं छपा था। कालिदास की किसी कृति का मूल संस्करण भी इतने भव्य रूप में भारत में प्रस्तुत नहीं किया गया। यहाँ तो संस्कृत के उत्कृष्ट से उत्कृष्ट ग्रन्थों के लिए काशी की 'चौखंबा सिरीज़' है जिसे सस्ती बनाने के प्रयत्न में सुरुचि का अच्छी तरह बलिदान कर दिया गया है। उसका विक्रेता ग़रीब ब्राह्मण इतने से ही सन्तुष्ट हो जाता है कि मूलपाठ तो उसे उपलब्ध करा दिया गया—उसके निकट पूर्वजों को तो हाथ से प्रतिलिपियाँ बनानी पड़ती थीं। स्वतन्त्र भारत का ध्यान अपनी साहित्यिक निधि का सम्मान करने की ओर कब जाएगा? सुना है, भारत सरकार ने अच्छी छपाई को प्रोत्साहन देने के लिए पुरस्कारों की एक योजना बनाई है, पर उसका लाभ प्रायः कैलेण्डरों-पोस्टरों को छपवानेवाले उठाते हैं; क्यों न आग्रह समय-सिद्ध ग्रन्थों के उत्कृष्ट प्रस्तुतीकरण पर हो!—कार्ल मार्क्स युनिवर्सिटी में मुझे जर्मन भाषा पढ़ाने की वैज्ञानिक विधि समझाई गई। कई भारतीय विद्यार्थी वहाँ हैं जिन्होंने एक वर्ष में इतनी जर्मन सीख ली है कि वे उसी माध्यम से उच्च कोटि का वैज्ञानिक शोध सम्बन्धी कार्य कर सकते हैं। वैज्ञानिक विधियाँ किसी भाषा पर लागू हो सकती हैं। भारत सरकार, यदि वह हिन्दी के व्यापक प्रचार के प्रति गम्भीर है तो, इस वैज्ञानिक विधि को क्यों न अपनाए? शुरू-शुरू में यह कुछ महँगी पड़ सकती है, पर इससे समय की जो बचत होगी, अन्ततोगत्वा वह इसको सस्ता भी सिद्ध करेगी।

मेरी लाइपज़िग यात्रा एक और कारण विशेष से महत्त्वपूर्ण रही। जिन दिनों मैं लाइपज़िग में था उन्हीं दिनों गेटे के सम्पूर्ण 'फ़ाउस्ट' का मंचीकरण नगर की सबसे बड़ी नाट्यशाला में हो रहा था। मुझे बताया गया कि ऐसा अवसर दस-

हिल-मिल आई लोग-लुगाई
भई महलन में मीरा। अवध···

हिल-मिल नाचैं हिल-मिल गावैं
गूँजै सरजु का तीरा। अवध···

राम-लखन कर जामा भीगै
सीता कै भीगै चीरा। अवध···

लहर-पटोरा रानी लुटावैं
राजा लुटावैं हीरा। अवध···

यह कैथाने की टोली है। डफ बज रहा है।

होली खेलैं नन्द के लाल
खड़े बरसाने में,
गोरस लै लै गोरी निकलीं,
मट फोड़ैं नन्द के लाल
खड़े बरसाने में,
अबिर गुलाल ग्वाल सब डारैं,
रंग बोरैं नन्द के लाल
खड़े बरसाने में।
खुल गया लहँगा, खिसक गयी अँगिया,
पत राखैं नन्द के लाल
खड़े बरसाने में।

और अब यह आई अहिराने की टोली। ढोल बज रहा है और अहीर के छोकरे मस्ती में थिरक-थिरककर नाच रहे हैं। लय ही ऐसी है—

ब्रज मण्डल फाग मचाये
रसिया, ब्रज मण्डल
कान्हा के देहे जामा सोहे
राधा के देहे चूनर-
अँगिया, ब्रज मण्डल···

कान्हा के हाथे कनक पिचकारी,
राधा के हाथे अबिर-
झोरिया, ब्रज मण्डल···

और उन्होंने होली ऐसी खेली है कि

लाले होय गये गोवर्धन पर्वत
पियरी होय गयीं
जमुन नदिया ब्रज मण्डल···

और अब कछियाने वाले आ रहे हैं :

रंग बरसै, भीगै चुनरवाली,
रंग बरसै।

सोने की थाली में ज्योना परोसा,
खाये गोरी का यार, बलम
तरसै, रंग बरसै।

लौंगाँ-इलाची का बीड़ा लगाया,
चाभै गोरी का यार, बलम
तरसै, रंग बरसै।
बेला चमेली की सेजा बिछाई,
सोये गोरी का यार, बलम
तरसै, रंग बरसै।

और अब चमरौटीवाले तुरही बजाते आते हैं··· तू···तू···तू···अर-र-र-र-र-कबीर···

उनका एक हाथ कान पर और दूसरा आसमान में तिरछा उठा। कबीर का अपना लोकछन्द है और उसमें खुलकर अश्लील भद्दे शब्द इस्तेमाल होते हैं।

बिंदवा बनिया जाय बजरिया
घर में धिया अकेल
मौका पावै सोनरा आवै
दिन भर करै कुलेल
सेत में गहना गढ़ता है

असहयोग आन्दोलन के दिनों का एक कबीर याद आता है। समय का सारा वातावरण सँजोये है—अश्लील है तो क्या ?···

गांधी बबा का हुकुम भवा है
घर-घर कातो सूत,
छोड़ फिरंगी मुलुक हमारा
तेरी बहिन की······
हमें आजादी लेनी है······

फ़ास गालियों पर किसी की त्योरी चढ़ती है तो आवाज लगती है 'बुरा न मानो होली है'।

मंगल पण्डित उस दिन खुलकर भद्दे से भद्दे कबीर, जोगीड़े, फाग गाते हैं। —मगर सबसे पहले अपनी माँ-बहिन का नाम लगाकर और फिर वे मुहल्ले में किसी को नहीं बख्शते। फिर सालभर उनके मुँह से कोई गाली नहीं सुनता। शायद वे उसका प्रायश्चित 'राधेश्याम-राधेश्याम' रटकर करते।

होली के फाग रंग में भी एक अनुशासन होता। दोपहर के पहले गीली होली होती। फिर नहा-धोकर लोग साफ कपड़े पहनते। दूसरे पहर केवल सूखी होली खेलते—यानी माथे पर गुलाल का टीका लगाते। गले मिलते। एक-दूसरे को पान-इलायची देकर, एक-दूसरे को इत्र लगाते। किसी-किसी घर लोग मांजून खिलाते—मांजून भाँग डालकर बनायी गयी मिठाई—रात को भंग के नशे में बड़ बोल और ठहाकों से मुहल्ला गूँजता। यों तो छुआछूत का विचार उस मुहल्ले में बड़ा था, पर होली के दिन यह प्रतिबन्ध भुला दिया जाता। अछूत कहलाने वाले भी सवर्णों को अबीर-गुलाल लगाते और उनसे गले मिलते। शायद परम्परा बाबा तुलसीदास डाल गये थे—

लोक वेद सब भाँतिहि नीचा, जासु छाँह छुई लेइअ सींचा।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता, मिलत पुलक परिपूरित गाता।

मुसलमान भी हिन्दुओं के उस राग-रंग में हिस्सा लेते। जिन्हें न लेना होता वे अपने घरों में बैठे रहते। मिर्जाजी की दाढ़ी शाम को झाड़ी जाती, तो आध पाव गुलाल निकलता। कई मुसलमान तो पिछली पीढ़ी के हिन्दू ही थे, वे हिन्दुओं के त्योहार मुसलमान हो जाने पर भी मनाते थे। पर न जाने कौन इस मेल-

मोहब्बत में धीरे-धीरे विष घोलने लगा। और एक दिन तो ऐसा हो गया कि मुसलमान के कपड़े पर कोई रंग डाल दे तो हिन्दू-मुसलमान दंगा हो जाये !

1926 में चक की छाती चीरती हुई जीरो रोड निकल गयी और भी कई छोटी-मोटी सड़कें इधर-उधर निकलीं। मुहल्ला टूट कर बिखर गया। पता नहीं, इन 50-60 वर्षों में इस मुहल्ले में क्या-क्या परिवर्तन आये होंगे। पता नहीं, अब वहाँ की होली कैसे मनायी जाती है ? पता नहीं मंगल पण्डित अब वहाँ हैं कि नहीं। वहाँ का मैं तो हूँ, और वहाँ की एक याद सँजोये हूँ···और शायद वहाँ के कोई और, कहीं और, इन यादों से अपनी यादें जगा सकें।

[1980]

श्रद्धांजलि : गुलाबराय

बाबू गुलाबराय की मृत्यु से हिन्दी का एक वयोवृद्ध आलोचक और निबन्धकार हमारे बीच से उठ गया।

गुलाबरायजी का अपना विशेष क्षेत्र तो दर्शन था, और हिन्दी में नीति और तर्कशास्त्र पर लिखनेवालों में उनका नाम अगली पंक्ति में रखा जायेगा; फिर भी मेरा ऐसा ध्यान है, हिन्दी संसार उन्हें आलोचक और निबन्धकार के रूप में ही स्मरण करेगा। आलोचक के रूप में वे न तो किसी वाद विशेष से बँधे थे और न उन्होंने किसी वाद की स्थापना की। उनका मस्तिष्क साहित्यानुरागी विद्वान का खुला मस्तिष्क था। उनकी रुचि परिष्कृत थी और उन्होंने जो भी लिखा है, उस पर उनके संतुलित मस्तिष्क की छाप है। किसी को उछालने-उभारने अथवा गिराने-पछाड़ने की प्रवृति उनमें कहीं भी नहीं है।

उन्होंने साहित्य की ही नहीं, जीवन की पुस्तक भी बड़े ध्यान से पढ़ी थी। उनके साधारण निबन्धों में भी जीवन के निकट अनुभवों की पकड़ है। दार्शनिक होते हुए भी उनके स्वभाव में एक सरल विनोदप्रियता है जो उनकी रचना में सर्वत्र प्रतिबिम्बित है।

श्रद्धांजलि : राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन के निधन से हिन्दी संसार सत्य ही निर्धन हो गया है।

इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि बीसवीं शताब्दी में उनकी जैसी बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति हिन्दी संसार में दूसरा नहीं था।

साहित्य की कोई ऐसी विधा नहीं जिस पर उनकी लेखनी नहीं चली। कम ही लोगों को शायद मालूम होगा कि उन्होंने कविताएँ भी लिखी थीं।

बौद्ध साहित्य और दर्शन के वे जैसे प्रकाण्ड पण्डित थे वैसे भारतवर्ष में कम ही होंगे। उनके द्वारा और उनकी प्रेरणा से कितना बौद्ध साहित्य हिन्दी में आया है—यह किसी से छिपा नहीं है।

भारत-विद्या-विशारद के रूप में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पायी थी।

इतिहासकार के रूप में मध्य एशिया का जैसा इतिहास उन्होंने लिखा है,

वैसा शायद ही किसी अन्य भाषा में हो।

यह उन्हीं की शोध का परिणाम था, जिसने हिन्दी के प्रारम्भिक इतिहास को ही बदल दिया। हिन्दी में शोध-कार्य को जितनी प्रेरणा उन्होंने दी, शायद ही किसी और ने दी हो।

जैसे उनकी लेखनी गतिशील थी, वैसे वे स्वयं निरन्तर गतिशील थे। तीन बार उन्होंने तिब्बत की कठिन यात्रा की। कई बार उन्होंने विश्व-भ्रमण किया। ज्ञान और कार्य के लिए उनकी आत्मा निरन्तर बेचैन रहा करती थी। सबके ऊपर वे अपने विचार-कर्म की स्वतन्त्रता के हामी थे। संसार की कोई रूढ़ि—कोई लीक उन्हें बाँधकर नहीं रख सकती थी। वे जन्मजात विद्रोही थे।

यह उन्हीं की प्रतिभा थी जिसने अज्ञान-अन्धकार और अनाचार के विरुद्ध उनके विद्रोह को सृजनात्मक रूप दिया था।

उनके अभाव की पूर्ति होना असम्भव है।

दिनकर : साहित्य साधना की शिखर परिणति

इसी 2 अप्रैल को मेरी दिनकर से मुलाकात हुई थी।···केन्द्रीय हिन्दी समिति की बैठक में मुझे दिल्ली जाना था। इससे तीन-चार दिन पहले दिनकर का पत्र मेरे पास आया था। बहुत खिन्न कर देनेवाला पत्र था। मैंने सोचा, चलो दिल्ली पहुँचकर ही दिनकर से मिलूँगा। मेरे प्रकाशक के लड़के की शादी भी थी, इसलिए मैं दो दिन पहले चला गया था। शादी की पार्टी में दिनकर भी आये थे, और यह नामुमकिन है कि दिनकर कहीं आये हों और पता न लगे, चाहे कितनी भीड़ हो या कितनी गहमागहमी उनकी आवाज कहीं छिपी रहनेवाली थी ! दिनकर आवेश में बहुत जल्दी आ जाते थे। उन्हें हाई ब्लडप्रेशर भी था। उस दिन देश की मौजूदा हालत पर गरमागरम बातचीत हो रही थी। मेरी थोड़ी देर को दिनकर से बात हुई। उन्होंने बताया 'मैं माल्चा मार्ग पर रह रहा हूँ—एक नौकर है साथ में।'

मेरे पास अधिक समय नहीं था। फिर भी कुछ देर को दिनकर से उनके घर पर बातें हुईं। उस दिन दिनकर बड़े दुखी दिखायी दिये। वे अपनी विधवा पुत्रवधू की आर्थिक सुरक्षा के लिए कुछ बन्दोबस्त करने की चिन्ता में थे।

दिनकर के मन में आध्यात्मिक अशान्ति बहुत दिनों से थी। वे कोई बीस साल तक दिल्ली में रहे, 12 वर्ष राज्यसभा में और छह वर्ष हिन्दी सलाहकार के रूप में। इधर कोई ढाई साल से ही दिल्ली से हटे। उसमें भी मुश्किल से दस दिन पटना रहे होंगे, कभी बम्बई रहे, कभी मद्रास तो कभी दिल्ली। वे सोचते थे कि जीवन में जो शान्ति उन्हें नहीं मिली, वह किसी सन्त-महात्मा की शरण में जाने से उन्हें मिल जाये। इसीलिए वे रमन महर्षि के पास रहे, पाण्डिचेरी की श्री माँ की शरण में भी गये और मुक्तानन्द के आश्रम में भी।

हिन्दी सलाहकार के पद से निवृत्त होने के बाद दिल्ली छूटना उनके हक में अच्छा नहीं रहा, क्योंकि वे घबराकर, हमेशा घर (पटना) से दूर भागना चाहते थे।

दिनकर महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। कहीं उन्होंने अपनी डायरी में लिखा भी है कि जवाहरलालजी बहुत बार मेरा नाम (मन्त्री पद के लिए) लिखते थे, पर किसी

कारण से काट देते थे। ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त होने से समझते थे कि इससे उनकी भौतिक परिस्थिति सुधर जायेगी। जब उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार मिल गया, तो उनकी साहित्य साधना की एक शिखर परिणति हो गयी। लेकिन, एक बार दिनकर ने बताया था कि उन्हें अपनी एक पोती की शादी करनी थी और ज्ञानपीठ पुरस्कार के बाद उसके दहेज की रकम भी बढ़ गयी।···दिनकर ने अपनी डायरी में भी लिखा है कि मैंने नौ लड़कियों की शादी की। एक बार उन्होंने कहा था, 'और भूमिहारों में शादी करने का मतलब है बिक जाना। दामाद और समधी कपड़े उतरवा लेते हैं।' मैंने मजाक में कहा था, यदि मैं मुगल बादशाह होता, तो तुम्हें शादी बहादुर का खिताब देता।

···मध्यवर्गीय परिवार में पैसा बड़ी भूमिका अदा करता है। इस (ज्ञानपीठ) पुरस्कार ने उनके परिवार के लोगों के सोचने का नजरिया बदल दिया था। दिनकर के मन में एक त्याग की भावना तो थी ही कि वे अपने बड़े लड़के की विधवा बहू के लिए कुछ कर दें, पर वे अपनी इच्छा को मूर्तिवत होते नहीं देख पा रहे थे। उस दिन जब मैं दिल्ली में उनसे मिला था, तो उनका मन बहुत उद्विग्न था। वे मुझसे बोले, 'मन करता है, यह दुनिया छोड़कर संन्यास ले लूँ।' मैंने उनसे कहा, संन्यास लेने से कुछ होगा? आश्रमों की हालत भी अब बहुत अच्छी नहीं है। जिन्दगी भर तुम शान्ति के लिए भीख ही माँगते रहोगे।

···दिनकर से मेरी पहली मुलाकात दिसम्बर 1935 में हुई थी, जब जापानी कवि योन नोगूचो के स्वागत में आयोजित उत्सव में मैं कलकत्ता गया था। उन दिनों 'योगी' में मेरी कविताओं का उपहास भी होता था और दिनकर को वे ज्यादा प्रश्रय देते थे पर हम लोगों में ईर्ष्या या मुकाबले की भावना बिलकुल नहीं थी। साथ-साथ कविता पढ़ते थे, मिलते-जुलते थे, बातें करते थे। मुझे याद है कि किसी कवि के कविता पाठ के समय, हम दोनों ने बात करने पर सभापति की डाँट भी खायी थी। हम लोगों ने कितने ही स्थानों की साथ-साथ यात्रा की, कवि-सम्मेलनों में गये।

दिनकर की वाणी का ओज उनके व्यक्तित्व में भी था। पहले वे कवि-सम्मेलनों में गाकर, सस्वर पाठ भी करते थे। पर जल्दी ही उन्हें महसूस हो गया कि उनका स्वर गाने के लिए नहीं, गरजने के लिए है, पर मैं अपनी कविता गाकर, किसी राग में पढ़ता था। श्रोताओं को 'वेरायटी' मिलती थी। इसमें एक सामंजस्य ही था, प्रतिद्वन्द्विता नहीं। 1956 में जब मैं दिल्ली गया, तो साथ और भी बढ़ गया। हम लोगों की अनौपचारिक और आत्मीय ढंग से बातें हुआ करती थीं। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो मैं दिनकर से ही कर सकता था, हम खुलकर बातें करते थे। हमारी बातें साहित्यिक भाषा में न होकर धरती की भाषा में होती थीं। अब शायद कोई दूसरा आदमी नहीं है, जिससे इस तरह की बातें मैं कर सकूँगा। दिनकर की 'हारे को हरिनाम' में एक कविता भी है कि, 'मैं याद तो बेनीपुरी की करता हूँ पर मैं बैठना चाहूँगा बच्चन के साथ।'

···दिनकर ने श्रमसाध्य जीवन जिया। उनकी साहित्य साधना अपूर्व थी। कुछ समय पहले मुझे एक सज्जन ने कलकत्ता से पत्र लिखा कि दिनकर को ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलना कितना उपयुक्त है। मैंने उन्हें उत्तर में लिखा था—यदि चार ज्ञानपीठ पुरस्कार उन्हें मिलते, तो उनका उचित सम्मान होता—गद्य, पद्य, भाषणों और हिन्दी प्रचार के लिए।

···दिनकर को मानसिक वेदना बहुत थी। अन्त तो सभी का आता है। देश

की जैसी स्थिति है, उसमें 65 वर्ष भी जी लेना आसान बात नहीं है। साहित्यिक क्षेत्र में एक व्यक्ति जो कामना कर सकता है दिनकर को वह सबकुछ मिल गया था—पद, यश, पैसा, प्रतिष्ठा, पर मेरे और शायद उनके अनेक मित्रों के मन को हमेशा यह कचोटता रहेगा कि इतना कुछ करने के बाद, इतनी उपलब्धि और सफलता के बीच, कोई इतनी अशान्ति और दुख-क्लेश को लेकर मरे।

[1974]

रमाजी : एक आदर्शोन्मुख यथार्थ-द्रष्टा

रमाजी के निधन से मुझ जैसे उनके अनेक सम्बन्धियों, मित्रों, परिचितों को हार्दिक दुख हुआ।

उनकी अवस्था कुछ अधिक न थी और वे अभी बहुत समय तक अपने परिवार, देश, समाज—विशेषकर—भारतीय वाङ्मय के लिए अपनी बहुमूल्य सेवाएँ समर्पित कर सकती थीं, पर 'कालोहिदुरतिक्रमः' और उसके समक्ष सभी को नतशिर होना पड़ता है।

काल से उसके निर्मम निर्णय के लिए हमें शिकायत हो सकती है, पर रमाजी को यदि मैंने उन्हें ठीक जाना था, तो कोई शिकायत नहीं रही होगी।

उन्होंने जब भी, जो भी करना चाहा था उसे कल पर नहीं उठा रखा था। यही कारण है कि विभिन्न क्षेत्रों में किये हुए उनके महत्वपूर्ण कार्यों की एक ऐसी लम्बी सूची बनायी जा सकती है, जिसे देखकर बड़े-बड़े कर्मठों को भी उनसे ईर्ष्या हो।

रमाजी उच्च आदर्शों में दृढ़ विश्वास रखते हुए भी दुनिया की वास्तविकताओं से भलीभाँति परिचित थीं। वे अच्छी तरह जानती थीं कि आदर्शों के मार्ग में वास्तविकताएँ, बाधाएँ उपस्थित करती हैं। इसलिए जब भी वे कोई काम उठाती थीं, कठिनाइयों के लिए तैयार रहती थीं, पर उनमें कठिनाइयों को समझने की ही सूझ-बूझ न थी, उनसे लड़ने का धैर्य और उन्हें परास्त करने का शौर्य भी था, साथ ही वे आदर्शों की पूर्णता की दुराग्रही भी न थीं— अपूर्ण संसार में पूर्णता की प्रत्याशा प्रायः दुराशा ही सिद्ध होती है। उनमें समझदार साधु की वह शर्त भी थी, जो आदर्शों के सर्वनाश की स्थिति में उन्हें, अर्द्ध तक तो नहीं, पर अंशतः खण्डित रूप में भी स्वीकार कर लेती है।

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार की योजना बनाने के समय रमाजी ने इस पंक्तियों के लेखक से भी कुछ सलाह-मशवरा किया था, और तभी मुझे रमाजी के इन गुणों को देखने-परखने का अवसर मिला था। पुरस्कार निर्णय की बहुत-सी कठिनाइयाँ थीं— भाषाओं की तुलना कैसे की जायेगी, विभिन्न विधाओं में क्या समानता होगी, भाषायी निर्णय और, विशेषकर, पक्षपात का निराकरण कैसे हो सकेगा आदि। पर रमाजी के मन में एक भारत-मानदण्ड की कल्पना थी और उसी को ये आधार मनवा के रहीं। उनकी विजय का इससे बड़ा सबूत और क्या होगा कि ज्ञानपीठ पुरस्कार के लगभग दस निर्णयों में से किसी को चुनौती नहीं दी गयी।

भारतीय ज्ञानपीठ के साथ उनका नाम बहुत दिन से सम्बद्ध होता आया था। पहले मैं समझता था कि यह औपचारिकता मात्र है, पर जब उनसे मेरा व्यक्तिगत परिचय हुआ, तो मैंने जाना कि पीठ की बागडोर वास्तविक रूप से उनके हाथ में

है। उनमें इतना विवेक और मानसिक सन्तुलन था कि मुझे यह जानकर आश्चर्य न होगा, यदि उनके पति साहू शान्तिप्रसाद जैन अपने उद्योग-व्यवसाय-सम्बन्धी मामलों में भी उनकी सलाह लेते हों।

कलकत्ता जाने पर कई बार मैं उनका अतिथि हुआ और उस समय उनका गृहिणी रूप भी मेरे सामने आया। मेरे ऊपर पहला प्रभाव यही पड़ा कि अपनी रुचि के सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक कार्यों को उठाते रहने पर भी उन्होंने अपने गृह, परिवार की किसी भी दर्जे पर उपेक्षा नहीं की थी। वे अपने परिवार की गृहलक्ष्मी, कुललक्ष्मी, भाग्यलक्ष्मी थीं। उनके परिवार में रहते हुए मुझे किसी व्यक्ति-परिस्थिति का ध्यान नहीं, जो उनकी छाया एवं प्रभाव से अछूता लगा हो। कहते हैं, जहाँ लक्ष्मी निवास होता है, वहाँ सरस्वती नहीं टिकती। रमाजी के व्यक्तित्व की यह सबसे बड़ी विशेषता थी कि उन्होंने अपने घर में लक्ष्मी और सरस्वती को समान रूप से प्रतिष्ठित कर रखा था।

उनके निधन से उनके परिवार ने ही नहीं समाज, देश—विशेषकर—साहित्य जगत ने अपनी एक बहुमूल्य निधि खो दी है। हमारे सन्तोष का शायद यही सबसे बड़ा सम्बल हो सकता है कि ऐसी विभूति भविष्य की बहुत-सी नारियों के लिए प्रेरणा बनी रहेगी।

[1976]

भगवतीचरण वर्मा : भूले बिसरे चित्र

'हम दीवानों की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ कल वहाँ चले,
मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले।'

भगवती बाबू का नाम याद आते ही उनकी यह प्रसिद्ध कविता दिमाग में गूँजने लगती है। जोशपूर्ण लहजे में बुलन्द गले से उभरता उनका लयबद्ध स्वर, यह कविता उनकी कल्पना से नहीं, उनके जीवन-दर्शन से निकली थी। कुछ ऐसा ही था उनका व्यक्तिगत जीवन भी। मस्ती और फक्कड़पन के बगैर भगवती बाबू की कल्पना असम्भव है। आज सुबह (6 अक्तूबर) उनके निधन के समाचार से मुझे गहरा धक्का लगा। मस्ती का वह सैलाब अब फिर कहाँ नसीब होगा, जिसमें वे अपने साथ सबको डुबो देते थे! उनका क्या, वे तो 'आज यहाँ, कल वहाँ' कहकर अपनी मस्ती में चल दिये। कोई अगर खाली हुआ है, तो हम—दोस्त और हिन्दी साहित्य जगत।

उनके निधन का झटका मुझे सम्भवतः इसलिए भी ज्यादा लगा, क्योंकि इसके लिए मैं तैयार नहीं था। अभी 18 सितम्बर को ही दिल्ली में उनसे मिलकर आया था। वे ऑल इण्डिया इन्स्टिट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज में भर्ती थे। गले में कैंसर था। डॉक्टरों ने बोलने की मनाही कर रखी थी। वैसे भी गले में दर्द तो होता ही था। मुझे देखा, तो बड़े खुश हुए। बोले, "अस्पताल आने से पहले मैं कह आया था कि बच्चन को सूचित कर देना।" मैंने कहा कि वे सूचना न भिजवाते, तो भी उनकी बीमारी की खबर मुझे खींच लाती। वे और कुछ बोलना चाहते थे, तो मैंने उन्हें मना किया और कहा कि वे बीमार हैं, कम बोलें। सुनते ही बिस्तर पर थोड़ा और अकड़कर बैठ गये, जैसे कह रहे हों—'हूँ···कौन कहता है कि मैं बीमार हूँ?'

उनके भीतर पूरे जीवन मैंने एक जबरदस्त जिजीविषा महसूस की। हालाँकि

वे नियतिवादी थे, लेकिन व्यक्तिगत जीवन में उनकी कर्मठता, जिजीविषा और युयुत्सा को देखकर आश्चर्य होता था। अस्पताल के कमरे में भी मैंने उनमें वही सब पाया। उन्हें देखकर मुझे लगा कि इस बार भी वे अपनी तमाम मस्ती और अक्खड़पन के साथ हमारे बीच लौट आयेंगे। हुआ ही यही। अस्पताल से तो वे घर आ गये थे। वहीं बाथरूम से निकलते वक्त गिर पड़े और अचानक पड़े दिल के दौरे ने उन्हें हमसे अलग कर दिया।

ढेर सारी स्मृतियाँ हैं—उनके कवि-लेखक व्यक्तित्व की, राजनीतिक व्यक्तित्व की, अक्खड़-स्वाभिमानी, फक्कड़ और सिद्धान्तवादी व्यक्तित्व की, बैठकबाज और किस्सागो व्यक्तित्व की। बड़ा भरा-पूरा, बहु-आयामी और जीवन्त व्यक्तित्व था उनका। सिद्धान्तों के लिए कभी उन्हें झुकते नहीं देखा। इसके लिए उन्हें हर जगह संघर्ष करना पड़ा और संघर्ष से विचलित होते भी उन्हें मैंने नहीं देखा। अपने सिद्धान्तों के लिए हर कीमत चुकाने को वे तैयार रहते थे।

उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। चाहे कितना भी बड़ा प्रलोभन हो, वे ठुकराकर चल देते थे। इस सन्दर्भ में एक घटना याद आती है। उन दिनों भगवती बाबू प्रतापगढ़ में वकालत करते थे। प्रसिद्धि तो उन्हें मिल ही चुकी थी। वहीं उनका परिचय भदरी के तत्कालीन नरेश से हुआ। भदरी नरेश ने कुछ प्रकाशन की योजना बनायी और भगवती बाबू को उसका कार्य देखने के लिए अपने साथ ले गये। वहाँ उन्हें सारा आराम था, लेकिन प्रकाशन का कार्य शुरू होता नजर नहीं आ रहा था। एक दिन उन्होंने पूछा कि उन्हें क्या काम है? भदरी नरेश ने कहा, "काम-धाम क्या है। यहीं रहिए और साहित्य सेवा कीजिए।" दूसरे दिन ही भगवती बाबू अपना बोरिया-बिस्तरा समेट चलते बने। मुफ्त में मिल रही सुख-सुविधा और राजा का आश्रित होना उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचाता था।

वे किसी को अपने से बड़ा नहीं समझते थे। कहते भी थे, 'मैं सबसे बड़ा हूँ'। लेकिन इस स्वाभिमान का दूसरा पक्ष भी उनके व्यक्तित्व में था—वे किसी को अपने से छोटा या तुच्छ भी नहीं समझते थे। हीनता और श्रेष्ठता, दोनों ग्रन्थियों से मुक्त ऐसे मर्यादित व्यक्तित्व कम ही मिलते हैं।

स्वाभिमान और अक्खड़मिजाजी के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी था—मानवीयता और स्नेहमयता का। छोटों को भगवती बाबू का सहज और अबाध स्नेह मिलता था। दूसरे के स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अपनी सीमाओं से आगे जाकर भी वे सहायता करते थे। आज के न जाने कितने साहित्यकार उनके इस उदार स्नेह के ऋणी हैं। इस स्नेह का पात्र मैं भी रहा हूँ। उसकी चर्चा बाद में करूँगा।

भगवती बाबू उम्र में मुझसे चार साल बड़े थे। उन्हें मैंने 1926-27 के आसपास पहली बार देखा था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कानून पढ़ने के लिए वे आये थे। मैंने भी बी. ए. में दाखिला लिया था। मुझे याद है, उसी समय विश्वविद्यालय की तरफ से एक वाद-विवाद प्रतियोगिता आयोजित की गयी थी। विषय था—सम्मिलित परिवार प्रणाली और विभक्त परिवार प्रणाली। भगवती बाबू ने सम्मिलित परिवार प्रणाली के पक्ष में भाषण दिया था। इस प्रतियोगिता में मैंने भी भाग लिया था। मगर, पुरस्कार भगवती बाबू ने ही जीता था। तब उनसे मेरा परिचय नहीं था। परिचय, इस अर्थ में कि मैं तो उन्हें जानता था, किन्तु वे मुझे

नहीं जानते थे। वे अक्सर स्थानीय कवि-सम्मेलनों और वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लेते थे। इसलिए मैं उन्हें अच्छी तरह जानता था।

उनसे बाकायदा परिचय 1933 में हुआ, जब मैंने 'मधुशाला' लिखी। उस वक्त तक वे कवि के रूप में काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। उन दिनों साहित्य में छायावाद का जोर था। पन्त, निराला और महादेवी इस विधा में लिख रहे थे। लेकिन, छायावाद की कविताओं में अस्पष्टता और क्लिष्टता थी, जो सामान्य आदमी की समझ से बाहर थी। इसके विपरीत भगवती बाबू की कविताओं में स्पष्टता थी। उनकी कविताएँ खुले रूप में मन के भावों को लेकर आयीं। क्लिष्टता के बावजूद उनकी कविताओं में भावों का आवेग इतना प्रबल होता था कि उसे समझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। और फिर उनका गम्भीर गले से सस्वर गायन कवि-सम्मेलनों में श्रोताओं को मोह लेता था। हिन्दी में उनका यह प्रयोग नया था। हालाँकि उनके पूर्व बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी ऐसी कविताएँ लिखी थीं, लेकिन ज्यादा सफलता भगवती बाबू को ही मिली। कविताओं में मादकता और मस्ती का प्रारम्भ उन्होंने ही किया। यह और बात है कि इसके लिए बदनामी कहें या लोकप्रियता, मुझे मिली।

कवि रूप में ख्याति पाने के बाद वे गद्य लेखन की ओर मुड़ गये। कई कहानियाँ और उपन्यास उन्होंने लिखे, मगर सबसे अधिक प्रसिद्धि उन्हें 'चित्रलेखा' से मिली। चित्रलेखा के प्रकाशन के बाद कई लोगों ने उन पर यह आरोप लगाया कि यह अनातोले (फ्रांस) की कृति 'थाया' का अनुवाद है, जो सरासर गलत था। मैंने दोनों उपन्यासों को पढ़ा है। मुझे दोनों में ऐसा कोई साम्य नजर नहीं आया। एक इतने बड़े दार्शनिक सिद्धान्त को पूर्णत: भारतीय परिवेश में गूँथकर उसे इतना सरल बना देना भगवती बाबू जैसा किस्सागो ही कर सकता था।

'चित्रलेखा' के बाद भी उन्होंने कई उपन्यास लिखे। मेरे हिसाब से वे कविता की अपेक्षा गद्य लेखन में ज्यादा सफल रहे। लेकिन कविता के प्रति उनका लगाव समाप्त नहीं हुआ था। वह कहीं अन्दर दब जरूर गया था। इसका एक उदाहरण दूँ। 1976 की बात है। तब मैं दिल्ली में रहता था। वे जब भी दिल्ली में होते, मेरे यहाँ जरूर आ जाते। उन्हीं दिनों उन्होंने अपने एक महाकाव्य की योजना मुझे सुनायी। उन्होंने इसे लिखना भी शुरू कर दिया था। उस दिन घण्टों सस्वर पाठ करते हुए उसके कुछ आरम्भिक अंश उन्होंने मुझे सुनाये। फिर चर्चा चलती रही। मैंने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा कि महाकाव्य अब प्रासंगिक नहीं रहे, उनका युग बीत गया। मेरे इस वक्तव्य से कुछ दुखी जरूर हुए। फिर कई महीनों के बाद जब दोबारा मुलाकात हुई, तो मैंने उनके महाकाव्य की प्रगति के बारे में पूछा। इस पर हँसते हुए वे बोले, "तुमने महाकाव्य का योजना का सेबोटाज (भीतरी घात) कर दिया।"

भगवती बाबू स्वभाव से एकदम फक्कड़ किस्म के थे। एक जगह टिकना उनके लिए असम्भव था। इलाहाबाद से वकालत पास करने के बाद उन्होंने हमीरपुर, कानपुर और प्रतापगढ़ में वकालत की। फिर सब छोड़कर कलकत्ता चले गये। वहाँ से बम्बई। फिल्मी दुनिया भी उनके स्वभाव के विपरीत थी। अत: वहाँ भी नहीं रुके। फिर दिल्ली। अन्त में उन्होंने लखनऊ को स्थायी रूप से चुना। उनकी जिन्दगी को स्थायित्व देने में सबसे बड़ा हाथ नन्दिताजी का रहा। नन्दिताजी उनके जीवन में तब आयीं, जब उनकी पहली पत्नी का देहान्त हो चुका था, वे चार पुत्र और एक पुत्री छोड़ गयी थीं, नन्दिताजी ने इन सबको माँ का प्यार दिया। मैं कह

सकता हूँ कि नन्दिताजी उनके जीवन में न आयी होतीं, तो सम्भवतः वे बोहेमियन (खानाबदोश) हो गये होते।

किस्सागोई और बैठकबाजी उनके स्वभाव में रची-बसी थी। दोस्तों के बीच बात करते-करते ही वे अपनी कहानियों, उपन्यासों के 'प्लॉट' बना लेते थे। और झट उनके मुँह से निकलता —'बहुत पॉवरफुल प्लॉट मेरे दिमाग में आया है।' इसके बाद, जैसे एक-एक पृष्ठ खुलते जा रहे हों। ऐसे वे सुनाना शुरू कर देते। अभिनय के साथ किस्सागोई का वह अन्दाज हमें घण्टों बाँधे रहता।

उनका झुकाव राजनीति की तरफ भी था। 1942 के आन्दोलन के दिनों में वे कांग्रेस से प्रभावित थे। हालाँकि वे जेल वगैरह तो नहीं गये, लेकिन सिर पर गांधी टोपी और खद्दर के कपड़े जरूर पहनने लगे थे। स्वतन्त्रता सेनानियों से सहानुभूति के कारण ही उन्होंने डॉ. केसकर (जो बाद में केन्द्रीय सूचनामन्त्री भी बने) को 1942 के आन्दोलन में अपने यहाँ छिपाकर रखा। कांग्रेस के बड़े-बड़े नेताओं से उनकी जान-पहचान थी और सभी उनकी इज्जत भी करते थे। 1977 में वे राज्य सभा के सदस्य भी नामजद किये गये। लेकिन पं. नेहरू के निधन के बाद से राजनीतिक मूल्यों में आयी गिरावट से वे काफी खिन्न रहते थे। राजनीति के प्रति उनमें एक व्यंग्यात्मक भाव आ गया था, जिसे व्यक्त करने से वे चूकते नहीं थे। इस मूल्यगत ह्रास को लेकर पिछले दिनों वे एक उपन्यास की योजना भी बना रहे थे। अब वह सब अधूरा रह गया है।

और आखीर में, उनके बहु आयामी विशाल व्यक्तित्व के उस मानवीय पहलू की चर्चा जरूरी है, जिसके लिए हिन्दी के अनेक साहित्यकार उन्हें याद करते हैं और करते रहेंगे। उनका वह पक्ष था—दूसरों के प्रति संवेदना, सहानुभूति और स्नेह का। इस स्नेह का निश्छल और अबाध दान मुझे भी हरदम मिला है। मुझे याद आता है—तेजीजी से मेरी शादी को हमारे कायस्थ समाज ने स्वीकार नहीं किया था। उस ज़माने में यह सामाजिक अस्वीकार बड़ा यातनादेह होता था। जब भगवती बाबू को यह पता चला, तो उन्होंने इलाहाबाद के प्रतिष्ठित कायस्थ डॉ. प्यारेलाल श्रीवास्तव तथा अन्य लोगों को और जबलपुर से रामानुजलाल श्रीवास्तव को अपने घर बुलाकर मेरे विवाह की दावत दी। उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव के कारण कायस्थ समाज ने हमारी शादी को मान्यता दी। उनका यह स्नेह हम पर हमेशा रहा। तेजीजी तो उन्हें पितातुल्य मानती थीं। भगवती बाबू आज हमारे बीच नहीं हैं। अपनी मस्ती में धूल उड़ाते हुए वे चले गये।

[1981]

कवि के संचयनों-संकलनों की भूमिकाएँ

[1953-'81 के बीच लिखित]

सोपान (भारती भंडार, प्रयाग, '53); अभिनव सोपान (राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, '64); आधुनिक कवि : 7 (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, '61); बच्चन के लोकप्रिय गीत (हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली, '66); रूप और आवाज़ (सरस्वती बिहार, नयी दिल्ली, '79); सोऽहं हंसः (राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, '81); हिन्दी की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ (पहली, दूसरी, तीसरी पंखुड़ी सरस्वती बिहार, नयी दिल्ली से क्रमशः सन् '78, '81 और '82 में प्रकाशित)।

'सोपान' की भूमिका

भूमिका

'सोपान' संकलन है। इसकी कविताओं का चुनाव मैंने अपनी पिछले बीस वर्षों की रचनाओं से किया है। मेरा पहला संग्रह 'तेरा हार' 1932 में प्रकाशित हुआ था। मेरा नवीनतम संग्रह, जिससे भी रचनाएँ इस संकलन में सम्मिलित की गयी हैं, 'मिलन यामिनी' है जो 1950 में प्रकाशित हुई थी। इस प्रकार बीस वर्षों में लिखी अपनी प्रमुख कविताओं को मैंने यहाँ एकत्र किया है।

संकलन से सबको सन्तुष्ट करना कठिन है। कविताएँ केवल अपनी विशेषता और गुणों के कारण प्रिय नहीं बनतीं, इसे सब काव्य-प्रेमी जानते हैं। हो सकता है, बहुतों को यह देखकर असन्तोष हो कि उनकी प्रिय रचना इसमें नहीं है। अपनी तरफ़ से मैं यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि संकलन करते समय मैंने जन-रुचि को कभी अपने ध्यान से उतरने नहीं दिया। मुझे जीवन में जो भी अवसर उसे जानने के मिले हैं, मैंने उनका पूरा लाभ उठाया है। जनता कोई रचना क्यों पसन्द करती है, इसे वह स्वयं नहीं जानती। इसको समझने में समालोचकों के पसीने छूट जाते हैं और उनका विश्लेषण कभी सम्यक हो पाता है, इसमें मुझे सन्देह है। मैंने अपना फ़ैसला हमेशा जनरुचि से माँगा है।

हिन्दी के समालोचकों ने भी बड़ी सहायता की है, मेरी रचनाओं के विषय में प्राय: मौन रहकर। उनकी चुप्पी के कारण जनता को निरातंक, स्वच्छन्द और निष्पक्ष अपना निर्णय बनाने में सहायता मिली है। वे बिना काम मेरे दाहने-बायें रहते तो जनता से मेरा वह सीधा सम्पर्क न हो पाता, जिससे उसने तो शायद मुझसे कम, पर उससे मैंने बहुत कुछ सीखा है।

'अभिनव सोपान' की भूमिका

अपने पाठकों से

'सोपान' के नाम से आप अपरिचित नहीं हैं। यह 1929-'50 की अवधि में लिखी मेरी कविताओं में से, मेरी दृष्टि में, सर्वश्रेष्ठ रचनाओं का चयन था जो 1953 में प्रकाशित हुआ था।

'अभिनव सोपान' में इधर 13 वर्षों में लिखी कविताओं में से उसी दृष्टि से चयन करके रचनाएँ जोड़ दी गयी हैं। साथ ही पिछले 'सोपान' के रूप में भी

बहुत-कुछ परिवर्तन-परिवर्धन किया गया है।

इस प्रकार इस संकलन का 'अभिनव सोपान' नाम सार्थक प्रतीत होगा।

चयन में मैंने अपनी कविता के एकाधिक जागरूक प्रेमियों से सलाह ज़रूर ली है, पर पसन्द का अन्तिम उत्तरदायित्व मेरे ही ऊपर है। विशेष आभारी हूँ मैं अपने दो शिष्यों—सत्येन्द्र और ओंकार का, जिन्होंने इस संकलन के तैयार करने में मुझे सक्रिय रूप से सहायता दी।

'अभिनव सोपान' की सबसे बड़ी नवीनता है 'सोपान पर से' शीर्षक से श्री सुमित्रानन्दन पन्त की भूमिका। इसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ, हालाँकि वे सोचते हैं कि इसे लिखकर वे मुझसे एक तरह से उऋण हुए हैं। आज से 16 वर्ष पहले मैंने उनके ऐसे ही संकलन 'पल्लविनी' की भूमिका लिखी थी।

आशा है, कविताएँ समय-सिद्ध होकर भविष्य को यह आरोप लगाने का अवसर न देंगी कि दो बड़े-छोटे कवियों में यह साँठ-गाँठ थी कि 'मन तुरा हाजी बिगोयम, तो मरा हाजी बिगो'—यानी, चूँकि एक ने कहा था, 'अहो रूपम्', इस-लिए दूसरे ने कहा, 'अहो ध्वनिः।'

वैसे आपके स्वतन्त्र निर्णय के लिए पन्तजी की भूमिका उसी प्रकार प्रस्तुत है जिस प्रकार मेरी कविताएँ हैं।

13 विलिंगडन क्रिसेंण्ट,
नयी दिल्ली-11 **बच्चन**
27 नवम्बर 1963

'आधुनिक कवि : 7' की भूमिका

अपने पाठकों से

मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की साहित्य समिति के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूँ कि उसने मुझे सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'आधुनिक कवि ग्रन्थ माला' में अपने दृष्टिकोण के साथ अपनी कविताओं का एक प्रतिनिधि संचयन प्रस्तुत करने के लिए आमन्त्रित किया। वास्तव में यह निमन्त्रण मुझे आज से लगभग दस वर्ष पूर्व मिला था, परन्तु उस समय मैं अंग्रेज़ी कवि ईट्स की रचनाओं पर शोधकार्य करने के लिए केम्ब्रिज जाने की तैयारी में लगा था और इस काम की ओर ध्यान न दे सका। बीच में सम्मेलन भी बहुत-सी समस्याओं से उलझा रहा और मैं भी। अब उसका निमन्त्रण फिर आया है और उसे स्वीकार करते हुए मैं बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। मेरा ऐसा ख्याल है दस वर्ष के विलम्ब से आने के कारण मेरा संकलन मेरी कविताओं का अधिक समुचित प्रतिनिधित्व कर सकेगा। कहावत प्रसिद्ध है, देर आयद दुरुस्त आयद। मैं इन दस वर्षों में लिखी कविताओं से भी चुनाव कर सकूँगा—और मैंने इस दशक में कम नहीं लिखा। इसमें मेरी मौलिक

कविताओं के पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और शायद अधिक परिपक्व निर्णय से भी !

अपनी कविताओं में से अपने आप, श्रेष्ठता अथवा प्रतिनिधित्व, किसी भी दृष्टि से चुनाव करना कठिन काम है। सम्मेलन का लक्ष्य 'प्रतिनिधि' संचयन है, तो भी कोई भी कवि अपनी समझ में अपनी सर्वश्रेष्ठ कृतियों के द्वारा ही अपनी रचनाओं का प्रतिनिधित्व कराना चाहेगा। मैं प्रयत्न करूँगा कि सम्मेलन का लक्ष्य नीचे न पड़ने पाये। यह भी सम्भव है कि मेरा अथवा वस्तुतः किसी भी कवि का किया हुआ संचयन न श्रेष्ठता की कसौटी पर खरा उतरे और न प्रतिनिधित्व की। कवि की ऐसी अक्षमता को भी कुछ महत्व देने की जिम्मेदारी सम्मेलन की साहित्य समिति की अपनी है। दुनिया के साहित्य के इतिहास में ऐसी रचनाओं के उदाहरण कम नहीं हैं जिन्हें उनके कवियों ने बहुत महत्ता दी पर समय और समालोचकों ने उन्हें साधारण ही समझा, और इसके विपरीत भी हुआ है। बहरहाल ऐसे संचयन और संचयन-कर्ता की सीमाओं से पाठक अवगत रहें तो अच्छा ही है।

अपना दृष्टिकोण बताने का काम और कठिन है। विश्व के साहित्य में, और विशेषकर भारतीय साहित्य में कवि के ऐसे कर्म की परम्परा बहुत क्षीण है। कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं किन्तु वे उनके विषय में अथवा अपने विषय में मौन रहे हैं। इस प्रवृत्ति के कुछ उत्कट उदाहरणों से भी लोग परिचित हैं जहाँ कवि की कविता के अतिरिक्त केवल कवि का नाम ज्ञात है, और कुछ भी नहीं ज्ञात है। हमारे पूर्वजों ने जीवित कवियों का यश-वर्णन भी वर्जित कर रखा था। कभी सोचता हूँ, यह बड़ी स्वस्थ प्रवृत्ति थी। जब कविता अपने आन्तरिक गुण अथवा शक्ति से जनजीवन और संस्कृति में कोई स्थान बना लेती थी तभी उस पर चर्चा होती थी; कवि तब तक विस्मृत हो जाता था, और उसके विषय में यदि कोई जिज्ञासा होती थी तो उसे शान्त करने के लिए उसकी कविता का ही आश्रय लिया जाता था। यदि कवि अपने को परिपूर्णता से अपनी कविता में ढाल देता है, यदि कविता परिपूर्णता से कवि को अपने में उतार लेती है तो कवि के विषय में कुछ भी महत्वपूर्ण जानने के लिए उसकी कविता कोई महत्वहीन माध्यम नहीं है। जिनकी कविताएँ ऐसी हैं उनके विषय में हमने कितना पाना है और जिनकी कविताएँ ऐसी नहीं हैं, शायद उन्हें जानने की ज़रूरत भी नहीं है। पर परम्पराएँ बदलती हैं, अच्छे के लिए या बुरे के लिए, यह प्रश्न दूसरा है। आज कवि, कभी अत्यधिक आत्म-विश्वास से और कभी अपनी काव्य शक्ति में विश्वास की कमी के कारण भी, अपने विचार, सिद्धान्त, आदर्शवाद अथवा अपनी कला-शैली-तकनीक की घोषणा करता हुआ आता है। उधर पाठक भी कुछ ऐसी जिज्ञासाएँ जगाता है, ऐसी शंकाएँ उठाता है कि उनका समाधान कवि के द्वारा ही किया जा सकता है। जिस निकटता अथवा घनिष्ठता से वह अपने विषय में जानता है वैसे दूसरा कोई जान भी कैसे सकता है ! दूसरी ओर, समालोचक-वर्ग भी कवि के पदार्पण करने के साथ ही, कभी पहले से भी, उसे उभारने-पछाड़ने की योजनाएँ आरम्भ कर देता है। इस प्रकार आज की कविता के साथ बहुत कुछ ऐसा लेखन आ रहा है जो यदि किसी दृष्टि से कविता के सन्तुलित मूल्यांकन में सहायक है तो कई अंशों में बाधक भी है। इनमें, स्वाभाविक है, कवि द्वारा अपने विषय में कुछ लिखे हुए को अधिक महत्व मिल जाता है। स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव में लोग कवि द्वारा लिखित बातों को ही उलट-फेर कर दुहराने लगते हैं। ऐसें समय में किसी नीतिकार का यह कथन स्मरण आता है कि आर्य आत्मनिन्दा और आत्मपूजा दोनों से अलग रहे। अपने विषय में सर्वथैव

निरपेक्ष और विश्लेषणात्मक होना बहुत कठिन है। कम से कम मैं अपने लिए यह दावा नहीं कर सकता। इस कारण अपना जो दृष्टिकोण मैं यहाँ उपस्थित करने जा रहा हूँ, उसकी भी सीमाएँ जान लेनी चाहिए।

मैं देखता हूँ कि इस ग्रन्थमाला में मेरे संकलन के पहले छ: संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। अपनी कविताओं के विषय में श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'अपने दृष्टि-कोण से' शीर्षक से लिखा है, श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पर्यालोचन' से, श्री राम-कुमार वर्मा ने 'मेरा दृष्टिकोण' से, श्री गोपाल शरण सिंह ने 'आत्मकथन' से, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'दो चार बातें' से और श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने 'भूमिका' शीर्षक से लिखा है। सम्भवत: सम्मेलन ने सभी कवियों से अपना 'दृष्टि-कोण' ही देने को कहा होगा, फिर भी उसने कवियों द्वारा दिये गये इससे इतर शीर्षकों का भी सम्मान किया है। सम्मेलन की इस उदारता का लाभ उठाकर मुझे जो अपनी कविताओं के विषय में कहना है उसे मैं 'अपने पाठकों से' शीर्षक से कहना चाहूँगा; शायद मैं अपनी पसन्द को और अच्छी समझता अगर मैं इस लेख का शीर्षक रख सकता 'अपने श्रोताओं से'। शीर्षकों की विविधता में भी कवियों की अपनी-अपनी विशिष्टता का एक प्रकार से संकेत है, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

अपनी कविता के प्रति किसी भी कवि का दृष्टिकोण क्या होगा यह बहुत कुछ जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण से प्रभावित और निर्धारित होगा और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण उसके युग और समाज की परिस्थितियों, समस्याओं, आशाकांक्षाओं से। कवि की अपनी शिक्षा-दीक्षा, योग्यता-क्षमता, अपने संस्कार इस सारे परिवेश के प्रति उसकी प्रतिक्रिया को एक अलग सत्ता और इकाई देंगे। यही कारण है कि एक ही युग-समाज में रहकर सृजन करनेवाले दो समर्थ कवियों में शायद ही कोई ऊपरी समता दिखायी दे। 'नवीन', 'निराला', पन्त की भाव-प्रवणता की अवस्थाओं में डेढ़-दो वर्ष से अधिक का अन्तर नहीं है, फिर भी अपनी अभिव्यक्तियों में वे एक-दूसरे से अलग हैं। भीतरी समता तो होगी, क्योंकि कोई भी युग-समाज अपने सबसे सचेत और सजग स्तर पर—और कवि यहीं की प्रजा है—ऐसी प्रतिभाओं को जन्म नहीं देता और शायद सहन भी नहीं कर सकता, जो एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हों। समाज के कुछ तन्द्रिल और सुप्त स्वर भी होते हैं, जहाँ बीसवीं सदी में पन्द्रहवीं सदी का मनुष्य भी रहता है, जाता है हवाई जहाजों से योरोप और साथ ले जाता है गंगाजल और पिड़ौर मिट्टी। खैर, युग-समाज के सबसे सचेत और सजग स्तर के स्पन्दनों की सराहना और उन्हें वाणी देना कवि का काम होता है। इसीलिए कविता की ठीक समझदारी के लिए दो तथ्यों पर दृष्टि रखनी आवश्यक है—कवि के व्यक्तित्व पर और उसके परिवेश पर। यदि कवि को सृजन के लिए लम्बा समय मिला है तो उसका व्यक्तित्व बदलता है, उसका परिवेश बदलता है, उसका दृष्टिकोण बदलता है, उसकी अभिव्यक्ति बदलती है और किसी भी स्थिर धारणा से उसका अध्ययन कठिन ही नहीं, गलत भी होता है। कीट्स के काव्य का अध्ययन करना सरल है, उनकी रचनावधि केवल पाँच वर्ष की थी, ईट्स का कठिन है, उनका रचनाकाल पचपन वर्षों तक फैला है। ऐसे कवि की भी कल्पना की जा सकती है जो दीर्घकाल तक लिखते हुए भी एक ही बात कहता जाये, एक ही जगह पाँव पीटता रहे; मुझे ऐसे कवि के साथ स्पर्धा न होगी।

यदि मैं अपने व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना चाहूँ, उस युग-समाज का विश्लेषण

करना चाहूँ जिसमें मेरी भावप्रवणता जगी, और तब से लेकर आज तक के विकास पर दृष्टिपात करूँ तो मुझे अपनी आत्मकथा ही नहीं लिखनी पड़ेगी, अपने समय का सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास भी लिखना पड़ेगा। अभी तो हमारे समय का सन्तोषजनक राजनीतिक इतिहास भी नहीं; सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास अधिक व्यापक, गहन और सूक्ष्म अध्ययन माँगता है जिसमें उस युग की कविता का अध्ययन कोई गौण स्थान नहीं ग्रहण करेगा। ऐसा कुछ करने का इरादा, कम से कम इस समय, नहीं है; फिर इस दृष्टिकोण की पृष्ठ-सीमा का भी मुझे ध्यान रखना चाहिए। अपने और अपने परिवेश के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में यहाँ संकेत मात्र किया जा सकता है। वह भी पर्याप्त होगा, ऐसा मेरा विश्वास है, क्योंकि मेरे बहुत से पाठक वैसी ही, या लगभग वैसी परिवेश-प्रतिक्रिया के भुक्तभोगी रहे हैं जिसका कि मैं रहा हूँ। मुझे अपने काव्य-जीवन के आरम्भ में ही इस बात का सबूत मिल गया था कि न तो मैं ढाई चावल की खिचड़ी पका रहा हूँ, न डेढ़ ईंट की मस्जिद उठा रहा हूँ, न मैं अकेले कण्ठ की पुकार हूँ, क्योंकि मेरा स्वर निकलते ही बहुत से कण्ठों से प्रतिध्वनित होने लगता था, बहुत के प्राणों की अनुगूंज बनता था :

इस कुपथ पर या सुपथ पर
मैं अकेला ही नहीं हूँ;
जानता हूँ, क्यों जगत फिर
उँगलियाँ मुझ पर उठाता—
मौन रहकर इस लहर के
साथ संगी बह रहे हैं,
एक मेरी ही उमंगें
हो उठी हैं व्यक्त स्वर में !

—मधुकलश

और आज भी मेरे पाठकों का एक वर्ग बना हुआ है जिसे न मैं छोटा कहूँगा और न महत्वहीन, जो कविता के सहज स्वाभाविक आकर्षण से मेरे निकट आया है। और, किसी और बात से अधिक इसने ही मुझे ऐसा समझने का बल दिया है कि मैं युग-समाज के किन्हीं दुर्निवार स्पन्दनों को मुखरित कर रहा हूँ। और भी तरह के स्पन्दन हो सकते हैं, शायद अधिक मार्मिक, शायद अधिक सशक्त, शायद कम भी। इसी कारण मुझे कभी अपनी कविता के विषय में कोई सफाई अथवा व्याख्या देने या भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। पत्र-पत्रिका, पुस्तक, कवि-सम्मेलन, रेडियो—जिस माध्यम से भी मेरी कविता मेरे सहवर्तियों तक पहुँची है, उसने उनमें एक बेअख्तियारी तथा रससंचारी सहानुभूति जगायी है। यह और बात यह है कि उसकी गहनता किसी रचना के प्रति अधिक अथवा कम रही हो। इस बात से जहाँ मुझे सन्तोष हुआ है, हर्ष हुआ है वहाँ विस्मय भी कम नहीं हुआ। मैं क्या कह रहा हूँ, कैसे कह रहा हूँ कि इतने लोग समझ रहे हैं कि मैं उनकी ही बात कह रहा हूँ, जब मेरा आग्रह केवल अपनी बात कहने का है और जब जान-बूझकर अपनी वाणी से कोई इतर प्रभाव उत्पन्न करने का न मुझे प्रलोभन हुआ है, और न मैंने प्रयत्न किया है।

मैं निज उर के उद्गार लिये फिरता हूँ।
मैं निज उर के उपहार लिये फिरता हूँ।

—मधुबाला

मेरा जन्म सन् 1907 में एक निम्न मध्यवर्ग के रूढ़ि-रीति-नियम-अन्ध-

विश्वास विजड़ित परिवार में हुआ जो उस समय सक्रिय सुधारवादी आन्दोलन को भी सन्देह की दृष्टि से देखता था। 1920 के असहयोग आन्दोलन और 1930 के सत्याग्रह आन्दोलन के बीच मेरी भावप्रवणता सचेत, विकसित और प्रौढ़ हुई। राजनीतिक स्वतन्त्रता के संघर्ष ने उस दशक के युवक को एक नया व्यक्तित्व, नयी स्वच्छन्दता, नया आत्मविश्वास, और जग-जीवन को देखने की एक नयी दृष्टि दी। उसके विचार, आचार, व्यवहार, उद्‌गार सभी में एक नयेपन की झलक-लपक दिखायी दी। नये-पुराने की रगड़-झगड़ स्वाभाविक थी। सरकारी पुलिस और देशभक्त स्वयंसेवकों की मुहिमों से हजारों गुना अधिक मुहिमें पुराने बाप और नये बेटे के बीच खड़ी हुईं। हर लड़ाई के बहुत से पहलू होते हैं। कोई पीछे भागता है, कोई आगे झपटता है, कोई बग़लें झाँकता है, कोई नारे लगाता है, कोई पौरुष दिखाता है। सामाजिक अथवा सांस्कृतिक युद्ध के भी ये सब पहलू होते हैं, किसी ने मध्ययुगीन आदर्शों और नैतिकताओं को झाड़ा-पोंछा, किसी ने सुन्दर भविष्य के स्वप्नों का संसार बसाया, किसी ने प्रकृति के नीरव-कुंज में शरण ली, कोई अनन्त की करुणामय गोद में छिपकर बैठा, किसी ने प्रोत्साहन के स्वर में ललकारा, किसी ने भर्त्सना के स्वर में फटकारा, कोई अपनी चोट, घाव में रोया-चिल्लाया, किसी ने पहले तो पलायन किया पर बाद में आकर डट गया, किसी ने पहले तो बड़ा जोश-खरोश दिखाया और बाद को चीं बोल गया, कोई गिरकर उठा, कोई उठ-कर गिरा और बहुत-से वीरगति को प्राप्त हुए।

मेरा रचनाकाल लगभग 1930 से आरम्भ हुआ। '30 और '33 के बीच जो मैंने लिखा वह 'प्रारम्भिक रचनाएँ' पहले और दूसरे भाग में संगृहीत हैं। उस समय मैंने अपने आपको उसी राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्ष के बीच खड़े पाया। तेईस वर्ष का युवक जीवन की उद्दाम पिपासा लिये, अपने उल्लास-प्रेरणा से परिचालित होने का अभिलाषी, अपने स्वप्नों-आदर्शों के अनुसार सोचने-जीने का इच्छुक और पल-पल पर विरोध, पग-पग पर बाधाएँ। मैंने अस्फुट स्वर में कई बार संसार को पागल कहा, संसार ने मुझे पागल कहा :

पागल सब संसार कह उठा,
स्वर्ग कह उठा ज्ञानी;
भाग्य-पटल पर विधि ने लिख दी
कवि की जटिल कहानी।

—प्रारम्भिक रचनाएँ : भाग-2

उस समय की प्रचलित शब्दावली में मुझे 'करुण कहानी' कहना था। 'जटिल' विशेषण ही, इस समय सोचता हूँ, बहुत कुछ कह रहा है। परन्तु अभी मेरे 'अरथ' और 'आखर' में बल न था। उस समय के प्रभावपूर्ण स्वरों में मैथिलीशरण गुप्त की भाषा पुरानी संस्कृति से समझौते की भाषा थी— निराला की भाषा कथ्य और कथन की प्रयोगात्मक विविधता में बिखर जाने के कारण कोई सांगोपांग व्यक्तित्व न स्थापित कर सकी थी। प्रकृति-प्रेमी पन्त की भाषा विशिष्टता-सम्पन्न होकर भी संघर्ष की भाषा नहीं थी, और न थी रहस्यवादी महादेवी की भाषा। राष्ट्र-वादियों के स्वर की प्रखरता सतही थी। गहराई आगे चलकर दिनकर ने दी। संघर्ष की भाषा, व्यक्ति और समाज के संघर्ष की भाषा, बोलने का कुछ अभ्यास 'नवीन' और भगवतीचरण वर्मा कर रहे थे। जाने-अनजाने अपने इन्हीं दो अग्रजों से संकेत पाकर मैंने जिस माध्यम को यथाशक्ति परिपूर्ण करके 1933 में 'मधुशाला'

में दिया, उसने हिन्दी काव्य-संसार में एक नयी आवाज़ का आभास दिया। अपने स्वर का बल पाकर पहले का उपेक्षित 'पागल' अब क्रान्तिकारी, भयकारी, पागल, दीवाना, मस्ताना हो गया था। पूछा जा सकता है कि मेरे नये व्यक्तित्व ने मुझे नया स्वर दिया कि मेरे नये स्वर ने मुझे नया व्यक्तित्व दिया। पहले अण्डा कि पहले मुर्गी या पहले पेड़ कि पहले बीज पूछनेवाले प्रायः यह भूल जाते हैं कि इन दोनों से पहले भी कुछ हो सकता है। यह था मेरा आन्तरिक संघर्ष; और अगर वहाँ तक आपकी कल्पना नहीं जाती तो आप यह मान लीजिए कि मेरे नये स्वर ने ही मुझे नया व्यक्तित्व दिया। कवित्त बनाकर एक बड़ा कवि कह गया है कि 'मेरे कवित्त तो मोंहि बनावत।' मेरी दृष्टि में इससे कवि और कविता दोनों की महत्ता बढ़ती है कि कवि वह है जो अपनी कविता के द्वारा अपना विकास कर सकता है। और जब ऐसी कविता कवि की अनुभूति से इतनी अनिवार्यता से जुड़ी होती है और कवि समाज से रागबद्ध होता है, तब वह उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी रूप में प्रेरित करने की क्षमता रखती है। 'मधुशाला' को पढ़ते-सुनते लोग नहीं अघाते। और मैं अक्सर सोचता हूँ कि हमारे समाज और हमारी मध्ययुगीन संस्कृति ने कविता से क्या कुछ हरण कर लिया था कि आज वह केवल कुछ शब्द-रूपकों का आश्रय पाकर अपने को एकदम सर्वहारा समझने की दयनीय स्थिति से बच जाता है। 'मधुबाला', मधुशाला की 'वृत्ति' (मूड) को एक व्यवहार्य जीवन में रूपान्तरित करने का स्वप्न है। यह स्वप्न जब-तब सत्य की टकराहटों और तज्जनित पीड़ा से मुक्त नहीं है।

दुनिया बड़ी चालाक होती है। मैं 'मधुशाला', 'मधुबाला' के प्रतीकों से क्या कह रहा हूँ, इसकी उपेक्षा करने की दृष्टि से उसने प्रतीकों पर ही आक्रमण आरम्भ किया। 'मधुकलश' ऐसे आक्रमणों के प्रत्युत्तरों से प्रतिध्वनित है।

पर मेरी जिजीविषा की परीक्षा समाज ने ही नहीं ली, नियति ने भी ली। 'निशानिमन्त्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर', उसी अग्नि-परीक्षा में धँसने और 'सतरंगिनी', 'मिलन यामिनी', 'प्रणयपत्रिका' मुक्त जीवन का जयगान करते हुए उसमें से निकल आने की साक्षी-कृतियाँ हैं।

जिजीविषा तब तक सिद्ध नहीं कही जायेगी, जब तक वह मृत्यु का भी सामना न कर ले। 'हलाहल' आत्मा के अमरत्व का आभास पाने का एक कलात्मक प्रयास है।

जीवन तमाम दुख, संकटों, संघर्षों के बावजूद जीने योग्य है; मानव तमाम दोषों, त्रुटियों, ख़ामियों के बावजूद प्यार करने योग्य है, और वर्तमान तमाम विशृंखलताओं, दुर्व्यवस्थाओं और निराशाओं के बावजूद विशद, व्यवस्थित और निश्चित भविष्य में विश्वास दृढ़ कराने में समर्थ हैं —इसी का गान करने के लिए मैंने एक लम्बी योजना बनायी थी जिसकी अंशाभिव्यक्ति, 'प्रणयपत्रिका', 'आरती और अंगारे' और 'त्रिभंगिमा' के कुछ गीतों में हुई है। इस बीच मुझे ऐसा भी लगा है कि यह आस्था बाह्य जगत के प्रति आत्माग्रह से ही पूर्ण पुष्ट नहीं है। इसके लिए किसी अज्ञात का भी पल्ला पकड़ना होगा। अब भी मेरी यह योजना अपूर्ण है। कब पूरी होगी, मैं नहीं कह सकता।

'बंगाल का काल', 'सूत की माला', 'खादी के फूल', 'धार के उधर उधर', 'बुद्ध और नाचघर' में मेरा दृष्टिकोण प्रायः वाहिज्य अथवा ऑब्जेक्टिव है। जीवन का एक पक्ष वाहिज्य है इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता। बहुत-सी घटनाओं की एक सामूहिक प्रतिक्रिया होती है। व्यक्ति के एकाकी रह सकने का अधिकार

तभी पूर्ण सुरक्षित रह सकता है, जब उसे समूह में रहने से भी इन्कार न हो। जहाँ समूह ने मुझसे माँग की है, मैंने अपनी वाणी का बल इसे दिया है।

तीस वर्ष तक सर्जक का जीवन जीने और लिखने के बाद बाहरी परिवेश से आज मेरा आन्तरिक संघर्ष समाप्तप्राय है। इतने दिनों का चिन्तन-मनन यदि मुझे किसी जगह पर सुस्थिर न करता तो उसे व्यर्थ ही कहना चाहिए था। संवेदनशीलता मुझमें आज भी है जिसके कारण जीवन का हर दिन अनेक ऐसे सत्य उपस्थित करता है जिन पर मेरी अपनी बिशिष्ट प्रतिक्रिया होती है। पर इन प्रतिक्रियाओं अथवा इनकी अभिव्यक्तियों से अब मेरा आत्मिक निर्माण नहीं होता। निर्मित होते हुए व्यक्तित्व और निर्मित व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियों में अन्तर होना स्वाभाविक है। मोटे तौर पर यह रोमाण्टिक और क्लासिक का अन्तर है। किन्हीं गणनाओं के अनुसार तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' सत्तर वर्ष की अवस्था में लिखा। 'विनय' के पदों की रचना उन्होंने अपने यौवन में की होगी। यदि यह ठीक है तो 'रामचरित मानस' निर्मित, और 'विनय पत्रिका' निर्मित होते हुए व्यक्तित्व की रचनाएँ कही जा सकती हैं। 'रामचरित मानस' और 'विनय पत्रिका' में कौन उच्चतर कृति है, यह विवादास्पद है ही; इस सम्बन्ध में कोई रूढ़ नियम भी नहीं बनाया जा सकता कि किस प्रकार के व्यक्तित्व से उच्चतर कृति उपस्थित की जा सकती है। मूल बात यह है कि प्रतिक्रियाएँ चाहे निर्मित व्यक्तित्व से हों, चाहे निर्मित होते हुए व्यक्तित्व से, उन्हें दुर्निवार होना चाहिए। सृजन के लिए, निर्मित, सुस्थिर व्यक्तित्व में भी इतनी आग होनी चाहिए कि जब उस पर चोट पड़े चिनगारी फूट पड़े मा निषाद प्रतिष्ठा···निर्मित होता-हुआ, विचलित व्यक्तित्व शायद अपनी ठोकरों से ही चिनगारी उठाता चलता है—कश्चित् कान्ता विरह गुरुणा।

निर्मित व्यक्तित्व जहाँ जीवन की बड़ी उपलब्धि है, सृजन की दृष्टि से उसके बड़े ख़तरे भी हैं। उदासीनता शायद सबसे छोटा खतरा है। सृजन की आवश्यकता का ही अनुभव न हो। शेक्सपियर ने अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में कुछ नहीं लिखा। विवशता, एक उम्र के अभ्यास की मजबूरी, क़लम के पीछे घिसटना, उससे बड़ा ख़तरा है। सर्जक अपनी सृष्टि पर हावी रहते हुए ही शोभन लगता है। सबसे बड़ा ख़तरा है दम्भ—मान, स्थान, उपलब्धि से परिपोषित—जगजीवन के किसी भी सत्य पर निर्णय दे सकने का, किसी बात को सिद्ध कर सकने का, किसी शैली-शिष्प-विधा पर अपनी दक्षता दिखा सकने का, इस दम्भ से जो रचा जाता है, उसमें ताप नहीं होता, धड़कन नहीं होती, सजीवता नहीं होती। सर्जक न न्यायाधीश है, न बाजीगर, न मदारी। शास्ता नहीं, सहभोक्ताया शास्ता के साथ सहभोक्ता (जो अधिक कठिन साध्य है) रहने में ही उसकी सत्ता है—जो वह तभी तक रह सकता है जब तक उसमें संवेदनशीलता की आग मौजूद है। कला की दुनिया में इस आग का स्थानापन्न नहीं है। जब यह आग ठण्डी हो जाय तब कलाकार को अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिए। यह आग मुझमें कब तक रहेगी, इसे बताना कठिन है, मैं तो यही कामना कर सकता हूँ कि जब यह आग मुझमें समाप्त हो जाय, तब महज़ क़ागज रँगने का मोह मुझे न व्यापे।

13, विलिंगडन क्रिसेण्ट, **बच्चन**
नई दिल्ली-11
10-4-61

'बच्चन के लोकप्रिय गीत' की भूमिका

प्रवेशिका

आज अपने गीतों का एक संकलन आपके आगे प्रस्तुत कर रहा हूँ। चुनाव में मैंने उन्हीं गीतों को लिया है जो अपने किन्हीं गुणों के कारण लोकप्रिय हो चुके हैं।

गीत भावना-जगत की वाणी है। भावना-जगत भी युग-निरपेक्ष नहीं होता।

जब मनुष्य की भावनाएँ तीव्र होती हैं, तब वे उसे सहज ही लयमय कर देती हैं।

शब्दों के माध्यम से यदि उनकी अभिव्यक्ति हुई तो वह स्वाभाविक ही छन्दोबद्ध, संगीतात्मक तथा रागोद्‌बोधक होती है। ऐसी अभिव्यक्ति को गीत की संज्ञा दी जाती है।

गीतों में भावना की तीव्रता और एकता होती है; इसी कारण गीत अपने आकार में लघु होता है; पर उसमें भी वह एक भाव को जगा, उसे विकास तथा गति दे एक तीव्रतम स्थिति पर पहुँचा देता है।

प्रत्येक गीत की अपनी स्वतन्त्र इकाई होती है। उसे किसी सन्दर्भ की आवश्यकता नहीं होती।

उसकी पहली ही पंक्ति मानव-हृदय का किसी न किसी भावना के साथ अपना निकट सम्बन्ध बना लेती है। अच्छे गीत की पहचान ही यह है कि उसकी प्रतिध्वनि भावक—श्रोता या पाठक—के हृदय से आये।

कुछ गीत शास्त्रीय संगीत में बाँधे जा सकते हैं और उन्हें शुद्ध रूप से केवल संगीतज्ञ ही गा सकते हैं। कुछ गीत मात्रा, लय, तुक का सहारा लेकर तरन्नुम के साथ मुखरित किए जा सकते हैं। गीतों में शब्द, और अर्थ का भी, अपना आन्तरिक संगीत भी इतना होता है कि उन्हें सस्वर पढ़ा जाये तो भी उनका आनन्द लिया जा सकता है। गीत शब्द के अर्थ ही हैं, गाया हुआ।

सभी पाठकों से संगीतज्ञ होने की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। मैं चाहूँगा कि जो भी उन्हें गा सकें गायें; न गा सकें तो कम से कम सस्वर पढ़ें। ध्वनि और अर्थ दोनों मिलकर ही गीत के लक्ष्य को पूरा करते हैं—भावक में सर्जक की भावना को उद्‌बुद्ध करना।

इन गीतों के प्रति आपकी प्रतिक्रिया जानकर प्रसन्नता होगी।

13, विलिंगडन क्रिसेण्ट,
नयी दिल्ली-11
30-10-66

बच्चन

'रूप और आवाज़' की भूमिका

पाठकों से

'रूप और आवाज़' मेरी कविताओं का कोई नया संग्रह नहीं। '67-'68 में लिखित मेरी कुल कविताएँ '68-'69 में 'कटती प्रतिमाओं की आवाज़' और 'उभरते प्रतिमानों के रूप' नाम के दो संग्रहों में प्रकाशित हुई थीं।

उनके संस्करण समाप्त होने पर अब दोनों संग्रहों की कविताएँ 'रूप और आवाज़' के नाम से एक ही संग्रह में प्रकाशित की जा रही हैं।

दस-बारह वर्ष पूर्व लिखी इन कविताओं की माँग अब भी है, यह मेरे लिए हर्ष का विषय है। ऐसे समय, जब अच्छी कविता के मानदण्ड प्रायः लुप्त हो गये हैं, यदि कोई कविता एक दशक की मार झेलकर भी विस्मृतिशायी नहीं होती तो उसके अच्छी कविता न सही, कविता होने के कुछ सबूत तो मिलते ही हैं। आज पाठकों की शिकायत यह नहीं है कि अच्छी कविता नहीं मिलती; उनकी शिकायत है कि उन्हें कविता ही नहीं मिलती।

पिछले 30-35 वर्षों में कवियों की नयी-नयी पीढ़ियाँ कविता को नये-नये विशेषणों से अभिहित कर पाठकों को सामने लाती रही हैं, और सबसे बड़े खेद की बात यह है कि विशेषणों पर इतना आग्रह रहा है कि विशेष्य की प्रायः उपेक्षा कर दी गयी है। मैंने अपने पूरे काव्य-जीवन में विशेषणों की उपेक्षा की है और विशेष्य को मान दिया है। मेरा ऐसा अनुभव है कि कविता के वास्तविक प्रेमी, जिन्हें मैंने कभी कविता की प्रजा कहा था—विशेषणों से न आह्लादित होते हैं, न आतंकित और न प्रभावित। वे उसी को कविता मानते हैं, जो उन्हें छुए-छेड़े। और मैं इतने ही आश्वासन के साथ इन कविताओं को अपने नये पाठकों के सामने रख रहा हूँ कि वे उन्हें इस दिशा में निराश नहीं करेंगी।

आप इन पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहें तो मैं उसका स्वागत करूँगा।

बच्चन
[मार्च '79]

'प्रतीक्षा'
14 उत्तर-दक्षिण रास्ता, दसवाँ;
बम्बई-49

'सोऽहं हंस' की भूमिका

पाठकों से

'सोऽहं हंसः' हंस-प्रतीक से रचित दस गीतों का संकलन है। इनमें से सात गीत 'प्रणय-पत्रिका' से लिये गये हैं, जो मेरे केम्ब्रिज-प्रवास में लिखे गये थे—

शीर्षक इन पर यहाँ पहली बार दिये गये हैं। दो गीत 'आरती और अंगारे' से लिये गये हैं, जो प्रवास से लौटने पर लिखे गये थे। इनके शीर्षक हैं—'हंस को चेतावनी' और 'हंस का मोहभंग'। एक गीत 'चौंसठ रूसी कविताएँ' से लिया गया है—'हंस की मौत'— इसके मूल लेखक याकोव पोलोन्स्की हैं—मैंने इसका अनुवाद किया है, पर मेरे हंस-गीतों के साथ इसकी ऐसी संगति प्रतीत हुई कि इसे मैंने सृजनात्मक अनुवाद के नाते अपना-ही-सा मान लिया है।

गीतों का क्रम इस प्रकार रखा गया है कि वे एक भावात्मक कथा-सूत्र में पिरोये लगते हैं जिसकी अनुभूति प्रत्येक संवेदनशील पाठक को होगी।

'हंस' काव्य-जगत का बहुत पुराना और बहुत जाना-माना प्रतीक है और संसार के कवियों ने इस प्रतीक को न जाने कितने अर्थों और सन्दर्भों में प्रयुक्त किया है।

प्रयाग में रहते, इंग्लैण्ड जाने के पूर्व हंस-प्रतीक से मेरा परिचय केवल पुस्तकीय और चित्रंगत था, जो उसका प्रयोग मैंने कतिपय कविताओं में किया था।

हंसों से मेरा पहला साक्षात्कार केम्ब्रिज में हुआ और फिर तो उनसे मेरा परिचय निकटता, मित्रता, आत्मीयता में परिवर्तित होता तादात्म्य तक पहुँच गया और जो मुझे स्वयं कहना था वह मैंने हंस के माध्यम से कह दिया। शायद अधिक सच्चाई और सजीवता से। संकलन को 'सोऽहं हंसः' शीर्षक देते हुए मैं उसी तादात्म्य की याद ही तो कर रहा हूँ— मैं वही हंस हूँ।

कवि प्रतीकों में अपने भावों को व्यक्त कर उन्हें व्यापकता देता है—उन्हें अपना न रखकर औरों का, सबका बना देता है। अपने प्रयोग की सफलता मैं तभी समझूँगा जब इन गीतों को पढ़कर आप भी कह सकें—'सोऽहं हंसः'— वही हंस तो मैं भी हूँ।

प्रतीक्षा
दसवाँ रास्ता, जुहू-पारले
बम्बई-उंचास

बच्चन
27-11-1981
[मेरा पचहत्तरवाँ जन्म दिवस]

'हिन्दी की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ : पहली पंखुड़ी' की भूमिका

पाठकों से

हिन्द पाकेट बुक्स के व्यवस्थापकों ने मुझे आमन्त्रित किया कि मैं उनके लिए 1976-'77 में प्रकाशित प्रतिनिधि-श्रेष्ठ कविताओं का एक संकलन तैयार कर दूँ जो वे हिन्द पाकेट बुक्स की 1000वीं पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करेंगे।

मैंने सहर्ष उनका आमन्त्रण स्वीकार किया।

सामयिकता के अतिरिक्त और क्या बात ऐसा संकलन बनवाने के पीछे व्यवस्थापकों के मन में थी, इसे तो वे ही जानें, मैंने विशेष रुचि ऐसा संकलन तैयार करने में इसलिए ली कि '76-'77 का काल सर्वविदित राजनैतिक कारणों

से साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए विशेष संकट, चुनौती और साहसिकता का रहा है, और उसमें हिन्दी कवियों और हिन्दी कविता का जो रूप उभरा है, उस पर गर्व होना स्वाभाविक है। आपातस्थिति के जंगल से कवियों ने रास्ता ही नहीं निकाला, सुन्दर रास्ते भी निकाले हैं यानी इस अवधि में काव्य-कला के नये आयाम भी खोजे गये हैं। इस अवधि में लिखित और भी प्रकाशित होने के बाद, मेरा ऐसा ध्यान है, यह बात और अधिक स्पष्ट हो सकेगी। काव्यालोचना के क्षेत्र से परिचित लोग जानते होंगे कि साठोत्तरी कविता को एक विशेष गतिशीलता देने का प्रयास काफ़ी दिनों से चल रहा है, पर साठोत्तरी कविता ने शायद अपना सबसे लम्बा डग '76-'77 के काल में ही भरा है।

कविता का काम जीवन की समस्याओं से जूझना होता है।

पर जीवन की समस्याएँ केवल राजनीतिक समस्याएँ नहीं होतीं।

मैं इस संकलन के पाठकों से व्यापक अभिरुचि की प्रत्याशा करूँगा। हमें अपने कवियों में विश्वास हो तो हमें उन विषयों में रुचि लेना ही चाहिए, जिनको उन्होंने अपने चिन्तन-मनन-अभिव्यक्ति का विषय बनाया है। वास्तविकता तो यही है कि हम कवियों की दृष्टि से ही उन बहुत-सी चीज़ों की ओर ध्यान देते हैं, उनका महत्त्व समझते हैं, जिनको अपनी दृष्टि से सामान्य अथवा नगण्य समझकर हम अनदेखा कर देते हैं।

साहित्य में, जिसमें कविता भी सम्मिलित है ही, भाषा और अभिव्यंजना के स्तर पर भी सामयिकता की एक छाप रहती है, पर प्रत्येक कवि अपनी वय, अनुभूति, अभ्यास, रुचि-क्षेत्र से अपनी रचना को एक विशिष्टता भी देता है। इस संकलन में ऐसे भी कवि हैं जो सात दशकों के पार हैं और ऐसे भी जिन्होंने अभी दो ही दशक पार किये हैं; उसी प्रकार कवियों के अनुभव और उनके रुचि-क्षेत्रों की विभिन्नता भी काव्याभिव्यक्ति की विविधता के लिए उत्तरदायी है। व्यापक अभिरुचि से यह माँग की जाती है कि वह प्रत्येक कवि को उसके संस्कार-परिवेश में रखकर उसकी कविताओं को देखे-परखे। अपनी ओर से मैं यह विश्वास दिलाना चाहूँगा कि मैंने प्रत्येक कविता को उसकी किसी विशिष्टता के कारण ही यहाँ प्रस्तुत किया है। यहाँ इतना स्थान तो नहीं कि मैं उनकी ओर संकेत कर सकूँ। विशिष्टता को पहचानने का प्रयत्न अपने-आप में आपको एक प्रकार के काव्यानन्द की अनुभूति करा सकता है, इसे आप निश्चय जानें।

जब से कविता ने छन्दों की पायलें उतार दीं तबसे उसकी गति, लय, भंगिमाएँ, मुद्राएँ अधिक देखी-परखी जाने लगी हैं, और कवि भी उनके द्वारा अपने नये-नये प्रयोगों से बहुत-कुछ कहने, संकेतित करने में लगे हैं। आप उनके प्रति जितने खुले और जागरूक होंगे, उतना ही रस आप इन कविताओं से ले सकेंगे।

कवियों के चुनाव में मुझे कई लोगों से सहायता मिली—डॉक्टर वचनदेव कुमार ने '76-'77 में प्रकाशित काव्य-संग्रहों की लगभग पूरी सूची ही मेरे पास भेज दी; डॉक्टर धर्मवीर भारती, डॉक्टर जीवन प्रकाश जोशी, श्री अजित कुमार, श्री नरेन्द्र वसिष्ठ ने कवियों के नाम ही नहीं सुझाये, मेरे लिए बहुत-से काव्य-संकलन भी सुलभ किये; मैं अपने इन सब मित्रों के प्रति आभारी हूँ।

कविताओं का चुनाव मेरा अपना है।

मुख्यतया मैंने कविताओं का चुनाव प्रस्तावित अवधि में प्रकाशित संकलनों से किया है; कुछ विशिष्ट, जाने-माने कवियों की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं से ली गयी हैं, क्योंकि इस अवधि में उनके संकलन प्रकाशित नहीं हुए थे।

मैं उन सब कवियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अपनी कविताएँ इस संकलन में सम्मिलित करने की अनुमति दी।

मैंने विशेष प्रयत्न किया है कि '76 की कोई विशिष्ट कृति छूटने न पाये; '77 में अगर कोई छूट गयी हों तो उन्हें '77-'78 के संकलन में सम्मिलित करना सम्भव हो सकेगा। मुझे आशा है कि हिन्द पाकेट बुक्स इस प्रकाशन को वार्षिक बना देगी, बशर्ते कि आपने भी इसमें रुचि ली और उन्हें प्रोत्साहित किया। कविता के ऐसे वार्षिक लेखे-जोखे की महत्ता सिद्ध करने के लिए किसी लम्बी-चौड़ी दलील की आवश्यकता शायद ही हो। मुझे उम्मीद रखनी चाहिए और आपको भी कि भविष्य में ऐसे संकलन मुझसे अधिक अधिकारी संकलनकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

आप इस संकलन के विषय में कुछ कहना चाहें या अगले संकलनों के लिए कुछ सुझाव देना चाहें तो उसका स्वागत है।

'प्रतीक्षा'
14, उत्तर-दक्षिण रास्ता दसवाँ
बम्बई-56

बच्चन

'हिन्दी की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ : दूसरी पंखुड़ी' की भूमिका

पाठकों से

'हिन्दी की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ : 1978' के बाद अब यह दूसरा संकलन—इस क्रम की दूसरी पंखुड़ी आपके हाथों में है, जिसमें सन् 78-79 के दौरान सामने आयी कुछ श्रेष्ठ और प्रतिनिधि कविताएँ मैंने चुनी हैं। विशेष प्रसन्नता की बात मेरे लिए यह है कि पिछला संकलन जहाँ कवियों-समीक्षकों द्वारा सराहा गया, वहीं पाठकों ने भी उसे अपनाया।

तब मैंने आशा की थी कि "भविष्य में ऐसे संकलन मुझसे अधिक अधिकारी संकलनकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत किये जा सकेंगे।" वह आशा इस अर्थ में अवश्य पूरी हुई कि गत दो वर्षों की अवधि में अनेक पत्र-पत्रिकाओं के कवितांक निकले और सम्पादित संकलन भी छपे लेकिन इस तरह के संकलन की कोई अन्य योजना कम-से-कम मेरी जानकारी में नहीं बनी। यों भी, हिन्दी कविता जिस गति से और जितनी धाराओं में प्रवाहित हो रही है, उसे देखते हुए, विभिन्न दृष्टियों-रुचियों का परिचय देनेवाले एकाधिक वार्षिक संचयन छापे जा सकते हैं।

जहाँ तक इन कविताओं का सम्बन्ध है, श्रेष्ठता की कसौटी अपनी रुचि-प्रकृति को मानते हुए, प्रतिनिधित्व को भी चुनाव का आधार मैंने इसलिए बनाया ताकि सम्पादक की रुचि और समसामयिक रचना के बीच सामंजस्य बना रहे। सम्भव है, इसी दृष्टिकोण के कारण कुछ ऐसी रचनाएँ भी आ गयी हों, जो ठीक-ठीक मेरी रुचि की न होकर भी प्रतिनिधित्व की कसौटी पर खरी उतरती हैं। बहरहाल, स्तर की एकरूपता बनाये रखने के लिए मैंने अपनी रुचि तथा दृष्टि में सन्तुलन

भी बिठाना चाहा है।

वैसे तो हिन्दी में 'किसिम-किसिम की कविता' लिखी जा रही है और जीवन की विसंगति को असम्बद्ध रीति से व्यंजित करनेवाली कविताओं की बहुतायत दिखती है, लेकिन चूँकि इस तरह के संकलनों का मुख्य उद्देश्य कविता के प्रति सामान्य पाठकों को उन्मुख करना है, इसलिए, यथासम्भव, मैंने वे कविताएँ चुनी हैं, जो छोटी, स्पष्ट और सुबोध हों, जिनमें अन्विति और एकसूत्रता हो। मेरे मन में हिन्दी के वे शिक्षित पाठक हैं, जिन्हें न सम्मेलनी कविता ठीक-ठीक सन्तुष्ट कर पाती है, न पुस्तकीय कविता। भावातिशयता के लिजलिजेपन और बौद्धिक अतिशयता के रूखेपन से बचते हुए, प्रस्तुत संकलन की रचनाएँ यदि अपनी सहजता, स्वाभाविकता और खुलेपन के नाते पाठकों की जरूरत पूरी कर सकीं, तो मैं पिछली बार वाला अनुरोध दोहराना चाहूँगा कि : "हमें अपने कवियों में विश्वास हो तो हमें उन विषयों में रुचि लेना ही चाहिए, जिनको उन्होंने अपने चिन्तन-मनन-अभिव्यक्ति का विषय बनाया है। वास्तविकता तो यही है कि हम कवियों की दृष्टि से ही उन बहुत-सी चीज़ों की ओर ध्यान देते हैं, उनका महत्त्व समझते हैं, जिनको अपनी दृष्टि से सामान्य अथवा नगण्य समझकर हम अनदेखा कर देते हैं।"

स्पष्ट ही, ये कविताएँ इससे पहले कहीं-न-कहीं ज़रूर छप चुकी हैं। इनके यहाँ संकलन का मूल आधार ही है : पिछले दो वर्षों के दौरान इनका पुस्तक अथवा पत्रिका में प्रकाशन। मुझे तो उम्मीद है कि इनमें से अनेक कविताएँ अभी और भी कई बार छपकर सामने आयेंगी। तभी वे बार-बार पढ़ी जा सकेंगी। सच तो यह है कि इसी पद्धति से कविता जनमानस में पहुँचती है। पिछले दिनों कविता-पोस्टरों, साइक्लोस्टाइल प्रकाशनों और नुक्कड़ कार्यक्रमों का प्रसार एक शुभ लक्षण है। समूह माध्यमोंवाले इस युग में कविता न सीमित-विशिष्ट रुचि के संकीर्ण घेरे में सिमटकर घुट जाय, न बिलकुल सस्ती और बिकाऊ हो जाय, इसके प्रति सचेत रहना होगा। विशिष्टता और लोकप्रियता कविता के दो सुन्दर गुण हैं, उन्हें कुत्सित अतिवाद से बचाये रखना जरूरी है।

बहरहाल, मुख्य रूप से जिन पाठकों के लिए यह संकलन हुआ है, उनकी दिलचस्पी तो कविताओं में है, बहस में नहीं। इसलिए, उनके वास्ते कविताएँ मौजूद हैं—इस टिप्पणी के साथ कि आज की कविता को आज की बहस से पूरी तरह अलग नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि उन कविताओं को भी, जो फ़िलहाल, बहस से परे मालूम होती हैं।

जहाँ तक अवधि का सम्बन्ध है, सन् '77 की समाप्ति से लेकर सन् '80 के आरम्भ तक—दो-ढाई वर्षों के दौरान सामने आयी कुछ ऐसी कविताएँ मैंने चुनी हैं, जो इस उम्मीद के नज़दीक नज़र आई हैं कि कविता की कोई उम्र नहीं होती, वह एक वक़्त की होकर भी उस वक़्त से आगे जा सकती है। हमारी पहुँच, जानकारी या समझ की सीमाओं के कारण - अथवा सम्पर्क न हो पाने के कारण — यदि कुछ महत्त्वपूर्ण कवि और कविताएँ यहाँ संकलित न हो पाये हों, तो क्षमा-प्रार्थना के अनन्तर, हमारी कामना यही होगी कि पाठकगण काव्यान्वेषण कर अपनी निजी यात्रा पर अग्रसर हों।

पिछली भूमिका में, तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का कुछ ज़िक्र करते हुए, मैंने लिखा था कि जीवन की समस्याएँ केवल राजनीति की समस्याएँ नहीं होतीं। अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष जिस तेज़ रफ़्तार से गुज़र गये, उससे लगता है कि बहुतों के लिए जीवन की समस्याएँ केवल आयोजन

की समस्याएँ हैं। इसके बावजूद, हाल में, बच्चों को लेकर इतनी अधिक कविताएँ हिन्दी में पढ़ने को मिलीं —कुछ तो यहाँ भी मौजूद हैं—कि मानना होगा, साहित्य की समस्याएँ बुनियादी तौर पर जीवन की समस्याएँ होती हैं। कुछ इस तरह की बात स्त्री-परिवार तथा प्रेम जैसे विषयों पर लिखी कविताओं के बारे में भी कही जा सकती है।

रहा क्रम, तो अकारादि या वरिष्ठता-क्रम की अपेक्षा ढीले-ढाले भावानुक्रम में कविताओं को रखना बेहतर मालूम हुआ है। रचनाएँ कहीं थोड़ा सहेजकर तो कहीं थोड़ा बिखेरकर प्रस्तुत हैं। आरोह या अवरोह की एकतानता की जगह, ध्यान इस पर रहा है कि संकलन को आप कहीं से भी छुएँ, स्पन्दन हो और झंकार उठे।

'हिन्दी की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ : दूसरी पंखुड़ी' के चयन और सम्पादन में मैंने अपने प्रिय शिष्य और मित्र श्री अजितकुमार का सहयोग लिया है। वर्षों तक मेरे निकट सम्पर्क में रहने के कारण वे मेरी काव्यरुचि को पहचानते हैं और मैं भी उनकी काव्यरुचि से अपरिचित नहीं हूँ। इसी कारण, हमारी रुचि के क्षेत्र में प्राय: समता रही है। जिन अन्य बन्धुओं से इस संकलन को बनाने में सहयोग मिला, उनमें डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. वचनदेव कुमार, डॉ. नरेन्द्र वशिष्ठ और श्री दिविक रमेश के प्रति मैं विशेष कृतज्ञ हूँ। अनुमति के लिए मैं सभी कविबन्धुओं के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

मुझे आशा है कि पाठकों से प्रोत्साहन मिलने पर, वार्षिक अथवा द्विवार्षिक संचयन नियमित रूप से निकलते रह सकेंगे। वैसे भी, हिन्दी कविता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण यह दशक अब समाप्त होने को है। मेरी इच्छा यह है कि पूरे दशक की उपलब्धियाँ भी एक संकलन के रूप में प्रकाशित हों। इन दिनों हम उसे तैयार करने में संलग्न हैं। पाठकों और कविबन्धुओं से विनम्र अनुरोध है कि इस विषय में अपने सुझाव और सामग्री मेरे या श्री अजितकुमार (पता : जी 6, माडल टाउन, दिल्ली-9) के पास भेजने की कृपा करें।

अन्त में, मैं श्री दीनानाथ मल्होत्रा को भी धन्यवाद देना चाहूँगा। उनके उत्साह और आग्रह से ही यह शुभ कार्य सम्पन्न हो सका है।

प्रतीक्षा, दसवीं नार्थ-साउथ रोड
जुहू पारले स्कीम,
बम्बई 400049

बच्चन

'आठवें दशक की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ : तीसरी पंखुड़ी' की भूमिका

पाठकों से

'हिन्दी की प्रतिनिधि श्रेष्ठ कविताएँ' पुस्तकमाला की इस 'तीसरी पंखुड़ी' में आठवें —क अर्थात् सन् 1971 से 1980 के दौरान प्रकाशित हिन्दी कविताएँ संकलित

हैं। जैसा पुस्तक के नाम से प्रकट है, कविताओं के चयन में श्रेष्ठता और प्रतिनिधित्व के दोहरे उद्देश्यों को ध्यान में रखा गया है।

आठवें दशक की उक्त अवधि अनेक दृष्टियों से हमारे देश और साहित्य के लिए महत्वपूर्ण रही है। आज़ादी मिलने के कुछ समय बाद कुण्ठा-अनास्था-मोहभंग का जो दौर बढ़ा—विशेषकर सातवें दशक में, वह आठवाँ दशक आरम्भ होते-होते कुछ थमता-सा नज़र आया था। विभिन्न क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता के प्रयासों और बांगला मुक्ति-संघर्ष में भारत की उदात्त भूमिका ने एक बार फिर राष्ट्र को वह आत्मविश्वास-पूर्ण चारित्रिक आधार प्रदान किया, जिससे वह पिछले कुछ दशकों में विचलित हो गया था। ज़रूरी नहीं कि विगत दशक के राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम पर यहाँ टिप्पणी की जाय, फिर भी संकलित रचनाओं की इस प्रकृति को रेखांकित करना होगा कि जिस तरह देशवासियों ने जटिल परिस्थितियों से निबटने में प्रौढ़ता, दूरदृष्टि और संकल्प-शक्ति का परिचय दिया, ठीक उसी तरह हमारी कविता भी इस अवधि में गम्भीर और परिपक्व हुई है। जटिल होते जा रहे जीवन-कर्म ने रचना-कर्म को भी निश्चय ही अधिक दायित्वपूर्ण बनाया है।

रचना-प्रवृत्ति की इस विशेषता को रेखांकित करने के बाद, उचित होगा कि हम चयन के अपने आधारों का भी थोड़ा संकेत कर दें।

यह संकलन प्रथमतः और मुख्यतः सामान्य पाठकों के लिए है। पिछले दिनों, काव्यरुचि को हमने विशेषज्ञों-बुद्धिजीवियों के बीच सीमित होते या फिर सम्मेलनी गड़गड़ाहट के बीच खोते-बिखरते देखा है। इन दोनों अतियों के बीच स्थित कविता स्वाभाविक रूप से पाठकों और काव्यप्रेमियों तक संचरित हो सकती है, इसी भरोसे हमने यह संकलन तैयार किया है। हम समझते हैं कि कविता की विशिष्ट रुचि और विकृत रुचि के बीच एक बहुत बड़ा वर्ग—शिष्ट-रुचि से लेकर जन-रुचि तक—फैला हुआ है, जो अच्छी, सन्तोषप्रद कविताएँ पढ़ने-सुनने को लालायित रहता है। ऐसे वर्ग के लिए सुरुचिपूर्ण, पठनीय सामग्री उपलब्ध करना भी प्रस्तुत संकलन का एक उद्देश्य रहा है।

हमने ऐसी कविताएँ चुनी हैं, जिनमें सामयिकता की छाया तो हो, पर वे सामयिकता से सीमित न हों, उनमें कुछ वह तत्व हो जो उन्हें समयोपरि स्थायित्व देता हो। कविताएँ उद्भावना में मौलिक तथा रूपाकार में सुगठित हों; वे अस्पष्टता, क्लिष्टता, भग्नसूत्रता और क्रमविहीनता के गुण-दोष से मुक्त हों; वे भावनाओं की गहनता, विचारों की तीक्ष्णता, अनुभूति की गहराई और संस्पर्श की स्पष्टता को कलात्मक संयम के साथ अभिव्यक्त करें; वे अभिव्यक्ति मात्र न हों, बल्कि संप्रेष्य और उद्बोधक (इवोकेटिव) भी हों, यानी वे पाठक के ऊपर सम्यक् प्रभाव छोड़ सकें।

चयन का सामान्य परिप्रेक्ष्य यह अवश्य रहा है, फिर भी स्पष्ट है कि यहाँ संकलित प्रत्येक कविता में ये सभी गुण एक साथ न पाये जा सकते हैं, न खोजने ही चाहिए। इस तथ्य को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि बहुत बार कविता के साथ पाठक का अपना एक निजी, व्याख्यातीत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जो पाठक के लिए रचना की गुणवत्ता निर्धारित करता है। हम समझते हैं कि इस संकलन के अधिकांश पाठक अपनी-अपनी रुचि-प्रकृति के अनुसार कुछ-न-कुछ कविताओं के साथ तारतम्य बिठा सकेंगे और यही इस प्रयास की सार्थकता होगी।

जहाँ तक इस कार्य की गुरुता-गहनता और विस्तार का सम्बन्ध है, गत दशक में प्रकाशित लगभग पाँच सौ काव्यग्रन्थों की औसत पृष्ठ संख्या पचास भी लगायें

तो क़रीब पच्चीस हज़ार कवितापृष्ठ तो पुस्तकों के ही माध्यम से छपकर सामने आये होंगे। सम्भव है, इतने ही काव्यपृष्ठ देश भर की पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुए हों। इस तरह, जो चालीस-पचास हज़ार या अधिक कवितापृष्ठ आठवें दशक के दौरान छपे (और जो हिन्दी जैसी विकसनशील भाषा के लिए क़तई ज़्यादा नहीं हैं), उन सबको पाना-पढ़ना-परखना सम्भव या व्यावहारिक न था; हमारे धैर्य और साहस की भी सीमाएँ थीं। तो भी, हमने प्रयास किया है कि इस अवधि में प्रकाशित अधिकांश कविता-पुस्तकें देख लें। यहाँ संकलित लगभग सभी सामग्री कविता-संग्रहों से ही ली गयी है, इसलिए और भी कि पत्रिकाओं में स्फुट रूप से प्रकाशित कवियों और कविताओं के अनेक संकलन दस वर्षों की लम्बी अवधि के दौरान निकल आये हैं और हमने सोचा कि दशक के प्रतिनिधि वही कवि माने जायें, जिनके संकलन इस बीच छपे हों। निस्सन्देह, पत्रिकाओं, विशेषकर लघु पत्रिकाओं के माध्यम से प्रचुर और महत्वपूर्ण कविता प्रस्तुत हुई है। इस पुस्तक-माला की पहली और दूसरी पंखुड़ियों की कुछ सामग्री हमने पत्रिकाओं से भी ली थी—आगामी संकलनों में भी ऐसा करेंगे—पर यहाँ काव्यसंग्रहों को चयन के केन्द्र में रखना हमें उचित और व्यावहारिक प्रतीत हुआ है।

यह दावा बेकार होगा कि यही सौ-डेढ़ सौ कविताएँ इस अवधि की सबसे अच्छी या महत्वपूर्ण कविताएँ हैं। फिर भी, हमारा प्रयत्न रहा है कि इस 'तीसरी पंखुड़ी' के द्वारा सन् '71 से '80 तक की हिन्दी कविता के सामान्य परिदृश्य से आपको परिचित करा सकें। हमारा सुझाव है कि इस तीसरी पंखुड़ी को आप पहली ('76-'77) और दूसरी ('78-'79) पंखुड़ियों के साथ जोड़कर देखें-पढ़ें, क्योंकि यहाँ हमने अधिक स्थान दिया है—सन् '71 से '75 तक की कविता को और विशेषकर सन् '80 की कविता को (जिस एक अकेले वर्ष में सौ से अधिक संग्रह छपे हैं)। बहरहाल, सूत्रबद्धता बनाये रखने के लिए, हमने '76 से '79 की भी कुछ उल्लेखनीय कविताएँ—जो पहली दोनों पंखुड़ियों में नहीं आ पायी थीं—यहाँ संकलित कर दी हैं। इस तरह, यह अपने आप में सम्पूर्ण संकलन तो है ही, पूर्वगामी दोनों संकलनों से घनिष्ट रूप में सम्बद्ध भी है।

पाठकों को हम अपनी ओर से यह विश्वास दिलाना चाहेंगे कि यह संकलन तैयार करते समय हमने वादों-मतवादों-दलों-पूर्वाग्रहों से बचने का प्रयास किया है। दूसरे शब्दों में कहें कि हमने उन्हें यहाँ सहज रूप में झलकने दिया है। वरिष्ठ और युवा कवियों, हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रों और अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों को प्रतिनिधित्व मिल सके, इसका हमने ध्यान रखा है, गोकि इसके लिए हमें कहीं-कहीं अपने मानदण्ड को शिथिल भी करना पड़ा है। आप शायद हमसे सहमत हों कि ऐसे संकलन उपयोगी तभी हो सकते हैं, जब श्रेष्ठता और प्रतिनिधित्व के दो-गुने मूल्य पर दृष्टि ठहराई जायेगी।

जैसा हम बता चुके हैं, यह संग्रह वैसे तो सामान्य पाठकों के लिए तैयार किया गया है लेकिन विशिष्ट पाठकों को भी हम इसके आस्वादन के लिए आमन्त्रित करना चाहेंगे। अन्ततोगत्वा, वही कविता मूल्यवान होती है, जिसे विशिष्टों का भी आदर-सम्मान मिले : "जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं, सो श्रम वृथा बाल-कबि करहीं।"

यह संकलन अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँच सके, इस कारण आकार सीमित रखना पड़ा है। चुनी हुई बहुत-सी सामग्री अन्ततः छोड़ देनी पड़ी और, चाहकर भी, हम एक कवि की एक से अधिक कविता, सामान्यतः, नहीं दे पाये।

अपने मन को हमने इस तरह समझाया कि यह संकलन कवियों का नहीं, बल्कि कविताओं का है। इसी कारण, हमने उन स्रोतों का उल्लेख कर दिया है, जहाँ से सामग्री चुनी गयी है और हमें पूरा भरोसा है कि हिन्दी कविता की यह बानगी हमारे कवियों तथा उनकी रचनाओं में पाठकों की रुचि अधिकाधिक बढ़ायेगी।

पाठकों को हम अपने इस विश्वास का भागीदार बनाना चाहते हैं कि हमारी कविता इस बीच जीवन के निकटतर आयी है और ठोस तथा वास्तविक स्थितियों को आज हमारी कविता जीवन की भाषा में व्यंजित कर रही है। आशा है, आठवें दशक के विस्तृत, जटिल और सजीव काव्य-रूप की—भले ही अपर्याप्त पर मनोरम—यह झाँकी उसके साथ आपके घनिष्ट परिचय की भूमिका बनेगी।

अन्त में, हम सुझाव और सहयोग के लिए डॉ. धर्मवीर भारती, श्री वीरेन्द्र-कुमार जैन, डॉ. विनय, डॉ. वचनदेवकुमार, श्री दिविक रमेश, श्री श्रीराम वर्मा, डॉ. नरेन्द्र वशिष्ठ, श्री केवल गोस्वामी, श्री प्रदीप पंकज, श्री नारायण दत्त तिवारी और श्री हरीशचन्द्र सनवाल के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। कविताएँ संकलित करने की अनुमति देने के लिए हम कवि-बन्धुओं के बहुत आभारी हैं। श्री दीनानाथ मलहोत्रा की सुरुचि और तत्परता से प्रेरित हो, अब हमारे मन में समग्र हिन्दी कविता की एक रत्न-मंजूषा संचित करने का विचार उठा है। मर्मज्ञ पाठकों से निवेदन है कि वे मणियों को ठीकरों से अलग करने और पहचानने के लिए सुझाव देकर इस शुभ आयोजन में कृपा कर सम्मिलित हों।

'प्रतीक्षा',
10वीं नार्थ-साउथ रोड
जुहू-पॉरले स्कीम,
बम्बई–400049

बच्चन

रचनावली 6